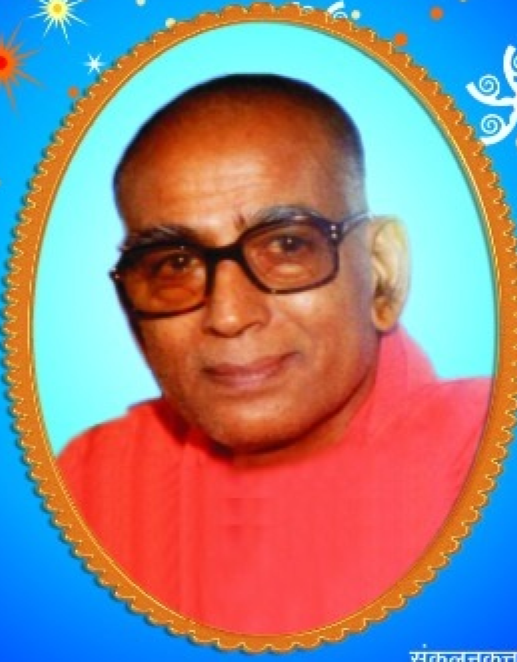
महर्षि संतसेवी

प्रवचन - पीयुष

भाग–2



संकलनकर्त्ता - नन्दन

।। ॐ श्रीसद्गुरवे नमः ।।

महर्षि संतसेवी प्रवचन-पीयूष

भाग २

संकलन/संपादन
नन्दनाचार्य

अखिल भारतीय संतमत-सत्संग प्रकाशन-समिति
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर, बिहार
(भारत)

ॐ

॥ श्रीसद्गुरवे नमः ॥

प्रकाशक

अखिल भारतीय संतमत-सत्संग प्रकाशन

महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर, बिहार (भारत)

प्रथम संस्करण २१०० प्रतियाँ, संवत् २०७५ (सन् २०१८ ई०)

सहयोग राशि : २२५ रुपये मात्र

अक्षर समायोजक : **राजेन्द्र साह**, एम०ए०, बी०एड०
महर्षि मेँहीँ आश्रम, भागलपुर

प्राप्ति स्थान :

प्रकाशन विभाग, महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट
भागलपुर, बिहार (भारत) पिन-८१२००३
दूरभाष-०६४१-२४०९०४८, २४२७४९८

॥ ॐ श्रीसद्गुरवे नमः ॥



महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज

समर्पण

हे संत-परंपरा के युगावतार, भौतिक ताप से झुलसते हुए मानवों को
ज्ञान-सुधा पिलानेवाले, युगप्रवर्त्तक, युगाधार, युगपुरुष, युगनिर्माता,
अध्यात्म-ज्ञान के वर्षक, भारतीय संत-परम्परा में गुरु-शिष्य
की अनुपम कड़ी, आराध्यदेव संत महर्षि मेँहीँ परमहंसजी
महाराज की प्रतिमूर्त्ति, करुणा, वात्सल्य, सहिष्णुता,
सर्वधर्म-समन्वय, देशभक्ति, सदाचारसंवाहक,
अज्ञान तिमिरान्ध मानव को ज्ञान-
ज्योति दर्शाने वाले ममता की
मूर्त्ति गुरुदेव के त्रैलोक
पावन पद्मों में
'प्रवचन-पीयूष'
भाग २
सादर
स
म
र्पि
त





'प्रवचन-पीयूष' की पावन पुष्प, श्री चरणों में रखता हूँ।
पतित-पावन ज्ञान-कलश, सहज समर्पण करता हूँ ।।

–नन्दनाचार्य

प्राक्कथन

भगवान् वेदव्यास समस्त लोक, भूत-भविष्यत्-वर्तमान के रहस्य, कर्म-उपासना-ज्ञानरूप वेद, अभ्यास-युक्त योग, धर्म, अर्थ और काम, सारे शास्त्रों तथा लोकव्यवहार को पूर्णरूप से जानते थे। उन्होंने तपस्या और ब्रह्मचर्य की शक्ति से वेदों का विभाजन करके सद्ग्रंथ का निर्माण किया और सोचा कि इसे शिष्यों को किस प्रकार पढ़ाऊँ? भगवान् व्यास का यह विचार जानकर स्वयं ब्रह्माजी उनकी प्रसन्नता और लोकहित के लिए उनके पास आये। भगवान् वेदव्यास उन्हें देखकर बहुत ही विस्मित हुए और मुनियों के साथ उठकर उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया तथा आसन पर बैठाया। षोडशोपचार से पूजन कर, स्वागत-सत्कार के बाद ब्रह्माजी की आज्ञा से वे भी उनके पास ही बैठ गये। तब व्यासजी ने बड़ी प्रसन्नता से मुस्कुराते हुए कहा–'भगवन्! मैंने एक श्रेष्ठ काव्य की रचना की है। इसमें वैदिक तथा लौकिक सभी विषय हैं और इसमें व्याप्त परमात्मा का भी वर्णन है; परन्तु पृथ्वी में इसको लिख लेनेवाला कोई व्यक्ति नहीं मिलता है। तब ब्रह्माजी ने कहा–महर्षे! आप तत्त्वज्ञान-सम्पन्न हैं, इसलिए मैं तपस्वी श्रेष्ठ मुनियों से भी आपको श्रेष्ठ समझता हूँ। आप अपना ग्रंथ लिखने के लिए गणेशजी को स्मरण कीजिए। यह कहकर ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये।

व्यासजी ने गणेशजी का स्मरण किया। स्मरण करते ही भक्त-वाञ्छाकल्पतरु उपस्थित हुए। व्यासजी ने षोडशोपचार कर समुचित आसन पर उन्हें बैठाया और प्रार्थना की–"भगवन्! मैंने महान् ज्ञान-काव्य की रचना की है, आप इसको लिख लेते, तो जगत् का होता।" गणेशजी ने कहा–"मेरी कलम एक क्षण भी न रुके, तो मैं लिखने का काम कर सकता हूँ।" व्यासजी ने कहा–"ठीक है, आप बिना समझे नहीं लिखेंगे।" गणेशजी ने तथास्तु कहकर उस ज्ञानग्रंथ को लिखा। ठीक वैसे ही जो वर्ण की वाचाल व्यवस्था चल रही थी, उसी कलिकाल में संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी ने महाराज इस धरा-धाम पर अपने साधनामय-ज्ञान से सोये हुए जगत् को जगाने के लिए अवतरण लिया।

भारत देश के बिहार राज्य, जिला मधेपुरा, प्रखंड-सिंहेश्वर, ग्राम-गमहरिया, पिता श्रीबलदेवलाल दास, माता श्रीमती राधा देवी की पवित्र कोख से महावीर नामक बालक का जन्म हुआ। आगे चलकर गुरु की सेवा कर अपने नाम को सार्थक किया और गुरुदेव आपका नाम 'संतसेवी' कहकर पुकारने लगे। संसार के गम को हरने के लिए और गुरुदेव के ज्ञान को गणेश की तरह लिख लेने के लिए गुरुदेव ने इनकी हीरे की तरह खोज की, जैसे जौहरी हीरे को पहचान लेते हैं और उस हीरे की सँभाल करते हैं। आपने उनके मस्तिष्क के स्वरूप उनके ज्ञानों को सद्ग्रंथ के रूप में लोगों के कल्याण के लिए गुरु-ज्ञान ग्रंथ का रूप दिया और गुरुसेवा कर जगत का हित किया। मैंने आपसे दीक्षा सन् १९८८ ई० में ली। सन् १९९२ ई० से आश्रम में रहकर आश्रम की सेवा करने लगा। सन् १९९४ ई० से आपकी निजी सेवा में रहने लगा। सन् २००४ ई० में आपने संन्यास-वस्त्र दिया। आपका शरीर छूटने के बाद हरियाणा राज्य के कुरुक्षेत्र जिला ग्राम बसतली के एक मंदिर के प्रांगण में सोया हुआ था। अगस्त २००७ ई० की मध्यरात्रि में आपने दर्शन दिये और डाँटते हुए कहा–'तुम यहाँ क्या करते हो?' मैंने कहा–'मैं यहाँ संतमत के प्रचार के लिए आया हुआ हूँ।' तब आपने कहा–'जाओ, कुप्पाघाट-आश्रम; वहीं रहकर संतमत का प्रचार-प्रसार करना।'

२०१० ई० में गुरु-जयन्ती के अवसर पर श्रीअरुण अग्रवाल (कटिहार) से कुप्पाघाट-आश्रम में भेंट हुई। मैंने कहा–"हुजूरश्री के प्रवचन शान्ति-सन्देश में हैं, उन सभी प्रवचनों को एकत्र करके एक ग्रंथ का रूप दे देते, तो अच्छा होता।" श्रीअरुण अग्रवाल ने कहा–"बहुत अच्छा काम है। अभी इस काम को करनेवाला कोई नहीं दीखता है। अगर आप चाहते हैं, तो शुरू कीजिए। जो सहयोग चाहिए, मैं दूँगा।" मैं कुछ वर्ष बाद ऋषिकेश से लौट आया।

मैंने गुरु महाराज की कृपा से काम शुरू किया। महर्षि मेँहीँ-सत्संग-सुधा-सागर, भाग २ का संकलन किया, जो प्रकाशन के लिए गुरुसेवी भगीरथजी महाराज के पास गया हुआ है। 'महर्षि संतसेवी प्रवचन-पीयूष', भाग १ में स्वामी संजीवानन्द और स्वामी निर्मलानंद का पूर्ण सहयोग हुआ, जिसमें अनीता कुमारी, रीना कुमारी का भी सहयोग रहा। फिर निर्मल डालमिया, कटिहार की सत्प्रेरणा से मैंने 'महर्षि संतसेवी प्रवचन-पीयूष', भाग २ का काम शुरू किया। इसमें सहयोगी हैं–गुरुसेवी स्वामी भगीरथजी महाराज के निकटस्थ सेवक संजय ब्रह्मचारी एवं नाथू ब्रह्मचारी, संजीवानन्द बाबा, पंकज बाबा, गंगाधर बाबा (ऋषिकेश), अनमोल बाबा (धरहरा आश्रम), कसरत बाबा (मनिहारी-आश्रम), हरिचरण, हरिशरण, हंसराज, श्रीमती प्रतिमा देवी, चन्दनजी एवं उनके पिताजी तथा जयकान्त पूर्वे (बभनगामा), राजेन्द्र साह (अक्षर-समायोजक)। अन्य जिन व्यक्तियों के नाम नहीं दिये जा सके, उनसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

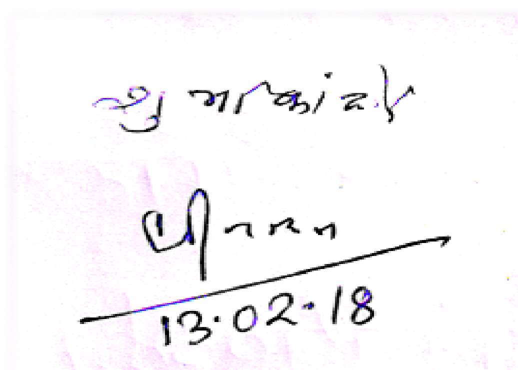
फिलहाल अभी मैं सद्गुरुदेव के मानस पुत्र गुरुसेवी भगीरथजी महाराज के साथ रहकर सत्संग-प्रचार-प्रसार कर रहा हूँ। इनकी मेरे ऊपर बहुत कृपा है। जय गुरु!

दिनांक २०.१२.२०१७ ई० –स्वामी नन्दनाचार्य

ॐ श्रीसद्‌गुरवे नमः

संतमत के वर्तमान आचार्य पूज्यपाद महर्षि हरिनन्दन परमहंसजी महाराज की शुभ-कामना

पूज्य संतसेवी परमहंसजी महाराज संतमत के अद्वितीय वक्ता थे। उन्हें वैदिक, जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई–सभी धर्मों के ग्रंथों का गहरा अध्ययन था। किसी भी आध्यात्मिक विषय की विवेचना करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। हमारे प्रिय स्वामी नंदन बाबा ने उनके प्रवचनों को संगृहीत कर 'महर्षि संतसेवी प्रवचन पीयूष, भाग २' नामक ग्रंथ अध्यात्म-पिपासुओं के लिए निकालने का विशेष कार्य किया है। मैं इसके लिए इन्हें बहुत-बहुत साधुवाद एवं आशीर्वाद देता हूँ तथा गुरु महाराज से इनके उज्ज्वल भविष्य की मंगल-कामना करता हूँ।



महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट
भागलपुर-३ (बिहार)

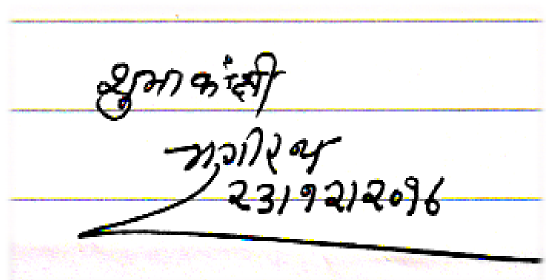
ॐ श्रीसद्‌गुरवे नमः

शुभकामना

आराध्यदेव परम पूज्य संत सद्‌गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के प्रमुख नजदीकी शिष्य पूज्यपाद संतसेवीजी महाराज थे। ये संतमत केक महान् विद्वान! एवं उच्च कोटि के साधक थे। इनका प्रवचन अध्यात्म-ज्ञान से भरा गंभीरतम एवं ओजस्वी हुआ करता था। इनके प्रवचन से प्रायः सभी लोग प्रभावित हो जाया करते थे। इनका जो प्रवचन 'शान्ति-सन्देश' प्रकाशित हुआ, उन्हीं में से १४० प्रवचनों का संकलन कर स्वामी नंदन बाबा प्रकाशित करने जा रहे हैं। ये पूज्यपाद महर्षि संतसेवीजी महाराज के निजी सेवा में भी थे। मुझे विश्वास है, जो व्यक्ति इनके प्रवचनों का अध्ययन-मनन करेंगे, वे अवश्य ही अध्यात्म-ज्ञान से गंभीरतम ज्ञानों से अच्छी तरह अवगत हो जाएँगे।

मैं गुरुदेव से प्रार्थना करता हूँ कि यह संकलन लोकप्रिय हो और संकलनकर्ता का संसार में यश फैले।

महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट
भागलपुर-३ (बिहार)



ॐ श्रीसद्गुरवे नमः

शुभकामना

स्वामी श्रीनंदन बाबा महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर के युवा संन्यासी हैं। जब महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज शरीर में थे, तबसे नंदन बाबा आश्रम में रहते आ रहे हैं। ये महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज के वर्षों तक निजी सेवक भी रहे। उनके परिनिवृत्त होने के बाद ये कुछ वर्षों के लिए हरिद्वार एवं ऋषिकेश चले गये थे। वहाँ अध्ययन करके संपूर्णानन्द महाविद्यालय, वाराणसी द्वारा संस्कृत से 'आचार्य' की डिग्री लेकर प्राप्त किये। यह डिग्री एम०ए० के समतुल्य होती है।

स्वामी श्रीनंदन बाबा की रुचि संतमत के प्रचार-प्रसार की ओर तो है ही, पुस्तक-लेखन-संपादन की ओर भी ये प्रवृत्त रहते हैं। इनके द्वारा संपादित एक पुस्तक 'महर्षि संतसेवी प्रवचन पीयूष, भाग १' पहले प्रकाशित हो चुकी है। दूसरी जो पुस्तक इनके द्वारा संपादित होकर प्रकाशित होने जा रही है, उसका नाम है–'महर्षि संतसेवी प्रवचन पीयूष, भाग २।' इस पुस्तक में भी पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज के शेष १४० प्रवचनों का संकलन है। इसके अलावे गुरुदेव के प्रवचन संग्रह 'महर्षि मेँहीँ सत्संग-सुधा-सागर, भाग २' का संकलन किये हैं और 'दुष्कर्मों का फल नरक यातना' इनकी मौलिक रचना है, जो सराहनीय है।

महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के पट्ट शिष्य थे। गुरुदेव उन्हें अपना मस्तिष्क बतलाते थे। महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज विद्वान् संत थे, बहुत अच्छी हिन्दी में प्रवचन किया करते थे। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होती थी और भाषा में अनुप्रास की छटा रहती थी। वे संतमत को उपमाओं और दृष्टांतों के द्वारा समझाया करते थे। जो धर्मप्रेमी उनके प्रवचनों का संकलन पढ़ेंगे, उन्हें संतमत का सम्यक् ज्ञान हो जाएगा।

स्वामी श्रीनंदन बाबा ने यह पुस्तक प्रकाशित कराकर बहुत बड़े पुण्य का काम किया है। इससे सत्संगी-समाज बड़ा लाभान्वित होगा। ऐसी पुस्तक संपादित करके प्रकाशित करने के लिए स्वामी श्रीनंदन बाबा को मेरा धन्यवाद और साधुवाद! जय गुरु!

— छोटेलाल दास
२/११/२०१७ ई०

विषय-सूची

महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का जीवन-चरित एवं उनके साहित्य

बाल्यकाल :

संसार में प्राचीनकाल से सच्चे सद्गुरु का स्थान सर्वोपरि रहा है। किसी भी तरह के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए गुरु की नितान्त आवश्यकता होती है। गुरु के ही प्रताप से लोग विद्वान, डॉक्टर या ऊँचे दर्जे के पदाधिकारी बनते हैं। इसीलिए मुक्तकंठ से कहना पड़ता है कि जगत् में गुरु का पद सर्वोत्कृष्ट है। गुरु की भक्ति भगवान श्रीराम ने भी की थी। भगवान श्रीकृष्ण की गुरुभक्ति सर्वविदित है। गुरु के लिए जंगल से जलावन काटकर लाना, यह भगवान श्रीकृष्ण की गुरुभक्ति में दाखिल है। गुरु की भक्ति कर आरुणि सारी विद्या को प्राप्त कर लिये। सत्यकाम की गुरु की भक्ति कर वेद-वेदांग के पूर्ण ज्ञाता हो गये। भगवान बुद्ध के भक्त थे आनंद। आनंद की गुरु-भक्ति ऐसी थी कि रात-दिन सदा सेवा में लीन रहते थे। उसी तरह हमारे परमाराध्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के अनन्य भक्त शिष्य थे—महर्षि संतसेवी जी महाराज। जब वे गुरु-सेवा में आये, वर्षों अनवरत रूप से गुरु-सेवा करते रहे। महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज की जन्मभूमि बिहार राज्य के मधेपुरा जिलान्तर्गत गमहरिया ग्राम में है। आपके पिताजी का नाम श्रीबलदेवलाल दासजी और माताजी का नाम था श्रीमती राधा देवी। पंडितों ने आपका नाम महावीर लाल दास रखा। धीरे-धीरे जब आप सयाने हुए तो माता-पिता ने आपका मुंडन संस्कार करवाया। बचपन से ही आपमें दयाभाव दीखने लगे थे। इसीलिए इनको सभी कोई हितसागर बाबू कहकर पुकारते थे। पारिवारिक पंडित ने परंपरागत रूप से सरस्वती की पूजा कर कैथी लिपि का अक्षर-बोध कराया था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा जन्मभूमि गम्हरिया के प्राथमिक विद्यालय में हुई। विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्रीअधि कलाल भगत थे। वे इनका बहुत ख्याल रखते थे। आप पढ़ने में कुशाग्र बुद्धि के थे। प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर गम्हरिया से एक कोस की दूरी पर बभनी नामक गाँव के मिड्ल स्कूल में पढ़ने लगे। गाँव से स्कूल तक प्रतिदिन इन्हें पैदल ही आना-जाना पड़ता था। अपनी कक्षा में ये कभी प्रथम श्रेणी तो कभी द्वितीय श्रेणी प्राप्त करते थे। हिन्दी और गणित में आपकी विशेष रुचि थी। इनकी हस्तलिपि सुन्दर और सुघड़ होती थी। आपके गले का स्वर मधुर और कोमल था। मिड्ल स्कूल के प्रधानाध्यापक श्रीवेदानन्द ठाकुरजी ने एक शिक्षक के रूप में आपको साहित्यिक संस्कार देकर विकसित किया। आपके पिताजी परलोक गमन कर गये, फिर भी आपके लालन-पालन और प्यार में कोई कमी नहीं आयी। धीरे-धीरे आपके चाचा श्रीहरदेव लाल दास जी और अग्रज श्रीरघुनंदन लाल दासजी एवं श्रीभोला लाल दासजी भी जवानी में ही संसार से चले गये। बड़े भाई भी १५ वर्ष की आयु में संसार से चले गये।

मिड्ल पास कर आप किशोरावस्था में आये। पिताजी, चाचाजी और भाई के निधन से आपको संसार की क्षणभंगुरता का बोध हुआ। आपमें वैराग्य की भावना जागृत होने लगी। पढ़ाई-लिखाई से मन उचट गया।

आप बचपन से ही भगवान शिव की पूजा किया करते थे। गमहरिया से कुछ दूरी पर सिंहेश्वर स्थान में जाकर कभी-कभी जल भी चढ़ाया करते थे। बजरंगबली हनुमान के प्रति भी आपमें भक्ति-भावना थी। आप नित्यप्रति 'हनुमान चालीसा' का पाठ किया करते थे। गाँव की कीर्तनमंडली में कीर्तन का गायन करते थे। आप बचपन से ही गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस', 'श्रीमद्भगवद्गीता' का पाठ किया करते थे। सगुण भक्ति के प्रति अभिरुचि रखने पर भी संत कबीर और गुरु नानक की निर्गुण उपासना से भी आप प्रभावित थे।

अध्यापन-कार्य

चाचाजी और दो बड़े भाई के निधन से आपके ऊपर आर्थिक समस्या आ गई। सन् १९३८ ई० में आपने घर छोड़ दिया। गमहरिया गाँव से ६ किलोमीटर की दूरी पर राजपुर गाँव में श्रीलक्ष्मीकांत झाजी के दरवाजे पर उनके बच्चों तथा गाँव के और बच्चों को पढ़ाने लगे। इसके अतिरिक्त आप आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते थे। झा जी के घर पर अनेक धार्मिक पुस्तकें थीं। उसे अध्ययन का पर्याप्त

अवसर मिला। आपको योग्य शिक्षक समझकर झा जी आपको बहुत आदर करते थे। अध्यापन-कार्य करते एक वर्ष बीत गया। लेकिन विरक्ति की भावना से आप-से-आप वहाँ से नेपाल राज्य के मोरंग जिला स्थित राजाबासा ग्राम चले गए। वहाँ पर आप अध्यापन के साथ-साथ होम्योपैथिक चिकित्सा भी करने लगे। उस क्षेत्र के बीमार, पीड़ित और लाचार लोगों का इलाज करते थे। राजाबासा से कुछ दूर पर बिहार राज्य के पूर्णियाँ जिला (अब अररिया) स्थित सैदाबाद गाँव चले आए। यहाँ आपकी नियुक्ति एक प्राथमिक विद्यालय में हुई। यहाँ भी आपने अध्यापन के साथ-साथ चिकित्सा कार्य जारी रखा। इस तरह अध्यापन और चिकित्सा का कार्य करते रहे।

संसार की असारता और जीवन की नश्वरता से आपके वैराग्य की भावना बढ़ने लगी। इनके बड़े भाई श्रीयदुनंदनलाल दासजी ने इनकी इस विरक्ति को देखकर इन्हें पारिवारिक जीवन में लाने के लिए विवाह कर देना चाहा। भाई ने विवाह के लिए बहुत आग्रह किया; लेकिन आपकी वैराग्य भावना इतनी प्रबल थी कि आपने स्वीकार नहीं किया। ❑

गुरुदेव का प्रथम दर्शन :

सैदाबाद से कुछ दूरी पर कनखुदिया गाँव में सन् १९३९ ई० के मार्च महीने में 'संतमत-सत्संग' के मास-ध्यान का कार्यक्रम था। इस ध्यान-साधना में परम पूज्य गुरुदेव मेँहीँ परमहंसजी महाराज भी भाग लिये थे। सैदाबाद से सत्संगी लोग इस मास-ध्यान-साधना में भाग लेने आ रहे थे। जब आपको गुरुदेव के पदार्पण की जानकारी मिली तो सत्संगियों के साथ आप भी चल पड़े।

जैसे ही आप गुरुदेव के भव्य आकर्षक कांतिमय मुखमंडल के दर्शन किए, वैसे ही आपकी सारी भक्ति-भावना गुरुदेव के चरणों में समर्पित हो गयी। आपने गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त करने और सदा साथ रहने की प्रार्थना की।

अपराह्नकालीन सत्संग के बाद गुरुदेव कुछ विद्वानों के साथ टहल रहे थे। आप भी गुरुदेव के पीछे-पीछे टहलने लगे। वार्तालाप के क्रम में एक विद्वान सज्जन ने गुरुदेव से कहा–'वर्णात्मक शब्द लिखे जाते हैं, ध्वन्यात्मक नहीं।' यह सुनते ही आपने उन विद्वान को कहा–'कितने वर्णात्मक शब्द भी ऐसे होते हैं, जो लिखे नहीं जाते।' उन विद्वान ने आपसे पूछा–'ऐसे कौन से वर्णात्मक शब्द हैं जो लिखे नहीं जाते?'

आपने मिथिला में प्रचलित कुछ बोलियों को उदाहरण में प्रस्तुत किया। आपके वचन से विद्वान तो प्रभावित हुए ही, गुरुदेव भी प्रसन्न हुए। आपका परिचय गुरुदेव ने पूछा। परिचय पाकर गुरुदेव संतुष्ट हुए।

२९ मार्च, १९३९ ई० को गुरुदेव ने आपको मानस जप, मानस ध्यान और दृष्टियोग की दीक्षा दी। दीक्षा पाकर इन्हें आत्मतुष्टि का बोध हुआ था। कनखुदिया के मास-ध्यान-साधना में आप भी शामिल हो गये। दीक्षा लिये दो दिन ही बीते थे कि गुरुदेव ने आपको ग्रंथपाठ करने के लिए बुलाये। ग्रंथ-पाठ सुनकर गुरुदेव प्रसन्न हुए। साधक-सत्संगीगण भी प्रभावित हुए। आपकी सुरीली आवाज से प्रसन्न हो, गुरुदेव संत दादू दयालजी के निम्न पद्य सस्वर पढ़वाते। आप पद्य का पाठ आगे-आगे और पीछे-पीछे सभी सत्संगीगण दुहराते। वे पद्य नीचे दिये जा रहा है–

(१)

मेरे तुम ही राखनहार, दूजा कोइ नहीं।
यह चंचल चहुँ दिशि जाय, काल तहीं-तहीं॥
मैं बहुतक कियो उपाय, निश्चल ना रहे।
जहाँ बरजूँ तहँ जाय, मद माता बहे॥
जहाँ बरजूँ तहँ जाय, तुमसे ना डरे।
तासे कहा बसाय, भावे त्यों करे॥
सकल पुकारे साधा, और मैं केता कहा।
गुरु अंकुश माने नाहिं, निर्भय हो रहा॥
मेरे तुम बिन और न कोय, जो इस मन को गहे।
अब राखो राखनहार, दादू त्यों रहे॥

(२)

तू स्वामी मैं सेवक तेरा, भावे सिर दे सूली मेरा।
भावे करवत सिर पर सार, भावे लेकर गरदन मार॥
भावे चहुँदिशि अगनि लगाय। भावे काल दसों दिशि खाय॥
भावे गिरिवर गगन गिराय। भावे दरिया माहिं बहाय॥
भावे कनक कसौटी देय। दादू सेवक कसि-कसि लेय॥

कनखुदिया-मास-ध्यान-साधना समाप्त होने के बाद पूज्यपाद गुरुदेव उस क्षेत्र के कई गाँवों में घूम-घूमकर सत्संग का प्रचार करते रहे। इस अवसर पर गुरुदेव आपको भी अपने साथ में रखे और सद्ग्रंथों का पाठ करवाते थे। गुरुदेव आपके बारे में रसोइये से कहते–'इनको समय पर बुलाकर भोजन

करा दिया करो।' जब उस क्षेत्र का सत्संग-प्रचार समाप्त हुआ, तो पूज्यपाद गुरुदेव ने आपको आज्ञा दी, 'अब आप अपने काम पर वापस चले जाएँ।' आपने गुरुदेव से प्रार्थना की-'अब मैं हुजूर की ही सेवा में रहूँगा।' गुरुदेव ने आपको वृद्धा माता की याद दिलायी और उनकी सेवा की आवश्यकता का आपको स्मरण कराया। गुरुदेव ने कहा-'अभी जो काम आप करते हैं, वह कीजिये, आवश्यकता मुझे होगी, तो बुला लूँगा।'

गुरुदेव की आज्ञा-शिरोधार्य कर आप सैदाबाद ग्राम लौट आए। सैदाबाद में लगभग दो वर्षों तक साधना करते और अध्यापन का काम भी करते रहे। पर आपका ध्यान सदा गुरुदेव पर ही लगा रहता था। गुरुदेव भी आपकी खोज-खबर लेते रहते थे। गुरुदेव का जहाँ भी सत्संग-प्रचार का कार्यक्रम रहता, तो आपको बुलाकर अपने साथ ले जाते थे। इस तरह कार्यक्रम पूरा कर पुनः सैदाबाद लौट आते। यह क्रम कई बार चला।

सन् १९४० ई० में गुरुदेव ने अनेक ग्रंथों एवं संतों की वाणियों का एक संकलन किया। उसी आधार पर कुछ अपनी भी स्वानुभूतिपूर्ण वाणियों का संग्रह कर 'सत्संग-योग' नाम का एक ग्रंथ निकालना चाहा। उसकी पांडुलिपि तैयार करने के लिए आपको बुलाये। उस समय गुरुदेव के भागलपुर जिले में सत्संग-प्रचार का कार्यक्रम चल रहा था। गुरुदेव के आदेशानुसार आप पहले भागलपुर परबत्ती आये। फिर वहाँ से बैकुंठपुर गुरुदेव के पास पहुँचे। फिर वहाँ से गुरुदेव के साथ भागलपुर-परबत्ती वापस आये। परबत्ती में 'सत्संग-योग' की पांडुलिपि आपने तैयार की। यहाँ गुरुदेव ने आपको बांग्ला और गुरुमुखी भी पढ़ने के लिए सिखाये। परबत्ती से गुरुदेव के साथ बभनगामा (बाराहाट) के सत्संग में गये। वहाँ वहीं के एक वयोवृद्ध सत्संगी श्रीचरण परिहतजी ने गुरुदेव से प्रार्थना की-'सरकार! इनकी कंठध्वनि बड़ी मधुर है। संतवाणी आदि का पाठ भी ये अच्छी तरह करते हैं। इनको अपने साथ रख लिया जाए।' गुरुदेव ने कहने की कृपा की-'मेरी भी तो इच्छा है कि ये मेरे साथ रहें; लेकिन अभी इनकी वृद्धा माताजी हैं, उनको हम क्यों रुलावें ? अभी ये माताजी की सेवा करें।' बभनगामा से लौटकर गुरुदेव के साथ आप परबत्ती आए। यहाँ आने पर आप सख्त बीमार हो गये। आपकी शारीरिक दुर्बलता बढ़ गयी। तेज बुखार था। उसी हालत में आपको लेकर गुरुदेव सिकलीगढ़-धरहरा आश्रम आ गये। यहाँ डॉक्टर को बुलवाकर आपकी चिकित्सा करवायी। ऐलोपैथी दवा में भोजन ग्रहण करना आवश्यक रहता है।

एक दिन ये जमीन पर चटाई बिछाकर लेटे हुए थे। गुरुदेव खड़ाऊँ पहने हुए आपके सामने आकर बैठ गये। आपने उठकर गुरुदेव का चरणस्पर्श कर प्रणाम किया। शीश नवाया और वहीं बैठ गए। गुरुदेव ने रसोइया भूपलालजी से बार्ली बनवाकर मँगवाया और बड़े प्यार से कहने की कृपा की-'इसे खाइये।' आपने दो-चार चम्मच बार्ली खाकर कहा कि अब खाने की इच्छा नहीं होती। गुरुदेव ने उसमें थोड़ी-सी चीनी मिलायी और आपसे कहा-'अब खाइये, अच्छा लगेगा।' आपने किसी तरह दो-चार चम्मच खाकर छोड़ दिया और कहा-'यह भी खाने में अच्छा नहीं लगता है।' गुरुदेव ने थोड़ा-सा नींबू का रस मिलाकर कहा-'अब खाइये, अच्छा लगेगा।' लेकिन आपकी अनिच्छा देखकर गुरुदेव ने कहा-'बिल्कुल नहीं खाने से तो कमजोरी आ जायेगी।' फिर गुरुदेव ने बार्ली में दूध और मिसरी मिलाकर कहा-'अब खाइये, देखिये कितना अच्छा लगेगा?' आपने थोड़ा-सा खाया। इस तरह धीरे-धीरे गुरुदेव की कृपा से स्वस्थ हो गए। आपके स्वस्थ होते ही गुरुदेव ने आपको माता की सेवा में गमहरिया भेज दिया। फिर भी आप समय-समय पर गुरुदेव के दर्शनार्थ आते-जाते रहते थे। १९४६ ई० में आपकी माताजी परलोक गमन कर गयीं। १९४६ ई० में ही 'सत्संग-योग' का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था, जिसमें कुछ अशुद्धियाँ रह गयी थीं। उन अशुद्धियों के सुधार के लिए गुरुदेव ने आपको मनिहारी सत्संग-आश्रम बुलाया। आपने मनिहारी में 'सत्संग-योग' की सारी अशुद्धियों का संशोधन किया। सत्संग-योग की कुछ प्रतियाँ सिकलीगढ़ धरहरा में थीं, वहाँ भी जाकर आपने उसका संशोधन किया। इसके बाद फिर आप मनिहारी चले आये।

मनिहारी के सत्संगियों ने गुरुदेव से प्रार्थना की-'ये तो 'संतमत-सत्संग मंदिर' में रहते ही हैं, कुछ समय निकालकर ये हमारे बच्चों को पढ़ा दिया करें, तो बड़ा ही उत्तम हो।' गुरुदेव ने आपको पढ़ाने

की आज्ञा दे दी। मनिहारी के दुर्गास्थान में जाकर आप बच्चों को पढ़ाकर चले आते थे। पर कुछ दिनों के बाद दुर्गास्थान में बच्चों को पढ़ाना छोड़ दिये। पुनः गुरुदेव की आज्ञा से सत्संग-मंदिर में ही बच्चों को पढ़ाने लगे। इस दौरान आपको एक बार चेचक हो गया। आपको काफी पीड़ा होती थी। श्रीनारायण अग्रवालजी की माताजी ने आपकी बड़ी सेवा की। आप जब स्वस्थ हो गये तो आपके पढ़नेवाले बच्चे भी बीमार हो गए। आपने बच्चों के स्वास्थ्य के लिए गुरुदेव से प्रार्थना की, सभी बच्चे स्वस्थ हो गये।

१९४९ ई० में गुरुदेव ने आपसे पढ़ाने का कार्य बंद करवा दिया। अब आप स्थायी रूप से गुरुसेवा में रहने लगे। अब आप पूर्ण समर्पित भाव से गुरुदेव की सेवा में संलग्न हो गये। मनिहारी में ही गुरुदेव की मौज हुई कि गंगास्नान कार्तिक मास तक करने की। मनिहारी से उस समय गंगा दूर में थी। इसलिए ब्राह्ममुहूर्त में जगना जरूरी था। गुरुदेव ने आपको आज्ञा दी कि आप अलार्म घड़ी अपने पास रखें। जब पौने तीन बजे घड़ी की घंटी बजे, तो आप आकर मुझे जगा दिया करें। आप वैसा ही करने लगे। जब ब्राह्ममुहूर्त्त में पौने तीन बजे घड़ी की घंटी बजती तो आप उठकर गुरुदेव के बरामदे पर जैसे ही पहुँचते, वैसे ही गुरुदेव कहते–'कौन? महावीरजी!' आप कहते–'जी हाँ।' पुनः गुरुदेव कहते–'जाइये, आप ध्यान कीजिए।'

इस प्रकार लगातार कई दिन आप ब्राह्ममुहूर्त्त में पौने तीन बजे गुरुदेव के निकट जाते। आपके निकट पहुँचते ही गुरुदेव कहते–'महावीरजी! जाइये, आप ध्यान कीजिए।' तब आपको समझ में आया कि मैं गुरुदेव को क्या जगाऊँगा, गुरुदेव तीनों लोक को जगानेवाले हैं। उनको मैं क्या जगाऊँगा, वे मुझे जगाते थे। चार बजे भोर में ही आप गुरुदेव के शौच जाने के लिए लोटे में पानी भरकर रख देते। जब गुरुदेव शौच से आने के पूर्व ही आप पानी, मिट्टी और दतवन रख दिया करते। इसके बाद ये अपने नित्य क्रियाकर्म से निवृत्त होते। गुरुदेव दतवन कर प्रातः टहलने के लिए निकल जाते। इसी बीच में आप आश्रम की सफाई करते और फूलों की क्यारी में निकौनी आदि कर उसमें पानी डालते।

प्रातः भ्रमण से गुरुदेव के लौटने के पहले ही आप पाँव धोने के लिए लोटे में पानी रख देते। पुनः प्रातःकालीन सत्संग में शामिल होते। सत्संग में स्तुति-विनती के बाद आप ग्रंथपाठ करते। जब गुरुदेव का प्रवचन होता, तो उसे लिपिबद्ध भी करते। जब गुरुदेव स्नान करते, तो आप कुएँ से पानी भरकर रखते। गुरुदेव के स्नान के बाद पहनने के वस्त्र वहाँ रख देते। जितनी देर में गुरुदेव स्नान से निवृत्त होते, उतने ही समय में आप भी स्नान कर गुरुदेव की सेवा में आ जाते।

गुरुदेव स्नान कर ध्यान में बैठ जाते, तो आप गुरुदेव के भीगें कपड़ों को साफ कर धूप में सूखने के लिए देते और अपने भी ध्यान करते। गुरुदेव जब ध्यान से उठते तो आप अपने से गुरुदेव को भोजन कराते। अपने भी भोजन कर गुरुदेव की सेवा में आ जाते। जब गुरुदेव विश्राम करते, तो आप आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते।

विश्राम के बाद गुरुदेव शौच जाते तो आप पानी और हाथ साफ करने के लिए मिट्टी रख देते। गुरुदेव जब शौच से लौटते, तो लोटे को साफ कर यथास्थान रख देते। सायंकाल जब गुरुदेव ध्यान में बैठते थे तो आप भी ध्यान करते। ध्यानाभ्यास के बाद रात्रिकालीन सत्संग होता तो आप भी सत्संग में बैठते। गुरुदेव की आज्ञा से आप संतवाणी का पाठ मीठे स्वर में गाते। सत्संग समाप्ति के बाद गुरुदेव को भोजन कराते। फिर आप अपने भोजन करते। जब गुरुदेव रात्रि-विश्राम में जाते, तो आप गुरुदेव के पाँव दबाते, सारे शरीर की सेवा करते, तब आप सोते थे। इस तरह प्रतिदिन का कार्यक्रम चलता। कभी-कभी रसोइये की अनुपस्थिति में गुरुदेव का भोजन आप बनाकर खिलाते।

गुरुदेव ने अपने सान्निध्य में रखकर आपको वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रंथों का गहन अध्ययन कराया। आप स्वयं भी गीता-रहस्य, बांग्ला के कृतिवासीय रामायण, कुरान, हदीस आदि भी अध्ययन किये। गुरुदेव की सेवा में रहकर आपने कभी भी अपनी सुख-सुविधा पर नहीं दिया। आप सदा गुरुदेव की सुख-सुविधा पर ध्यान देते रहे। गुरुदेव का अधिकांश समय सत्संग-प्रचार में लगा रहता था। उस समय आप अपने कष्टों को हँस-हँसकर झेलते थे। अहर्निश आप गुरु-सेवा में

लीन रहते। गुरु-सेवा के प्रताप से ही आप 'संतसेवी' कहलाने लगे। आप अपना नाम 'महावीर संतसेवी' लिखते थे। आपकी अनन्य भक्ति देखकर गुरुदेव ने १९५२ ई० को सुरत-शब्द-योग की भी विधि बतलाने की कृपा की।

१९५६ ई० में गुजरात प्रांत के नामी शहर अहमदाबाद में 'अखिल भारतीय साधु-समाज का सम्मेलन' हो रहा था। उक्त सम्मेलन में पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज को भी निमंत्रण दिया गया था। पूज्य गुरुदेव ने धरहरा आश्रम के व्यवस्थापक स्वामी श्रीधर बाबा और आपको अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजने लगे। लेकिन दोनों श्वेतवस्त्रधारी थे, इसलिए पूज्यपाद गुरुदेव ने आप दोनों को आज्ञा दी कि आपलोग उस सम्मेलन में साधुवेश अर्थात् गैरिक वस्त्रधारण कर जाएँ। दोनों को बाल-दाढ़ी कटवाकर गैरिक वस्त्र धारण करवाया, तब दोनों साधुवेश में अहमदाबाद साधु-समाज के सम्मेलन में गये। वहाँ आपलोगों को बड़े सम्मान के साथ निवास दिया गया। सम्मेलन समाप्ति के बाद आप दोनों वहाँ से वापस आये।

गुरुदेव के सफल संदेशवाहक :

गुरुदेव की सेवा में रहकर साधना करते और सत्संग में ग्रंथपाठ भी करते रहे। कभी-कभी गुरुदेव सत्संग-प्रवचन भी करने की आपको आज्ञा देते। आपके प्रवचन से लोग बहुत प्रभावित होने लगे।

परमाराध्य गुरुदेव अपने सत्संग में घंटों प्रवचन करते रहते थे। आप गुरुदेव के प्रवचन को लिपिबद्ध किया करते थे। नागरी लिपि में लिखकर गुरुदेव के प्रवचन शान्ति-सन्देश में प्रकाशनार्थ भी देते थे, जिसे पढ़कर सत्संगीगण बड़े लाभान्वित होते। आपके ही प्रसाद से गुरुदेव के प्रवचन संग्रह 'महर्षि मेँहीँ सत्संग-सुधा सागर' के रूप में प्रकाशित हुआ। यह लेखन कार्य आपकी अनुपम देन है। 'सत्संग-सुधा-सागर' से लोग सदा लाभ उठाते रहेंगे। यह ग्रंथ संतमत का एक अनुपम निधि के रूप में है।

सत्संग के समय यदि गुरुदेव कुछ संतवाणी भूल जाते, तो आप तुरत गुरुदेव को याद दिलाते। इसीलिए गुरुदेव ने आपके लिए कहा—'संतसेवीजी हमारे मस्तिष्क हैं।'

दीक्षा देने की आज्ञा

जब गुरुदेव दीक्षा देने में शरीर से असमर्थ हो गये, तो १९७० ई० में अपनी दीक्षा-पुस्तिका आपको सौंपते हुए आदेश देते हैं—'आज से आप ही मेरे बदले में दीक्षा दीजिये।' गुरुदेव की आज्ञा से आप तबसे हजारों जिज्ञासुओं को दीक्षा दिये।

आपने गुरुदेव की सेवा अहर्निश जीवनभर अनवरत रूप से करते रहे। 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा' की उक्ति को चरितार्थ कर दिखाया। कभी भी किसी तरह आज्ञा की आज्ञा का आपने उल्लंघन नहीं किया। गुरुदेव के आय-व्यय का लेखा-जोखा रखते थे । समय-समय पर गुरुदेव लेखा की कॉपी को देखकर लिखते—'हिसाब सही है।' फिर उस कॉपी पर अपना हस्ताक्षर भी कर देते। इनकी अनुपस्थिति गुरुदेव को बड़ी खलती थी। आपकी अनन्य भक्ति देखकर गुरुदेव ने कहा—मुझमें और संतसेवीजी में क्यू (Q) और यू (U) का संबंध है। संतमत-सत्संग के प्रचार में गुरुदेव के साथ सदा रहते थे। घोर देहात में गुरुदेव की सवारी बैलगाड़ी होती थी। बैलगाड़ी पर गुरुदेव आगे बैठते थे। गुरुदेव के पीछे गुरुदेव की गठरी रहती थी। उस गठरी के पीछे आप बैठते थे।

बैलगाड़ी के पीछे बहुत झटका (जरकिंग) होता है। उस झटके को सहते हुए आप घंटों बैलगाड़ी पर चलते थे। सारे कष्टों को आप सहर्ष सह लेते थे। हर जगह ब्रह्ममुहूर्त में उठकर दतवन-आचमन कराना, सुबह-शाम हाथ-पाँव धुलाना, स्नान के पूर्व गुरुदेव के सारे शरीर में तेल मालिश करना, भोजन कराना। प्रत्येक बुधवार को गुरुदेव के हाथ-पैर की अंगुलियों के नख को काटना। नख को काटने के लिए एक चाकू थी, जिसकी धार सदा बनी रहती थी। उस चाकू से गुरुदेव के नख को काटना, सप्ताह में एक बार होता था। समय-समय पर नियमित रूप से दवा देना—यह सब आपकी सेवा थी।

गुरुदेव के नाम से आये हुए पत्रों को पढ़कर सुनाना, फिर उन पत्रों का यथोचित उत्तर देना—ये सारी सेवा आपके द्वारा संपादित होते थे।

गुरुदेव के साथ आप सत्संग-प्रचार में पंजाब के अमृतसर, उत्तरप्रदेश के दयालबाग, स्वामीबाग, पुष्कर, ऋषिकेश, हरिद्वार, दिल्ली, राजगीर आदि के अलावे नेपाल, बिहार, झारखंड के घोर-से-घोर देहातों में कभी पैदल तो कभी बैलगाड़ी से यात्रा करते थे।

जब गुरुदेव शरीर से एकदम लाचार हो गये, तब बाहर के सत्संग-प्रचार में जाना बंद हो गया। फिर भी उन दिनों गुरुदेव की सेवा ही इनकी दिनचर्या बन गयी थी। ८ जून, १९८६ ई० को गुरुदेव महाप्रयाण कर गये। लाखों सत्संगी गुरुदेव के वियोग से विकल हो गये। लाखों सत्संगियों के बीच गुरुदेव के पार्थिव शरीर को चंदन की चिता पर आपने मुखाग्नि-संस्कार कर दिया।

गुरुदेव के महाप्रयाण के बाद सत्संगियों के एकमात्र आप ही सहारा हो गये। अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का वार्षिक महाधिवेशन को आपने पुनः चालू करवाया। १९८९ ई० में अररिया जिले के सैदाबाद ग्राम में वार्षिक सत्संग हुआ। उसमें आपके प्रवचन से लोग बहुत प्रभावित हुए। आपके प्रवचन काल में श्रोतागण हर्षध्वनि के रूप में 'सद्गुरु महाराज की जय' का घोष करते थे। इस तरह आपकी प्रतिभा बढ़ती गयी। कुप्पाघाट-आश्रम में आपसे मिलने विश्वविद्यालय के कुलपति, प्रोफेसरगण, जिलाधीश, तो कभी कमिश्नर, कभी आई०जी०, तो कभी डी०आई०जी०, कभी आरक्षी महानिरीक्षक, तो कभी आरक्षी निरीक्षक, विद्वान, मौलाना, पंडित लोग आश्रम आकर जिज्ञासा समाधान करवाते थे। आपकी योग्यता से लोग प्रभावित होने लगे। नवगछिया महाधिवेशन में लालू प्रसाद यादव तत्कालीन मुख्यमंत्री पार्टी के साथ आये। जब आपका महाधिवेशन भागलपुर के बरारी में हो रहा था, उसमें बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार जी आपका प्रवचन सुने थे और अपना उद्‌गार सुनाये थे। संयोग से एकबार बिहार के राज्यपाल बूटा सिंह जी आश्रम आये। आपने उनको गुरुनानक साहब की बहुत-सी वाणियाँ सुनायीं। वे बड़े प्रसन्न होकर गये। यह था महर्षि संतसेवीजी महाराज का प्रभाव। आपको संतमत के सुयोग्य ज्ञाता जानकर महासभा की ओर से आचार्य पद दिया।

उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, दिल्ली, पंजाब, हरियाणा, गुजरात आदि स्थानों में संतमत का प्रचार आपने किया। जगह-जगह ध्यान-साधना का भी आयोजन आपकी उपस्थिति में होने लगा। आपको कई भाषाओं की जानकारी थी। हिन्दी, संस्कृत, बांग्ला, मारवाड़ी, नेपाली भाषा में अच्छी तरह संतमत को समझा सकते थे। आपकी लिखावट इतनी अच्छी होती थी कि मालूम पड़ता था, जैसे अक्षर टाइप किया गया हो।

आपकी स्मरणशक्ति अद्‌भुत थी। बचपन में जो पाठ्य पुस्तक में पद पढ़े थे, वे सभी पद्य आपको कंठाग्र थे। मौके पर उन पद्यों को सबके सामने यथावत् सुनाते थे, इससे आपकी स्मरणशक्ति का परिचय मिलता है।

एक बार गुरुदेव के साथ लखनऊ पहुँचे। रेलवे पदाधिकारी मिस्टर जी०सी० लालजी के निवास पर ठहरे थे। मिस्टर जी०सी० लालजी बौद्धिष्ठ थे। आपने प्रसंगवश उनसे पूछा, 'क्या भगवान बुद्ध ईश्वर को मानते थे?' उन्होंने कहा, 'नहीं। भगवान बुद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे।' आपने कहा, 'धम्मपद में ईश्वर की मान्यता है।' उसने धम्मपद पुस्तक लाकर कहा, 'कहाँ है इसमें ईश्वर की मान्यता?' आपने धम्मपद अत्तवग्गो पढ़कर सुनाया। उसमें लिखा है–

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥

इसका अर्थ है–मनुष्य अपना स्वामी आप है, उसका दूसरा स्वामी और कौन हो सकता है, जो अपने को अच्छी तरह दमन कर लेता है, वह दुर्लभ स्वामी को प्राप्त कर लेता है।' उपर्युक्त बातें कहकर इन्होंने उनसे पूछा–"ये दुर्लभ स्वामी कौन हैं?' 'नाथं लभति दुल्लभं'–यह नाथ कौन है? क्या वह ईश्वर नहीं है?"

पुनः आपने उनके सामने 'धम्मपद' के ही जरावग्गो की इन पंक्तियों को सुनाया–

गहकारक ! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि ।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं ।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥

अर्थात् हे गृह के निर्माण करनेवाले! मैंने तुम्हें देख लिया, तुम फिर घर नहीं बना सकते। तुम्हारी कड़ियाँ सब टूट गयीं, गृह का शिखर गिर गया। चित्त संस्कार-रहित हो गया, तृष्णाओं का क्षय हो गया।

उपर्युक्त पंक्तियों को सुनाने के पश्चात् आपने पूछा-'यह गृहनिर्माणकर्ता कौन है?' डी०आर०एम० महोदय-द्वारा यह कहे जाने पर कि वह तृष्णा है। आपने पुनः पूछा–'गृहनिर्माण के बाद तृष्णा हुई कि पहले?' डी०आर०एम० महोदय जरावग्गो को उलटकर बोले कि यह भी ईश्वर की ओर संकेत करता है। वे

मान गये कि सही में गृहनिर्माणकर्ता ईश्वर है।

एक बार नेपाल राज्य के रंगेली में संतमत-सत्संग का आयोजन हुआ था। सत्संग के प्रचार से बहुत लोग आ गये थे। कुछ लोगों ने मंच पर केवल पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की तस्वीर को देखा। वे लोग आपसे प्रश्न करने लगे कि मंच पर किसी देवी-देवता या भगवान का तस्वीर नहीं रखकर केवल अपने गुरु की तस्वीर क्यों रखे हैं। आपने बड़ी सहजता में उनलोगों को उत्तर दिया। आपने कहा, "जो भगवान कहते हैं, वही हमलोग मानते हैं। भगवान श्रीराम ने शबरी को नवधा भक्ति के उपदेश में कहा है–'सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा।।' अर्थात् भगवान् श्रीराम कहते हैं–हमसे भी बेशी संत हैं। हमारे गुरु महाराज संत हैं, इसीलिए भगवान के आदेशानुसार हमलोग गुरुदेव की तस्वीर मंच पर रखते हैं। आपके उत्तर से सभी मुग्ध हो गये। आपमें किसी प्रकार का अहंकार नहीं था। जब आप महाधिवेशन के अवसर पर मंच पर जाते, तो सभी लोग खड़े होकर आपका अभिवादन करते। यह देखकर आप कहते कि बच्चे को बड़े लोग कंधे पर चढ़ा लेते हैं, इसलिए वह बच्चा बड़ा नहीं हो जाता। उसी प्रकार आपलोग मुझे प्यार से ऊँचा स्थान देते हैं, इससे में बड़ा नहीं हो जाता। बल्कि आपलोगों का बड़प्पन है, मुझे आप ऊँचा स्थान देते हैं।

१९८४ ई० में परमाराध्य गुरुदेव पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज को सौवीं जयन्ती के उपलक्ष्य में अभिनंदन समर्पण करना था। उसके प्रधान संपादक आप ही थे। संपादकीय में आपने कहा–'अध्येतागण हंस बन अवगुण-वारि का परिहार कर गुण-पय को स्वीकार करें। साथ ही गुण को मेरे मित्रों, सहयोगियों और विद्वानों का और यदि इसमें कुछ दोष मालूम पड़े, तो वह मेरा मानकर उन्हें धन्यवाद दें और मुझे क्षमा करें। इस तरह इनकी लघु-भावना में भी उदारता के दर्शन स्वाभाविक हो जाते हैं।

आपके समझाने की कला निराली थी। एक बार की घटना है कि आप ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। इनके सामनेवाली सीट पर एक सज्जन अपने पुत्र के साथ बैठे थे। इनको साधु जानकर वे सज्जन विनम्रतापूर्वक बातचीत करने लगे। बातचीत के सिलसिले में आपने उस सज्जन से पूछा–'आप कहाँ जा रहे हैं?' उन्होंने कहा–'ये मेरे पुत्र हैं। इनका नाम विश्वविद्यालय में लिखवाने जा रहे हैं। बाद में वे सज्जन अपनी जेब से सिगरेट का पैकेट और माचिस निकाले। आपने उस सज्जन से कहा–'आपके पास पूर्णिमा और अमावस्या दोनों हैं।' वे सज्जन ने कहा–'महाराजजी! आपकी बात तो मेरी समझ में कुछ भी नहीं आयी कि आप क्या कह रहे हैं।' आपने उनसे कहा–'आप अपने लड़के का विश्वविद्यालय में नामांकन कराने जा रहे हैं, जिससे यह आगे पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बनेगा। इसका भविष्य उज्ज्वल होगा। दूसरी बात यह है कि आप इसके सामने जो सिगरेट पीएँगे और यह लड़का देखेगा, तो मन-ही-मन सोचेगा, हमारे पिताजी बहुत पढ़े-लिखे आदमी हैं। इनकी समाज में अच्छी प्रतिष्ठा है। शायद सिगरेट कोई अच्छी चीज है, तभी तो पिताजी इसे पीते हैं। आपकी देखा-देखी यह भी सिगरेट पीएगा। लड़के को पीने से यदि आप मना करेंगे या पीने के लिए पैसा नहीं देंगे, तो यह पैसे चुराकर सिगरेट खरीदेगा। यदि आप रोक लगाएँगे, तो घर के बदले यह दूसरी जगह से चोरी करके पैसा लाएगा। इस चौर्य कार्य में यदि पकड़ा गया, तो यह जेल में जाएगा, जिससे इसके भविष्य का जीवन अंधकारमय हो जाएगा। कहिये, आपके पास पूर्णिमा और अमावस्या यानी प्रकाश और अंधकार दोनों हैं कि नहीं!' आपका उपदेश सुनकर उक्त महाशय ने गाड़ी की खिड़की से सिगरेट तथा माचिस का डिब्बा फेंकते हुए संकल्प किया कि लीजिए, अबसे मैं सिगरेट कभी नहीं पीयूँगा।

परमाराध्य गुरुदेव के सान्निध्य में रहने के कारण अनेक महात्माओं के विचारों से लाभ मिला; परन्तु आपपर गुरुदेव की सर्वोपरि कृपा होती रही। जब आप गुरुदेव के साथ १९७७ ई० में जालंधर पंजाब गये थे, वहाँ कुछ लोगों ने आपसे कहा, 'आप पटना साहिब में जो प्रवचन किये थे, उसे हमलोगों ने पढ़ा है। गुरु गोविन्द सिंहजी का जन्म पटना में हुआ था। जब वे पंजाब आये तो यहाँ के लोगों ने उनको पटना जाने नहीं दिया। हमलोग भी आपको बिहार जाने नहीं देंगे।' यह था आपके व्यक्तित्व का प्रभाव।

गुरुदेव की कृपा आपपर ऐसी होने लगी कि जहाँ भी गुरुदेव का सत्संग होता, वहाँ पहले आपका प्रवचन होता था। पीछे गुरुदेव प्रवचन करते थे।

आपके प्रवचन का यह क्रम जिला वार्षिक सत्संग और महाधिवेशन में भी चलता रहा।

गुरुदेव की अहैतुकी कृपा :

आपने गुरुदेव की इतनी तन्मयता से सेवा की कि गुरुदेव आपको अपना अभिन्न अंग मान लिये। एक बार आपको कुप्पाघाट आश्रम में बुखार हो गया। दवा लेने के बाद भी बुखार उतरता नहीं था। जब आपको देखने डॉक्टर आये, तो गुरुदेव ने कहा, 'ये हमारे मस्तिष्क हैं। इनके बिना मेरा काम नहीं चलेगा।' यह कहते-कहते गुरुेदव रोने लगे। कई दिनों तक बुखार चलता रहा। फिर दूसरे डॉक्टर आये। डॉक्टर साहब बड़े श्रद्धालु थे। गुरुदेव ने कहा–'डॉक्टर साहब इनका ठीक से इलाज कीजिए।' डॉक्टर साहब ने कहा–'आप आशीर्वाद देंगे, तो निश्चित है कि संतसेवीजी महाराज स्वस्थ हो जाएँगे।' गुरुदेव ने कहा, 'मेरा आशीर्वाद है।' डॉक्टर साहब की मात्र एक खुराक से बुखार उतर गया और आप स्वस्थ हो गये।

गुरुदेव की सेवा में आप अहर्निश संलग्न रहते थे। गुरुदेव भी आपपर सदा दयाभाव रखते थे। बहुत प्यार से बातचीत करते थे। जब ये सेवा में किसी तरह की त्रुटि नहीं करते थे, तो गुरुदेव भी इनको कभी भी डाँट-फटकार नहीं करते थे। एक बार आप सोये थे। रात्रि में आपने स्वप्न देखा कि गुरुदेव गंगा-स्नान करने गये। गंगाजी में जैसे ही गुरुदेव डुबकी लगाते हैं कि गंगा की प्रबल धारा में बह गये। यह देखते ही आप विकल हो गये। 'गुरुदेव गंगाजी में डूब गये' कहकर चिल्ला रहे हैं। इतने में गुरुदेव पुकारते हैं, 'संतसेवीजी!' यह सुनते ही आपकी नींद टूट गयी। गुरुदेव को आकर प्रणाम किये। गुरुदेव ने कहा–'जाइये, सोइये।' इस घटना से स्पष्ट होता है कि गुरुदेव आपको स्वप्न में भी दुःखी देखना नहीं चाहते थे।

एकबार आप किसी आवश्यक कार्यवश कटिहार जा रहे थे। तैयार होकर जब आप गुरुदेव को प्रणाम करने गये, तो गुरुदेव ने पूछा–'आप कटिहार जा रहे हैं, कटिहार से कब लौटियेगा?' आपने प्रार्थना के स्वर में कहा–'हुजूर! आज कटिहार पहुँचेंगे, कल काम करके परसों लौट आयेंगे।' गुरुदेव की आज्ञा हो गयी। आप बरारी घाट में स्टीमर पकड़कर महादेवपुर घाट गये। वहाँ से जो ट्रेन खुली, वह सीधे कटिहार तक गयी। कटिहार पहुँचते ही आपका काम हो गया। रात में सत्संग मंदिर में ठहरे। वहा सत्संगियों से कहा–'मुझे तो यहाँ से परसों वापस जाना था, लेकिन जिस काम से हम यहाँ आये, वह काम आज ही हो गया। इसलिए हम कल कुप्पाघाट आश्रम के लिए वापस हो जाएँगे। वहाँ के सत्संगियों ने कहा–'कल नहीं जाकर, परसों ही आप वापस जाएँ और कल यहाँ सत्संग कर दिया जाए।' आपने कहा–'यदि मैं कल यहाँ रहकर सत्संग करूँगा, तो एक दिन की गुरु-सेवा मेरी छूट जाएगी। मैं किसी भी हालत में कल यहाँ नहीं ठहरूँगा।' आप दूसरे दिन कटिहार से वापस हो गये। यहाँ कुप्पाघाट आश्रम में गुरुदेव अधिकलाल दास से कहते हैं–'संतसेवीजी आज आ रहे हैं। आप मेरी गाड़ी लेकर जाइये और उनको बरारीघाट स्टेशन से ले आइये।' गुरुदेव की आज्ञानुसार वे गाड़ी लेकर बरारीघाट स्टेशन पहुँचे। वहाँ स्टेशन मास्टर उनसे पूछते हैं, 'आप यहाँ किस काम से आये हैं?' उसने कहा, 'हमारे पूज्य संतसेवीजी महाराज आ रहे हैं। गुरुदेव ने मुझे भेजा है कि उनको ले आइये।' स्टेशन मास्टर ने कहा, 'वे तो कल आनेवाले हैं, अच्छा गुरुदेव ने आपको भेजा है, तो चलिये देखें, वे ठीक ही आ रहे हैं!' वे दोनों घाट के जरी पर खड़े होकर स्टीमर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। स्टीमर के पहुँचते ही पूज्य संतसेवीजी महाराज स्टीमर से उतरे और अधिकलाल दासजी से पूछते हैं–'आप यहाँ कैसे आ गये?' उन्होंने कहा, 'गुरुदेव की आज्ञा हुई कि संतसेवीजी आ रहे हैं, ले आइये।' यह सुनते ही पूज्य संतसेवीजी महाराज गंभीर हो गये और कहने लगे, 'गुरुदेव की मुझपर कितनी कृपा है, कहा नहीं जा सकता!' गुरुदेव की आपपर अहैतुकी कृपा बनी रहती थी।

एक बार रात्रि में आपने स्वप्न देखा कि मेरा शरीर श्मशान में मृत पड़ा हुआ है, जिसे दो गिद्ध नोंच-नोंचकर खा रहे हैं। जब आपकी नींद टूटी, तो आप गुरुदेव को प्रणाम करने गए। गुरुदेव ने आपको देखकर कहा–'देखिए तो, मेरी चौकी के नीचे दो गिद्ध भी हैं?' आपने चौकी के नीचे देखकर कहा–'हुजूर! गिद्ध तो नहीं हैं।' गुरुदेव ने कहा–'अच्छा, काल था, चला गया।'

एक दिन आप गुरुदेव के साथ कुप्पाघाट-आश्रम में प्रातःकालीन भ्रमण करने गये। इस भ्रमण

के क्रम में ही अचानक एक कौए ने क्रोध में आपके माथे पर झपट्टा मारना चाहा; लेकिन वह असफल रहा। उसी समय गुरुदेव ने अपने आप बोलने की कृपा की–'भाग रे दुष्ट! भाग, पिता के रहते पुत्र को ले जाएगा? कदापि नहीं।'

जबतक परमाराध्य गुरुदेव शरीर में रहे, तबतक आप उनकी सेवा में छाया की भाँति अनवरत लीन रहे। १९४९ ई० से १९८६ ई० के ८ जून तक आप गुरु-सेवा के अलावे अपने निजी काम से कहीं नहीं गये। घर-परिवार को आपने कभी नहीं देखा। इस तरह का त्याग आपने जीवन में पूरा किया। इस त्याग का परिणाम गुरुदेव की कृपा भी आप पर ऐसी हुई कि गुरुदेव स्पष्ट रूप से आपको अपना उत्तराधिकारी मान लिया। यह सौभाग्य किसी को प्राप्त नहीं हुआ।

सन्तमत-प्रचार

गुरुदेव के महाप्रयाण के बाद संतमत-सत्संग-प्रचार का सारा भार आपपर आ गया। १९८७ ई० में अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का आयोजन बिहार राज्य के अररिया जिलान्तर्गत सैदाबाद ग्राम में सम्पन्न हुआ। इस महाधिवेशन में आपके प्रवचन से लोग बहुत प्रभावित हुए। भारत के प्रमुख तीर्थस्थल चित्रकूट में अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का महाधिवेशन हुआ। उसमें देश के प्रायः अधिकांश प्रान्तों के धर्मप्रेमीगण भाग लिये थे। वहाँ भी आपके प्रवचन से लोग काफी प्रभावित हुए।

इस तरह १९९३ ई० तक महाधिवेशन होते आया। कुछ राजनीतिक लोगों के चलते अखिल भारतीय संतमत-सत्संग महासभा दो भागों में बँट गयी। दो महासभा हो गयी। दोनों का गठन अलग-अलग हो गया और अलग महाधिवेशन भी होने लगे। लेकिन आपके तत्त्वावधान में जहाँ भी महाधिवेशन होता था, बड़े ही विराट् और भव्यरूप में। लाखों की भीड़ महाधिवेशन में रहती थी। आपके प्रवचन से लोग इतने प्रभावित होते थे कि बीच-बीच में हर्ष के रूप में 'गुरु महाराज की जय' की ध्वनि से सारा पंडाल गुंजित हो जाता था।

इस तरह भारत की राजधानी दिल्ली के छत्तरपुर में भी महाधिवेशन हुआ। इस महाधिवेशन में जैन मुनिजी महाराज आपके प्रवचन से इतने प्रभावित हुए कि आपसे दीक्षा ग्रहण कर लिये।

१९९७ ई० में उत्तराखंड के महान तीर्थ ऋषिकेश में अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का महाधिवेशन था। आपके ठहरने की व्यवस्था परमार्थ निकेतन में किया गया था। जब आप परमार्थ निकेतन की ओर चले तो आपके स्वागत में सैकड़ों सत्संगीगण दो किलोमीटर तक सद्गुरु महाराज की जय का नारा लगाते आपके पीछे-पीछे चल रहे थे। जब आप लक्ष्मणझूला के निकट सत्संग आश्रम में पहुँचे, तो आश्रम की ओर से सबों को स्वागत के रूप में शर्बत पिलाया गया। लक्ष्मणझूला से आपको कारगाड़ी से परमार्थ निकेतन ले गये। परमार्थ निकेतन के चेयरमैन मुनि श्रीचिदानंदजी सरस्वती ने आपका स्वागत किया।

इस महाधिवेशन के स्वागताध्यक्ष स्वामी चिदानंद सरस्वती जी ही थे। जब ये महाधिवेशन में स्वागत-भाषण करने लगे, तो बड़ी उदारता से बोले, 'इनको मैं सद्गुरु मानता हूँ। ये महर्षि हैं, ये परमहंस हैं। आस्ट्रेलिया के एक जिज्ञासु स्वामी चिदानंद सरस्वतीजी से दीक्षा लेने आये थे। उनको कहा, 'मुझसे दीक्षा क्या लोगे? मेरे यहाँ बड़े महात्मा आये हैं, उनसे दीक्षा लो।' पूज्य महर्षि संतसेवीजी महाराज से ही उनको दीक्षा दिलवाये। यह थी मुनिजी की उदारता और आपके प्रति श्रद्धाभाव। इस महाधिवेशन के अवसर पर महामंडलेश्वर श्रीजगदीशपुरीजी महाराज अपना उद्गार प्रकट करते हुए बोले, 'महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज का मैं दर्शन नहीं कर सका; लेकिन आपलोगों का दर्शन उन्हीं के रूप में कर रहा हूँ। संतों की महिमा अपार है। जब भगीरथ जी गंगा माता से प्रार्थना करने लगे कि धरती पर आप चलें। तो गंगा माई ने कहा, 'देखो भगीरथ! धरती पर बहुत पापी लोग रहते हैं। जब मैं धरती पर जाऊँगी, तो पापी लोग सभी पाप मेरे अंदर धोयेंगे। मैं पापों से भर जाऊँगी।' भगीरथ ने कहा, 'माताजी! पृथ्वी पर केवल पापी लोग ही नहीं रहते हैं, वहाँ संतगण भी विराजते हैं। जब आपके अंदर संतों के चरण पड़ जायेंगे, तो सभी पाप धूल जायेंगे। संतों की सर्वोपरि महिमा यही है कि वे गंगा को भी पावन करते हैं। इसी अवसर पर हरिद्वार के मायापुरी महामंडलेश्वर स्वामी श्री श्यामसुन्दर दासजी महाराज का भी प्रवचन हुआ। उन्होंने अपने प्रवचन शुरू करने के पहले बोले, 'जगद्गुरु स्वामी रामानुज महाराज की जय! जगद्गुरु श्रीरामानंद स्वामीजी

महाराज की जय! जगद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की जय! और अंत में बोले–'जगद्गुरु स्वामी संतसेवीजी महाराज की जय!' यह सुनते ही श्रोतागण बड़े जोर से हर्ष करने लगे। इस महाधिवेशन पूरा ऋषिकेश सत्संगमय हो गया था। इस अखिल भारतीय संतमत-सत्संग में प्रायः अधिकांश प्रांतों के सत्संग-प्रेमियों ने भाग लिया था। महाधिवेशन का पंडाल वानप्रस्थ आश्रम के प्रांगण में बनाया गया था।

झारखंड प्रान्त की राजधानी राँची में अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का वार्षिक महाधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन में आपके प्रवचन की ही प्रधानता रही। बहुत धर्मप्रेमियों ने आपसे दीक्षा ग्रहण किया। अनेक प्रांतों के सत्संगियों ने इसमें भाग लिया था। गुरुदेव के महाप्रयाण के बाद आपसे लाख से अधिक लोगों ने आपसे दीक्षा ली।

विश्वविख्यात नगर मुम्बई में श्रीमन्नारायण स्वामी के सत्संग का बृहत् आयोजन था। उसमें आपको भी आमंत्रित किया गया। एक महीने का आयोजन था। लोगों को बैठने के लिए लाखों कुर्सियाँ लगी हुई थीं। उस आयोजन में जब आपका प्रवचन हुआ, १५ मिनट में ९ बार करतल ध्वनि श्रोताओं की ओर से की गयी। आपके प्रवचन के समय स्वामी श्रीचिदानंद सरस्वती, स्वामी सुशील मुनि भी मंच पर विराजमान थे। मंच पर आपके स्वागत में प्रमुख स्वामीजी महाराज ने अपने कर-कमलों से द्वारा पुष्प की माला आपके गले में डाली थी। आपके प्रवचन और प्रतिभा से लोग बड़े प्रभावित हुए।

एक बार भागलपुर विश्वविद्यालय में आपका अध्यात्म पर प्रवचन हुआ। आपने अपने प्रवचन में कहा–'हमारे गुरुदेव महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने अन्तस्साधना की व्याख्या जिस तरह सिलसिलेवार की है, वैसी शायद किन्हीं संतों की वाणियों में नहीं मिलेगी।' एक प्रोफेसर ने आपसे पूछा कि 'वह कौन-सी साधना है, जो आपके गुरुदेव ने सिलसिलेवार से व्याख्या की है।' आपने कहा, 'जब आप दीक्षा लेंगे, तभी उस साधना को समझ सकेंगे।' आप प्रत्युत्पन्नमति थे। किस विषय को किस तरह, कहाँ, कैसे प्रस्तुत करेंगे, इसकी अद्भुत क्षमता आपमें थी।

१९८९ ई० के नवम्बर माह में हरियाणा प्रांत के करणाल शहर में मानव-सेवा संघ के प्रांगण में तीन दिनों का सत्संग हुआ था। सत्संग का आयोजन श्रीरामावतार प्रेमशंकर गौतमजी ने किया था। बहुत अच्छे ढंग से पंडाल का निर्माण किया गया था। तीनों दिन के प्रवचन से श्रोतागण बहुत प्रभावित हुए। आपने इस अवसर पर अपने प्रवचन में कहा, 'जितने लोग आस्तिक बुद्धि के हैं, चाहे वे ईसाई, वैदिक, इस्लाम, बौद्ध, जैन, सिख आदि कोई क्यों न हों, सबके प्रभु एक हैं। सारी सृष्टि के प्रभु एक हैं। सभी ईश्वरवादी उस परमात्मा की स्तुति किसी-न-किसी रूप में करते हैं, चाहे उसकी संज्ञा हम जो भी दे दें। स्तुति कहें, प्रेयर कहें अथवा नमाज कहें–एक ही बात है। भले ही लोग राम या ब्रह्म कहें, खुदा या अल्लाह कहें, गॉड या स्वर्गस्थ पिता कहें; स्वरूपतः वे एक ही हैं। भाषा में भिन्नता है, पर तत्त्वरूप में अभिन्न है। इस सत्संग के द्वारा ईश्वरस्वरूप का ज्ञान दिया जाता है।

महर्षि संतसेवीजी महाराज की शारीरिक क्षमता :

श्यामलवर्ण, न ज्यादे लंबे, न नाटे, छरहरा शरीर, स्फूर्ति तन, जब आप टहलने निकलते थे, तो इतनी तेजी से चलते थे कि आपके पीछे-पीछे चलनेवाले को दौड़ना पड़ता था। प्रायः स्वस्थ ही रहा करते थे। कभी-कभी आपको सिरदर्द (माइग्रेन) थोड़ी परेशानी होती थी। आपको हाई ब्लडप्रेशर (उच्च रक्तचाप) भी था; लेकिन इतने संयम रहते थे कि रोगों का कोई खास प्रभाव आपपर नहीं पड़ता था।

एक बार आप सत्संग-प्रचार के सिलसिले में पंजाब गये। वहाँ आपको डेंगू ज्वर हो गया। पंजाब से आप दिल्ली चले आये। दिल्ली के डॉक्टर ने जब आपकी गंभीर स्थिति देखी, तो वे लोग दंग हो गये। प्लेटलेट (खून की स्थिति) जहाँ चार लाख होना चाहिए, वहाँ आपके शरीर में मात्र ग्यारह हजार प्लेटलेट था। इस अवस्था में शायद ही कोई रोगी बच पाते हैं; लेकिन आपपर इसका कोई प्रभाव नहीं था। डॉक्टर लोग इलाज करने से मुकर रहे थे। वहीं के एक डार्ट के बड़े डॉक्टर थे। उनको जब मालूम हुआ तो वे आये और डॉक्टरों से कहा–'तुमलोग घबराओ नहीं। इनके साथ बहुत बड़ी शक्ति है। देखते हो, उस शक्ति के प्रभाव के कारण इनपर डेंगू ज्वर का कोई प्रभाव है? तुमलोग निस्संकोच इलाज करो।' तब डॉक्टर लोग इलाज करने लगे। सबसे पहले

इनको खून चढ़ाया गया। खून को वैसे ही नहीं चढ़ाये, पहले उसको रिफाइन किया गया, तब इनको खून चढ़ाया गया। धीरे-धीरे स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। कई महीने के इलाज होने पर तब आप पूर्ण स्वस्थ हो गये। यह थी इनके ऊपर गुरुदेव की कृपा शक्ति। जबतक आप स्वस्थ रहे, घोर-से-घोर देहात में आप सत्संग-प्रचारार्थ जाते रहे। आपके समय में पूर्ववत् महाधिवेशन, जिला वार्षिक अधिवेशन का आयोजन बड़े ही बृहत् रूप में होते रहे। आपसे लाखों लोगों ने दीक्षा ली।

महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट में भी जब आप रहते थे, तो दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। जाड़े के मौसम में आप अपने निवास के दो मंजिलें मकान में धूप लगाने के ख्याल से वहीं स्नान-भोजन करते थे। दर्शनार्थियों की काफी भीड़ हो जाती थी। जब आप ऊपर से लोगों को दर्शन देते थे, तो लोग प्रसन्न और गद्‌गद हो जाते थे।

आश्रम में आप नियमित रूप से सत्संग करते थे। टहलने के समय टहलने जाते थे। परमाराध्य गुरुदेव की समाधि से पश्चिम और उत्तर की जमीन में फुलवाड़ी लगाई गई है। फुलवाड़ी निराली ढंग से बनायी गई है। उसमें तरह-तरह के फूल लगाये गये हैं। आपके टहलने के लिए फूल की क्यारियों के बीच में पक्की रास्ता बनाया गया है, उसी रास्ते पर आप टहलते हैं। आज वह फुलवाड़ी दर्शनीय बन गयी है। गुरुदेव के समाधि-मंदिर तक एक पुल बनवा दिया गया है, उस पुल पर से फुलवाड़ी की शोभा को देखते हैं।

महर्षि संतसेवी परमहंसजी के संबंध में विद्वानों के विचार

१. प्रोफेसर नजीर मुहम्मद

एम०ए०, पीएच०डी०, डी०लिट्०,
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (उ०प्र०)

महर्षि संतसेवीजी महाराज के जीवन में सदाचार और स्वावलंबन को महत्त्वपूर्ण माना है। महर्षि संतसेवीजी महाराज ने योग-साधना के लिए सद्‌गुरु की अनिवार्यता को सर्वोपरि माना है; क्योंकि संत-सद्‌गुरु मानव में पाशविक और दानवीय दुर्वृत्ति दूर कर विशुद्ध मानवीय गुणों को भरकर वस्तुतः मानव बना देते हैं। इतना ही नहीं, वे मानव से सिद्ध, सिद्ध से देव और देव से ब्रह्म बना देते हैं। वहीं दूसरी ओर उन्होंने सदाचार समन्वित जीवन को योग-साधना की आधारशिला माना है। उनके अनुसार सदाचार का पालन करो। पंच पापों अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से पृथक् रहो और भक्ति में अनुरक्त रहो। जीवन-यापन के लिए सच्ची कमाई करो। अपने देश का कल्याण करो, फिर संसार का भी कल्याण हो जाएगा।

महर्षि संतसेवीजी महाराज ईश्वर-भक्ति और सदाचार की अन्योन्याश्रित महत्ता बतलाते हुए कहते हैं—'यह सुनिश्चित है कि जो भक्ति करके सदाचार का पालन करेंगे, उनका अंतःकरण शुद्ध और शान्त होगा। फलतः सदाचारी का जीवन निर्विकारी और परोपकारी होना स्वाभाविक है। ऐसे जन जीवनकाल में मंगलमय प्रभु को पाकर अपने मानव-जीवन को मंगलमय बना सकेंगे। यही भी स्वाभाविक ही है। स्मरण रहे कि बूँद का ही समष्टि रूप सिन्धु होता है और व्यक्ति का समूह समाज, देश और विश्व होता है।

अतएव प्रथम हम स्वयं को सन्मार्ग पर चलकर उस शान्ति का अनुभव करें। पश्चात् वही शान्ति-किरण विकिर्णित होकर सभी देश और विश्व में शान्ति स्थापित करेगी। अन्यथा 'पानी मिलै न आपको, औरन बख्शत क्षीर' की चरितार्थता का घोर प्रयास कर सफलता प्राप्त करने में कदापि सक्षम नहीं हो सकता।

२. डॉ० रामेश्वर तिवारी

एम०ए०, पी-एच०डी०, हिन्दी विभाग,
शासकीय महाविद्यालय, पंचमढ़ी, मध्यप्रदेश

महर्षि संतसेवीजी महाराज ने जीवन में सदाचार और स्वावलंबन को महत्त्वपूर्ण माना है। इन्होंने इस संसार में रहते हुए ही हंस के समान जीवन-यापन की बात कही है। प्रेम की संकुचित दायरे से बाहर निकालकर विश्वबंधुत्व में स्थापित करने का प्रयोजन बतलाया है। अतः इस संसार में रहकर ही उस परम तत्त्व को प्राप्त करना अभीष्ट है। मन सभी मूढ़ताओं का मूल है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि

विकारों से जबतक व्यक्ति मुक्त नहीं होता है, तबतक ईश्वर का उसके साथ योग संभव नहीं। व्यक्ति के आचार-विचार और आहार-विहार में संयम जरूरी है। सात्विक आहार और सादगीपूर्ण जीवन को विशेष महत्त्व दिया गया है।

महर्षि संतसेवीजी दुःख, सुख, आवागमन के चक्र से मुक्त होने हेतु धैर्य धारण कर सदुपदेश करते हुए भगवद्भजन करने का आग्रह करते हैं। उनके अनुसार–'भूत अर्थात् अतीत तो व्यतीत हो चुका, भविष्यत् अज्ञात है, वर्तमान हमारे साथ है, हाथ है। अतएव हम वर्तमान को बनायें, भविष्यत् बनेगा। इसी से दुःख का प्रहाण और सुख का विहान होगा।

निष्कर्षतः महर्षि संतसेवी का साहित्य २०वीं-२१वीं सदी के संक्रमण काल की वैचारिक एवं सांस्कृतिक गति का निर्देशन कराता है।

महाप्राज्ञ महर्षि संतसेवी जी महाराज का साहित्य ही नहीं, जीवन भी इस चेतना का वाहक बना है। ये सच्चे अर्थों में संत हैं; क्योंकि भारत की उदात्त आध्यात्मिक परंपरा के अनुसार, 'जिन्हें हम संत पुरुष कहते हैं, वे प्राणिमात्र के अहैतुक मित्र होते हैं, जो मन, वचन, कर्म से जीवमात्र के कल्याण की भावना से अनुप्राणित रहते-बरतते हैं।' महर्षि संतसेवीजी महाराज का रचनात्मक व्यक्तित्व संघर्ष और सामंजस्य का आध्यात्मिक प्रतिमान देता है।

३. डॉ० तपेश्वरनाथ

एम०ए०, पीएच०डी०, डी०लिट्०
यूनिवर्सिटी प्रोफेसर हिन्दी विभाग
तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय (बिहार)

महर्षि संतसेवी जी योगमार्ग के आधुनिक संत हैं। वे संतमत के विख्यात संत महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के पट्ट शिष्य हैं। इनकी साधनात्मक उपलब्धि को जानने के लिए इनकी रचनाओं का वैचारिक वर्गीकरण पहले आवश्यक है। तो इस दृष्टि से इनकी रचनाओं के मुख्यतः छह वर्ग हैं–१. योगपरक, २. आधारपरक, ३. वैराग्य परक, ४. भक्तिपरक, ५. सत्संग परक, ६. संत स्वभावपरक।

महर्षि संतसेवीजी विद्वान साधक हैं। अतः किसी तथ्य की संपुष्टि में ये वेद-पुराण, गीता, उपनिषद्, योगसूत्र आदि के सूत्रों के साक्ष्य दिये बिना नहीं रह सके। यही प्रामाणिक चिंतन व प्रतिपादनविधि है। संतों ने आत्मज्ञान पर बल दिया है। पर महर्षि संतसेवीजी ने अपने प्रतिपादन में प्रतिपादन और शास्त्रज्ञान दोनों का योग उपस्थित किया है। सिद्ध गुरुओं में जैसे गोरखनाथ थे, निर्गुण संतों में जैसे सुन्दरदासजी बहुपठित थे, वैसे ही आधुनिक संतों में आप विद्वान और सम्मान्य हैं। तभी तो आपके गुरुदेव ने आपको अपना मस्तिष्क कहा है।

४. प्रो० भरत प्रसाद शर्मा

समायोजन भू०ना०म० विश्वविद्यालय, मधेपुरा
सह अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
दर्शन साह महाविद्यालय, कटिहार (बिहार)

'ढाई अक्षर प्रेम का' पढ़ानेवाले और उसकी अतल गहराई एवं अछोर व्याप्ति में अवगाहन करनेवाले महर्षि संतसेवीजी संत-परंपरा के सिद्ध पुरुष संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के संकल्पित समर्पित साधक शिष्य हैं। इन्होंने 'श्रीगुरु चरण सरोज रज' से 'निज मन मुकुर' को सुधारने एवं निर्मल करने का जो नैष्ठिक निर्णय अपने बाल्यकाल में ही लिया था, उसे जीवन में क्रियान्वित किया है। ये अपने सेव्य गुरु की छाया ही बन गये। इनकी निश्छल, हार्दिक सेवा-भावना एवं अटूट भक्ति के कारण गुरु की करुणा भी विगलित हुए बिना न रह सकी। अपने प्रधान शिष्य का स्थान देकर संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमंहसजी ने इनके आध्यात्मिक संस्कार का द्वारा खोल दिया। धीरे-धीरे इनके मन-मानस उर्वर-उर्मिल होता गया। फिर तो इन्हें तत्त्वज्ञान की सम्बोधि भी मिली। इन्हें जन-समाज उसी तरह पहचानने लगा, जिस तरह से गौतम बुद्ध के आनंद तथा रामकृष्ण परमहंस के साथ स्वामी विवेकानंद को पहचानता आया था।

गुरु की अथक सेवा के कारण उनके विश्वास और स्नेह का जो प्रसाद इन्हें उपलब्ध होता रहा, उसका क्रम अनवरत चला रहा। इस अभिन्न सन्निधि के कारण ये अहर्निश गुरु-कथन को टहलते, बैठते, घूमते, सभा-सम्मेलनों, साक्षात्कारों, मिलन-पर्वों आदि अवसरों पर अंकित-टंकित करते रहे और अंततः उन वाणियों को मुद्रित करवाकर जन समाज का व्यापक कल्याण करते रहे। संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस की अमृतवाणी से वैयक्तिक स्तर पर तो इनके ज्ञान-चक्षु निरंतर उन्मीलन होता ही रहा। अधिकारी शिष्य और संस्था के उत्तराधिकारी की हैसियत से इन्होंने व्यापक

जन-समाज को प्रेस-पत्रिका एक पुस्तक प्रकाशन के माध्यम से गुरु के दिव्य वचनामृत का भरसक पान कराया। इस विराट श्रमयज्ञ को ज्ञानकांड बनाने में महर्षि संतसेवी को कितना खून-पसीना एक करना पड़ा होगा, कितना धैर्य एवं कितनी सन्नद्धता रखनी पड़ी होगी, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता है। गुरु की दिनचर्या के साथ दिन-रात संलग्न रहने के कारण इन्हें तो सदा उत्कर्ण एवं एकाग्र रहकर बड़े मनोयोग से गुरु के उपदेशों का पान करने का सुयोग मिला ही, साथ ही साधक समाज भी आप्यायित हुआ। महर्षि संतसेवीजी ने इस गुरुतर दायित्व को गुरु की अहैतुकी कृपा का प्रसाद मानकर निश्छल-निःस्वार्थ हृदय से 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' ही नहीं किया, बल्कि हजारों-लाखों भक्तों को श्रवण-सुलभ भी कराया तथा वाचन-भजन-कीर्तन का विषय बनाकर प्रवचनों को प्रस्तुत और उपस्थित भी किया। वास्तव में इन्होंने अपनी व्यक्ति-वाचकता को तिरोहित कर संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस की वाणी को सार्वजनीन बनाने में अद्भुत सार्थकता महसूस की और संभाषण, लेखन, पत्र-व्यवहार, पत्रिका-प्रकाशन एवं पुस्तक प्रकाशन द्वारा जन-जन तक ज्ञान-संदेश का वतरण किया। इस पूरे प्रकरण में इनका प्रयास अप्रतिम रहा। महर्षि संतसेवी की सम्पादन कला का शिखर ग्रंथ 'महर्षि जन्मशती अभिनंदन-ग्रंथ' है। सन् १९८४ ई० में प्रकाशित ५०० पृष्ठों का यह सचित्र विशालग्रंथ संत मेँहीँ की साधना, दर्शन एवं व्यक्तित्व का महान आकर ग्रंथ है।

अंततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महर्षि संतसेवीजी में पत्र, पत्रिका, पुस्तक आदि के संपादन-प्रकाशन की एक तलस्पर्शी दृष्टि निस्पृह भावना और प्रकाण्ड पांडित्ययुक्त परोपकारी विनय चेतन हैं, जिसके बल पर इन्होंने सम्पादकीय गरिमा के कला-शिखर को हस्तामलकवत् किया है। ये धन्य हैं।

५. डॉ० आर०के० रवि

संसद सदस्य (राज्य सभा)

पूर्व कुलपति, बी०एन०एम०यू०, मधेपुरा;

प्राचार्य टी०पी० कॉलेज, मधेपुरा (बिहार)

महर्षि संतसेवीजी एक साधक हैं। योग के बल पर उन्होंने साधा है स्वयं को और जाना है मानव कल्याण को। वे महाकारुणिक हैं। इन्होंने ॐ विवेचन, योग-माहात्म्य, सुख-दुःख, जग में ऐसे रहना, गुरु-महिमा आदि अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया है। सुख-दुःख सामान्य और विशिष्ट हर प्राणी के जीवन में रात-दिन के समान, छाया और धड़कन की तरह विराजमान हैं। महर्षि संतसेवीजी की पुस्तक–'सुख-दुःख' में ये सुख-दुःख, इच्छा की क्रिया और ज्ञान की त्रिवेणी से चिंतन-सलिला बनकर निकलते हैं। 'सुख-दुःख' जीवन क्रम और जगत् सत्य के अपरिहार्य नियम हैं। जो वाद-विवाद एवं प्रतिवाद से ऊपर हैं। उन्हें जीवनधारक सुख-दुःख की कैसी अनुभूति करते हैं–उन्हें किस तरह भोगते और पाटते हैं–ढोते और सहलाते हैं–यह निर्भर करता है उस भोक्ता पर, प्राणी पर, उपभोक्ता पर। सच तो यह है कि सुख-दुःख आधारिक और अनिवार्य हैं–धूप-छाँव की तरह, आशा-निराशा की तरह, उत्कर्ष और अपकर्ष की तरह। सुख-दुःख सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरे की अनुभूति नहीं होती। 'पुरुष' नहीं होता, तो 'नारी' का महत्त्व क्या होता? पराशक्ति-अपरा शक्ति, विद्या और अविद्या माया की कहानी ही क्यों आती? कोई भी व्यक्ति स्वल्पातिस्वल्प काल भी दुःख नहीं चाहता, वह सुख ही चाहता है–ऐसा सुख कि जिसके बाद दुःख न हो, जो शाश्वत हो। सच तो यह है कि बाह्य जगत् में शाश्वत सुख है ही नहीं। महर्षि संतसेवीजी के शब्दों में, 'बाह्य जगत् में यथार्थतः सुख है ही नहीं, यदि हम नित्य शाश्वत सुख चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि अपनी बहिर्वृत्ति को अंतर्मुखी करें। बाह्य जगत् का अवलोकन बंद कर अंतर्जगत् की झाँकी लें।'

महर्षि संतसेवीजी का कथन है, 'हम अपने मन में इस बात को अच्छी तरह बैठा लें कि परम प्रभु परमात्मा सुखस्वरूप हैं, उनकी प्राप्ति में ही सच्चा सुख मिल सकता है, अन्यथा नहीं। अतएव हम सुख-कामी जन को चाहिए कि भगवद्भक्ति की विधिवत् विधि जानकर मनोयोगपूर्वक साधना करें और संसार के सारे दुःखों से छूटकर अक्षर सुख को प्राप्त करें।

इस प्रकार महर्षि संतसेवीजी का साहित्य भौतिकता से भयाक्रांत और विकल मानव-समाज को महत्तर जीवन-मूल्यों का दिशा-निर्देश देता है–विश्वकल्याण के लिए ऐसे साहित्य की महती आवश्यकता है।

५. डॉ० कामेश्वर पंकज

एम०ए०, पीएच०डी०
व्याख्याता हिन्दी विभाग
के०बी० झा महाविद्यालय, कटिहार (बिहार)

महर्षि संतसेवीजी महाराज के टीका-लेखन की प्रेरणा को, उनके गुरुदेव पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के कथन के प्रकाश में देखा जाए, तो बेहतर है। इससे महर्षि संतसेवीजी की टीकाओं को भलीभाँति समझा जा सकता है। पूज्यपाद संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस ने 'संतवाणी सटीक' की भूमिका में लिखा है—"संतों की वाणी संतों की अनुभूतियों और अनुभवों का अगम और अपार सिन्धु है। संतों का अनुभव योग-समाधि का अनुभव है, जो योग-अभ्यास की अन्तिम प्रत्यक्षता है, न कि केवल सोच-विचार का साहित्यिक अनुभव। ऐसे समुद्र में उसके ऊपरी तल में भी गोता लगाना अति दुर्लभ है, फिर उसके अन्तर की तह के अंत तक पहुँचकर उसका पूर्ण ज्ञाता बनना विकट से भी विकट, दुर्लभ से भी दुर्लभ और अद्वितीय महान कार्य हैं।

संतों ने ज्ञान और योग-युक्त ईश्वर-भक्ति को अपनाया। ईश्वर के प्रति अपना प्रगाढ़ प्रेम अपनी वाणियों में दर्शाया है। उनकी यह प्रेमधारा ज्ञान से सुसंस्कृत तथा सुरत-शब्द के सरलतम योग-अभ्यास से बलवती होकर, प्रखर और प्रबल रूप से बढ़ती हुई अनुभूतियों और अनुभव से एकीभूत हो गई थी, जहाँ उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ और परम मोक्ष प्राप्त हुआ था। उनकी वाणी उन्हीं गम्भीरतम अनुभूतियों और सर्वोच्च अनुभव को अभिव्यक्त करने की क्षमता से सम्पन्न और अधिकाधिक समर्थ है।" इसी सामर्थ्य से अभिभूत होकर महर्षि संतसेवीजी महाराज पूज्यपाद परमाराध्य संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस सहित अन्य संतों की वाणी की टीका लिखने में प्रवृत्त हुए और यह उनका गुरुतर दायित्व भी है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ये टीकाएँ हिन्दी-संत-साहित्य की अक्षय निधि है।

६. डॉ० नवीन कुमार झा

एम०ए०, पीएच०डी०
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

महाप्राज्ञ महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज कृत 'योग-माहात्म्य' नाम ग्रन्थरत्न के आद्योपांत अवलोकन से संत प्रवर की तलस्पर्शिनी दृष्टि का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। इनकी सरल-सुबोध व्याख्या-पद्धति तथ्यात्मक संश्लेषण-विश्लेषण के माध्यम से शास्त्र को न जाननेवाला जिज्ञासु व्यक्ति भी अधिकृत होकर विषय में प्रवृत्त हो सकता है। महर्षि संतसेवीजी महाराज ने अनेक ग्रंथों को पुष्कल प्रमाणों को उपस्थापित करते हुए विषय का संक्षिप्त; किन्तु सारवान तथा सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। योग-दर्शन जैसे गूढ़ विषय का एतादृक सरल प्रतिपादन कोई सामान्य बात नहीं है। मेरी दृष्टि में निश्चितरूपेण या उनकी आर्ष-दृष्टि का प्रमाण है।

७. डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

एम०ए०, पीएच०डी०, डी०लिट्०, पटना, बिहार

महर्षि संतसेवीजी का दार्शनिक चिंतन दुःख से विमुक्ति और आत्यंतिक सुख की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ और उसकी सिद्धि के उपाय का निर्देश करता है। स्वामीजी ने सुख-दुःख पर बहुत ही विवेक-पूर्ण, गंभीर और मौलिक चिंतन वैष्णव-बौद्धदर्शन, विभिन्न नीतिकारों तथा अनेक मध्यकालीन संत कवियों के दार्शनिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में, बहुकोणीय दृष्टि से, बहुपथीन मनीषा और अकाट्य आन्वीदिकी के साथ किया है तथा निष्कर्ष रूप में बताया है कि 'बाह्यजगत् का सुख यथार्थ सुख नहीं है। शाश्वत सुख तो अंतर्जगत् में है। इसलिए यथार्थ सुख की प्राप्ति के निमित्त बहिर्जगत् को देखना छोड़कर अंतर्जगत् की झाँकी लेनी चाहिए। बहिर्मुखी वृत्ति को अंतर्मुखी बनाने से ही सच्ची सुखानुभूति प्राप्त हो सकती है।

अवश्य ही, यहाँ महर्षिजी ने भोग से योग की ओर प्रस्थान का संकेत किया है। महर्षि पतंजलि के प्रसिद्ध योगसूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' में 'चित्तवृत्ति निरोध' का यह अर्थ है—'बहिर्मुख से अंतर्मुख होना, बाह्यवृत्ति का त्यागकर अंतर्वृत्ति का आश्रय लेना ही योग है। योग की रहस्य भाषा में इसे 'चक्रारूढ़' से 'चक्रस्थ' होना कहा गया है। महर्षिजी की विवेचन पद्धति इसलिए सहज ग्राह्य होती है कि इन्होंने गूढ़ से गूढ़तर विषय को कथा या दृष्टांत की गूढ़ बातें इसलिए वेद से सरल हो गयी हैं कि वे कथा के माध्यम से विवेचित हुई हैं।

महर्षिजी मूलतः एक साधक हैं। योग की रहस्यात्मकता की स्वीकृति के बावजूद इनका मानना

है कि योग ही जीवन है। बिना योग के लौकिक या पारलौकिक कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इन्होंने समस्त जागतिक व्यवहार को योगाश्रित कहा है। महर्षि संतसेवीजी के प्रवचनों से हमें ऐसा लगता है कि जैसे इनमें सद्‌गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस का परकाय-प्रवेश हो गया है।

८. डॉ० प्रताप सिंह चौहान

एम०ए०, पीएच०डी०, लखीमपुर (उ०प०)

महर्षि संतसेवीजी ने सद्‌गुरु की महत्ता प्रतिपादित की है। इनके अनुसार–'किसी भी ज्ञान के लिए गुरु अनिवार्य आवश्यकता होती है। बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता, यह सर्वविदित है। अवश्य ही जिस ज्ञान की हमें अपेक्षा रहती है। तद्विषयक कुशल गुरु के निकट हम जाते हैं। उनके निर्देशानुसार हम चलते हैं, अंत में लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इसी भाँति पारलौकिक आध्यात्मिक ज्ञान के लिए संत सद्‌गुरु का सान्निध्य आवश्यक होता है। इनके आदेश और उपदेश के परिवेश में अपने को रखनेवाले का भव क्लेश निःशेष होता है। जैसे एक प्रज्वलित दीपक दूसरे बुझे दीपक को जलाकर उसे उद्दीप्त करता है, वैसे ही साधनासुम्पन्न सुयोग्य संत सद्‌गुरु अपने सुयोग्य शिष्यों के सुषुप्त संस्कार को जागृत कर उसका अंतः उजागर करते हैं।

महर्षि संतसेवीजी की दृष्टि में सद्‌गुरु शरीर को नहीं ज्ञान को कहते हैं। वे आध्यात्मिक ज्ञानप्रदायक गुरु को सर्वाधिक उच्च्य मानते हैं, जो मानव में से पाशविक और दानवीय दुर्वृत्ति दूर कर, विशुद्ध मानवीय गुणों को भरकर, वस्तुतः उसे मानव बना देते हैं। इतना ही नहीं, वे मानव से सिद्ध, सिद्ध से देव और देव से ब्रह्म बना देने की भी क्षमता रखते हैं–बना भी देते हैं। पूरे और सच्चे सद्‌गुरु के संदर्भ में महर्षि संतसेवीजी का कथन है–'पूरे गुरु का लौकिक और लोकोत्तर जीवन प्रकाशपूर्ण होता है। ऐसे गुरु के संग से शिष्य का जीवन भी प्रकाशमय हो जाता है। पूरे गुरु का संग करनेवाले को अनंग तंग नहीं करता; क्योंकि वह सही रूप में गुरु का अंतरंग भक्त होता है।'

अतः महर्षि संतसेवीजी की मान्यता है कि जिस प्रकार छतविहीन मकान में सर्दी, धूप और वर्षा के कष्टों से बचा नहीं जा सकता, ठीक उसी भाँति सद्‌गुरु-विहीन मानव दैहिक, दैविक और भौतिक त्रयतापों से संतप्त होता रहेगा।

९. डॉ० कृष्ण मुरारि मिश्र

एम०ए०, पीएच०डी०, डी०लिट्०
आचार्य हिन्दी विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (उ०प्र०)

महर्षि संतसेवीजी महाराज को अपने देश की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों और सांस्कृतिक परंपराओं की गहरी जानकारी है। लोकजीवन में विभिन्न ईश्वर-वाचक संज्ञाओं के प्रचलन पर विचार करते हुए वे लिखते हैं–'एक जमाना था जबकि इस देश में 'स्त्रीशूद्रोनाधीयताम्'–स्त्री और शूद्र को वेद नहीं पढ़ना चाहिए कि ध्वनि चतुर्दिक मुखरित थी। उस समय 'ओ३म्' उच्चारण करने का अधिकार द्विजातियों के अतिरिक्त अन्य किसी जाति को न था। उक्त सामयिक सामाजिक संस्कृति की मर्यादा में व्याघात न हो, इस दृष्टिकोण को अपनाये रहकर ही विभिन्न संतों ने 'ओ३म्' को विविध संज्ञाओं से अभिघोषित किया। अतएव संतों की वाणियों में 'ओ३म्' का नामांतरण रामनाम, सतनाम, आदिनाम, अविगत नाम, अनाहद नाद, सारशब्द, आदिशब्द प्रभृति विभिन्न नामों के रूप में पाते हैं। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि महर्षि संतसेवीजी केवल संत ही नहीं है, बल्कि उन्हें अपने देश की प्रथाओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का भी गंभीर ज्ञान है।

समग्र विवेचन के उपरांत कहा जा सकता है कि महर्षि संतसेवीजी महाराज का चिंतन निश्चय ही सारग्राही है। उन्होंने विश्व की अनेकानेक परंपराओं के मूल उत्स तक पहुँचने का स्तुत्य प्रयास किया है।

१०. डॉ० गायत्री सिन्हा

एम०ए०, पीएच०डी०, प्रवाचक दर्शन विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (मध्यप्रदेश)

महर्षि संतसेवीजी महाराज का जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में सन् १९२० ई० में हुआ। बाल्यकाल से ही इनकी रुचि भगवत्साधना की ओर रही। प्रखर मेधा एवं सूक्ष्म विश्लेषण और असाधारण क्षमता के कारण धर्म, दर्शन और नैतिकता के गूढ़ रहस्यों को जीवन के प्रारंभिक काल में ही इन्होंने जान लिया था। खोज थी तो केवल एक ऐसे गुरु की, जो उचित मार्गदर्शन कराने में सक्षम हो। संत सद्‌गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस में इन्होंने सद्‌गुरु के सभी

लक्षणों को पाया एवं पूर्ण समर्पण की भावना से उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। संत सद्‌गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस ने प्रथम दृष्टि में ही इन्हें अपने शिष्यत्व के योग्य जाना और इन्हें विभिन्न विषयों की शिक्षा एवं दीक्षा देकर क्रमशः अध्यात्म के मार्ग पर अग्रशील कराते रहे। सद्‌गुरु को सच्चे शिष्य को खोज करती है, ठीक उसी प्रकार एक सच्चे शिष्य को सद्‌गुरु की खोज रहती है। यह चाह दोनों में समान रूप से थी एवं जब साक्षात्कार हुआ, तो गुरु ने अपने शिष्य को ठीक उसी प्रकार पहचान लिया, जैसे श्रीरामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानंद को पहचान लिया था। संत सद्‌गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस के मानस पुत्र महर्षि संतसेवी जी ने १९५७ में विधिवत् संन्यास ग्रहण किया एवं देश के कोने-कोने में अपने प्रवचनों से श्रोताओं को न केवल मंत्रमुग्ध किया, अपितु अनेक भक्तों को दीक्षा देकर साधना का पथ आलोकित किया। इन्होंने भागलपुर के कुप्पाघाट को ही अपनी तपस्थली बनाया।

अपने गुरु की वाणी 'अनासक्त जग में रहो भाई। दमन करो इंद्रिन दुःखदाई॥' में इन्हें जीवन का वास्तविक सार समझ में आया। ये जहाँ एक ओर वेद, उपनिषद्, गीता और वेदान्त से प्रभावित रहे, वहीं दूसरी ओर भगवान बुद्ध, महावीर, संत कबीर, गुरु नानक, सूफी संप्रदाय, गो० तुलसीदास, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद एवं संत सद्‌गुरु महर्षि मेँहीँ के विचारों से भी अत्यन्त प्रभावित रहे। इन्होंने इन संतों के उपदेशों को अपना पाथेय बनाया एवं अपने प्रवचनों में एक मौलिकता के साथ प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारों का सुंदर समायोजन किया। इनकी कृतियों को यदि 'गागर में सागर' कहा जाए, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इनके उपदेश जनसाधारण के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं। आज महर्षि संतसेवीजी महाराज का संत-परम्परा में एक विशिष्ट स्थान है।

११. डॉ० रामपूजन तिवारी

एम०ए०, पीएच०डी०, पूर्व रीडर, हिन्दी विभाग,
विश्वभारती शान्ति-निकेतन, (पश्चिम बंगाल)

वर्तमान समय में संत सद्‌गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस के उत्तराधिकारी महर्षि संतसेवीजी इस पावन आध्यात्मिक ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के स्तुत्य कार्य किये हैं। इनकी मान्यता है कि 'संसार में सब ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान है—अध्यात्म-ज्ञान। यह अनुभव की चीज है, मात्र वाचन की नहीं। इसके बाद जानने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता।'(सुख-दुःख) मानव-जीवन के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए इन्होंने कहा है—'मानव-जीवन की सार्थकता आत्मदर्शन अथवा परमात्म-स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण में है और इसी में शाश्वत सुख, शान्ति तथा कल्याण भी निहित है। इसे हम दृढ़तापूर्वक हृदय में धारण करें। सदाचार को जीवन की आधारशिला बतलाते हुए ये कहते हैं—'जहाँ सदाचार है, वहीं चमत्कार है। जहाँ सदाचार नहीं है, वहाँ मात्र दिखावे के चमत्कार का कोई महत्त्व नहीं। जहाँ सदाचार का पालन होगा, वहाँ से मिथ्याचार, अनाचार, अत्याचार, व्यभिचार आदि समस्त दुर्गुण उसी प्रकार दूरीभूत होंगे, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अंधकार का साम्राज्य। ईश्वर-प्राप्ति के लिए इन्होंने मानव-शरीर की महत्ता की ओर संकेत करते हुए कहा है—'ईश्वर न तो मंदिर में मिलते हैं और न मस्जिद में। उनकी प्राप्ति का एक ही मार्ग है—अंतस्साधना, जो शरीर के अंदर है। शरीर ही मंदिर और मस्जिद है।

महर्षि संतसेवीजी के ही शब्दों में कहा जा सकता है कि मानव-समाज के लिए मूल मंत्र है—'सदाचार का पालन करो अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार; इन पंच महापापों से विरत रहो, संयमित जीवन व्यतीत करो। सत्यता के साथ श्रम करके जो संपत्ति प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहो और सर्वेश्वर की प्राप्ति का साधन भी करो। जगत् की ओट में जगदीश है। जगत् के स्थूल-सूक्ष्मादि आवरणों का अतिक्रमण किये बिना अखिलेश का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए ऐसी साधना करो, जिससे जीवनकाल में ही उसका प्रत्यक्षीकरण कर सको।'

निस्संदेह संत सद्‌गुरु महर्षि परमहंसजी महाराज एवं उनके परम प्रिय शिष्य महर्षि संतसेवीजी महाराज दुनिया और समाज के लिए रक्षाकवच की तरह हैं। ऐसे संतों का प्रादुर्भाव जगत् के कल्याण के लिए होता है।

१२. डॉ० गुरुनाम कौर वेदी

एम०ए०, पीएच०डी०, डी०लिट्०
राजकीय महाविद्यालय, अमृतसर (पंजाब)

महर्षि संतसेवीजी ने 'ॐ विवेचन' पुस्तक में 'ॐ' शब्द पर गंभीर चर्चा की है। उनकी मान्यता है

कि 'ॐ' को जाने बिना सृष्टि के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। 'ॐ' के दार्शनिक रहस्य पर इस पुस्तक में गंभीर चिंतन है। गुरुवाणी के मूल में भी परम सत्ता के अस्तित्व पर विचार किया गया है। गुरु वाणी में यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है कि सृष्टि के रचनाकार कौन हैं? सृष्टि की रचना कब और कैसे हुई? ईश्वर की सृष्टि-रचना के पीछे उद्देश्य क्या है? इस सृष्टि में विचरते हुए मानव को इसका उपभोग कैसे करना चाहिए? गुरुवाणी का मूल मंत्र है—'१ ॐ सतिनाम करता पुरख निरभउ निरवैर अकालमूरति अजूनी सैभं गुरप्रसादि।' और सृष्टि के बारे में कहा गया है—

'कीता पसाउ एको कवाउ।
तिस ते होइ लख दरिआउ।'
साचे ते पवना भइआ पवनै ते जलु होइ॥
जल ते त्रिभवनु साजिआ घटि घटि जोति समोइ॥
कवणु सु वेला वखतु कवणु कवण थिति कवणु वारु॥
कवणि सि रुती माहु कवणु जितु होआ आकारु॥
वेल न पाइआ पंडती जि होव लेखु पुराणु॥
वखतु न पाइउ कादीआ जि लिखनि लेखु कुराणु॥
थिति वारु न जोगी जाणै रुति माहु न कीजै॥
जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई॥

महर्षि संतसेवीजी 'सुख-दुःख' के बारे में भी सांसारिक प्राणियों को जागरूक करना चाहते हैं। वे सुख-दुःख में सम रहने तथा इस समत्व के लिए 'शम' के साधन का निर्देशन करते हैं। गुरुवाणी की मूल चेतना भी यही है—

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागिकै, जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेहि घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु किरपा जेहिं नर पै कीन्हीं, तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सों, ज्यों पानी सँग पानी॥

महर्षि संतसेवीजी पर गुरुवाणी का गहरा प्रभाव है। महर्षि संतसेवीजी के प्रवचन गुरुवाणी की चेतना से ओतप्रोत है। महर्षि संतसेवीजी महाराज सिखधर्म के आस्था संसार से जुड़े हुए हैं। महान् पुरुषों के लिए धर्म और सम्प्रदाय की कोई सीमा नहीं होती। महर्षि संतसेवीजी ऐसे ही महान पुरुषों में से एक हैं। इनके 'व्यक्तित्व एवं कृतित्व' पर जो अभिनंदन ग्रंथ लिखा गया है, वह आधुनिक समाज उसका खुले मन से स्वागत कर रहे हैं। मैं निजी तौर पर महर्षि संतसेवीजी महाराज को हार्दिक साधुवाद देती हूँ।

१३. सेवक सरदार खजान सिंह, सत्संग-सेवा मंडल

श्रीगुरु नानक गुरुद्वारा, कटिहार (बिहार)

नाम सुमिरण के संबंध में लोगों के बीच भाँति-भाँति के भ्रामक विचार फैले हुए हैं। प्रायः लोगों की मान्यता है कि 'उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥' पर पूज्यपाद महर्षि संतसेवीजी महाराज ने इन भ्रामक धारणाओं के निराकरण हेतु नाम-सुमिरण की अति वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है और इसके द्वारा इन उक्तियों के गूढ़ार्थ को सर्वग्राह्य बना दिया है। महर्षि संतसेवीजी ने बतलाया है—

'वर्णात्मक नाम का उलटा ध्वन्यात्मक नाम होता है और सगुण का उलटा निर्गुण होता है। वर्णात्मक नाम की उत्पत्ति पिंड के नीचे नाभि से होकर ऊपर होंठ पर जाकर उसकी समाप्ति होती है और ध्वन्यात्मक निर्गुण नाम की उत्पत्ति परम प्रभु परमात्मा से होकर नीचे ब्रह्मांड तथा उससे भी नीचे पिंड में व्यापक है। अर्थात् वर्णात्मक नाम की गति नीचे से ऊपर की ओर और ध्वन्यात्मक निर्गुण नाम की गति ऊपर से नीचे की ओर है। इस तरह वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक नाम एक-दूसरे के उलटे हैं। शब्द अपने उद्‌गम स्थान पर आकर्षण करने का स्वाभाविक गुण है। परमात्मा ने जो सृष्टि की, उसका उपादान कारण उन्होंने निर्गुण रामनाम को ही बनाया। स्थूल-सूक्ष्मादि भेद से सृष्टि के पाँच स्तर हुए और इन पाँचो के निर्माण-निमित्त पाँच केन्द्रों की भी स्थापना हुई। साधक प्रथम निम्नस्तर के केन्द्रीय शब्द को ग्रहण कर उसके आकर्षण से आकृष्ट हो उसके ऊर्ध्व-स्थित केन्द्र में प्रतिष्ठित होता है। पुनः वहाँ के केन्द्रीय शब्द को पकड़कर उस मंडल के ऊपर के केन्द्र में पहुँचता है। एवं प्रकार प्रत्येक निम्नस्तरीय मंडल के केन्द्रीय शब्द का ग्रहण एवं त्याग करता हुआ, अंत में वह उस आदिनाद निर्गुण शब्द-ब्रह्म को पाकर परब्रह्म को प्राप्त करता है।' (वही, पृ० ९७)

महर्षि संतसेवीजी के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'उलटा नाम' अर्थात् ध्वन्यात्मक निर्गुण रामनाम का 'सुमिरण' कर रत्नाकर डाकू वाल्मीकि ऋषि हुए थे, मात्र वर्णात्मक 'राम-नाम' का उलटा 'मरा-मरा' जपकर नहीं। अतः आवश्यकता है, ध्वन्यात्मक निर्गुण राम-नाम के 'सुमिरण' (ध्यान) की। क्योंकि इस नाम-सुमिरण से ही व्यक्ति शुद्ध होकर ब्रह्मविद् हो जायेंगे। इतना ही नहीं 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के अनुसार वे ब्रह्म ही हो जायेंगे।

इस प्रकार देखा जाता है कि 'संतमत-सत्संग' के आचार्य महर्षि संतसेवीजी महाराज ने महान सिख गुरुओं की पावन परंपरा के अनुरूप ही 'नाम-जप' और 'नाम-ध्यान' को ईश्वर-प्राप्ति का प्रमुख आधार माना है।

१४. डॉ० महेन्द्र प्रसाद साह

एम०एस-सी०, पीएच०डी०, भौतिक विभाग,
डी०एस० कॉलेज , कटिहार (बिहार)

ॐ विवेचन एवं अन्य पुस्तकों (योग-माहात्म्य, सुख-दुःख, जग में ऐसे रहना इत्यादि) के अध्ययन एवं मनन से प्रतीत होता है कि संतमत के शब्द-विज्ञान से इनके विचारों की पूर्ण सहमति है। फिर समानता हो भी क्यों नहीं?

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जाति॥

सृष्टि-निर्माण-संबंधी इनके विचार अन्य संतों के विचारानुकूल है। महर्षि संतसेवीजी महाराज का कथन है–'भौतिक विज्ञान के अनुसार किसी भी निर्माण या विनाश में कम्प (शब्द) का होना अनिवार्य है। कंप वा गति के बिना जागतिक किसी तत्त्व की स्थिति भी असंभव है। सृष्टि-निर्माण-निमित्त 'एकोऽहं बहुस्याम्' की जब सर्वाधार ईश ने ईषणा की, तब एक घोर-शोर ध्वन्यात्मक ध्वनि का आविर्भाव हुआ और उसी ध्वनि (शब्द) से सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। परमात्मा से सर्वप्रथम इस ध्वनि से प्रस्फुटित होने के कारण इसे स्फोट, आदिनाम तथा ऋषियों-महर्षियों ने 'ॐ', उद्‌गीथ, प्रणव आदि कहा।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संतमत के शब्द-विज्ञान और भौतिकी के शब्द-विज्ञान में साम्य है। भौतिक विज्ञान बताता है कि सृष्टि के सभी छोटे-बड़े पिंड असंख्य कंपायमान अणुओं से बने हैं। उनके अणुओं का कंपायमान रखने के लिए वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आवृत्ति के एक ध्वनि-स्त्रोत की चर्चा करता है और 'संतमत' का शब्द-विज्ञान भी अखिल विश्व-ब्रह्मांड को सतत गतिशील रखने के लिए–उसे संचालित करने के लिए एक अत्यंत शक्तिशाली आदि ध्वनि-स्त्रोत (परमात्मा) का ज्ञान करता है। वह बतलाता है कि संपूर्ण सृष्टि में परमात्मा से निःसृत शब्द 'ॐ' के रूप में सर्वव्यापक है। इसी से सृष्टि हुई है। परमात्म-प्राप्ति के लिए इसका अवलंबन अनिवार्य है।

१५. डॉ० वीरकिशोर सिंह

एम०ए०, पीएच०डी०
व्याख्याता, हिन्दी विभाग
पार्वती साइंस कॉलेज, मधेपुरा (बिहार)

जिन रचनाओं में 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की समन्वति दृष्टि का प्रतिफलन हो, वही सच्चा साहित्य है। इस प्रकार के साहित्य का अंतिम लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति ही हो सकता है। इन अर्थों में महर्षि संतसेवीजी महाराज निश्चय ही एक सफल साहित्यकार हैं। इनका संपूर्ण साहित्य 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' से ओतप्रोत है। 'ओ३म् विवेचन', 'योग-माहात्म्य', 'जग में ऐसे रहना', 'गुरु- महिमा', 'लोक-परलोक-उपकारी', 'सत्य क्या?', सुख-दुःख' इत्यादि–ये सब इनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं। इनका साहित्य इनके अनुभव ज्ञान की खान है–इनके आध्यात्मिक जीवन का निचोड़ है। इनके समस्त साहित्य में ईश्वर-स्वरूप, ईशभक्ति की सच्ची अवधारणा, सदाचार, शिष्टाचार और शुच्याचार की महत्ता, भक्त लक्षण तथा स्वावलंबन जैसे आत्मोपयोगी विषयों का सुंदर समावेश हुआ है। इनके साहित्य में आदर्श जीवन जीने की सत्प्रेरणा मिलती है। इनकी रचनाएँ धर्मशास्त्र, वेद-वेदांग-सम्मत एवं संतानुमोदित है। इनका अनुभव-ज्ञान वह प्रकाश स्तंभ है, जिसके आलोक की रश्मियाँ जड़ता के अंध कार को दूर कर देती हैं। इनके इस दिव्यज्ञान से मानवमात्र की परम कल्याण सहज ही संभव है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्टतः कहा जा सकता है कि महर्षि संतसेवीजी महाराज का साहित्य लोककल्याण की मांगलिक चेतना का संवाहक है।

१६. डॉ० महेश्वर प्रसाद सिंह

एम०ए०, पीएच०डी०, डी०लिट्०
पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर
डी०एस० कॉलेज कटिहार (बिहार)

महर्षि संतसेवीजी ने भी योग-साधना में गुरु के महत्त्व तथा उनकी अनिवार्यता पर प्रकाश डाला है। उन्होंने अपनी 'गुरु-महिमा' नाम की पुस्तक में बताया है–'किसी भी ज्ञान के लिए गुरु की अनिवार्य आवश्यकता होती है। बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता, यह सर्वविदित है। अवश्य ही जिस ज्ञान की हमें अपेक्षा रहती है, तद्विषयक कुशल गुरु के निकट हम जाते हैं, उनके निर्देशानुकूल चलते हैं; अंत में लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इसी भाँति पारलौकिक आध्यात्मिक ज्ञान के लिए संत सद्गुरु का सान्निध्य आवश्यक होता है। उनके आदेश और उपदेश के परिवेश में अपने को रखनेवाले का भव निःशेष होता है। अपनी 'सत्य क्या?' नाम की पुस्तक में इनका कथन है–'गुरु शरीर को नहीं, ज्ञान को कहते हैं। गुरु में ज्ञान और शुद्ध आचरण का होना अनिवार्य है। वैसे ही शिष्य में श्रद्धा और विश्वास का होना अनिवार्य है।' गुरु-शिष्य के संबंध में ये 'गुरु-महिमा' नाम की पुस्तक में कहते हैं–'जैसे उत्तम खेत में अनुत्तम बीज अथवा अनुत्तम खेत में उत्तम बीज पड़ने से लाभ नहीं होता, वैसे ही अयोग्य शिष्य को सुयोग्य गुरु या सुयोग्य शिष्य को अयोग्य गुरु मिलने से संतोषप्रद फल नहीं मिलता। जैसे उर्वर खेत में सजीव बीज पड़ने से फसल लहलहा उठती है, वैसे ही अधिकारी शिष्य को क्रियावान शुद्धचारी गुरु मिलने से उसकी साधना फलवती होती है। जैसे एक प्रज्वलित प्रदीप दूसरे बुझे हुए दीपक को जलाकर उसे उद्दीप्त करता है, वैसे ही साधनासुसम्पन्न सुयोग्य संत-सद्गुरु अपने सुयोग्य शिष्यों के सुषुप्त संस्कार को जागृत कर उसका अंतः उजागर करते हैं।' अपनी 'लोक-परलोक-उपकारी' नाम की पुस्तक में इनकी उक्ति है–'संसार सागर का अतिक्रमण करने के लिए सद्गुरु की नितांत आवश्यकता है। अतएव यदि आप अपना परम कल्याण चाहते हैं, तो विषयों की ओर से अपने मुख को मोड़िये और संत-सद्गुरु की शरण ग्रहण कीजिए।' महर्षि मेँहीँ-जन्मशती अभिनंदन-ग्रंथ के अपने एक आलेख में इन्होंने संत सद्गुरु की प्राप्ति की अनिवार्यता पर बल देते हुए लिखा है–'यदि सर्वेश्वर में आस्था भी हो और सत्संग भी करते हों; किन्तु संत-सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई, तो वैसा ही समझना चाहिए, जैसे मकान की नींव हो गयी और दीवाल बन गयी; लेकिन छत नहीं पड़ी। छत के बिना सर्दी, धूप और वर्षा के कष्टों से बच नहीं सकते। ठीक इसी भाँति सद्गुरु विहीन मानव दैहिक, दैविक और भौतिक–त्रयतापों से संतप्त होता रहेगा।'

किन्तु गुरु धारण करने के प्रसंग में एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है और वह यह कि किसी कान फूँकनेवाले विषयी व्यक्ति को गुरु बनाने से साधक की अधोगति ही होती है। अपनी 'गुरु-महिमा' नाम की पुस्तक में महर्षि संतसेवीजी ने बताया है–'गुरु की उपादेयता बताने का अर्थ यह नहीं कि जैसे-तैसे को गुरु धारण कर लिया जाय। इसके लिए बड़ी खोज, सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता है। कुछ गुरुओं ने कान फूँकने की ठीकेदारी ले ली है। वे अपने शिष्यों और शिष्याओं के कान फूँकते हैं, आँख के आस-पास दबाकर रोशनी दिखाते हैं, कान बंद करवाकर शब्द सुनवाते हैं। इस भाँति के गुरु भोले-भाले शिष्यों को धोखा देकर उनके दुर्लभ मानव-जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं। ऐसे गुरुओं से अवश्य होशियार रहना चाहिए। पूरे और सच्चे सद्गुरु की पहचान के लिए ये अपने गुरुदेव महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज रचित 'सत्संग-योग' की पंक्तियाँ प्रवचन में योग-साधकों के समक्ष सुनाया करते हैं। वे पंक्तियाँ हैं–'पूरे और सच्चे सद्गुरु की पहचान अत्यन्त दुर्लभ है। फिर भी जो शुद्धाचरण रखते हैं, जो नित्य नियमित रूप से नादानुसंधान का अभ्यास करते हैं और जो संतमत को अच्छी तरह समझा सकते हैं, उनमें श्रद्धा रखनी और उनका गुरु धारण करना अनुचित नहीं।' महर्षि संतसेवीजी उनके समक्ष 'सत्संग-योग' की ये पंक्तियाँ भी सुनाया करते हैं–'जीवनकाल में जिनकी सुरत सारे आवरणों को पारकर शब्दातीत पद में समाधि समय लीन होती है और पिंड में बरतने के समय उन्मनी रहनी में रहकर सारशब्द में लगी रहती है, ऐसे जीवनमुक्त परम संत पुरुष पूरे और सच्चे सद्गुरु कहे जाते हैं।'

पूज्यपाद महर्षि संतसेवीजी महाराज की योग-साधना के विवेचन-विश्लेषण से यह स्पष्ट है

कि इन्होंने अपनी योग-साधना के लिए मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टियोग और सुरति-शब्द-योग की क्रियाएँ अपनायी हैं। इन्होंने सत्संग की उपादेयता स्वीकार की है। गुरु इनकी साधना का अनिवार्य तत्त्व है। गुरु की प्राप्ति से प्रायौगिक साधना की पहली आवश्यकता पूरी हो जाती है। शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि के लिए इनकी साधना में सदाचार को प्रमुखता प्रदान की गयी है। इसके पालन से साधना की योग्यता आती है। सत्संग भी इनकी साधना का अनिवार्य अंग ही सत्संग साधक को अव्यवस्थित होने से बचाता है। साधना की इस शारीरिक एवं मानसिक पृष्ठभूमि के बाद वास्तविक साधना का आरंभ होता है। यूँ ये भी साधना के ही अंग हैं, पर प्रायोगिक क्रमिक साधना इसके पश्चात् शुरू होती है। सबसे पहले पूज्यपाद महर्षि संतसेवीजी ने मानस जप की साधना बतायी है। शास्त्रीय ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। संत-साहित्य में इसका विवेचन प्राप्त होता है। मानस जप के बाद मानस ध्यान की साधना है। यह मानस ध्यान स्थूल ध्यान है। शास्त्रीय ग्रंथों में इसका विवेचन मिलता है। इस स्थूल ध्यान से 'सुरति' स्थिर होती है और साधक में सूक्ष्म ध्यान की योग्यता आती है। यह स्थूल ध्यान या मानस ध्यान साधना की प्रारंभिक भूमि से संबंधित है। मानस ध्यान के पश्चात् महत्त्वपूर्ण साधना है– दृष्टियोग वा विन्दु-ध्यान अथवा शून्य-ध्यान की। यह दृष्टियोग वेदों से लेकर संतों तक प्रचलित है। यह स्थूल ध्यान से आगे की भूमि है। यह भी सगुण ध्यान है, पर सूक्ष्म सगुण ध्यान है। इसमें मन का पूर्ण सिमटाव होता है। दृष्टियोग के उपरांत नाद की भूमि है। 'सुरति को शब्द में लीन करना' सुरत-शब्द-योग या नादानुसंधान कहलाता है।

इस योग-साधना की परंपरा काफी प्राचीन है। अपने परम पूज्य सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज से पूज्यपाद महर्षि संतसेवीजी ने इस योग-साधना का दार्शनिक आधार ग्रहण किया है और उसका सम्यक् विवेचन किया है। यह नाद-साधना बड़ी रहस्यमयी है। यह योग-साधना परम पद प्राप्त कराती है। इसी से आत्म-साक्षात्कार होता है, ईश्वर के दर्शन होते हैं। पूज्यपाद महर्षि संतसेवीजी ने अपनी योग-साधना में मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टियोग और सुरति-शब्द-योग के अतिरिक्त ज्ञान, कर्म एवं भक्ति को स्वतंत्र साधना-पद्धति के रूप में न मानकर प्रत्येक साधक के लिए तीनों की अनिवार्यता बतायी हैं। इस प्रकार पूज्यपाद महर्षि संतसेवीजी प्रमुखतः मध्यकाल से संतों की साधना को नवयुग के द्वार तक लाकर उस साधना से सिद्ध अपनी वाणी का अमृत जनकल्याण के निमित्त चतुर्दिक बरसा रहे हैं।

१९९६ ई० में महर्षि संतसेवीजी महाराज को अखिल भारतीय संतमत-सत्संग महासभा की ओर से अभिनन्दनग्रंथ समर्पित किया गया था, जिसका नाम रखा गया–'महाप्राज्ञ महर्षि संतसेवी अमृत महोत्सव अभिनंदनग्रंथ।' इस अभिनंदनग्रंथ के संपादन मंडल में कुमार अशोक का भी नाम है। कुमार अशोक कटिहार डी०एस० कॉलेज के प्रोफेसर डॉ० महेश्वर प्र० सिंह, एम०ए०, पीएच०डी० के कनिष्ठ पुत्र थे। कुमार अशोक बड़ा ही मेधावी युवक थे। इस अभिनंदनग्रंथ में बड़े-बड़े विद्वानों से लेख प्राप्त करने का श्रेय कुमार अशोक को है। उन विद्वानों से लेख प्राप्त करने में इन्होंने घोर और अथक प्रयास किया है। वे भी अपने लेख में महर्षि संतसेवीजी के संबंध में अपना मन्तव्य लिखा है, जो निम्नलिखित है–

निष्कर्षतः महर्षि संतसेवीजी महाराज के जीवन और भव्य व्यक्तित्व की मनोरम झाँकी से यह ज्ञात होता है कि प्रारंभिक जीवनकाल से ही इनमें बुद्धि की कुशाग्रता, हृदय की विशालता, निर्लोभिता, दानशीलता और सात्विकता के गुण रहे हैं। बाल्यकाल से ही ये संवेदनशील रहे हैं। आध्यात्मिकता इनमें इसी समय से परिलक्षित होती है। इनका अध्ययन क्षेत्र काफी व्यापक है। फलतः इनमें शास्त्रीय गरिमा आ पायी तथा समन्वयवादी चेतना का विकास हुआ है। यही कारण है कि विश्व वाङ्मय की व्यापक पृष्ठभूमि पर ये 'संतमत' का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करने में सक्षम है।

परमाराध्य ब्रह्मलीन संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस के साथ भ्रमण के क्रम में भारतीय समाज के अनेकानेक महान पुरुषों के सान्निध्य का लाभ भी इन्हें मिला है। उनके साथ विचारों के आदान-प्रदान से भी इनका व्यक्तित्व निखरा है। इनके व्यक्तित्व में सत्य, अहिंसा और मानव-कल्याण की भावना कूट-कूटकर भरी है। यह इनमें प्रायः गाँधीवादी युग की देन है। पर इनके व्यक्तित्व के पूर्ण निखार में

परमाराध्य गुरुदेव संत महर्षि मेँहीँ परमहंसजी की महती कृपा ही सर्वोपरि है। इनके पूर्ण निखरे हुए व्यक्तित्व का ही यह चुम्बकीय प्रभाव है कि जब जालंधर में ये 'संतमत-सत्संग' के प्रचार-प्रसार हेतु गये हुए थे, तो वहीं कुछ लोगों ने इनसे कहा कि 'पटना साहिब' का प्रवचन हमलोगों ने पढ़ा है। गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज का जन्म पटना में हुआ था। वे जब पंजाब आये, तो यहाँ के लोगों ने उन्हें जाने नहीं दिया। हमलोग भी आपको बिहार वापस नहीं जाने देंगे।

परमाराध्य संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस ने अपनी कृपा का महत्फल अपने संतमत-सत्संग के उत्तराधिकारी महर्षि संतसेवीजी महाराज के रूप में सौंपा है। वस्तुतः परमाराध्य संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंस बिम्ब है और पूज्यपाद महर्षि संतसेवी जी महाराज उनके प्रतिबिम्ब हैं।

[प्रो० रामेश्वर प्रसाद सिंहजी पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी से बड़े प्रभावित थे। इनकी श्रद्धा सराहनीय है। इन्होंने महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज के साहित्य पर जो प्रकाश डाला है, वह प्रशंसनीय है। इसे अवलोकन कर देखें।]

१७. डॉ० रामेश्वर प्रसाद सिंह

एम०ए०, पीएच०डी०, डी०लिट्०

पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय (बिहार)

साहित्यकार महर्षि संतसेवीजी पर विचार करो समय सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पूर्ववर्ती संतों की तरह इनके साहित्य का लक्ष्य भी मनोरंजन, मनःप्रसादन, कलात्मक परितोष की प्राप्ति अथवा अभिव्यक्ति के लक्ष्यमात्र की सिद्धि नहीं है। इनके साहित्य का सुविचारित लक्ष्य सभी जनों तक संतों के जीवनादेशों, अनुभूतियों, उपदेशों, निर्देशों और विचारों आदि को पहुँचाना है। संत चाहते हैं कि सभी लोगों को जीवन की वास्तविकता की पहचान करायी जाय और उस उद्देश्य की सिद्धि का मार्ग भी बताया जाए। अतः इन्होंने जो भी साहित्य लिखा है, सोद्देश्य लिखा है। मम्मट की भाषा में कहें, तो 'शिवेतर क्षराये' के लिए जीवन और साधना की युक्ति का निर्देश इनकी कृतियों का परम लक्ष्य ज्ञात होता है।

कहा जा सकता है कि साहित्य से महर्षि संतसेवीजी का लगाव लगभग ३५-४० वर्षों का है। सन् १९६० ई० के उपरांत जब परम पूज्य गुरुदेव महर्षि मेँहीँ परमहंसजी ने इन्हें प्रवचन देने की आज्ञा दी, तभी से सूक्ष्म रूप से इनके भीतर का साहित्यकार सजग हुआ, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। वैसे संतवाणियों के पाठ, महर्षि मेँहीँ के प्रवचनों का संकलन तथा 'शान्ति-सन्देश' से जुड़ने आदि की प्रक्रिया के कारण इनमें साहित्य-रचना की प्रवृत्ति का विकास होने लगा था। बीज रूप में पूर्व के संस्कार भी रहे ही होंगे। साहित्य का बीज भी भक्ति के बीज की तरह ही होता है—'भक्ति बीज बिनसे नहीं, जो जुग जाय अनन्त।' समय और सुयोग पाकर वह अंकुरित-पल्लवित और पुष्पित होता है।

महर्षि संतसेवीजी की स्कूली शिक्षा मात्र मिडिल तक हुई, पर साधना के लिए बाहरी शिक्षा शायद उतनी आवश्यक नहीं होती। महर्षि मेँहीँ परमहंस के सान्निध्य, संत-वाणी के पाठ, गायन, मनन, गुरुदेव द्वारा आर्षग्रंथों एवं संतवाणी के अध्यापन के कारण महर्षि संतसेवीजी में संत-साहित्य के संस्कार पड़े और ये प्रवचन, संपादन आदि के माध्यम से निबंध-लेखन और पुस्तक प्रणयन में, कालान्तर में प्रवृत्त हुए।

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी के हजारों प्रवचन इनके द्वारा संकलित कर सुरक्षित रखे गये हैं, 'गुरुदेव के लगभग ४०-५० वर्षों के सहस्त्रों प्रवचन का संग्रह मेरे पास है, जो अबतक सुरक्षित है।' (महर्षि मेँहीँ-वचनामृत, प्रथम खंड, प्रकाशकीय पृ०२) महर्षि मेँहीँ परमहंसजी के प्रवचनों एवं पुस्तकों की पांडलिपि तैयार कर उन्हें प्रकाशन-योग्य बनाने का काम भी इन्होंने मनोयोगपूर्वक किया। महर्षि मेँहीँ परमहंसजी की तरह ही महर्षि संतसेवीजी के हजारों प्रवचन हैं। '...साथ ही इनके भी हजार से ऊपर प्रवचन होंगे, जिन्हें संत-साहित्य में स्थान मिलेगा।'

महर्षि संतसेवीजी को कई भाषाओं और लिपियों का ज्ञान है—नेपाली, पंजाबी, मैथिली, अंगिका, हिन्दी, फारसी, संस्कृत और अंग्रेजी। संस्कृत और फारसी श्रेष्ठ भाषाएँ हैं। ये इनके आध्यात्मिक साहित्य से परिचित हैं। अंग्रेजी का भी इन्हें अच्छा ज्ञान है। नेपाली, बाङ्ला, अंगिका और मैथिली तो पड़ोस की भाषाएँ हैं। इनका मुख्य लेखन हिन्दी में हुआ है और

अपने लेखन में इन्होंने इन भाषाओं के उद्धरणों का अच्छा उपयोग किया है।

इनके अध्ययन का क्षेत्र अध्यात्म, दर्शन और साधना है। बंगाल से भक्ति-साहित्य और नाथ-साहित्य की खोज में नेपाल की चर्चा आती है। संत-साहित्य की कड़ी सिद्ध, नाथ और भक्ति-साहित्य से जुड़ती ही है। इनका जन्म-स्थान मधेपुरा नेपाल के निकट ही है। अतः नेपाली भाषा-साहित्य से परिचय स्वाभाविक है। मैथिली इनकी मातृभाषा है, जिसमें लक्ष्मीनाथ गोसाईं ऊँचे संत हो चुके हैं। संस्कृत से परिचय बिना भारतीय अध्यात्म और दर्शन-परंपरा से अवगत होना कठिन है; क्योंकि सभी आकर ग्रंथ प्रायः संस्कृत में हैं। जैन और बौद्ध साहित्य के लिए प्राकृत और अपभ्रंश का परिचय भी आवश्यक हो जाता है। गुरु नानक देव एवं सिख-पंथ के कारण संत-साहित्य के जिज्ञासु के लिए पंजाबी का ज्ञान जरूरी हो जाता है। 'संतमत-सत्संग' में स्तुति-विनती के समय ग्रंथपाठ करते समय 'श्रीगुरुग्रंथ-साहिब' की संतवाणी का पाठ भी होता है। ये सभी भाषाएँ इनकी साधना, अभिव्यक्ति और ज्ञान को समृद्ध करने में योग देनेवाली रही है।

महर्षि संतसेवीजी की अबतक कुल सात पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें दो स्वतंत्र पुस्तकें हैं–'योग-माहात्म्य' और 'गुरु-महिमा'। 'ॐ विवेचन' शीर्षक पुस्तक में इनके तीन निबंध संकलित हैं; परन्तु निबंधों के पूर्व 'ॐ' के बारे में लंबी भूमिका है। शेष चार पुस्तकें इनके प्रवचनों/निबंधों के संकलन हैं। इनमें इनके ७१ निबंध/प्रवचन संकलित हैं। इन निबंधों के बारे में यह कहना कठिन है कि ये निबंध ही के रूप में लिखे गये हैं या इनमें से कुछ प्रवचन के रूप में प्रस्तुत हुए और बाद में संशोधित-परिवर्धित होकर निबंध बने हैं। इनका खुलासा तो लेखक या संपादक ही कर सकते हैं और उन्हें ऐसा करना भी चाहिए। इस प्रकार महर्षि संतसेवीजी के लेखन का अधिकांश निबंधात्मक है। पुस्तकें एक विशेष विषय को लेकर लिखी गयी है और उनमें उसी से जुड़े विषयों का उपयोग किया गया है। अनेक प्रवचन अभी भी अप्रकाशित हैं। उनका प्रकाशन होना चाहिए।

'योग-माहात्म्य' अड़सठ पृष्ठों की एक लघु पुस्तिका है। नौ उपशीर्षकों में 'योग' को समझाने की इसमें चेष्टा की गयी है। योग के स्वरूप, इसकी प्राचीनता तथा अष्टांग योग और इसकी साधना के संबंध में लेखक ने विस्तार से बताने की कोशिश की है।

वस्तुतः भारतीय साहित्य में योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है; किन्तु मुख्यतः इसका संबंध साधना से रहा है। इसे सांख्य का क्रियापक्ष भी कहा जाता है। सांख्य और योग का प्रभाव अत्यंत प्राचीन काल से भारत में रहा है। वेद, उपनिषद्, पुराण और श्रेण्य साहित्य ही नहीं, भारत के प्रायः सभी धर्म-संप्रदायों एवं साधना-पद्धतियों में इसका प्रभाव पाया जाता है। एक समय तो ऐसा आया जब कर्म, ज्ञान, भक्ति सभी को योग कहा गया–कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग। जप, ध्यान, तप आदि को भी योग से जोड़कर तपयोग, जपयोग, ध्यानयोग आदि कहा गया। 'आत्मा की परमात्म-परिणति के सभी उपाय क्षेत्रों–मन, प्राण, वाक्, शुक्र, काय–को सांग-एकांग रूप में योग ने छेका।' (डॉ० हरवंशलाल शर्मा)। वैदिक, अवैदिक, वैष्णव, सूफी, बौद्ध, जैन, संत, नाथ सभी समय के अनुसार प्रभाव में आये। योग का कोई एक विशिष्ट संप्रदाय मानना उचित नहीं लगता। 'पातंजल-योग-दर्शन' में योग की सभी पूर्व परंपराओं को व्यवस्थित रूप देने–अनुशासित करने का प्रयास है।

'योग-माहात्म्य' के प्रारंभ में बाह्य और आंतरिक आपदाओं की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इन दुःखों के प्रहाण का मार्ग है–योग मार्ग। 'टूटे हुए हृदय को जोड़नेवाला योग है। बिछुड़े हुए को मिलानेवाला योग है। योग ज्ञान-प्रदाता और अज्ञानहर्ता है। मनोनिग्रह का चित्त को एकाग्र करनेवाला है। त्रयताप संतप्त प्राणी को कल्पतरु की शीतल छाया में बिठानेवाला योग है। बहिर्मुख मानव को अंतर्मुख बना, अंतर की अंतिम तह तक पहुँचानेवाला योग है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कराने में योग ही समर्थ है। भवभय को पराजित करानेवाला योग है। प्रभु-पद में लीन करानेवाला योग है। भवरोगों का विनाशक तथा सब शोकों का निवारक योग है। सर्वसिद्धिदाता योग है। समता प्राप्त कराने की क्षमता योग में है। ममता-पाश से मुक्त करानेवाला योग है। स्वरूप का साक्षात्कार

करानेवाला तथा सर्वेश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान करा देनेवाला योग है।.... वासनाक्षय, प्राण-जय और मनोलय करानेवाला योग है।' (योग-माहात्म्य, पृ०४) इस योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ थे। गीता में श्रीकृष्ण ने योग के इतिहास पर प्रकाश डाला है। इसके उपरांत अष्टांगयोग के आठो अंगों का परिचय दिया गया है। योग की व्याख्या करते हुए गीता और अन्य ग्रंथों की योग-परिभाषाओं की चर्चा की गयी है और बताया गया है कि 'अपनी ध्येयवस्तु से मन की वृत्ति का पृथक् होना, वियोग तथा संयुक्त होना योग है। चंचल मन की बहिर्वृत्ति का एकत्रीकरण करके केन्द्रीभूत करना ही योग है। इसी को महर्षि पतंजलि ने 'चित्तवृत्तिनिरोधः इति योगः' कहा है।' (योग-माहात्मय, पृ० १६) इस योग को हठयोग और राजयोग के रूप में विभाजित किया गया है। यह राजयोग वस्तुतः ध्यानयोग है। भगवान श्रीकृष्ण की प्रेरणा राजयोग-ध्यानयोग की ओर ही थी। (वही, पृ० २२) इस योग के प्रारंभ का न तो विनाश होता है और न ही इसका विपरीत परिणाम निकलता है। यह महाभय से बचाता है।

योग-चर्चा में वस्तुतः गीता को इस पुस्तक में महत्ता दी गई है और उसी के माध्यम से संतों की योग-साधना का भी परिचय दिया गया है। योग-साधना के प्रारंभ की मनोदशा का चित्रण करते हुए इसकी तुलना पढ़ने के लिए विद्यालय जानेवाले बच्चे के साथ की गयी है। (पृ० २६) इस ध्यान, राजयोग का भक्तियोग में विषय-चिंतन कुपथ्य माना जाता है। योग की सिद्धियों की चर्चा करते हुए भगवान बुद्ध-द्वारा इसकी महिमा का उल्लेख किया गया है। (पृ० ३२)

यौगिक साधना की चर्चा इस पुस्तक में विस्तार से की गयी है; क्योंकि योग का सही क्रियापक्ष उसकी महत्ता का प्रमाण होता है। संतों-द्वारा अनुमोदित सहजयोग या नादानुसंधान अथवा सुरत-शब्द-योग की चर्चा के क्रम में साधना के स्थूल सोपानों की क्रमिक चर्चा अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से की गयी है। सभी योग-मार्ग अंततः निम्नोक्त चार सोपानों में समाविष्ट हो जाते हैं—बुद्धियोग, मानसयोग, ज्योतियोग और नादयोग। साधना का प्रथम सोपान जपयोग है और दूसरा नादयोग।

इसी प्रसंग में महर्षि संतसेवीजी ने हिन्दी-समीक्षा के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवाद 'सगुण-निर्गुण' की विवेचना भी की है। महर्षि संतसेवीजी का विचार है कि गुरु नानक और कबीर साहब भी गो० तुलसीदास, सूरदास आदि की तरह सगुणोपासक भी थे। इसके समर्थन में उन्होंने कबीर साहब की प्रसिद्ध साखी—'गुरु गोविन्द दोउ खड़े', 'मूल ध्यान गुरुरूप है, मूल पूजा गुरु पाँव' आदि का उद्धरण प्रस्तुत किया है। इसी तरह गुरु नानक के पद का भी उदाहरण देकर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि 'उपर्युक्त उद्धरणों से यह सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि गुरु का स्थूल रूप तथा उनके स्थूल नाम सगुण हैं वा निर्गुण? हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गो० तुलसीदास जी और संत सूरदासजी ने भगवान श्रीराम और भगवान श्रीकृष्ण को जिस उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया, उसपर संत कबीर साहब और गुरु नानक ने गुरु को प्रतिष्ठित किया। फिर भी गो० तुलसीदास जी ने भी उन अवतारी पुरुषों को गुरु से कम प्रतिष्ठा नहीं की।' (पृ० ३८)

इस सगुण-निर्गुण विवाद में पड़ने का यहाँ समय नहीं है, पर अभी तक हिन्दी समीक्षा में तुलसीदास, सूरदास आदि को अवतारी राम, कृष्ण आदि का सगुण-उपासक माना गया है और संत कबीर, गुरु नानक आदि को निर्गुणोपासक। मध्यकाल के प्रारंभ के दिनों में संतों में अवतारवाद की प्रतिष्ठा नहीं थी। कालांतर में उसमें अवतारवाद की प्रवृत्ति पनपी और विभिन्न संतों को, विभिन्न देवताओं और ऋषि-मुनियों का अवतार माना जाने लगा। यह प्रवृत्ति तब पनपी, जब संतसाधना की क्रांति की गंगा में शैवाल उत्पन्न होने लगे। संतों को भी और गुरु को भी, अवतार के माध्यम से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा परवर्ती काल की देन है और इसी प्रकार अवतारी राम, कृष्णादि की सगुण-कथा की संत-साहित्य में स्वीकृति भी परवर्ती घटना है।

गुरु गोविन्द सिंह, संत रामचरण, साईं दास आदि ने विभिन्न अवतारों की कथा का वर्णन अपने साहित्य में किया है, पर उसे संत-परंपरा में स्वीकृति नहीं मिली। जहाँ तक योग-साधना में स्थूल की स्वीकृति की बात है, उसे साधना के प्राथमिक सोपान के रूप में स्वीकार करने में कोई विसंगति नहीं है। गुरु का स्थूल नामरूप क्रमशः विलीन होता जाता है और

अंततः गुरु-गोविन्द में कोई फर्क नहीं रह जाता। गोविन्द तो परम तत्त्व या परब्रह्म को व्यक्त करने का एक अभिधानमात्र है।

इसके उपरांत मानस जप, मानस ध्यान आदि के विषय में वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत, श्रीमद् भगवद्गीता, विभिन्न योगोपनिषद् आदि के साक्ष्य पर सविस्तार चर्चा की गयी है।

ज्योतियोग या दृष्टियोग के संदर्भ में भ्रूमध्य, नासिकाग्र, नासाग्र, भृकुटी आदि शब्दों की चर्चा चलती रही है और इनके अर्थ को लेकर कई प्रकार का विवाद उठता रहा है। निष्कर्षतः लेखक-द्वारा यह बताया गया है–'तुम्हारे शरीरस्थ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम्नी त्रिधारा है। इन तीनों धाराओं के मिलन-स्थान पर खोदने अर्थात् दृष्टि-साधन-द्वारा खोजने से परम प्रभु सर्वेश्वर-रूप निधि का पता मिलता है। इसी स्थान को नासिकाग्र, नासिका, भ्रुवोर्मध्य, भृकुटी के बीच आदि नामों से संकेत किया गया है।' (पृ०४६) दृष्टियोग के बाद सुरत-शब्द-योग या शब्द-ब्रह्म की उपासना का विवेचन किया गया है। यही कबीर का सहजयोग है। इस शब्द-साधना से मनोनिग्रह होता है, सहज में समाधि लगती है और अमरपुर में निवास होता है।

इसी क्रम में प्रणव-साधना का भी उल्लेख किया गया है और ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक ॐकार के स्वरूप तथा जप को समझाने का भी प्रयास किया गया है। जप और ध्यान में भेदों की चर्चा करते हुए योग के संयमों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है; क्योंकि इन आचारों का पालन नहीं करने से योगमार्ग में सफलता असंभव है। इन योग-मार्ग को अपनाने के लिए अधिकारी कौन है? 'इस योग के सभी अधिकारी हैं, चाहे वे स्त्रियाँ हों, पुरुष हों, शूद्र हों अथवा पाप-योनि-संभव ही क्यों न हों।' (पृ० ६७)

स्पष्ट है कि इस छोटी-सी पुस्तिका में योग के संबंध में आवश्यक सारी बातों का संक्षेपतः उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। भाषा और अभिव्यक्ति-पद्धति प्रांजल है। कहीं-कहीं चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अनुप्रास का भी आश्रय लिया गया है–'किन्तु यदि विवेक-विलोचन से अवलोकन किया जाए, तो योग कोई हिंस्र जंतु या भयंकर जानवर नहीं।' (पृ०१५)

सगुण-निर्गुण, नासाग्र-ध्यान एवं प्रणव-साधना के विषय में कुछ ऐसी बातें कही गयी हैं, जो मौलिक और अनुभूति प्रसूत ज्ञात होती हैं। इनसे कई प्रकार की शंकाओं का निवारण भी होता है और साधना-मार्ग के अंतरायों को पार करने में सुविधा प्राप्त होती है। लेखक के अनुसार इस पुस्तक के प्रणयार्थ परिश्रम इसलिए किया गया कि 'योग के सरलतम रहस्य का यथासंभव सही रूप से उद्घाटन हो सके।' लेखक अपने इस उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुए हैं, ऐसा निस्संकोच कहा जा सकता है। यह इनकी पहली पुस्तक है और इसमें 'संतमत-सत्संग' में प्रयुक्त साधना-प्रणाली को योग के शास्त्रीय ग्रंथों के आलोक में भी प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया गया है।

महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज की दूसरी पुस्तक है–'ओ३म् विवेचन'। इसका प्रकाशन-वर्ष १९७० ई० है और यह भी करीब सौ पृष्ठों की छोटी-सी, किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इस ग्रंथ के लगभग आधे पूर्वार्द्ध में 'ओ३म्' का विवेचन-विश्लेषण एवं साधनादि की चर्चा है और उत्तरार्द्ध में महर्षि संतसेवीजी के तीन प्रवचन संकलित हैं। ये प्रवचन पहले 'शान्ति-सन्देश' के चार या पाँच अंकों में प्रकाशित हो चुके हैं। इन निबंधों को पुनः पढ़कर उनमें संशोधन, परिवर्द्धन करके वर्तमान तीन निबंधों का स्वरूप प्रदान किया गया है। इस पुस्तक के प्रारंभ में आशीर्वचन के अंतर्गत पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने लिखा है–"वस्तुतः 'ॐ' का स्वरूप गहरे ध्यान में ही विदित होने योग्य है। यद्यपि इसका जप भी होता है; परन्तु इसका यथार्थ स्वरूप ध्यान में ही प्राप्त हो सकता है।" यह 'आशीर्वचन' विषय की गंभीरता और विवेचन की दिशा का संकेत देने के लिए पर्याप्त है। इस ग्रंथ की महत्ता निर्दिष्ट करते हुए महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने बड़ी गंभीर बात कही है–'यह सत्संग में पाठ करने के योग्य है।'

इस ग्रंथ में 'ॐ' की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि "ॐ' को ऐसा विशिष्ट स्थान प्राप्त है, जैसे उसके अभाव में वेद एवं उपनिषद्-मन्त्र अपूर्ण ही रह जाते हैं। इसलिये प्रत्येक मन्त्रारम्भ में 'ॐ' शब्द सन्निविष्ट करना अनिवार्य हो गया।" (ओ३म्

विवेचन, पृ० २) यह 'ॐ' शब्द ही स्फोट है, उद्गीथ है, ब्रह्मनाद है, शब्दब्रह्म है, परमात्म-प्रतीक है, प्रभु का ध्वन्यात्मक नाम है, सारशब्द है, सत्शब्द है, सत्नाम है। (महर्षि मेँहीँ-पदावली के पृ० ५ के आधार पर गद्यांतर) इस 'ॐ' शब्द की व्याख्या विभिन्न उपनिषदों, संतवाणियों आदि के माध्यम से करने का सफल प्रयास किया गया है—''ओ३म्' समस्त सृष्टि का सामूहिक रूप है। 'ओ३म्' गुरु शब्द है। 'ओ३म्' हिरण्यगर्भ की वाणी है। 'ओ३म्' वेदों की माता है। 'ओ३म्' सभी ध्वनियों की जीवनमूरि है। 'ओ३म्' विश्व की महाध्वनि है। 'ओ३म्' सृष्टि की आदिध्वनि है। 'ओ३म्' ज्ञानयोग के जिज्ञासु—विद्यार्थी का अमूल्य शब्द है। 'ओ३म्' वेदान्तियों का (वेदान्तवेद्य) 'वेदान्त-प्रमाण' है। 'ओ३म्' अभय और अमृतत्व रूप आत्मा वा 'ब्रह्म' प्राप्ति के लिए आत्मज्ञान की नौका है। उस पार जाने का 'प्रमाणपत्र' है। (प्रणव-रहस्य से उद्धृत, ओ३म्-विवेचन, पृ० १३)'

यह ओ३म् आदिनाद, आदिशब्द और आदिनाम है। सभी वर्णात्मक शब्द उच्चारण के लिए शरीरस्थ विभिन्न अवयवों पर निर्भर करते हैं, यह ओ३म् बाह्याभ्यंतरेन्द्रिय से सर्वथा अग्राह्य है। संत कबीर ने इसे सहज ध्वनि कहा है। 'इसी अंतर्नाद में सुरत या चेतनवृत्ति के योग को 'अजपाजप' भी कहते हैं। ॐकार का उच्चारण नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह स्वर या व्यंजन नहीं है और न ही शरीरस्थ अंगों के घात-प्रतिघात से यह उत्पन्न ही होता है। उपनिषदों में इसे अनाहत नाद और तंत्र में अकृतनाद कहा गया है। संतों ने 'ॐ' को स्फोट या 'प्रणव' को सारशब्द कहा है। यह न तो आकाश का गुण है और न ही कर्णेन्द्रिय का विषय है। इसका उद्गम आकाश नहीं, परम प्रभु परमात्मा है, अतः यह नित्य है। आदिशब्द या ओ३म् या प्रणव-ध्वनि का उद्गम परम प्रभु परमात्मा है। अतः यह परमात्मा तक, अपने उद्गम केन्द्र तक स्वभावतः ही खिंचता है। संतों ने विभिन्न नामों से इस ॐकार रूप शब्दब्रह्म का ही परिचय दिया है।

ओ३म् विवेचन के क्रम में महर्षि संतसेवीजी ने स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानंद, महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज आदि के विचारों को उद्धृत कर इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हिन्दी, पंजाबी आदि भाषाओं में जो सारशब्द, सत्यशब्द, सत्यनाम, आदिनाम, अविगत नाम, अनाहत नाद, आदिशब्द, रामनाम आदि कहे गये हैं, वे वस्तुतः उपनिषदों के 'ॐ' के ही नामांतर है। इस आदिनाम के ध्यान के पूर्व की साधना—मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टि-योग आदि की चर्चा भी इसी प्रसंग में महर्षि संतसेवीजी ने की है।

यह संपूर्ण विवेचन आर्ष साहित्य के उद्धरणों और संतों की अनुभूत वाणियों से प्रमाणपुष्ट है। एक ओर विवेचन की तार्किक परिणति के लिए लेखक ने शास्त्र-प्रामाण्य का आश्रय लिया, तो दूसरी ओर संतों की अटपटी पारिभाषिक शब्दावली की व्यावहारिक एवं प्रायोगिक क्षमता का भी भरपूर उपयोग किया है। फलतः संपूर्ण विवेचन क्रमबद्ध, प्रमाणपुष्ट और अनुभव संबलित हो गया है। लेखक की विवेचन-क्षमता, संयोजन-कुशलता एवं प्रस्तुतीकरण की विलक्षणता का परिचय संपूर्ण पुस्तक में मिलता है।

लगभग आधी पुस्तक की इस ओ३म्-विवेचना के उपरांत लेखक के तीन संशोधित-परिवर्द्धित प्रवचन हैं, जो प्रवचन में विन्दु और नाद की महत्ता तथा उनकी साधना-विधि का परिचय है। दूसरे प्रवचन में नाद और विन्दु, नाम और रूप के आधार, जगत् आदि के तत्त्व और जीवन-तत्त्व की चर्चा विस्तार से की गयी है। यहाँ इस विवाद के समाधान की भी चेष्टा की गयी है कि नादानुसंधान करते-करते अंतःप्रकाश मिलता है अथवा अंतःप्रकाश पाने पर कम-से-कम ज्योतिर्विन्दु ग्रहण करने के पश्चात् नादानुसंधान करना अपेक्षित है। अंत में उन्होंने यह निर्णय दिया कि 'अन्तर्ज्योति वा ब्रह्मज्योति प्राप्त करने के लिए दृष्टियोग की और शब्दब्रह्म के साक्षात्कार के लिए नाद-योग वा नाद-साधना की क्रिया अपरिहार्य है। इन उभय साधनाओं में क्रिया का आरम्भ होगा दृष्टियोग से और अन्त होगा—नादयोग में; जो सबके लिए सरल, सुखद और सुगम साधन है।' (ओ३म् विवेचन, पृ० ७४-७५)

तीसरे प्रवचन की शुरुआत नाम-भजन की महिमा से की गयी है। यह नाम श्रवणात्मक, वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक तीन प्रकार का होता है। इनके रहस्य को समझे बिना नाम-साधना संभव नहीं। नाम के दो

प्रकार हैं—एक का जप होता है और दूसरे का ध्यान। एक वर्णात्मक है और दूसरा ध्वन्यात्मक। संकल्प-विकल्प रहित मन से ईश्वरवाची इष्टमंत्र का जप करना चाहिए। गो० तुलसीदासजी की राय में ध्वन्यात्मक नाम ॐकार और राम-नाम में समता है। वे दोनों वस्तुतः एक ही हैं। ध्वन्यात्मक के भी दो भेद हैं—आहत और अनाहत। अनाहत शब्द चेतनमंडल का शब्द है, जो अनाहत आदिनाद है, वह एक ही एक है। वह परमात्मा का वाचक 'ॐ' है। इसका ध्यान किया जाता है, जपा नहीं जाता। (पृ० ९१-९४) इस हेतु इसे अजपाजाप भी कहते हैं।

वाल्मीकि के संबंध में उलटा नाम जपने की जो कथा प्रचलित है, उसके मर्म को उद्घाटित करने का प्रयास भी लेखक ने किया है। इनका विचार है कि 'वर्णात्मक नाम का उलटा ध्वन्यात्मक नाम होता है और सगुण नाम का उलटा निर्गुण नाम होता है।.....इसी 'उलटा नाम' अर्थात् ध्वन्यात्मक निर्गुण राम-नाम का भजन कर रत्नाकर डाकू—वाल्मीकि ऋषि हुए थे; मात्र वर्णात्मक 'राम-राम' का उलटा 'मरा-मरा' जप कर नहीं। आज भी जो कोई ध्वन्यात्मक निर्गुण रामनाम का भजन (ध्यान) करेंगे, वे शुद्ध होकर ब्रह्मविद् हो जायेंगे।' (वही पृ० ९६-९७)

यह पुस्तक लेखक की दूसरी कृति है। इसका भी लक्ष्य ॐकार, सारशब्द, नादानुसंधान का मुख्य रूप से और मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टियोग का गौणरूप से आख्यान है। सर्वत्र इसकी उपस्थापन-शैली सफल है और भाषा बोधगम्य है। उद्धरणों के कारण गति कुछ बाधित अवश्य हुई है, पर प्रवचनशैली में प्रभविष्णुता, प्रामाणिकता और भक्ति-उन्मेष के लिए इसकी अपेक्षा से इन्कार करना संभव नहीं है। कुल मिलाकर यह ग्रंथ अपने लक्ष्य में सफल कहा जा सकता है। इससे लेखक की प्रौढ़ि को भी गंभीर होने में सहायता मिलती है।

लगभग दस वर्षों के अंतराल के बाद प्रकाशित 'जग में ऐसे रहना' इनके २४ प्रवचनों/निबंधों का संग्रह है। इसका प्रकाशन वर्ष है १९८१ ई०। इसके संबंध में लेखक की उक्ति है—'कई वर्षों से सत्संगप्रेमी जनों का आग्रह था कि मेरे विखरे निबंधों को एकत्र कर एक ग्रंथ का रूप दिया जाए।... उन सज्जनों की सदिच्छा के साथ-साथ मेरी शुभेच्छा भी जुड़ गयी थी और किन्हीं प्रयोज्य जन की प्रतीक्षा कर रहा था, जो मुद्रण योग्य पांडुलिपि प्रस्तुत कर सके।' यह सुयोग्य घटित होते ही पुस्तक प्रकाशित हो गई। लगभग दो सौ बीस पृष्ठों की यह उत्तम कृति है। चूँकि निबंधों के प्रारंभ में प्रवचन का आवश्यक अंग, संबोधन नहीं है, अतः ऐसा मानकर चलना चाहिए कि ये निबंध ही हैं, प्रवचन के निबंधातरण नहीं। निश्चय ही ये 'विखरे हुए निबंध' या तो शान्ति-सन्देश में प्रकाशित हुए होंगे या समय-समय पर लिखे जाकर यत्र-तत्र रखे रहे होंगे अथवा प्रवचन-रूप में श्रोतामंडली के सम्मुख प्रस्तुत हुए होंगे। भूमिका से स्पष्ट नहीं हो पाता है कि 'विखरे होने' का वस्तुतः क्या अभिप्राय है?

प्रकाशकीय में यह सूचना है कि 'अनेक जिज्ञासुओं, विद्वानों एवं धर्मप्रेमियों का वर्षों से आग्रह हो रहा था कि श्रद्धेय महर्षि संतसेवीजी के पुराने निबंधों का एक संकलन निकल पाता, तो बड़ा अच्छा होता।.... उन पुरानी प्रतियों (शान्ति-संदेश की) से अच्छे-अच्छे २४ निबंध मैंने एक सादी पुस्तिका में उतार लिये।.... महर्षि संतसेवीजी से प्रार्थना की गयी कि इन निबंधों को एक बार सरसरी निगाह से देख लिया जाए। इनके द्वारा इनमें यत्र-तत्र आवश्यक जोड़-तोड़ व संशोधन किये जाने के बाद पांडुलिपि जल्द ही प्रेस में आ गयी।' (पृ० घ) इस पुस्तक की महत्ता के बारे में प्रकाशकीय में कहा गया है—'इसमें साहित्य के रसिकों को काव्यानंद मिलेगा, संतमत के प्रचारकों को प्रचारार्थ नवीन सामग्री मिलेगी, ज्ञानपिपासुओं की प्यास बुझेगी और अध्यात्म-पथिकों को अक्षय संबल और प्रेरणा प्राप्त होगी। (पृ०च)

प्रकाशकीय में भी यह स्पष्ट नहीं किया गया कि ये सभी प्रवचन हैं या निबंध? शान्ति-सन्देश के प्रत्येक अंक में इनका एक-एक निबंध अथवा प्रवचन छपा करता है....इन्हीं रचनाओं का यह संकलन है। यदि इनके प्रवचनात्मक ढाँचे में परिवर्तन करके निबंध नहीं बनाया गया हो, तो इन्हें निबंध कहना ही उचित होगा।

'संसार में रहने की कला' शीर्षक पहले निबंध में यह बताने का प्रयास है कि 'इस संसार में नाते-रिश्ते सभी स्वार्थ पर आधारित हैं। जो भी तुम्हारे हितैषी, संगी या प्रेमी हैं, वे सभी तुम्हारे जीवनकाल, सुखकाल

और संपत्तिकाल के हैं, देहावसानोपरांत काल, धन-हीनकाल और विपत्तिकाल के नहीं।' (पृ० ७) यह शरीर की आसक्ति भी क्षणभंगुर सुखों के लिए है। सारे वैभव सुखों के बीच भी मनुष्य वास्तव में प्यासा ही रहता है। तापों से उसकी रक्षा वैभव नहीं कर पाते। अतः संतों की राय है कि संसार में सारे कर्म करते हुए भी तटस्थ रहना चाहिए। जैसे नौकरानी घर को बाहर से अपना कहकर भी भीतर से जानती है कि जिस घर में वह काम कर रही है, वह मालिक का घर है, उसका नहीं; उसी प्रकार सभी मनुष्य को संसार में रहना चाहिए। अतः 'यदि आप अपना परम कल्याण बनाना चाहते हैं, तो विषयों से उदासीन रहते हुए सदाचार-समन्वित हो, संतादेशानुकूल नित्य नियमित रूप से सत्संग तथा दृढ़ ध्यानाभ्यास किया कीजिए।' (पृ० १०) संसार में रहने की यह यथार्थ कला है।

दूसरे निबंध 'संत और संसार' में संतों की परिभाषा दी गयी है और बताया गया है कि संतों का आचरण कैसा होता है। वे निर्वैर, निष्काम और परमात्मा-प्रेमी होते हैं। संत सदाचारी होते हैं। वे जगत् को मिथ्या मानते हैं। वे संसार को भयावह मानते हुए उसके बंधन से छूटने का प्रयास करते-कराते हैं। 'विवेक दृष्टि से देखने से मानव जीवन भी एक बृहत् अरण्य है—घनघोर जंगल है। प्राणी जब इस जंगलमय जीवन में उतरता है, तो उसे चारो ओर गहन माया के अभेद्य पर्वत और दुर्गम मनोरथ के सघन वन नजर आते हैं। जगजीवन के गंभीर वन में कभी क्रोध के बादल गरजते हैं, तो कभी काम के प्रचंड पवन चलते हैं, कहीं चिंता-सर्पिणी फुफकारती है, तो कहीं लोभ-व्याघ्र निगलने के लिए सम्मुख उपस्थित होता है। (पृ० १८-१९) इस दशा से मनुष्य को मुक्त करने के लिए भक्तभयहारी भगवंत-संत के रूप में अवतरित हो सकते हैं।

इसी प्रकार 'संत और संसार की सापेक्षता' शीर्षक निबंध में यह बताने का प्रयास किया गया है कि संत और असंत की संसार के प्रति दृष्टि प्रायः उलटी होती है। संत संसार-सुख का अभिशाप मानते हैं, पर संसारी मनुष्य उसके मोह में सहर्ष फँस जाता है। 'संत श्रेय से और संसारी प्रेय से प्रसन्न रहते हैं। संसारी विषयासक्त होता है, तो संत उसमें अनासक्त रहते हैं। संसार कोल्हू की तरह है, तो संत भ्रमर की तरह। संसार की उपमा यदि चलनी से की जाए, तो संत की उपमा सूप से।.... संसार काम, क्रोध, मद-लोभरत रहता है, तो संत 'विगत काम प्रभु नाम परायण' होते हैं।.... संतों का जीवन कर्म और कथन का सुंदर समन्वय रूप रहता है। संसार कहता कुछ और है और करता कुछ और है।' (पृ० २३)

आगे ये लिखते हैं, 'संसारी भोगी और संत योगी होते हैं। इस हेतु दोनों के कामों में सर्वथा भिन्नता अवश्यंभावी है।' (पृ० २५) संत हर प्रकार से कष्ट दिये जाने के बावजूद संतपने को नही छोड़ सकते। इनका निष्कर्ष है—'साधक संसार में रहे, कोई असंगत बात नहीं, किन्तु साधक में सांसारिकता नहीं आनी चाहिए। (पृ० ३१)

इसी भावना को अपने चौथे निबंध 'संसार के दूसरे पृष्ठ की ओर भी देखें' में आगे बढ़ाते हुए इन्होंने कहा, 'जगत् में अंड-कमठ की नाईं रहो अर्थात् जागतिक कार्य संपादन करते हुए निरंतर जगदा-धार का चिंतन भी किया करो।' (पृ० ४१) इस प्रकार संसार के दूसरे पृष्ठ अर्थात् सूक्ष्म संसार के प्रकाश की ओर की यात्रा भी हो सकेगी।

मनुष्य का 'साधन-धाम, मोक्ष का द्वार' यह शरीर केवल सांसारिक सुखोपभोग के लिए नहीं मिला है। पिंड में ब्रह्मांड और बूँद में समुद्र छिपा है, इस सत्य को जानकर परमात्म-तत्त्व की प्रत्यक्षानुभूति के लिए योगयुक्त ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए, यही पाँचवें निबंध का सार है।

सदाचार ईश्वर-भक्ति के लिए अनिवार्य है। बिना सदाचार के, शील के, साधना के मार्ग में सिद्धि संभव नहीं है। सदाचार से लोक और परलोक, अपना और समाज दोनों का कल्याण संभव होता है। सदाचार की सुगंध फूलों की सुगंध के विपरीत हवा की उलटी दिशा में भी फैलती है। यह शाश्वत सुगंध है। बिना सदाचार के ईश्वर-भक्ति संभव ही नहीं। यह ईश्वर-भक्ति जाति, वर्ण, गोत्र, रंग, भाषा, धर्म आदि का कोई भेद नहीं स्वीकार करती। 'ब्राह्मण हो वा शूद्र, भक्त होने के नाते सभी समान हैं।' (पृ० ६०) भक्ति का बीज नष्ट नहीं होता। वह देर-सवेर मुक्ति के द्वार तक पहुँचा ही देता है। भक्ति करने के लिए मधुकरी वृत्ति का आश्रय उचित नहीं कहा जा

सकता। 'जीवन बिताओ स्वावलंबी' जीवन का मूलमंत्र होना चाहिए। जो संयम-संयुक्त हो संत सद्गुरु द्वारा निर्देशित भक्तिमार्ग पर चलेंगे, उनपर ईश्वर की कृपा आप ही होगी। संतमत प्रमादी नहीं बनाता, बल्कि कर्मठ कर्मयोगी बनाता है। छठे से लेकर नवें निबंध में उपर्युक्त विचार ही व्यक्त किये गये हैं।

दसवें निबंध में 'सत्संग' की महत्ता बतायी गयी है। इसकी तीन श्रेणियाँ निर्धारित की गयी हैं—'उस परमात्म-स्वरूप से इस जीवात्म-तत्त्व वा चेतनात्मा का अंग सर्वोत्कृष्ट सत्संग है और यह प्रथम श्रेणी का सत्संग है। ऋषि, मुनि, साधु, संत, सज्जन, महात्मा आदि के संग को भी सत्संग कहते हैं, यह द्वितीय श्रेणी का सत्संग है। साधु-संतों के अभाव में उनकी वाणियों, सद्ग्रंथों का अवलोकन, अनुशीलन वा श्रवण-मनन तृतीय श्रेणी का सत्संग है। किन्तु ये तीनों सत्संग अन्योन्याश्रित हैं। तृतीय श्रेणी के सत्संग से द्वितीय श्रेणी के सत्संग की जिज्ञासा होती है और द्वितीय श्रेणी के सत्संग से प्रथम श्रेणी के सत्संग की सत्प्रेरणा मिलती है।

यह सत्संग बहुत उपयोगी है। 'सत्संग से कुबुद्धि का विनाश और सुबद्धि का विकास होता है।.... सत्संग यह कल्पवृक्ष है, जिसमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्षरूप चार फल लगे हैं।... मन और इन्द्रियों के संयमन की कला का ज्ञान सत्संग से मिलते हैं। सत्योपदेश और सच्ची सीख सत्संग से मिलती है। सत्संग के द्वारा संसार से असंगता होती है। असंगता से मोहासक्ति छूटती है।' (पृ० ८३)

इसी प्रकार साधना के लिए आहार-नियमन आवश्यक है। खान-पान का संयम नहीं रहने से साधना संभव नहीं है। 'तमोगुणी भोजन से तमोगुणी वृत्ति होती है। राजस आहार से बुद्धि चंचल होती है। सात्त्विक खान-पान से सत्त्वगुणी वृत्ति होती है।'

आहार-संयम की ही तरह मनोज अर्थात् काम और क्रोध-विजय भी साधना-मार्ग के राही के लिए आवश्यक है। काम-विजय के लिए भी आहार-संयम आवश्यक है। अतः काम और क्रोध पर नियंत्रण करना आवश्यक है। दसवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें निबंध में इन्हीं बातों को सोदाहरण सांगोपांग वर्णन किया गया है। चौदहवें निबंध का विषय संतमत में स्वावलंबन और पुरुषार्थ की महत्ता है।

शेष निबंध योग, उसके भेद राजयोग और हठयोग, मोक्ष और बंधन की अवधारणा, निर्वाण और अमृतसिद्धि से संबंधित है। इनमें पारस्परिक संबंध अत्यन्त प्रगाढ़ है। 'योग-महिमा', 'हठयोग' और 'राज योग' तथा 'काजर दिये से क्या भया' शीर्षक निबंधों में प्रायः वे ही विचार हैं, जिनका परिचय 'योग माहात्म्य' शीर्षक ग्रंथों से हम प्राप्त कर चुके हैं। 'बंध और मोक्ष-दशा', 'निर्वाण तथा अमृत-चर्चा' शीर्षक निबंधों में मुख्यतः जीवन के लक्ष्य को निर्धारित करने की चेष्टा की गयी है। महर्षि संतसेवीजी की दृष्टि में 'मुक्त या मोक्ष का अर्थ है—छूट जाना। किससे छूटना? जिससे जुटना हुआ है।' (पृ० १६५) मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लेखक कहते हैं—'वास्तव में हृदय की अज्ञानग्रंथि के नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं। यथार्थतः पूर्ण आत्मज्ञान जब और जहाँ होगा, उसी क्षण में उसी स्थान पर मोक्ष धरा हुआ है; क्योंकि मोक्ष तो आत्मा की ही मूल शुद्धावस्था है, निराली स्वतंत्र वस्तु या स्थल नहीं।'

'निर्वाण' शब्द के अनेक अर्थों में एक अर्थ मोक्ष या मुक्ति ही है।' (पृ० १७४) 'निर्वाण शब्द बौद्ध साहित्य में बहुशः प्रयुक्त है। पालि भाषा में वाण शब्द का अर्थ होता है—तृष्णा। इस प्रकार निर्वाण शब्द का अर्थ हुआ—वीततृष्णा अर्थात् तृष्णा रहित। निर्वाण का दूसरे शब्दों में 'प्रदीप का बुझ जाना' वा वासनारूपी दीपक का अत्यन्ताभाव हो जाना भी अर्थ किया जाता है।' (पृ० १७५) लेखक ने आगे यह भी बताया है, 'भगवान बुद्ध ने जिसको निर्वाण की संज्ञा दी, ऋषियों एवं संतों ने उसको मुक्ति के नाम से अभिहित किया।....वही वैदिक सद्ग्रंथों में परमपद वा परमात्म-पद कहकर वर्णित है।'

'अमृत-चर्चा' शीर्षक निबंध में यह बताने का प्रयास किया है कि 'अमृत इस स्थूल संसार में नहीं है और इसी कारण उसका प्रत्यक्ष अवलोकन भी हम इस चर्मदृष्टि से नहीं कर सकते।..... क्रियावान शुद्धाचारी गुरु से प्राप्त साधन-द्वारा जब साधक अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करता है, यानी जगत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण करके तुरीयावस्था में प्रवेश करता है, तब उसे इस अमृत की प्रत्यक्षता होती है। (पृ० १८७) आगे वे निष्कर्षतः कहते हैं—'हम इसी निष्कर्ष पर

पहुँचते हैं कि ब्रह्मनाद तथा ब्रह्मज्योति ही अमृत है। (पृ० १९०) अथवा 'संक्षिप्ततः समझ लीजिए कि शरीरस्थ ज्योति और शब्द ही अमृत हैं। दृष्टिसाधन तथा नादानुसंधान के द्वारा इन दोनों अमृतों को आप प्राप्त कर सकते हैं। अमृत उपलब्ध करने का यही एक विशेष कला है।' (पृ० १९२)

'नौ दो ग्यारह', 'छः तीन नौ' तथा 'तीन से हीन होने की कला' में चमत्कारपूर्ण शैली में नौ दरवाजे के आगे दसवें द्वार, षट्विकार, षट्कर्म, षट्चक्र तथा तीन गुणादि के बारे में विस्तार से चर्चा की गयी है। घुमा-फिराकर ये सभी शब्द मुख्यतः योग-साधना से जुड़े हैं और उसी रूप में ये चर्चित हुए हैं। नौ दरवाजे को छोड़कर दसवें द्वार में प्रवेश करके अंतर्ज्योति की खोज करनी चाहिए। नौ अंक की बड़ी महिमा है। नव द्वार, नव खंड, नव ग्रह, नव रस, नव रत्न, नव निधि, नवधा भक्ति आदि से सभी परिचित हैं। इसी प्रकार षट्कर्म, षट्विकार, षटचक्र, षट्संग तथा त्रिदशा, त्रिताप, त्रयावस्था, त्रिलोक, त्रिदोष, त्रिवेणी, त्रयवर्ग, त्रिपुटी, त्रिकुटी आदि हैं। इससे हीन होने की कला का ज्ञान आवश्यक है। व्यक्ति इससे हीन होकर, 'जल ही ह्वैगा मीन' की भाँति प्रभुपद में लीन हो अभिन्न हो जाता है। उपर्युक्त सभी तीन, छह और नौ से मुक्त होने अथवा उन्हें नियंत्रित करने की कला ही साधना है, जिसका प्रचार संतमत में जप, ध्यान, दृष्टियोग और सुरति-शब्द-योग के रूप में किया जाता है।

'जग में ऐसे रहना' इस प्रकार ऐसे निबंधों का संकलन है, जिसमें साधना और उससे जुड़े अन्य अवांतर प्रसंगों, संदर्भों और विषयों की सविस्तार, सोदाहरण विवेचना की गयी है। इसकी भाषा अनेक स्थानों पर काव्यात्मक है और सामान्य शब्दों में कही जानेवाली बात को भी कुछ कठिन शब्दावली में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। इससे चमत्कार और प्रभावशीलता का समावेश तो हुआ है, पर सामान्य जनों के लिए संप्रेषण भी यदा-कदा बाधित हुआ है। यथा–'एक समय श्रीचतुराननजी ने श्रीपंचाननजी से पूछा कि हे मन्मथारी! इस दुःखमय संसार में सब जीव पड़े हैं और अपने-अपने कर्मों का सुख-दुःखात्मक फलोपभोग कर रहे हैं, इनकी मुक्ति किस सुगम उपाय से हो, यह कृपया बताइये। (पृ० १७३) या फिर 'हमें दुरालोचन-लोचन-विमोचन कर विवेक-विलोचन का निरावरण करके अवलोकन करना चाहिए कि महाराज अशोक जो कि...।' (पृ० ११३)... अथवा 'छाग के चमड़े से वाद्ययंत्रादि, गो-वृष आदि के चमड़ों से पद- त्राणादि, गेंडे के चमड़े से ढाल और मृगव्याघ्रादि के चमड़ों से ऋषि-मुनियों के आसन बनते हैं। (पृ० ४२) इन वाक्यों में शब्द- क्रीड़ा का जो विशेष गुण है, वह निश्चय ही भाषा को बोझिल बनाता है। किन्तु ऐसे स्थल कम ही हैं। इन निबंधों में प्रचुर मात्रा में संत-वाणियों के जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे तथ्यों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है तथा लेखक के व्यापक अध्ययन और सम्यक् स्मृति का पता भी चलता है। तथ्यों का विनियोजन भी योजनाबद्ध और अनुकूल है।

'गुरु-महिमा' का प्रकाशन वर्ष १९८९ ई० है और इसमें कुल १४४ पृष्ठ हैं। इस पुस्तक का लक्ष्य इसके शीर्षक से ही ध्वनित होता है। साधना-सम्प्रदायों में गुरु की महत्ता सर्वोपरि है। इस प्रकार गुरु की महत्ता, आवश्यकता तथा अपने परम पूज्य गुरु महाराज के बारे में लेखक ने इस ग्रंथ में प्रवचनोपयोगी पद्धति से बताने का प्रयास किया है। इसके १५ प्रवचन गुरु-पूर्णिमा के अवसर पर किये गये हैं। भूमिका में ही लेखक ने स्पष्ट कर दिया है–'किसी भी ज्ञान के लिए गुरु की अनिवार्य आवश्यकता होती है। बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता है। .... पारलौकिक-आध्यात्मिक ज्ञान के लिए संत-सद्गुरु का सान्निध्य आवश्यक होता है। उनके आदेश और उपदेश के परिवेश में अपने को रखनेवाले का भवक्लेश निःशेष होता है। . ....पूरे और सच्चे सद्गुरु का मिलना परम प्रभु सर्वेश्वर के मिलने के तुल्य ही है। (भूमिका, पृ० ३)

इन्होंने कान फूँकने की ठीकेदारी लेनेवाले उन गुरुओं से लोगों को सावधान किया है। (पृ० २३) वस्तुतः गुरु की खोज बड़ी सावधानी और सतर्कता से करने की जरूरत होती है। दृष्टियोग और नादानुसंधान की साधना बिना जानकार गुरु के निर्देश के संभव नहीं है। (पृ० २७) लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि भगवान अवतार लेकर दुष्टों का नाश करते हैं, पर संत सद्गुरु 'दुष्ट को सुष्ठ बनाकर दुःखों का संहार करते हैं।' (पृ० ३८) ये आगे बताते

हैं कि 'वास्तव में गुरु शरीर को नहीं ज्ञान को कहते हैं। ....सामान्यतः भौतिक और आध्यात्मिक दो प्रकार के गुरु होते हैं। ज्ञानप्रदाता गुरु और ज्ञानग्रहण करनेवाले शिष्य कहलाते हैं। (पृ० ४२) 'जैसे गुरु में ज्ञान और शुद्धाचरण का होना अनिवार्य है, वैसे ही शिष्य में श्रद्धा और विश्वास का होना अनिवार्य है। ...सुयोग्य गुरु हों और शिष्य भी सुयोग्य हों, तो सफलता मिलती है, अन्यथा अच्छे गुरु के मिलने पर भी मूर्ख शिष्य सच्चे नहीं हो सकते, कच्चे ही रहते हैं।' (पृ० ४३) 'गुरु के अनुग्रह से शिष्य को लौकिक आचार-व्यवहार का ज्ञान होता है, विज्ञान की प्राप्ति होती है और वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यथार्थ में महत्तम गुरु वे होते हैं, जो अपने शिष्य को संसार-सागर से पार कर देते हैं।' (पृ० ४४) गुरु कुम्हार और शिष्य कुंभ होता है। संतमत में गुरु की महत्ता तो गोविंद से भी बढ़कर है। 'संतमत अर्थात् संतों के मत में संत-सद्गुरु का स्थान शीर्ष पर है। यही कारण है कि हम संतों की वाणियों और सद्ग्रंथों में संत से श्रेष्ठ अन्य किन्हीं को नहीं मानते। यदि कहा जाए कि संतमत की मूल भित्ति सर्वेश्वर है, तो उसके साथ यह भी कह देना अपेक्षित है कि जिस भव्य भवन की मूल भित्ति भगवान हैं, उसकी छत संत सद्गुरु हैं और उसकी दीवार सत्संग है, जिसे सच्चे प्रेम-भक्ति के गिलावे से जोड़कर सच्चरित्रता या सदाचारिता के सीमेंट से प्लास्टर किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी की अहैतुकी कृपा, महत्ता के साथ ही गुरु की आवश्यकता, उसकी पहचान, शिष्य की योग्यता-क्षमता आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। बीच-बीच में निजी अनुभव के प्रसंग हैं, जिनसे पुस्तक की महत्ता और विश्वसनीयता और दृढ़ हो गयी है। भाषा प्रवचनोपयोगी है। कठिन शब्द और चमत्कार से प्रायः भाषा मुक्त है। संतों और शास्त्रों के वचनों और जीवन-प्रसंगों के कारण पुस्तक की उपदेयता बहुत बढ़ गयी है।

'लोक-परलोक-उपकारी' का प्रकाशन वर्ष है १९८९ ई० और पृष्ठ संख्या है-१२६; इसमें कुल १४ निबंध (प्रवचन) संकलित हैं, जिनके विषय प्रायः भिन्न-भिन्न हैं। पहले निबंध 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' में यह बताने का प्रयास है कि यहाँ धर्म से क्या तात्पर्य है और श्रीकृष्ण धर्म को त्यागने की बात किस अर्थ में करते हैं। 'शुभ कर्म ही धर्म है। जिस धर्म से आत्मोत्थान हो, वह धर्म या शुभ कर्म है तथा जिस धर्म से आत्मा का अधःपतन हो, उसे अधर्म या अशुभकर्म कहते हैं। (पृ०६) लेखक बताते हैं कि 'श्रीकृष्ण जी की यही सम्मति है कि मन को स्वाधीन रखते हुए इन्द्रिय के धर्मों को छोड़ो, सुतरां आत्मनिष्ठ होवो। आत्मनिष्ठ ही स्वधर्म से आरूढ़ होना है।' (पृ० १०) 'इन्द्रिय-धर्म यानी स्वभाव, जो विषय ग्रहण करने का है, का त्याग करके चेतन-आत्मा के धर्म में आरूढ़ होवें, चाहे इसके लिए कुछ हो जाए।' (पृ० १२) धर्म के परित्याग से भगवान का यही तात्पर्य है। तत्पश्चात् एकमात्र भगवान की शरणागति को स्वीकार करें।

भगवान गूँगे का गुड़ है। यह वाचा और मन दोनों से अप्राप्य है। 'वाचा-द्वारा उसी तत्त्व का कथन हो सकता है, जिस तत्त्व या पदार्थ को मन जानता है। जहाँ मन की गति नहीं, उसकी अभिव्यक्ति वाणी कैसे कर सकती है? मन के गति-निरोध की स्थिति में वाणी-द्वारा कुछ व्यक्त करने की चेष्टा निष्फल होगी।' (पृ० १५) अतः भगवान, परम तत्त्व गूँगे का गुड़ है। ये इस बात को और आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं–'साधक जब साधनारंभ करता है, तो चित्तैकाग्रता के कारण सर्वप्रथम तो इन्द्रिय-ग्रामों से मन का पृथक्करण हो जाता है। पश्चात् साधना में अग्रसर होने पर अष्टधा प्रकृति मंडल के अभ्यंतर ही वह विलीयमान हो जाता है। उसके आगे चेतन आत्मा की गति होती है। ऐसी अवस्था में आत्मा या ब्रह्म के संबंध में मन कुछ भी वर्णन करे, कब संभव है। (वही, पृ० १८) निष्कर्षतः ये कहते हैं–'आत्मतत्त्व जानने वा उसका प्रत्यक्ष ज्ञान पाने के लिए साधना करके आत्मज्ञानी बनने की आवश्यकता है, न कि कोरा वाचक ज्ञानी बनने की; क्योंकि आत्म-अनुभव की अथवा आत्मसुख की बात वाणी का विषय नहीं।

'आखिर हमारे दुःख का कारण क्या है?' शीर्षक निबंध में संसार के अनेक प्रकार के दुःखों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति से सुख और अनिच्छित वस्तु की प्राप्ति से दुःख होता है। वैसे 'सब क्लेशों का मूल हमारी अविद्या है, अज्ञानता है, अधिक क्या कहें–हमारी

मूर्खता है।' (वही, पृ० २७) संसार के दुःखों के प्रति संतुलित दृष्टि अपनाने और उससे मुक्ति के लिए 'चेतो और हरिभजन करो' की सलाह देते हुए इन्होंने लिखा है—'जीव अपने कर्म के वश में है। अपने कर्मों के अनुसार वह जन्मता है और कर्मों के अनुसार ही मरता है। अपने कर्म के अनुसार वह सुख वा दुःख पाता है।' (वही, पृ० ४२) 'दुःख की निवृत्ति के लिए किसी सद्गुरु से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करके ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए। तभी आवागमन से मुक्त होकर परम कल्याणमय सच्चे सुख को वह प्राप्त कर सकेगा।' (पृ० ४९)

'भक्ति भेष पर अवलंबित नहीं' शीर्षक निबंध में यह बताने का प्रयास किया गया है। साधना को वेश या 'भेष' के साथ जोड़ना उचित नहीं है। साधु के वेश में अनेक दुराचारी, अज्ञानी लोग मिल जायेंगे और गृहस्थ के सामान्य वेश में अनेक वास्तविक साधु। 'ईश्वरभक्ति सुवेश या कुवेश पर अवलंबित नहीं, अपितु सर्वथा उसके अंतःकरण की शुद्धता पर निर्भर है। ....कुवेशित रविदास संत, जामवंत और हनुमंत भगवद्भक्त होकर समादृत, प्रतिष्ठित एवं पूजित हुए तथा कालनेमि, रावण और राहु सुवेशित होने पर भी अभक्त, दुष्ट रहकर निरादृत, तिरष्कृत और साधु समाज से बहिष्कृत किये गये।' (पृ० ६४) 'इस देश में वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अत्रि, जनक, तुलसीदास, तुकाराम आदि सद्गृहस्थ साधु हुए और हनुमान्, शंकराचार्य, समर्थ रामदास, रामानंद आदि वैरागी, ब्रह्मचारी साधु हुए। वे सद्गृहस्थ होते हुए भी परिवार में जलकमलवत् थे।' (पृ० ६४)

अतः वेश-कुवेश के साथ साधुत्व की परस्परता नहीं है। 'जिसकी भक्ति उत्कृष्ट हो, वही सबमें श्रेष्ठ माना जाता है—फिर चाहे वह गृहस्थ हो, वानप्रस्थ या वैरागी हो।' (पृ० ६९)

संसार की यह रीति है कि जो दुःख सह लेता है, उसको सुख की प्राप्ति होती है। कृषक सुख की लालसा से ही कृषिकर्म के सारे कष्ट सहता है। यही हाल विद्यार्थी, योद्धा, संतानेच्छुक महिला आदि का भी है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्' सब कष्ट ही है। इनसे मुक्ति का रास्ता खोजना चाहिए और वह रास्ता हरिभक्ति का रास्ता है और उसी से सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। यह विचार 'दुःख सहने से सुख मिलता है' शीर्षक निबंध में व्यक्त किया गया है। संपत्ति-विपत्ति और शरीर-संसार की भूल-भुलैया में फँसकर कभी विश्वास न करें कि ये पदार्थ सदा एक समान ही रहेंगे और इन्हें पाकर मदांध होना तो निरीमूर्खता है। 'जरा विचारिये तो सही, जब सभी पदार्थ परिवर्तनशील तथा छूटनेवाले हैं, तब आप उसे पकड़कर सुख पायें, यह कब संभव है? अतएव यदि आप नित्य, शाश्वत सुख पाना चाहते हैं, तो अपरिवर्तनशील परमात्मा को प्राप्त करने का सत्प्रयत्न करें।' (पृ० ९०)

'हरिशरण भक्त को कोई बाधा नहीं' शीर्षक निबंध में भक्ति के स्वरूप और उसकी निष्कामता की सोदाहरण चर्चा है। 'काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य प्रभृति विकारों से पूरित जन की कभी भी शुभ गति नहीं हो सकती और न वह हरिशरण के योग्य हो सकता है।'(पृ० ९८)

'शरीर से परमात्मा की शरण जाने से असली शरण-ग्रहण नहीं हो सकता। असली शरण में जाना तो 'आत्मनिवेदनम्' कर देना है। ....निजमन अर्पण अथवा आत्म-समर्पण कोई विरही भक्त ही कर सकता है। ....जिन्हें इन्द्रियों के भोगों में आसक्ति नहीं, विषय में अनुरक्ति नहीं, वे ही भक्त परमात्म-शरण होने के योग्य होते हैं।' (पृ० ९८)

...विषय-प्राप्ति की कामना लेकर जो भक्ति की जाएगी, उसमें विषय-वासनारूप विघ्न मौजूद ही है। इसलिए विषय-कामयुक्त भक्ति निरुपाधि भक्ति नहीं कही जा सकती। भक्तियोग के साधन से विषय की इच्छाओं को हटाकर राम के निर्भ्रान्त निर्गुण स्वरूप में रत होना ही निरुपाधि विघ्न-रहित भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति करनेवाला भक्त ही हरिशरण हो सकता है और उस भक्त के लिए कोई विघ्न बाधा नहीं है।' (पृ० १००)

अंतिम दो निबंध 'वाणी का व्यवहार' और 'मन' में वाणी व्यवहार के आध्यात्मिक, सैद्धांतिक और व्यावहारिक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है तथा मन, उसकी गति, दिशा और मनोनिरोध के साधनों के बारे में बतलाने की भी चेष्टा की गयी है। अध्यात्म-विज्ञान में वाणी के चार प्रकार होते हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी। 'परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणी का ज्ञान सामान्य जन को नहीं होता। वे

मुख से विखरी हुई वाणी वैखरी वाणी को ही जानते हैं। इस वैखरी वाणी में अद्‌भुत चमत्कार है। ...वाणी से ही विपद, विप्लव और विध्वंस होते हैं तथा वाणी से ही विजय, वैभव और विश्वबंधुत्व होते हैं। ...वाणी से हानि और लाभ दोनों होते हैं। हमें चाहिए कि वाणी का संयम जानें। वाणी के वाण से देवी द्रौपदी की दिल्लगी ने ही कुरुक्षेत्र में महाभारत संग्राम मचाकर सर्वनाश करवाया।' (पृ० १०६-१०७)

ये आगे लिखते हैं–'रसना बहुत शक्तिशाली इन्द्रिय है। यह वाचन और रसास्वादन दोनों कलाओं में कुशल है। ....रसनेन्द्रिय का संयम ही वाणी का संयम है। ....इसमें दो प्रकार के संयमों की अनिवार्य आवश्यकता है–प्रथम भोजन-संयम की, द्वितीय वचन-संयम की।' (पृ० ११०) 'वाणी का संबंध नाद से है। अतएव हम अंतर्नाद की साधना करके वाणी-व्यवहार की कला जानें, तो कितना उत्तम हो।' (पृ० ११३) इस प्रकार निबंध में व्यावहारिक और आध्यात्मिक स्तर पर वाणी के विनियोग का मंत्र भी बताया गया है।

'इस स्थूल शरीर के भीतर एक मन भी है, जो शरीर और इन्द्रियों को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। ...संयमित मनरूप अश्व के द्वारा ही आप आत्मोन्नति के शिखर पर चढ़ सकते हैं तथा इसकी बागडोर ढीली कर देने से अधोपतन के गड्ढे में भी गिर सकते हैं।' (पृ० ११४) यह मन संकल्प-विकल्पात्मक है। इसकी गति अत्यन्त चंचल है। यह मन मथनेवाला है। ध्यानाभ्यास काल में भी यह साधक के चित्त को, अंदर के विकारों को बाहर विखेर कर असंतुलित करने की चेष्टा करता है। सच है–'जेती लहर समुद्र की तेती मन की दौड़।' इस मन पर विजय प्राप्त करना दुष्कर है; परन्तु है अत्यन्त आवश्यक। 'अतएव मनोनिरोधेच्छुक साधक को सर्वप्रथम किसी स्थूल मंत्र का मानस जप, जिसमें अपनी पूर्ण श्रद्धा हो, इष्ट का मानस ध्यान, विन्दु-ध्यान तथा नादानुसंधान; इन चारो का अभ्यास दृढ़तापूर्वक करना चाहिए। मनोनिग्रह का सदाचार से अत्यधिक संबंध है। इसलिए साधकों को पंच पापों (झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार) से बचकर रहना चाहिए। (पृ० १२६)

'सत्य क्या है,' एक सौ बारह पृष्ठों की १९९२ में प्रकाशित लेखक की महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पुस्तक के विषय में लेखक ने इसकी भूमिका में लिखा है–'जो असत्य है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो सत्य है, वह नित्य शाश्वत है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी सत्य और असत्य के विषय में विविध भाँति से समझाया गया है।' इस ग्रंथ के पहले निबंध में सत्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। ग्रंथ के शेष निबंध या प्रवचन अध्यात्म क्षेत्र के अन्यान्य विषयों से संबंधित है। पहला निबंध प्रवचन का ही मार्जित स्वरूप लगता है। 'आप देखेंगे, इसी पंडाल के अंदर कहीं चालीस वाट का बल्ब लगा हुआ है, तो कहीं सौ वाट का और कहीं हजार वाट का। (पृ० १३) ऊपर का उद्धरण इसके प्रवचन होने को प्रमाणित करता है। बाद में इसे यत्र-तत्र जोड़-घटाकर निबंध का रूप दिया गया है। इस निबंध में बताया गया है कि 'इन्द्रियों को जो कुछ गोचर हो, मन से जहाँ तक जानकारी हो सके, वह सबकी सब माया है और माया परिवर्तनशील होती है। सत् परिवर्तनशील नहीं होता है। ऐसा क्या है? वह परम प्रभु परमात्मा है। परम प्रभु के अतिरिक्त और कोई सत् नहीं है। उस परम प्रभु परमात्मा का अभिन्न अंश यह जीवात्मा है। जीवात्मा भी सत् है।...मात्र अणुता और विभुता का फर्क है।

मनुष्य भी सत् है, पर उसको असत् का संग हो गया है। अपने को असत् से निकाल देना चाहिए। जबतक चेतन जड़ के साथ है, तबतक उसका परमात्मा से मेल संभव नहीं। अतः जीव अपने को जड़ से अलग करके अपने स्वरूप में स्थित होकर परमात्मा से मिलन प्राप्त कर सकता है। यह 'जड़त्व को छोड़ने और परमात्मा से मिलने की कला' संत बताते हैं।

'परमात्मस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान' शीर्षक निबंध के अनुसार–'इन्द्रियातीत ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान चेतन आत्मा को होगा; क्योंकि वह भी उसकी ही भाँति सूक्ष्म है। ...जबतक चेतन आत्मा जड़ के साथ संयुक्त रहेगी, तबतक वह उस ईश्वर की अपरोक्ष अनुभूति में सर्वथा असमर्थ रहेगी।' (पृ० ३३) 'जब चेतन आत्मा के ऊपर से स्थूल-सूक्ष्मादि जड़ के सभी आवरण उतर जाते हैं, इसी कैवल्य दशा में ब्रह्म की अनुभूति होती है।' (पृ० ३४) यह शरीर क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ जीवात्मा है। इस चेतन का निवास जाग्रत अवस्था में नेत्र में, स्वप्न में कंठ में, सुषुप्ति में हृदय में और तुरीय अवस्था में मस्तक में होता है। तीन अवस्थाओं को

पार कर चौथी अवस्था अर्थात् तुरीयावस्था में जाने पर आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। 'सत्संग की आवश्यकता' शीर्षक निबंध में सत्संग की उपयोगिता और स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'सत्संग श्रीरंग का निज अंग है। इसके संग से विषयों का असंग होता है, हरि का अभंग रंग लगता है और अंत में भव-भंग हो जाता है।' (पृ० ४९)

'पाप का समूल नाश' कैसे संभव है? इसपर विचार करते हुए कहा गया है—'जब ईश्वर की अनुकंपा होती है, तब संतों की संगति मिलती है और जब संतों की संगति मिलती है, तब उनके दर्शन से, स्पर्शन से तथा समागमादिक से पापराशि का नाश हो जाता है।' (पृ० ६६)

ध्यानयोग से भी पाप-क्षय होता है। जो विधि-सम्मत धर्म है, शुभकर्म है, वह पुण्य है, उसका फल सुखद होता है। जो अवैधानिक कर्म है, अशुभ कर्म है, वह पाप है और ऐसे कर्म का फल दुःखमय होता है। शुभ कर्म का फल सब भोगना चाहते हैं, पर पापकर्म का फल भोगना कोई नहीं चाहता। परन्तु जो जिस प्रकार का भी कर्म करेगा, उसका फल उसे भोगना ही पड़ेगा। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, फल देनेवाला है। (पृ० ६४-६५ के आधार पर) पाप कर्म के फल से मुक्ति का रास्ता ध्यान, सत्संगादि है, जिसकी क्रिया-विधि संतजन बताते हैं।

'श्रेष्ठ ज्ञान' शीर्षक निबंध का विषय श्रेष्ठ ज्ञान का निर्धारण और उसकी प्राप्ति के उपाय हैं। 'ज्ञान चार प्रकार के होते हैं—श्रवण-ज्ञान, मनन-ज्ञान, निदिध्यासन-ज्ञान और अनुभव-ज्ञान।' (पृ० ६९) 'श्रवणज्ञान साधारणतः अग्निवत् होता है, मननज्ञान बिजली के समान होता है, निदिध्यासन-ज्ञान बड़वानल की भाँति होता है और अनुभव-ज्ञान महाप्रलय की अग्नि के सदृश होता है। यह अनुभव-ज्ञान संतों को होता है।' (पृ० ७०-७१)

'संतमत और राष्ट्रहित' शीर्षक निबंध 'संतमत प्रमादी नहीं, पुरुषार्थी बनाता है' शीर्षक से 'जग में ऐसे रहना' में संकलित हो चुका है। यहाँ से शीर्षक बदलकर सम्मिलित किया गया है। इसके विषय की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। परवर्ती संस्करण में इसका शीर्षक है 'संतों से वीरता और निर्भीकता का पाठ सीखें।'

'मानव का परम कल्याण' शीर्षक निबंध का निष्कर्ष है कि 'मानव परम कल्याण आत्मज्ञान में है। किन्तु जो बलहीन है, उनको आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।' (पृ० ९२) आत्मज्ञान के लिए योग-साधना की चर्चा की गयी है और उसके आठ अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के स्वरूप को समझाया गया है। इनमें ध्यान की बड़ी महत्ता है। समाधि तो एक प्रकार से इस ध्यान का फल है। ध्यान से सिमटाव होता है। पूर्व की साधनाएँ ध्यान की योग्यता प्रदान करती है। स्थूलरूप के ध्यान के बाद शून्य-ध्यान अर्थात् विन्दु-ध्यान किया जाता है। इससे पूर्ण सिमटाव होता है। विन्दु-ध्यान सुषुम्ना में होता है। सुषुम्ना में तीनों धाराएँ मिलती हैं। बायीं धार (इड़ा) में रजोगुणी और दायीं धार (पिंगला) में तमोगुणी वृत्ति रहती है। जब ये सतोगुणी वृत्ति (सुषुम्ना) में सिमटती है, तब रास्ता मिलता है और ध्यान सिद्ध होता है।' (पृ० १०२ के आधार पर) 'यहीं आज्ञाचक्र है और यहीं से अंतर्मार्ग का प्रारंभ होता है। यहाँ से सहस्त्रदलकमल, शून्य, महाशून्य, भँवरगुफा, सतलोक होते हुए परम प्रभु परमात्मा को प्राप्त किया जाता है।' (पृ०१०४)

'सुख-दुःख' में ११ निबंध या प्रवचन संकलित हैं। इसका प्रकाशन वर्ष १९९३ ई० एवं पृष्ठ संख्या १०० है। विषय-सूची प्रस्तुत करते हुए शीर्षकों के ऊपर प्रवचन लिखा गया है। लगता है प्रस्तुत पुस्तक के निबंध भी प्रवचनों के परिमार्जित रूप हैं। संभव है, इनमें से कुछ स्वतंत्र निबंध भी हों। प्रकाशित पुस्तकों में यह लेख के प्रकाशन-काल की दृष्टि से सबसे ताजा ग्रंथ है। इसमें संकलित सामग्री १९६८-१९७१ के बीच की है। इनमें से दो शीर्षकों के नीचे रचनाकाल अंकित नहीं है—'सांसारिक दुःखों से मुक्ति' तथा 'मन को एकाग्र करें।' सामग्री को देखने से ऐसा स्पष्ट होता है कि आज से लगभग २४-२७ वर्ष पहले ये लिखे गये थे। संभव है, 'ये 'शान्ति-संदेश' या अन्यत्र प्रकाशित भी हों। यदि इनके प्रकाशन-काल, प्रकाशन पत्रिका आदि का विवरण दे दिया गया होता, तो मूल्यांकन में अधिक सहूलियत होती।

विषयों की सूची देखने से ऐसा प्रतीत होता है

कि इस पुस्तक में भी प्रायः वे ही विषय हैं, जो किसी-न-किसी रूप में पिछली पुस्तकों में वर्णित हुए हैं। 'सुख-दुःख' शीर्षक निबंध में सुख और दुःख की अवधारणा तथा सुख-प्राप्ति तथा दुःख निवृत्ति के उपायों के बारे में बतलाया गया है। संसार में सर्वत्र किसी-न-किसी रूप में दुःख व्याप्त है। कोई अभाव को दुःख और भाव को सुख कहते हैं। किसी की दृष्टि से इच्छित वस्तु की प्राप्ति सुख और उसकी अप्राप्ति दुःख है। कोई कहता है कि न्यूनता या प्रचुरता में नहीं, बल्कि तृप्ति में ही सुख है। कुछ लोग कहते हैं कि संसार रमणीय है। संसार के सारे पदार्थ हमारे सुखोपभोग के लिए हैं। फिर दुःख कैसा? वह तो भ्रममात्र है। किन्तु सुखोपभोगों से कभी किसी को आत्यंतिक तृप्ति मिली है? विषय-भोग के घी के हवन से क्या कामाग्नि तृप्त हो सकती है? वस्तुतः सुख बाह्य जगत् में कहीं नहीं है। 'यदि यथार्थ सुख चाहो तो अपने अंदर धँसो और अंतर में अंतिम तह तक धँसकर देखो, तो वह सुख मिलेगा।' (पृ० २२)

'साधना में सफलता' के लिए आवश्यक है कि साधक धैर्य रखे, संलग्नचित्त हो निरंतर साधना करे। सभी को सफलता एक ही तरह से नहीं मिलती। जिसका चित्त परिशुद्ध और पूर्व उत्तम संस्कारों से युक्त रहता है, उसको सफलता शीघ्र मिलती है। जो रजोगुणी, आलसी, निरंतरता बनाये रखने में असमर्थ साधक होते हैं, उन्हें देर से सफलता मिल सकती है। परन्तु निराश होने की बात किसी के लिए नहीं है। 'धैर्यवान हो प्रयत्नपूर्वक उसमें लगा रहना चाहिए। सिद्धि या सफलता प्राप्त करने का यह अमोघ मंत्र है।' (पृ० २८) 'हम भी आशावादी, आस्तिकवादी और साहसी बन श्रम करें, फिर साधना में सफलता क्यों न मिलेगी?'

'सुख-दुःख में सम रहें' कहने में चाहे जितना आसान हो, व्यवहार में अत्यन्त ही कठिन है। 'साधु को समरस रहना चाहिए। हानि, लाभ, सुख-दुःख, निंदा, स्तुति, मान, अपमान आदि सभी अवस्थाओं में सम रहें। किन्तु यह समरसता-समत्व या समता आवे तो कैसे? संतों ने समत्व प्राप्त करने के लिए 'शम' के साधन का निर्देशन किया है, जो नादानुसंधान द्वारा सम्पन्न होता है। अतः विचार-द्वारा मन पर अंकुश ला, सुरत-शब्द-योग की साधना करनी अत्यन्त अपेक्षित है।' (पृ० ६५)

'शाश्वत सुख की प्राप्ति' का भी उपाय है। 'नित्य सत्य एवं शाश्वत सुख के लिए ईश्वर-भक्ति करनी चाहिए। ईश्वरस्वरूप इंद्रियातीत होने के कारण उसका सुख भी इंद्रियातीत है। अतएव इन्द्रियों के द्वारा उस सुख की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती और न कोई इंद्रिय उस संबंध में कुछ कह सकती है। जो इन्द्रिय का विषय नहीं, जो अनिर्वचनीय है, उसके संबंध में वाणी मूक है। (पृ० ८४)

'संतों की रहस्यात्मक वाणी' को समझना केवल 'सुनन्त' और 'पढ़न्त' विद्या से संभव नहीं है। 'संतज्ञान की मर्यादा जानने के लिए अनेक जन्मों के अर्जित पुरस्कारों की, सत्संग की, सद्गुरु-कृपा की और संयमित जीवनयापन करते हुए प्रयत्नशील होकर नित्य निरंतर सत्साधना की अपरिहार्य आवश्यकता है।' (पृ० ८७) केवल पारिभाषिक शब्दों का अर्थ जानने और संतवाणी के ऊपरी वाक्यपरक अर्थ समझने-समझाने से काम नहीं चलनेवाला है। बिना साधना के अधिकार नहीं मिलता कि कोई संत-साहित्य के मर्म के उद्घाटन का दावा करे। 'साधनहीन, आचरणहीन, केवल वाक्य-प्रवीण जन का प्रभाव नहीं पड़ता।' (पृ० ८९)

संतमत की विशेषता क्या है? संतमत में सभी संतों की मान्यता है। इसके मात्र तीन सिद्धांत हैं—गुरु, ध्यान और सत्संग। यदि और कुछ कहना चाहें, तो वे हैं सदाचार और स्वावलंबी जीवन। इसके पाँच विधि कर्म हैं और पाँच निषिद्ध कर्म हैं। यह किसी धर्म, मत, मजहब वा संप्रदाय आदि का खंडन नहीं करता। संतमत अपना सिद्धांत सबके सामने रखता है। इसकी बतायी गयी क्रिया-विधि अपनाने का अधिकार सभी को है। 'चाहे वे पढ़े-लिखे हों, अनपढ़े हों, धनी हों वा निर्धन हों, गृहस्थ हों वा विरक्त हों, पुरुष हों वा स्त्रियाँ हों, किसी भी धर्म या जाति के हों, इस देश के हों या दूसरे देश के हों, सभी कोई बेखटक साधना कर सकते हैं। संतमत का उद्देश्य सारे संसार के जनकल्याण के लिए हैं। (पृ० ९७)

यद्यपि इस पुस्तक के निबंधों में विषय की दृष्टि से पहले की पुस्तकों से कोई खास नवीनता नहीं है, परन्तु भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से इसमें अधिक प्रांजलता और सरलता है।

इनके अतिरिक्त अनेक प्रवचन या निबंध हैं,

जो पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो सके हैं। कहते हैं, इनकी संख्या हजारों में हैं। कुछ तो 'शान्ति-सन्देश' के पुराने अंकों में खोजने से मिल जा सकते हैं। प्राय: उन निबंधों में भी संतमत के किसी-न-किसी विन्दु से संबंधित विचार ही वर्णित-विवेचित हैं।

इन्होंने कुछ टीकाएँ भी की हैं। परम पूज्य महर्षि मेँहीं-कृत 'ईश-स्तुति और नाम-संकीर्तन की व्याख्या शीर्षक से 'शान्ति-संदेश' में उनके दो पदों की व्याख्या की गई है। इसी प्रकार 'शान्ति-सन्देश' के वर्ष १९६६ एवं १९६७ के कुछ अंकों में संत सुन्दरदासजी, संत रामचरण, सहजोबाई, बुल्ला साहब, दरिया साहब (बिहारी), संत सिंगाजी, दीन दरवेश, धन्ना भगत, पलटू साहब, मलूक दास एवं कबीर साहब के कुछ पदों के अर्थ और व्याख्याएँ भी प्रस्तुत हैं। इन व्याख्याओं को परिशोधन महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज ने किया है। अतएव इनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

यह भी कहा जाता है कि पूज्य महर्षि मेँहीं परमंहसजी महाराज के अधिकांश साहित्य के प्रकाशन के पूर्व पांडुलिपिबद्ध करने का काम भी इन्होंने किया है। इधर ये उनके प्रवचनों को पुस्तकाकार छापने का प्रयास में भी लगे हैं। 'महर्षि मेँहीं-वचनामृत, प्रथम खंड ऐसा ही प्रयास है। इसमें उनके सोलह प्रवचन संकलन हैं। इसका प्रकाशन १९८८ ई० में हुआ है। इस प्रकार पृष्ठभूमिरूप में महर्षि मेँहीं परमहंसजी के प्रवचन, अन्य साहित्य और जीवन, लेखक के लेखन-संस्कार के प्रेरक रहे हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

अभी तक वैचारिक धरातल पर लेखक-साहित्य के मूल विचार-विन्दुओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इनकी दार्शनिक विचार-सरणि, सिद्धांत-निष्ठा और क्रिया-कलाप का परिचय भी इसके माध्यम से सुलभ हो गया है। दर्शन और सिद्धांतवाद के धरातल पर इनका संपूर्ण साहित्य 'संतमत-सत्संग' के सिद्धांतवाद और अंतत: संपूर्ण संत-साहित्य के सिद्धांतवाद के अनुरूप है। इतना अवश्य है कि वेद, शास्त्र, पुराण और रामचरितमानस को जो प्रतिष्ठा 'संतमत-सत्संग' के साहित्य में है, वह मध्यकालीन संत-साहित्य में नहीं है। मध्यकालीन संत-साहित्य न तो वेद-प्रामाण्य को स्वीकार करता है और न ही शास्त्रीय और स्मार्त-परंपरा की जीवन-दृष्टि का कायल है। वह दाशरथि राम की भगवता को भी नहीं स्वीकार करता। अवतारवाद में उसका विश्वास नहीं है और न ही जाति या वर्ग की श्रेष्ठता को शास्त्रज्ञान या जन्म से जोड़ने का वह हिमायती है। 'संतमत-सत्संग' भी जाति, धर्म के पचड़े में नहीं पड़ता और भजन का दरवाजा सबके लिए खुला रखता है, पर वर्ण-व्यवस्था पर निर्मम चोट करके उसे धराशायी करने का जो पराक्रम, मध्यकालीन निर्गुण काव्य में सुलभ है, उससे अलग रहने का संकल्प 'संतमत-सत्संग' में दृष्टिगोचर होता है। मध्यकालीन संतकाव्य की क्रांतिकारी भूमिका में वर्ण, शास्त्रज्ञान, वेद-प्रामाण्य, अवतारवाद को नकारने का जो उत्साह है, वह धीरे-धीरे परवर्ती काल के संत-साहित्य से तिरोहित होता गया है। कालांतर में तो अवतारवाद को भी स्वीकार कर लिया गया है और संत स्वयं परम प्रभु के अंशावतार अथवा किसी देवी-देवता या पुराण महापुरुष के अवतार हो गये हैं। संत-परंपरा ने संभवतः इसे समय की माँग समझते हुए स्वीकार कर लिया है अथवा क्रांति की मशाल की लौ के मद्धिम हो जाने से ऐसा हुआ है। तुलसीदास आदि ने निर्गुणवादियों की भर्त्सना की और वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया। उन्होंने राम के चरित में अपने दृष्टिकोण पिरोने का यत्न किया। ऐसे राम को, उनकी भगवत्ता को कबीरादि ने स्वीकार नहीं किया। राम के परब्रह्मत्व पर कबीर सहमत हैं और अंततः सगुणवादी भी। परवर्ती काल में दोनों की सहमति को स्वीकृति मिली और तुलसीदास संतों में उद्धृत होने लगे। हिन्दी-समीक्षा में निर्गुणवादियों के लिए संत और सगुणवादियों के लिए भक्त शब्द प्राय: रूढ़ हो गया है, वर जनजीवन में यह विभेद नहीं है। समाज में तुलसीदासजी भक्त हैं और कबीर दासजी संत। इस पृथक्करण के मूल में जाने का यहाँ अवसर नहीं है।

'संतमत-सत्संग' के साहित्य के अंतर्गत महर्षि संतसेवीजी के साहित्य में संत-साहित्य की ऐतिहासिक परंपरा की सारी विशिष्टताएँ हैं। यह साहित्य सर्वधर्म-समभाव पर केन्द्रित है। 'संतमत-सत्संग' में किसी भी धर्म, देश, जाति, वर्ण अथवा धार्मिक मतवाद के व्यक्ति के लिए 'प्रवेश-निषेध' नहीं है। सभी के लिए

इसकी साधना-पद्धति के द्वार खुले हुए हैं।

इसकी क्रिया प्रणाली में कहीं कुछ ऐसा नहीं है, जो किसी धर्म-विशेष के मार्ग में बाधक हो अथवा किसी के विश्वास को चोट पहुँचाये। सत्संग में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो किसी के लिए वर्जित हो। 'जप' सभी जगह विहित है। किसी नाम पर जोर, जिद नहीं है। किसी भी धर्म, वर्ण का अनुयायी अपने अनुकूल परमात्मा का कोई नाम चुनकर जप कर सकता है। 'मानस ध्यान' में भी कोई प्रतिबंध नहीं है। उसके ध्यान की छवि किसी भी पवित्र आत्मा की हो सकती है। 'दृष्टियोग' और 'नादानुसंधान' में तो किसी धर्म, संप्रदाय या वर्ण के विश्वास से टकराव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार इसकी साधना प्रणाली बिना किसी के विश्वास में हस्तक्षेप करते हुए, सबके लिए परमात्म-सुख-प्राप्ति का दरवाजा खोले हुए है। ऊँच-नीच आदि का यहाँ कोई भेद-भाव नहीं, बल्कि जो जितना उपेक्षित है, पीड़ित है, वह यहाँ उतना ही वांछित तथा करुणा और स्नेह का अधिकारी है।

महर्षि संतसेवीजी का साहित्य मुख्यतः गद्य में है। कहा जाता है कि उन्होंने कुछ कविताएँ भी लिखी हैं, जिसका प्रकाशन 'महर्षि संतसेवी ज्ञान-गंगा' में प्रकाशित है। गद्य में भी मुख्यतः निबंध ही उन्होंने लिखे हैं। प्रवचनों को भी निबंध के रूप में परिमार्जन के साथ रूपांतरित कर प्रकाशित कराया गया है। तीन स्वतंत्र पुस्तकें भी हैं, जिनका मूल्यांकन पूर्व के पृष्ठों में किया गया है।

लेखक ने प्रवचन और निबंधों में अपनी बात को स्पष्ट करने और समझाने के लिए उद्धरणों और उदाहरणों का प्रायः आश्रय लिया है। प्राचीन काल से ही अपने प्रवचन को प्रभावशाली, व्यावहारिक, प्रकरण-सिद्ध और विश्वसनीय बनाने के लिए उसमें ऐतिहासिक, पौराणिक और लोकजीवन में प्रचलित कथा-प्रसंगों का आश्रय लिया जाता रहा है। महर्षि संतसेवीजी ने भी इस पद्धति का उपयोग किया है। उनके निबंधों/प्रवचनों में ऐसे अनेक कथा-प्रसंग हैं।

'जग में ऐसे रहना' में नारद-द्वारा वृद्ध से और फिर श्रेष्ठि से बैकुंठ चलने के आग्रह की कथा के द्वारा मोह को उजागर किया गया है (पृ० १८४-१८५), लोमड़ी और श्रेष्ठिपुत्र की कथा के द्वारा पुरुषार्थ को प्रेरित करने (पृ० ७६), नरेन्द्र और परमहंस रामकृष्ण की कथा के द्वारा साधनकाल में ऐषणा की विस्मृति (पृ० १३१) के प्रसंगों को उजागर किया गया है।

'सत्य क्या?' में सारिपुत्र को चारिका और श्रेष्ठि की कंजूसी, सारिपुत्र की कृतज्ञता और श्रेष्ठता (पृ०९८), मथुरा के भोजनभट्ट की कथा-द्वारा संतोष के अभाव (पृ० ७४), राजा जनक तथा अष्टावक्र आदि की कथा के द्वारा सत्य-असत्य का निरूपण (पृ० १७) किया गया है।

'योग-माहात्म्य' में सांकेतिक भाषा में धन-संकेत की श्रेष्ठिपुत्र की कथा (पृ० ४४-४५), राजा जनक एवं शुकदेव मुनि के भोगों में अनासक्ति की कथा (पृ० १६), 'सुख-दुःख' में समर्थ रामदास की सहनशीलता और करुणा की कथा (पृ० ९८), मेल के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए मरणासन्न वृद्ध और उसके पुत्रों की कथा (पृ० ९९), लकीर को बिना काट/मिटाये छोटा करने की अकबर-बीरबल की कथा (पृ० ९६), चरित्रवान आदमी के भाषण के प्रभाव पड़ने के प्रसंग में राजा और मंत्री की कथा (पृ० ८८), विषय-चिंतन के लिए काली-मंदिर में रामकृष्ण-द्वारा रानी रासमणि को थप्पड़ मारने का प्रसंग (पृ० ६८), दान में सड़ा अन्न देने के लिए लांछित करने के संदर्भ में श्रेष्ठि और उसकी पतोहू का दृष्टांत (पृ० ५१) आदि वर्णित हैं।

'लोक-परलोक-उपकारी' में ब्राह्मणी गौतमी और अर्जुनक व्याध की प्रतिहिंसा और करुणा की कथा (पृ० ४१), राजा चित्रकेतु के पुत्रवधू का दृष्टांत (पृ० ३०) तथा दत्तात्रेय और बारात की कथा के द्वारा एकाग्रचित्तता की महत्ता की प्रतिष्ठा (पृ० १७) की गयी है। 'गुरु-महिमा' में वसिष्ठ-नंदिनी और विश्वामित्र का दृष्टान्त (पृ० ८७), लोई के छूरा पर धार करने का प्रसंग (पृ० ८४), समर्थ रामदास, शिवाजी एवं सिंहनी के दूध का प्रसंग (पृ० ६८) अनुस्यूत हैं। इनके माध्यम से लेखक के पुराण, इतिहास, लोककथा आदि के ज्ञान के साथ उनके सामयिक विनियोजन की क्षमता का भी परिचय मिलता है।

दृष्टान्तों के अतिरिक्त उद्धरणों का एक विशाल कोश भी इनके पास है। संत-वचन के बाद सर्वाधिक उद्धरण योगोपनिषदों के मिलते हैं। वेद, पुराण आदि के भी उद्धरण हैं, पर वे संख्या में कम हैं। प्राचीन

उपनिषदों में मुंडक, छांदोग्य आदि के उद्धरण प्रायः मिल जाते हैं। 'गीता' और 'रामचरितमानस' के उद्धरण क्रमशः चौथे और तीसरे नंबर पर है। ज्यादातर इनका उपयोग साक्ष्य के तौर पर किया गया है। इनके साहित्य में उद्धरणों के माध्यम से अपने मंतव्य को प्रामाणिक बनाने की चेष्टा है और सत्संगी जनता को यह विश्वास कराना भी कि जो कुछ कहा या बताया जा रहा है, वह निर्मूल, कल्पना या प्राचीन परंपरा-विरोधी नहीं है। इस प्रकार संत-साहित्य, मानस, योगोपनिषद्! और गीता-उद्धरण इनकी विचार-सरणि के मुख्य स्त्रोत रहे हैं। भारतीय जनता में इनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है और सभी में प्रायः इनके प्रति पूज्य-बुद्धि है। इनके अलावा दूसरे धर्म के विचारों में तुलनात्मक या समर्थनमूलक अनुशीलन के लिए उनके धर्मग्रंथों से भी उद्धरण दिये गये हैं, पर उनकी संख्या थोड़ी है। यह स्वाभाविक भी है।

निबंध के विषय में शास्त्रीय चिंतन और सिद्धांत-कथन में नहीं उलझकर इतना ही कहना अपेक्षित होगा कि निबंध प्रायः किसी विषय को उसकी पूर्ण आनुसंगिकता के साथ प्रायः समास-शैली में उपस्थित करने की अभिव्यक्ति-पद्धति है। यह ठीक है कि विषय और लक्ष्य की भिन्नता के कारण उसकी शैली, अभिव्यक्ति-विधान और शब्द-संपदा के विनियोग में भिन्नता आती है। पर इस बात में भेद की गुंजाइश नहीं है कि अंततः निबंध का लक्ष्य सुग्रथितरूप से किसी विचार को प्रस्तुत करना होता है। लेखक के निबंधों को यदि इस कसौटी पर कसें, तो हमें निराश होने का कोई कारण नहीं मिलेगा। इनके निबंधों की भाषा समर्थ, संस्कृतनिष्ठ और व्याकरण-सम्मत है तथा इनमें निर्धारित विषय को सांगोपांग प्रस्तुत करने का कौशल है।

ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ शुष्क विषय को भी काव्यात्मक शब्दावली-द्वारा मोहक बनाने का प्रयास किया गया है। प्रकृति के दृश्य-चित्रण और मनोवृत्ति के उद्वेलन के प्रसंगों में यह कल्पनाशीलता और काव्यात्मकता ज्यादा स्पष्ट दिखायी पड़ती है। उदाहरणार्थ–'मलय पर्वत से जब पवन प्रवाहित होता है, तब वह शाल, शीशम, नीम, बबूल प्रभृति सार-संयुत तरु को सुवासित कर चंदन बना देता है; किन्तु उसके निकट आक, अरंड और बाँस जैसे सारहीन वृक्ष ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं, सुगंधित नहीं हो पाते–चंदन नहीं बन पाते। (सुख-दुःख, पृ० ६६) अथवा 'इस विशाल ब्रह्मांड के अंतर्गत सूर्य, चन्द्र तथा उडुगण अपने-अपने आलोक से गगनमंडल के सहित इस भूतल को आलोकित करते हैं। ग्रीष्मकालीन प्रचंड गर्मी तथा लू से संतप्त एवं व्यथित मानवहित निशीथ में चंद्र अपनी शीतल धवल चंद्रिका विखेरता है। साथ ही उसमें सौंदर्य, माधुर्य एवं विशेष शीतलता प्रदान करने के लिए वायु भी अपनी शीतल मंद सुगंध मिला देती है।' (जग में ऐसे रहना, पृ० १) भावोच्छ्वास को व्यक्ति करनेवाले स्थल भी अनेक हैं। एकाध नमूना प्रस्तुत है–"धन्य हैं क्षत्रियकुलोद्भव श्रीलक्ष्मणजी और धन्य हैं उनकी सदाचारिता, रामभक्ति और संस्कृतबुद्धि। किन्तु उस ब्राह्मण कुलांगार, ब्रह्मा के प्रपौत्र और ऋषि पुलस्त्य यश विमल मयंक' में कलंक लगानेवाले, कामी, क्रोधी, लालची एवं व्यभिचारी विभीषण को क्या कहा जाए?"

(लोक-परलोक-उपकारी, पृ० ९७)

महर्षि संतसेवीजी का शब्द-संयम गंभीर आध्यात्मिक अनुभूति पर आश्रित है। इनका अलंकार-विधान सुचारु है। इससे इनकी भाषा में अनुप्रास का सौंदर्य आता है, श्रुतिमधुरता की वृद्धि होती है और इनके भाषा-कौशल का परिचय मिलता है।

'हमें दुरालोचन-लोचन-विमोचन कर विवेक-विलोचन का निरावरण करके अवलोकन करना चाहिए।...।' (जग में ऐसे रहना, पृ० ११३) 'छः के परे तीन में यदि कोई प्रवीण हो जाए, तो वह दीन न रहकर दीनेश जो जाएगा।' (वही, पृ० २०१)

'अंतःप्रकाश की आवश्यकता क्यों' शीर्षक काव्यात्मक उद्‌गार, जो 'लोक-परलोक-उपकारी' के प्रथम पृष्ठ पर अंकित है, के कुछ वाक्यांश देखिये–'दंपति में परस्पर भरा-पूरा प्यार हो, घर में नन्हे-मुन्ने-मुन्नियों की अहर्निश किलकार हो, पद-प्रतिष्ठा और प्रभुत्व के कारण संसार में जय-जयकार हो; लेकिन जबतक अपने भीतर घोर अंधकार हो, तबतक भव-कारागार-बद्ध भविष्य जीवन हाहाकार है' आदि...।

किन्तु, चमत्कारपूर्ण एवं काव्यात्मक वाक्य-विन्यास के ऐसे स्थल विचार-प्रवाह में बाधक बनकर प्रायः नहीं आते। इनके ध्वनि-सौंदर्य से

मनःप्रसादन ही होता है और विज्ञजन चमत्कृत भी होते हैं। कुछ निबंधों के शीर्षक से बौद्धिकता के आग्रह की भी सूचना मिलती है। 'नौ दो ग्यारह', 'छः तीन नौ' तथा 'तीन से हीन होने की कला'—इन निबंधों में अंक क्रीड़ा के माध्यम से अध्यात्म-तत्त्व को समझाने की चेष्टा की गयी है।

भाषा और अभिव्यक्ति को सक्षम और विषय को ग्रहणीय बनाने के लिए लेखक ने लोक-जीवन, खासकर दैनंदिन जीवन के प्रसंगों और उदाहरणों का आश्रय लिया है। जैसे—ईश्वर को 'पावर हाउस' और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न वाटों के बल्ब कहना, दूध मथने, दूध से पूड़ी नहीं छाने जाने, स्कूली बच्चों को स्कूल जाने में भय आदि के प्रसंग।

लेखक की भाषा संस्कृतनिष्ठ है, साहित्यिक है और परिनिष्ठित है। जहाँ प्रवचन, प्रवचन के रूप में ही प्रकाशित हुए हैं, वहाँ भाषा में प्रवाह है और सरलता है।

संत-साहित्य पर लिखने का अधिकार सभी को नहीं है। जो स्वयं इस दिशा में साधना-द्वारा कुछ अर्जित कर साधना के मर्म से अवगत नहीं हो सके हैं, उनके लिए तो इसपर लेखनी चलाना अनधिकार चेष्टा है। लेखक के विचार हैं—'शब्दजाल तो चित्त को भटकानेवाला एक महा वन है। विभिन्न प्रकार की शब्द रचनाएँ, सुंदर भाषा में बोलने के विभिन्न ढंग और शास्त्र मर्म की नाना प्रकार से व्याख्या करना—ये सब पंडितों के भोग के लिए ही हैं। इनसे अंतर्दृष्टि का विकास नहीं होता। जो लोग इन उपायों से दूसरों को धर्म की शिक्षा देते हैं, वे केवल अपना पांडित्य प्रदर्शित करना चाहते हैं। उनकी यही इच्छा रहती है कि संसार में उन्हें बड़ा विद्वान मानकर उनका सम्मान करे। संसार के प्रधान आचार्यों में से कोई भी शास्त्रों की इस प्रकार नानाविध व्याख्या करने के झमेले में नहीं पड़ा। उन्होंने श्लोकों के अर्थ में खींचातानी नहीं की। वे शब्दार्थ और धात्वर्थ के फेरे में नहीं पड़े। फिर भी उन्होंने संसार को बड़ी सुंदर शिक्षा दी। इसके विपरीत उनलोगों ने, जिनके पास सिखाने को कुछ नहीं, कभी एकाध शब्द को ही पकड़ लिया और उसपर तीन भागों की मोटी पुस्तक लिख डाली, जिसमें उस शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, किसने उस शब्द का सबसे पहले उपयोग किया, वह क्या खाता है, वह कितनी देर सोता है आदि का वर्णन रहता है।' (गुरु महिमा, पृ० १३२) उपर्युक्त उद्धरण के आलोक में अनुभवहीन शब्दविलासी आदमी के लिए संत-साहित्य का विवेचन-विश्लेषण अनधिकार चेष्टा है। अतः शब्द-व्यवसायी समीक्षक के लिए भी साहित्य-समीक्षा के कार्य को नहीं विराम देना उपयुक्त होगा; क्योंकि संत कबीर साहब के शब्दों में यह सब कुछ 'बातन कहा न जाई हो' है।

'पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिये को सोभा नहीं, देखे ही परवान ॥'

❑

१. लक्ष्मी पूजा

भारतान्तर्गत यह पूजा प्राचीन काल से प्रचलित है। यह पूजा कार्तिक कृष्ण अमावस्या की रात्रि में हुआ करती है। लोग बड़े ही उत्साह से धूम धाम के साथ इस त्योहार को मनाते हैं। सभी अपने घर दरवाजों को साफ-सुथरा करते हैं, मकानों को लीप-पोतकर बरसात की गंदगियों को दूर भगाते हैं और बाहर-भीतर घर-दरवाजों को अनेक रंग-बिरंगी रोशनियों से सुसज्जित कर उस अमानिशीथ की तमिस्त्रा को दूर भगाते हैं। सभी नवीन वस्त्राभूषणों से आभूषित हो चतुर्दिक उज्ज्वल आलोक का अवलोकन करते हैं। सभी प्रसन्न मुद्रा में आनंद विभोर हो एक दूसरे से मिलते हैं और उस दिन सबके सब उस महोत्सवानन्द की लहर में अपने को खोया हुआ पाते हैं। अब प्रश्नोदय होता है कि इस तिथि में लोग ऐसे आनंद विह्वल क्यों होते हैं? क्या यह पूजा का त्योहार केवल उसी तिथि भर की आनंदोपलब्धि के लिए ही मनाया जाता है अथवा इसके अंतस्थल में कोई गुप्त रहस्य अथवा गुप्त भावना भी निहित है? प्रत्युत्तर में 'नहीं' कहने से गुंजाइश नहीं हो सकती, बल्कि कहना पड़ेगा कि अवश्य ही इसके अंदर कोई गुप्त भावना भी संनिहित है और वह यह कि श्री लक्ष्मी देवी का शुभागमन मेरे यहाँ हो और मैं खुशी होऊँ। तो क्या इस महोत्सव में श्रीलक्ष्मीजी का पदार्पण सभी गृह में होता है? कभी नहीं। यदि सभी गृह में लक्ष्मीजी का पाद-पद्म पहुँच जाता, तो आज भारतवासी दाने-दाने के लिए क्यों तरसता तथा अन्नाभाव में जो इसे दूसरे देश का मुहताज होना पड़ता है, वह क्यों होता? ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न सहज ही उदय होता है कि तब लक्ष्मीजी जाती कहाँ है? तो इसका उत्तर सरल है कि कोई भी सर्व साधारण जन वहाँ जाता है, जहाँ उसका प्रेमी या प्रेमपात्र होता है। अब विचारणीय है कि लक्ष्मीजी का प्रेमपात्र कौन है? यह सभी जानते हैं कि अपने प्रिय पदार्थ को कोई भी छोड़ना नहीं चाहता। या तो उसके पास स्वयं जाता है अथवा उसको ही अपने समीप बुला लेता है।

प्रेम खेलनवा यही विशेष,
मैं तोहि देखूँ तू मोहि देख।
प्रेम खेलनवाँ यही स्वभाव,
तु चलि आव कि मोहि बुलाव ॥

प्रेमियों की गति ही विचित्र है, वह एक दूसरे से क्षणभर के लिए भी पृथक् होना पसंद नहीं करता। चाहे उसका प्रेमी मनुष्य हो या जानवर। कहना नहीं पड़ेगा, यह तो प्रायः सभी देखा करते हैं कि कुत्ते के प्रेमी शौकीन जन रेलगाड़ी के फर्स्ट क्लास में बैठकर कुत्ते को भी समीप में ही बैठाते हैं। इस भाँति जानना चाहिए कि लक्ष्मीजी का जो प्रिय होगा, वह उसी के पास में जाकर बैठेंगी अथवा उसी को अपने निकट बैठाएँगी। लक्ष्मीजी के चित्र में उनके निकट उल्लू पक्षी रहता है, अतः स्पष्ट है कि उल्लू ही लक्ष्मीजी का प्रिय है और उसी के निकट वह जाती हैं। या यों भी कह सकते हैं कि जिसके पास लक्ष्मीजी जाती हैं, तो वह उसे उल्लू बनाकर अपना वाहन बना लेती हैं। लक्ष्मीजी का आना तो अभी दूर ही है कि उनके आह्वान की अभीप्सा में ही प्रदीपकादि जलाकर लाखों-करोड़ों जीवों की हत्या कर महाहत्यारा बन पाप के भोगी होते हैं। (*महाराज अशोक के राज्य में इस जीव हिंसा के डर से यह दीपमालिका नहीं मनायी जाती थी। आज भी जैन धर्मावलंबी जीव हिंसा के डर से रात में विशेष प्रदीपादि नहीं जलाते, बल्कि रात में वे लोग भोजन भी नहीं करते। किन्तु सर्वसाधारण के लिए मध्यमार्गावलम्बी होना ही मंगलमय होगा। न तो विशेष रोशनियों को जलाकर हिंसा पाप के भागी बनें और न बिल्कुल प्रकाश हीन हो अँधेरे में टटोलें। बल्कि मध्य में रहकर अपना काम निकालें अर्थात् जितने प्रकाश से अपना काम चल सके, उतना ही जलावें। शौक में आकर विशेष रोशनियों को न जलावें।*) और उनके (लक्ष्मीजी के) आने पर तो कहना ही क्या, वह धनमद में धर्माधर्म का भी

ज्ञान भूल जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने ठीक ही कहा है–'श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि' उल्लू पक्षी को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता, उसे अँधेरी रात सुहाती है। उसी प्रकार जिनके पास लक्ष्मीजी रहती है, उन्हें अध्यात्मज्ञानरूप सूर्यप्रकाश अच्छा नहीं लगता। उसे तो आधिभौतिक रूप अँधेरी रात ही अच्छी लगती है और वे चेतन की उपासना छोड़कर जड़ उपासी बनते हैं। धन-ऐश्वर्यादि स्थूल पदार्थों को पाकर उसकी बुद्धि भी स्थूल हो जाती है। संतों ने तो लक्ष्मी धनैश्वर्य को माया कहा है और कहा है कि यह माया तो छाया की तरह है। छाया माया या लक्ष्मी एक स्थान में स्थिर नहीं रहती, नित्य नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि यदि उसे पकड़ने चलिए तो वह पकड़ में नहीं आती। आप अपने शरीर की छाया को ही पकड़ने जाइए, तो आप उसे पकड़ नहीं सकते। आप जितना उसका पीछा करेंगे, वह उतना ही आगे भागती जाएगी। किन्तु उसे पकड़ना छोड़कर आप उलट कर अपना रास्ता पकड़ लीजिए, तो वह आपके पीछे-पीछे आएगी। उसी प्रकार आप माया या लक्ष्मी को मानिए। यदि आप उसे प्राप्त करने के लिए चलिए तो वह भागती ही जाएगी और यदि आप उसे पकड़ना छोड़ उस ओर से उलटकर मायापति या लक्ष्मीपति परमात्मा की ओर का रास्ता पकड़िये, तो वह आपके पीछे-पीछे चलेगी, गोया आपकी दासी बन जाएगी। इसीलिए तो संत कबीर साहब ने कहा–

प्रभुता को सब कोइ भजै, प्रभु को भजै न कोइ।
कह कबीर प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होइ॥

केवल संत कबीर साहब ही नहीं, वरन् सभी संतों ने माया को छोड़कर निर्मायिक-तत्त्व परमात्मा को ग्रहण करने कहा। उन्होंने तो यह भी कहा कि धनैश्वर्य या मायिक पदार्थों को पाकर तुम अपने को गौरवान्वित मत समझो, बल्कि तुम अपने को दृढ़ बंधन में जकड़े हुए समझो। संत कबीर साहब का ही यह वचन है–

पड्यो माया के जाल, रह्यो मन फूलिकै।
गर्भवास की त्रास, रह्यो नर भूलि कै॥

भगवान् बुद्ध ने भी कहा है–

नतं दलहं बन्धन माहु धीरा यदायसं दारुजं बब्बजञ्च।
सारत्त रत्ता मणिकुण्डलेसु पुत्तेसु दारेसु चया अपेक्खा।
–धम्मपद गाथा, ३४५

अर्थात् यह लोहे, लकड़ी या रस्सी का बंधन है, उसे बुद्धिमान (जन) दृढ़ बंधन नहीं कहते। (वस्तुतः दृढ़ बंधन है जो यह) मणि, कुंडल, स्त्री, पुत्र में इच्छा का होना है। राधास्वामी साहब ने कहा है–

पहला बंधन पड़ा देह का,
दूजा बन्धन तिरिया जान।
तीजा बन्धन पुत्र विचारो,
चौथा नाती मान।
नाती के फिर नाती हो गये,
तब बन्धन का कौन ठिकान।
धन संपत्ति और हाट हवेली,
यह बन्धन क्या करूँ बखान।
चौलड़ पँचलड़ सतलड़ रसरी,
बाँध लियो तोहि बहुविधि तान॥

अतः इस लक्ष्मी देवी के मनाने, उसे प्राप्त करने अथवा उसे अपने गृह में आह्वान करने के फेर में न पड़कर उससे पृथक् रहना ही साधक के पक्ष में हितकर एवं कल्याणकर है। किसी ने यह ठीक ही कहा है–

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
इक खाये बौरात नर, इक पाये बौराय॥

मदमस्त, उन्मत्त एवं विषयासक्त जन से परमात्म-भजन होना कब संभव है? संतों ने बताया है कि जो लक्ष्मी आती और जाती है, उसके लिए तुम क्यों हैरान होते हो, जो तुम्हें उल्लू रूप वाहन बनाएगी। इतना ही नहीं, धनमद में मस्त होकर यदि तुम अध्यात्म-पथ से च्युत हुए, तो चौरासी लाख योनियों में जाकर सूकर और कूकर के शरीरों को पाकर अत्यधिक कष्ट के भागी होगे।

कहै कबीर चेत अजहुँ, नहिं फिर चौरासी जाई।
पाय जन्म सूकर कूकर की, भोगेगा दुख भाई॥
(संत कबीर साहब)

इसलिए उस लक्ष्मी की ओर से मुँह फेर कर तुम अपने अंदर की लक्ष्मी की प्राप्ति में अपनी सारी

शक्तियों को लगा दो। जो तुम्हारे अंदर अंग-संग सदा सर्वावस्था में अवस्थित है और तुम उसे प्राप्त कर सको, तो वही तुम्हारा वाहन बन जाएगी। अंतः बाहर की लक्ष्मी को खुशामद करना छोड़ अपने अंदर की लक्ष्मी की आराधना करो। अंतर आराधना के लिए तुम्हें अपने अंदर में प्रवेश करना होगा। अंतर प्रवेशार्थ बाह्यावलोकन बंद करो। अर्थात् नेत्र बंद कर अंतरावलोकन करो। आँख बंद कर अंतरावलोकन करने से तुम्हें अमावस्या की काली रात प्रत्यक्ष हो जाएगी, जिसमें तुम श्रीलक्ष्मीजी का पूजन कर सकोगे। किन्तु हाँ! इसमें एक बात अत्यन्त दृढ़ करके जानो कि 'बिन गुरु होहिं कि ज्ञान'? यदि तुम्हारे सामने वह अमावस्या की काली निशा प्रकट भी हो जाए, तो तुम उसमें लक्ष्मीजी की उपासना या आराधना करोगे तो कैसे? इसके लिए तो किसी क्रियावान शुद्धाचरणी गुरु से संकेत समझकर ही करने में कुशल है। अन्यथा युक्ति विहीन रहकर अंधकार में टटोलने से क्या लाभ होगा? अतः सद्‌गुरु से लक्ष्मी आराधना की युक्ति जानकर साधनारम्भ करो। यदि तुम गुरु संकेतित निर्दिष्ट स्थान पर अपनी दृष्टि धारों को एकत्र कर स्थिर कर सको, तो तुम्हें उसी स्थान पर विन्दुरूप लक्ष्मी का प्रत्यक्ष दर्शन होगा।

जिस प्रकार बाह्य संसार की ठाकुरवाड़ी में भगवान विष्णु और श्रीलक्ष्मीजी के विग्रह को प्रत्यक्ष देखते हो, उसी भाँति तुम्हारे शरीररूपी ठाकुरवाड़ी में नादरूपी विष्णु और बिन्दुरूप लक्ष्मी विराजमान हैं। किन्तु उन्हें देखने की कला किसी जानकार से जानकर देखो। योगशिखोपनिषद् में लिखा है—

विन्दुनाद महालिंगं विष्णुलक्ष्मी निकेतनम्।
देहं विष्णवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्व देहिनाम्॥

बिन्दुरूप लक्ष्मी और नादरूप विष्णु तुम्हारे अंग संग हैं। साधन द्वारा यदि इस विन्दुरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर सको, तो वह तुम्हारा वाहन बन जाएगा। अर्थात् तुम विन्दु पर आरूढ़ हो प्रकाशमंडल की सैर कर सकोगे। गुरु नानकदेव ने इसी विन्दु को तारा कहा है और उन्होंने कहा कि 'मैं फाँदकर तारा पर चढ़ गया।' 'तारा चड़िया लम्मा।' इसी प्रकार जो साधक दृढ़ ध्यानाभ्यास करेगा, तो वह अवश्य ही बिन्दुरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर शब्दरूप विष्णु को भी प्राप्त कर लेगा। योगशिखोपनिषद् में ही लिखा है—'विन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम्।' अर्थात् विन्दुपीठ का भेदन करके नाद या शब्द उपस्थित होता है। यह नाद या शब्द ब्रह्मध्वनि है। इसका अवलंब लेकर भक्त-साधक ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। संत कबीर साहब ने कहा है—

शब्द गह्यो जिव संशय नाहिं साहेब भयो तेरे संग।

यह जानकर साधक को चाहिए कि अपने अंदर स्थित लक्ष्मी की नित्य उपासना करें और इसी उपासना के द्वारा परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर चिरन्तन परमानन्द के अधिकारी बनें।

(संतमत-सत्संग मंदिर, मनिहारी, दिसम्बर, १९५३)

२. क्या तथागत नास्तिक थे?

संसार के समस्त आस्तिक धर्मों में एक ईश्वर की मान्यता है, चाहे वे उसे अपनी-अपनी भाषा में ब्रह्म, गॉड वा स्वर्गस्थ, अल्लाह, बुद्ध, अहुरमज्द, तितीन, जेहोवा आदि किसी नाम से अभिहित क्यों न करते हों। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि जिस धर्म में ईश्वर की मान्यता वा आस्था है, वह आस्तिक धर्म है और जिसमें ईश्वर की मान्यता वा आस्था नहीं, वह नास्तिक धर्म है।

विचार करने पर नास्तिक भी दो तरह के प्रतीत होते हैं—एक पूर्ण नास्तिक और दूसरे अर्द्ध नास्तिक। जो ईश्वर और जीव, इन दोनों में से किसी के कभी अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, वह पूर्ण नास्तिक है और जो केवल जीव की स्थिति मानता है, ईश्वर की नहीं, वह अर्द्ध नास्तिक है।

वर्तमान युग में कतिपय सज्जन भगवान् बुद्ध को भी नास्तिक कहने लगे हैं। उनका कहना है कि

उन्होंने ईश्वर, आत्मा व जीवात्मा का प्रतिपादन अपने वचनों द्वारा कहीं नहीं किया।

मेरी समझ से ऐसा कहना अपनी अदूरदर्शिता और विशाल बौद्ध साहित्य से अपनी अनभिज्ञता का परिचय देने के सिवा और कुछ नहीं। बौद्धग्रंथ में अनेक स्थल पर अत्ता (आत्मा), नाथ, शरीर कर्ता आदि शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। बुद्ध के अन्य ग्रंथों की तो बात ही क्या, उनकी छोटी पुस्तिका, जो धम्मपद के नाम से प्रसिद्ध है, के कई स्थलों पर उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग किया है। यथा–

अत्ताहि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ।।
–अत्तवग्गो

अर्थात् आत्मा ही आत्मा का स्वामी है, भला कोई दूसरा उसका स्वामी क्या होगा? आत्मा (जीवात्मा) को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामी परमात्मा को प्राप्त करता है।

कुछ विद्वानों ने 'नाथं' शब्द का अर्थ 'स्वामित्व का' भी किया है; किन्तु विचारणीय है कि यहा 'नाथ' शब्द द्वितीया कारक में प्रयुक्त होने के कारण इसका अर्थ 'स्वामी को' होना चाहिए। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने उपर्युक्त गाथा का अर्थ इस प्रकार किया है–'पुरुष अपने ही अपना मालिक है, दूसरा कौन मालिक हो सकता है। अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर (वह एक) दुर्लभ मालिक को पाता है।' (धम्मपद, १९५७, बुद्ध विहार, लखनऊ से प्रकाशित)

पुनः इसी धम्मपद के जरावग्गो में उन्होंने 'गहकारक! दिट्ठोसि....' कहकर स्पष्ट संबोधन किया है कि हे 'शरीररूप' गृह के निर्माण करनेवाले! मैंने तुम्हें देख लिया...।

वेदान्त ग्रंथ, उपनिषद् एवं संतवाणियों में जगत् को नाम-रूपात्मक कहा है और नाम-रूपात्मक जगत् को माया और मिथ्या कहा है। छान्दोग्य (६-१ और ७-१), बृहदारण्यक (१-६-३), मुण्डक (३-२-८) और प्रश्न (६-५) आदि उपनिषदों में बारंबार बतलाया गया है कि नित्य बदलते रहनेवाले अर्थात् नाशवान नाम-रूप सत्य नहीं है; जिसे सत्य अर्थात् नित्य स्थिर तत्त्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टि को इन नाम-रूपों से बहुत आगे पहुँचाना चाहिए। इसी नाम-रूप को कठ (२-५) और मुण्डक (१-२-९) आदि उपनिषदों में अविद्या तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४-१०) में माया कहा है।

नामरूप विहीनात्मा पर संवित् सुखात्मकः ।
तुरीयातीत रूपात्मा शुभाशुभ विवर्जितः ।।
(तेजोविन्दूपनिषद्)

और भगवान बुद्ध कहते हैं–

सव्वसो नामरूपस्मिं यत्स नत्थि ममाथितं ।
असता च न सोचति स वे भिक्खूति बुच्चति ।।
–धम्मपद, भिक्षुवग्गो

अर्थात् नाम-रूप (जगत्) में जिनकी बिल्कुल ममता नहीं और असत् के लिए जो शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।' (रामचरितमानस) इस तरह उपनिषद् ग्रंथों वा संतों की वाणियों से भगवान् बुद्ध के वचन में कोई पृथक्कता का भान नहीं होता, वरं एकता का ही ज्ञान होता है।

परमात्म-स्वरूप के लिए किसी ने 'अनाम' कहा है, तो किसी ने 'निःशब्दं' कहा है। तीसरा व्यक्ति यदि उसके लिए स्वयं निःशब्द रह जाता है अर्थात् उसका कुछ नाम नहीं कहता, इसलिए तीसरा ईश्वर को नहीं मानता है, यह कहाँ तक युक्तिसंगत है? विचारवान विचार सकते हैं। 'अनाम' का अर्थ 'नाम-रहित' होता है। इसलिए जिसका नाम ही नहीं, उसको किसी ने 'अनाम' कहा और किसी ने नाम नहीं कहा, मौन रहा, तो इसमें फर्क ही क्या पड़ा?

ईश्वर-स्वरूप की जिज्ञासा के उत्तर में 'चुप होना' हम उपनिषद् के वाह्व-वाष्कल-सम्वाद में तथा योगवाशिष्ठ के ऋषि और भगवान् श्रीराम के संवाद में भी पाते हैं। श्रीराम ने वशिष्ठ से पूछा कि आत्म-स्वरूप क्या है? प्रश्न करने पर वशिष्ठजी चुप रहे। श्रीराम के तीन बार पूछने पर भी वशिष्ठजी ने कुछ उत्तर नहीं दिया, बिल्कुल चुप रहे। श्रीरामजी ने हाथ जोड़कर पूछा–गुरुदेव! आप मुझसे रुष्ट तो नहीं हो गये हैं कि मैं बारंबार जिज्ञासा करता हूँ

और कुछ उत्तर नहीं देते। ऋषि ने कहा—प्रिय वत्स! मैं आपसे रुष्ट नहीं, बल्कि आप जबसे पूछ रहे हो, तबसे उत्तर दे रहा हूँ। इसका उत्तर ही चुप है; क्योंकि वह अवर्णनीय है, अव्यक्त है, इन्द्रियातीत है, उसका वर्णन इन्द्रियों से कैसे हो सकता है? यदि ईश्वर-स्वरूप के संबंध में चुप रहनेवाले को अनीश्वरवादी कहा जाए, तो इस दृष्टि से वाह्व मुनि और ऋषि वशिष्ठ को क्या कहा जा सकता है? जिन वशिष्ठ मुनि को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के गुरु होने का गौरव प्राप्त था।

कितने विद्वान् तथागत को शून्यवादी बताकर उन्हें तिरस्कृत दृष्टि से देखते हुए कहते हैं कि वे ईश्वरवादी नहीं थे। किन्तु क्या, शून्यवादी—आस्तिक नहीं होते? मात्र बुद्ध ही नहीं, प्रायः समस्त संतों की वाणी में हमें शून्य की चर्चा भरपूर मिलती है। यथा—

बस्ती न शून्यं शून्यं न बस्ती अगम अगोचर ऐसा।
—गोरखनाथजी

शून्य ध्यान सबके मन माना। (संत कबीर साहब)

भ्रम भै मोह न माइया जाल।
सुन्न समाधि प्रभु किरपाल॥
—गुरु नानकदेव

इक पहर एकान्त ह्वै कै शून्य ध्यान लगावनं।
—संत पलटू साहब

'सुन्नी सुन्न के पारा, अगुण सगुण नहिं दोई।'
'सुन्नहिं मारग आइया, सुन्नहिं मारग जाई।'
—संत दादू दयाल

भन चरणदास ताड़ी लगै तो सुन्न शिखर में मंडिता।
—संत चरणदासजी

शून्य को ही आकाश वा अवकाश कहते हैं। गो० तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में चिदाकाशवासं भजेहं कहकर शिवजी के आत्मस्वरूप का और 'नभ सत कोटि अमित अवकासा' कहकर परमात्म रामस्वरूप का वर्णन किया है। तंत्रशास्त्र में भी हम शून्य की चर्चा पाते हैं, यथा ज्ञानसंकलिनीतंत्र में है—'न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्य गतं मनः।' महर्षि मेँहीँ परमहंस की वाणी में हम पढ़ते हैं—

सुन्न अरु महासुन्न भँवर गुफाहु गुन,
तहँ सतधुन धारा, गुरुरूप सारा,
धरि स्तुति मिलु सत नाम रे।

इतना ही नहीं, उपनिषत्कर्ता ऋषि के महावाक्य में भी हम शून्य वा आकाश का वर्णन पाते हैं। मंडलब्राह्मणोपनिषद् के चतुर्थ ब्राह्मण में कहा है—"आकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पंच भवन्ति। बाह्याभ्यन्तरमन्ध कारमयमाकाशम्। सबाह्यस्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम्। अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम्॥"

अर्थात् वर्णित पंचाकाशों में पंचमाकाश को अकथ सर्वव्यापक और सर्वोत्तम आनंद आदिशब्दों से विभूषित कर उसे परम तत्त्व माना है। तो क्या, उक्त उपनिषद् प्रणेता ऋषि नास्तिक थे? यदि नहीं, तो भगवान् बुद्ध कैसे नास्तिक हुए?

संत कबीर साहब, गुरु नानक साहब, गो० तुलसीदासजी आदि संतों की वाणियों में हम जिस निर्वाणपद की चर्चा पाते हैं, भगवान् बुद्ध की वाणी में उसका विशद विवेचन पाते हैं। फिर इनमें कोई आस्तिक और कोई नास्तिक कैसे हो गये? समझ में नहीं आता। निम्नलिखित वाणियों के अध्ययन से हमें निर्वाण संबंधी एक झाँकी मिल सकेगी।

जहाँ पुरुष तहँवाँ कछु नाहीं, कहै कबीर हम जाना ।
हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरवाना ॥
—कबीर साहब

शबदि धरु पाइऐ निरवाणी पदु नीति।
—गुरु नानक साहब

जाकी लगी अनहद तान हो निर्वाण निर्गुण नाम की।
—संत जगजीवन साहब

सुखकंद अनहद नाद सुनि दुख दुरित क्रम भ्रम भाज
सतलोक घर सो पानि धुनि निर्वाण यहि मन बाज॥
—दूलनदासजी

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वाण।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पशु बिनु पूंछ विषाण॥
—गोस्वामी तुलसीदासजी

वर्तमान युग में संत महर्षि मेँहीँ की वाणी में भी हम निर्वाण की काफी चर्चा पाते हैं—

'अलख अगम अनाम सो, सत पद सुर्त रली।
पायेउ पद निर्वाण सन्तन्ह सब कहत अली॥'
'सुरति शब्द सों चढ़िय अमर घर, घट अंतरपूजि रामा।'
'मेँहीँ दास' दया सतगुरु को पाइये पद निर्वाणा।'
'करि सतधुन को ध्यान, लहै सन्त अनाम।
यहि निर्मल निर्वाण, भजो लक्ष्य गुरु ए॥' इत्यादि

वेद, उपनिषद् एवं संतों की वाणियों में हम सदाचार-पालन करने की प्रेरणा पाते हैं। इतना ही नहीं, 'ब्रह्माण्ड पुराणोत्तरगीता' में भी इसकी चर्चा है और उसमें तो यहाँ तक कहा गया है कि ब्रह्मवत् परिशुद्ध हुए बिना कोई ब्रह्म को नहीं पा सकता।

नव छिद्रान्विता देहाः स्नुवत्ते जालिका इव ।
नैव ब्रह्म न शुद्धं स्यात् पुमान् न विन्दति ॥

कहै कबीर निज रहनि सम्हारी।
सदा आनंद रहै नर नारी॥
—संत कबीर साहब

सूचै भाड़ै साँचु समावै बिरले सूचाचारी।
—गुरु नानक साहब

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

अर्थात् जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान-द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता।

और भगवान् बुद्ध भी पंचशील पालन अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार-विरत रहने का आदेश देते हैं। उन्होंने तो स्पष्ट ही कहा है कि जो उपर्युक्त पंच पापों को करता है, वह संसार में अपनी ही जड़ खोदता है।

यो पाणमतिपातेति मुसावदञ्च भासति ।
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति ॥
सुरामेरय पानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति ।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूल खनति अत्तनो ॥
—धम्मपद, मलवग्गो

महर्षि मेँहीँ के वचन में भी हम पढ़ते हैं—"झूठ बोलना, नशा खाना, व्यभिचार करना, हिंसा करनी अर्थात् जीवों को दुःख देना वा मत्स्य-मांस को खाद्य पदार्थ समझना और चोरी करनी; इन पाँचो महापापों से मनुष्यों को अलग रहना चाहिए।"—संतमत-सिद्धांत और गुरुकीर्तन

गुरु, ध्यान और सत्संग की गुण-गाथा प्राचीन ऋषि-मुनि से लेकर अर्वाचीन साधु-संतों तक ने मुक्तकंठ से गायी है और भगवान् बुद्ध ने इन्हीं तीनों को 'त्रिशरण—बुद्धं धम्मं च संघं शरणं गतो' नाम से उद्घोषित किया, तो इसमें उन्होंने कोई अतिशयोक्ति वा नयी बातें क्या कही? जिस हेतु वे तिरस्कृत किये जाएँ?

यह बात भी ध्यान देनेयोग्य है कि जहाँ अनात्मवाद में पुनर्जन्म का लवलेश स्थान नहीं है, वहाँ भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने अनेक जन्मों की चर्चा की है, जिन्हें हम जातक कथा में पढ़ सकते हैं। तथा धम्मपद के निम्नलिखित वाक्य भी जन्मान्तर-वाद का प्रबल समर्थक है।

अनेक जाति संसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारक गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥
—जरावग्गो

अर्थात् अनेक जन्मों तक मैं संसार में लगातार भटकता रहा, शरीररूप गृह-निर्माण करनेवाले की खोज में बार-बार का जन्म दुःखमय हुआ।

जहाँ अनीश्वरवादी परलोक में विश्वास नहीं करते, शरीर-सुख को ही सब कुछ मानते हैं, स्थूल शरीर छूटने के बाद उनके विचार से कुछ रह नहीं जाता। वहाँ भगवान् परलोक में विश्वास करते हैं, शरीर-सुख को ही सब कुछ नहीं समझते और शरीर छूटने के बाद भी कुछ रह जाता है, जो स्वयं नरकादि का भोग करता है। जहाँ नास्तिक सिद्धांत है—'संदिग्ध स्वर्ण मुद्रा की अपेक्षा हस्तगत कौड़ी ही विशेष मूल्यवान है। कल मुझे सोने का मयूर मिलेगा, इस आशा से आज हाथ में आये हुए कबूतर को कौन छोड़ सकता है?' आदि। वहाँ भगवान् बुद्ध के वचन में पढ़िए—

मत्ता सुख परिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं ।
चजे मत्ता सुखं धीरो सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥
—धम्मपद, पकिण्णवग्गो

अर्थात् थोड़े सुख के परित्याग से यदि अधिक सुख प्राप्ति की संभावना दीखे, तो बुद्धिमान जन

अधिक सुख के ख्याल से अल्प सुख का त्याग कर दे। फिर उन्हें अकारण ही नास्तिक कहकर घोषित किया जाए, तो क्यों?

हमारी बुद्धिमत्ता का विशेष परिचय तो तब होता है, जब हम एक ओर तो 'केशव धृत बुद्ध शरीर' कहकर विष्णु के दश अवतार में एक मानकर उन्हें भगवान् शब्द से विभूषित करते हैं और दूसरी ओर उन्हें नास्तिक कहकर तिरस्कृत एवं बहिष्कृत करते हैं, बाहरी हमारे तर्क एवं विवेकशील बुद्धि। अतएव अब हम गंभीरतापूर्वक विचार कर देखें कि तथागत आस्तिक थे वा नास्तिक?

दिसम्बर.१९५३

हठयोग और राजयोग–मनोनिग्रह

मन या चित्तवृत्ति-निरोध को ही योग कहते हैं। यौगिक प्रसाधनों में मनोनिग्रह के बिना कोई सफलीभूत नहीं हो सकता है। अतएव मनोनिग्रहार्थ योगियों के किसी एक संप्रदाय ने हठयोग का और दूसरे संप्रदाय ने राजयोग का आश्रय लिया। हठयोग पिपीलिका मार्ग के नाम से विख्यात है और इसके प्रवर्त्तक वामदेव मुनि हैं तथा राजयोग विहंगम मार्ग के नाम से विख्यात है और इसके प्रवर्तक शुक मुनि हैं।

शुक वामदेवश्च द्वै सृती देव निर्मिते।
शुको विहंगमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका।।
(वराहोपनिषद्)

हठयोग में प्राणायाम (पूरक, कुम्भक और रेचकादि) प्रक्रिया द्वारा प्राणस्पंदन का अवरोध कर मनोनिग्रह करने पर जोर दिया जाता है और राजयोग में नाड़ी-शोधन तथा प्राणायाम के झंझटों से बिल्कुल अछूता रहकर शांभवी मुद्रा द्वारा मनोनिग्रह करने पर ध्यान दिया जाता है। यद्यपि हठयोग–प्राणायाम प्रक्रिया द्वारा भी मनोनिग्रह होना संभव है, फिर भी यह कुछ विशेष कठिन एवं क्लेशदायक है, जो सर्व साधारण से सधने योग्य नहीं। शांडिल्योपनिषद् में आया है–

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्।।

अर्थात्–जैसे सिंह, हाथी और बाघ धीरे-धीरे काबू में आते हैं, इसी तरह प्राणायाम (अर्थात् वायु का अभ्यास कर वश में करना) भी किया जाता है, प्रकारान्तर होने से वह अभ्यासी को मार डालता है।

यह बिल्कुल सत्य है कि योग के प्रथम और द्वितीय अंग यम-नियम की प्राप्ति और आसनसिद्धि के बिना प्राणायाम विशेष लाभदायक नहीं होगा। किन्तु हठयोगियों का कथन है–प्राणायाम द्वारा प्राणवायु शुद्ध होगा और वायु अवरुद्ध होने पर मन भी टिकेगा। किन्तु प्राणायाम द्वारा मन पूर्णरूपेण निग्रह हो, यह पूर्ण संभव प्रतीत नहीं होता। जैसे कि शास्त्रों में प्राणायाम की बहुत प्रशंसा की गयी है; किन्तु यह भी कहा गया है, जैसा कि श्रीमद् भागवत पुराण में मिलता है कि वायु को जीतने पर भी मन नहीं जीतने से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। इससे विदित होता है कि प्राणायाम द्वारा वायु जीतने पर भी मन नहीं जीता जाता।

विचारणीय तो यह है कि मन प्राणवायु से उच्च है; क्योंकि प्राणवायु मन का अनुसरण करता है; परन्तु मन प्राणवायु का अनुसरण नहीं करता। काम, क्रोध से उत्तेजित होने पर श्वास की गति तीव्र हो जाती है और मन शान्त होने पर प्राण (वायु) निग्रह न करके (ध्यानाभ्यास द्वारा) मन का निरोध किया जाता है। जिससे प्राणवायु का निरोध हठ के बिना स्वयं हो जाता है। ध्यानाभ्यास करते-करते मन जैसे-जैसे स्थिर होता जाता है, वैसे-वैसे वायु भी स्वतः अवरुद्ध होता जाता है और जब साधक साधन द्वारा एकविन्दुता प्राप्त कर लेता है, तो उसका पूर्ण मनोनिग्रह हो जाता है। मन के पूर्ण निग्रह हो जाने पर प्राणस्पंदन भी बिल्कुल अवरुद्ध हो जाता है। इसके लिए उपनिषदों में अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं। यथा–

द्वादशांगुल पर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥
चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥

अर्थात् जब ज्ञानदृष्टि (सुरत, चेतन-वृत्ति) नासाग्र से बारह अंगुल पर स्वच्छ आकाश में स्थिर हो, तो प्राण का स्पन्दन रुद्ध हो जाता है। जब चेतन अथवा सुरत भौंओं के बीच के तारक-लोक (तारा-मंडल) में पहुँचकर स्थिर होती है, तो प्राण की गति बन्द हो जाती है। हृदयाकाश में संकल्प- विकल्प और वासनाहीन मन से बहुत दिनों तक ध्यान करने से प्राण की गति रुक जाती है, इत्यादि।

वायु स्पंदन अवरुद्ध होने का दूसरा कारण यह भी है कि वायु स्थूल है और मन सूक्ष्म है। इसलिए स्थूल पर सूक्ष्म का प्रभाव होना स्वाभाविक एवं पूर्ण संभव है और सूक्ष्म के ऊपर स्थूल का प्रभाव होना असंगत और असंभव भी है। महायोगी गोरखनाथजी महाराज ने 'हठयोग प्रदीपिका' में हठयोग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है कि राजयोग के ज्ञान से विहीन हठयोग केवल श्रममात्र ही है, फलदायक नहीं।

राजयोगमजानन्तः केवलं हठधर्मिणा।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयागफलं वर्जितान्॥
—हठयोग प्रदीपिका, उपदेश ४

मुक्तिकोपनिषद् में लिखा है—

विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्तुभिः॥

भावार्थ—जो मूढ़ व्यक्तिगण हठात् (दुराग्रह से) चित्त जीतने को उद्यत होते हैं, वे मदमस्त गजराज को कमल-नाल के तन्तु में बाँधते हैं। (अर्थात् जैसे कमल-नाल के तन्तु में मदमस्त गजराज बाँधा नहीं जा सकता, वैसे ही हठात् चित्त जीता नहीं जा सकता)। मनोनिग्रह करने में असमर्थ होकर वीर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से जब कहा कि—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

इसके उत्तर में भगवान ने प्राणायाम की कुछ भी चर्चा न करते हुए 'असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (गी० अ० ६) कहकर अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन को वश में करने की आज्ञा दी। इस पर अर्जुन ने पुनः जिज्ञासा नहीं की कि भगवन्! अभ्यास (ध्यान-अभ्यास) कैसे किया जाता है, इसकी प्रक्रिया मुझे बतलाइए। क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण ने ध्यानाभ्यास की क्रिया उन्हें पहले ही बता दी थी—

समं काय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
(गीता, अध्याय ६)

तीसरी बात यह है कि जातीय पदार्थ को जातीय पदार्थ से सहायता मिलती है, विजातीय पदार्थ से नहीं। अंधकार को अंधकार से और प्रकाश को प्रकाश से सहायता मिलती है, न कि अंधकार को प्रकाश से और प्रकाश को अंधकार से। उदाहरणार्थ—अमानिशीथ की काली घटा में जब गगनमंडल काले-काले बादलों से आच्छादित हो, उस समय आपकी दृष्टि शक्ति अच्छी रहने पर भी आपको कोई पदार्थ अवलोकित नहीं होता। अथवा मध्याह्नकालिक स्वच्छ आकाश में, जबकि प्रचंड सूर्य की प्रखर किरणों से संपूर्ण जगत आलोकित हो रहा हो और आपकी आँखों में ज्योति नहीं हो; ऐसी अवस्था में भी आपकी दृष्टिशक्ति अच्छी हो यानी आँखों में प्रकाश और बाह्य जगत् में भी (चिराग, लालटेन, बिजली, चन्द्र या सूर्य प्रभृति किसी का) प्रकाश हो, ऐसी अवस्था में दर्शनीय सभी पदार्थ आपको दृष्टिगोचर होंगे।

अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मन सूक्ष्म है और दृष्टि भी सूक्ष्म है। इसलिए मनोनिग्रहार्थ (सूक्ष्म) मन को (सूक्ष्म) दृष्टि से मिलनी पूर्ण संभव है। इसके लिए जाग्रत और स्वप्नादि अवस्थाओं की परिस्थितियों पर विचार करने से इसका स्पष्ट ज्ञान होगा। जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में दृष्टि चंचल रहती है और मन भी चंचल

रहता है और सुषुप्ति अवस्था में दृष्टि का काम बंद होने से मन का काम भी बंद हो जाता है। किन्तु स्मरण रहे कि उस समय (यानी सुषुप्ति अवस्था में) श्वास-प्रश्वास की क्रिया बंद नहीं होती, चलती ही रहती है। इससे भी स्पष्ट है कि मनोनिरोधार्थ वायु अवरोध की अपेक्षा दृष्टिनिरोध की विशेष आवश्यकता है।

उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता में आये हुए 'नासाग्र नासिकाग्रं तथा भ्रूमध्ये' दृष्टि साधन की क्रिया का ही संकेत करता है। जिसे शांभवी और वैष्णवी मुद्रा भी कहते हैं। इसी क्रिया के द्वारा दृष्टिनिरोध होता है। यह क्रिया या मुद्रा गुरुगम्य है।

(जनवरी,१९५५ ई०)

४. भक्ति और उसके संयम

स्थूल, पिण्ड, पांचभौतिक एवं त्रिगुणात्मक होने के कारण सामान्यतः सभी प्राणी त्रिविध तापों–दैहिक, दैविक तथा भौतिक से सतत संतप्त होते अवलोकित होते हैं। यद्यपि इस व्यथा-पूरित जीवन में आनंदकण-प्राप्ति के क्षण भी उपलब्ध होते हैं, तथापि उनसे कहीं अधिक–अत्यधिक दुःख की कड़ियाँ गिनते-गिनते जीवन की घड़ियाँ व्यतीत होती हैं। त्रिविध ताप-तापित जन इनसे मुक्ति पाने के लिए यदि कुछ प्रयास भी करता है, तो अविलंब ही उसके समक्ष दुर्जय दुर्दान्त मानस-विकार अपना शिकार बना उसे उदरस्थ करने को उद्यत हो उठता है।

ऐसी विषम परिस्थिति में अज्ञ प्राणी स्वधैर्य खो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और शोक-सागर में निमग्न होता हुआ सोचने लगता है–क्या, इन दुःखों से मुक्ति पाने के लिए कोई यत्न नहीं? क्या, इनके प्रहाण का कोई साधन नहीं? क्या, इन व्याधियों के समूल नष्टार्थ कोई औषधि वा उपचार भी नहीं? हाय! कोई पथ-प्रदर्शक भी नहीं दीख पड़ता, जो भव-जनित इन प्रबल त्रय-व्याधियों से निष्क्रमण करने का प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित कर सकें। इस भाँति व्याधि-विह्वल प्राणी चतुर्दिक अंधकार-ही-अंधकार देख, हतोत्साह हो, स्व जीवनोत्सर्ग करने के लिए उतारू हो जाता है।

प्राणियों की कारुणिक दशा देख, 'संत सरल चित जगत हित' तथा 'पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥' को चरितार्थ करते हुए भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज आते हैं और उन दीन-हीन, संकटापन्न, भवरुज संत्रस्त एवं निरुत्साहित प्राणियों को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं–घबड़ाओ मत, अधीर न होओ, धैर्य धारण को नष्ट करने के लिए अमोघ है और वह है परमात्म-भक्ति।

प्रबल भवजनित त्रय व्याधि भेषज
भक्ति भक्त भैषजज्यमद्वैत दरसी।
संत भगवन्त अंतर निरंतर नहिं
किमपि मत विमल कह दास तुलसी॥

अतएव परमात्मा पर दृढ़ विश्वास कर उनकी भक्ति करो तो उनकी कृपा से निश्चय ही तुम्हारे सभी रोग समूल नष्ट होंगे।

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा।
जौं एहि भाँति बनइ संजोगा॥
सदगुरु बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के कहने का तात्पर्य यह है कि भवरोग से ग्रसित जीव सद्गुरु वैद्य से राम-भक्ति संजीवनी-बूटी प्राप्त कर श्रद्धायुक्त होकर सेवन करेगा और विषयासक्ति रूप कुपथ्य नहीं करेगा, (वैराग्ययुक्त रहेगा) तब वह रोगमुक्त हो जाएगा।

विचारणीय है कि यदि कोई व्याधिग्रस्त जन संयम की अवहेलना कर केवल भेषज-सेवन करे तो वह उससे लाभान्वित नहीं हो सकता। ठीक इसी भाँति यदि कोई भक्त भक्तिमार्ग में निर्देशित संयमों का तिरस्कार कर केवल भक्ति करे, तो वह उस लाभ से

वंचित रहेगा, जो अभीष्ट है। दूसरी बात यह है कि भक्तिमार्ग में भक्ति सिर है, तो सदाचार पैर। जैसे सिर हीन जन मृतक होता है और पद-विहीन जन पंगु, वैसे ही भक्ति-विहीन जन मृतवत् है और संयम विहीन जन पगहीन, पगहीन जन एक डेग चलने में भी असमर्थ होता है, उसी तरह संयमशून्य भक्त भक्ति मार्ग में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव भक्तिमार्गी का संयमी होना अत्यन्त अपेक्षित है।

अंग्रेजी वर्णमाला के 'Q' ओर 'U' में घनिष्ट संबंध रहता है। शब्दान्तर्गत जहाँ कहीं भी 'Q' का प्रयोग होता है, वहाँ अनिवार्य रूप से 'U' रहता है। जैसे–Quarter, Enquary प्रभृति। इसी भाँति भक्ति के साथ संयम वा सदाचार अनिवार्यरूप में रहता है। इन दोनों को भी भिन्न-भिन्न करना कठिन ही नहीं, वरन् असंभव है। कोई भी सदाचार-अतिक्रमणकारी कभी भी भक्त नहीं हो सकता। उससे न तो भक्ति ही हो सकती है और न वह परमात्म-स्वरूप वा आत्मस्वरूप को ही उपलब्ध कर सकता है। कठोपनिषद् में सुस्पष्ट कहा है कि 'जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान-द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है।'

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

ब्रह्माण्डपुराणोत्तर गीता में लिखा है–मानवगण इन्द्रिय-संयम करके देहाभिमान और रागादि परित्याग पूर्वक साक्षात् ब्रह्मवत् परिशुद्ध हुए बिना ब्रह्म को लाभ नहीं कर सकते।

नवच्छिद्रान्विता देहाः स्नुवन्ते जालिका इव।
नैव ब्रह्म न शुद्धं स्यात् पुमान् ब्रह्म न विन्दति॥

ईश्वर-भक्ति और विषयानुरक्ति दोनों एक साथ नहीं हो सकते। यह मन तुला सदृश है, इसके जिस पल्ले पर अधिक भार होगा, वह नीचे और जिस पर कम भार होगा, वह ऊपर उठेगा। ईश्वर-भक्ति का पल्ला वजनदार होगा, तो विषय का पल्ला हल्का होकर ऊपर उठेगा और यदि विषय-वासना का पल्ला वजनदार होगा, तो ईश्वर-भजन का पल्ला हल्का होकर ऊपर उठेगा। आखिर मन तो एक ही है, चाहे इसे जिस ओर लगावें।

कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाय।
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाय॥
चींटी चावल ले चली, बिच में मिल गई दार।
कह कबीर दोउ ना मिलै, इक लै दूजी डार॥
–कबीर साखी संग्रह

ऐसे दो प्रकार के कर्म एक ही साथ नहीं हो सकते, जो आपस में उल्टे-उल्टे हों। जैसे हँसना और रोना, दानी और कृपण, दिन और रात इत्यादि।

दुइ कि होइ एक समय भुआला।
हँसब ठठाय फुलाउब गाला॥
दानि कहाउब अरु कृपणाई।
होइ कि षेम कुसल रौताई॥
–रामचरितमानस

पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड्ग, देखा सुना न कान॥
जहँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ नाम नहिं काम।
कह कबीर दोउ ना मिलै, रवि रजनी इक ठाम॥
–कबीर साखी संग्रह

काम और नाम इन दोनों के रखनेवाले को गो० तुलसीदासजी ने 'वंचक भक्त' की उपाधि दी है–

वंचक भक्त कहाइ राम के।
किंकर कंचन कोह काम के॥
–रामचरितमानस

संतों की उपर्युक्त वाणियों का आशय यह नहीं कि लोग 'गृह-आँगन वास का त्याग करें, गुह कानन जाय निवास करे।' बल्कि–

गृही बान्हि जो रहे उदासी।
कह कबीर हम तिनकी दासी॥
–संत कबीर साहब

जो कोइ साधू गृही में, माहिं राम भरपूर।
दरिया कह उस दास की, मैं चरणन की धूर॥
–संत दरिया साहब, मारवाड़ी

गृहस्थ हो या विरक्त, जो जिस आश्रम में रहते हों, वे उस आश्रम-धर्म का पालन करते हुए, संयम-संयुक्त हो ईश्वर की भक्ति करें। संयम के अर्थ–परहेज, हानिकारक या बुरी वस्तुओं से बचने की क्रिया, रोक, इन्द्रिय-निग्रह, मनोनिग्रह प्रभृति होते

हैं। किसी भी व्यवसाय अथवा व्यवहार में 'अति' का सर्वथा अभाव, भक्त के पक्ष में हितकर है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।'

अति का भला न बोलना, अति का भला न चूप।
अति का भला न बरसना, अति का भला न धूप॥
—कबीर साखी संग्रह

'महायोगेश्वरो हरिः' भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद् भगवद्गीता के षष्ठ अध्याय में स्पष्ट कहा है—'हे अर्जुन! अतिशय खानेवाले या बिल्कुल न खानेवाले और खूब खानेवाले अथवा जागरण करनेवाले को (यह) योग सिद्ध होता है—

नात्यश्नतस्तु योगीऽस्ति चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

बल्कि जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है और सोना जागना परिमित है, उसको यह योग दुःख घातक अर्थात् सुखावह होता है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥

"खाये भी मरिए अणखाये भी मरिए।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए॥
धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा।
अहिनिसि लेबा ब्रह्म अगिनि का भेवं॥
हठ न करिबा, पड़े न रहिबा।
यूं बोल्या गोरख देवं॥८॥"

साधक को स्वावलंबी होना चाहिए। अपने पसीने की कमाई से उसे अपना निर्वाह करना चाहिए। थोड़ी-सी वस्तुओं को पाकर ही अपने को संतुष्ट रखने की आदत लगाना उसके लिए परमोचित है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से खूब बचते रहना और दया, शील, संतोष, क्षमा, नम्रता आदि मन के उत्तम और सात्विक गुणों का धारण करते रहना, साधक के पक्ष में अत्यन्त हितकर है।

मत्स्य-मांस का भोजन तथा मादक-द्रव्यों का सेवन मन में विशेष चंचलता और मूढ़ता उत्पन्न करते हैं, साधकों को इनसे अवश्य बचना चाहिए।

ज्ञान बिना कर्तव्य-कर्म का निर्णय नहीं हो सकता। कर्तव्य-कर्म निर्णय के बिना अकर्तव्य-कर्म भी किया जाएगा, जिससे अपना परम कल्याण नहीं होगा। इसलिए ज्ञानोपार्जन अवश्य करना चाहिए, जो विद्याभ्यास और सत्संग से होगा।

जो कोई संयम-संयुक्त हो संत सद्गुरु द्वारा निर्देशित भक्ति मार्ग पर चलेंगे, उनपर ईश्वर की कृपा आप ही होगी और वे निश्चय ही भव-व्याधि से मुक्त होंगे। किन्तु स्मरण रहे कि ईश्वर उन्हीं की मदद करते हैं, जो अपनी मदद आप करते हैं। 'God helps those who help themselves.' गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने भी अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा है कि—

जौं तेहि पंथ चलइ मन लाई।
तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥
—विनय-पत्रिका

अतएव धीरे-धीरे ही सही; किन्तु यदि अनवरत रूप से गंतव्य मार्ग पर चलते रहे, तो मार्ग की दूरी कितनी भी क्यों न हो—निर्दिष्ट स्थान पर, कभी-न-कभी अवश्य पहुँचेंगे। 'Slow and steady wins the race.' (शान्ति-संदेश, मार्च १९५८)

५. सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य

देश और काल के अनुसार प्रायः धर्म में भिन्नता का बोध होता है। जैसे भारतीय वैदिक धर्मावलंबी वेदशास्त्र विहित कर्म को 'धर्म' कहते हैं, मुसलमान अपने कुरान के अनुकूल चलने में 'धर्म' समझते हैं और ईसाई बाइबिल में निर्देशित कर्म को 'धर्म' कहते हैं। यदि किसी ईसाई के सामने गो-मांस का एक टुकड़ा हो और वह अपनी अथवा दूसरे की जीवन-रक्षा के लिए उसका व्यवहार न करे, तो वह अवश्य अपनी ओर से एक अधर्म का बोध करेगा। किन्तु यदि कोई वैदिक धर्मावलंबी गो-मांस का एक टुकड़ा स्वयं खा ले अथवा किसी अन्य वैदिक धर्मावलंबी को दे, तो वह उससे कम अधर्म की

बात नहीं सोचेगा। सामान्यतः कोई व्यक्ति किसी का सिर फोड़ डाले, तो वह धर्मच्युत कहलावेगा और न्यायालय में वह दंड का भागी होगा। किन्तु वही मनुष्य किसी चोर, डाकू, लुटेरा वा आततायी की हत्या कर डाले, तो वह न तो धर्मच्युत कहला सकता है और न विधान के अनुकूल दंड का भागी होगा। प्रत्युत् वह धर्मधर कहलाकर पुरस्कार का भागी होगा। पुनः वही मनुष्य सैनिक बनकर युद्धस्थल में अपने शत-शत शत्रुओं का काम तमाम कर डाले, तो वह कदापि अधर्मी नहीं कहला सकता। बल्कि वह धर्मधीर और वीर कहकर संबोधित करने योग्य होता है।

एक दूसरी सुस्पष्ट बात यह भी है कि एक देश का धर्म दूसरे देश के लिए अधर्म होता है। उदाहरणार्थ—एक देश में चचेरे भाई-बहन (विवाह) ब्याह कर लेते हैं, दूसरे देश में ऐसा करना घोर अधर्म समझा जाता है। एक देश में बड़े भाई की स्त्री से विवाह करना उचित है, दूसरे में अनुचित। एक देश में पुरुष वा स्त्री को केवल एक ही विवाह करने का अधिकार है, दूसरे में अनेक। इस भाँति सभी का एक ही धर्म कहा नहीं जा सकता।

एक बात और है, और वह है—जातीय अस्पृश्यता। अपने को ऊँची जाति के माननेवाले अन्त्यज का स्पर्श करना भी नहीं चाहते। यदि किसी तरह उससे स्पर्श हो जाए, तो उसके लिए वे प्रायश्चित करते हैं। किन्तु आपत्काल में वे ही श्रेष्ठ जन उस अन्त्यज के स्पर्श करने की बात तो कौन कहे, उसके (उच्छिष्ट) जूठन तक को खा लेने में अधर्म का बोध नहीं करते, बल्कि आपद्धर्म कहकर सद्धर्माभिमानी बनते हैं। उपनिषद् में एक ऋषि की कथा कि 'अकाल से पीड़ित होकर दीर्घकाल के उपवास के अनंतर उन्होंने एक शूद्र को उड़द खाते देखा। बहुत माँगने और समझाने पर शूद्र ने उनको जूठन उड़द दे दिये। उड़द खाने के बाद शूद्र ने जल भी देना चाहा। ऋषि ने अस्वीकार किया और बतलाया कि 'मेरे प्राण क्षुधा के कारण प्राण जानेवाले थे, मैं इन उड़दों से शरीर-रक्षा करके अब धर्माचरण की इच्छा करता हूँ। ये उड़द मैंने आपत्ति के कारण स्वीकार किये हैं। जल तो जाकर निर्झरी में पी लूँगा। तुम्हारे स्पर्श से प्राप्त जल लेने से मैं धर्मभ्रष्ट हो जाऊँगा। (कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक पृष्ठ १६६)

इस भाँति धर्म की गति अति सूक्ष्म और चक्कर में डालनेवाली होती है। कर्मवीर मानव के जीवन में ऐसे अनेक मौके आते हैं, जब वह अपने कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय स्वयं नहीं कर पाता। वह सोचता है—यह करूँ वा वह? ऐसे अवसर पर यदि सुयोग्य मार्गदर्शक उसे मिल जाता है, तब तो उसकी डूबती किश्ती किनारे लग जाती है, नहीं तो कर्ण-धार के अभाव में कितने अपनी आत्महत्या कर लेते हैं, कितने पागल बन जाते हैं और कितने की क्या-क्या दुर्दशाएँ होती हैं, इसके अनेक इतिहास हैं। जैसे डेनमार्ग के एक प्राचीन राजा को उसके भाई ने मार डाला और उसकी पत्नी को अपनी स्त्री बनाकर स्वयं राजा बन राज्य करने लगा। प्राचीन राजा का एक पुत्र था, जिसका नाम था हैमलेट। अब उस राजपुत्र के मन में यह द्वंद्व उत्पन्न हुआ कि ऐसे पापी चाचा की हत्या कर पुत्र धर्म के अनुसार अपने पिता के ऋण से मुक्त होऊँ अथवा अपने सगे चाचा, अपने माता के पति और वर्तमान राजा पर दया करूँ? उस समय उसका मार्ग-दर्शन करनेवाला कोई न हो सका। इस ऊहापोह में फँस कोमल हृदय हैमलेट की क्या दशा हुई, अवर्णनीय है। दिन-रात चिंता में निमग्न रहते-रहते वह पागल हो गया और 'जियें या मरें' इस बात की चिंता करते-करते उसका अंतिम क्षण व्यतीत हुआ।

यही मोह महाभारत के मैदान में अर्जुन को हुआ था। वह विचारने लगा कि कौरव और पांडव दो नहीं हैं, एक ही हैं। सभी स्वजन, भाई-बंधु हैं। हम सब एक साथ पले हैं, एक साथ रहे हैं। द्रोणाचार्य हम दोनों (कौरव-पांडव) के गुरु और भीष्म पितामह हैं। इनके साथ युद्ध करना न्यायोचित नहीं, सरासर अन्याय है। यद्यपि कौरव अन्यायी हैं, आततायी हैं, हमारे (पांडवों के) साथ बहुत ही बुरे सलूक किये हैं, हमारी धन-संपत्ति को अन्याय से अपने अधिकार में कर लिये हैं, द्रौपदी जैसी सती का भरी सभा में अपमान किया है इत्यादि—ये सब

दोष उनके अवश्य हैं। फिर भी उन सबको मारकर मैं क्या ले लूँगा? वे मूढ़ हैं, मैं कुछ समझ-बूझ रखता हूँ। मैं समझ-बूझकर उन अज्ञानियों से अज्ञानी की भाँति लड़ूँ–युद्ध करूँ, उचित नहीं। अपने स्वजन संबंधियों की हत्या कर रक्त सने राज्योपभोग की अपेक्षा संन्यासी बन भिक्षान्न से अपना जीवन-यापन करना अधिक कल्याणकर होगा।

ऐसे अवसर पर 'महायोगेश्वरो हरिः' भगवान् श्रीकृष्ण जैसे महारथी उनके पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं और कहते हैं–अर्जुन! तुम किस मोह में फँसे हो? नपुंसक की भाँति तुम क्या बक रहे हो? क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध में प्रवृत्त होना तुम्हारा धर्म है। इसके बाद भगवान ने उसे स्व-पर भेद को मिथ्या बताकर सांख्य ओर योगवादानुसार आत्म-अनात्म का ज्ञान–शरीर की अनित्यता और आत्मा की नित्यता का उपदेश दिया और कहा कि फलाशा त्यागकर अपने कर्तव्य-कर्म में प्रवृत्त होओ। वह समय युद्ध का था, इसलिए भगवान ने कहा–'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।' (गीता ८/७) अर्थात् सर्वदा–सब काल में मेरा स्मरण कर और जूझता रह।

'धर्मज्ञान' में बुद्धि चकित होने का अन्यान्य अनेकानेक बातें हैं। जैसे सभी सद्ग्रंथ, संत और भगवन्त एक स्वर से कहते हैं–'धर्म' अर्थात् सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शान्ति, क्षमा, दया प्रभृति का पालन करो। किन्तु क्या, इन धर्मों के पवित्र पालन में सभी सब क्षण सक्षम हो सकते हैं? जैसे अहिंसा ही को लीजिए। यदि हमारे देश पर कोई आक्रमण करे तो क्या, 'अहिंसा परमोधर्मः' कहकर अपने देश को लूटने वा परतंत्र होने देना चाहिए? कभी नहीं। हम भले ही अन्यों पर पहले आक्रमण न करें; किन्तु आक्रमणकारी को हटाने के लिए, देश को सुरक्षित रखने के लिए हमें अपनी जानों पर खेलना ही 'धर्म' होगा। उसके लिए युद्ध करना ही होगा। स्वयं मरना और उन्हें मारना होगा। ऐसी परिस्थिति में जहाँ युद्ध करना अनिवार्य हो, वहाँ उपर्युक्त 'अहिंसा' धर्म का पालन कैसे किया जा सकता है? अथवा हमारी जान लेने के लिए या हमारी स्त्री अथवा कन्या पर बलात्कार करने के लिए या हमारा धन छीन लेने के लिए कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र लेकर सामने तैयार हो जाए और उस समय हमारी रक्षा करनेवाला हमारे पास कोई न हो, तो उस समय हमको क्या करना चाहिए? क्या, 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर ऐसे आततायी मनुष्यों की उपेक्षा की जाय? या यदि वह सीधी तरह से न माने तो यथा-शक्ति उसका शासन किया जाए? मनु जी कहते हैं–

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेव विचारयन्॥

अर्थात् ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले; किन्तु यह विचार न करे कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान ब्राह्मण है। शास्त्रकार कहते हैं कि (मनु ८-३५०) ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नहीं लगता, किन्तु आततायी मनुष्य अपने अधर्म से ही मारा जाता है। ऐसे मौके पर अहिंसा से आत्मरक्षी की योग्यता अधिक मानी जाती है। भ्रूणहत्या सबसे अधिक निंदनीय मानी गयी है; किन्तु जब बच्चा पेट में टेढ़ा होकर अटक जाता है, तब क्या उसको काटकर निकाल नहीं डालना चाहिए?(गीता-रहस्य)

रामायण की कथा हमें क्या सिखाती है? एक स्त्री की नाक कटती है, तो उसके लिए सैकड़ों राक्षस कट-मरते हैं। पुनः एक दूसरी स्त्री का अपहरण होता है, तो उसके लिए सहस्त्रों बंदर-भालू और मनुष्य अपनी जान न्योछावर कर डालते हैं। इतना ही नहीं, अपहरणकर्ता का गला तो उतर ही जाता है, साथ ही उनके परिवार और सहायकों का भी नामोनिशान नहीं रह पाता है। जिसके लिए लोग आज कहा करते हैं–

एक लाख पूत सवा लाख नाती।
जा रावण घर दिया न बाती॥

और भी, 'रहा न कुल में कोइ रोवनहारा।'

यह तो हुआ हिंसा का स्थूल रूप। यदि इसके सूक्ष्म रूप पर विचार किया जाए, तो चलने-फिरने, खाने-पीने, बोलने-चालने, यहाँ तक कि श्वास लेने और छोड़ने में भी हिंसा होती है। आज आधिभौतिक विज्ञानवेत्ता से यह बात छिपी नहीं है कि यह जगत सूक्ष्म जीवाणुओं से ओतप्रोत

है। ऐसे छोटे-छोटे जीव जन्तु इस शून्य मे भरे हैं, जिनको इन आँखों से हम नहीं देख सकते। किन्तु हाँ, यदि यंत्र विशेष (खुर्दबीन- अुणवीक्षण यंत्र) के द्वारा देखना चाहें, तो देख सकते हैं। फिर भी वे संख्या में इतने अधिक होते हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती। महाभारत शान्तिपर्व १५/२६ में है–

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्क गम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषांस्यात् स्कन्धपर्ययः॥

इस जगत में ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं, जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रों से नहीं दीख पड़ता, तथापि तर्क से सिद्ध है; ऐसे जन्तु इतने हैं कि यदि हम अपनी आँखों की पलक हिलावें, उतने ही से उन जन्तुओं का नाश हो जाता है।

ऐसी परिस्थिति में महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने हिंसा को दो भागों में विभक्त किया है–एक वार्य हिंसा और दूसरी अनिवार्य हिंसा। जिस हिंसा से हम बच सकें, वार्य हिंसा है और जिस हिंसा से बचना कठिन ही नहीं, असंभव हो, वह अनिवार्य हिंसा है। वार्य हिंसा से बचा जा सकता है; किन्तु अनिवार्य हिंसा से नहीं। जैसे निशाना ठीक करने के लिए अथवा रसना-विलास के लिए हिंसा करनी वार्य हिंसा है और औषधि -उपचारादि से जो रोग-कीटाणु मरते हैं, यह अनिवार्य हिंसा है। इसी तरह कृषिकर्म, घर की सफाई तथा न्यायोचित युद्धादि अनिवार्य हिंसा है।

धर्म की गहराई में यदि हम थोड़ा और भी उतरना चाहेंगे, तो बुद्धि और भी विशेष चकित और हैरान होगी। श्रीमद्भगवद्गीता तथा अन्यान्य धर्मग्रंथों में बारंबार कहा गया है कि अपने धर्म की रक्षा करो। धर्म के लिए मृत्यु अच्छी है। अधर्ममय शतायु जीवन से एक दिन धर्ममय जीवन श्रेष्ठ है। चारुदत्त कहता है–

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्म समः किल॥
–मृच्छकटिक नाटक (१०/२७)

अर्थात् मैं मृत्यु से नहीं डरता, मुझे यही दुःख है कि मेरी कीर्ति कलंकित हो गयी। यदि कीर्ति शुद्ध रहे और मृत्यु भी आ जाए तो मैं उसको पुत्र जन्मोत्सव के समान मानूँगा। इसलिए कटुवाणी सहकर, सभी यातनाओं एवं अपमानों को सहकर भी धर्म न छोड़ो। और धर्मरक्षार्थ सामान्य मनुष्य को कौन गिने, स्वयं विष्णु भगवान इस भूतल पर अवतरित होते हैं। एक ओर तो यह बात और दूसरी ओर स्वयं भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात् सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोच मत कर। उपर्युक्त श्लोक से मालूम होता है कि अर्जुन बहुत-से धर्म को ग्रहण किये हुए थे, जिस हेतु भगवान कहते हैं कि 'सब धर्मों को छोड़कर....' पुनः कहते हैं–'मेरी शरण में आ जा।' क्या, अर्जुन भगवान की शरण में नहीं थे? भगवान की शरण के अतिरिक्त अर्जुन के कल्याण का अन्य स्थान ही कहाँ था? अर्जुन को कौन कहे, संपूर्ण पांडव उनकी शरण में थे। (शान्ति-संदेश, अप्रैल १९६०)

६.ईश्वर-भक्ति : स्तुति, प्रार्थना और उपासना

इस संतमत-सत्संग के द्वारा ईश्वर-भक्ति का प्रचार होता है। ईश्वर-भक्ति में तीन बातों की प्रधानता होती है–स्तुति, प्रार्थना और उपासना। स्तुति कहते हैं यशगान करने को। ईश्वर के यशगान से उनकी महिमा-विभूति जानी जाती है। महिमा-विभूति जानने के लिए उनके प्रति श्रद्धा होती है। श्रद्धा होने से उनकी भक्ति करने की प्रेरणा मिलती है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने बतलाया है–

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥

जिनकी भक्ति या सेवा करना चाहें, जबतक उनके गुणों को हम नहीं जानते हैं, तो उनके ऊपर हमारा विश्वास नहीं होता है। जब विश्वास नहीं होता है, तो उनके साथ प्रेम भी नहीं होता। प्रेम जब नहीं होता, तो उनकी हम सेवा क्या कर सकेंगे? तब अगर हम सेवा भी करेंगे, तो वह दिखावटी सेवा होगी। यह उस तरह की सेवा होगी, जिस तरह से जल की चिकनाई नहीं ठहरती। उसी तरह वह भक्ति भी नहीं ठहर सकती। इसलिए आवश्यक है, पहले हम ईश्वर स्वरूप को समझ लें।

ईश्वर इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं है। इन्द्रियों से जो कुछ हम जानते हैं, वह सब-के-सब माया है। इन्द्रियों से यानी पाँच कर्मेन्द्रियों से–आँख, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा से हम पंच विषयों को ग्रहण करते हैं और परमात्म-स्वरूप निर्विषय है। इन इन्द्रियों के द्वारा परमात्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। जो वैदिक धर्म के माननेवाले हैं, उनका मूल ग्रंथ है वेद। वेद बतलाता है कि जो कोई हाथ, पैर, गुदा, लिंग, रसना, कान, त्वचा, आँखें, नाक और मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करना, झूठ ही एक खेल करना है; क्योंकि परमात्मा इन्द्रियातीत है। अर्थात् इन्द्रियों से वे जाननेयोग्य नहीं हैं। उन प्रभु परमात्मा को हम स्वयं जान सकते हैं। जैसे एक-एक इन्द्रिय का एक-एक विषय है, उसी तरह परमात्मा भी आत्मा का विषय है। आँख का एक ही मात्र काम है–गंध का ग्रहण करना। जिह्वा का एक काम है–रसास्वादन करना। त्वचा का एक ही काम है–गंध ग्रहण करना। जिह्वा का एक काम है रसास्वादन करना। त्वचा का एक ही काम है–स्पर्श करना। दो छेद हमारी नाक में भी है और दो छेद हमारे कान में भी हैं, तो क्या कान का काम नाक कर सकती है? कान का काम कान ही कर सकता है। यद्यपि छेद दोनों के बराबर ही हैं। आँख का काम क्या कान कर सकता है या नाक कर सकती है? एक इन्द्रिय का काम दूसरी इन्द्रिय नहीं कर सकती है। जब आपको देखना होगा, तो आँख से ही देखेंगे। जब सुनना चाहेंगे, तो कान से ही सुनेंगे। जब आपको गंध ग्रहण करने की आवश्यकता होगी, तो आप नाक से ग्रहण करेंगे। रसास्वादन करने की इच्छा होगी तो जिह्वा से ही करेंगे। स्पर्श करने की इच्छा होगी, तो त्वचा से ही करेंगे। यह निश्चित है, इसे कोई टाल नहीं सकता है। उसी तरह से ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए– प्राप्त करने के लिए उनका अनुभव करने के लिए चेतन आत्मा है। चेतन आत्मा के द्वारा ही वे ग्रहण हो सकते हैं।

आँख से रूप का ग्रहण होता है। लेकिन आँख के ऊपर यदि पट्टी बाँध दीजिए, तब देखने में आवेगा! उसी तरह आत्मा से परमात्मा का साक्षात्कार होता है; लेकिन जबतक चेतन आत्मा के ऊपर आवरण पड़े हुए हैं, तबतक परमात्मा का वह दर्शन नहीं कर सकता। इसी को संत कबीर साहब ने कहा–'घूँघट का पट खोल रे, तोको पीव मिलेंगे।' अर्थात् परमात्मा का दर्शन करना चाहते हो, तो घूँघट का पट हटा दो। माई लोग घूँघट रखती है। यदि आँखों के ऊपर घूँघट रहे, तो वे कैसे देखेंगी? जीवात्मा के ऊपर स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण जड़ के ये चार आवरण हैं, इनके कारण वह परमात्मा का दर्शन नहीं कर पाता। इन चारो आवरणों को हटाओ, चेतन स्वरूप में स्थित होओ, तो परमात्मा का दर्शन होगा। इसी को संत पलटू साहब ने कहा–

साहिब साहिब क्या करै, साहिब तेरे पास ॥
साहिब तेरे पास, याद करु होवै हाजिर।
अन्दर धसि के देखु, मिलैगा साहिब नादिर ॥
मान मनी हो फना, नूर तब नजर में आवै।
बुरका डारै टारि, खुदा बाखुद दिखरावै ॥
रूह करै मेराज, कुफर का खोलि कुलाबा।
तीसौ रोजा रहै, अन्दर में सात रिकाबा ॥
लामकान में रब्ब को, पावै पलटू दास।
साहिब साहिब क्या करै, साहिब तेरे पास ॥

जिसको कबीर साहब ने घूँघट का पट कहा है, उसी को पलटू साहब जी महाराज ने बुरका कहा। हमलोगों के यहाँ मुसलमान परिवार की जो माई लोग होती हैं, वे बुरका पहनती है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

माया बस मति मन्द अभागी।
हृदय जबनिका बहु विधि लागी।
ते सठ हठ बस संसय करही।
निज अज्ञान राम पर धरही॥
काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुखरूप।

ते किमि पावहिं रघुपतिहि, मूढ़ पड़े तमकूप॥

गो० तुलसीदासजी महाराज ने उसको यवनिका कहा। घूँघटपट कहिये, बुरका कहिये, यवनिका कहिए–एक ही बात है। आवरणों को हटाने का यत्न है। यत्न करेंगे, तो यवनिका हट जाएगी। ईश्वर का स्वरूप बुद्धि के परे है।

नैना बैन अगोचरि, श्रवणा करनी सार।
बोलन के सुख कारनै, कहिये सिरजनहार॥

यों हमलोग कहते हैं–ईश्वर सगुण है, ईश्वर निर्गुण है। ईश्वर सगुण, निर्गुण हैं और उनसे परे भी हैं। बड़ा गंभीर ज्ञान है ईश्वर का।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई॥
–रामचरितमानस

इन्द्रियों को जो कुछ प्रत्यक्ष हो, मन जहाँ तक जाय, वह जिसको ग्रहण कर ले, सब-के-सब माया है। सगुण रूप के दर्शन करके, इन्द्रिय-ग्राह्य रूपों के दर्शन करके माया से छूटा नहीं जा सकता। सगुण में जो व्यापक ब्रह्म है, जबतक उनके दर्शन न हो जाएँ, तबतक यथार्थ में ईश्वर के दर्शन नहीं हुए, तबतक हम मायिक बंधनों से नहीं छूट सकते। आवागमन के चक्र से नहीं छूट सकते।

आप जानते हैं, सीता-हरण हो चुका था। भगवान श्रीराम-लक्ष्मण सीता की खोज में चले। स्वयं राम भगवान हैं, वे सीता की खोज में चलते हैं। माया रूप धारण किया था, उन्होंने मायिक नरलीला शुरू की। हमलोग के घर की स्त्री यदि कहीं खो गई हो, भटक गई हो, तो हमलोग पूछेंगे किससे? किसी मनुष्य से पूछेंगे कि भाई! ऐसी स्त्री है, इस रंग की है, गोरी है या काली है, नाटी है या लंबी है, मोटी है या पतली है कहेंगे और पूछेंगे कि ऐसी स्त्री को आपने दखा है? लेकिन वे भगवान हैं। वे अपनी लीला या माया फैलाते हैं, तो पूछते हैं, किससे?–

हे खगमृग हे मधुकर श्रेणी।
तुम देखी सीता मृगनयनी॥

चिड़िया से पूछते हैं, मृग से पूछते हैं, भौंरों से पूछते हैं, जैसे वे पागल हो गये हों। यह उनकी लीला है। उसी होकर भगवान शंकर सती के साथ जा रहे थे। भगवान शंकर राम को देखते हैं, भगवान तो भगवान को पहचानते हैं, केवल बाहर से ही नहीं, अंतर से भी पहचानते हैं। भगवान शंकर ने देखा कि इस समय में भेंट करने का सुअवसर नहीं है। इसलिए उन्होंने दूर से ही प्रणाम कर लिया। सती माई पूछती हैं कि आपने किनको प्रणाम किया? भगवान शंकर ने कहा–'देखती नहीं हो, भगवान जा रहे हैं।' सतीजी कहती हैं–'भगवान हैं ये? मुझे तो मालूम पड़ता है कि ये भगवान नहीं हैं। ये तो राजा दशरथ के पुत्र हैं?' ये जब दशरथ के पुत्र हुए तो ये ब्रह्म (परमात्मा) कैसे हुए? अगर भगवान परमात्मा ये ही हो गये, तो फिर स्त्री के वियोग में ये इतने विकल क्यों हैं? सतीजी कहती हैं–

जौं नृप तनय सो ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोर।
लखत चरित महिमा सुनत, थकित बुद्धि अति मोर॥

अगर ये राजा के पुत्र हैं, तो ब्रह्म किमि–ब्रह्म किस तरह हैं? अगर ब्रह्म हैं, तो स्त्री के विरह में पागल क्यों बने हुए हैं। इनकी जब महिमा सुनती हूँ और चरित्र देखती हूँ, तो मेरी बुद्धि कोई काम नहीं करती है। भगवान शंकर ने कहा–

जौं तेरे मन अति संदेहू।
तौ किन जाइ परीक्षा लेहू॥

अर्थात् अगर मेरी बात पर विश्वास नहीं होता, तो जाकर परीक्षा ले लो और देखो कि वे भगवान हैं कि नहीं? सती सोचती है कि किस तरह परीक्षा उनकी ली जाए? कहीं वे भगवान ही हो गये तो? अगर वे भगवान हों तो मुझे पहचान जायेंगे कि मैं कौन हूँ? इसलिए मैं सीता का ही रूप धारण कर लेती हूँ, जिसकी खोज में ये निकले हैं। रास्ते में सीता के रूप में बैठ जाती हूँ। मुझको वे सीता जानकर पकड़ने आयेंगे, तो मैं समझ जाऊँगी कि कितने पानी में हैं वे। अगर वे पहचान गये, तब तो समझूँगी कि ठीक ही हैं वे भगवान्! सतीजी कहती हैं अपने मन में–

सीता छवि धर के बन में चल के करूँ परीक्षा आज।
जौं पहचान गये तो मैं समझूँगी हैं भगवन्त।
नहीं तो कोइ नर है, पर हैं अति बलवन्त॥

सती सीता का रूप धारण कर लेती हैं और जिस मार्ग से भगवान आनेवाले थे, उसी मार्ग में आगे जाकर बैठ जाती हैं। भगवान राम और लक्ष्मण जा रहे हैं। लक्ष्मणजी की दृष्टि पड़ी उनपर। वे पहचान गये सती ने सीता का रूप धारण किया है, लेकिन वे

कुछ बोले नहीं। सोचा कि क्यों बोलूँ। जब ये भगवान हैं, तो सब जानते ही हैं। नजदीक पहुँच गये दोनों भाई, जहाँ सती थीं। भगवान राम ने कहा–'आप यहाँ हैं, भगवान शंकर कहाँ हैं?' अब तो सती बेचारी का जो लाज लगी, उन्होंने अपनी आँखें बंद कर लीं। आँखें बंद करने पर देखती हैं भीतर में भगवान राम भी है, लक्ष्मणजी हैं और सीताजी भी हैं। अब तो मोह उनको व्याप गया। सीताजी की खोज में जा रहे हैं, सीता तो इनके साथ ही में है। आँख खोलकर देखती हैं, तो आगे में श्रीराम हैं, लक्ष्मण हैं और सीता जी भी। अब तो न आँख बंद किये बनता है और न आँख खोले बनता है। फिर वे आँख बंद करती हैं, वे ही राम-लक्ष्मण, सीता। फिर आँख खोलती है, तो न राम है, न लक्ष्मण है, न सीता ही, कोई नहीं। यह सगुण रूप क्या हुआ? सती में इतनी शक्ति है कि अपने रूप को बदल सकती है। भगवान शंकर की अर्द्धांगिनी है। लेकिन फिर भी भ्रम हो जाता है कि ये भगवान नहीं हैं? सगुण रूप जो है, वह भ्रामक है। इसीलिए तो गो० तुलसीदासजी ने लिखा है–

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय॥

काकभुशुण्डिजी को भ्रम हो गया। गरुड़जी को भ्रम हो गया। नारदजी को भ्रम हो गया, ब्रह्माजी को भ्रम हो गया। यह सगुण रूपों के दर्शन में हुआ। इसका अर्थ यह नहीं है कि सगुण को तिरस्कृत करके निर्गुण रूप को पकड़ा जाए। जबतक कोई सगुण से आरंभ नहीं करेंगे, निर्गुण की प्राप्ति हो नहीं सकती। फिर वे पार कैसे जा सकते?

जबतक कोई सरलाक्षर नहीं लिख लेता, तबतक कोई संयुक्ताक्षर नहीं लिख सकता। उसी तरह स्थूल सगुण से भक्ति का आरंभ है। लेकिन उसी को जकड़कर पकड़े नहीं रह जाएँ, उससे आगे बढ़ें।

जैसे हमलोग स्कूल में पढ़ने जाते हैं। वर्णमाला पढ़ते हैं, पहले दर्जे की किताब पढ़ते हैं, दूसरे दर्जे की किताब पढ़ते हैं, तीसरे दर्जे की किताब पढ़ते हैं, लोअर पास करते हैं, अपर पास करते हैं, मिड्ल पास करते हैं। मैट्रिक पास करते हैं, आई०ए० पास करते हैं, बी०ए० पास करते हैं, एम०ए० करते हैं, पीएच०डी० करते हैं, डी०लिट्० करते हैं–यह क्रम है। उसी तरह साधना का भी क्रम है। एक तरफ चलिए। अगर जीवन भर हम 'अ' से अनार, 'आ' से आम पढ़ते रहें, तो कभी भी विद्वान नहीं हो सकते हैं? पढ़ना जरूरी है। अ से अनार, आ से आम पढ़ना जरूरी है। लेकिन वही पढ़ते रह जाएँ, यह ठीक नहीं है। स्थूल सगुण साकार से उपासना का आरंभ कर सूक्ष्म सगुण साकार में जाएँ, फिर निर्गुण निराकार में जाएँ, उनको भी पार करें, यह क्रम है।

जिस मंडल में जो कोई रहता है, उसके लिए प्रथम अवलंब वही आवश्यक होता है। जिस तरह से कोई नदी पार कर रहा हो, या यों समझिए कोई गंगा स्नान करने गया हो। गया वह गंगास्नान करने, पैर फिसल गया उसका। डूबने लग गया वह पानी में। अब उपाय क्या है? जिस पानी में वह डूब रहा है, उसी पानी का अवलंब लेकर वह तैरेगा। तैरने की कला यह है कि आगे के पानी को पकड़ो और पीछे के पानी को ठेलो। आगे पानी पकड़ते हैं और पीछे पैर से पानी ठेलते हैं। इस तरह आगे बढ़ते-बढ़ते सूखी जमीन पर चले आते हैं। उसी तरह जिस नाम-रूपात्मक जगत में हम डूब रहे हैं, उसी नाम-रूप का सहारा लेकर हम अनाम तक जायेंगे। अगर कोई तैरनेवाला आगे के पानी को पकड़े नहीं और पीछे के पानी को छोड़े नहीं, जहाँ वह हो, उसी पानी को भर पाँजा पकड़े रहे, तो वह पानी में डूब जाएगा और उसका रामनाम सत्त हो जाएगा। उसी तरह उपासना का आरंभ जहाँ से हमलोग करते हैं, उसी को जीवनभर पकड़े रहें–सगुण साकार को ही, तो संसार-सागर से हम पार नहीं हो सकेंगे। इसलिए क्रम है। क्रम से हम बढ़ें। बढ़ते-बढ़ते निर्गुण निराकार को पार करें। इसलिए तो हमलोग प्रतिदिन पढ़ते हैं–

सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर, औरु अक्षर पार में।
निर्गुण सगुण के पार में, सत् असत् हू के पार में॥

पार ही पार है। इस पार की बात नहीं। इसलिए ईश्वर-स्वरूप को हम पहचानें। इसीलिए स्तुति होती है। फिर हमलोग प्रार्थना करें। प्रार्थना अर्थात् नम्रता-सहित कुछ माँग लेना। हर एक के हृदय में कुछ-न-कुछ माँग अवश्य है। ऐसा कोई हृदय नहीं, जिसमें कुछ-न-कुछ माँग न हो। जो पहुँचे हुए महात्मा हैं, उनकी बात जाने दीजिए, सामान्यजन की बात कह रहा हूँ। सबको कुछ-न-कुछ अवश्य चाहिए। जिनको

कुछ भी नहीं चाहिए।

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह।
जाको कछु न चाहिए, सोई शाहंशाह॥
—संत कबीर साहब

यह तो संत-महात्मा की बात है। सामान्य लोगों की चाहना होती है, वासना होती है, अभिलाषा होती है, अभीप्सा होती है। संत-महात्मा लोग कहते हैं—अगर माँगना ही है, तो क्या माँगो? समझ-सोचकर माँगो। माँग तो ऐसी करो कि फिर माँगना न पड़े। एक ही बार माँग लिया, सब हो गया। संत कबीर साहब सोच में पड़ गये कि क्या माँगूँ? वे कहते हैं—

'क्या माँगूँ कछु थिर न रहाई।
देखत नैन चल्यो जग जाई॥'

सांसारिक कोई चीज स्थिर नहीं है, क्या माँगूँगा? देखते-ही-देखते आँखों के सामने ही वह चीज चली जाती है। इसलिए क्या माँगूँ? बाल-बच्चे माँगकर ही क्या होगा। दो-चार बच्चों से क्या होगा? 'इक लाख पुत्र सवा लाख नाती। जा रावन घर दिया न बाती॥' जब लाख खाक हो गया तो यह माँगकर क्या करो?

भगवान बुद्ध की एक शिष्या बड़ी श्रद्धामती थी। उसका नाम था विशाखा। उसको एक नाती था, वह मर गया। उसके लिए बहुत विकल हुई विशाखा। रोती-धोती भगवान बुद्ध के पास आई। उसके बाल बिखरे थे; साड़ी भींगी हुई थी। भगवान के चरणों पर गिर गई और रोने लग गई। भगवान ने पूछा, 'विशाखे! तुमको क्या हो गया? तुम क्यों रोती हो?' विशाखा ने कहा, 'भगवन्! एक ही नाती था, वह चल बसा, इसीलिए रोती हूँ।' भगवान बुद्ध में समझाने की बड़ी अच्छी कला थी। उन्होंने कहा—'इस नगर में जितने लोग हैं, उतने नाती तुमको दे दूँ तो!' विशाखा ने कहा, 'भगवन्! तब तो मेरे सुख का वारापार न होगा। मैं बहुत सुखी हो जाऊँगी।' भगवान ने कहा, 'अच्छा, यह तो बताओ, इस शहर में कोई मरता तो नहीं है?' विशाखा ने कहा, 'भगवन्! जहाँ लाखों की आबादी है, वहाँ दो-चार तो रोज मरते ही हैं।' तब भगवान ने कहा, 'विशाखे! इतने बड़े शहर की आबादी के बराबर यदि तुमको नाती हो जाएँ, तो तुम्हारा कल्याण होगा? तुम सुखी होओगी कि दुःखी होओगी?' विशाखा ने कहा, 'भगवन्! अब मुझको कुछ नहीं चाहिए।' संत कबीर साहब कहते हैं—बाल-बच्चे नहीं माँगो, तो धन-संपत्ति माँग लो। यह माँग कर भी क्या करोगे—

सोने का महल रूपे का छाजा।
छोड़ चले नगरी के राजा॥

रावण को सोने का महल था, रूपे की उसकी छावनी थी। वह भी कहाँ चला गया, पता नहीं। तब क्या माँगो?

आवत संग न जात संगाती।
काह भये दल बाँधे हाथी॥

यह भी नहीं रहने को है। तब क्या माँगो? तो संतों ने कहा—अगर माँगना ही है, तो प्रभु से प्रभु को ही माँगो। प्रभु मिल जायेंगे, फिर कुछ बाकी नहीं रहेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा—'जग जाँचिये काहु न। सोचिये जो....।' अरे! किसी से माँगना ठीक है ही नहीं। संत कबीर साहब कहते हैं—

माँगन मरन समान है, मत कोउ माँगो भीख।
माँगन से मरना भला, यह सतगुरु की सीख॥

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी कर पर कर करो, कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरन करो॥

माँगो नहीं, अगर माँगना ही है, तो उनसे माँगो, उन पूर्णदाता से माँगो, जो है—'एक सिरोमनि साँचो।' उस प्रभु से माँगो तो क्या माँगो? कहते हैं कि संसार की याचना तो छोड़ ही दो। 'जग जाँचिये काहू न', अगर माँगना ही है, तो 'जग जानकी जानहिं जाँचिये जी।' जो जग की जान हैं, प्रभु हैं, उनसे माँगो। 'जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय।' जिनसे एक बार याचना कर लेने पर, माँग लेने पर माँग जल जाती है। फिर याचना करने की जरूरत नहीं रह जाती अर्थात् याचना ही समाप्त हो जाती है। अगर प्रभु मिल जाएँगे, तो सब कुछ घर आ जाएगा। कुछ भी बाकी नहीं रहेगा। अब एक लघु कथा कहकर मैं समाप्त करूँगा।

एक राजा थे। उसको दो पत्नियाँ थीं। राजा विदेश जाने लगे, तो अपनी पत्नियों से पूछा, 'मैं

विदेश जा रहा हूँ, बताओ, तुमलोगों के लिए क्या-क्या लाऊँगा?' छोटी रानी जो थी, उसको मालूम था कि जहाँ राजा जा रहे थे, वहाँ क्या-क्या चीजें मिलती हैं। उसने लंबी फिहरिश्त लिखा दी। दूसरी रानी जो थी, उससे राजा ने पूछा, 'तुम्हारे लिये क्या ले आऊँगा?' उसने कहा, 'आप सकुशल लौटकर मेरे पास आ जाइए।' चले गये राजा विदेश, वहाँ से जब लौटने लगे तो छोटी रानी के लिए जो चीजें चाहिए थीं, उन्हें उन्होंने खरीद लिया। जिसने कुछ भी नहीं माँगी थी, उसके लिए भी उन्होंने सामान ले लिया। जब लौटकर घर आये तो छोटी रानी ने जितनी चीजें माँगी थीं, उन्हें उसे देकर कहा, 'यही चीजें चाहिए थीं न?' बड़ी रानी ने कहा, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे केवल आप चाहिए।' उसको सामान भी दिया और राजा भी उसके पास चले गये। इसी तरह जो कोई ईश्वर को भजते हैं, उनको ईश्वर तो मिलते ही हैं, उनको संसार की भी किसी चीज की कमी नहीं रहती है। इसलिए ईश्वर से ईश्वर को ही माँगें, किसी चीज की कमी नहीं रहेगी।

महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन अपराह्नकालीन सत्संग के अवसर पर दिनांक–८.४.१९७१, स्थान : संतमत-सत्संग मंदिर भवानीपुर राजधाम, पूर्णियाँ में हुआ था। (शान्ति-संदेश, नवम्बर १९८६)

७. जाति न पूछो साध की पूछ लीजै ज्ञान

थोड़े ही दिन पूर्व जब मैं गंगातट बैकुंठपुर दियरा के लिए यात्रा कर रहा था, रेलगाड़ी में कुछ सज्जनों से भेंट हुई। मुझे साधुवेशी देखकर उनलोगों ने मेरे साथ कुछ सत्संग-वार्ता आरंभ की। मैंने यथासंभव कुछ वेदमंत्रों, उपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता के कुछ श्लोकों और कुछ संतवाणी एवं पौराणिक कथाओं से उनलोगों को समझाने की भरपूर चेष्टा की। वे लोग सत्संग-वचन सुन-सुनकर प्रसन्न होते रहे। इसी बीच में एक सज्जन ने मुझसे पूछा–आप ब्राह्मण हैं? मैंने कहा–जी नहीं, मैं 'चमार'–हरिजन हूँ। उन्होंने कहा–आप ऐसा क्यों कहते हैं? आप चमार–हरिजन नहीं हैं। मैंने कहा–अच्छा, एक पौराणिक लघु कथा आप सुन लें। एक बार राजर्षि जनक की सभा में अष्टावक्र मुनि गये। उनके शरीर के सभी अवयव टेढ़े-मेढ़े थे, जो देखने में बेढंग, विचित्र और कुरूप लगते थे। उन्हें देखकर सभी सभासद हँस पड़े। अष्टावक्र मुनि ने कहा–मैंने समझा था कि जनकजी के दरबार में, उनकी सभा में बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी, ऋषि-मुनि तथा कुलीन एवं विद्वान् ब्राह्मण होंगे; किन्तु यहाँ आने पर मुझे तो सभी चमार-ही-चमार प्रतीत होते हैं। क्योंकि इन लोगों ने मेरी कुरूपता को–टेढ़े-मेढ़े अंगों की, चमड़े की अच्छी पहचान की है। ये लोग यह नहीं जानते कि आत्मस्वरूप–

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।
गी०२/२४।।

तथा–

जो टेढ़ों में रहकर भी टेढ़ा न होता।
जो सीधों में रहकर भी सीधा न होता।
जो जिन्दों में रहकर न जिन्दा कहता।
जो मुर्दों में रहकर न मुर्दा कहाता।
सभी के परे जो परम तत्त्व रूपी।
सोई आत्मा है सोई आत्मा है।

ऐसा है।–महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

शरीर ज्ञान–चर्मज्ञान होने के नाते मैं अपने को 'चमार' और यथासाध्य हरिभजन करता हूँ, इसलिए 'हरिजन' कहना मुझे अयुक्त नहीं जँचता। इसलिए 'चमार-हरिजन' कहकर मैंने आपको अपनी जाति का परिचय दिया। साथ ही यह स्मरण रखिए–

जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार की, पड़ा रहन दो म्यान ।।

ऐसा मैंने सुना, एक बार एक सज्जन ने आचार्य बिनोवा भावे से पूछा–आप कौन जाति हैं? उन्होंने उत्तर दिया–मैं पूजा-पाठ और धर्मशास्त्रादि का अवलोकन करता हूँ, तो ब्राह्मण; पर विचार एवं राजनैतिक समस्याओं पर विचार एवं राजनैतिक कर्मों को करता हूँ, तो क्षत्रिय; कृषि-वाणिज्य एवं गोपालनादि के संबंध में सोचता-विचारता हूँ, तो वैश्य और

परिचर्य्या वा सेवा-कर्म करता हूँ, तो शूद्र होता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने कहा है–'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागश:' (गी० ४/१३) अर्थात् चारो वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की व्यवस्था मैंने गुण और कर्म के भेद से निर्माण की है और गी०अ० १८, ४२-४४ तक में चारो वर्णों के स्वभावज कर्मों की व्याख्या उन्होंने इस भाँति की है–

शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिराजर्वमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

अर्थात् शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीछे न हटना, दान, शासन–ये क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म हैं। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य–ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं और परिचर्या-सेवा शूद्र का स्वभावजन्य कर्म हैं।

वस्तुत: संतों ने जातिवाद एवं जातीय अस्पृश्यता को कभी प्रश्रय नहीं दिया। अपितु उन्होंने सदा-सर्वदा इसकी भर्त्सना ही की। हाँ, उनका ऐसा कहना अवश्य ही था और है कि जो सदाचारी है, धर्मनिष्ठ है, ईश्वरभक्त है, तपोनिष्ठ है, सत्य के गवेषक हैं, चाहे वह किसी भी जाति का, कुल का हो, स्त्री हों वा पुरुष हों अथवा क्लीव ही क्यों न हो, वह श्रेष्ठ तथा वंदनीय है। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में कह सकेंगे–

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुवीर परायण, जेहि नर उपज विनीत॥
पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥
भगतिवन्त अति नीचहू प्रानी।
मोहि परम प्रिय असि मम बानी॥
–रामचरितमानस

इसके विपरीत जो दुराचारी है, अधर्मिष्ठ है, नास्तिक है, भक्तिरिक्त है, वह पूजनीय वा प्रशंसनीय नहीं हो सकता, चाहे वह धनवान, बलवान, विद्वान्, कुलवान, गुणवान आदि अन्य गुण सम्पन्न क्यों न हों। भगवान श्रीराम कहते हैं–

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल वारिद देखिय जैसा॥
भक्तिहीन लहि विधि सम देही।
कवि कोविद न प्रशंसहिं तेही॥
–रामचरितमानस

ब्राह्मणकुलदीपक परम यशस्वी पुलस्त्य ऋषि का पौत्र और विश्वश्रवा मुनि का पुत्र रावण दुराचारी एवं ईश्वर-भक्ति से हीन होने के कारण दुष्ट राक्षस की संज्ञा से अभिहित किया गया। यद्यपि वह स्वयं वेद-शास्त्रादि विद्या का प्रकांड विद्वान् भी था। इतना ही नहीं, सभी देवी-देवताओं को अपने वश में कर रखा था और तपोबल से उन्होंने कई भाँति की ऋद्धि-सिद्धियाँ भी प्राप्त कर ली थीं। इससे जाना जाता है कि श्रेष्ठकुलोद्भव होने मात्र से कोई पूजनीय नहीं हो जाता।

पूजनीय वे ही हो सकते हैं, जो युक्ताहार-विहार, जितेन्द्रिय, विगतस्पृह और यति धर्म का पालन करते हुए परमात्म-भक्ति कर उनमें परायण हो सकें। चाहे वे नीच वा ऊँच किसी भी कुल या जाति के क्यों न हों। भक्तप्रवर सूरदासजी महाराज कहते हैं–

हरि की भक्ति करै जो कोई।
सूर नीच सूँ ऊँच सो होई॥

गो० तुलसीदासजी महाराज स्वचरित रामचरित मानस के बालकांड में लिखते हैं–

बाल्मीकि नारद घट योनी।
निज निज मुखन कही निज होनी॥
जलचर थलचर नभचर नाना।
जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ।
लोकहु बेद न आन उपाऊ॥

गीता-रहस्य, भक्ति-मार्ग प्रकरण में प्रकांड विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदयजी लिखते हैं–'जिसकी बुद्धि सम हो जावे, वही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह सुनार हो, बढ़ई हो, बनिया हो वा कसाई, मनुष्य की योग्यता उसके धंधे पर, व्यवसाय पर या जाति पर अवलंबित नहीं, किन्तु सर्वथा उसके अंत:करण

की शुद्धता पर अवलंबित होती है। संत पलटू साहब के शब्दों में हम कह सकेंगे–

साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार ॥
केवल भक्ति पियार, गुरु भक्ती में राजी।
तजा सकल पकवान, खाया दासीसुत भाजी ॥
जप तप नेम अचार, करे बहुतेरा कोई।
खाये सबरी के बेर, मुए सब रिषि मुनि रोई ॥
किया युधिष्ठिर यज्ञ, जोड़ा सकल समाजा।
मरदा सबका मान, श्वपच बिन घंट न बाजा ॥
पलटू ऊँची जाति का, जनि कोइ करै हंकार।
साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार ॥

भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १८/४१ में कहते हैं–

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः॥

अर्थात् परंतप! स्वाभाव से उत्पन्न गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के कर्म अनायास ही (स्वभावानुसार) विभक्त यानी अलग-अलग हो जाते हैं–

मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्य सुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम्॥
–गी०अ० ९/३२-३३

अर्थात् हे पार्थ! जो पापयोनि हों, वे भी और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र जो मेरा आश्रय लेते हैं, वे परम गति को पाते हैं। तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि जो मेरा भक्त है, उनका तो कहना ही क्या? इसलिए इस अनित्य और सुख-रहित लोक में जन्म लेकर तू मुझे भज। अतः हमें चाहिए कि मिथ्या जात्या-भिमान का परित्याग कर आज ही संत सद्गुरु की शरण ग्रहण करें और उनसे भक्ति की युक्ति पाकर साधन-भजन कर अपने मानव-जीवन को सार्थक बनावें।

मनुस्मृति आज्ञा देती है कि उत्तम विद्या, उत्तम धर्म शूद्र और चांडाल से भी सीखे। (दे० अ० २ श्लोक २३८ और २४०) इसका ज्वलंत प्रमाण है कि श्रीकृष्ण ने पांडवों के द्वारा उनके यज्ञ में काशी से वाल्मीकि डोम को सादर निमंत्रित कर भोजन करा कर यज्ञ पूर्ण करवाया। परम भक्तिमती राजकुमारी मीराबाई ने अपना परम हित जानकर रैदास जी को, जो जाति के चमार थे, गुरु धारण किया और भक्तमाल के कर्ता नाभाजी की मान्यता इन्हीं विचारों से स्वीकार की जाती है।

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जाति ॥

इसलिए इसे सदा याद रखिए–

जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार की, पड़ा रहन दो म्यान ॥

८. मुसाफिर जैहौं कौनी ओर

संत कबीर साहब के उपर्युक्त पद्य में तीन बातें विचारणीय हैं। सर्वप्रथम तो यह कि उसके हृदय में चिंता लगी हुई है। दूसरी बात यह कि वे सांसारिक जीव को मुसाफिर कहते हैं और तीसरी बात यह कि 'ओर' कहकर उन्होंने संकेत किया है किस ओर जाओगो? आइये, इन तीनों बात पर समास रूप से विचार करें। संत कबीर साहब एक स्थल पर कहते हैं–

चाह गई चिंता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिये, सोई शाहंशाह ॥

एक कहावत भी है कि 'फकर के बिना फिकर क्या है?' किन्तु उपर्युक्त पद्य के अध्ययन-मनन करने पर स्वयं उन्हीं की चिंता की झाँकी स्पष्ट झलक उठती है। ऐसा क्यों? यह स्वाभाविक प्रश्नोदय होता है। गो० तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में कहा है–'संत हृदय नवनीत समाना।'

मक्खन बहुत मुलायम और श्वेत वर्ण का होता है, उसमें तनिक भी आँच लगते ही वह द्रवित हो जाता है–पिघल जाता है। संतों का हृदय षट्विकार रहित होने के कारण परिमल-विशुद्ध-श्वेत स्फटिक वर्ण का होता है। साथ ही मुलायम तो इतना कि मक्खन की सादृश्यता करते हुए भी कवि को लजाते हुए कहना पड़ा–'कहा कविन्ह पै कहइ न जाना।' किसी ने पूछा–'ऐसा क्यों?' तो उन्होंने कहा–

निज परिताप द्रवहिं नवनीता।
पर दुःख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

एक सज्जन ने श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवजी से पूछा–'संत हृदय कैसा होता है?' परमहंसजी ने उत्तर दिया–यह क्या पूछना? बैंगन की तरकारी नहीं खाये हो? जैसा वह मुलायम होता है, उसी तरह संतों का हृदय मुलायम होता है। महात्मा गाँधी ने संत-असंत को बेर और नारियल की उपमा देते हुए कहा था–दुष्ट का बाहर दिखलावा मुलायम होता है, किन्तु अंदर कठोर होता है; जैसे–बेर और संत का बाह्य प्रदर्शन कठोर, किन्तु अंतर मुलायम होता है। साथ ही बिल्कुल शुद्ध–पवित्र और साफ होता है; जैसे नारियल।

एक बार श्रीरामकृष्ण परमहंसजी ने भावोद्रेक में अपने शिष्यों से कहा था–'तुमलोगों का हृदय काँच की आलमारी है।' अर्थात् काँच की आलमारी में कुछ भी छुपाकर नहीं रखा जा सकता, वह बाहर से ही प्रत्यक्ष दीखता है, उसी तरह जागतिक जीवों का हृदय किसी भाँति कुछ करके उसे संत-महात्मा के समक्ष छिपाकर रख सकने में सर्वथा अयोग्य है।

अजातशत्रु की जिज्ञासा पर भगवान बुद्ध ने भी उनसे कहा था–हे राजन्! जिस प्रकार कोई ऊँचे पहाड़ के शिखर पर खड़ा होकर नीचे बहते हुए निर्मल जल के स्त्रोत की ओर देखे, तो उस निर्मल जल के भीतर घोंघा, शंख, कंकड़-पत्थर, कोयला इत्यादि वस्तुएँ जैसी-की-तैसी साफ दिखाई पड़ती हैं, वैसे ही मुक्त भिक्षु वासनाओं और तृष्णाओं से घिरे हुए जीवों के कष्टों को भी प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

संत-महात्मागण प्राणियों के व्यक्ताव्यक्त सभी कर्मों को अपरोक्ष रूप से देखते हैं कि किस कर्म का फल विषमय है, किस कर्म के द्वारा अशांति और अनर्थ उत्पन्न होते हैं, मनुष्य के लिए कौन-सा मार्ग दुःख और कंटकमय है, कौन व्यक्ति क्या कर्म कर रहा है और परिणाम में उसे किस-किस प्रकार का फल भोगना पड़ेगा। इसको वह इस प्रकार देखता है, जैसे कोई ऊँचे मकान के ऊपर से नीचे के मनुष्य को देखता है कि कौन क्या कर रहा है? कहाँ से आ रहा है? किधर जा रहा है? आदि।

अस्तु, अभिभावक अपनी संतान की भविष्य चिंता करते हुए उसकी शिक्षा-दीक्षा की सारी व्यवस्था कर शिक्षित बना उसके भविष्य-भाग्य को समुज्ज्वल बना जागतिक मार्ग प्रशस्त करता है। एक माता अपने प्यारे बच्चों के लिए असह्य यातनाओं–पीड़ाओं एवं कष्टों को झेलती हुई उसका लालन-पालन कर उसे सुखी बनाती है और एक गौ अपने वत्स को प्रेमपूर्वक हिंकार से बुलाती हुई, उसे अग्नि, अहि और अंधकूप आदि से रक्षा करती है, तो फिर संत जिनका स्वभाव ही परोपकार करना है, अपनी संतान-जगत की चिंता क्यों न करें? जगत के जीव जो दैहिक, दैविक और भौतिक–त्रिताप तापित हो आकुल हैं–दुखी हैं–जर्जर हैं, उन्हें देख ये क्योंकर सुखी रह सकते हैं? क्योंकि उन्होंने तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् सारी वसुधा को ही अपना कुटुम्ब बना लिया है। साथ ही जब कि 'आत्मवत् सर्वेभूतेषु' की दृष्टि से वे अवलोकन करते हैं, तब उनका अपना कौन और पराया कौन? वहाँ स्व-पर का हिसाब ही नहीं लगता। इसीलिए तो जब भैंस की पीठ पर लाठी मारी गई, तो ज्ञानदेव को चोट लगी। इतना ही नहीं, आघात के चिह्न भी स्पष्ट उनकी पीठ पर दिखाई पड़े।

इसलिए वे दूसरे के दुःख से दुःखी 'विश्व उपकार हित व्यग्रचित सर्वदा त्यक्त मदमन्युकृत पुण्यरासी' होकर स्वयं नाना यातनाएँ झेलते हैं। गो० तुलसीदासजी ने बड़ा ही अच्छा कहा है–

संत सहहिं दुख परहित लागी।
पर दुख हेतु असंत अभागी।
भूरज तरु सम संत कृपाला।
परहित नित सह विपति विशाला ।।

दूसरी बात है कि उपर्युक्त पद्यांश में संत कबीर साहब ने 'मुसाफिर' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्यतः 'मुसाफिर' शब्द का अर्थ होता है–यात्री। अर्थात् जिसका स्थिर निवास किसी एक स्थान में हो और वह किसी कार्य विशेष से अन्यत्र कहीं जाकर कार्य-सम्पन्न पर्यन्त वहाँ रहकर पुनः स्वस्थान को लौट आवे।

मानवमात्र–क्या स्त्री और क्या पुरुष, संत कबीर साहब की दृष्टि में पथिक है। क्योंकि यह सभी को विदित है कि अमुक व्यक्ति जिसको उसके जन्म से आज पर्यन्त निरंतर देख रहा हूँ, अभी उसकी आयु जितनी है, इसके पूर्व मैंने उसको कभी देखा नहीं और शरीरायु पर्यन्त वह यहाँ रहकर फिर अदृश्य हो जाएगा। तात्पर्य यह कि वह कहीं से आया है, वर्तमान है और भविष्य नहीं रहेगा। इसलिए यह मुसाफिर है। दूसरी दृष्टि से परमात्म-अंश जीव इस

शरीररूप नगर में आया है—

सुरति अंश जो जीवन पर गुरु गगन वश कंजा भई।
आली गगन धार सँवार आई ऐनि बस गो गुण रही॥
सखी ऐन सुरति पैन पावै नील चढ़ि निर्मल भई।
जब दीप सीप सुधार सजकै पछिम पट पद में गई॥
जस अलल अंड अकार डारै उलटि घर अपने गई।
यह भाँति सतगुरु साथ में होकर अली आनन्द लई॥
—संत तुलसी साहब

अवधिपर्यन्त शरीर में अवस्थित रह पुनः इसका परित्याग कर चला जाएगा। जिस भाँति कोई भी यात्री एक नगर वा घर में सतत नहीं रहता, उसी तरह यह जीवात्मा भी सतत एक शरीर में नहीं रहता। इसलिए भी कबीर साहब ने इसको 'मुसाफिर' की संज्ञा दी है।

'ओर' की ओर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि और वा तरफ दो है—एक तो इहलौकिक तथा दूसरा पारलौकिक। पारलौकिक को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक स्वर्ग-वैकुंठादि परलोक तथा दूसरा मोक्ष। कठोपनिषद् के अनुकूल हम उसे दो मार्ग कह सकते हैं—एक श्रेय और दूसरा प्रेय। श्रेय निवृत्ति मार्ग है और प्रेय प्रवृत्ति मार्ग।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि वीरोऽपि प्रेयसो वृणीते प्रेयोमन्दोयोगक्षमाद्वृणीते॥
—कठ०, श्लोक २, अ० १, वल्ली २

गो० तुलसीदासजी के शब्दों में हम कह सकते हैं—

संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, श्रुति पुराण सद्ग्रंथ॥

यदि हम निवृत्ति मार्ग—मोक्ष मार्ग की ओर चलें, तब तो कहना ही क्या? तब उसकी चिंता किस बात की हो? किन्तु हम तो चल रहे हैं—प्रवृत्ति मार्ग—संसार मार्ग—जड़-चेतन की ग्रंथि को सुदृढ़ करनेवाले मार्ग पर। यदि इसे मार्ग नहीं कहकर कुमार्ग ही कहें, तो शायद अयोग्य नहीं होगा। उस मार्ग पर चलकर हमारी जो दुर्दशा होती है, वह संतों से छिपी नहीं है।

एक तो अँधेरी कोठरी, जामें दिया न बाती हो।
बहियाँ पकड़ि जम ले चले, कोइ संग न साथी हो॥

हमारे इस दुर्दिन एवं निस्सहायावस्था को देख कर, हमारे दुःख से दुखित होकर ही वे चिंताशील होकर कहते हैं—'मोरे जियरा बड़ा अंदेशवा मुसाफिर जैहौं कौनी ओर।'

९. दुःख सहने पर सुख मिलता है

संसार में प्राणिमात्र को अपना जीवन प्रिय है। सभी मृत्यु और क्लेश के भय से संत्रस्त रहते हैं। जन-जन के मन-मन की कामना सुख-शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करने को होती है। किन्तु यह सुख भी एक ऐसी विकट पहेली है कि जिस किसी को भी बिना प्रयास के ही—अनायास ही नहीं मिल पाता।

बीज जबतक पृथ्वी के अंदर सड़ता नहीं, उसका अंकुर और न उसमें पत्ते तथा फूल-फलादि ही लगते हैं। सरसों की जबतक पेराई नहीं होती, उससे तेल नहीं निकलता। हीरे को घन चोट की कसौटी पर कसे बिना उसकी सच्ची परख नहीं होती और न उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन ही किया जा सकता है। वर्णमालान्तर्गत (भारती भाषा की देवनागरी वा बंगला लिपि में) जबतक कोई 'त' वर्गीय 'द' नहीं पढ़ लेता, तबतक उसे उष्म वर्णीय 'स' से साक्षात्कार नहीं होता। अर्थात् प्रथम 'द' जो दुःख का और पश्चात् 'स' जो सुख का द्योतक है, नहीं मिल सकता। आशय यह है कि बिना दुःख के सुखोपलब्धि की लालसा स्वप्नवत् सफेद झूठ-असत्य है और भी लीजिए—

बाल-विद्यार्थी विद्या प्राप्त्यर्थ विद्यालय जाने एवं विद्याध्ययन करने में प्रथम क्लेशानुभव करते हैं; क्योंकि उन्हें बाल-क्रीड़ा में जो आनंदानुभूति होती थी, उसका सर्वथा अपहरण होने का उन्हें ज्ञान होता है। वह अपने माता-पिता अथवा अभिभावक के भय के मारे ही विद्यालय जाता है। मन तो खेल-कूद और पलायमान होता है; किन्तु विवशता वश मन को मारकर उसे शिक्षालय में बैठना पड़ता है। फलस्वरूप धीरे-धीरे, क्रम-क्रम से एक-एक अक्षर सीखता हुआ भविष्य में एक दिन वह महाविद्वान् होकर सुख का अनुभव करता है।

कृषक सुख की अभीप्सा से पहले अपार कष्टों को सहता है। वह ग्रीष्मऋतु के मध्याह्नकालीन प्रखर धूप के प्रचंड ताप से अपनी त्वचा को झुलसाता

है। शिशिर एवं हेमन्त ऋतुओं की बर्फीली हवा एवं आले-पाले से निष्ठुर जाड़े में ठिठुरकर थरथराता हुआ कंपायमान होता रहता है। वर्षा ऋतु के श्रावण, भाद्र महीने में दिवा-निशि पानी में रह-रहकर अपने शारीरिक अवयवों को सड़ाता है। इतना ही नहीं, अपनी प्यारी पत्नी एवं दुलारे लाड़ले का मोहक मुखड़ा छवि–एक प्रकार से कहिए विरागी बन एकांतवासी हो रात के गुप्प अँधियाले में आँखों को चकाचौंध कर देनेवाली बिजली एवं हृदयविदारक मेघगर्जन को देख-देख और सुन-सुनकर छूटती हुई हिम्मत को टूटी झोंपड़ी के एक कोने में बाँध बँधाकर येन-केन प्रकारेण कृषि-रक्षा करता है। इतने कष्टों को झेल लेने के पश्चात् कृषक अन्न उपजाकर सपरिवार सानंद भोजनादि कर हर्षित एवं प्रफुल्लित होता है।

योद्धागण अपनी जान को हथेली में लेकर युद्धभूमि में जा युद्ध करते हैं। परिणामस्वरूप विजित होकर या तो स्वर्गारोहण करते हैं अथवा विजेता बनकर स्वातंत्र्य जीवन का आनंदोपभोग करते हैं।

साध्वी महिलाएँ दस महीने पर्यन्त क्षुधा-तृषा सुख-दुःख तथा जाग्रन्निद्रादि; किसी की भी चिंता न कर महती व्यथा से व्यथित होती है। अपने शरीर के रक्त को पानी बना असह्य पीड़ा से पीड़ित हो मृत्युवत् यंत्रणादायक दारुण दुःख को सह लेने के पश्चात् ही कहीं संतान का मुख देख पाती हैं। किन्तु इतने से ही उनके कष्टों का 'इतिश्री' नहीं हो जाता। संतान हो जाने के बाद भी उसके मल-मूत्रादि से अपने शरीर को महीनों सराबोर करके उसका लालन-पालन करती है। जब वह भावी संतान सुशिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सुसभ्य एवं सदाचारी बन स्व, स्वजन, स्वदेश और समस्त जगत् के कल्याणार्थ उच्चादर्श रख कर्तव्यपरायण होती है, तब वह माता संतानोत्पत्ति का स्वर्णिम सुखोपभोग करती है।

ठीक इसी भाँति जिन्हें निजानंद-नित्यानंद-आत्मानंद-ब्रह्मानंद वा परमानंद प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा है, उन्हें अपने को तप से तपाना होगा, जलाना होगा और अपने आपको भस्मीभूत करना होगा। जैसे कनक अनल में प्रविष्ट होकर निर्मल हो अपने शद्ध सौंदर्य को पाता है, उसी तरह जीव-आत्मा योगाग्नि में प्रवेश करती है, तो उसकी स्थूल-सूक्ष्मादि सभी उपाधियाँ जलकर भस्मसात् हो जाती हैं और तब उसके निज स्वरूप की दीप्ति निखर उठती है। किन्तु स्मरण रहे कि–

यहाँ 'योग' वा 'तप' शब्द से कदापि ऐसा न समझें कि इनमें हठयोगियों की नेती-धौती, नौली वस्ती, प्राणायामादि यौगिक प्रक्रिया करनी होगी अथवा जलशयन वा पंचधुनि में अपने शरीर को तपाना वा जलाना होगा। यहाँ तो संतों का सहज योग और सरलतम तप है, जिनसे शरीर में तनिक भी आँच नहीं लग पाती। 'शबद खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि' और योगाग्नि के संबंध में श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस में इस प्रकार वर्णन है–

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयम योगाग्नो जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।

अर्थात् दूसरे योगिजन संपूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को तथा प्राणों के व्यापारों को ज्ञान से प्रकाशित हुई परमात्मा में स्थितरूप योगाग्नि में हवन करते हैं।

कहि कथा सकल विलोकि हरिमुख हृदय पद पंकज धरे ।
तजि योगपावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिँ फिरै ।।
(रामचरितमानस, अयोध्याकांड)

न योगी योग से ध्यावै न तपसी देह जरवावै ।
सहज में ध्यान से पावै, सुरत का खेल जहि आवै ।।
(संत कबीर)

'योग' एवं 'योगाग्नि' की अभिज्ञता के पश्चात् हमें इसकी भी जानकारी होनी चाहिए कि 'तप' किसे कहते हैं? 'तपः किं? विषयभोग परिहरई।' ज्ञान संकलिनी तंत्र में लिखा है–

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्य्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः।।

अर्थ–तप को तप नहीं कहते हैं, ब्रह्मचर्य्यानुष्ठान ही तपस्या कहकर विशेष प्रसिद्ध किया गया है। जो मनुष्य ऊर्ध्वरेता हैं, वे देवतुल्य कहे गए हैं।

महात्मा गाँधी ने कहा है–"ब्रह्मचर्य का अर्थ मशीनवत् कुँवारापन नहीं है। लोग ब्रह्मचर्य का बहुत मोटे रूप में अर्थ लेते हैं–वीर्यनिग्रह। किन्तु ब्रह्मचर्य का अर्थ है–ऐसी चर्या जिनसे ब्रह्म की अनुभूति हो।"

उपर्युक्त वचन का तात्पर्य यह नहीं हो जाता है कि ब्रह्मानुभूति के लिए ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य निग्रह वा जननेन्द्रिय-संयम की आवश्यकता नहीं है। बल्कि

ऐसा कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि इन्द्रिय-संयम के बिना ब्रह्म की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इन्द्रियों में भी केवल उपस्थेन्द्रिय ही नहीं, सर्वेन्द्रिय-संयम की नितांत आवश्यकता है। कठोपनिषद् में लिखा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान-द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है।

भगवान् बुद्ध की धम्मपद नाम्नी पुस्तिका है—

चक्खुना सँवरो साधु साधु सोतेन सँवरो।
योगेन सँवरो साधु साधु जिह्वाय सँवरो ॥
कायेन सँवरो साधु साधु वाचाय सँवरो।
मनसा सँवरो साधु साधु सब्बथ सँवरो ॥
सब्बत्थ सवुतो भिखु सब्ब दुक्खापमच्चति ॥
—त्रिक्खुवग्गो

अर्थात् आँख का संयम ठीक है, ठीक है कान का संयम, घ्राण का संयम ठीक है, ठीक है लोभ का संयम। काया का संयम ठीक है, ठीक है वचन का संयम, मन का संयम ठीक है, ठीक है सर्वत्र इन्द्रिय का संयम। सर्वत्र संयम युक्त भिक्षु सारे दुःखों से छूट जाता है।

संयमित करण (इन्द्रिय) के कारण स्थूल बाह्य विषयों में मन रमण नहीं करता और अखिलेन्द्रिय संयम संयुक्त जन जब सद्गुरु निर्देशानुकूल ब्रह्म-प्राप्त्यर्थ निदिध्यासन का अनुष्ठान करता है, तो सहज ही स्थूल से सूक्ष्म वा अंधकार से प्रकाश में उसकी गति हो जाती है। साधक जाग्रत स्वप्नादि अवस्थाओं को पार कर तुरीयावस्था में ब्रह्म के युगल रूपों—ब्रह्मज्योति और ब्रह्मनाद का प्रत्यक्ष पाकर हर्षातिरेक हो अपने आप अहंता को भूल जाता है। क्योंकि—'ध्वनेरन्तर्गत ज्योति ज्योतिरन्तर्गतं मनः।' मंडलब्राह्मणोपनिषद्, ५ वह सूक्ष्म मंडल में सूक्ष्म ध्वनि—सूक्ष्म मंडल के केन्द्रीय शब्द को पकड़कर कारण मंडल और वहाँ की केन्द्रीय ध्वनि को धारण कर महाकारण मंडल में प्रवेश करता है। पुनः साधना द्वारा उसका भी अतिक्रमण कर 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' को पाकर चेतन आत्मा जड़ावरण से सर्वथा विनर्मुक्त हो जाती है। इसी अवस्था में उसे निजस्वरूप का तथा परम प्रभु परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है और तब वह शोक, मोह, भय, हर्ष, दिवस, निशि और देश-काल से परे होकर निजानंद-नित्यानंद, आत्मानंद और ब्रह्मानंद के सुख में निमग्न हो जाता है।

इसलिए पंचतन्मात्राओं में मिलनेवाला सुख जो तृष्णावर्धक, क्षणभंगुर और यथार्थतः दुःखरूप है, किन्तु हम अपनी अज्ञानता के कारण इंद्रिय और विषय के संयोग से जो उसमें सुख का भान करते हैं अथवा जो सुख मान बैठे हैं। इस अनित्य सुख के त्याग में जो हमें मिथ्या दुःख होता है, इस दुःख का प्रहाण वा सहनकर यदि हम संत सद्गुरु की बतायी सीख के अनुकूल उनकी लीक पर चल सकें, तो वह दिन दूर नहीं, जबकि हम उपर्युक्त नित्य सुख को प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकेंगे।

१०.नरतन की सार्थकता ज्ञान-प्राप्ति में

कोयल स्वसुकंठ से सुमधुर सुरीले स्वर से संगीत सुनाकर सुख का सहस्रांश ही सही, सांसारिक जन को समुचित और समयोचित सुख प्रदान करती है। कुत्ता अन्न के कुछ कौर पाकर स्व स्वामी के काय, कनक, कोष, कामिनी एवं कुटुम्बादि की रक्षा करता है। मृग और मृगाधीश मृत्यूपरान्त भी अपने मनोहर मनभावनत्वक् से मानव-सेवा का अधिकारी होता है। गाय, भैंस और छागादि स्वदूध, दधि और घृतादि से, इतना ही नहीं अपने अस्थि, चर्म एवं गोंत-गोबर से भी बहुविधि लोकोपकार करते हैं।

किन्तु, क्या कभी कुछ अपनी निस्बत भी आपने सोचा है कि आपको जो सुरदुर्लभ, सुंदर, सुयोग्य और स्वस्थ शरीर मिला है, इसकी क्या उपयोगिता है? आपके इस चिकने-चुपड़े, सफेद, सुगठित, सलोने और साधन-सम्पन्न शरीर से समाज-सेवा, स्वदेश-सेवा, साधु-सेवा और सर्वेश्वर-सेवा कुछ भी हो सकती है? यदि नहीं तो, इस अनमोल शरीर को अच्छे-अच्छे खाना खिलाकर दाने पर पले

हुए सूअर की तरह मोटापा प्रदान कर व्यर्थ ही बर्बाद क्यों कर रहे हैं? भगवान् बुद्ध ने कहा है–"अगर आदमी मोटा हो जाता है और बहुत खाने लग जाता है, अगर वह बहुत सोता है और पड़ा लोटता रहता है, वह तो मूर्ख दानों पर पले हुए सूअर की तरह बार-बार गर्भ में पड़ता है।" संत कबीर साहब कहते हैं–

खाय खुराका पहना पोशाका, जम का बकरा पलता है।
जम बदजाती तोड़े छाती, उससे क्यों नहीं डरता है॥

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

तुलसीदास हरिनाम सुधा तजि
शठ हठ पियत विषय विष मागी।
शूकर स्वाान श्रृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि दुख लागी॥

ईश्वर-भक्ति-विहीन जन के लिए, चाहे वह वैदिक धर्मावलंबी हो या इस्लाम धर्मावलंबी, संत कबीर साहब फटकार लगाते हुए कहते हैं–

बैल गढ़न्ता नर गढ़ा, चूका सींग अरु पूँछ।
एकहि गुरु की भक्ति बिन, धिक दाढ़ी धिक मूँछ॥

उत्तर-गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है–

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिकं विशेषो ज्ञानेनहीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थ–आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन; ये सब विषय पशु और मनुष्य में एक समान ही हैं यानी कुछ भी प्रभेद नहीं है। केवल ज्ञान-लाभ करने पर ही मनुष्य पशु से श्रेष्ठ हो सकता है; सुतरां स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानहीन मनुष्य पशु-तुल्य है।

भगवान् के उपर्युक्त वचन के मनन से मन में एक उत्सुकता उत्पन्न होती है कि वह कौन-सा ज्ञान है, जिसके अभाव में मानव पशु-संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यदि 'ज्ञान' शब्द का अर्थ अभिज्ञता, जानकारी या जानना हम करते हैं, तो सामान्यतया सभी जन कुछ-न-कुछ अवश्य जानते हैं। मात्र मानव ही नहीं, सृष्टि में प्राणिमात्र न्यूनाधिक रूप से जानते हैं। बल्कि कतिपय ऐसे भी ज्ञान प्रकार हैं, जो मानव से पशु में अधिक है। इतना ही नहीं, जब हम जान-बूझकर भी अनजान बन जाते हैं, तब इस दृष्टि से यदि पशु को मनुष्य से श्रेष्ठ कहा जाए, तो इसमें अतिशयोक्ति क्या है? महात्मा गाँधीजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–"पशु भरपेट भोजन पाकर चारागाह से लौटना जानता है; किन्तु मनुष्य अपने भोजन की मात्रा नहीं जानता। मनुष्य जितना भोजन करता है, उसका चतुर्थांश भी पचा नहीं सकता। आहार नियमितता के कारण पशु जननेन्द्रिय संयमित होती है। इस हेतु केवल संतानोत्पत्ति के लिए ही पशु विषय-भोग करता है; किन्तु मानव इस मामले में बहुत आगे बढ़ा हुआ है। केवल विलास के लिए शरीर निचोड़ना, इससे अधिक मूर्खता की बात और क्या हो सकती है?"–महात्मा गाँधी

और भी लीजिए, मकड़ी के प्रसूत–महीन, मुलायम, मजबूत और हल्के सूते का अवलोकन आज के बड़े-बड़े वैज्ञानिक दाँतों तले अंगुली दबाते हैं और इस तरह के सूते निर्माण करने में वे अपने को सर्वथा असमर्थ पाते हैं।

अस्तु, गंभीरतापूर्वक विचारणीय है कि किस ज्ञान का लक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण ने उसकी इतनी बड़ी महत्ता देकर उसको उपादेय बताया है। अतएव भगवान् के शब्दों में ही समझने की हमें भरसक चेष्टा करनी चाहिए कि 'ज्ञान' शब्द की वे क्या परिभाषा देते हैं? श्रीमद्भगवद्गीता के त्रयोदश अध्याय में भगवान् कहते हैं–

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तजज्ञानं मतं मम॥

अर्थात् हे भारत! समस्त क्षेत्रों–शरीरों में रहनेवाला क्षेत्रज्ञ मुझको जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही 'ज्ञान' है, ऐसा मेरा मत है।

इस तरह जब कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद-ज्ञान को ही 'ज्ञान' कहते हैं, तब इन दोनों के भेद की अभिज्ञता भी अनिवार्य हो जाती है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चचेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः।
एतत्क्षोत्र समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
(गी० १३/५-६॥)

अर्थात् पंच महाभूत–अहि, अप, अनल, अनिल और आकाश, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, दशेन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रिय पाँच–नासिका, श्रवण, नेत्र, रसना और त्वक्; कर्मेन्द्रिय पाँच–कर, पद, बदन और दो

गुहेन्द्रियाँ), पंच विषय–रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतन-शक्ति, धृति–यह अपने विकारों सहित क्षेत्र संक्षेप में कहा गया है। और 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३/२) कहकर स्पष्ट ही क्षेत्र निवासी को क्षेत्रज्ञ कहा गया है। महाभारत शान्ति-पर्व (१८७, २४ में भी लिखा है–

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥

अर्थ–जब आत्मा प्रकृति में या संसार में बद्ध रहता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ वा जीवात्मा कहते हैं और वही प्राकृत गुणों से यानी प्रकृति या शरीर के गुणों से मुक्त होने पर 'परमात्मा' कहलाता है।

उपर्युक्त देह और देही के ज्ञान को ही भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान बताया है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के शब्दों में हम कह सकेंगे–

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान तब माहीं॥
(रामचरितमानस, तृतीय सोपान)

अर्थात् 'ज्ञान' वह है, जहाँ एक भी मान न हो, सबमें समान ब्रह्म देखे। ऐसा लगता है मानो जिस 'ज्ञान' का ज्ञान त्रेतायुग में भगवान् श्रीराम ने लक्ष्मण को सूत्र रूप में दिया था, द्वापरयुगान्त के कृष्णावतार में उन्होंने उसी ज्ञान का विशद विश्लेषण कर अर्जुन को बताया।

अमानित्वदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्म विनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वंग पुत्रदार गृहादिषु।
नित्यं च समचितत्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्त देश सेवित्वमरतिर्जन संसदि॥
अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्त्व ज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥
(गी० १३/७-११)

अर्थात् अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार रहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुख और दोषों का निरंतर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जन-समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्मदर्शन–यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है, वह अज्ञान है। इस भाँति, श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान के सहित अनुभव ज्ञान के द्वारा क्षेत्रज्ञ वा आत्मा का प्रत्यक्षीकरण करने में ही नरतन की उपयोगिता है।

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज का यह अवतरण भी विशेष पठनीय है–"मननशील होने के कारण मानव, मानव कहलाता है। जो परमात्मा को कभी भूलता नहीं, वह तन और मन दोनों से ही मनुष्य है। जो नर परमात्मा को भूलता है, वह शरीर मात्र का ही मनुष्य है। जो नाशवान पदार्थों में लगा रहता है और अनाश को भूला रहता है, वह मनुष्य कैसे हैं? किन्तु सत्यासत्य का निर्णय कर असत्य से मन को हटाकर जो सत्य तत्त्व परमात्मा में सदा लव लगाये रहता है, वह मनुष्य है।" भगवान श्रीराम ने भी अपने प्रजा को यही शिक्षा दी थी कि–

एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नरतन पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

जबकि 'विषय न भाई' तब उसका अर्थ निर्विषय तत्त्व हो ही जाता है। अर्थात् पंच विषय–रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से परे है तथा जिसके लिए यह उपनिषद्-वाक्य सार्थक होती है–

नामरूप विहीनात्मा परसंवित् सुखात्मकाः।
तुरीयातीत रूपात्मा शुभाशुभ विवर्जितः॥
(तेजोविन्दूपनिषद्)

अर्थात् आत्मा नाम और रूप से विहीन, परज्ञानस्वरूप, सुखमय, तुरीय से अतीत, शुभ और अशुभ से वर्जित है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही नरतन की उपादेयता है। अतएव यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि उपर्युक्त परमात्मस्वरूप के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने में ही मानव शरीर की सार्थकता है।

११. भक्ति भेष पर अवलंबित नहीं

वर्तमान युग में साधु-सन्तों की संख्या अवनति पर और साधुवेशियों की संख्या उन्नततर दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि आज सर्व साधारण जन खासकर दो अक्षरों का ज्ञान रखनेवालों में अपने को विशेष समझनेवाले, साधु और साधुवेशियों से व्यंग्य करने में विशेष विनोद का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, उनसे व्यंग्य करने, ताना मारने तथा उन्हें हेय दृष्टि से देखने में अपने को गौरवान्वित, प्रतिष्ठित, सुशिक्षित एवं सुसभ्य होने का दम भी भरते हैं।

अभी हाल की एक घटना है। लौहपथगामी धुम्रशकट पर यात्रा करते हुए अपने को सुसभ्य कहनेवाले एक सज्जन ने निकटस्थ एक साधु से व्यंग्य कसते हुए कहा–"साधु महाराज! आप बाबा हैं या बाबाजी?" साधु ने पूछा–"आपके 'बाबा' और 'बाबाजी' शब्द के अर्थ वा उनकी परिभाषा क्या है?" "बाल ब्रह्मचारी साधु को 'बाबा' और बाह्य वेश-भूषा में तो योगी, किन्तु आन्तर बाल-बच्चे संयुक्त गृहस्थ-धर्मी भोगी को 'बाबाजी' कहते हैं"–सज्जन ने कहा। "आपके ये अर्थ क्या सचमुच ही सर्वमान्य और यथार्थ हैं?"–साधु ने जिज्ञासा की। "अवश्य, क्यों नहीं? बिल्कुल यथार्थ है।" समर्थ एवं उत्तेजित शब्दों में उक्त सज्जन ने उत्तर दिया।

"मैं विशेष बातें नहीं जानता। अतएव आपसे कुछ जिज्ञासा कर समझने का भरसक चेष्टा करूँगा। आशा है, आप दुःख न मानेंगे"–साधु ने कहा।

"तो क्या, आपने बिना समझे-बूझे ही गैरिक वस्त्र धारण कर साधु-वेश बना लिया? यदि साधु बनना ही था तो पहले ही समझ-बूझ लेते।" कटु-मधु-मिश्रित स्वर में सज्जन ने कहा–"महाशय! मानव जीवन पर्यन्त सीखता है, फिर भी शिक्षा शेष रह जाती है। 'मैं सर्वज्ञानसम्पन्न हूँ' कहनेवाले अंगुली पर गिने जाने योग्य ही इने-गिने व्यक्ति कहीं हो सकते हैं और वेश की बात तो अकथनीय है; क्योंकि बाल बढ़ाकर, कटाकर अथवा अगल-बगल छँटाकर, श्वेताम्बर, पीताम्बर, पाटाम्बर या दिगम्बर –किसी-न-किसी वेश में तो रहना ही पड़ेगा" –साधु ने विनम्र भाव से कहा।

"अच्छा, तो आप क्या पूछना चाहते हैं?"–आवेश भरे शब्दों में सज्जन ने कहा। साधु ने पूछा–"प्राचीनकालिक ऋषि-मुनि जैसे–अत्रि, याज्ञवल्क्य, जनक, वशिष्ठ, व्यास, भारद्वाज, कत्य आदि सद्गृहस्थ थे वा बालब्रह्मचारी?"

"वे लोग कुछ भी थे, आपको जानने से प्रयोजन? आप स्वयं क्या हैं?–कुछ झुंझलाकर आवेशित स्वर में उक्त सज्जन ने उत्तर दिया।

साधु ने कहा–"जानने से शायद मुझे लाभ हो और यथार्थता की छान-बीन कर उसका स्पष्टीकरण करना तो आप विद्वानों का परम कर्तव्य ही है। इसमें आपकी भी तो कुछ हानि नहीं और यदि संत कबीर साहब के कथनानुकूल 'दरस-परस के मेल से, भई अगम की सूझ' वाली कहावत चरितार्थ हो जाए, तब तो कहना ही क्या? हम दोनों ही उससे लाभान्वित हों।"

"ये लोग सद्गृहस्थ थे"–एक अन्य सज्जन ने उत्तर दिया। साधु ने लगे हाथ पूछ डाला–"और उनकी वेश-भूषा?" अल्पकालिक गंभीर मुद्रा के पश्चात् मौन भंग करते हुए दबी जबान से उक्त सज्जन ने कहा–"विरक्त का।"

साधु ने कहा–"अच्छा, अब आपही विचार कर कहें कि आपकी परिभाषा के अनुकूल उपर्युक्त ऋषि-मुनि 'बाबा' हुए या 'बाबाजी'?" सज्जन मौन रहे। साधु ने पुनः कहा–"आप जैसे सुसभ्य, सुशिक्षित सज्जन समाज के मुखारविन्द से हमारे आध्यात्मिक देश के गौरव ऋषि-मुनि एवं साधु-संतों के प्रति ऐसी वाणी निःसृत हो, यह बहुत दुःख की बात है।" साधु के इस कथन से वे लोग बहुत लज्जित हुए।

साधु ने कहा–"सुनिये, हमारे यहाँ गृहस्थ और बाल-ब्रह्मचारी, दोनों ही प्रकार के साधु-संत, ऋषि-मुनि और पीर-पैगम्बर आदि हो गये हैं। जैसे

वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, अत्रि, जनक, गुरु नानकदेव, गो० तुलसीदास, तुकारामजी, श्रीरामकृष्ण प्रभृति सद्‌गृहस्थ तथा हनुमान, वाल्मीकि, दुर्वासा, शंकराचार्य, रामानंद स्वामी, समर्थ स्वामी रामदास, तुलसी साहब (हाथरस) आदि बालब्रह्मचारी थे। फिर भी, उभय प्रकार के संत ने संत-साधना के माध्यम से उस एक परम तत्त्व को प्राप्त कर परम पदाधिकारी हुए। किन्तु उनका आदर्श बहुत उच्च था। वे सद्‌गृहस्थ होते हुए भी परिवार में जलकमलवत् थे। गृहस्थजीवी ईश्वरभक्त के लिए संत दरिया साहब (मारवाड़ी) का उद्‌गार-वचन सुनिए–

जो कोई साधु गृही में, माहिं राम भरपूर।
दरिया कह उस दास को, मैं चरणन की धूर॥

वे स्वयं तो अनासक्त थे ही और अन्य को भी उन्होंने संसार की असारता का बोध करा अनासक्त होने की सीख दी।

अनासक्त जग में रहो भाई।दमन करो इन्द्रिन दुखदाई॥
–महर्षि मेँहीँ

जैसे जल महि कमल निरालमु मुरगाई नैसाणै।
सुरत शबद भवसागर तरिए नानक नाम बखाणै॥
–गुरु नानक साहब

संत कबीर साहब की यह कड़ी स्मरणीय है कि–

भक्ति भेष बहु अंतरा, जैसे धरनि अकाश।
भक्त लीन गुरु चरण में, भेष जगत की आस॥

ईश्वर-भक्ति सुवेश या कुवेश पर अवलंबित नहीं, अपितु सर्वथा उसके अंतःकरण की शुद्धता पर निर्भर है। जिसका अंतःकरण जितना विशुद्ध होता है, उसके हृदय में ईश्वर-भक्ति उतनी ही उद्दाम और अबाध गति से प्रवाहित एवं तरंगायित होती है। इसीलिए तो कुवेशित रविदास संत, जाम्बवंत और हनुमन्त भगवद्‌भक्त कहकर समादृत, प्रतिष्ठित एवं पूजित हुए और कालनेमि, रावण और राहु सुवेशित होने पर भी अभक्त–दुष्ट कहकर निरादृत, तिरस्कृत और साधु-समाज से बहिष्कृत किये गये। श्वपच भक्त बाह्य भेष से नहीं, वरं अंतःभक्ति के कारण ही युधिष्ठिर के यज्ञ में अन्यों की तो बात ही क्या, भगवान श्रीकृष्ण द्वारा भी सम्मानित हुए। महिमा भक्ति की है, वेश की नहीं। इसीलिए तो–

भगतिवन्त अति नीचहु प्रानी।
मोहि प्रान-प्रिय असि मन बानी॥
–रामचरितमानस

साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार॥
केवल भक्ति पियार, साहिब भक्ती में राजी।
तजा सकल पकवान, लिया दासीसुत भाजी॥
जप तप नेम अचार, करे बहुतेरा कोई।
खाये सबरी के बेर, मुए सब रिषि मुनि रोई॥
किया युधिष्ठिर यज्ञ, बटोरा सकल समाजा।
मरदा सबका मान, श्वपच बिन घंट न बाजा॥
पलटू ऊँची जाति कौ, जनि कोइ करै हंकार।
साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार॥

साथ ही जो साधु-वेश-संयुक्त होकर साधु आचरण से समन्वित होते हैं, वे विश्ववन्द्य एवं प्रशंसित होते हैं। भगवान बुद्ध ने कहा है–

निक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति।
देवापि तं प्रसंसन्ति ब्रह्मुणाऽपि पसंसितो॥
–धम्मगाथा-२३०

अर्थात् जिस निर्दोष आचरणवाले मेधावी, प्रज्ञा और शील से युक्त पुरुष की प्रशंसा विज्ञ लोग दिन-प्रतिदिन समझ-समझकर करते हैं, उस सच्चे सोने जैसे की निंदा भला कौन कर सकता है? देवता लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं और ब्रह्मदेव भी। संत दरिया साहब (मारवाड़ी) कहते हैं–

बाहर बाना भेष का, माहिं राम का राज।
कह दरिया वे साधवा, है मेरे सिर का ताज॥

किन्तु जिसकी बाह्य वेश-भूषा का साधु की है और अंतः असाधु की, वह तो मानव संज्ञा से अभिहित कहने के भी सर्वथा अयोग्य है। हाँ, गो० तुलसीदासजी के शब्दों में उसे दानव अवश्य कहा जाएगा।

परद्रोही परदार रत, परधन पर अपवाद।
ते नर पामर पापमय, देह धरे मनुजाद॥
–रामचरितमानस

ऐसे मनवाले जन जन्म-जन्मान्तर में भी परमात्मोपलब्धि नहीं कर सकते। चाहे उसका वेश

और वचन कितना भी सुन्दर एवं मधुर क्यों न हो। ऐसे 'बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥' को चरितार्थ करनेवाले के लिए गो० तुलसीदासजी ने कहा है–

वेष विशद बोलनि मधुर, मन कटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइये, भये विषय जल मीन॥
–दोहावली

ऐसे ही साधुवेशियों के लिए संत कबीर साहब ने अपनी खरी वाणी में कहा है–

मन न रंगाये रंगाये जोगी कपड़ा॥टेक॥
आसन मारि मंदिर में बैठे,
नाम छाड़ि पूजन लागे पथरा।
कनवाँ फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले,
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले,
काम जराय जोगी होय गेलै हिजरा।
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले,
गीता बाँचि के होय गेलै लबरा।
कहै 'कबीर' सुनो भाई साधो,
जम दरबजवा बाँधल जैबै पकरा॥

भगवान बुद्ध ने इसपर पूरा प्रतिबंध लगाया था कि जबतक अंत:शुद्धि न हो, साधुवेश धारण न करे। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि हृदय के कल्मष-काषाय को हटाये बिना संयम और सत्य से हीन काषाय वस्त्र का अधिकारी नहीं है।

अनिक्कसावो कासायं यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दम सच्चेन न स कासायमरहति॥
–धम्मपदगाथा ९

तथागत ने यह भी कहा कि भीख माँगकर खाने मात्र से कोई भिक्षु नहीं हो जाता, बल्कि मात्र भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करनेवाले असंयमी-दुराचारी की भर्त्सना कहते हुए उन्होंने कहा था कि ऐसे जन को राष्ट्र का पिण्ड (देश का अन्न) खाने की अपेक्षा अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है। देखिये, धम्मपद गाथा ३०८

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो ततो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्यदुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्जतो॥
–धम्मपदगाथा ३०८

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने भी यही कहा था कि कर्म वा घर-वार के परित्याग से संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने से वा संन्यास के दीक्षा-मंत्र के उच्चारण मात्र से कोई परिव्राजक वा संन्यासी नहीं हो जाता। बल्कि सांसारिक सभी कामनाओं को जो वमन के समान विचारता है और जिसने देहाभिमान का परित्याग किया है, उसी का संन्यास में अधिकार है।

कर्मं त्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु।
संघौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः॥
वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः॥
–मैत्रेय्युपनिषद्

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत्॥
द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा।
संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति॥

सब विषयों से मन में जभी वैराग्य उत्पन्न हो, उसी समय विद्वान संन्यास धारण करे। प्रकारान्तर से (संन्यास ग्रहण करने पर) उसका पतन हो जाएगा। जो द्रव्य के लिए, अन्न-वस्त्र के लिए या प्रतिष्ठा के लिए संन्यास करे, तो वह उभय (संसार और परमार्थ से) भ्रष्ट होकर मुक्ति नहीं पा सकता है।

"स्मार्त मार्ग में चतुर्थाश्रम का जो महत्व है, वह भक्तिमार्ग में अथवा भागवत धर्म में नहीं है। वर्णाश्रम धर्म का वर्णन भागवत धर्म में भी किया जाता है, परन्तु उस धर्म का सारा दारमदार भक्ति पर ही होता है, इसलिए जिसकी भक्ति उत्कट हो, वही सबमें श्रेष्ठ माना जाता है–फिर चाहे वह गृहस्थ हो, वानप्रस्थ या वैरागी हो, इसके विषय में भागवतधर्म में कुछ विधि-निषेध नहीं है।"
–भाग० ११-१८-१३-१४

आज देश में हमें मात्र वेश की नहीं, अपितु उनके उपदेश की आवश्यकता है, जो सदाचार समन्वित भक्तिवन्त साधु एवं संत है। जो स्वयं सन्मार्ग का पथिक बन अन्यों को भी उस मार्ग का पथिक बनावे, देश की सुप्त जनता को सत्यता की झंकार से झंकृत कर जागृत करे और अज्ञानांधकार से उन्मुक्त कर उन्हें ज्ञान-प्रकाश की ओर उन्मुख करे।

१२. हृदय जवनिका बहु विधि लागी

आदरणीय गुरुजन, सज्जनवृन्द तथा आदरणीया माताओ एवं बहनो!

अभी आपलोगों ने संत कबीर साहब की एक वाणी सुनी–

घूँघट का पट खोल रे, तोको पीव मिलेंगे।

संत कबीर साहब की वाणी के लिए यह मुहावरा सुप्रसिद्ध है कि–

'कबीर का गाया गावै, तो गजब का धक्का खावै।'

और–

'कबीर की वाणी बूझै, तो तीनों लोक सूझै॥'

उपर्युक्त वाणी का अर्थ यदि सामान्य तरह से किया जाए, तो होगा–'घूँघट के परदे को खोल दो, हटा दो, तो तुमको प्रियतम मिलेंगे।' किन्तु रहस्यात्मक वाणी का अर्थ साधारण तरह से करना अभीष्ट नहीं, इसका रहस्योद्घाटन करना अत्यंत अपेक्षित है। भक्त जन अपनी-अपनी भावना के अनुकूल भिन्न-भिन्न भावों में भगवान को देखते हैं। यथा–कोई दास्य-भाव, कोई सख्य-भाव, कोई वात्सल्य-भाव और कोई पति-पत्नी भाव आदि। हमारे यहाँ जहाँ पति-पत्नी का भाव दर्शाया जाता है, वहाँ जीवात्मा का पत्नी-भाव में और परमात्मा को पति-रूप में मानते हैं और इस्लाम धर्म के सूफी सम्प्रदाय में इसका उल्टा माना गया है अर्थात् जीवात्मा को पति-रूप में और परमात्मा को पत्नी के रूप में देखते हैं। संत कबीर साहब की इस वाणी में पति-पत्नी का भाव दरसाया गया है–जीवात्मा को स्त्री के रूप में और परमात्मा को पति रूप में वर्णन किया गया है। चेतन आत्मा रूप वधू के ऊपर स्थूल-सूक्ष्मादि रूप आवरण वा घूँघट है। जबतक यह आवरण-रूप घूँघट हटता नहीं, जीवात्मा को परमात्म-रूप पति का दर्शन नहीं हो पाता। इसी विषय को गो० तुलसीदासजी महाराज इस भाँति कहते हैं–

'मायाबस मति मंद अभागी।
हृदय जवनिका बहु विधि लागी॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं।
निज अज्ञान राम पर धरहीं॥'
'काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ पड़े तम कूप॥'

ये आवरण कौन-से हैं, इसका स्पष्टीकरण संत दादू दयालजी महाराज ने किया है। उन्होंने बताया है कि शरीर ही आवरण है और यह शरीर एक नहीं वरं पाँच हैं–स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य अर्थात् जड़-विहीन चेतन। आवश्यकता है इन चारो को पवित्र बनाने की अथवा दूसरे शब्दों में जीवात्मा के ऊपर से इन शरीरों को हटाने की; क्योंकि शरीरों का हटना ही जीवात्मा का अपने स्वरूप में आना अथवा निरावरण होना है, जिस अवस्था में ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। वे कहते हैं–

नीके राम कहतु हे बपुरा।
घर माहैं घर निर्मल राखै, पंचौं धोवे काया कपरा॥
–संत दादू दयालजी

संत पलटू साहब कहते हैं–ईश्वर को पाने के लिए ईश्वर-ईश्वर कहकर चिल्लाने अथवा अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं, वह प्रभु तो तुम्हारे निकट हैं। जरूरत तो इस बात की है कि भगवच्चिन्तन द्वारा तुम अपने अन्दर पैठ कर अपने को आवरण मुक्त कर सको।

साहिब साहिब क्या करै साहिब तेरे पास।
साहिब तेरे पास याद करु होवै हाजिर।
अन्दर धँसि के देखु मिलैगा साहिब नादिर॥
–संत पलटू साहब

संत कबीर साहब ने जिसको 'घूँघट' कहा, संत पलटू साहब ने उसको 'बुरका' कहा और परम भक्तिन मीराबाई उसी को 'तन-गाँति' कहकर सम्बोधित करती हैं। वह शरीर-रूपी गाँती वा आवरण को हटाकर श्याम से मिलाती हैं। यथा–

मैं तो गिरिधर की रंग राती।....
खोल मिली तन गाँती॥

संत पलटू साहब कहते हैं–इस 'बुरका' को हटाओ और प्रभु को पाओ। 'बुरका' हटाने की देर है, प्रभु पाने में देर नहीं।' 'बुरका डारै टारि खुदा बाखुद दिखरावै।' गो० तुलसीदासजी महाराज ने ब्रह्म, जीव और माया की उपमा श्रीराम, लक्ष्मण और

सीताजी से देकर तुलनात्मक विवेचन का एक सुन्दर चित्र चित्रित किया है; यथा–

आगे राम लखनु बने पाछें।
तापस वेष विराजत काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥

कानन-काल में भगवान श्रीराम, श्रीलक्ष्मण और जगजननी जानकी जो गाँव, गिरि तथा वनादि में भ्रमण करते थे। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम भगवान आगे में, श्रीलक्ष्मणजी पीछे में और श्रीसीताजी बीच में थीं। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी को नहीं देख पाते हैं; क्योंकि बीच में श्रीसीताजी हैं। तात्पर्य यह कि जीवात्मा को परमात्मा की प्रत्यक्षता इसलिए नहीं हो पाती है कि जीव और ब्रह्म के बीच में माया है। श्रीलक्ष्मणजी के आगे से श्रीसीताजी हट जाएँ, तो श्रीरामजी के दर्शन होने में उनको यानी श्रीलक्ष्मणजी को तनिक भी बाधा न हो। इसी भाँति जीवात्मा के ऊपर स्थूल-सूक्ष्मादि–अंधकार-प्रकाशादि जो मायिक आवरण हैं, इनके हट जाने पर जीव को पीव पाने में पल भर की भी देर नहीं लगेगी। गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

जीव हृदय तम मोह विशेखी।
छूटि न ग्रंथि परइ किमि देखी॥

यदि शंका हो कि ईश्वर अत्यंत निकट है, तो फिर उनके दर्शन क्यों नहीं हो पाते? इसके उत्तर में निवेदन है कि कोई भी वस्तु जो निकटतम होती है अथवा अति दूर होती है, तो इन दोनों ही दशाओं में उस वस्तु की पहचान नहीं हो पाती। जैसे जिस वायुयान को हम अपने समीप से उड़ते देखते हैं, वही वायुयान अत्यधिक दूर हो जाने पर नहीं दीख पड़ता अथवा किसी परिचित व्यक्ति को भी दूर में आते देखकर हम उसे पहचान नहीं सकते; किन्तु निकट आने पर उसकी पहचान होती है। यह तो अति दूर के कारण पहचान नहीं हो सकने की बात हुई। अब निकटतम होने के कारण नहीं पहचान होने के कारण को हम जानें।

कोई भी वस्तु वा व्यक्ति दूर हों वा निकट, उसको देखने का साधन क्या है? हमारी आँख! अब हम विचार करें–जब हमारी आँख में लाली हो जाती है, तो क्या उस लाली को बिना किसी माध्यम के हम देख सकते हैं? सभी दर्शनीय वस्तु को हम नेत्र से देखते हैं और अपने नेत्र की लाली को हम अपने चक्षु से नहीं देख पाते; क्यों? इसका कारण इसकी अत्यंत निकटता है।

गो० तुलसीदासजी महाराज ने तो और गजब ढाया है, कहने में कमाल कर दिया है। वे कहते हैं–अरे भाई! वस्तु की निकटता वा सुदूरता की बात छोड़ो। पहले यह बताओ–जिसकी आँख में मोतियाबिन्द हो जाता है, उसको कुछ सूझता है? कुछ भी नहीं। इसी तरह इस जागतिक जन की दर्शन-शक्ति को मायारूप मोतियाबिन्द ने आवृत्त कर रखा है, उसे सूझे तो कैसे?

है नेरे सूझत नहीं, ल्यानत ऐसो जिन्द।
तुलसी या संसार को, भयो मोतियाबिन्द॥

यदि मोतियाबिन्द की शल्य-क्रिया (Operation) हो जाय और रोगी संयमपूर्वक रहे, तो गई आँख–खोयी दृष्टि-शक्ति पुनः वापस लौट आवे। उसी भाँति साधक संयमित जीवन व्यतीत करते हुए सद्गुरु से सरल-योग-युक्ति जानकर नित्य अभ्यास करे, तो उसकी वह दृष्टि खुल जाएगी, जिससे वह प्रथम तो ब्रह्म की ज्योति का दर्शन कर सकेगा और बाद में ब्रह्म का भी। जैसे सूर्योदय के समय हम पहले सूर्य के प्रकाश को पाते हैं, पश्चात् सूर्य को।

जैसे रवि के तेज से, देख पड़े रवि जात।
तैसे आतम तेज से, आतम रूप लखात॥

तथा– श्री गुरु पद नख मनि मन जोति।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सु प्रकासू।
बड़े भाग उर आवहिं जासू॥
उघरहिं विमल विलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक।
गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥
यथा सुअंजन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान॥

प्रात:स्मरणीय परमाराध्य अनन्त श्रीविभूषित महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के वचनों में हम कह सकेंगे–केवल पढ़न्त और सुनन्त विद्या द्वारा ज्ञान प्राप्त करने से अज्ञान-अन्धकार पूर्ण रूप से दूर नहीं होता है। जब अन्तर में दिव्य दृष्टि खुलती है और

ब्रह्मज्योति दरसती है, तभी तम-मोह दूर होता है। अन्तर में ब्रह्मज्योति देखनेवाली तुरीयावस्था की दृष्टि और विवेक-दृष्टि (बुद्धि में सारासार-बोध की शक्ति यानी विद्या) हृदय के दो निर्मल नेत्र हैं।

दृष्टि-योग साधन में रत रहनेवाले साधक के नेत्रों में उपर्युक्त सुअंजन लगता है। दृष्टि-योग साधन करना, इस सुअंजन के लगाने का यत्न-रूप है। बहुत-सी धरतियों की खान परम विराट रूप माया है, जिसमें अनेकानेक ब्रह्माण्डों की रचनाएँ हैं।

'गूलरि तरु समान तब माया।
फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया।।' (रा०च०मा०)

'रोम रोम ब्रह्माण्ड मय, देखत तुलसीदास।
बिन देखे कैसे कोऊ, सुनि मानै विश्वास।।

उपर्युक्त सुअंजन प्राप्त करनेवाले को अखिल ब्रह्माण्ड दरसते हैं। दृष्टियोग के साधन से सूक्ष्म वा दिव्य दृष्टि खुल जाती है। मन एकविन्दुता प्राप्त कर स्थूल और सूक्ष्म मण्डलों के संधि-विन्दु वा केन्द्र विन्दु से उत्थित नाद वा अनहदनाद को ग्रहण करता है। शब्द में अपने उद्गम स्थान पर आकर्षण करने का गुण होने के कारण केन्द्रीय शब्द से खिंचती हुई सुरत स्थूल-सूक्ष्मादि जड़ के चारो आवरणों को पार कर अपने स्वरूप में स्थित होगी, जड़ के आवरणों से निरावरण होने पर अपने स्वरूप की पहचान के साथ-साथ परमात्म-स्वरूप की भी पहचान वा प्रत्यक्षता होगी। जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाएगी। 'इस प्रकार घूँघट का हटना और परमात्मा को पाना होता है।' ❖

यह प्रवचन पूर्णियाँ में दिनांक ०४.०४.१९६४ ई० को जिला वार्षिक अधिवेशन के सुअवसर पर ग्राम-रोशना हाट में हुआ था। (शान्ति-सन्देश, मार्च २०११ ई०)

१३. वेदांत ज्ञान के समक्ष सब शास्त्र फीके

उपस्थित सज्जनो एवं देवियो!

बच्चा जब पिता के कंधे पर बैठा रहता है, तो वह पिता से बड़ा मालूम पड़ता है; परन्तु सही माने में वह बड़ा नहीं होता। अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के इस विराट् सत्संग-समारोह के अवसर पर आपलोगों ने मुझे उच्चासन पर आसीन किया, इसके लिए मैं आपलोगों का आभारी हूँ। साथ ही आपलोग मुझसे कुछ अध्यात्म-चर्चा सुनना चाहते हैं, यह आपलोगों के उदार एवं विशाल हृदय का परिचायक है। एतदर्थ में आपलोगों को धन्यवाद और साधुवाद देता हूँ। किसी सुभाषितकार ने कहा है—

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिः यावत् वेदान्तकेशरी।।

अर्थात् अन्यान्य शास्त्र-रूप शृगाल तबतक ही बोलते हैं, जबतक वेदान्त-केशरी का गर्जन नहीं होता। सिंह-गर्जन के समक्ष अन्य किसी वन्य जन्तु का गर्जन कोई मूल्य नहीं रखता। समुद्र-गर्जन के सामने सरिता-सुर की स्थिति कहाँ? अथवा दूसरे शब्दों में जाज्वल्यमान दिनकर के आगे टिमटिमाते दीपक की हस्ती क्या? परम पूज्य सद्गुरु देवजी के वचनामृत के पश्चात् मेरा कुछ कहना कैसा होगा, आपलोग स्वयं समझ सकते हैं। हाँ, उनके प्रवचन के पूर्व यदि मैं कुछ कहता, तो बात कुछ दूसरी होती और तब कुछ अंश में ठीक भी कहा जा सकता। किन्तु....। फिर भी प्रातःस्मरणीय परम पूज्य गुरुदेवजी महाराज का आदेश है कि कुछ कहूँ, अतएव उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर आपलोगों को यथाशक्ति सामयिक सेवा करने की चेष्टा करूँगा।

इस सत्संग के द्वारा ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर-भक्ति का प्रचार होता है। ईश्वर-भक्ति आरम्भ करने के पूर्व उसके स्वरूप की अभिज्ञता अवश्य होनी चाहिए; किन्तु मुझ जैसे से परमात्म-स्वरूप के संबंध में कलात्मक ढंग से कहा जाना अथवा उसपर प्रकाश डालना सहज नहीं, टेढ़ी खीर है; क्योंकि यह ज्ञान बड़ा गम्भीर है। यदि कहा जाए कि ब्रह्म-ज्ञान से बढ़कर अन्य कोई ज्ञान नहीं, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिन्होंने ब्रह्म-तत्त्व का स्वरूपतः ज्ञान प्राप्त किया है, उनको ही इस संबंध में कहने का अधिकार है और वे ही यथार्थतः कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त जन का कथन तो जन्मान्ध द्वारा हाथी के रूप को बताने जैसा होगा अर्थात् टटोली हुई बात होगी, आँखों देखी—अपरोक्ष नहीं। संत कबीर साहब बड़े मजे की बात कहते हैं—

अंधरन को हाथी सही, है साचे सगरे।

हाथन की टोई कहै, आँखिन के अंधेरे।।

एक महात्मा का कथन है–'यदि कहें कि (ब्रह्म को) जान लिया, तो अत्युक्ति है और यदि कहें कि जाना नहीं, तो यह भी यथार्थ नहीं है। हाँ, यह कह सकते हैं कि समुद्र का जल जितना एक नन्हे से सीमित लोटे में आ सकता है, उतना अल्पज्ञ ने सर्वज्ञ को जाना।' और संत कबीर कहते हैं–

पाया कहै ते बावरे, खोया कहै ते कूर।
पाया खोया कछु नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर।।

अगर कोई कहता है कि मैंने ईश्वर को पाया, तो वह पागल है अथवा यदि कहता है कि खोया हुआ है, तो वह दुष्ट है; क्योंकि ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ परमात्मा नहीं अर्थात् वह सर्वत्र भरपूर है।

वस्तुतः परमात्म-स्वरूप वर्णनातीत वा वाणी-अतीत होने के कारण जैसा कहा जाता है, वैसा वह नहीं है। इसीलिए वेद ने ब्रह्म को 'अवाङ् मनसगोचर' कहा है तथा उपनिषद् में–'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' (शाण्डिल्योपनिषद्) जिसको प्राप्त करने में मन सर्वदा असमर्थ है और वाणी की गति जहाँ नहीं है, उसके विषय में कौन क्या कह सकता है?

जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोय।
कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होय।।
–संत कबीर साहब

कठोपनिषद् में एक मंत्र आया है–

पराञ्चिखाणिव्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

तात्पर्य यह है कि परम प्रभु परमात्मा को प्राप्त करने में चेतन आत्मा ही समर्थ है, अन्य कोई इन्द्रिय नहीं। किन्तु अफसोस? चेतन आत्मा देख सकती है, तो बोल नहीं सकती और वागिन्द्रिय बोल सकती है, तो देख नहीं सकती। बड़ी विचित्र बात मालूम पड़ती है।

इस संबंध की एक मनोहर कथा सुनिये। एक अरण्यवासी साधु थे। वे अपनी कुटिया में बैठे थे। आखेट करते हुए उसी वन में एक व्याधे ने एक हिरण को तीर मारा। वह शरविद्ध मृग उसी होकर भागता हुए एक झाड़ी में जा छिपा। थोड़ी देर बाद व्याधे ने आकर साधु से पूछा–'महात्मन्! क्या आपने वाण-विद्ध हिरण को जाते देखा है?' साधु बड़े असमंजस में पड़े। वे सोचने लगे–क्या करूँ? क्या कहूँ? सत्य बोलने से मृग की जान जाएगी और असत्य भाषण महापाप है।

नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।।

फिर प्रत्युत्पन्नमति साधु ने कहा–"भाई व्याध! जिसने देखा, वह बोल नहीं सकती और जो बोल सकता है, उसने देखा नहीं, मैं क्या कहूँ?" व्याधा वापस चला गया। मृग की जान बच गई। साधु के इस कथन का तात्पर्य क्या हुआ? आँख देख सकती है; लेकिन वह बोल नहीं सकती और मुँह बोल सकता है; परन्तु वह देख नहीं सकता। संत कबीर साहब की वाणी सुनिये, वे कितने पते की बात कहते हैं–

जो देखै सो कहै नहिं, कहै सो देखै नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना दृग स्रवन काहिं।।

ठीक इसी तरह ईश्वर के संबंध में है। किसी भी विषय को कहने-सुनने वा समझाने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। बिना इन्द्रिय-व्यापार के कथन, श्रवण वा मनन नहीं हो सकता। परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति जहाँ जिस अवस्था में होगी, वहाँ उस अवस्था में स्थूल वा सूक्ष्म, बाह्य या आंतरिक किसी भी करण की पहुँच नहीं, फिर उसके संबंध में कैसे क्या कहा जाए? तो कहते हैं कि जो कोई वहाँ पहुँचे हैं, उनसे ही पूछो कि यथार्थ बात क्या है? इसके उत्तर में संत कबीर साहब कहते हैं–

उततें कोइ न बाहुरा, जासे पूछूँ जाय।
इततें सबहीं जात हैं, भार लदाय-लदाय।।

संत कबीर के इस उत्तर से समस्या सुलझने के बजाय और गम्भीर हो उलझ जाती है। वस्तुतः बात भी सत्य है। प्रायः देखा भी जाता है कि इस असार संसार को छोड़कर नित्य प्रति कुछ-न-कुछ लोग क्रम-क्रम से परलोक के लिए प्रस्थान कर रहे हैं; किन्तु वहाँ से लौटकर कोई आये हैं, ऐसा सामान्य ज्ञान में ज्ञात नहीं होता।

आप कहेंगे, उपर्युक्त वाक्य 'सामान्य ज्ञान में ज्ञात नहीं होता।' श्रवण कर मन से एक आशा-किरण का स्फुटन होता है और आकुल हृदय जिज्ञासा लेकर खड़ा होता है कि 'यदि सामान्य ज्ञान में नहीं हो, तो विशेष ज्ञान में इसकी अभिज्ञता अवश्य होनी चाहिए।' इसके समाधान-हित संत-महात्मागण कहते हैं–हाँ, क्यों नहीं? संत कबीर साहब की वाणी में सुनिये–

उततें सतगुरु आइया, जाकी मति है धीर।
भवसागर के जीव को, खेइ लगावैं तीर।।

अर्थात् सर्वेश्वर के स्वरूप की सही जानकारी के लिए संत सद्गुरु के पास जाओ। श्रीमद्भगवद्गीता भी इसकी परिपुष्टि करती है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण गीता अ० ४/३४ में कहते हैं–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिस्तत्त्वदर्शिनः।।

इसे तू तत्त्व के जाननेवाले ज्ञानियों की सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेक-सहित बारम्बार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे।

इस विषय पर महात्मा गाँधीजी ने 'अनासक्ति-योग' में बड़ी अच्छी टिप्पणी लिखी है–ज्ञान प्राप्त करने की तीन शर्तें–प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा; इस युग में खूब ध्यान में रखने योग्य है। प्रणिपात यानी नम्रता, परिप्रश्न यानी बार-बार पूछना। सेवा-रहित नम्रता खुशामद में खप सकती है और ज्ञान खोज के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए जबतक समझ में न आवे, तबतक शिष्य का गुरु से नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना जिज्ञासा की निशानी है, इसमें श्रद्धा की आवश्यकता है। जिस पर श्रद्धा नहीं होती, उसकी ओर हार्दिक नम्रता नहीं होती, उसकी सेवा तो हो ही कहाँ से सकती है?

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् में लिखा है कि जिज्ञासु शिष्य को कैसा होना चाहिए, उपदेष्टा गुरु कैसा होना चाहिए तथा गुरु के निकट जाकर तत्त्व-ज्ञान-हित किस भाँति प्रार्थना करनी चाहिए–

"शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्त-स्तपोनिष्ठः।शिष्यो ब्रह्मनिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणापूर्वकं दण्डवत् प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसंगम्य भगवन् गुरो मे परमतत्त्व रहस्यं विविच्य वक्तव्यमिति।"

अर्थात् शान्त, दमनशील, अति विरक्त, अति शुद्ध, गुरु-भक्त, तपोनिष्ठ शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर प्रदक्षिणा और दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़कर नम्रता के साथ कहे–'हे भगवन् मेरे गुरु! परम तत्त्व-रहस्य विवेचन के साथ मुझे बतलाइये।' अपने प्रातःस्मरणीय परम पूज्य श्रीसद्गुरु महाराजजी के शब्दों में मैं कह सकूँगा–किसी से कोई विद्या सीखनेवाले को सिखानेवाले से नम्रता से रहने का तथा उसको प्रेम-सहित कुछ सेवा करने का ख्याल हृदय में स्वाभाविक ही उदय होता है, इसलिए गुरु-भक्ति स्वाभाविक है। गुरु-भक्ति के विरोध में कुछ कहना फजूल है। निस्सन्देह अयोग्य गुरु की भक्ति को बुद्धिमान आप त्यागेंगे और दूसरे से भी इसका त्याग कराने की कोशिश करेंगे, यह भी स्वाभाविक ही है।' परमात्म-स्वरूप के संबंध में कठोपनिषद् में लिखा है–

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

वह परब्रह्म परमेश्वर न तो वाणी से, न मन से और न नेत्रों से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अस्तीत्येवोपलब्ध व्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।

अतः उस परमात्मा के लिए कि 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक ग्रहण करना चाहिए अर्थात् पहले उसके अस्तित्व का दृढ़ निश्चय करना चाहिए। तदनन्तर तत्त्वभाव से भी उसे प्राप्त करना चाहिए।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।

साधक के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं, वे सब-की-सब जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरण-धर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और वह यहीं ब्रह्म का भलीभाँति अनुभव कर लेता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।।

जब हृदय की सारी ग्रंथियाँ भली-भाँति खुल जाती हैं, तब वह मरणधर्मा मनुष्य इसी जीवन में अमर हो जाता है। बस, इतना ही सनातन उपदेश है।

ईश्वर-स्वरूप की उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए संत सुन्दरदासजी कहते हैं–

भूमि पर अप आपहू के परे पावक है।
पावक के परे पुनि, वायुहू बहत है।।
वायु के परे व्योम, व्योमहू के परे इन्द्री दश।
इन्द्रिन के परे, अन्तःकरण रहत है।।
अन्तःकरण पर, तीनों गुण अहंकार।
अहंकार पर, महतत्त्व कूँ लहत है।।
महतत्त्व पर मूल माया, माया पर ब्रह्म।
ताहितें परात्पर, सुन्दर कहत है।।

यह विज्ञान-सम्मत बात है कि जो पूर्व का पदार्थ होता है, वह परापेक्षा सूक्ष्म होता है और सूक्ष्म तत्त्व स्वाभाविक ही अपने से स्थूल में व्यापक हो स्व-मण्डल उससे ऊपर रखता है। प्रमाणार्थ पंच भौतिक

जगत् में आकाश सर्वापेक्षा सूक्ष्म होने के कारण अन्य चार तत्त्वों–क्षिति, जल, पावक और समीर में व्यापक होकर अपना मण्डल ऊपर रखता है। इसी प्रकार पवन तीन तत्त्वों–पृथ्वी, पानी और पावक में; अग्नि दो तत्त्वों–अहि और अप में तथा जल केवल पृथ्वी में प्रविष्ट होकर निज मण्डल ऊपर रखता है।

यदि सर्वसाधारण इन बातों को यथार्थतः अवगत नहीं कर सकें, तो वे इस प्रकार समझें। आप थोड़ी-सी मिट्टी को पानी में घोलकर एक साफ शीशे के पात्र में बंद करके रख दीजिए। कुछ घण्टे के बाद देखने से आप प्रत्यक्ष पाएँगे कि मिट्टी शीशे के नीचे के भाग में जम गयी है और पानी उसके ऊपर है। तात्पर्य यह हुआ कि जलापेक्षा मिट्टी स्थूल होने के कारण नीचे रह गई और जल उस (मिट्टी) में व्यापक होकर उसके ऊपर अवस्थित हो गया। इसी तरह अन्य तत्त्वों के संबंध में भी जानें। साथ ही, यह भी जानें कि उन पंच तत्त्वों के परे दशेन्द्रियाँ हैं, दशेन्द्रियों के परे चतुष्टय अन्तःकरण, चतुष्टय अन्तःकरण के परे त्रय गुण, त्रय गुण के परे अहं, अहं के परे बुद्धि, बुद्धि के परे जड़ात्मिका (अपरा) प्रकृति, अपरा प्रकृति के परे चेतनात्मिका प्रकृति और उसके भी परे परमात्म-स्वरूप है। अब यह सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते-होते परमात्म-स्वरूप की सूक्ष्मता और उसकी व्यापकता कितनी अधिकतम हो जाएगी? सर्वापेक्षा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व को यदि हम स्थूल वा सूक्ष्म किसी इन्द्रिय से प्राप्त करना चाहें, तो यह कितना हास्यास्पद होगा, विवेकी जन विचार सकते हैं।

यही कारण है कि ऋषियों एवं संतों ने बताया है कि इन्द्रियातीत ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान चेतन आत्मा को होगा; क्योंकि वह भी उसी भाँति का सूक्ष्म है। किन्तु स्मरण रहे कि जबतक चेतन आत्मा जड़ के साथ संयुक्त रहेगी, तबतक वह उस ईश्वर की अपरोक्षानुभूति में सर्वथा असमर्थ रहेगी। अतएव आवश्यकता है कि ऐसी क्रिया-विशेष की, जिसके द्वारा चेतन आत्मा जड़ से पृथक् होकर कैवल्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सके।

यदि कहा जाए कि 'चेतन-आत्मा के कारण ही नेत्रेन्द्रिय दृश्यावलोकन करती है, श्रवणेन्द्रिय शब्द श्रवण करती है, रसनेन्द्रिय रसास्वादन करती है, त्वगिन्द्रिय स्पर्श का ज्ञान करती है, नासिका गंध ग्रहण करती है। मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि विचारती है आदि कहने का तात्पर्य यह कि चेतन-युक्त इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं और चेतन-विहीन इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं। तो फिर, जिस चेतन आत्मा से स्थूल-सूक्ष्मादि समस्त इन्द्रियाँ संचालित होती हैं, वह चेतन आत्मा इन्द्रिय-ग्राम में अधिष्ठित रहकर सर्वेश्वर का साक्षात् क्यों नहीं कर सकती?'

इसके उत्तर में संतों ने कहा है–सम्प्रति जड़ और चेतन का संग दुग्ध में घृत की भाँति है अर्थात् जैसे जहाँ पय रहता है, वहाँ घृत भी। वैसे ही जहाँ मन रहता है, वहाँ चेतन भी। जैसे दूध में घी रहता है; परन्तु उससे पूड़ियाँ छनतीं नहीं। हाँ, उस क्षीर से खीर अवश्य बन सकती है; क्योंकि पूड़ियाँ तो घी में छनेंगीं, दुग्ध-मिश्रित घृत में नहीं। इसलिए जब दूध का मंथन करके घृत विलग कर लेते हैं, तब उसमें पूड़ियाँ छनती हैं। ठीक इसी भाँति ध्यान के मंथन से जड़-चेतन भिन्न-भिन्न हो जाता है। चेतन आत्मा के ऊपर से स्थूल-सूक्ष्मादि जड़ के सभी आवरण उतर जाते हैं और इसी कैवल्य दशा में ब्रह्म की अनुभूति होती है। एक महात्मा ने बहुत ही अच्छा कहा है–

जिमि दूध के मथन से, निकसत है घी जतन से।
तिमि ध्यान की लगन से, पर ब्रह्म ले निहारा।।

इसी विषय को अब एक दूसरी तरह से समझें–जाग्रत अवस्था में हमको अपने स्थूल शरीर का ज्ञान रहता है, तो स्थूल संसार का भी। जाग्रत अवस्था से जब हम स्वप्नावस्था में जाते हैं, तो हम अपने स्थूल शरीर का ज्ञान भूल जाते हैं। फलस्वरूप स्थूल संसार का भी ज्ञान नहीं रहता। अपने स्थूल शरीर की सुधि हमें नहीं रहने के कारण हम यह नहीं जान पाते कि उस समय स्थूल संसार में कहाँ क्या हो रहा है? और तो और, हमें यह भी पता नहीं कि हमारे निकट हमारे मित्र बैठे हैं वा शत्रु? वे हमारी प्रशंसा कर रहें वा निन्दा? किन्तु जगने पर जैसे ही हमें अपने स्थूल शरीर का ज्ञान होता है, वैसे ही स्थूल संसार का भी ज्ञान हो जाता है और तत्सम्बन्धी कार्य-कलाप भी। इसी भाँति जब हम स्व-स्वरूप को स्वरूपतः जान पायेंगे, तभी परमात्म-स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। जबतक अपने आत्म-स्वरूप का हमें अनुभव नहीं होता, तबतक ईश्वर-स्वरूप के प्रत्यक्ष

ज्ञान से भी हम दूर रहेंगे। इसलिए आवश्यकता है कि हम अपने स्वरूप को जड़ से पृथक् कर प्रत्यक्ष पावें।

अपनी स्थिति का बौद्धिक ज्ञान तो सबको है; किन्तु उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। किसी से पूछने पर कि आप कौन हैं? हम उत्तर देते हैं–'हम हैं' अथवा 'मैं हूँ'। हम नहीं हैं अथवा मैं नहीं हूँ, ऐसा कोई नहीं कहते। यदि कोई पूछता है कि आप कौन हैं–शरीर हैं? तो हम कहते हैं–नहीं, मैं शरीर नहीं, शरीर में रहनेवाला हूँ। उनके पुनः प्रश्न करने पर कि आप शरीर नहीं हैं, तो क्या शरीर के अवयव–आँख हैं वा कान? नाक हैं वा जिभ्या? त्वचा हैं वा हस्त? पाद हैं वा मुख? उपस्थ हैं वा पायु? ये सब आप हैं? तो हम कहेंगे–नहीं, मैं इनमें से कुछ नहीं, ये सब तो मेरी इन्द्रियाँ हैं। इतना ही नहीं, मैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार भी नहीं हूँ, ये मेरी अन्तरिन्द्रियाँ हैं। तत्पश्चात् प्रश्नोदय हो कि आप पाँच तत्त्व, तीन गुण हैं वा इनमें से कुछ हैं? तो कहेंगे–पंच तत्त्वों और त्रय गुणों से शरीर और संसार-निर्मित्त है; किन्तु मैं इन सबसे भिन्न हूँ। यदि कहा जाय कि कथित वस्तुओं में से कोई एक भी स्वीकारात्मक सिद्ध नहीं हुई, सभी नकारात्मक ही हुई, तो आखिर आप हैं कौन? इसका उत्तर संत सुन्दरदासजी की वाणी में सुनिये–

तू तौ कछु भूमि नाहिं, अप तेज वायु नाहिं।
व्योम पंच विष नाहिं, सो तौ भ्रम कूप है।।
तू तौ कछु इन्द्रिय रु, अन्तःकरण नाहिं।
तीन गुन तू तौ नाहिं, न तौ छाहिं धूप है।।
तू तौ अहंकार नाहिं, पुनि महतत्त्व नाहिं।
प्रकृति पुरुष नाहिं, तू तौ स्व अनूप है।।
सुन्दर विचार ऐसे, शिष्य सूँ कहत गुरु।
नाहिं नाहिं कहत रहै, सोई तेरो रूप है।।

किन्तु इतने विवेचन के बाद भी क्या स्वरूपानुभूति हुई? नीर के बीच मीन का पिपासित रहना जितना हास्यास्पद है, उससे कहीं अधिक हास्य और आश्चर्य का विषय है कि जिस शरीर में 'हम' रहें, उस शरीर की तो हमें पहचान हो और हम स्वयं कौन हैं, इसका पता नहीं। एक बंगाली साधु ने प्रश्नोत्तर के रूप में इस विषय का कितना मर्मस्पर्शी विवेचन किया है। वे कहते हैं–

आमी आमी करी, बुझिते ना पारी,
के आमी अमाते आछे की रतन।
कौन शक्ति बले, बेड़ाइ चलि-बलि,
कार अभावे हले हय देह अचेतन।।
देह माँझे आछे प्राणेरि संचार,
ताहा तेई बली आमी बा आमार।
प्राण गेले चले हवे शवाकार,
केवाकार कोथाय रबे धन-जन।।

अर्थात् मैं-मैं करता हूँ, किन्तु समझ में नहीं आता कि मैं कौन हूँ तथा मुझमें क्या रत्न–बहुमूल्य तत्त्व है, किस शक्ति से बोलता हूँ, चलता हूँ? और किस तत्त्व के अभाव में यह शरीर अचेतन–जड़वत् हो जाता? इस शरीर में प्राण का संचरण है, उसी को 'मैं' वा 'मेरा' शब्द से सम्बोधित करते हैं। प्राण के उत्क्रमण करने पर यह शरीर शववत् हो जाता है, फिर उससे संबंधित धन और जन किसका कहाँ रहता है? इसी प्राण वा चेतन को संत सुन्दर दासजी ने पच्चीसवाँ तत्त्व बताकर उसे जीव की संज्ञा दी और छब्बीसवाँ तत्त्व को ब्रह्म शब्द से अभिहित किया; यथा–

क्षिति जल पावक पवन नभ मिलि करि,
शब्द अरु सपरस, रूप रस गन्ध जू।
श्रोत्र त्वक चक्षु घ्राण, रसना रस को ज्ञान,
वाक पाणि पाद पायु, उपस्थहि बन्ध जू।।
मन बुद्धि चित्त अहंकार, ये चौबीस तत्त्व,
पंचविंश जीवतत्त्व, करत है द्वन्द्व जू।
षटविंश जानु ब्रह्म, सुन्दर सु निहकर्म,
व्यापक अखण्ड एक रस निरसंध जू।।

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के त्रयोदश अध्याय में सत्ताईस तत्त्वों के समूह को क्षेत्र और इकतीस तत्त्वों के समुदाय को सविकार क्षेत्र कहा है। साथ ही, उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं तथा इस क्षेत्र को जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ यानी जीवात्मा है। जैसे–गीता अध्याय १३–

महा भूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रिय गोचराः।।५।।
इच्छा द्वेष सुखं दुःखं संघातश्चेतना घृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहतम्।।६।।

तथा, गीता में है–

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

इसी प्रकार गीता १५/७ में भगवान ने इस

शरीर में बसनेवाले जीव को अपना सनातन अंश कहा है। '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**'

मानो इसी का भाषानुवाद कर गो० तुलसीदासजी ने 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' कहा है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–'शरीर-आत्मा परब्रह्म का ही अंश है। तथापि अंश या भाग शब्द का अर्थ–काटकर अलग किया हुआ टुकड़ा या अनार के अनेक दानों में से एक दाना नहीं है; किन्तु तात्त्विक दृष्टि से उसका अर्थ यह समझना चाहिए कि जैसे घर के भीतर का आकाश और घड़े का आकाश (मठाकाश और घटाकाश) एक ही सर्वव्यापी आकाश का ही भाग है, उसी प्रकार शरीर-आत्मा भी परब्रह्म का अंश है।

(गीता-रहस्य)

ब्रह्मविन्दूपनिषद् में लिखा है–

घट संभूतमाकाशं लीयामाने घटे यथा।
घटो लीयते नाकाशं तद्वज्जीवो घटोपमः ।।

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के शब्दों में–

जीवात्म प्रभु का अंश है, जस अंश नभ को देखिये।
घट मठ प्रपंचन्ह जब मिटैं, नहिं अंश कहना चाहिये।।

जब यह निश्चित हो गया कि हम इस शरीर में हैं, तो अपने शरीर में अपने को खोजना अत्यंत अपेक्षित है। अपने अन्दर खोज करने के लिए हमें क्या करना होगा? जब हम बाहर की वस्तुओं को आँख खोलकर खोजते हैं, तब भीतर की वस्तु की खोज में आँख बंद करके करनी चाहिए, यह युक्तियुक्त बात है; क्योंकि बाहर का उल्टा भीतर होता है। आँख बंद करने पर क्या मालूम होता है? आँख बंद करके देखिये, अंधकार! घोर अंधकार!! अब आप अपने से प्रश्न कीजिये–मैं कहाँ हूँ? उत्तर आवेगा–मैं अंधकार में हूँ। यह अंधकार कहाँ है? नयनाकाश में। इस नयनाकाश में आपका वासा है अथवा दूसरे शब्दों में इसी नयनाकाश के अंधकार में 'हम हैं।'

इसी विषय को संत कबीर साहब ने प्रश्नोत्तर के रूप में इस भाँति कहा है–

इस तन में मन कहाँ बसै, निकसि जाय केहि ठौर।
गुरु गम है तो परखि ले, नातर कर गुरु और।।

इसके उत्तर में उन्होंने बताया है–

नैनों माहिं मन बसै, निकसि जाय नौ ठौर।
गुरुगम भेद बताइया, सब सन्तन सिरमौर।।

आप कहेंगे, प्रसंग तो जीवात्मा, चेतन आत्मा वा प्राण का चल रहा था, बीच में यह 'मन' का प्रसंग क्यों आ गया? तो उत्तर में निवेदन है कि यह कोई असामयिक चर्चा नहीं; क्योंकि जैसे जहाँ दूध रहता है, वहाँ घृत भी। इसी दृष्टिकोण को अपनाये रखकर संत कबीर ने नेत्र में मन वा जीवात्मा का निवास बताया, पश्चात् साधना-द्वारा ऊर्ध्वगति होने पर मन नीचे छूट जाता है और चेतन का ऊपर आरोहण होता है। इसी भाँति संत दरिया साहब (बिहारी) कहते हैं–

जानि ले जानि ले सत्त पहचानि ले,
सुरत साँची बसे दीद दाना।
खोलो कपाट यह बाट सहजै मिलै,
पलक परबीन दिव दृष्टि ताना।।
ऐन के भवन में बैन बोला करै,
चैन चंगा हुआ जीति दाना।
मनी माथे बरे छत्र फीरा करै,
जागता जिन्द है देखु ध्याना।।

चेतन स्वभावतः चलनात्मक होने के कारण किसी एक जगह स्थिर नहीं रहता। वह शरीरान्तर्गत विभिन्न स्थानों में भ्रमण करता रहता है। यही कारण है कि स्थान-भेद से अवस्था-भेद और अवस्था-भेद से ज्ञान-भेद होता है। जाग्रत अवस्था में जीव की बैठक शरीर के जिस स्थान में रहती है, स्वप्न में उससे भिन्न और सुषुप्ति में उससे भी भिन्न स्थान में हो जाती है अर्थात् जाग्रत में जीव का वासा नेत्र में, स्वप्न में कण्ठ में, सुषुप्ति में हृदय में और तुरीय में मस्तक में होता है। इसी को ब्रह्मोपनिषद् में इस भाँति कहा है–

जाग्रत स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः।
नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्।।

और चरणदासजी कहते हैं–

जाग्रत वासा नैन में, स्वप्न कण्ठ स्थान।
जान सुषुप्ति हृदय में, नाभि तुरिय मन तान।।

वर्णित विषय वाणी-विलास नहीं; विज्ञान-सम्मत है। यदि कोई तर्क की कसौटी पर कसना चाहे, तो कसकर देख ले, यह बिल्कुल खरा उतरेगा।

जीव का वासा जाग्रत में आँख में, स्वप्न में कण्ठ में, सुषुप्ति में हृदय में और तुरीय में मूर्द्धा में

होने का भी रहस्य है। आप विचार कर देखें—शरीरस्थ बाह्येन्द्रियों में किस इन्द्रिय का स्थान सबसे ऊपर है। आप कहेंगे—आँख का। क्यों? शरीर और इन्द्रियों का राजा मन है। राजा का स्थान सबसे ऊपर होता है। ऊपर में निवास करनेवाला नीचे के निवासियों को सरलतापूर्वक देख सकता है और उसका ज्ञान रख सकता है। जैसे पर्वतारूढ़ जन पृथ्वीतल के जीव-जन्तुओं को देखता और उसके कार्य-कलापों से अवगत होता है, वैसे ही शरीर-इन्द्रियों का अधिपति जीवात्मा ऊपर अवस्थित होकर इन सबका निरीक्षण करता रहता है अर्थात् स्थूल शरीर का ज्ञान रखता हुआ स्थूल संसार का भी ज्ञान रखता है।

नेत्र से नीचे उतरकर कण्ठ में आने पर वह स्वप्नावस्था में आ जाता है, फलस्वरूप स्थूल शरीर और स्थूल संसार के ज्ञान से विस्मृत हो जाता है। ऐसा देखा जाता है कि कितने जन की आँखें स्वप्नावस्था में खुली रहती हैं; लेकिन उनसे वह कुछ देख नहीं सकता। यदि मुँह में मिसरी लेकर कोई सो जाय और वह स्वप्न में देखे कि मैं नीम का दँतवन करता हूँ, तो उसको उस समय नीम के तीतेपन वा कड़ुवेपन का ही ज्ञान होगा, मिसरी के मीठेपन का नहीं। इस प्रकार वह स्थूल जगत् से संबंध-विच्छेद कर मानसिक जगत् में विचरण करता है और तदनुरूप सुख वा दुःख का भोक्ता बनता है। बिना स्वर की सहायता से कोई बोल नहीं सकता। संतों ने कण्ठ को षोड़शदल कमल बताकर वहाँ सोलह स्वर का स्थान बताया है। यही कारण है कि कितने लोग स्वप्न में बोलते हैं, जिनकी वैखरी वाणी अन्य जन सुन पाते हैं। इस नमूने से सिद्ध होता है कि जीव का वासा स्वप्नावस्था में कण्ठ में होता है।

कण्ठ से नीचे हृदय में आने पर स्वप्नावस्था से सुषुप्ति अवस्था में आ जाता है। उस समय स्वप्नावस्था की तरह मनोमय जगत् वा मानसिक दृश्य नहीं देखता। साथ ही हृदय में स्वर वर्ण नहीं रहने के कारण वह कुछ बोल नहीं सकता। बाह्य जगत् से बेसुध होकर वह बिछावन पर पड़ा रहता है। फिर भी उसके हृदय की गति बंद नहीं होती, क्रियाशील रहती है। पुनः जब जीव हृदय से ऊपर उठकर कण्ठ में आता है, तब वह सुषुप्ति अवस्था से स्वप्न अवस्था में आ जाता है और मनोकल्पित जगत् में भ्रमण करने लगता है। पश्चात् जब नेत्र में आकर जाग्रत अवस्था प्राप्त करता है, तो उसे स्थूल शरीर और स्थूल संसार का पूर्ववत् ज्ञान हो जाता है।

इन प्रमाणों से चेतन आत्मा के गमनागमन का ज्ञान सरलतापूर्वक हो जाता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्थान-भेद से अवस्था-भेद और अवस्था-भेद से ज्ञान-भेद होता है। आशय यह कि जीवात्मा के अवरोहण में ज्ञान-हीनता और आरोहण में ज्ञान की वृद्धि होती है। इसको इस तरह से भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे हम नीचे उतरते गये, वैसे-वैसे अज्ञानता बढ़ती गई और जैसे-जैसे हम ऊपर उठते गये, वैसे-वैसे हमारा ज्ञान बढ़ता गया।

संतों ने बताया कि यदि तुम इन तीनों अवस्थाओं के परे चौथी अवस्था में जाओ, तो तुमको अपनी तईं का और परमात्म-स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाए। अतएव आवश्यकता है ऐसी साधना-विधि की जानकारी की, जिससे चौथी—तुरीय अवस्था में अवस्थित होकर निज की ओर परम प्रभु परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति हो सके। ❐ (दिसम्बर, १९७०)

दिनांक—२८.१०.१९६६, ५८वाँ महाधिवेशन का विशेषाधिवेशन

१४.संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ

आदरणीय सज्जनवृंद, माताओ एवं बहनो!

आपलोगों को देखकर प्रसन्नता होती है कि आपलोगों को सत्संग से कितना स्नेह है। आपलोग वास्तव में श्रम, सम्पत्ति और समय का सदुपयोग करना जानते हैं। इसका यह प्रतीक है कि आपलोग कष्ट उठाकर भी सत्संग के हेतु यत्र-तत्र से एकत्र होकर यहाँ पधारे हैं। वे बड़े भाग्यशाली होते हैं, जिनका मन सत्संग में लगता है। यह सत्संग ईश्वर की अहैतुकी अनुकम्पा से ही मिलता है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने अपनी विनय- पत्रिका में लिखा है—

जब द्रवहिँ दीन दयाल राघव, साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक, पाप रासि नसाइये।।

तथा–

संत संग अपबर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोबिद, स्रुति पुरान सदग्रंथ।।

अर्थात् संत, कवि, पण्डित, वेद, पुराण और सद्ग्रंथ कहते हैं कि संतों का संग मोक्ष का है और संसारासक्तजन का संग संसार-मार्ग का।

यह प्रत्यक्ष है कि रज-कण पवन-प्रसंग से गगनगामी होता है और वही नीर का संग कर नीच अवस्था को प्राप्त होता है। धुआँ कुसंग पाकर कालिख होता है और सुसंग पाकर सुन्दर स्याही बन जाता है। यही कारण है कि बुधजन कुसंग का परित्याग कर सुसंग वा सत्संग किया करते हैं। परिणामस्वरूप सत्संग के द्वारा सद्ज्ञान मिलता है, जिससे सरलतापूर्वक संसार-सागर से मुक्ति मिलती है।

मुक्ति कहिये अथवा मोक्ष; एक ही बात है, जिसका अर्थ होता है–छूट जाना। किससे छूट जाना? संसृति-संताप से, आवागमन के चक्र से, शरीर और संसार के बन्धनों से। बाबा नानकदेवजी ने बड़ा अच्छा कहा है–

भूलिउ मनु माइआ उरझाइउ।
जो जो करम कीउ लालच लगि, तिह-तिह आपु बंधाइउ।।
समझ न परी बिखै रस रचिउ, जसु हरि को बिसराइउ।
संगि सुआमि सो जानिउ नाहिन, वनु खोजन कउ धाइउ।।
रतनु राम घट ही के भीतरि, ताको गिआनु न पाइउ।
जन नानक भगवन्त भजन बिन, बिरथा जनमु गवाइउ।।

इस तरह हम मायिक बन्धनों से बँधे हैं–जकड़े हैं। किन्तु यह बंधन भी अद्‌भुत है, विचित्र है, ओह! यह प्रबल माया-मोह मानो मानव मात्र को ऊहापोह में डालकर नरक के गर्त में गिराने की टोह में ही रहता है। बन्धन भी कैसा जबर्दस्त और भयंकर है। भगवान बुद्ध कहते हैं–"यह जो लोहे, लकड़ी या रस्सी का बंधन है, उसे बुद्धिमान जन दृढ़ बन्धन नहीं कहते। वस्तुतः दृढ़ बन्धन है–मणि, कुण्डल, पुत्र और स्त्री में इच्छा का होना।" यह मोह की बेड़ी कितनी मजबूत है कि खिंच जाती है, लचक जाती है; परन्तु टूटती नहीं। गोस्वामीजी कहते हैं–

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी।।
सो माया बस भयेउ गोसाईं।
बँधेउ कीर मर्कट की नाईं।।
जड़ चेतनहि ग्रंथि पड़ि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

हम बन्धन-युक्त होते हुए भी बन्धन-मुक्त हैं और बन्धन-मुक्त होते हुए भी बन्धन-युक्त हैं–सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है। विचार करने पर विस्मय होता है, हँसी लगती है और अपने पर तरस भी आता है। क्यों? इसलिए कि हम ईश्वर अंश होने के नाते स्वरूपतः ईश्वर ही हैं। ईश्वर के ऊपर बन्धन कैसा? प्रखर सूर्य-तेज के सम्मुख अन्धकार का अस्तित्व कहाँ? 'रवि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं?' कदापि नहीं और पाश-बद्ध इसलिए कि हम एक श्वास लेने के लिए भी स्वतंत्र नहीं, हमें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं।

अपुनपौ आपुन ही विसर्‌यो।
जैसे स्वान काँच मंदिर में, भ्रमि-भ्रमि भूकि मर्‌यो।।
हरि सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि मर्‌यो।
ज्यों सपने में रंक भूप भयो, तस करि अरि पकर्‌यो।।
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै, आपुन कूप पर्‌यो।
जैसे गज लखि फटिक शिला में, दसननि जाइ अर्‌यो।।
मरकट मूठि छाड़ि नहिँ दीनी, घर घर द्वार फिर्‌यो।
सूरदास नलनी को सुवटा, कहि कौने जकर्‌यो।।

–संत सूरदासजी

उपर्युक्त सुग्गे और बन्दर को किसने बाँधा है–किसने पकड़ा है? कोई नहीं। सुग्गा स्वयं नली को अपने चंगुल से पकड़ा हुआ अपने मानसिक बंधन से जकड़ा हुआ है और बंदर स्वयं अपने हाथ से संकीर्ण बिल में मिठाई पकड़े हुए है। सुग्गा नली छोड़ दे और बंदर मिठाई छोड़ दे, तो उसका मानसिक बंधन छूट जाए और वह मुक्त हो जाए; किन्तु दोनों के मन की इतनी दुर्बलता है कि बन्धन नहीं रहते हुए भी अपने ऊपर बंधन का मिथ्या आरोप कर दुःखी होता रहता है। यही हालत मानव का है। वह स्वयं माया को पकड़े हुए है और कहता है कि मैं माया-ग्रसित हूँ–माया ने मुझको पकड़ रखा है, अपने पास में बाँध रखा है आदि।

संत-महात्मागण समझाते हैं–'यह मायिक बंधन मिथ्या है; क्योंकि जब माया ही असत्य है, तब फिर उसका बंधन सत्य कैसे हो सकता है? अतएव बंधन झूठा है, मात्र तुम सत्य हो। अपने को जानो–अपने

स्वरूप को पहचानो।' वर्णित कथन वा उल्लिखित आप्त-वचन विश्वसनीय होते हुए भी, उनपर विश्वास करते हुए भी वस्तुतः हम विश्वास नहीं कर पाते। फलतः स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। समस्या सुलझने की जगह उलझती जाती है। कठिनाई किसी भी भाँति हल नहीं होकर अटल-सी व जटिल बन जाती है। ठीक वैसे ही, जैसे कि दिक्-भ्रम होने पर दिशा का ज्ञान खोया रहता है। यद्यपि सभी जन जानते हैं कि सूर्य सदा पूर्व दिशा में ही उदय होता है, अन्य किसी दिशा में नहीं; किन्तु दिशा का ज्ञान खो जाने पर मानव अपने ही ऊपर अपना विश्वास नहीं कर पाता। यद्यपि उसका विचार कहता है कि अन्य दिनों की भाँति दिनकर आज भी प्राच्य दिशा में ही उदित है, तथापि उसका मन इसको स्वीकार नहीं करता। इस तरह उसके मन और उसके विचार में सामंजस्य नहीं हो पाता। मन और विचार के बीच बड़ी खाई पड़ जाती है। वस्तुतः मोह की महिमा बहुत बड़ी है। उसकी सीमा–उसकी चहारदिवारी को लाँघना सहज नहीं, जन साधारण के बूते के बाहर की बात हो जाती है।

अफसोस! मिथ्या मोह-पाश में किसने अपना गला नहीं फँसाया? ममता के जाल में फँसकर किसने अपने को पामाल नहीं किया? जैसे मकड़ी अपने निर्मित जाल में आप फँसती है, वैसे ही मानव अपने मायाजाल में आप फँसकर अपना विनाश करता है। माया के पीछे पड़े प्राणी बँधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं और मन के बंधनों में पड़कर पुनः पुनः चिरकाल तक दुःख पाते रहते हैं। माया की प्रबल धार प्राणी को बड़ी प्रिय और मनोहर लगती है; किन्तु उसके भोग भँवर में पड़कर बारम्बार जन्म और मरण को प्राप्त होते रहते हैं। जैसे दृढ़ मूल के समूल नष्ट नहीं हो जाने से कटा हुआ वृक्ष फिर बढ़ आता है, वैसे ही ममता के बिल्कुल विनष्ट हुए बिना दुःख-चक्र बारम्बार प्रवर्तित होता रहता है। शराबी आदमी शराब के नशे में इहलौकिक लज्जा को खो बैठता है; किन्तु ममता-मद्यप्रमत्त मानव उभय लोकों की लज्जा को धो बैठता है। सांसारिक धन-जन वा पुरजन-परिजन में आसक्त मनवाले मनुष्य को मृत्यु उसी तरह ले जाती है, जैसे सोये गाँव को बड़ी बाढ़। जैसे सर्प के डँसने पर विष चढ़ने से लहरें आती हैं, वैसे ही ममता-साँपिन जिसे काट खाती है, उसे बहुत-सी कुतर्क रूप दुःख देनेवाली लहरें आती रहती हैं।

ममता-ग्रस्त पतित प्राणी अपने को जिस अवस्था में ले जाता है, वह उसके लिए इतनी प्यारी हो जाती है कि उसे वह छोड़ना नहीं चाहता। किन्हीं के समझाने पर भी नहीं समझता। उसका मस्तिष्क ऐसा विकृत हो जाता है कि वह सत्य को स्वीकृत करना नहीं चाहता। फलतः उसके विचार कुछ ऐसे बन जाते हैं कि वह अपने हितैषी के हितकारी वचन को सुनकर भी सुनना नहीं चाहता। इस अवसर पर मुझे मोह की एक बड़ी मधुर और मनोरंजक कथा याद आती है, वह आपलोगों को सुनाऊँ।

किसी समय किसी कारणवश देवराज इन्द्र शूकर बनकर कीचड़ में रहते थे। उनको एक शूकरी थी और शूकरी से उनके बहुत-से बच्चे हो गये थे। वे सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करते थे। कुछ देवगण उनकी इस दुरवस्था को देखकर उनके पास गये और बोले–'आप देवराज हैं, समस्त देवगण आपके शासन के अधीन हैं। फिर आप यहाँ क्यों हैं? आप स्वर्ग पधारें।' इन्द्र ने उत्तर दिया–'मैं बड़े मजे में हूँ। जो सुख मुझे यहाँ उपलब्ध है, उसके सामने स्वर्ग की मुझे परवाह नहीं। यह मेरी शूकरी और ये मेरे बच्चे जबतक हैं, तबतक स्वर्ग आदि मुझे कुछ नहीं चाहिए।' देवगण देवराज की बात सुनकर अवाक् रह गये और उस समय उन्हें कुछ सूझ न पड़ा। कुछ दिनों के पश्चात् देवगण को एक उपाय सूझा। उन्होंने मन में विचार किया–जिससे इनको आसक्ति है, जिसके प्रति इनकी इतनी ममता है, पहले उसको विनष्ट किया जाए। जबतक आकर्षण-वस्तु नष्ट नहीं होगी, तबतक इनकी आसक्ति नहीं छूटेगी। अतएव उन देवों ने एक-एक करके उनके सभी बच्चों को मार डाला। बच्चों का क्रमानुगत मरते देख इन्द्र बहुत रोते और कातर होकर विलाप करते। उनकी शूकरी उनको ढाढ़स दिलाती। इन्द्र भी शूकरी के मुख को देखकर अपने हृदय को थाम्हते–धैर्य धारण करते। 'डूबते को तिनके का सहारा' की भाँति उनकी शूकरी उनका अवलम्ब था। बच्चों को मारकर भी देवगण चुप नहीं बैठे। उन्होंने एक दिन उस शूकरी को भी मार दिया। आज इन्द्र के दुःख का पारावार न था, मानो दुःख का पहाड़ ही उनके ऊपर टूट

पड़ा हो। बच्चों के मरने पर जो मन-बहलाने का, मन लगाने का, धैर्य धारण करने का एक आलम्बन था, आज उससे भी बिछुड़न हो गया। अब तो इन्द्र को रोने-धोने का ठिकाना नहीं रहा। अंत में उस देवगण ने इन्द्र के उस शूकर शरीर को भी चीरकर समाप्त कर दिया। अब अपने रूप में आकर वे अपनी पूर्वावस्था पर सोचकर हँसने लगे और बोले—अफसोस! मैं कैसा भयंकर स्वप्न देख रहा था। आज मेरी नींद टूटी है। कहाँ मैं देवराज इन्द्र और कहाँ यह शूकर शरीर! मैं इसी शरीर शूकर जन्म को ही एकमात्र जन्म समझकर बैठा था। इतना ही नहीं, वरन् समस्त संसार शूकर-देह धारण करे, ऐसी कामना करता था।

मानव भी इसी प्रकार अपने स्वरूप को भूलकर मिथ्या माया के पीछे पागल हो रहा है। समझ रहा है—यही मेरी सन्तति, यही मेरी सम्पत्ति और यही हम दम्पति जो कुछ हैं; सो हैं इसके आगे क्या है? वह तन-मद, मन-मद, धन-मद, गुण-मद, जाति-मद, माया-मद, विद्या-मद, पद-मद प्रभृति मदों की मदिरा पी उन्मत्त हो उठता है। वह कहना जानता है, सुनना नहीं। सज्जनों का सत् वचन भी उसको नहीं जँचता। उसको सारी उलटी-ही-उलटी बातें सूझती हैं। परिणामस्वरूप वह यथार्थता से कोसों दूर रहकर भरपूर कष्टों का भोग भोगता है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज मोह के इस नग्न नृत्य को देखकर कहते हैं—

जिन्ह कृत महामोह मद पाना।
तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना।।

अब प्रश्न होता है—इस महामोह से मुक्त होने के लिए—संसृति-संताप से परित्राण पाने के लिए कोई यत्न है वा नहीं? सभी संतों ने एक स्वर में इसका उत्तर दिया है और वह यह कि सत्संग करो-सत्संग करो। पुनः उन्होंने उसपर प्रकाश डालते हुए बताया कि सत्संग के द्वारा विषयों की ओर से विमुखता होगी, विषय-विमुख होने से जागतिक प्रपंच से आसक्ति छूटेगी, आसक्ति छूटने से मोहहीनता होगी, मोह-रहित होने से निश्चलता आएगी और निश्चलता आते ही जीवन्मुक्त ही दशा आ जाएगी। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर फिर किसी प्रकार का बंधन कैसा? इसी विषय को मदाद्य श्रीशंकराचार्यजी महाराज के शब्दों में सुनिये—

सत्संगत्वे निस्संगत्वं निस्संगत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलितत्वं निश्चलितत्त्वे जीवन्मुक्तिः।।

अर्थात्—

सत्संगति से हो जाता नर विषयों से निस्संग।
फिर व्यामोह रहित हो जाता हो सर्वत्र असंग।।
मोह विगत होते ही होता मन निश्चलता युक्त।
निश्चलता आते ही वह हो जाता जीवन्मुक्त।।

परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने 'सत्संग' को बाह्याभ्यन्तर कहकर दो भागों में विभक्त किया है। यथा—

धर्म कथा बाहर सत्संगा। अन्तर सतसंग ध्यान अभंगा।।

आवश्यकता है उभय भाँति के सत्संग की सद्युक्ति पाकर संयमपूर्वक नित्य निरन्तर अभ्यास करने की। ❖ (अक्टूबर २०१०)

पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन भागलपुर स्थित महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में दिनांक १५.१२. १९६८ ई० को साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर हुआ था।

१५. घूँघट के पट खोल रे तोको पीव मिलेंगे

आपलोग जानते हैं कि एक होते हैं—रसोई बनानेवाले और दूसरे होते हैं—परोसनेवाले। पाककर्ता द्वारा सुन्दर सुस्वादु भोजन तैयार किये जाने पर भी परोसनकर्ता यदि कुशल नहीं हो, तो भोजनकर्ता भूखे रह जाएँ, कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि भोजन करनेवालों में सभी एक ही प्रकृति के नहीं होते—भिन्न-भिन्न प्रकृति के हुआ करते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि किन्हीं की रुचि मिठाई में होती है, तो किन्हीं की खटाई में, किन्हीं की रुचि मिरचाई में, तो किन्हीं की तीताई में, कोई नमकीन पसंद करते हैं, तो कोई इस विषय में बिल्कुल गमगीन रहते हैं आदि।

पाककर्ता को पाचक और उपहर्ता को बारीक कहते हैं। 'बारीक' शब्द के अनेक अर्थों में एक अर्थ सूक्ष्म वा महीन भी होता है। तात्पर्य यह कि परोसनेवाले की बुद्धि इतनी सूक्ष्म—पैनी होनी चाहिए कि भोजनकर्ता की रुचि परखने में उसे तनिक भी देर न लगे और सबको उनकी रुचि के अनुकूल भोजन देकर संतृप्त

करावे। यही उसकी कार्य-कुशलता का परिचायक है।

मेरे इस प्रकार के कथन का तात्पर्य यह है कि ठीक इसी भाँति ऋषि-मुनि एवं संत-मनीषीगण ज्ञान, योग-युक्त, ईश्वर-भक्ति, विराग तथा सदाचारादि रूप उत्तम-उत्तम भोज्य एवं पेय पदार्थ स्वरचित ग्रंथरूप पात्र में रख गये हैं। आवश्यकता है अध्यात्म-जिज्ञासु, पिपासु एवं क्षुधित जन को उनकी अभिरुचि के अनुसार उन उत्तमोत्तम ग्रंथरूप पात्रों में से वर्णित सुरुचिकर, सुपाच्य और पौष्टिक पेय एवं भोज्य पदार्थ देने की और इसी में प्रवचनकर्ता रूप बारीक की विशेषता है।

मेरी समझ से सत्संग में संतों की वाणी का अवलंब अवश्य चाहिए। संतवाणी की अपेक्षा होनी चाहिए न कि उपेक्षा। संतवाणी-विहीन सत्संग ऐसा ही है, जैसे लवणहीन व्यंजन। साथ ही यह भी कहते ही बनता है कि संतवाणी का अर्थ करना उतना सरल नहीं, जितना कि लोग समझते हैं। प्रथम तो संतवाणी सुनना कठिन है, सुनकर भी समझना कठिन है। यदि येन-केन-प्रकारेण समझने और समझाने की कुछ क्षमता आ भी जाए, तो इन दोनों से कहीं अत्यधिक कठिनाई होती है उसकी रहनी रहने में।

भूगोल पढ़कर तथा देश-विदेश के मानचित्रों को देखकर उनमें से किसी भी देश का पता बता देना सरल है; किन्तु उन समस्त देशों में पहुँचकर वहाँ की सारी बातों की जानकारी कर लेनी, सबके लिए सरल व संभव नहीं। भूगोल अध्ययन कर हम सुगमतापूर्वक बता सकते हैं कि भारत में गुजरात कहाँ है? गुजरात में सोमनाथ का मंदिर कहाँ है, यह भी बता सकते हैं; किन्तु जब हमसे पूछा जाए कि मंदिर में प्रवेश करने के लिए कितनी सीढ़ियाँ हैं और उन सीढ़ियों की लंबाई-चौड़ाई कितनी-कितनी हैं; तब हमें मौन हो जाना पड़ेगा।

यही बात संतवाणी के लिए भी समझना उपादेय है। संतों की वाणी के मात्र शब्दार्थ हम अपनी अर्जित विद्या-बुद्धि के आधार पर कर सकते हैं। किन्तु उनकी रहस्यात्मक वाणी—भेदवाणी के अध्ययन मनन वा श्रवण-मनन अथवा इधर-उधर की सुनी-सुनाई दो चार बातों को रट लेने से संतवाणी की वास्तविक समझ नहीं हो सकती और वास्तविक ज्ञान से हीन जन यदि संतवाणी की व्याख्या करे, तो वह भूल से रहित नहीं हो सकता।

समुद्र की अगाध गहराई जानने की यदि इच्छा हो तो किससे पूछा जाए? इसमें संदेह नहीं कि राम-रावण युद्ध के समय सैकड़ों वानर वीर धड़ाधड़ समुद्र के ऊपर कूदते हुए लंका चले गये थे; परन्तु उनमें से कितने को समुद्र की गहराई का ज्ञान है? समुद्र-मंथन के समय देवताओं ने मंथन-दंड बनाकर जिस बड़े भारी पर्वत को समुद्र के नीचे छोड़ दिया था और जो सचमुच समुद्र के नीचे पाताल तक पहुँच गया था, वही मंदराचल पर्वत समुद्र की गहराई को जान सकता है। वाग्देवी के रहस्य को जाननेवालों तथा उनकी ऊपरी और बाहरी बातों के जिज्ञासुओं में जो भेद है, उसे कवि ने बड़ी ही सरसता के साथ दरसाया है—मुरारि कवि ने कितना ही अच्छा कहा है—

अब्धिर्लंघित एव वानर भटैः किं त्वस्य गंभीरताम्।
आपाताल निमग्न पीवरतनुर्जानाति मंथाचलः ॥

संतवाणी को समझने-समझाने के लिए विद्या की आवश्यकता है सही; साथ ही संतों के पारिभाषिक शब्दों, रहस्यात्मक वाणियों, उनकी साधनाएँ और तदनुकूल साधना कर अनुभूति प्राप्त कर लेने की अनिवार्य आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकेंगे—संतज्ञान की मर्यादा जानने के लिए अनेक जन्मों के अर्जित सुसंस्कारों की, सत्संग की, सद्गुरु कृपा की और संयमित जीवन-यापन करते हुए प्रयत्नशील होकर नित्य निरंतर सत्साधना करने की अपरिहार्य आवश्यकता है। कहने की आवश्यकता नहीं, अनुभूति के लिए हमें अपने अंदर गोता लगाना पड़ेगा अर्थात् शरीर-सागर में ध्यान-साधना की डुबकी लगानी पड़ेगी। संत कबीर साहब कहते हैं—

कबीर काया समुँद है, अंत न पावै कोय।
मिरतक होइ के जो रहै, मानिक लावै सोय।।
मैं मरजीवा समुँद का, डुबकी मारी एक।
मुट्ठी लाया ज्ञान की, जामें वस्तु अनेक।।

संत-साधना के माध्यम अंतःप्रविष्ट किये बिना ज्ञान-मोती, ज्ञानरत्न अथवा भक्ति-मणि मिलना कठिन ही नहीं, वरं असंभव है। क्योंकि संत कबीर साहब के शब्दों में हम पाते हैं—

जिन ढूँढ़ा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।

किन्तु यदि हमारी अवस्था इस साखी की दूसरी कड़ी 'मैं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ' को

चरितार्थ कर रही है, तो फिर भला हमें संतवाणी के अर्थ करने का अधिकार ही क्या है? अधिकार प्राप्त किये बिना कुछ कहना अनधिकार चेष्टा तो है ही, साथ ही उसका कथन सत्य-सारहीन होने के कारण प्रभावोत्पादक नहीं होता। इस संबंध में एक मधुर कथा सुनिए–

एक राजा ने अपने मंत्री से पूछा–भगवान बुद्ध और भगवान शंकराचार्य प्रभृति संतों के वाक्य का प्रभाव लोगों के ऊपर बहुत गहरा पड़ता था। आज उन संतों के ज्ञान-जैसे ही ज्ञानोपदेश अन्य साधु-महात्मा भी किया करते हैं। फिर क्या कारण है कि उन संतों जैसा इन महात्माओं के प्रवचन प्रभावकारी क्यों नहीं होते? मंत्री ने कहा–राजन्! इस प्रश्न का उत्तर तो आप स्वयं आज के तीसरे दिन देनेवाले हैं। राजा ने पूछा–सो क्या? मंत्री ने कहा–हाँ, ऐसी ही बात है। आप कृपापूर्वक दो दिन इसकी प्रतीक्षा करें।

दो दिन व्यतीत हो जाने के बाद तीसरे दिन राजा अपने सिंहासन पर बैठे थे। निकट में मंत्री सिपाही तथा अन्यान्य राज्य पदाधिकारी भी बैठे थे। मंत्री ने एकाएक तमककर उक्त सिपाही से कहा–सिपाही! इस राजा को कान पकड़कर सभा से बाहर कर दो। सिपाही हक्का-बक्का हो मंत्री की ओर देखने लगा। मंत्री ने पुनः डाँटते हुए कहा–अबे! मेरी ओर क्या देखता है? राजा को कान पकड़कर शीघ्र सभा-स्थल से बाहर करो। मंत्री की बात सुनकर सिपाही सन्न रह गया, जैसे वह काठ की मूर्ति हो, खड़ा का खड़ा रह गया–टस-से-मस नहीं किया। राजा ने कहा– मंत्रीजी! आप क्या बोल रहे हैं? कहीं आप पागल तो नहीं हो गये? मंत्री ने कहा–महाराज! यही आपके प्रश्न का उत्तर है। जो लोग अधिकार प्राप्त किये बिना ही बोलते हैं, वे पागल हैं। साधना-हीन, आचरण-हीन, केवल वाक्य-प्रवीण जन का प्रभाव नहीं पड़ता। भगवान् बुद्ध और भगवान् शंकराचार्य प्रभृति संतगण साधना-सम्पन्न आचरण और ज्ञान में पूर्ण होकर उपदेश करते थे। इसीलिए उनके ज्ञान को लोग शीघ्र ग्रहण कर लेते थे। अभी आपलोगों ने संत कबीर साहब की एक वाणी सुनी–

घूँघट का पट खोल रे, तोको पीव मिलेंगे।

संत कबीर साहब की वाणी के लिए यह मुहावरा सुप्रसिद्ध है–

कबीर का गाया गावै, तो गजब का धक्का खावै।

और–

कबीर की वाणी बूझै, तो तीनों लोक सूझै॥

उपर्युक्त वाणी का अर्थ यदि सामान्य तरह से किया जाए, तो होगा–घूंघट का पट खोल दो, हटा दो, तो तुमको प्रियतम मिलेंगे। किन्तु रहस्यात्मक वाणी का अर्थ साधारण तरह से करना अभीष्ट नहीं, इसका रहस्योद्घाटन करना अत्यन्त अपेक्षित है। भक्त जन अपनी-अपनी भावना के अनुकूल भिन्न-भिन्न भावों में भगवान को देखते हैं। यथा–कोई दास्यभाव, कोई सख्य भाव, कोई वात्सल्य भाव और कोई पति-पत्नी भाव आदि। हमारे यहाँ जहाँ पति-पत्नी का भाव दर्शाया जाता है, वहाँ जीवात्मा का पत्नी-भाव में और परमात्मा को पतिरूप में मानते हैं और इस्लाम धर्म के सूफी सम्प्रदाय में इसका उलटा माना गया है। अर्थात् जीवात्मा को पतिरूप में और परमात्मा को पत्नी के रूप में देखते हैं। संत कबीर साहब की इस वाणी में पति-पत्नी का भाव दरसाया गया है। जीवात्मा को स्त्री रूप में और परमात्मा को पति रूप में वर्णन किया गया है। चेतन आत्मा रूप वधू के ऊपर स्थूल-सूक्ष्मादि रूप आवरण का घूँघट है। जबतक यह आवरण रूप घूँघट हटता नहीं, जीवात्मा को परमात्मरूप पति का दर्शन नहीं हो पाता। इसी विषय को गो० तुलसीदासजी महाराज इस भाँति कहते हैं–

मायाबस मति मंद अभागी।
हृदय जवनिका बहु विधि लागी॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं।
निज अज्ञान राम पर धरहीं॥
काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुःख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ पड़े तम कूप॥

ये आवरण कौन-से हैं, इसका स्पष्टीकरण संत दादूदयालजी महाराज ने किया है। उन्होंने बताया है कि शरीर के अंदर ही अंधकार, प्रकाश और शब्द के आवरण हैं और यह शरीर एक नहीं वरं पाँच हैं–स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य अर्थात् जड़-विहीन चेतन। आवश्यकता है, इन शरीरों को पवित्र बनाने की अथवा दूसरे शब्दों में जीवात्मा के ऊपर से इन शरीरों को हटाने की। क्योंकि शरीरों का हटना ही जीवात्मा का अपने स्वरूप में आना अथवा निरावरण होना है, जिस अवस्था में ईश्वर का

प्रत्यक्ष दर्शन होता है। वे कहते हैं–
नीके राम कहतु है बपुरा।
घर माहैं घर निर्मल राखै, पंचौ धोवै काया कपरा।।
–संत दादू दयालजी

संत पलटू साहब कहते हैं–ईश्वर को पाने के लिए ईश्वर-ईश्वर कहकर चिल्लाने अथवा अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं, वह प्रभु तो हमारे निकट हैं। जरूरत तो इस बात की है कि भगवच्चिंतन द्वारा तुम अपने अंदर पैठकर अपने को आवरणमुक्त कर सको।
'साहब साहब क्या करै साहब तेरे पास।
साहब तेरे पास याद कर होवै हाजिर।
अंदर धँसिके देखु मिलेगा साहब नादिर।।'
–संत पलटू साहब

संत कबीर साहब ने जिसको 'घूँघट' कहा, संत पलटू साहब उसको 'बुरका कहा और परम भक्तिन मीराबाई उसी को 'तन-गाँती' कहकर संबोधित करती हैं। वह शरीररूपी गाँती वा आवरण को हटाकर श्याम से मिलती है। यथा–
मैं तो गिरिधर के रंग राती।..खोल मिली तन गाँती।
–मीराबाई

संत पलटू साहब कहते हैं, इसको 'बुरका' को हटाओ और प्रभु को पाओ। 'बुरका' हटाने की देर है, प्रभु पाने की देर नहीं। 'बुरका डारै टारि खुदा बाखुद दिखरावै।' गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने ब्रह्म, जीव और माया की उपमा श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी से देकर तुलनात्मक विवेचन का एक सुंदर चित्र-चित्रित किया है। यथा–
आगे राम लखनु बने पाछें।
तापस बेष बिराजत काछें।।
उभय बीच सिय सोहति कैसे।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसे।।

कानन-काल में भगवान श्रीराम, श्रीलक्ष्मण और जगज्जननी जानकीजी गाँव, गिरि तथा वनादि में भ्रमण करते थे। 'मर्यादा पुरुषोत्तम' श्रीराम भगवान आगे में, श्रीलक्ष्मणजी पीछे में और श्रीसीताजी बीच में थीं। श्रीलक्ष्मणजी श्रीराम को नहीं देख पाते हैं; क्योंकि बीच में श्रीसीताजी हैं। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा को परमात्मा की प्रत्यक्षता इसलिए नहीं हो पाती है कि जीव और ब्रह्म के बीच में माया है। श्रीलक्ष्मणजी के आगे से श्रीसीताजी हट जाएँ, तो श्री लक्ष्मणजी को तनिक भी बाधा न हो। इस भाँति जीवात्मा के ऊपर स्थूल-सूक्ष्मादि–अंधकार-प्रकाशादि जो मायिक आवरण हैं, इनके हट जाने से जीव को पीव पाने में पलभर की भी देर नहीं लगेगी। गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–
जीव हृदय तम मोह बिसेखी।
छूटि न ग्रंथि परइ किमि देखी।।

यदि शंका हो कि ईश्वर अत्यन्त निकट है, तो फिर उनके दर्शन क्यों नहीं हो पाते? इसके उत्तर में निवेदन है कि कोई भी वस्तु जो निकटतम होती है अथवा अति दूर होती है, तो इन दोनों की दशाओं में उस वस्तु की पहचान नहीं हो पाती। जैसे जिस वायुयान को हम अपनी समीप से उड़ते देखते हैं, वही वायुयान अत्यधिक दूर हो जाने पर नहीं दीख पड़ता। अथवा किसी परिचित व्यक्ति को भी दूर में आते देखकर हम उसे पहचान नहीं सकते; किन्तु निकट आने पर उसकी पहचान होती है। यह तो अति दूरी के कारण पहचान नहीं हो सकने की बात हुई। अब निकटतम की पहचान नहीं होने के कारण को हम जानें।

कोई भी वस्तु वा व्यक्ति दूर हों वा निकट, उसको देखने का साधन क्या है? हमारी आँख। अब हम विचार करें–जब हमारी आँख में लाली हो जाती है, तो क्या उस लाली को बिना किसी माध्यम के हम देख सकते हैं? सभी दर्शनीय वस्तु को हम नेत्र से देख सकते हैं और अपने नेत्र की लाली को हम अपने चक्षु से नहीं देख पाते; क्यों? इसका कारण इसकी अत्यन्त निकटता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने तो और गजब ढाया है, कहने में कमाल कर दिया है। वे कहते हैं–अरे भाई! वस्तु की निकटता वा सुदूरता की बात छोड़ो। पहले यह बताओ, जिसकी आँख में मोतियाबिन्द हो जाता है, उसको कुछ सूझता है? कुछ भी नहीं। इसी तरह इस जागतिक जन की दर्शन शक्ति को मायारूप मोतियाबिन्द ने आवृत्त कर रखा है, उसे सूझे तो कैसे?
हे नेरे सूझत नहीं, ल्यानत ऐसे बिन्द।
तुलसी या संसार को, भयो मोतियाबिन्द।।

यदि मोतियाबिन्द की शल्य क्रिया (Operation) हो जाए और रोगी संयमपूर्वक रहे तो गई

आँख, खोई दृष्टि-शक्ति पुनः वापस लौट आवे। उसी भाँति साधक संयमित जीवन व्यतीत करते हुए सद्गुरु से सरल योग-युक्ति जानकर नित्य अभ्यास करे, तो उसकी वह दृष्टि खुल जाएगी, जिससे वह प्रथम तो ब्रह्म की ज्योति का दर्शन कर सकेगा और बाद में ब्रह्म का भी। जैसे सूर्योदय के समय हम पहले सूर्य के प्रकाश को पाते हैं, पश्चात् सूर्य को।

जैसे रवि के तेज से, देख पड़े रवि जात।
तैसे आतम तेज से, आतम रूप लखात॥

तथा—

श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहिं जासू॥
उघरहिं विमल विलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जेहि खानिक॥

जथा अंजन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं शैल वन, भूतल भूरि निधान॥

प्रातः स्मरणीय अनन्त श्रीविभूषित महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के वचनों में हम कह सकेंगे—केवल पढ़न्त और सुनन्त विद्या द्वारा ज्ञान प्राप्त करने से अज्ञान अंधकार पूर्ण रूप से दूर नहीं होता है। जब अंतर में दिव्यदृष्टि खुलती है और ब्रह्मज्योति दरसती है, तभी तम मोह दूर होता हो। अंतर में ब्रह्मज्योति देखनेवाली तुरीयावस्था की दृष्टि और विवेकदृष्टि (बुद्धि में सारासार बोध की शक्ति यानी विद्या) हृदय के दो निर्मल नेत्र हैं।

दृष्टियोग साधन में रत रहनेवाले साधक के नेत्रों में उपर्युक्त सुअंजन लगता है। दृष्टियोग साधन करना, इस सुअंजन के लगाने का यत्नरूप है। बहुत-सी धरतियों की खान परम विराट रूप माया है, जिसमें अनेकानेक ब्रह्मांडों की रचनाएँ हैं।

गूलरि तरु समान तव काया।
फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया॥
(रामचरितमानस)

रोम रोम ब्रह्मांडमय, देखत तुसलीदास।
बिन देखे कैसे कोऊ, सुनि मौन विस्वास॥
(तुलसी सतसई)

उपर्युक्त सुअंजन प्राप्त करनेवाले को अखिल ब्रह्मांड दरसते हैं। दृष्टियोग के साधन से सूक्ष्म वा दिव्यदृष्टि खुल जाती है। मन एकविन्दुता प्राप्त कर स्थूल और सूक्ष्म मंडलों के सन्धि-विन्दु वा केन्द्रविन्दु से उत्थित नाद वा अनहदनाद को ग्रहण करता है। शब्द में अपने उद्गम स्थान पर आकर्षण करने का गुण होने के कारण केन्द्रीय शब्द से खिंचती हुई सुरत स्थूल-सूक्ष्मादि जड़ के चारो आवरणों को पार कर अपने स्वरूप में स्थित होगी, जड़ के आवरण से निरावरण होने पर अपने स्वरूप की पहचान के साथ-साथ परमात्म-स्वरूप की भी पहचान वा प्रत्यक्षता होगी। जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाएगी। 'इस प्रकार घूँघट का हटना और परमात्मा को पाना होता है।' (फरवरी, १९६९)

स्थान : कुप्पाघाट,भागलपुर दिनांक—२९.१२.१९६८ ई०

१६. बड़भागी, हतभागी, अभागी मनुष्य कौन?

आदरणीय सज्जनो तथा आदरणीया देवियो!

आप श्रद्धालुजनों की अपार भीड़ देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है, किन्तु एक बात निवेदन करना चाहूँगा कि सत्संग में शान्ति का होना आवश्यक है। अतएव आपलोग शान्तचित होकर बैठें और सुचित एवं शांतभाव से सत्संग-वचन श्रवण करें। साथ ही, यदि बात अच्छी लगे, तो उसे ग्रहण करें। मैं दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि सत्संग-वचन श्रवणीय, ग्रहणीय और स्मरणीय होते हैं। सुनें—

अस्पतालों में जहाँ अधिक भीड़-भाड़ हो, तो आप समझें कि उस क्षेत्र के लोगों का शारीरिक पतन हो चुका है। कचहरियों में जहाँ अधिक भीड़-भाड़ देखें, तो समझें कि उस क्षेत्र के लोगों का नैतिक पतन हो चुका है। जहाँ के चलचित्र-गृहों में अधिक भीड़ देखें, तो आप निश्चित समझें कि उस क्षेत्र के लोगों का चारित्रिक पतन हो चुका है और जहाँ के सत्संग में अधिक भीड़ देखें, तो सुनिश्चितरूप से समझ लें कि उस क्षेत्र के लोगों का अध्यात्म-विकास हो रहा है—आध्यात्मिक उन्नति हो रही है।"

साथ ही, आप यह भी जान लें—"जहाँ का

आध्यात्मिक स्तर उच्च और उन्नततर होगा, वहाँ के लोग सदाचारी होंगे। जहाँ के लोग सदाचार समन्वित होंगे, वहाँ की सामाजिक नीति अच्छी होगी। जहाँ की सामाजिक नीति उत्तम होगी, वहाँ की राजनीति कभी अनुत्तम हो नहीं सकती और जहाँ की राजनीति अच्छी होगी, उस राज्य की जनता कभी दु:खी नहीं हो सकती। वहाँ सदा सुराज्य बना रहता है।"

इसलिए सुशासक स्वराज्य-सुप्रबंध-हित राजनीति के साथ आध्यात्मिकता को अपनाते हैं। आध्यात्मिकता राजनीति को पवित्रता प्रदान करती है। अध्यात्म-विहीन भौतिक विज्ञान परम कल्याण की प्राप्ति कराने में सदा अक्षम रहता है। यही कारण है कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने अपनी मर्यादा के रक्षार्थ अपने राजत्वकाल में प्रजा-सहित पुरजन को अध्यात्म-ज्ञान की शिक्षा दी थी। यह प्रसंग रामचरित मानस के उत्तरकांड में है, जिसका पाठ अभी आपलोगों ने सुना।

सज्जनो! यों तो कितने श्रद्धालुजन श्रद्धा-पूर्वक नित्यप्रति श्रीरामायणजी का पाठ करते हैं, कितने नवाह्न पाठ करते हैं और कितने मास-परायण भी करते हैं; किन्तु पाठ-कर्ताओं की अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न दृष्टि और रुचि होती है। यद्यपि रामायणजी का बहिरंग कथारूप में अवलोकित होता है और उसमें राजनीति, समाज-नीति एवं जागतिक जीवन की व्यवहार नीति प्रभृति विभिन्न नीतियों का समावेश है, तथापि उसका अंतरंग अध्यात्म-ज्ञान से ओत-प्रोत है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने लिखा है–

नव रस जप तप जोग विरागा।
ते सब जलचर चारु तड़ागा।।

तथा, सद्‌गुरु ज्ञान विराग जोग के।
विबुध वेद भव भीम रोग के।।

साथ ही, गोस्वामीजी ने रामचरितमानस को देखने के लिए मानस चक्षु–सूक्ष्म दृष्टि-दिव्यदृष्टि की आवश्यकता बतायी है। यथा–

यहि मानस मानस चखु चाही।
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।।

रामचरितमानस अर्थात् राम के चरित्र का मान सरोवर। जैसे तालाब के निकट जाकर देखने पर उसके ऊपर तल पर जल ही जल दीखता है, उसके अंतस्तल में क्या है, वह अज्ञात ही रहता है। हाँ, यदि जाल फेंककर देखा जाए, तो उसके अंदर का हाल जाना जा सकता है अर्थात् जल-जन्तुओं को देखा जा सकता है।

इसी भाँति हम आद्योपान्त रामायण पढ़ लें–कंठाग्र कर लें; परन्तु सत्य यह है कि हम ऊपर ही ऊपर देखेंगे और कथारूप जल पायेंगे; क्योंकि कवि ने जप, तप, योग, विराग आदि को मानस का जलचर बनाकर रखा है। इस हेतु रामचरितमानस के अंतरंग अवलोकनार्थ योग-युक्तिरूपी जाल की जरूरत है, जिससे दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है।

सूझहिं रामचरित मनि मानिक।
गुपुत प्रगट जहँ जेहि खानि।।

और भी,

यथा सुअंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल वन, भूतल भूरि निदान।।

अतएव रामायणजी के गूढ़ाशय-परिज्ञान के लिए सूक्ष्म-दृष्टि की अपरिहार्य आवश्यकता है। सम्प्रति आपलोगों का ध्यान में उस ओर आकर्षित करना चाहूँगा, जिसका उपदेश भगवान श्रीराम ने त्रेतायुग में दिया था। वह उपदेश इतना उत्कृष्ट है कि सर्वकाल में सबके लिए सुमंगल दाता है। भगवान श्रीराम ने जो पहली बात कही, वह यह है–

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रंथहिं गावा।।

अर्थात् बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर मिलता है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है, ऐसा सभी सद्‌ग्रंथ कहते हैं। आज के कुछ नयी विचारधारा के लोगों को उपर्युक्त बातें मान्य नहीं। वे कहते हैं कि ये बातें कवि की कोरी कल्पना मात्र है, इसमें सत्यता का–यथार्थता का किंचित् लेश नहीं है। इस विषय की पुष्टि के लिए वे अपनी दलील इस भाँति पेश करते हैं–"आज प्रत्यक्ष है कि कितने जन ऐसे हैं, जो दाने-दाने के लिए मुहताज हैं, घर पर खड़ नहीं, तन पर वस्त्र नहीं, रहने का कोई आश्रय-स्थान नहीं, परिणामस्वरूप वे दर-दर की ठोकरें खाते फिरते हैं। क्या ये ही बड़भागी मानव तनधारी हैं? यदि वे ही बड़भागी और सुर दुर्लभ नरतनधारी हैं, तो हतभागी, अभागी और भिखारी किनको कहा जाए?"

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–"भगवान श्रीराम के भाव की अभिव्यक्ति मैंने अपनी भाषा में

की है। मेरी अन्य रचना भी पढ़िए, पढ़कर देखिए। तब पता चलेगा कि 'बड़े भाग मानुष तनु पावा' किनके लिए कहा गया है? साथ ही यह बात भी स्पष्ट रूप से समझ में आ जाएगी कि बड़भागी कौन है? हतभागी कौन है और अभागी कौन है?" अतएव बिना सोचे समझे किन्हीं के कुछ कहे को कुतर्क की कैंची से कतरने में कतराना भी चाहिए। इस संबंध में भगवान श्रीराम की राय सुनिए–

जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी।
ते लोकहु वेदहु बड़भागी॥

तथा, बड़े भाग पाइअ सत्संगा।
बिनहिं प्रयास होहिं भवभंगा॥

श्रीभरत जी की भावना में–

अहइ धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारविन्द अनुरागी॥

और सुग्रीव के शब्दों में–

सोइ गुनज्ञ सोइ बड़ भागी।
जो रघुवीर चरन अनुरागी॥

अर्थात् जो जन हरि-गुरु-पदानुरागी हैं तथा सत्संग जिनको प्रिय हैं, वे धन्य और बड़भागी हैं। तथा मनुष्य-शरीरधारी होते हुए भी जिनको भक्ति-मणि प्यारी नहीं, वे हतभागी हैं। यथा–

सो मुनि जदपि प्रगट जग अहई।
रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥
सुगम उपाय पाइबे केरे।
नर हतभाग्य देहिं भट भेरे॥

और अभागी नर कौन है? रामचरितमानस के वाक्यों में ही सुनिए–

सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥

अर्थात् हरि-त्यागी विषयानुरागी जन अभागी हैं। अब गोस्वामीजी की निज उक्ति सुनिए–

ते नर नरक-रूप जीवत जग,
भव-भंजन पद विमुख अभागी।
निसि वासर रुचि पाप असुचि मन,
खल मति मलिन निगम पथ त्यागी ॥१॥
नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को,
स्त्रवन न राम-कथा अनुरागी।
सुत वित दार भवन ममता निसि,
सोवत अति न कबहुँ मति जागी ॥२॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि,
सठ हठ पियत विषय-विष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि दुख लागी ॥३॥

तात्पर्य यह कि मनुष्य-शरीर उनका सार्थक है, जो ईश्वर-भजन और सत्संग करते हैं। अन्यथा वह सूकर, कूकर और गीदड़वत् है। इस संबंध में उत्तरगीता में एक बड़ी अच्छी बात लिखी है–

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिकं विशेषो ज्ञानेनहीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात्–आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन; ये सब विषय पशु और मनुष्य में एक समान ही हैं यानी कुछ भी प्रभेद नहीं है। केवल ज्ञान-लाभ करने पर ही मनुष्य पशु से श्रेष्ठ हो सकता है; अतएव स्पष्ट है कि ज्ञानहीन मानव पशु श्रेणी में है।

अब आवश्यकता इस बात की है कि हम जानें वह कौन-सा ज्ञान है, जिसके अभाव में देव दुर्लभ नर तन भी पशुतुल्य हो जाता है?

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के त्रयोदश अध्याय के आरंभ में ही इसपर अच्छा प्रकाश डाला है, जो सबके लिए पठनीय है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

अर्थात् हे कुन्तीपुत्र! इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इसे (इस शरीर को) जो मानता है, उसे तद्विद अर्थात् इस शास्त्र के जाननेवाले-क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हे भारत! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है। इसी अध्याय में, आगे चलकर ज्ञान और अज्ञान की विशद् व्याख्या करते हुए भगवान् बताते हैं–

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अर्थात् मानहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, इन्द्रियों के विषयों में विराग, अहंकारहीनता और जन्म-मृत्यु, बुढ़ापा-व्याधि एवं दु:खों को (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना, इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति से चित्त की सर्वदा एक ही सी वृत्ति रखना, मुझमें अनन्य भाव से अटल भक्ति, चुने हुए अथवा एकांत स्थान में रहना, साधारण लोगों के जमाव को पसंद न करना, अध्यात्म ज्ञान की नित्य समझना और तत्त्व ज्ञान के सिद्धांतों का परिशीलन; इनको ज्ञान कहते हैं, इसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है।

दिनांक २ फरवरी, १९६९ सिंहेश्वर स्थान अखिल भारतीय ६१वें विशेषाधिवेशन (जुलाई, १९७०)

१७. कहे कबीर चरणचित राखो, ज्यों सुई में डोरा रे

समवेत समादरणीय सज्जनवृंद, आदरणीया माताओ एवं भक्तिमती बहनो!

सर्वेश्वर-स्वरूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा उसका अपरोक्ष ज्ञानकर्त्ता चेतन आत्मा भी स्वरूपत: सूक्ष्म है। अतएव सन्तों ने उसकी प्राप्ति का मार्ग भी सूक्ष्म ही निर्देशन किया है। इसका हेतु यह है कि स्थूल यंत्र से सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नहीं होता। वरं स्थूल यंत्र से स्थूल तत्त्व का और सूक्ष्म यंत्र से सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण होता है।

यद्यपि स्वयं चेतन आत्मा स्वरूपत: अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि जबतक वह शरीर अन्त:करण से आबद्ध वा सम्बद्ध है, तबतक उसे परमात्म-स्वरूप की प्रत्यक्षता वैसे ही नहीं हो पाती, जैसे दुग्ध में घृत की स्थिति रहने पर भी परिस्थितिवश उससे पूड़ी नहीं छानी जा सकती। पूड़ी छानने के लिए दुग्ध-मिश्रित घृत नहीं, बल्कि विशुद्ध घृत की आवश्यकता होती है और उसके लिए पय-मंथन कर मक्खन को पृथक् करना होता है। ठीक इसी भाँति ध्यान की मथानी से चेतन आत्मा को जड़ से यानी शरीर और अन्त:करण से विलग करना होगा, तभी परमात्म- स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

यदि शंका हो कि जड़ से चेतन को भिन्न करना किस तरह संभव है? तो इसके उत्तर में निवेदन है कि आपने स्वर्णकार के यहाँ पीतल या ताम्बे का एक छोटा-सा प्लेट वा तख्ती देखी होगी। उसमें बड़े-छोटे क्रम से अनेक छिद्र होते हैं। स्वर्णकार सुवर्ण के तार को जितना महीन करना चाहता है। तार के सिरे वा नोक को उतना ही महीन बना; उसी अनुपात के छिद्र से वह उस तार को खींचता है। परिणाम-स्वरूप वह तार उतना ही महीन बन जाता है। इसी तरह आवश्यकता है उस सूक्ष्म छिद्र की जानकारी प्राप्त करने की और चेतन आत्मा की बिखरी धाराओं को समेटकर एक बना उसमें प्रविष्ट कराने की।

कहै कबीर चरण चित राखो, ज्यों सूई में डोरा रे।

स्मरण रहे, पूर्व वर्णनानुसार चेतन आत्मा अकेली नहीं है, वरं उसके साथ अन्त:करण भी है और अन्त:करण में मुख्यता मन की है। जैसे पतंग के संग छोटा-सा भी ढेला बँधा रहने से उसके गगनगामी होने में बाधक सिद्ध होता है, उसी भाँति चेतन आत्मा के अन्त:करण का वा मन का साथ प्रभु-प्राप्ति में सुनिश्चित बाधक है। साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से कह देना आवश्यक है कि जैसे चेतन आत्मा का अधोमुखी निकटस्थ संगी मन है, वैसे ही मन का समीपस्थ साथी स्थूल तन है। स्थूल तन के साथ मन विषयों का संग कर मदमस्त गजराज बना है। ऐसी अवस्था में उस सूक्ष्म द्वार में प्रवेश हो तो कैसे? इसी विषय को संत कबीर साहब इस भाँति कहते हैं–

भक्ति मारग साँकरा, राई दसवाँ भाव।
मन ऐरावत ह्वै रहा, कैसे होय समाव॥

तथा–

भक्ति का मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहिँ चाहना चरणन लौलीना रे॥
साधुन के सतसंग में, रहे निशिदिन भीना रे।
शब्द में सूर्त ऐसे बसै, जैसे जल मीना रे॥
मान मनी को यों तजै, जस तेली पीना रे।
दया छिमा संतोष गहि, रहे अति आधीना रे॥
परमारथ में देत सिर, कछु बिलम्ब न कीना रे।

कहै कबीर मत भक्ति का, परगट कह दीना रे ।।

यह झीना मार्ग कैसा है? वाष्पवत् महीन? नहीं, आकाशवत् सूक्ष्म। मार्ग की सूक्ष्मता बतलाने लिये कठोपनिषद् के ऋषि कहते हैं–

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।।

अर्थात अरे अविद्या ग्रस्त लोगो! उठो, (अज्ञान-निद्रा से) जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार क्षुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्व ज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् के प्रथम ब्राह्मण में, संसार-सागर से पार होने के लिए सूक्ष्म मार्ग का अवलम्ब बताया है। यथा-

संसार वार्धि तर्तुं सूक्ष्म मार्गमवलम्ब्य.... ।।

सूक्ष्म मार्ग के सम्बन्ध में बाबा नानक देवजी से जिज्ञासा करने पर वे हमें कठोपनिषद् की कठिन भाषा को अपने सरल स्वभावानुसार सुगम बनाकर कहते हैं :-खंनिअहु तिखी बालहु नीकी एतु मारग जाना।

तथा–

गागर ऊपर गागरी, चोले ऊपर द्वार।
सूली ऊपर साँथरा, जहाँ बुलावै यार।।
(कबीर साहब)

गुरु नानकदेवजी महाराज के वचन में प्रयुक्त 'बाल की नोंक', 'तलवार की धार' तथा संत कबीर साहब की वाणी में वर्णित 'शूली' शब्द से साधक को घबड़ाने अथवा उत्साह-हीन होने की आवश्यकता नहीं और न उसको निराशा देवी की गोद में ही बैठना चाहिये कि हमसे यह दुर्गम काम नहीं हो सकेगा। वरं उसको इस बात की अभिज्ञता होनी चाहिये कि असि-धार से भी सूक्ष्मतर मार्ग पर कौन चलेगा; शरीर? कदापि नहीं। उसपर चलनेवाला चेतन पुरुष है, जो मन के साथ संयुक्त है, जिसको शूली की तीक्ष्ण धार अथवा तलवार का वार बाल बाँका नहीं कर सकता।

भक्त-भय-भंजन प्रातः स्मरणीय सन्तगण कहते हैं–अरे! राजयोग जैसे सरल साधन में डरने की जरूरत क्या? उस सूक्ष्म मार्ग अथवा कृपाण की धार पर तुम्हारा शरीर तो चलेगा नहीं, फिर भयभीत क्यों होते कि हमारा शरीर कट जाएगा? उस सूक्ष्म पथ का पथिक भी सूक्ष्म है और वह इतना सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम है कि खंग किसी भी भाँति उसको भंग नहीं कर सकता। ईसाई धर्म के पवित्रतम ग्रन्थ बाइबिल में भी हम सूक्ष्म मार्ग की चर्चा पाते हैं, जिसको सेन्ट मेथ्यू ने सकेत फाटक कहकर संकेत किया है। यथा–

'सकेत फाटक से प्रवेश करो; क्योंकि चौड़ा है वह फाटक और चाकर है वह मार्ग, जो विनाश को पहुँचाता है और बहुत हैं, जो उसमें पैठते हैं। वह फाटक सकेत है और वह मार्ग सँकरा है, जो जीवन को पहुँचाता है और थोड़े हैं, जो उसे पाते हैं।'

(सेन्ट मेथ्यू, अध्याय ७)

वर्णित सूक्ष्म मार्ग वा सकेत फाटक में प्रवेश करने की कला तथा उसके प्रवेश-कर्त्ता के सम्बन्ध में यदि हम स्पष्ट रूप से जानना चाहें, तो परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के इस वचन का अनुशीलन करें।

योग हृदय केन्द्र विन्दु में, युग दृष्टियों को जोड़िकर।
मन मानसों को मोड़ि, सब आशा निराशा छोड़िकर।।

तथा–

मन सह चेतन धार सुरत ही केवल पैठि सकै जामें।
जेहि हो गमनत छुटत पिण्ड ब्रह्माण्ड खंड सुधि हो जामें।।

उस मार्ग में प्रवेश करने के लिए हमारी मनोभावना कैसी हो? इसके लिए संत कबीर साहब कहते हैं– नहिं अचाह नहिं चाहना, चरणन लौलीना रे।।

अर्थात् प्रभु पद-प्रेम की अचाहना नहीं हो और सांसारिक वस्तु की चाहना नहीं हो। तात्पर्य यह कि जगत् से अनासक्ति और जगदीश से अनुरक्ति हो। पूज्य महर्षिजी महाराज की अमृतवाणी में हम इस भाँति कह सकते हैं–

मन मानसों को मोड़ि, सब आशा निराशा छोड़िकर।

अर्थात् जागतिक इच्छाओं और आशाओं को छोड़ो; किन्तु परमात्म-प्राप्ति की आशा को मत छोड़ो–निराश न होओ। पुनः संत कबीर साहब कहते हैं–

साधुन के सतसंग में, रहे निसिदिन भीना रे।
शब्द में सुर्त ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे।।

अर्थात् संतों का, सत्पुरुषों का, सज्जनों का संग करो और उनके ज्ञान-विचार में दिन-रात निमग्न रहो। अपनी सुरत को शब्द में इस तरह रखो, जैसे जल में मीन हो। 'जल-मीना' शब्द के दो अर्थ होते हैं–एक तो यह है कि जैसे बिना जल के मीन जीवित नहीं रह सकती, वैसे ही तुम शब्द के बिना जीवन

धारण नहीं करो अर्थात् नादानुसन्धान वा सुरत-शब्द-योग की साधना करो। दूसरी बात यह कि जैसे सफरी मछली पानी की उल्टी धारा पर चलती है, वैसे ही तुम अपनी पसरी सुरत को सिमटाकर सूक्ष्म बनाओ और ब्रह्माण्डी शब्द–जिसको संत तुलसी साहब ने 'गगन गंगा' की संज्ञा दी है–को पकड़कर भाठा से सीरा की ओर बढ़ो अर्थात् पिण्ड से ब्रह्माण्ड की ओर जाओ। यह क्रिया भी नादानुसन्धान के द्वारा ही साधित होती है। अतः नाद-साधना करो।

किन्तु स्मरण रहे, पूर्ववर्ती साधना के किये बिना परवर्ती साधना में सफलता-प्राप्त करने की इच्छा 'भूमि पड़ा चह छुअन अकाशा' की नाईं असम्भव है। अतएव साधना की यथानुक्रम झाँकी पूज्य महर्षिजी महाराज के शब्द से हम इस भाँति करें।

ब्रह्म ज्योति ब्रह्म ध्वनि-धार धरि, आवरण सारे तोड़िकर।
सूरत चला प्रभु-मिलन को, विषयों से मुख को मोड़ि कर।।

अर्थात् प्रथम दृष्टि-साधन क्रिया द्वारा ब्रह्मज्योति-प्राप्ति की साधना करो, पश्चात् ब्रह्मनाद वा नादानुसन्धान की। संत कबीर साहब ने अपने पद्य में यह भी कहा कि–

मान मनी को यों तजै, जस तेली पीना रे।
दया छिमा संतोष गहि, रहे अति आधीना रे।।

अर्थात् मान रूपी मणि का त्याग करो। इस तरह जैसे कि तेली खल्ली को छोड़ देता है। आज के जमाने में तो खल्ली की भी कीमत कम नहीं है। इसलिए आज के युग में कोई यों ही खल्ली को नहीं छोड़ देता; किन्तु संत कबीर साहब के समय में खल्ली की कोई कीमत नहीं थी। अतएव उन्होंने 'मान' को 'खल्ली' की उपमा देकर त्यागने कहा था। वर्तमान युग में खल्ली की कीमत होते हुए भी, लोग उसका त्याग कर सकते हैं; किन्तु 'मान' का परित्याग करना सरल नहीं। संत कबीर साहब के शब्दों में ही हम कह सकेंगे–

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईरषा, दुर्लभ तजना येह।।

इतना ही नहीं, बुद्धिहीन जन के मन में तो अहंकार रूपी अग्नि की ऐसी भट्ठी जलती है कि औरों की तो बात जाने दीजिए, वह अपने गुरु से भी मान चाहता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह यमपुर जाकर यम की अनेक यातनाओं को पाते हुए नरक की भट्ठी में जलता रहता है। संत कबीर साहब कहते हैं–

अहं अग्नि हिरदै जरै, गुरु से चाहे मान।
तिनको यम न्योता दिया, हो हमरे मेहमान।।

यह मान बड़ा टेढ़ा प्रश्न है–मान रूपी मणि का त्याग कैसे हो? संत कबीर साहब कहते हैं–पहले यह जानो कि मान खोजता कौन है? मन। अतएव मन को ऐसा बनाओ कि वह 'मान' की माँग न करे। इसके लिए हमें क्या करना होगा, उसका निर्देशन यदि संत कबीर साहब के शब्दों में ही मिल पाता, तो उत्तम होता। अतएव इस सम्बन्ध में वे क्या कहते हैं, सुनिये–

कबीर चेरा संत का, दासन हू का दास।
अबतो ऐसा होइ रहु, ज्यों पाँव तले की घास।।
रोड़ा होइ रहु बाट का, तजि आपा अभिमान।
लोभ मोह तृष्णा तजै, ताहि मिलै निजनाम।।

ऐसा लगता है–जैसे दास का घास और रोड़ा होना भी संत कबीर साहब को पसन्द नहीं; क्योंकि उनके विचार में दास का घास और बाट का रोड़ा होने से वह पद-दलित होकर पदाघात सहने की क्षमता प्राप्त करेगा अवश्य; किन्तु पथिकों के पद-कष्ट का कारण भी सुनिश्चित रूप से बन जाएगा। अतएव ऐसा भी बनना उत्तम नहीं जँचता। हाँ, यदि पथ-धूल बना जाए, तो वह फूल जैसा मुलायम होगा और तब यात्री के लिए सुखकर होगा। इसी दृष्टि को अपनाये रखकर वे कहते हैं–

रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देय।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यों पैंड़े की खेह।।

किन्तु धूल बन जाने पर भी कबीर साहब संतुष्ट नहीं हुए; क्योंकि उनके मन में यह आशंका होती है कि कहीं हवा चल पड़ी है, तो वह धूल फूल नहीं बनकर शूल बन जाएगी। एक तो लोगों के शरीर में लगकर उसको गन्दा करेगी, दूसरे कहीं उड़कर आँख में पड़ गई, तब तो कहना ही क्या?

कबहूँ उड़ि आँखिन पड़ै, पीर घनेरी होय।

इसी भाँति यदि भक्त भी विषय-बयार में बह पड़े, तो वह अन्यों को क्लेशित करेगा। अतएव यह भी ठीक नहीं। इससे तो कहीं वह उत्तम हो कि नीरवत् बन जाए, जिसमें पवन के लगने पर भी गमन की वह गति न हो, जिससे दूसरों को कुछ क्षति हो। किन्तु पानी बनने पर बिल्कुल हानि नहीं हो, यह कब

संभव है? क्योंकि उसमें भी एक ऐब है और वह यह कि नीर कभी स्थिर और कभी अस्थिर होता है। साथ ही संग पाकर कभी शीतलता और कभी उष्णता को भी प्राप्त करता है। इसी तरह भक्त यदि कभी तो शान्त चित्त रहे और कभी विषय-विकार का शिकार बन काम-क्रोधाग्नि से जलते हुए ज्वालामुखीवत् अग्नि उगलने लग जाय, तो ठीक नहीं। अतः ऐसा होना भी उपयुक्त नहीं। संत कबीर साहब कहते हैं–

खेह भई तो क्या भया, उड़ि-उड़ि लागै अंग।
साधू ऐसा चाहिये, जैसे नीर निपंग।।
नीर भया तो क्या भया, ताता सीरा जोय।
साधू ऐसा चाहिये, जो हरि ही जैसा होय।।
हरि भया तो क्या भया, जो करता हरता होय।
साधू ऐसा चाहिये, जो हरि भज निर्मल होय।।
निर्मल भया तो क्या भया, निर्मल माँगै ठौर।
मल निर्मल तें रहित है, ते साधू कोइ और।।

'मल निर्मल ते रहित' अर्थात् साधु को समरस रहना चाहिये। हानि-लाभ, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि सभी अवस्थाओं में सम रहे। किन्तु यह समरसता-समत्व वा समता आवे तो कैसे? सन्तों ने समत्व प्राप्त करने के लिए 'शम' के साधन का निर्देशन किया है, जो नादानुसन्धान द्वारा सम्पन्न होता है। अतः विचार द्वारा अपने मन पर अंकुश ला, सुरत-शब्द-योग की साधना करनी अत्यन्त अपेक्षित है। ❍

पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन दिनांक २७.०२.१९६९ ई० को स्थान–संतमत-सत्संग मंदिर, मनिहारी, कटिहार में मास-ध्यान-साधना के अवसर पर हुआ था।

१८.सामूहिक प्रार्थना करो, विघ्न टल जाएगा

आदरणीय गुरुजन, पुरजन, सज्जन, जननीजन तथा भगिनीगण!

किसी भी कर्म करने से पूर्व बुद्धिमान जन सोच लेते हैं कि यह काम करने योग्य है या नहीं। यदि योग्य यानी विहित कर्म होता है, तो उसे वे करते हैं, अन्यथा नहीं करते। साथ ही, विवेकीजन यह भी विचार लेते हैं कि अमुक कर्म की उपादेयता क्या है? आवश्यकता जानकर उस कर्म को करते हैं, अन्यथा नहीं करते। इसीलिए विद्वानों की भाषा में आवश्यकता आविष्कार की जननी है तथा बिना कारण के कार्य नहीं होता–ऐसा कहा जाता है। अभी हमलोगों ने जो स्तुति-प्रार्थना आदि में चालीस-पैंतालीस मिनट समय लगाए, इसकी आवश्यकता क्या? कोई तो आज ऐसा भी कहने लगे हैं, जैसा कि कठोपनिषद् में आया है कि– **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो...'**

अब हमको यह समझना है कि ऋषियों ने बलहीन शब्द का प्रयोग किस भाव में किया है? शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक वा आध्यात्मिक; किस बल की हीनता में ब्रह्म वा आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। हम शरीर से बलवान हों वा जो शरीर से खूब बलवान है, उनको ईश्वर की प्राप्ति हो जानी चाहिए; किन्तु बात ऐसी नहीं। केवल शारीरिक बल ही या किसी और बल की भी आवश्यकता है? शारीरिक बल के साथ-साथ मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक बल भी चाहिए। मात्र शारीरिक बल ब्रह्म की प्राप्ति में सर्वथा अक्षम है।

महाभारत में शरीर बल की कथा है। कहते हैं–जब भीम ने जन्म लिया, तो वे जिस पत्थर पर गिरे, वह टुकड़े-टुकड़े हो गये। रावण इतने बलवान थे कि उनके डर से देवता काँपते थे और उनके पदाघात से पृथ्वी प्रकम्पित होती थी। जिनके लिए रामायण में लिखा है–

चलत दसानन काँपत धरनी। गर्जत गर्भ-स्त्रवत सुर रमनी।।

तो क्या इन सबों को ईश्वर की प्राप्ति हो गई थी? कदापि नहीं। जबतक हम मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक बलों को भी प्राप्त न कर लें, तबतक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शारीरिक बल भी चाहिए। बिना शारीरिक बल के हम देर तक ध्यान में नहीं बैठ सकते। मेधा-बल के बिना ध्यान में मन नहीं लग सकता है। मेधा-बल के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य चाहिए। इस संबंध में एक मधुर कथा है–देवताओं के राजा इन्द्र और दानवों का राजा विरोचन, दोनों प्रजापति के पास ब्रह्मज्ञान सीखने गए। प्रजापति ने कहा यह शरीर ही ब्रह्म है। खूब खाओ, पियो; जाओ। विरोचन वापस चले गये और खूब खाने-पीने और मस्ताने लगे।

इधर इन्द्र ने सोचा यह शरीर तो नाशवान है, इसमें परिवर्तन होता है। यह ब्रह्म कैसे हो सकता है? वे पुनः प्रजापति के पास गये और उन्होंने अपनी शंका की बातें सुनायीं। पितामह! ब्रह्म अजर, अमर, अविनाशी है। इसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिंगा नहीं सकता और हवा उसका शोषण नहीं कर सकती। आपने जो शरीर को ब्रह्म बताया, यह कैसे संभव है? प्रजापति ने कहा– पहले ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करो, पीछे बताऊँगा, जाओ। ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन के बाद इन्द्र ब्रह्माजी के पास पहुँचे। ब्रह्मा ने शरीर की छाया दिखाते हुए कहा–देखो! यही ब्रह्म है। इसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिंगा नहीं सकता तथा हवा सुखा नहीं सकती। इसलिए यह ब्रह्म है।' इन्द्र लौटकर घर आए और इसपर फिर विचार करने लगे। मेरा अंग-भंग हो जाए, तो छाया का भी अंग-भंग हो जाएगा। पुनः ब्रह्माजी के पास जाकर इन्द्र ने कहा–पितामह! यह छाया ब्रह्म कैसे हो सकती है! मेरे शरीर कि किसी अंग के भंग होने पर छाया का भी अंग-भंग होगा। क्या ब्रह्म का भी अंग-भंग होता है? ब्रह्म व्यापक और व्याप्य दोनों होते हैं; क्योंकि सब कुछ ब्रह्म के अंदर है और उन सबमें ब्रह्म व्याप्त है। छाया में ऐसा गुण कहाँ दीखता? प्रजापति ने कहा–'अच्छा, ३२ वर्ष और ब्रह्मचर्य का पालन करो।' ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन के बाद फिर इन्द्र प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने आँख की पुतली को दिखाते हुए कहा–'यही ब्रह्म है।' इन्द्र ने विचार किया कि यदि आँख फूट जाए, तो पुतली खत्म हो जाएगी। यह ब्रह्म कैसे हो सकती? फिर इन्द्र ने अपनी शंका प्रजापति को सुनाई। इस बार प्रजापति ने कहा– 'जाओ, अब केवल ५ वर्ष और ब्रह्मचर्य का पालन करो, फिर ब्रह्मज्ञान बताऊँगा। इस प्रकार एक सौ एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य-पालन करने के बाद इन्द्र को प्रजापति ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य-पालन से मेधाशक्ति बढ़ती है और ब्रह्मज्ञान के यथार्थ बोध की क्षमता होती है। ब्रह्मचर्य के पालन से दिनानुदिन इन्द्र की मेधाशक्ति अधिकाधिक बढ़ती गई और तब वे ब्रह्मज्ञान-लाभ के योग्य हुए। महात्मा गाँधीजी ने कहा है–'ब्रह्मचर्य का अर्थ मशीनवत् कुमारापन नहीं है, बल्कि ब्रह्म-प्राप्ति के लिए सभी आवश्यक आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य के अंतर्गत हैं।'

यह सुनिश्चित है कि जिस मकान की नींव कमजोर होगी, उसपर ऊँची अट्टालिका नहीं हो सकती। इसी भाँति ब्रह्मचर्य के अभाव में ईश्वर-भक्ति रूपी भव्य-भवन का निर्माण नहीं हो सकता, अतएव ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्य-पालन शारीरिक बल के संतुलन को यथोचित ढंग से रखता है। शारीरिक बल के बाद मनोबल की आवश्यकता है। यह कैसे होगा? प्रार्थना से। प्रार्थना किसे कहते हैं? नम्रतापूर्वक ईश्वर से कुछ माँगने को प्रार्थना कहते हैं। क्या माँगो? ईश्वर से ऐसी चीज माँगो, जो कभी तुमसे बिछुड़े नहीं और न तुम कभी उनसे बिछुड़ो। कबीर साहब ने कहा–

न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से।

वह कौन-सा पिया है, जिनसे कभी बिछुड़न नहीं हो? वह है–परमात्मा। अतएव परमात्मा से परमात्मा को और उनकी भक्ति को माँगो; क्योंकि संसार की किसी और कितनी भी चीजों को पाकर तुम्हारी माँग पूरी नहीं होगी। इच्छा का कभी अन्त ही नहीं होगा।

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते।'
'पावक काम भोग घृत तें सठ कैसे चहत बुझायो।'
(गो० तुलसीदासजी)

संत कबीर साहब कहते हैं–

'कबीर औंधी खोपड़ी, कबहूँ धापै नाहिं।
तीन लोक की सम्पदा, कब आवै घर माहिं।।'

'जग जाँचिय काहु न जाँचिय जौ,
जग जानकी जानहिं जाँचिये जी।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय,
जो जारत जोर जहानहिं जी।।'
(गो० तुलसीदासजी)

जो पहुँचे हुए संत-महात्मा हैं, उनकी बात मैं नहीं कहता; किन्तु जो साधारण जन हैं, उनका मन कुछ-न-कुछ माँग अवश्य रखता है। इसी हेतु परमात्मा से कुछ माँग लेने पर मन को संतोष होता है कि मैंने प्रभु से प्रार्थना की है, वे परम कृपालु प्रभु मेरी माँग को अवश्य पूरी करेंगे, कभी ठुकराएँगे नहीं। इसी आशा को लेकर हमलोग परमात्मा की प्रार्थना करते हैं। इससे मन में परमात्म-निर्भरता का बल बढ़ता है। इसीलिए हम परमात्मा से ही माँगें।

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहो कहा विश्वासा।।

ईश्वर पर कैसा विश्वास होना चाहिए, इसपर एक मधुर कथा सुनिये–कुछ दिन हुए एक फौज का कैप्टन जलयान से विदेश यात्रा कर रहा था। उनकी पत्नी उनके साथ थी। दैव-संयोग से तूफान आ गया। जहाज डूबने-डूबने को हो गया। भय के मारे लोग रोने-चिल्लाने लगे। कैप्टन आँख बन्द कर अपने ध्यान-धारणा में लगा हुआ, निश्चिन्त बैठा था। उसकी पत्नी घबड़ाकर (कैप्टन से) बोली–'जहाज डूबने को है और आप चुपचाप बैठे हैं। ऐसा लगता है, जैसे आपको कोई चिन्ता ही नहीं है?' पत्नी की बात सुनकर कैप्टन हँसने लगा। पत्नी ने कहा–'आप हँसते हैं।' कैप्टन ने कहा–'क्या करूँ?' 'प्राण-रक्षा का यत्न कीजिये'–उनकी पत्नी बोली। कैप्टन ने कहा–

'कबीर मैं क्या चिन्तऊँ, मम चिन्ता क्या होय।
मेरी चिन्ता हरि करें, चिन्ता मोहि न कोय।।'
'माता बालक कहैं राखती ज्यों प्राण है।
फणि मणि धरै उतारि वाही पर ध्यान है।।
माली रक्षा करै सींचता वृच्छ ज्यों।
अरे हाँ पलटू भक्त संग भगवान गऊ औ बच्छ त्यों।।'

तथा भगवान श्रीराम कहते हैं–'हे नारद! जैसे माता अपने बच्चे की रक्षा करती है, उसी प्रकार मैं अपने भक्तों की रक्षा करता हूँ।'

करउँ सदा तिन्हकै रखवारी।
जिमि बालक राखहिं महतारी।।
(गो० तुलसीदासजी)

पुनः उसने अपना रिवाल्वर खोलकर अपनी पत्नी के सीने से सटा दिया। पत्नी खिल-खिलाकर हँस पड़ी। कैप्टन ने पूछा–'तुम हँसती क्यों हो?' पत्नी ने कहा–'आपका रिवाल्वर मेरे ऊपर नहीं चलेगा।' पति ने पूछा–क्यों?' पत्नी ने कहा–इसलिए कि आप मेरे पति हैं।' कैप्टन ने कहा–'तुम अपने पति पर विश्वास करती हो और जो परमपिता परमात्मा समस्त जगत के पति हैं, उनपर विश्वास क्यों नहीं करती? वे किसी का अमंगल नहीं करते। मुझे विश्वास है कि परमात्मा हमारा मंगल ही करेंगे।' थोड़े ही देर में तूफान चला गया। जहाज भी डूबने से बच गया और सभी यात्री काल के गाल में जाने से बाल-बाल बच गये।

इतिहास के पढ़नेवाले जानते हैं कि मुगल साम्राज्य का प्रथम सम्राट बाबर था। उनका पुत्र हुमायूँ जब बीमार हुआ, तो बाबर ने हुमायूँ की चारों तरफ घूम-घूमकर ईश्वर से प्रार्थना की कि हे खुदा! हुमायूँ को चंगा कर दे और उसके बदले में मेरी जान ले ले। ईश्वर ने उनकी प्रार्थना सुनी। हुमायूँ चंगा हो गया और बाबर बीमार होकर मर गया और आपलोगों ने तो यह प्रत्यक्ष ही देखा कि जब सन् १९६२ ई० में चीनियों ने अपने देश भारत पर आक्रमण किया, तो समस्त देश में आतंक छा गया था। उस अवसर पर प्रातः स्मरणीय परम पूज्य अनन्त श्रीविभूषित श्रीसद्गुरु महाराजजी ने हमलोगों को महती सभा में आदेश देने की कृपा की थी कि–'सामूहिक प्रार्थना करो, विघ्न टल जाएगा।' हमलोगों ने सामूहिक प्रार्थना की और **'मृषा न होहिं देव ऋषि वानी'**–यह चरितार्थ हुआ। जिस दिन हमलोगों ने सामूहिक प्रार्थना की, ठीक उसी रात को युद्ध विराम हो गया और हम सभी देशवासियों ने शान्ति की साँस ली।

परमात्मा शुद्ध मन की प्रार्थना सुनते हैं, दिखावटी वा बनावटी नहीं। अतः प्रार्थना शुद्ध मन से होनी चाहिए। एकाग्रता से प्रार्थना करने पर अपने मन को संतोष भी होता है कि मैंने अपनी प्रार्थना प्रभु के समक्ष रख दी है, अब प्रभु जानें।

मैं गरजी अरजी करूँ, मरजी जस होई।
अरज विपति लिखौं आपनी, राखौं नहिं गोई।।

प्रार्थना से मनोबल बढ़ता है। इसीलिए प्रार्थना की जरूरत है। स्तुति कहते हैं–यश-गान करने को। जिनकी स्तुति करते हैं, उससे उनकी महिमा जानी जाती है। किन्हीं की बिना महिमा जाने, उनके प्रति श्रद्धा नहीं होती, बिना श्रद्धा के प्रीति नहीं होती और बिना प्रीति के दृढ़ भक्ति नहीं होती। गो० तुलसीदासजी कहते हैं–

जाने बिनु न होय परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगेस जल कै चिकनाई।।

जबतक हम जानेंगे नहीं, तबतक करेंगे क्या? ईश्वर की महिमा–प्रभुता जानकर उनके प्रति हमारी श्रद्धा दृढ़ होती है। बुद्धि कहती है, जो स्वयं देनेवाले हैं, उनसे माँगना क्या है? जब माता अपने पुत्र की वा पिता अपने पुत्र की माँग को स्वयं जानते और पूर्ण करते हैं, तब जो हमारे परम पिता परमात्मा हैं, क्या वे नहीं जानते हैं कि हमें क्या आवश्यकता है? फिर

माँगो क्यों? उनकी केवल स्तुति करो। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है–'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' क्या यह बात झूठी है? कदापि नहीं। ईश्वर हमारी प्रतिपल रक्षा करते हैं। स्तुति वा निंदा से ईश्वर प्रसन्न वा अप्रसन्न नहीं होते। वे दोनों में सम रहते हैं। स्तुति वा यशगान से हमारी भलाई होती है, हम स्वयं लाभान्वित होते हैं। उनकी ओर हमारी श्रद्धा उमड़ती है और भक्ति दृढ़ होती है।

एक बार सारिपुत्र भिक्षा माँगने गये थे। उनको एक ब्राह्मण ने एक कलछी भात किसी से दिलवा दिया था। जब वह ब्राह्मण भगवान बुद्ध के यहाँ प्रव्रजित होने आया, तो भगवान ने सभी भिक्षुओं से पूछा–क्या, इन ब्राह्मण से किसी का उपकार हुआ है? सारिपुत्र ने कहा– हाँ भन्ते! इन्होंने एक बार मुझे एक कलछी भात दिलवाया था। भगवान बुद्ध ने कहा–धन्य है सारिपुत्र! छोटे-से-छोटे उपकार को भी याद रखता है। 'सारिपुत्र! इनको तुम्हीं प्रव्रजित करो।'

जब एक कलछी भात दिलाने का उपकार माना गया, तो जो परमात्मा हमारा इतना बड़ा उपकार करते हैं–हवा, पानी देकर हमें जीवित रखते हैं। गर्भावस्था में उन्होंने हमारी रक्षा की। जन्म लेने पर जब दाँत नहीं थे, दूध दिया। दाँत होने पर अन्न, जल, कंद, मूल तथा विविध फल दिये। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में पल-पल हमारी रक्षा वे करते हैं। तब हम उनकी स्तुति भी नहीं करें, यह कितनी बड़ी कृतघ्नता होगी?

उपासना–भक्ति मार्ग में स्तुति, प्रार्थना और उपासना–इन तीनों की आवश्यकता है। ईश्वर से निकटता प्राप्त करने के लिए उपासना की जरूरत होती है। स्तुति से बुद्धि-बल बढ़ता है। प्रार्थना से मनोबल बढ़ता है और उपासना से आत्म-बल बढ़ता है। यह उपासना हम कैसे करें, इसकी विधि क्रियावान शुद्धाचरणी संत सद्गुरु से जानें। ●

पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ६१वें वार्षिक महाधिवेशन के अवसर पर दिनांक ०९.०३.१९६९ ई० को प्रातःकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था। (शान्ति-संदेश, जनवरी, २०११)

१९. देवाभागं यथापूर्व सज्जनानां उपासते

ऋग्वेद सू० १९।१२ में एक मंत्र आया है–

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्व सज्जनानां उपासते ।।

अर्थात् हे मनुष्यो! आपलोग परस्पर अच्छे प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो, विरोध छोड़कर एक समान वचन कहो। आपलोगों के चित्त एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पूर्व के विद्वान् जन सेवनीय और भजन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुए अच्छे प्रकार उपासना करते रहे, उसी प्रकार आपलोग भी ज्ञान-सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न और उपास्य प्रभु का सेवन और उपासना करो।

इस वेद मंत्र में पहली आज्ञा है कि 'परस्पर अच्छे प्रकार मिलकर रहो।' क्यों? इसलिये कि मेल में बल होता है। जहाँ मेल है वहाँ बल है; जहाँ मेल नहीं, वहाँ बल नहीं और यह तो सर्व-विदित बात है कि 'संघौ शक्तिः कलियुगे।' जबतक भारत सम्राट् पृथ्वीराज का अपने मौसेरे भाई जयचन्द के साथ मेल रहा, तबतक उनमें अटूट बल रहा। उनके सामने अन्यों की दाल गल न पाई, किन्तु ज्यों ही दोनों के परस्पर का प्रेम वा मेल टूटा, त्यों ही 'घर फूटे गँवार लूटे' वाली बात चरितार्थ हो गई। अर्थात् गोरी ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई की और विजेता बन उनको गोर देश ले जाकर गोर की गर्त में सदा के लिये निवास दे दिया। परिणमस्वरूप भारत की स्वतन्त्रता परतंत्रता में परिणत हो गई।

पुनः आपलोगों ने स्वदेश-गौरव-रक्षा-हित अपने मेल के बल का संचयन किया और सदियों की परतंत्रता की बेड़ी को तोड़कर स्वतंत्रता की साँस ली।

आपस के मेल से क्या नहीं हो सकता है? ईंटों की सीमेन्ट और बालू के साथ मेल का रूप ही अट्टालिका कहलाता है और जल-विन्दु-राशि का मिलन रूप ही सिन्धु कहलाता है। इतना ही नहीं, मेल की महिमा से दुर्गम भी सुगम और दुर्लभ भी सुलभ हो जाता है।

यदि सुरत को सत् शब्द से मेल हो जाय तो

उसे सर्वेश्वर तक की भी प्राप्ति हो जाती है, अधिक क्या कहा जाय?

आवश्यकता है, हम आपस में मेल पैदा करनेवाली चीज को समझें। सम्प्रति हमलोग सहस्त्रों ही नहीं, लगभग लाख की संख्या में यहाँ उपस्थित हैं और सबकी स्वर-लहरी एक साथ एक ही दिशा को इंगित कर रही है–प्रवाहित हो रही है। सबके विचार एक-से हैं, सभी एक ही उद्देश्य को लेकर एक ही दिशा की ओर निहार रहे हैं और सभी एक ही शान्ति की शीतल छाया पाने की उत्कण्ठा से उसकी बाट जोह रहे हैं, क्यों? इसलिए कि हम सभी एक ही पथ के पथिक, एक ही राह के राही और एक ही बाट के बटोही हैं। अब आप सरलतापूर्वक समझ गये होंगे कि इतनी बड़ी उमड़ती भीड़ को एक सूत्र में बाँधनेवाला क्या है? वह है धर्म।

यहाँ एकत्रित हम सभी जन एक ही 'धर्म' के माननेवाले हैं। स्मरण रहे, मेरे 'एक ही धर्म' कहने का संकुचित अर्थ करके कोई अनर्थ की गर्त्त में स्वयं गिरने वा अन्यों को गिराने की भूल न करें। मेरे 'एक ही धर्म' कहने का तात्पर्य है–आस्तिक धर्म से। इस आस्तिक धर्म के अन्दर विश्व के सभी आस्तिक धर्मावलम्बी आ जाते हैं। चाहे ईसाई हों, इस्लाम हों, वैदिक हों अथवा एक सर्वेश्वर में निष्ठा रखनेवाले सत् जन अपने धर्म को जिस किसी भी संज्ञा से अभिहित करते हों, वे सभी आस्तिक धर्म हैं। विश्व के अन्दर एकेश्वरवादी जितने मत, धर्म, सम्प्रदाय पंथ, मजहब वा Religion (रिलिजियन) हैं, सभी 'आस्तिक धर्म' शब्द से पुकारे जाने योग्य हैं।

जैसे कोई गाय काली होती है, कोई लाल रंग की होती है, कोई उजले रंग की होती है आदि; किंतु सबके अन्दर के दूध का रंग धवल होता है। इसी भाँति कोई मनुष्य काला होता है, कोई गोरा होता है, कोई नाटा होता है, कोई लम्बा होता है, कोई मोटा होता है और कोई दुबला-पतला होता है; किन्तु सबके अन्दर के रक्त का रंग लाल होता है। और भी लीजिए– बाहर से तकिया कोई लाल होता है, कोई नीला होता है और कोई पीला आदि किन्तु सबके भीतर एक ही रूई रहती है। इसी तरह अपने को कोई किसी भी धर्म, मजहब वा Religion का कहे; सबके अन्दर एक ही ईश्वर विद्यमान है। सबमें एक ईश्वर की मान्यता है और सभी उसी एक ईश्वर के पुजारी हैं, अतएव सभी आस्तिकधर्मी हैं।

इस्लाम धर्म के अन्दर एक बहुत बड़े फकीर हुए थे, उनका नाम था–'संत दीन दरवेशजी'। वे गुजरात प्रान्त में रहते थे। उन्होंने एक बहुत ही अच्छी बात कही है।

> हिंदु कहैं सो हम बड़े, मुसलमान कहें हम्म।
> एक मूंग दो फाड़ है, कुण ज्यादा कुण कम्म।।
> कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहीं कजिया।
> एक भजत है राम, दूजा रहिमान से रँजिया।।
> कहत दीन दरवेश, दोय सरिता मिल सिन्धू।
> सब का साहब एक, एक ही मुसलिम हिंदु।।

संतों ने कहा–अरे! आब कहो, अप् कहो वा Water (वाटर) कहो; इन तीनों शब्दों में से कुछ कहो, वस्तु एक ही है। उसी तरह अल्लाह कहो, ईश्वर कहो वा God (गॉड) कहो; इन तीनों में से किसी शब्द से सम्बोधन करो, तत्त्वतः वह प्रभु एक ही है। भाषा-भिन्नता के कारण हम भले ही स्तुति-प्रार्थना, नमाज वा Prayer (प्रेयर) शब्द कहें: किन्तु क्रियात्मक रूप में होती एक ही बात है–होता एक ही काम है। अपने-अपने विचारानुकूल कोई पूर्व दिशा, कोई पश्चिम दिशा और कोई उत्तर दिशा की ओर होकर अर्चन, वन्दन व पूजन करते हैं, किन्तु इसमें भी कोई अंतर नहीं पड़ता; क्योंकि जो परमात्मा सर्वत्र है–सर्वव्यापक है–मोहितेकुल्ल है, वह कहाँ है और कहाँ नहीं हैं? अपनी अनभिज्ञता के कारण राग-द्वेष पैदा कर हम भले ही आपस में लड़-झगड़ लें, किन्तु तत्त्व वस्तु में कोई फर्क नहीं पड़ता। संत पलटू साहब कहते हैं–

> पूरब में राम है, पश्चिम में खुदाय है,
> उत्तर और दक्षिण कहो कौन रहता।
> साहिब वह कहाँ है कहाँ फिर नहीं है,
> हिंदू और तुरक तोफान करता।।
> हिंदु और तुरक मिलि पड़े हैं खैंचि में,
> आपनी वर्ग दोउ दीन कहता।
> दास पलटू कहै साहिब सब में रहै,
> जुदा ना तनिक मैं साँच कहता।।

इस अवसर पर मुझे एक मधुर कहानी की स्मृति हो आती है। तीन बच्चे आपस में एक खेल खेल रहे थे। कुछ लोग वहाँ तमाशा देखने के लिए

एकत्र हो गये। खेल समाप्ति के पश्चात् कुछ लोगों ने प्रसन्न होकर उन्हें कुछ पैसे दिये और सभी लोग अपने घर की ओर प्रस्थान किये। उन बच्चों ने उक्त पैसों से कुछ खरीद कर खाने की अपनी-अपनी अच्छा प्रकट की। एक ने कहा–मैं तरबूजा खाऊँगा, दूसरे ने कहा–मैं हिन्दवाना खाऊँगा और तीसरे ने कहा–मैं Water melon (वाटरमेलन) खाऊँगा।

एक-दूसरे की भाषा की अजानकारी के कारण तीनों बच्चों में तनाव पैदा हो गया। प्रेम रोष में परिणत हो गया। परिणाम-स्वरूप तीनों लड़ने लग गए। संयोगवश इतने में एक पथिक सज्जन वहाँ पधारे और उन्होंने प्यार भरे शब्दों में पूछा–बच्चो! तुमलोग कितने सुन्दर, सभ्य और सुशील प्रतीत होते हो, फिर भी आपस में लड़-झगड़ रहे हो, यह शोभनीय बात नहीं। बताओ, बात क्या है? तीनों बच्चों ने क्रम-क्रम से अपने-अपने मन्तव्यों को अभिव्यक्त किया। परिस्थिति-परिज्ञान के पश्चात् उक्त पथिक सज्जन ने उनसे पैसे ले लिए और बाजार से सामान मँगाकर कपड़े से ढँक रखा। पुनः अंग्रेज बच्चे को समीप बुला कर पूछा तुमको क्या चाहिए? उसने–कहा Water melon (वाटर मेलन)। कपड़े की ओट से निकाल कर देते हुए उक्त सज्जन ने पूछा–'तुमको यही चाहिये न?' इच्छित वस्तु को पाकर लड़के ने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा–'जी हाँ।' पश्चात् इस्लाम बच्चे को निकट बुलाकर पूछा–'तुमको क्या चाहिये? उसने कहा–'हिन्दवाना।' पुनः उसी कपड़े की ओट से दूसरा टुकड़ा निकालकर उस लड़के को दिया। वह खुशी के मारे उछलता हुआ बोला–'यही तो मैं चाहता था।' तत्पश्चात् वैदिक बच्चे को अपने पास बुलाकर बचा हुआ तीसरा टुकड़ा देते हुए पूछा–'तुम्हारी इच्छा यही खाने की थी न?' अपनी मनोवांछित वस्तु प्राप्त करके लड़के ने कहा–'जी हाँ।' और वह गद्गद चित्त होकर चला गया।

वस्तुतः तरबूजा, हिन्दवाना और वाटर मेलन एक ही वस्तु है। भाषा-ज्ञान की कमी के कारण बालकों को आपस में झगड़ा हुआ।

यदि हम भी परम प्रभु परमात्मा को किसी एक ही भाषा का जानकार जानकर उसी में बाँधकर रखना चाहें और आपस में ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि भड़का कर लड़ना आरम्भ करें, तो वह हमारी ऐसी ही बाल-बुद्धि का परिचायक होगा और तब ऐसा कहना भी कुछ अयोग्य नहीं होगा कि हम भी उन्हीं बच्चों की भाँति हैं, उनसे कुछ भी विशेष नहीं। हाँ, तो मैं कह रहा था कि सबको एक सूत्र में बाँधने वाला 'धर्म' है और धर्म की जड़ 'सत्य' है। हमारे प्राचीन ऋषि याज्ञवल्क्य जी कहते हैं–'सत्यं वद। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। सत्यान्नास्ति परोधर्मः। सत्यमेव जयते नाऽनृतम्।' आदि। और गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

धर्म न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना।।
सत्य-मूल सब सुकृत सुहाये।
वेद पुरान विदित मनु गाये।।
(रामचरितमानस)

अतएव आपस में मेल से रहने के लिए अपने को आस्तिक धर्म में रखना और सत्यव्रत में बरतना सबके लिए नितान्त आवश्यक है। यह वेदाज्ञा है। साथ ही, उक्त वेद-मंत्र में यह बात भी कही गयी कि हमलोग आपस में वैर-विरोध छोड़कर रहें, सब कोई ज्ञान प्राप्त करें और ज्ञान-सम्पन्न होकर परम प्रभु की उपासना करें। सभी कल्याण-कामी जनों को वेदादेश शिरोधार्य होना ही चाहिए। (मई, १९६९)

२०. मानव जीवन-पर्यन्त दुःख का ही मुख देखते हैं

आज मैं आपलोगों को सुख-दुःख के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहूँगा। किन्तु यह इतनी सामान्य बात है कि इसको एक शैशव-शिशु से लेकर नख-शिख श्वेत तक के लोग जानते हैं। मात्र मानव नहीं, अपितु जागतिक जीव मात्र सुख और दुःख से सुपरिचित हैं। इतना होने पर भी, मेरी समझ से जो बात जितनी सरल होती है, उसके विश्लेषण में वह उतना ही क्लिष्ट बन जाती है। उदाहरणार्थ आप 'सूर्य' को लीजिए। 'सूर्य' को कौन नहीं जानता? किन्तु यदि सूर्य का सरल शब्दार्थ किया जाए, तो जैसे-जैसे उसका अर्थ किया जाएगा, वैसे-ही-वैसे वह दुरूह होता जाएगा।

अब आप सूर्य के अर्थ पर ध्यान दीजिए। कोई

पूछे कि 'सूर्य' शब्द का अर्थ क्या है? तो कहेंगे–'रवि'। इससे सरल? दिनकर और सरल? दिवाकर। और भी? दिनेश। और? भास्कर, मार्तण्ड, भानु, प्रभाकर, पतंग, अंशुमाली, अंशु, अंशुधर, अंशुमान, सारंग, पूषण, अर्क, अर्यमा आदि कितने गिनाये जाएँ? जितना आगे बढ़ते जाइए, क्लिष्टता बढ़ती जाएगी।

आपने देखा कि 'सूर्य' शब्द का किस भाँति सरलता से जटिलता में परिणत होता गया। इसी भाँति सुख-दुःख के विवेचन के संबंध में भी आप जानें। यूँ तो दुःख-सुख को कौन नहीं जानता? जन्म-धारण-काल से लेकर मानव मरण-पर्यन्त प्रायः दुःख का ही मुख देखा करता है।

जन्म-धारण-काल में शिशु रोता है अथवा यों समझिए कि रोते हुए ही शिशु संसार में आता है। आज तक कोई भी शिशु हँसते हुए जन्म नहीं लेता है और रोना दुःख का प्रतीक है। जन्म-धारण की बात जाने दीजिए, गर्भ से ही कष्ट का आरम्भ हो जाता है। विनय-पत्रिका ग्रंथ में गोस्वामीजी ने गर्भस्थ शिशु के करुण-क्रन्दन और कष्ट के चित्रों को इस भाँति चित्रित किया है–

> **आगे अनेक समूह संसृत उदरगत जान्यो सोऊ।**
> **सिर हेठ ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ।।**
> **सोनित पुरीष जो मूत्रमल कृमि कर्दमावृत सोवई।**
> **कोमल शरीर गंभीर वेदन सीस धुनि धुनि रोवई।।**

मातृ-गर्भ में आना, मानो निमन्त्रण देकर दुःखों को बुलाना है। गर्भस्थ शिशु का शिर नीचे और पैर ऊपर रहता है। उस महान कष्ट के काल में वहाँ कोई कुछ भी पूछनेवाला नहीं। रक्त, विष्ठा, मलमूत्र, कीड़े और कीचड़ जैसे घृणित वस्तुओं से घिरा हुआ वहाँ वह पड़ा रहता है। सुकोमल शरीर में गम्भीर पीड़ा के कारण सिर धुन-धुन कर रोता है। लेकिन सहायक कोई नहीं–न माँ, न बाप, न बन्धु और न कोई कुटुम्ब परिवार ही। यह तो जन्म लेने के पूर्व की बात है और जन्म लेने के पश्चात् की बात सुनिए–

नवजात अबोध शिशु भूख-प्यास से व्याकुल होने पर भी अपने मनोभावों को व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ रहता है; क्योंकि उस समय वह बोलने के लिए जानता नहीं, मात्र रोना जानता है। जाड़ा, गर्मी वा बरसात कुछ भी हो, पेशाब और पखाने पर लेटा रहता है। भूख लगने, प्यास लगने, पेट दर्द, सिर दर्द आदि किसी भी प्रकार के कष्ट होने में, वह रोने के अतिरिक्त कुछ जानता नहीं। बेचारी माता बच्चे को मात्र दूध पिलाना जानती है, पर उसके रोने के अर्थ को जानती नहीं, परिमाण-स्वरूप उसको चुप करने के सभी उपाय व्यर्थ हो जाते हैं। मान लीजिए किसी बच्चे के पेट में दर्द है, इस हेतु वह बच्चा क्रन्दन करता है और उसकी माता यह जानकर कि बच्चा भूख के कारण रोता है; उसको स्तन-पान कराती है। इसका परिणाम क्या होगा–बच्चे को सुख वा दुःख? विचारवान जान सकते हैं।

प्रातःस्मरणीय परम पूज्य अनन्त श्रीविभूषित श्रीसद्गुरुजी महाराज के श्रीमुख से मैंने इस संबंध की एक रोमांचकारी घटना सुनी थी। उषाकाल वा अरुणोदय का समय था। रेलगाड़ी के प्लेटफार्म पर अपने पिता की गोद में एक नवजात शिशु रो रहा था। उसको शान्त करने के लिए उसका पिता विविध यत्न करता, किन्तु बच्चा रोना बन्द नहीं करता। जब वह उस शिशु के मुँह में दूध की शीशी लगा देता, तो एक-दो घूँट दूध चूसकर बच्चा चुप हो जाता। पुनः अविलम्ब अपना क्रन्दन आरंभ कर देता। यह क्रम कब से, किस समय से–कितनी देर से जारी था, पता नहीं। देखते-देखते कुछ काल के पश्चात् परम पूज्य गुरुदेवजी महाराज से उसकी दयनीय दशा देखी नहीं गई और उन्होंने द्रवित होकर पूछ ही डाला–'इस नन्हें बच्चे को कहाँ ले जाते हो–यह बच्चा इतना रोता क्यों है?' उस बच्चे के पिता ने कहा– 'महाराज! यह मेरा लड़का है। इनकी माता इसको छोड़कर परलोक सिधार गई। इस शिशु की मौसी को जब इस बात की जानकारी हुई, तो उसने इसके पालन-पोषण करने की इच्छा प्रकट की। अतएव इस शिशु को लेकर मैं उसके घर गया था। किन्तु प्रभु की लीला क्या थी, पता नहीं; विपत्ति अकेली आती नहीं। इसकी मौसी ने इसको अपने पास रखना स्वीकार नहीं किया। मैं क्या करता? किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो–विवश होकर पुनः इस बच्चे को लेकर वतन लौट रहा हूँ। और, मातृहीन होने के कारण बच्चे का रोना तो स्वाभाविक ही है।' पूज्य गुरुदेवजी ने पुनः पूछने की कृपा की–'इतने सवेरे दूध तुमको कहाँ मिला?' उसने निवेदन किया– 'महाराज! यह आज का नहीं है, कल्ह वाला बासी दूध है। बच्चा जब कभी रोता है, मुँह में लगा देता हूँ,

तो चुप हो जाता है।' पूज्य गुरुदेवजी ने कहा–'अरे! यह क्या कर रहे हो? बच्चे को बासी दूध मत पिलाओ।' इतने ही में उनकी अहैतुकी कृपा से बच्चे को उल्टी हो गई। पेट का संचित बासी दूध बाहर निकल आया, बच्चे की तकलीफ दूर हुई और रोना छोड़कर वह सो गया।

विचारणीय है, जो बच्चा पेट की व्यथा से व्यथित हो क्रन्दन कर रहा हो और उस अवस्था में उसको बासी दूध पिलाया जाय, यह कितनी दर्दनाक दशा है? किन्तु क्या किया जाए, अपने उस पुत्र से उसके पिता को कोई शत्रुता तो थी नहीं कि इस तरह का व्यवहार वह उसके साथ करता था। पिता तो जो कुछ करता था, अपने पुत्र की भलाई को दृष्टि में रखकर ही, किन्तु परिणाम प्रतिकूल होता था। गो० तुलसीदासजी ने इस विषय को इस भाँति कहा है–

बाल दशा जेते दुख पाये। अति असीम नहिँ जाहिँ गनाये।।
छुधा व्याधि बाधा भई भारी। वेदन नहिँ जानै महतारी।।
जननी न जानै पीर सो, केहु शिशु रोदन करै।
सोइ करइ विविध उपाय, जातें अधिक तव छाती जरै।।
कौमार सैसब अरु किसोर, अपार अघ को कहि सकै।।
व्यतिरेक तोहि निरदय! महाखल आन कहु को सहि सकै।।

कुछ बड़े हुए, पढ़ने लगे, कहीं अनुत्तीर्ण हुए तो महान कष्ट। पढ़ते-पढ़ते कॉलेजों में जहाँ तक पढ़ना चाहिए, पढ़ चुके। अब नौकरी के लिए दौड़-धूप और चिन्ता। जबतक नौकरी नहीं मिली, कोई काम–रोजगार हाथ नहीं आया, तबतक उसी की चिन्ता में सड़ते और गलते रहे। युवा अवस्था आई, विवाह हुआ। दम्पति में सम्पत्ति रही, तब तो सुख-शांति मिली, नहीं तो विपत्ति-ही-विपत्ति। समृद्धिशाली दाम्पत्य जीवन में भी संतान-विहीन दशा में सुख कहाँ? अटूट सम्पत्ति होने पर भी संतानहीन का जीवन सारशून्य होता है। यदि किसी भाँति संतान हुई और वह रुग्णावस्था में रहने लगा, तब तो और भी चिन्ता बढ़ जाती है कि कहीं देनेवाला लेने को तैयार नहीं हो गया! जबतक रोग मुक्त न हो जाए, इसी चिंता में घुलते रहते हैं। रोग मुक्त हुआ, पढ़ा-लिखाकर सुशिक्षित बनाया, विवाह करवा दिया, विवाह के बाद यदि बेटा बाप से विलग होकर कहीं अलग ही बंगला बसाना शुरू कर दिया, तब तो कहना ही क्या? और संग रहते हुए ही यदि कहीं पिता का परित्याग कर पुत्र ही परलोकगामी हुआ, तब तो दुःख का पहाड़ ही टूट पड़ता है।

यह एक बार अथवा एक जन्म की बात नहीं। कितनी बार इस भूतल के हम भार बने, ठिकाना नहीं और कितनी बार नाना प्रकार के दुःखों एवं चिन्ताओं की चिन्ता-ज्वाला में जले, कौन कह सकता है? असंख्य बार हमने जन्म लिये, असंख्य बार काल के गाल में गए। असंख्य बार पति-पत्नी का मिलन और बिछुड़न हुआ; असंख्य बार सम्पत्ति और संतति की हीनता के दुःख भोगे। असंख्य बार रोग-सोग से संतप्त हुए। असंख्य बार कुटुम्ब-परिवार हुए और नष्ट हुए। असंख्य पुत्र-पुत्रियाँ, नाती एवं पोते हुए और सभी प्रातःकालीन नक्षत्र की भाँति विलीन हुए। असंख्य बार संसार और वियोगरूपी सुख-दुःखात्मक थपेड़े खाये, रोये, चिल्लाये और बिलबिलाये। हाय सम्पत्ति! हाय संतति! हाय परिवार! आदि। और, हाय-हाय का क्रन्दन करते असंख्य बार संसार से सिधार गए, लेकिन मिला क्या? लाभ क्या हुआ? संतों ने कहा–यदि यही हरकत आगे भी तुम्हारी जारी रही, तो स्वयं समझ लो भविष्य में तुमको क्या मिलेगा?

एक बार भगवान बुद्ध ने अपनी शिष्या पटाचारा से कहा था–'पटाचारे! जिस प्रकार तू आज पुत्रादिकों के मरण के लिए आँसू बहा रही है, उसी प्रकार इस अनादि संसार में पुत्रादिकों के मरण के लिए बहाए हुए तेरे आँसू चार महासमुद्रों के जल से भी बहुत अधिक हैं। पटाचारे! तेरे पुत्रादि तेरी शरण नहीं हो सकते। तू अपने शील का शोधन कर, जिससे तू निर्वाणगामी मार्ग को प्राप्त करेगी। पुत्र रक्षा नहीं कर सकते और न पिता, न बन्धु लोग ही। जब मृत्यु पकड़ती है, तो जातिवाले रक्षक नहीं हो सकते।'

इस प्रकार सामान्यतया सुख-दुःख को सभी जन जानते हैं। किन्तु परिभाषा के अनुकूल सुख-दुःख-विवेचन कितना पेचीदा है, अवलोकन कीजिए।

किन्हीं का कथन है–संसार सुखमय और रमणीय है, इसमें दुःख कहाँ? जो कोई कहते हैं कि संसार सुखमय है, वे भ्रम में हैं। उन्होंने अपनी भावना को दूषित कर लिया है, संसार में जितने पदार्थ हैं; सभी सुखोपभोग के साधन हैं। दूसरे का कथन है–दुनिया दुःखमय है, इसमें सुख कहाँ? संसार में सुख तो एक ऐसा विलक्षण पदार्थ है, जैसे दूज का चाँद। बल्कि

दूज के चाँद के लिए सुनिश्चित है कि महीना पूरा होते-होते वह आएगा ही। किन्तु सुख के दर्शन जीवन में कब होंगे, पता नहीं—बिल्कुल अनिश्चित। जैसे बादल में बिजली चमकी, क्षीण प्रकाश-सा मालूम हुआ, पर प्रकाश कहाँ? सामने घोर अंधकार का साम्राज्य। यही यह संसार है और यही संसार का सुख है। गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

अनविचार रमणीय महा संसार भयंकर भारी।

अर्थात् बिना विचार किए, विवेकहीन के लिए संसार रमणीय है, किन्तु विचारवान के लिए यह संसार महा भयंकर है। जैसे साँप का बाह्याकार देखने में सुन्दर, सुहावना और मनोहर हार-जैसा प्रतीत होता है, किन्तु उसके भीतर में विष भरा रहता है। इस संसार को और यहाँ के सुखों को ऐसा ही जानो। महाभारत शान्तिपर्व में लिखा है—

यदिष्ट तत्सुखं प्राहुः द्वेष्यं दुखमिहेष्यते।

अर्थात् जो कुछ हमें इष्ट है, वही सुख है और जिसका हम द्वेष करते हैं यानी जो हमें नहीं चाहिए, वही दुःख है। अन्य का कथन है यदि इष्ट ही सुख है तो सभी के अभीष्ट एक-से नहीं होते। अतएव भिन्न-भिन्न इष्ट होने के कारण सबके सुख भिन्न-भिन्न होंगे, एक नहीं। किन्तु सुख की संज्ञा से अभिहित करना तो उसी के लिए अपेक्षित है, जो सबके लिए समान हो—एक हो। जैसे जिसको हम अग्नि कहते हैं, उसको जिस किसी की हथेली पर रखिए, उसका गुण वहाँ काम करेगा। अर्थात् अग्नि से उष्णता का बोध होगा और उसकी दाहक क्रिया वहाँ काम करेगी यानी हाथ जलेगा। इसी तरह सुख की संज्ञा से हम उसे ही सम्बोधित करें, जिसको पाकर सभी प्राप्तकर्त्ता सुख का अनुभव कर सकें।

एक दूसरे सिद्धांत के अनुसार अभाव दुःख है और भाव सुख है। जैसे अंधकार के अभाव को प्रकाश और प्रकाश के अभाव को अंधकार कहते हैं। यदि दिन नहीं है, तो रात है और रात नहीं है, तो दिन है। तात्पर्य यह कि रात के अभाव को दिन और दिन के अभाव को रात कहते हैं। रात हो वा दिन, एक ही समय के दो विभाग हैं, ठीक वैसे ही, जैसे एक ही सिक्के के दो पृष्ठ हों।

तीसरे सिद्धांत के अनुकूल इच्छित वस्तु की अपूर्णता को 'दुःख' और उसकी प्रचुरता को 'सुख' कहते हैं। अन्य का कथन है—यह सिद्धांत भी पूर्णरूपेण दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता। यदि थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए कि इच्छित वस्तु की प्राचुर्य-प्राप्ति ही सुख है, तो मान लीजिए किसी को प्यास लगी, अब उसके सुख के लिए उसको प्रचुर मात्रा में पानी चाहिए। पानी पीने के लिए वह गंगा के उपकूल में उपस्थित हुआ। जलपान-काल में उसका पैर फिसल गया और वह गंगा के अथाह जल में डूबने लग गया, तो क्या ऐसी अवस्था में यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य सुख में डूब रहा है? कदापि नहीं।

अन्य कहते हैं—न्यूनता वा प्रचुरता की बात नहीं, तृप्ति में 'सुख' है। जितने पानी से उसकी प्यास बुझती, उतनी पानी पी लेने पर वह तृप्त हो जाता, इसी 'तृप्ति' को सुख कहते हैं। इसके विरोध में प्रतिपक्षी कहते हैं—सांसारिक पदार्थों को पाकर संसार में तृप्ति किसको हुई है? मान लिया कि एक गिलास पानी पी लेने पर वह संतुष्ट हो गया, लेकिन कितनी देर के लिए? पुनः पुनः उसको प्यास लगती रहेगी और पुनः पुनः उस दुःख से दुःखित होता रहेगा, सुख मिला कहाँ?

भर्तृहरिजी कहते हैं—'प्यास से जब मुख सूख जाता है, तब हम उस दुःख के निवारण के लिए पानी पीते हैं; भूख से जब हम व्याकुल होते हैं, तब मिष्टान्न खाकर उस व्यथा को हटाते हैं और काम-वासना के प्रदीप्त होने पर उसकी स्त्री-संग द्वारा तृप्त करते हैं।' इतने कहकर अन्त में कहा है कि—

प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विषर्यस्यति जनः।

अर्थात् किसी व्याधि अथवा दुःख के होने पर उसका जो निवारण या प्रतिकार किया जाता है, उसी को लोग भ्रमवश 'सुख' कहते हैं। दुःख निवारण के अतिरिक्त 'सुख' कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

विचार करने पर वर्णित सिद्धांत भी सर्वमान्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि महाभारत आदिपर्व ७५।४९ में एक प्रसंग आया है कि शुक्राचार्य के श्राप से जब राजा ययाति जरावस्था को प्राप्त कर गया, तब उसने अपने पुत्र पुरु से उसकी युवावस्था को माँग लिया। फलतः उसका वह पुत्र वृद्ध हो गया और ययाति जवान। उस जवानी को पाकर राजा ने दस-बीस वा सौ-दौ सौ वर्ष ही विषय-भोग नहीं भोगा, अपितु पूरे एक हजार वर्ष तक सब प्रकार के विषय-सुखों का

उपभोग किया, किन्तु अन्त में उन्होंने अपने अनुभव की बात कही–

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।
(म०भा०आ० ७४।४९)

अर्थात् काम के उपभोग से विषय-वासना की तृप्ति तो होती ही नहीं, किन्तु विषय-वासना दिनानुदिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है, जैसे अग्नि की ज्वाला हवन पदार्थों से बढ़ती जाती है।

राजा ययाति के इस अनुभवपूर्ण वाक्य का समर्थन धम्मपद नामक बौद्ध ग्रंथ भी करता है। यथा–

न कहापण बस्सेन तित्ति कामेसु विज्जती ।
अप्पस्सादा दुखा कामा इति बिंञाय पंडितो ।।
अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति ।
तण्हक्खयरतो होति सम्मासम्बुद्ध सावको ।।
(बुद्धवग्गो ८।९)

अर्थात् यदि रुपयों की वर्षा हो, तो भी मनुष्यों की भोगों से तृप्ति नहीं हो सकती। सभी काम (भोग) अल्प स्वाद और दुःखद हैं, ऐसा जानकर पंडित देवताओं के भोगों में भी रति नहीं करता और सम्यक् सम्बुद्ध का अनुयायी तृष्णा को नाश करने में लगा रहता है। और गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

पावक काम भोग घृततें सठ कैसे चहत बुझायो ।

और भी दूसरे शब्दों में–

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते ।।

वस्तुतः विषयोपभोग से तृप्ति व सुख का होना, कभी भी कदापि सम्भव नहीं। जैसे अज्ञ श्वान शुष्क अस्थि को चबाता है, उसकी ठोकर से उसके दाँतों के जबड़े से रक्त स्रावित होता है, मूर्ख कुत्ता उसको चूसता है और यह समझकर कि उक्त हड्डी से ही यह रस निःसृत हो रहा है, प्रसन्न होता है। उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा विषयों के सम्पर्क से हम जिस किसी भी प्रकार के सुख का भान करते हैं, वह हमारे अन्दर का सुख है, बाह्य विषयों का नहीं, किन्तु अपनी अज्ञता के कारण हम विषय-विष को अपने सुख-प्राप्ति का साधन समझकर प्रसन्न होते हैं। यह हमारी कितनी निरीमूर्खता है?

सुख-दुःख के संबंध में हमारे शास्त्र का यह भी कथन है कि जो हमारे मन और इन्द्रियों को सुहावे, वह सुख तथा जो हमारे मन और इन्द्रियों को नहीं सुहावे, वह दुःख है।

अनुकूल वेदनीय सुखं प्रतिकूल वेदनीयं दुखम् ।

विवेक-विलोचन से अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाह्य जगत में यथार्थतः सुख है ही नहीं। यदि हम नित्य शाश्वत सुख चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि हम अपनी बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करें। बाह्य जगत का अवलोकन बन्द कर अन्तर्जगत की झाँकी करें।

एक बड़ी अच्छी रोचक कथा है। दो भाई थे। एक देहात में रहते थे और दूसरे सुदूर शहर में। दोनों भाइयों को दोनों जगहों में निरंतर निवास करते वर्षों बीत गए। अधिक दिनों तक एक स्थान में रहते हुए ग्रामीण भाई का चित्त गाँव से ऊबने लगा। यह मन-ही-मन सोचने लगा–मेरा छोटा भाई, जो शहर में रहता है, उसका जीवन कितना सुखी व सम्पन्न होगा? बस, ट्राम, रेलगाड़ी, इक्के, टमटम, स्कूटर आदि की सवारी करता होगा, अच्छे-अच्छे होटलों में अच्छा-अच्छा खाना खाता होगा, सुन्दर सुसज्जित सुरम्य भवन में सुवस्त्र सह सुखपूर्वक निवास करता होगा। कभी नाटक, कभी नौटंकी, कभी सिनेमा से अपने मन को बहलाकर आह्लादित करता होगा। कभी क्लब, कभी वन-उपवन, कभी सुन्दरवन की सैर कर मन के अरमानों को पूर्ण करता होगा। छोटे भाई का बड़ा भाग्य अहा! कितना अहोभाग्य है उसका!

और मैं बड़ा भाई होकर ही क्या हुआ? निट्ठाह देहात में निरंतर सड़ रहा हूँ। क्या शहर का सुनहला जीवन और कहाँ देहात की दैन्य-दरिद्रता को कौन नहीं जानता? घर पर फूटा खपड़ा और तन पर फटा कपड़ा......। काश, मैं भी एक बार अपने जीवन में शहर की सैर कर पाता! इतना सोचकर वह शहर की ओर चल पड़ा।

उसका दूसरा भाई, जो शहर में रहता था, उसके मन में आया–मेरे बड़े भाई साहब बड़े भाग्यवान हैं, जो देहात में रहते हैं। देहात का कितना दोष-हीन वातावरण, कितने भोले-भाले भले दिल के लोग, कितना भला व्यवहार, कितना सादा, सुन्दर और साफ जीवन! उफ्.. और यहाँ (शहर) का–कितना विषाक्त और गन्दा वातावरण, ईर्ष्या, द्वेष, कलह और प्रपञ्च परिपूरित लोग। कितना छल-छद्म और विकारी जीवन! अफसोस! और देहात का–देवदुर्लभ

शुद्ध दुग्ध, घृत, शुद्ध अन्न-फल तथा शुद्ध पवन और पानी; क्या कहना!

और, शहर में तो कहर होता है, कौन नहीं जानता? क्या कहा जाए? कल का आटा, नल का पानी और मीलों विषाक्त करनेवाली मिल की धुआँ मिश्रित हवा। अतएव, रे मन! चलो अपने वतन की ओर–यह कहकर वह घर की ओर चल पड़ा।

छोटे भाई ने शहर से घर की ओर और बड़े भाई ने घर से नगर की ओर प्रस्थान किया। कुछ पथ तय करने के पश्चात् संयोग-वश रास्ते में ही दोनों भाइयों की भेंट हो गई। परस्पर प्रणिपात, आशीर्वाद और कुशलोपरान्त दोनों एक-दूसरे से उनकी यात्रा का कारण पूछा। अपने-अपने मनोभावों का स्पष्टीकरण करते हुए छोटे भाई ने कहा–भाई साहब! शहर में सुख-शांति-संयुत कोई नहीं। बड़े भाई ने कहा–भाई! देहात में भी दुःख से मुक्त कोई नहीं।

इस प्रकार एक ने देहात के दुर्गुणों को बताकर उसको हेय बताया, तो दूसरे ने नगर के नग्न नृत्य का चित्र चित्रित कर उसे श्रेय-हीन सिद्ध किया।

अन्त में दोनों भाइयों ने यही निष्कर्ष निकाला–न तो शहर में सुख है और न देहात में। बाह्य जगत में कहीं भी सुख नहीं है। यदि यथार्थ सुख चाहो, तो अपने अन्दर धँसो और अन्तर के अन्तिम तह तक धँस कर देखो। तब वह सुख मिलेगा, जिसको प्राप्त कर कोई भी प्राप्तिकर्त्ता स्वप्न में भी नहीं कह सकता कि यह दुःख है या अब किसी प्रकार का दुःख है।

पावइ सदा सुख हरि कृपा, संसार आशा तजि रहै ।
सपनेहु नहीं दुख द्वैत दरशन, बात कोटिक को कहै ।।

(गो० तुलसीदासजी महाराज) शां०सं०जून, १९६९

दिनांक ११.५.१९६९, स्थान : आश्रम कुप्पाघाट

२१. यह तन साधना में सफलता के अंतिम चरण

गुरु-प्रदत्त साधना में संलग्न साधक उसमें सफलता की आकांक्षा रखता है। किन्तु साधना में सबको समान रूप से सफलता नहीं। परिणामस्वरूप कितने साधक घबड़ा जाते हैं, धीरज खो बैठते हैं और निराशा देवी की गोद में बैठने की तैयारी करने लगते हैं। अतएव उन साधकों को थोड़ा धैर्य धारण कर यह जान लेना आवश्यक है कि उनकी साधना में सफलता नहीं होने देने में बाधक का व्यवधान उत्पादक क्या है? जैसी किसी भी रोग के कारण को जाने बिना उसके निवारण का समुचित उपचार वा यथोचित चिकित्सा संभव नहीं। उसी भाँति असफलता का कारण जाने बिना उसके निवारण का समुचित यत्न नहीं हो सकता।

हमारी साधना में सफलता क्यों नहीं? यह प्रश्न ठीक वैसा ही है, जैसे कोई पूछता हो कि साबून लगाने पर हमारा कपड़ा साफ क्यों नहीं होता? इस विषय को इस भाँति समझें–जैसे कपड़ा और साबून ये दो चीजें हैं। इसी तरह एक साधक होता है और दूसरी साधना होती है। जैसे सभी कपड़े एक से और उसी साबून भी एक से नहीं होते अर्थात् कपड़े-कपड़े और साबून-साबून में भिन्नता होती है। इसी भाँति सभी साधक एक-से नहीं होते। सभी के अपने-अपने संस्कार होते हैं। अर्थात् साधक-साधक और साधना-साधना में भिन्नता होती है।

यदि किसी का कपड़ा कम मैला है और साबून अच्छा है, तो वह कपड़ा शीघ्र साफ हो जाता है और यदि कपड़ा अधिक मैला हो, तो अच्छा साबून रहने पर भी उसकी शीघ्र सफाई गोचर नहीं होती। उसी प्रकार जिस साधक के अंतःकरण के कल्मष कम हों और साधना-क्रिया यथोचित हो और हो रही हो, तो उसका शीघ्र सफलता मालूम हो, यह असंभव नहीं, वरन् पूर्ण संभव है और जिस साधक का अंतःकरण काषायपूरित हो, उसकी साधना-विधि उत्तम होने पर भी उसे शीघ्र सफलता दीखती नहीं और जैसे यदि साबून ही ठीक नहीं हो, तो वह कपड़े को क्या साफ करेगा? उसी भाँति जिस साधक की साधना- विधि ही गलत हो, तो वह अपनी साधना में प्रगति क्या देख सकता है? इसी तरह साधना की सफलता विफलता साधक और उसकी साधना विधि इन दोनों पर अवलंबित है।

जैसे एक ही सूर्य-रश्मि मिट्टी, पानी और काँच–इन तीनों चीजों पर पड़ती है, किन्तु जो चमक काँच से निःसृत होता है, वह पानी से नहीं और जो पानी से निकलता है, वह मिट्टी से नहीं। प्रायः ऐसा

देखा भी जाता है कि एक ही सद्‌गुरु के अनेक शिष्य हैं, जिन सबको समान रूप से शिक्षा-दीक्षा दी गयी। किन्तु उन शिष्यों में किसी का तेज अधिक, किसी का कम और किसी में कुछ भी नहीं दीखता।

जैसे जिस बीज का छिलका जितना पतला होता है, वह उतना ही शीघ्र अंकुरित होता है और जिसका छिलका जितना मोटा होता है, उससे उतनी ही अधिक देर में अंकुर निकलता है। प्रमाणस्वरूप आप मूँग, बेर और बेल को लीजिए। मूँग का त्वचा पतली होने के कारण उसको अंकुरित होने में कोई देर नहीं लगती अर्थात् उसके लिए मात्र दो-तीन दिन पर्याप्त है। किन्तु यदि बेर और बेल का अंकुर देखना चाहते हैं, तो उसके लिए हमें महीनों प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसी तरह फल लगने के समय में भी अंतर होता है। जैसे आप एक ही दिन केले, आम और अखरोट के पेड़ लगावें, तो आप देखेंगे कि छः महीने से एक वर्ष के अंदर ही केला फलने लगता है। आम्र-फल प्राप्त करने में चार-पाँच वर्ष लग जाते हैं और अखरोट के फल पाने के लिए हमें चालीस वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। क्योंकि चालीस वर्ष के पूर्व उसमें फल नहीं लगते। इसी भाँति एक ही गुरु के कई शिष्य होने पर भी सबकी सफलता में समय का अंतर पड़ सकता है।

साधना में सफलता के लिए साधक की संलग्नता देखी जाती है। साधना विधि उचित रहने पर भी जो जितनी तत्परता से साधना करता है, वह उतना शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि जो बहुत पूर्व दीक्षित हो चुके हैं, वे साधना में बहुत आगे बढ़ गये हों और जो बहुत पीछे दीक्षित हुए हैं, वे पीछे ही रह जाएँ। अपने जन्मों के अर्जित संस्कार के कारण अधिक दिनों के दीक्षित जन भी साधना में पीछे छूट सकते हैं और पीछे के दीक्षित जन भी साधना में आगे बढ़ सकते हैं। जैसे रेलगाड़ी का एक ही मार्ग होने पर भी एक्सप्रेस और डाकगाड़ी (Express & Mail Train) सवारी गाड़ी (Passanger Train) से आगे निकल जाती है। प्रमाणार्थ हावड़ा से ३३५ नं० की सवारी गाड़ी १५ बजकर चालीस मिनट में छूटती है और १८ बजे १४ मिनट पर वर्द्धमान पहुँचती है। उसी हावड़ा स्टेशन से ३०९ नं० की कोल फिल्ड एक्सप्रेस १६ बजकर ३५ मिनट पर छूटती है और वह ठीक १८ बजे वर्द्धमान पहुँच जाती है। यानी पैसेंजर गाड़ी से ५५ मिनट पश्चात् एक्सप्रेस गाड़ी के खुलने पर भी वह पूर्व गाड़ी से १४ मिनट पूर्व ही पहुँचती है। यही हालत साधकों के संबंध में भी समझना चाहिए। भगवान बुद्ध के समय यह रेलगाड़ी नहीं थी। अतएव उन्होंने घोड़े से इसकी उपमा दी है। यथा–

अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहु जागरो।
अब्बलस्सं'व सीघस्सो हित्वा याति सुमेधसो॥
(धम्मपद, अप्पमादवग्गो)

अर्थात् प्रमादी लोगों में अप्रमादी तथा सोये लोगों में जागरणशील विज्ञ उसी प्रकार आगे निकल आता है, जैसे तेज घोड़ा दुर्बल घोड़े से आगे हो जाता है। साधना में श्रद्धा और इन्द्रिय संयमन की अनिवार्य आवश्यकता। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने गी० अ० ४/३९-४० में कहा गया है–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अर्थात् श्रद्धावान और जितेन्द्रिय जन ज्ञान प्राप्त करता है और वह ज्ञान पाकर तुरत परम शान्ति पाता है। किन्तु जो अज्ञानी और श्रद्धारहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है। संशयग्रस्त के लिए न तो यह लोक है, न परलोक; उसे कहीं सुख नहीं है। श्रद्धा की श्रेष्ठता गोस्वामीजी को भी स्वीकार है। वे धर्म की मूलभित्ति 'श्रद्धा' को मानते हैं। यथा–

श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।
बिनु महि गन्ध कि पावइ कोई॥
(रामचरितमानस)

श्रद्धा किसे कहते हैं?

'श्रद्धा किं? करिये जहँ प्रीती।
लखि न अभाव होइ विपरीती॥

परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के शब्दों में हम कह सकेंगे–'गुरुवाक्य, सच्छास्त्र और सद्विचार; इन तीनों के मेल मिलने पर जो अटल विश्वास होता है, उसी को श्रद्धा कहते हैं।' पुनः गीता ९/३ में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है–

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्यु संसारवर्त्मनि॥

अर्थात् हे परन्तप! इस धर्म में जिन्हें श्रद्धा नहीं है, ऐसे लोग मुझे न पाकर मृत्युरूप संसार मार्ग में बारंबार ठोकर खाते हैं।

श्रद्धाहीन, संदेह मथित संशय-ग्रस्त जन से साधना नहीं हो सकती। तब ऐसे जन के लिए 'मुक्ति' की इच्छा वैसी ही है, जैसे गगन-दोहन कर पयपान की इच्छा कोई करता हो। इसलिए मैत्रेय्युपनिषद् अध्याय २/१६ में कहा है–

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टः चेतसाम्।
न मुक्तिर्जन्म जन्मान्ते तस्ताद्विश्वासमाप्नुयात्॥

अर्थात् असंशयवालों को मुक्ति मिलती है, संशयवालों को कई जन्मों में भी मुक्ति नहीं प्राप्त होती। अतः विश्वास प्राप्त करना चाहिए।

साधना में निरंतरता और गहरी निष्ठा का होना नितांत आवश्यक है। साधना को संयमपूर्वक नित्य नियमित रूप से निरंतर नहीं करके, (साधना को) बारंबार बदलते रहने से उसमें सिद्धि नहीं मिल सकती। दो-चार महीने वा दो-चार वर्ष नियमपूर्वक साधना करके छोड़ देना, पुनः दूसरी साधना को करना और बारंबार इसी तरह पकड़ते-छोड़ते रहनेवाले को साधना में सफलता नहीं मिलती। उसकी हालत उस कुआँ खोदनेवाले जन जैसी होती है। जैसे कि एक कथा प्रसिद्ध है–किसी एक आदमी ने कुआँ खोदना आरंभ किया। पन्द्रह-बीस गज जमीन खोदने पर जब उसको पानी नहीं मिला, तो उसने वहाँ कुआँ खोदना छोड़कर दूसरा स्थान पसंद किया। वहाँ भी उसने तीस-चालीस गज खोद डाले; किन्तु जब वहाँ भी उसको जल नहीं मिला, तो उसने तीसरी जगह चुनकर कुआँ खोदना शुरू किया। लगभग साठ गज की खुदाई उसने वहाँ की। किन्तु इतने पर भी जब उसको पानी प्राप्ति का कोई चिह्न प्रकट नहीं दिख पड़ा, तो उसने कुआँ खोदना बंद कर दिया, यह कहकर कि जमीन में जल ही नहीं है।

यदि वह पानी प्राप्त्यर्थ २० गज+४०गज+ ६०गज =१२०गज की खुदाई एक ही जगह किया होता, तो बहुत संभव था कि उतनी खुदाई के बाद पानी अवश्य मिल जाता। उसी प्रकार जो आदमी गुरु वाक्य, सच्छास्त्र और स्वविचारानुमोदित किसी एक ही साधना पर स्थिर नहीं रहता–मुस्तैदी के साथ साधना नहीं करता, वरं थोड़े-थोड़े दिनों में साधना बदलता रहता है, उसे सिद्धि रूपी जल की प्राप्ति नहीं होती।

अतएव एक बार साधना आरंभ करने पर जब तक अभीष्ट सिद्ध न हो जाए, तबतक धैर्यवान हो प्रयत्नपूर्वक उसमें लगा रहना चाहिए। सिद्धि वा सफलता प्राप्त करने का यह अमोघ मंत्र है।

साधना में सहनशीलता और धैर्य–बंगप्रदेश के एक प्रसिद्ध संत श्रीरामकृष्ण परमहंस देवजी ने कहा है–सहनशक्ति सबसे बड़ा गुण है। जो सहता है, उसकी बनती है। जो सहना नहीं जानता, उसका सब कुछ बिगड़ जाता है। रत्नाकर (समुद्र) रत्नों से भरा हुआ है। एक बार डुबकी मारने से कुछ न मिलने पर भी तुम यह न समझ बैठना कि रत्नाकर रत्नहीन हो गया है। धैर्य के साथ साधना करते रहो, समय आने पर भगवान की कृपा आप होगी।

एक दिन एक मनुष्य ने परमहंस जी ने पूछा–प्रभो! मैं बहुत दिनों से साधन-भजन कर रहा हूँ, पर मुझे अभी तक कुछ भी सिद्धि नहीं मिली। क्या मेरी सारी साधना वृथा गई? परमहंसजी ने कुछ हँसकर कहा–देखो, धर्म के राज्य में सबको पुश्तैनी किसान बनकर रहना चाहिए। जो पुश्तैनी खेती करता आया है, वह बारह वर्ष तक फसल नष्ट होते रहने पर भी खेती का काम नहीं छोड़ता और जो वंश-परंपरा से किसान नहीं है–मुनाफे के लोभ में पड़कर खेती करता है, वह एक साल नुकसान होते हुए खेती करना छोड़ बैठता है। सच्चे विश्वासी भक्त इस श्रेणी के नहीं होते। वे जीवन-पर्यन्त ईश्वर के दर्शन नहीं पाने पर उसका भजन नहीं छोड़ते।

साधना में त्याग और संयमित जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। संयमहीन को किसी भी जन्म में सफलता नहीं मिल सकती। कठोपनिषद्, अ० १, वल्ली २, श्लोक २४ में लिखा है–

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान-द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

सदगुरु बैद वचन बिस्वासा।
संयम यह न विषय के आसा॥
–रामचरितमानस

परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के शब्दों के हम कह सकेंगे–जैसे जल बिना रस नहीं होता है, उसी तरह तप के बिना तेज नहीं बढ़ता है। विषयभोग में लिप्त नहीं होना, तप है। भक्तिमार्ग में तप की बड़ी आवश्यकता है। भक्तिरूपी औषधि के सेवन करने में संयम यही है कि विषय की आशा नहीं रखो। 'तप किं?' विषय भोग परिहरई।

बिना विषय त्याग रूप तप के अंतर्ज्योति की दीप्ति नहीं दमकती। जैसे स्वर्ण अनल में जलकर कुंदन कहलाता है, वैसे ही साधक अध्यवसायपूर्वक साधना करके तेजवान होता है। जैसे प्रदीप जब तेल और बत्ती को जलाता है, तो उससे प्रकाश निःसृत होता है और सैकड़ों पतंग उसके समीप उसपर न्योछावर होने के लिए उपस्थित होते हैं। यदि दीपक तेल और बत्ती जलाना बंद कर दे तो प्रकाश भी बंद हो जाएगा, फिर उसके पास एक भी पतंग नहीं आएगा। इसी प्रकार जो भाग्यवान साधक अपने को संयम और साधना की अग्नि में जला पाते हैं, तो उनको ब्रह्मज्योति की अनुभूति होती है और मुमुक्षु उनके जिज्ञासार्थ और उसके दर्शनार्थ उपस्थित होते हैं। किन्तु जो अपने को उपर्युक्त तप से तपाता नहीं, उससे ब्रह्मज्योति निःसृत नहीं होती, फिर तो उसकी पूछ ही क्या? कौन पूछता है ऐसे को?

जैसे बीज जमीन में जाकर सड़ता, गलता, पचता है, तब कहीं उससे अंकुर निकलता है, वृक्ष बनकर फल देता है और उसकी छाया में सहस्त्रों प्राणी सुख पाते हैं। इसी तरह जो साधक अपने को सच्ची साधना में अच्छी तरह संलग्न करता है। अपने को गलाता है, पचाता है, उन्हीं को सिद्धिरूपी फल मिलता है और उनके आश्रय से सहस्त्रों प्राणी संसार-सागर से उत्तीर्ण होने का सन्मार्ग पाते हैं।

एक बात और भी बता देने योग्य है और वह यह है कि मान लीजिए साधक ठीक है यानी सच्चरित्र है, साधना क्रिया भी ठीक है, किन्तु अपने भोलेपन के कारण यदि साधक साधना में सुस्ती करे अर्थात् आजकल करके टालता रहे, यानी संत कबीर साहब के वाक्यानुकूल 'आज कहै में काल्ह भजूँगा, काल्ह कहै फिर काल्ह' करता रहे, तो उसको विफलता नहीं मिलकर सफलता कैसे मिल सकती है? बाल्यकाल की अपनी पाठ्य-पुस्तक में मैंने कछुआ और हिरण की कथा पड़ी थी। बड़ी अच्छी लगी थी। मुझे आज भी पद्यात्मक कथानक अक्षरशः याद है। यथा–

कछुआ हिरण लगाकर बाजी।
हुए दौड़ करने पर राजी॥
पहले वहाँ पहुँच जो जावे।
वीर तभी से वह कहलावे॥
हिरण लगा यों कहने मन में।
दौड़ धूप जाऊँगा छन में॥
मन में लापरवाही छाई।
सोया उसे नींद भी आई॥
कछुआ चलता ही जाता था।
आलस जरा न दिखलाता था॥
पहले पहुँचा नदी किनारे।
पीछे हिरण गया मन मारे॥
लापरवाही कभी न करना।
काम रोज का फौरन करना॥

अंग्रेजी में एक अच्छी कहावत इस संबंध की प्रसिद्ध है–"Slow and steady wins the race." अर्थात् धीरे ही हो, किन्तु जो निरंतर चलता रहता है, अंत में उसकी निश्चित विजय होती है। अतएव प्रत्येक साधक को प्रमादहीन होकर नित्य नियमित रूप से साधना करते रहना परमोचित है।

सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्तक बाबा गुरु नानक देवजी महाराज ने ईश्वर-भक्ति के संबंध में एक बड़ी अच्छी बात कही है। वे कहते हैं–

सतगुरु अगम अगम है ठाकुर
भरि सागर भगति करीजै।
कृपा कृपा करि दीन हम सारिग
एक बूँद नाम मुखि दीजै॥

अर्थात् इस वाणी द्वारा वे समुद्र को अथाह एवं विस्तृत जलराशि की भाँति बहुत अधिक भक्ति करने का आदेश देते हैं। और हम नित्यप्रति कितनी भक्ति करते हैं, इसका अंकन (संचय) करें। हम नित्यप्रति शौच, आसन, व्यायाम, स्नान, भोजन और विश्राम में कितना समय लगाते हैं, इसको ध्यान में रखें। फिर दैनिक धंधा–ऑफिस, कोर्ट, कृषि, वाणिज्य, अध्ययन, अध्यापन एवं नाना प्रकार के गृहकार्यों में हमारा कितना समय व्यय होता है, इसका विचार करें। पश्चात् इष्ट-मित्रों से मिलने, टहलने, मन-बहलाने (सैर-सपाटे करने) तथा बच्चों के लाड़-प्यार में

हमारे सीमित जीवनकाल का कितना भाग व्यतीत होता है; इन सब समयों को जोड़कर हम एक ओर रखें। इन सब कामों के संपादन के पश्चात् जो स्वल्पातिस्वल्प समय बच पाता है, उसमें हम साधना करने के लिए बैठते हैं। वह समय स्वल्प वा अधिक कितना होता है, उसका अपना-अपना हिसाब हम सभी के पास है—हम सभी जानते हैं। फिर भी जितनी देर हम साधना-हेतु बैठते हैं, उसमें कितनी देर हमारा मन एकाग्र हो पाता है, उसे हम स्वयं ही जानते हैं, अन्य जन क्या जानें?

अब, हम अपने हृदय पर हथेली रखकर अपने मन से पूछें—रे मन! बाबा नानक का वचन 'भरि सागर भगति करीजै' के कौन-सा वा किस अंश का तुमने पालन किया? ठीक-ठीक बता। तो देखिए, आपको क्या उत्तर मिलता है? कहेगा—कहाँ सिन्धु और कहाँ विन्दु! क्या कहा जाए? कुछ भी नहीं।

अतएव अब हम अपनी निसबत स्वयं निर्णय करें कि सफलता सिन्धु के सुदूर अंतस्तल स्पर्श करने, छूने में हमें कितनी देर होनी चाहिए! किन्तु इसमें अधीर या आशाहीन होने की बात नहीं है। 'बूँद-बूँद से तालाब भरता है।' और समुद्र ही क्या है? बूँद ही का तो समष्टि रूप समुद्र है। भगवान बुद्ध कहते हैं—

मामञ्ञेथ पुञ्ञस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदविन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
धीरो पूरति पुञ्ञस्य थोक-थोकम्पि आचिनं।।
(धम्मपद, पापवग्गो)

अर्थात् 'वह मेरे पास नहीं आएगा' ऐसा सोच पुण्य की अवहेलना न करे। पानी की बूँदें गिरने से घड़ा भर जाता है। ऐसे ही धीर थोड़ा-थोड़ा संचय करते-करते पुण्य से अपने को भर लेता है। और यह भी—

अनुपुब्बेन मेधावी थोक थोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मल मत्तनो।।५।।
(धम्मपद, मलवग्गो)

अर्थात् जैसे सोना-चाँदी की मैल को क्रमशः क्षण-क्षण थोड़ा-थोड़ा जलाकर साफ करता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष अपने मल को क्रमशः दूर करे।

तात्पर्य यह कि हम अपने दोषों, दुर्गुणों एवं अवगुणों का शनैः शनैः त्याग करते हुए नित्यप्रति नियमित रूप से ध्यानाभ्यास अवश्य करें; फिर साधना में सफलता क्यों न मिलेगी।

साधना-सफलता का शिखर मुक्ति-मोक्ष-निर्वाण वा नजात है। इसके लिए कई जन्मों के संस्कृत संस्कार की अनिवार्य आवश्यकता है। यह बच्चों का खेल नहीं है और न बाजीगर का तमाशा है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के शब्दों में हम कह सकेंगे—'परमेश्वर स्वरूप की इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे कि एक ही परब्रह्म सब प्राणियों में व्याप्त है और उसी भाव से संकट के समय भी पूरी समता से बर्ताव करने का अचल स्वभाव हो जावे; परन्तु इसके लिए सदैव से हमारे समान चार अक्षरों का कुछ ज्ञान होना ही बस नहीं है, अनेक पीढ़ियों के संस्कार की, इन्द्रिय-निग्रह की, दीघोद्योग की तथा ध्यान और उपासना की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। (गीता-रहस्य)

परिनिर्वाण करने के पूर्व भगवान बुद्ध के अंतिम दर्शन करते हुए धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने कहा था—'भन्ते! इन चरणों की वंदना के लिए सौ हजार कल्पों से अधिक काल तक मैंने असंख्य पारमिताएँ पूर्ण कीं। वह मेरा मनोरथ सिर तक पहुँच गया...। अब मैं.... निर्वाणपुर जाऊँगा। (बुद्धचर्या)

और, सारिपुत्र के निर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थि को हाथ में लेकर भिक्षुओं को संबोधित कर भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा था—'भिक्षुओ! जिस भिक्षु ने पहले (एक) दिन अनेक सौ प्रातिहार्य (यौगिक चमत्कार) करके निर्वाण होने के लिए अनुज्ञा माँगी, उसकी ही यह आज शंखवर्ण समान धातुएँ (हड्डियाँ) दिखाई पड़ रही हैं। भिक्षुओ! सौ हजार कल्प [काल का एक विभाग जिसे ब्रह्मा का एक दिन कहते हैं और जिसमें १४ मन्वन्तर (इकहत्तर चतुर्युगों का काल) या ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं।] से अधिक समय तक पारमिता (दान-आदि) पूर्ण किया हुआ यह भिक्षु था। ...उस वीतराग जितेन्द्रिय निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वंदना करो। (बुद्धचर्या)

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कथित 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम्' (६/४५) से इस विषय की भली भाँति परिपुष्टि हो जाती है और इसी गीता ७/१९ में—

बहूनां जन्मजन्मान्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

कहकर भगवान ने अनेक जन्म पर्यन्त साधना करने को दृढ़ाया है—सिद्ध किया है। भगवान श्रीकृष्ण ने जन्मों की संख्या नहीं बताकर 'अनेक जन्म' कहा। यह 'अनेक जन्म' समय स्वल्पता बोध नहीं, वरं असंख्यता का परिचायक प्रतीत होता है। क्योंकि 'अनेक जन्म' शब्द समय की सीमा का निर्धारण नहीं करता कि सौ जन्म, दो सौ जन्म, हजार जन्म अथवा बहु हजार जन्म? अतएव ऐसा लगता है कि यह 'अनेक जन्म' वा 'बहूनां जन्म जन्मान्ते' शब्द अनगिनत जन्म की ओर ही इंगित करता है।

'महायोगेश्वरो हरिः' भगवान श्रीकृष्ण का महावाक्य महाप्राज्ञ लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जी को भी मान्य है। वे कहते हैं—पहले पहल जान पड़ता है कि यह सिद्धि जनक आदि को एक ही जन्म में मिल गई होगी; परन्तु तात्विक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि उन्हें भी यह फल जन्म-जन्मान्तर के पूर्व संस्कार से ही मिला होगा। (गीता-रहस्य)

और थियोसोफिकल सोसाइटी की एक विख्यात नेत्री डॉक्टर एनी वीसेंट अपनी बिल्डिंग ऑफ दी कौस मौस (सृष्टि की रचना) पुस्तक में लिखती है—'प्रत्येक उस ज्ञान को, जो कि पूर्व से असंख्य मन्वन्तरों में प्राप्त किया था, अगले मन्वन्तर में साथ लाता है। (कैवल्य शास्त्र)

एक कहावत है—'सिद्धांत का कण। अभ्यास एक टन' जिसका पूरा वजन साढ़े सत्ताईस मन।' तात्पर्य यह कि सिद्धांत तो स्वल्प, किन्तु उसकी साधना उससे कितनी ही गुणी अधिक होती है। गो० तुलसीदासजी के शब्दों में हम कह सकेंगे—

कहत सुगम करनी अपार, जानइ जो जेहि बनि आई।

मेरे कथन का आशय यह है कि 'ईश्वर-भक्ति करो' इतना कहने में तो कोई देर नहीं लगती, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने में एक लंबी अवधि की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यद्यपि सिद्धांत बहुत थोड़ा है, फिर भी अभ्यास करना बहुत अधिक है।

मान लिया जाए कि हमारी साधना एक-एक रत्ती रोज होती है और साधना की सफलता अथवा भक्ति की पूर्णता एक टन में होती है। तो हम उसका हिसाब करके देखें कि उसके लिए अनिवार्य रूप से कितना समय अपेक्षित है?

८ रत्ती=एक माशा, १२ माशा=१ तोला। इसलिए १२ X ८=९६ रत्ती यानी १ तोला। प्रत्येक दिन एक-एक रत्ती के हिसाब से भक्ति करने के कारण १ तोला भक्ति में गोया ९६ दिन लगेंगे। ५ तोला=एक छटाँक, १६ छटाँक=१सेर। इसलिए एक सेर भक्ति के लिए—१६ X ५ X ९६ =७६८० दिन (७६८० ÷ ३६०)=२१ वर्ष, ४ महीने। ४० सेर। ४० सेर का एक मन। इस हेतु एक मन भक्ति के लिए २१ वर्ष ४ महीने X ४० = ८५३ वर्ष ४ महीने। इसी न्याय से १ टन भक्ति के लिए ८५३ वर्ष ४ महीने २७ =२३४६६ वर्ष ८ महीने।

अब कण के हिसाब से एक टन की अवधि क्या होगी, साधक स्वयं विचारें। इस प्रकार मार्ग की दूरी और लंबी अवधि देखकर संत कबीर साहब कहते हैं—

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतो क्यों पाइये, दुर्लभ हरि दीदार॥

कष्टकर लंबा मार्ग और उसपर लंबी अवधि पर्यन्त चलने के भय से साधक उकता कर कहीं साधना ही न छोड़ बैठे। इस भय को भगाने के लिए संत कबीर साहब सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म ज्ञान।
अवगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान॥

पुनः अपने जोरदार शब्दों में साधक के हृदय में सद्गुरु के प्रति अगाध श्रद्धाभक्ति उत्पन्न करने के लिए दृढ़तापूर्वक अपनी अनुभूति बताते हैं। वे कहते हैं—अरे! घबड़ाने, उकताने का साहस हीन होने की क्या बात है? साधक को सद्गुरु की कृपा पर अडिग विश्वास होना चाहिए, सद्गुरु क्या नहीं कर सकते? उनकी कृपा से कल्प का काल पलक में व्यतीत हो सकता है और करोड़ों जन्म का रास्ता पल में कट सकता है।

सतगुरु पशु माणस करैं, माणस थें सिध सोय।
दादू सिध थैं देवता, देव निरंजन होय॥
(संत दादू दयाल)

सतगुरु दीन दयाल हैं, दया करी मोहि आय।
कोटि जन्म का पंथ था, पल में पहुँचा जाय॥
(संत कबीर साहब)

समय के संबंध में एक बात और भी ज्ञातव्य है। समय अपनी सीमा में सबको बद्ध रखता है, किन्तु वह स्वयं स्वच्छंद रहता है। अर्थात् अपने पर कोई

प्रतिबंध नहीं रखता। जैसे परिस्थितिवश रबड़ फैलता और सिकुड़ता है, उसी भाँति समय भी अवस्था पाकर संकुचित और विकसित होता है। प्रमाणार्थ जैसे जब हम स्वप्नावस्था में जाते हैं, तो उस समय के कार्य-कलाप से घंटों जैसा प्रतीत होता है; किन्तु निद्रा भंग होने पर यानी जाग्रतावस्था में आने पर ज्ञात होता है कि अभी तो मात्र कई मिनट ही हुए थे। जैसे स्वप्नावस्था के घंटों का समय मिनटों में समाप्त हो जाता है, वैसे ही तुरीयावस्था में जाने पर कल्पों का समय पलकों में व्यतीत हो जाता है।

इस विषय की परिपुष्टि के लिए रामचरितमानस (उत्तरकांड) में वर्णित प्रसंग का बड़ा ही रोचक, रोमांचकारी और ज्वलन्त प्रमाणस्वरूप है। उसमें लिखा है कि कागभुशुण्डिजी ने अनेक अखिल ब्रह्मांड, अनेक लोक-लोकांतर, करोड़ों ब्रह्मा, करोड़ों शिव, अनगिनत सूर्य, अनगिनत चन्द्र, अनगिनत तारे, अनगिनत लोकपाल, अनगिनत यम-काल, अगणित शेषनाग, असंख्य समुद्र, असंख्य सरिता, असंख्य सरोवर, प्रत्येक लोक में ब्रह्मा, शिव और प्रत्येक ब्रह्मांड में उन्होंने राम को भी देखा। इस समस्त लोक-लोकांतरों में भ्रमण करते हुए उनको कितना समय जान पड़ा, उसकी चर्चा वे इस भाँति करते हैं–

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका।
बीते मनहू कलप सत एका॥

ये सारी घटनाएँ वा अद्‌भुत रचनाएँ उन्होंने भगवान श्रीराम को माया से वा कृपा से असाधारण अवस्था में देखी थीं। किन्तु साधारण अवस्था आने पर उनको कैसा ज्ञात हुआ, इसके लिए वे क्या कहते हैं, सो भी सुनिए–

उभय घड़ी महँ में सब देखा।
भयेउँ भ्रमित मन मोह विसेषा॥

तात्पर्य यह है कि सौ कल्प के समय की इति मात्र दो घड़ी में भी हो जाती है। वस्तुतः नाम और रूप की भाँति देश और काल भी ईश्वर की माया ही है। अतएव मानव के अवस्था-भेद में ये भी भिन्न-भिन्न भाँति में विदित हो, कोई आश्चर्य वा असंभव बात नहीं, संभव ही है।

विचारणीय है कि सृष्टि की रचना आज से १,९७,२९,४९,०७० वर्ष पूर्व हुई है। जब से सृष्टि है, तब से हम चले आ रहे हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से गीता ४/५ में कहा था–

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥५॥

अर्थात् हे अर्जुन! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ और परंतप! तू नहीं जानता।

इस भाँति हमारे अनेक जन्म हो चुके हैं। अनेक जन्मों से हम साधना करते चले आ रहे हैं; किन्तु अर्जुन की भाँति ही हमें स्मरण नहीं है कि हम कितने जन्मों वा वर्षों से साधना करते आ रहे हैं। क्या ठिकाना है, यदि हमारी साधना-सफलता का कहीं यह अंतिम जन्म ही हो! अतएव अपनी साधना में शिथिलता लाकर अपने आवागमन के चक्र को क्यों बढ़ावें? क्यों न, आज से ही कटिबद्ध होकर हम अपनी साधना में पिल पड़ें।

यदि शंका हो कि हमारी साधना का यह अंतिम जन्म है, यह कैसे विश्वास किया जाए? क्योंकि कहावत है–होनहार बिरवान के होत चिकने पात। इसके अनुसार तो अपने में कुछ भी शुभ लक्षण दीख पड़ता नहीं। इसके उत्तर में निवेदन है कि ऐसी शंका के समाधानार्थ हमारे यहाँ अनेक इतिहास व पौराणिक गाथाएँ हैं। उसके अध्ययन से यह निर्णीत है कि यहाँ ऐसे भी जन हुए हैं, जिनके जीवन का पूर्वांश घोर तमसाच्छन्न था और उन्हीं के जीवन के उत्तरार्द्ध वा अंतिमांश इतना समुज्ज्वल हुआ, जिनके जीवनालोक से जीवन आलोकित हुआ, होता है और होगा।

प्रमाणार्थ आप वाल्मीकि मुनि जी के जीवन वृत्त को जानते होंगे, उनका पूर्वनाम रत्नाकर था। क्या, रत्नाकर के जीवन के पूर्व भाग में कोई भी ऐसा चिह्न प्रकट था, जिससे उनके भविष्य जीवन के संबंध में कोई कल्पना कर सकता कि इतना पतित जन को में परम पावन हो सकता है। जिनके लिए यह प्रसिद्ध है कि–

जान आदि कवि नाम प्रतापू।
भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

तथा, उलटा नाम जपत जग जाना।

वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।

क्या चांडाल और हत्यारा भी ब्रह्मविद् व ब्रह्मवत् हो सकता है? यदि नहीं, तो रत्नाकर जैसे हत्यारा डाकू ब्रह्मवत् कैसे हुआ? जब ब्रह्मघाती भी अपने इसी जीवन में ब्रह्मवादी बन सकता है, यह सत्य है; तो हम निराशा देवी की गोद में क्यों बैठें? हम ऐसी आशा क्यों न करें कि मुझ जैसे ममताग्रस्त मानव में भी वह क्षमता हो सकती है, जिससे समता प्राप्त कर हम रमता-राम हो सकते हैं अर्थात् राम में रावण कर सकते हैं।

भगवान बुद्ध जैसे महान् गुरु और कौन हो सकते हैं, जिनके जीवनकाल में ही उनके एक सहस्त्र शिष्य साधना में सिद्ध हो चुके थे। उन भगवान बुद्ध को भी अपने जीवन के पूर्वभाग में, अपने अंतिम जन्म होने का ज्ञान नहीं था। अनेक प्रकार की साधनाएँ और तपस्या करके भी जब उनको अंत:शान्ति नहीं मिली, तो वे चिंतित होकर सोचने लगे—अफसोस! जिस कारण राजपाट, धन-दौलत, स्त्री-पुरुष, परिवार-कुटुम्ब प्रभृति सबको त्यागा, काया को तप में तपाया, खाना-पीना, सोना-विश्रामादि को तिलांजलि दे अमित कष्टों को उठाया; परिणाम में कुछ मिला नहीं। जिस परम शान्ति की प्राप्ति की आशा से, सभी सांसारिक आशाओं को छोड़ा, उस आशा-वल्ली पर तुषारापात हो गया। उस लक्ष्य की प्राप्ति भी न हो सकी और न यह शरीर अब वैसा रह गया, जिससे राज-काज ही चलाया जा सके। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? न इधर का रहा, न उधर का!

आँख बंदकर ऐसा सोचते हुए वे चिंतासागर में डूब रहे थे। इतने में उन्होंने एक स्वप्न-सा देखा—देवराज इन्द्र पधार रहे थे। उनके हाथ में तानपूरा है, जिनमें तीन तार लगे हुए हैं। उन तीनों तारों में से एकतार जोरों से कसा हुआ था, जिसकी आवाज ठस—कर्णकटु मालूम पड़ती थी। दूसरा तार बिल्कुल ढीला था, उसकी आवाज बेसुरा—बिल्कुल नीरस थी। तीसरा तार जो समुचित ढंग से कसा था, उसकी आवाज बड़ी मीठी और सुरीली थी।

इतने में उनकी नींद टूट जाती है और वे विचार करने लगते हैं—यह क्या बात हुई, इस स्वप्न का आशय क्या? मन-ही-मन विचार-विमर्श करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मैंने अपना तार बहुत कसा और सांसारिक-संसारासक्त जन का तार बहुत ढीला रहता है। अतएव इन उभय अवस्थाओं में अभिलषित वस्तु-लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। आवश्यकता है—मध्यमार्गी बनने की। फिर उन्होंने दृढ़ साधना की और एक ही रात में उन्होंने अपने परम लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त किया।

जब जन्मों के अर्जित सुसंस्कार के फलस्वरूप एक रात में भी निर्वाण-मोक्ष-मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, तो फिर हमें निराशा देवी की गोद में बैठने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। और जब ऐसा कहना भी भारी भूल होगी कि हमसे इस जन्म में साधना नहीं हो सकेगी।

दूसरी बात हम तैमुरलंग के जीवन से भी शिक्षा-ग्रहण कर सकते हैं। उन्होंने इक्कीस बार समरकंद पर चढ़ाई की और इक्कीसो बार वे पराजित होते गये। अंत में वे निराश होकर आत्महत्या हेतु उन्होंने एक गुहा में प्रवेश किया। प्रभु की लीला अगम है, अपार है और अद्भुतता एवं विलक्षणता से ओत-प्रोत है। न जाने किसके द्वारा वे किनको क्या संदेशा देते हैं! तैमूरलंग की दृष्टि में एक नन्हीं पिपीलिका आती है। वह मुँह में दाना लेकर ऊपर पर्वत पर चढ़ना चाहती है; किन्तु फिसल-फिसलकर गिर जाती है। इस प्रकार उस चीटी ने इक्कीस बार उस शिलाखंड पर चढ़ने की चेष्टा की और इक्कीसो बार वह गिरी, फिर भी उसने हिम्मत नहीं छोड़ी। पुनः बाईसवीं बार वह साहस कर उसपर चढ़ने लगी और दाना-सहित चढ़ गई। तैमूरलंग आस्तिकवादी और आशावादी; दोनों थे। साथ ही, वे परिश्रमी और सत्साहसी भी थे। उन्होंने बाईसवीं बार चढ़ाई की और समरकंद को पराजित कर विजयी हुए। अतएव हम अपनी साधना करने में ढील न करें, हो सकता है हमारा भी यह लक्ष्य-प्राप्ति की अंतिम साधना ही हो।

(जुलाई+अगस्त, १९६९)

स्थान : कुप्पाघाट दिनांक २२ एवं २९.६.१९६९ ई०

२२. जिज्ञासा समाधान

धर्मानुरागी आदरणीय श्रीमान्, सादर अभिवादन!

प्रात:स्मरणीय परम पूज्य अनंत श्रीविभूषित श्रीसद्‌गुरु महाराज जी आपको शुभाशीर्वाद प्रदान करते हैं। आपके दिनांक ६.१०.१९६९ का पत्र यथा समय प्राप्त हुआ था, किन्तु सत्संग-सेवार्थ बाहर चले जाने के कारण तथा वहाँ आने पर यहाँ की कार्य व्यस्तता के कारण पत्रोत्तर शीघ्र दे न सका, कृपया क्षमा करेंगे।

आपने जिस ऊँची निगाह से मुझे देखने की चेष्टा की है, यह आपकी महानता है। मैं तो एक साधारण जन हूँ। अपने विचारानुसार आपकी जिज्ञासाओं का यथासंभव समाधान करने की चेष्टा की है। वस्तुत: मानव अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर ही कुछ कह सकता है। अतएव त्रुटि के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

प्रश्न १–मनु-शतरूपा का अपार तप देखकर आकाशवाणी हुई कि 'वर माँगो'। यह सुनकर दम्पति ने प्रार्थना की कि–

जो सरूप बस सिव मन माहीं।
जेहि कारण मुनि यतन कराहीं॥
जो भुसुन्ड मन मानस हंसा।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥

इससे साबित होता है कि जो सरूप (रूप सहित) शिवजी के मन में बसता है तथा जो रूप कागभुशुण्डिजी के मनरूपी सरोवर का हंस है इत्यादि-इत्यादि; उसी रूप का हम दर्शन चाहते हैं। यह सुनकर–

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।
विस्ववास प्रगटे भगवाना॥

अर्थात् विराट भगवान प्रकट हो गये, तो यह साक्षात् सगुण (मायिक रूप) का दर्शन हुआ। तब पूछना यह है कि शिवजी के मन मंदिर में 'साकार रूप' मायिक रूप विराजते हैं यानी सगुण रूप के दर्शन आदि के सुख में शिवजी लगे रहते हैं या 'सहज सरूप' के सुख में लगे रहते हैं; क्योंकि सगुणता स्थूल है और निर्गुणता सूक्ष्म।

उत्तर में निवेदन है कि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस में लिखा है–'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥' (अरण्यकांड) अर्थात् इन्द्रियों से जो प्रत्यक्ष हो और जहाँ तक मन की गति है अथवा जो मन से ग्रहीत है, वह माया है। इस दृष्टि से 'जो सरूप बस सिव मन माहीं....।' अथवा 'जो भुसुण्ड मन मानस हंसा' सगुण साकार ही है। शिवजी, काकभुशुण्डिजी अथवा किसी के भी मन और इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी ग्रहण होगा, वह माया ही होगा। माया अवश्य ही सगुण होगी, निर्गुण कदापि नहीं।

किन्तु शिवजी के लिए दूसरा प्रसंग जहाँ पर 'तब सिव सहज सरूप संभारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥' आया है, वह 'सहज स्वरूप' सगुण कथमपि नहीं, निर्गुण है। निर्गुण अथवा सहज स्वरूप इन्द्रियातीत यानी स्थूल-सूक्ष्मादि इन्द्रियों से रहित होता है, जिसका वर्णन गो० तुलसीदासजी महाराज ने विनय-पत्रिका में इस इस भाँति किया है–

अनुराग सो निजरूप जो, जग तें विलच्छन देखिये।
सन्तोष सम सीतल सदा दम, देहवन्त न लेखिये॥
निर्मल निरामय एकरस, तेहि हरष सोक न व्यापई।
त्रयलोक पावन सो सदा, जाकी दसा ऐसी भई॥

तात्पर्य यह कि समाधि काल में शिवजी निर्गुण में रत रहते हैं और समाधि से उतरने पर जब वे शरीर और मन के साथ होते हैं, तो सगुण में लगे रहते हैं, गोस्वामीजी के लिखे अनुकूल ऐसा ही मालूम होता है।

प्रश्न २–पार्वतीजी ने शिव से अनेक प्रश्न करके उत्तर पाकर अपनी शंकाएँ मिटायीं; परन्तु अन्त का एक प्रश्न यह भी था कि–

बहुरि कहहु करुणायतन, किन्हु जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुवंस मनी, किमि गमने निजधाम॥

इसका उत्तर शिवजी ने क्या दिया, इसका उल्लेख कहीं रामायण में नहीं है। बल्कि रामचरितमानस सार-सटीक में भी प्रात: स्मरणीय श्रीसद्‌गुरु महाराज जी भी ऐसा ही लिखकर छोड़ दिये हैं कि कहीं

रामायण में जिक्र नहीं है। परंतु सत्संग-योग में उन्होंने इतना अवश्य लिखा है कि "अध्याय (२९) दशरथजी के पुत्र रामचन्द्रजी को देह छोड़नेवाला सुनते हैं। महाभुजवाले रामचन्द्रजी ने ग्यारह हजार वर्ष पर्यन्त राज्य किया और तब इस अनित्य शरीर को त्याग गये।" लेकिन बकिये प्रश्न का उत्तर नहीं है। इसलिए मेरा अनुरोध है कि बकिये प्रश्नों पर आप प्रकाश डालें कि वास्तविक क्या बात है?

उत्तर में निवेदन है—वास्तव में पार्वती जी के उक्त प्रश्न का उत्तर गो० तुलसीदासजीकृत रामायण में नहीं है। इसका उत्तर वाल्मीकीय रामायण में है। किन्तु वह प्रसंग इतना हृदय-द्रावक व कारुणिक है कि गोस्वामीजी जैसे नवनीतवत् सुकोमल हृदय से उसका वर्णन नहीं हो सका। वस्तुतः मैं भी जब कभी उक्त प्रसंग को पढ़ता हूँ, तो मुझे अश्रुपात हुए बिना नहीं रहता। अतएव मुझसे भी उसका उल्लेख संभव नहीं। यदि आप चाहें, तो वाल्मीकीय रामायण पढ़कर जान सकते हैं।

प्रश्न ३—

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥
मन क्रम वचन कपट तजि, जे कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव॥

यहाँ 'मन क्रम से... सब देव तक की बातों का लक्ष्य है। यह कहा हुआ तो भगवान की ओर से है; लेकिन पद बनाया हुआ तो गो० तुलसीदासजी का है। इससे यह झलकता है कि चूँकि तुलसीदास द्विज यानी विप्र थे, इसलिए अपनी जाति की ओर खींचकर उन्होंने ऐसा लिखा, नहीं तो क्या द्विज की सेवा करने मात्र से ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब देव वश हो जाएँगे? मामूली तौर से यह जातीय रूपी पक्षपात दृष्टिगोचर होता है। परन्तु ऐसे श्रद्धा संत के ऊपर ऐसा कलंक लगाना भी अनुचित जान पड़ता है। हो सकता है कि इसमें कुछ रहस्य हो, कृपया इसपर प्रकाश डालें।

उत्तर में निवेदन है—उपर्युक्त दोहों को पढ़कर यह समझना उपयुक्त नहीं कि ब्राह्मण कुलोद्भव होने के कारण गोस्वामीजी ने जातीय पक्षपात किया। गोस्वामी जी ने यहाँ द्विज या विप्र शब्द का प्रयोग नहीं किया है, वरं 'भूसुर' शब्द लिखा है। 'भूसुर' ब्राह्मण को कहते हैं। जो यथार्थ में ब्राह्मण हैं, उनकी सेवा से ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रसन्न होकर वश में होंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या? हम 'सेवा' शब्द पर ध्यान दें। 'सेवा' का अर्थ चरण-दबाना आदि स्थूल सेवा मात्र नहीं है। वरं सेवा का अर्थ इस रूप में भी लेना आवश्यक है। यथा—'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रमाद जन पावइ देवा॥' (अयोध्याकांड) अर्थात् आज्ञा पालन के समान अच्छे प्रभु की दूसरी सेवा नहीं है, हे देव! यह सेवा वही प्रसाद पावे।

शूद्रो चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥

अर्थात्—जो ब्राह्मण के गुण शूद्र में दृष्टि पड़ें और ब्राह्मण में वर्त्तमान न हों, ऐसी दशा में शूद्र, शूद्र नहीं और ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं गिना जाएगा।)

सच्चे ब्राह्मण अपने शिष्य वा सेवक को विधि-निषेध कर्मों का ज्ञानोपदेश अवश्य देंगे। जिसमें विधि के पालन और निषेध के वर्णन का आदेश भी सुनिश्चित रूप से रहेगा ही। परिणामस्वरूप कर्तव्याकर्तव्य को जानकर अकर्तव्य से अरुचि और कर्तव्यपालन की अभिरुचि उस सच्चे सेवक में अवश्य होगी। इस तरह अविहित कर्मों—झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचारादि से विरक्ति और विहित कर्मों—ईश्वरोपासना एवं सत्संगादि में उसकी अनुरक्ति स्वाभाविक होगी। फिर तो ऐसे सेवक के लिए गोस्वामी जी के वचनों में ही—'सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।' चरितार्थ हो जाएगा ही।

दूसरी बात—ईश्वरोपासना में जप और ध्यान प्रधान है। जप की महिमा-गाथा गाते हुए गोस्वामीजी बालकांड में लिखते हैं—

मंत्र परम लघु जासु बस, विधि हरि हर सुर सर्व।
महामत्त गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्ब॥

और जब वह ध्यान करेगा यानी ध्यान के स्थूल, सूक्ष्म और सगुण-निर्गुण के भेद को जानकर निदिध्यासन करेगा, तो उसका परिणाम 'ध्यानं शून्यगतं मनः' और 'ध्यानं निर्विषयं मनः' होगा; यह सुस्थिर है, तब उसके लिए उपर्युक्त बात कोई निराली व

अद्‌भुत नहीं रहेगी।

प्रश्न ४ आपने लिखा है–

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा॥

निराकार तो दर्शन की चीज ही नहीं, फिर साकार के दर्शन से 'सहज सरूप' कैसे जीव को प्राप्त हो सकता है? इसपर प्रकाश डाला जाए।

उत्तर में निवेदन है–यहाँ 'मम दर्शन' कहने का तात्पर्य सगुण साकार रूप के दर्शन से नहीं है। हाँ, उस सगुण साकार रूप में प्रतिष्ठित आत्मस्वरूप के लिए निर्देशन है। यदि 'मम दरसन' का अर्थ सगुण साकार ही मान लिया जाए, तो यह प्रश्न होगा कि उस सगुण रूप के दर्शन जिन-जिनको हुए, उन सबकी एक ही गति होनी चाहिए। किन्तु रामचरितमानस में ऐसा वर्णन पाया नहीं जाता।

प्रमाणार्थ भगवान श्रीराम के दर्शन उनके सम कालीन अनेक जन को हुए थे, यहाँ तक की खरदूषण, कुंभकर्ण और रावण को भी। किन्तु इस दर्शन से 'निज सहज स्वरूप' की प्राप्ति तो सुदूर रही, उन सबके अंतःकरण की मलिनता तक नहीं मिटी। यदि कहा जाए कि भगवान के दर्शन का उपर्युक्त फल दुष्ट को नहीं मिलता, भक्त को मिलता है, तो कहा जाएगा कि जो दर्शन जटायु को हुए, वही दर्शन शबरी को भी; फिर दोनों की एक गति क्यों नहीं हुई? जटायु की अंतिम गति और शबरी की अंतिम गति में आकाश पाताल का अंतर है। जटायु शरीर छोड़ने पर वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ दशरथजी पूर्व से ही विद्यमान थे और पश्चात् जहाँ सपरिवार रावण भी पधारे। इसीलिए तो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने जटायु को उनके महाप्रयाण-काल में कहा था–

सीता हरण तात जनि, कहेहु पिता सन जाय।
जौं मैं राम तो कुल सहित, कहहिं दसानन जाय॥
(अरण्यकांड)

जटायु के शरीर की अंतिम क्रिया भगवान श्रीराम स्वयं अपने हाथों संपादन कर उन्हें बैकुंठ भेजते हैं। स्मरण रहे उसी बैकुंठ में जय-विजय को शाप मिला था, जो इस भूतल पर रावण और कुंभकर्ण हुए थे। यह बात सभी जन जानते हैं। अतएव कहना पड़ता है कि वह वही स्थान है, जहाँ पहुँचने पर आवागमन छूटता नहीं।

किन्तु शबरी के लिए लिखा है कि वह स्वयं योगाग्नि में शरीरों को त्याग कर हरि के उस पद में लीन होती है, जहाँ से कभी कोई लौटता नहीं है, पुनर्जन्म पाता नहीं है। 'तजि योग पावक देह हरिपद लीन भई जहँ नहिं फिरै।' (अरण्यकांड)

शबरी मातंग ऋषि की शिष्या थी और योगाभ्यास करती थी। इतना ही नहीं, वह योग-साधना में भी निपुण थी और भक्ति की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। यही हेतु है कि अपने मुखारविन्द से भगवान श्रीराम ने उनको कहा भी था–'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।' किन्तु जटायु के लिए ऐसी बात कहीं भी अंकित नहीं है।

उपर्युक्त चौपाई 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥' में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द नेत्र का विषय–रूप नहीं। क्योंकि आत्मस्वरूप की प्रत्यक्षता स्थूल वा सूक्ष्म किसी भी इन्द्रिय से संभव नहीं, यह तो आत्मगम्य है। 'आत्मगम्य भजहिं जेहि संता' वहाँ न तो जाग्रत की दृष्टि रहती है, न स्वप्न की। न मानस दृष्टि रहती है और न दिव्यदृष्टि ही। मात्र आत्मदृष्टि रहती है, जिसको संत सुंदरदासजी के शब्दों में कह सकेंगे–

श्रवण बिना धुनि सुनै, नयन बिनु रूप निहारै।
रसना बिनु उच्चरै, प्रशंसा बहु विस्तारै॥
नृत्य चरण बिनु करै, हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिलि संग, बहुत आनन्द बढ़ावै॥
बिनु शीश नवे जहँ सेव्य को, सेवक भाव लिये रहै।
मिलि परमातम सों आतमा, परा भक्ति सुन्दर कहै॥

यह परा भक्ति है, अपरा नहीं।

किसी भी विषय का विस्तारपूर्वक पत्र में लिखा जा सकना कहाँ तक संभव हो सकता है! विशेष कभी साक्षात् होने पर। आपकी जिज्ञासा से प्रसन्नता हुई। यथासंभव नित्य-नियमित रूप से ईश्वराधन अवश्य करते रहना चाहिए। शुभेति।

३०.१०.१९६९ ई०

२३. पूरे गुरु का संग हो अनंग क्या करे

सर्वेश्वर-स्वरूप की प्राप्ति करके संतों की दृष्टि सम हो जाती है। एतदर्थ वे सबमें एक ही आत्मा के दर्शन करते हैं। जैसे स्वर्णकार सहस्त्रों स्वर्णालंकारों में एक ही स्वर्ण पाता है, वैसे ही संतगण समस्त चराचर प्राणियों में एक ही चैतन्यश्चैतन्य को पाते हैं। इसी पैनी दृष्टि को अपनाकर संत गरीब दासजी महाराज सर्वेश्वर, सद्‌गुरु और संत को त्रिविध या विविध रूपों में अवलोकन न कर एक ही रूप में देखते हैं। वे कहते हैं—

साहब से सतगुरु भये, सतगुरु से भये संत।
धर-धर भेष विलास अंग, खेलैं आदि अरु अंत।।

तथा—

साहिब से सतगुरु भये, सतगुरु से भये साध।
ये तीनों अंग एक हैं, गति कछु अगम अगाध।।

संतमत अर्थात् संतों के मत में गुरु की ज्ञान-गरिमा तथा उनकी महिमा-विभूति की जो विशेषता है, वह विलक्षण है, अद्‌भुत है और किसी से छिपी नहीं है। इस संबंध में जितना भी कहा जाय, थोड़ा ही होगा और कहा भी जाय तो क्या?

स्वप्रकाशस्वरूप को अन्य किसी प्रकाश के माध्यम से प्रकाशित करने की चेष्टा पूषण को प्रदीप द्वारा प्रदर्शित करने के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? अनन्त लोचन प्रदायक गुरु की अनन्त महिमा और उनके अनन्त उपकार का वर्णन कौन कर सकता है? जिनकी महिमा-विभूति का बखान करने में सहस्त्रमुख शेष और वरदा शारदा के मन में भी संकोच होती है, भला, उन गुरु की समुज्ज्वल गाथा का सम्पूर्णरूपेण कथन करने का दुस्साहस कौन कर सकता है? आखिर, ऐसी क्षमता ही किसमें है? भगवान बुद्ध कहते हैं—

येसं सन्निचयो नत्थि ये पञ्ञात भोजना।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं गति ते सं दुरन्नया।।

अर्थात् जिन्हें कोई संग्रह नहीं, जो भोजन में संयत हैं, शून्य और अनिमित्तस्वरूप निर्वाण पर जो समाधिस्थ हैं, उनकी गति आकाश के पक्षी की भाँति अज्ञेय है। संत दादूदयालजी महाराज कहते हैं—

दादू जानै न कोई, सन्तन की गति गोई।

और संत कबीर साहब का कहना है कि—

मुझमें इतनी शक्ति कहँ, जो गाऊँ गला पसार।
बन्दे को इतनी धनी, पड़ा रहे दरबार।।

फिर भी गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की प्रेरणात्मक वाणी—

सब जानहिं प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिन रहा न कोई।।
तहाँ बेद अस कारन राखा। मति अनुमान निगम अस भाखा।।

से कुछ कहने के लिए हृदय में सत् साहस का संचार होता है और तब ऐसा लगता है कि यदि मशक गरुड़वत् तीव्र गगनगामी न हो सके, तो क्या वह मठाकाश में अपने पंख फैलाने और गुनगुनाने से भी वंचित रहे—हाथ धो बैठे? ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए। बस, इसी संवल को लेकर और साहस बटोरकर आज गुरु-पूर्णिमा के अवसर पर इस विशिष्ठ सभा में आपलोगों के सेवार्थ कुछ निवेदन करने का दुस्साहस कर रहा हूँ।

संत-साहित्य में गुरु के लिए सतगुरु, परम गुरु, संत सद्‌गुरु, गुरुदेव प्रभृति विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'गुरु' शब्द के अनेक अर्थों में ज्ञानदाता भी एक अर्थ है, चाहे वह ज्ञान लौकिक हो या पारलौकिक अथवा दूसरे शब्दों में—आधिभौतिक हो या आध्यात्मिक। संत कबीर साहब ने गणना कर उसकी संख्या सात बतायी है—

प्रथम गुरु है माता-पिता। रज बिरज का सोई दाता।।
दूसर गुरु हैं मन की धाई। गिरह-वास की बन्द छोड़ाई।।
तीसर गुरु जिन धरिया नामा। लै लै नाम पुकारै गामा।।
चौथे गुरु जिन शिक्षा दीन्हा। जग-व्यवहार सबै तब चीन्हा।।
पंचम गुरु जिन वैष्णव कीन्हा। राम नाम का सुमिरन दीन्हा।।
छठे गुरु जिन भरम गढ़ तोड़ा। दुविधा मेटि एक से जोड़ा।।
सातवँ गुरु जिन सत शब्द लखाया।
जहाँ का तत्त्व सो तहाँ समाया।।

कबीर सात गुरु संसार में, सेवक सब संसार।
सतगुरु सोई जानिये, जो भवजल उतारै पार।।

'खग जाने खग ही की भाषा' की भाँति संतों की गति को संत ही जान सकते हैं–जानते हैं। संत दादूदयालजी महाराज की दृष्टि में संत सद्गुरु की गति 'सुन्नी सुन्न सुन्न के पारा' यानी अन्धकाराकाश, प्रकाशाकाश और शब्दाकाश के परे की होती है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं, जैसा कि गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है कि संतगण सगुण और निर्गुण शब्द-ब्रह्म के भी परे के प्रत्यक्ष ज्ञाता होते हैं; यथा–

सान्त निषेच्छ निर्मम निरामय,
अगुन सब्दब्रह्मैक परब्रह्म ज्ञानी।

तथा–

शब्द धार वारिधि अगम, को गम करै अपार।
जन तुलसी गुरुदेव बल, पायेउ विशद विचार।।

वस्तुतः संत सद्गुरु उस शब्द-सागर के परे के ब्रह्मज्ञानी होते हैं, जिस नादाम्बुनिधि में गोता लगाने में वाग्देवी भी अपने को असमर्थ पाती हैं। शायद कहीं डूब ने जाऊँ, इस भय से वे आज भी अपने हृदय के पास तुम्बे को धारण किए हुई हैं। शास्त्र इसका साक्षी है–

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात् तुम्बं वहति वक्षसि।।

प्रायः 'गुरु' शब्द को दो भागों में विभक्त कर 'गु' का अर्थ अन्धकार और 'रु' का अर्थ तन्निवारक भी किया जाता है; यथा–

'गु'शब्दस्त्वन्धकारः स्याद् 'रु' शब्दस्तन्निवारकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।

इस प्रकार 'गुरु' शब्द का अर्थ अंधकार का निवारक होता है। तात्पर्य यह कि जो अज्ञानान्धकार को दूरीभूत कर प्रकाशपुञ्ज में प्रतिष्ठित करें, वे गुरु हैं। लोकप्रसिद्ध है–

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज 'गुरु' की परिभाषा बताते हुए उनकी योग्यता की विलक्षण व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं–जो अज्ञान-पद से ऊपर उठकर ज्ञान का कथन करते हों, अन्धकारहीन होकर प्रकाश का वर्णन करते हों और त्रयगुणों के परे निर्गुण में प्रतिष्ठित होकर अगुण का गुणगान करते हों, वे गुरु हैं–

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास।।

संत पलटू साहब की दृष्टि में–जिन्होंने नादानुसन्धान की ऐसी साधना की है, उनकी सुरत तैल धारावत् अविच्छिन्न रूप से अन्तर्नाद में लगी रहती है और समाधि-समय साधना-शिखर–तुरीयातीत पद में प्रतिष्ठित होती है, ऐसे नादानुसन्धान के उपदेष्टा गुरु होनेयोग्य हैं; यथा–

धुन आनै जो गगन की सो मेरा गुरुदेव।।
सो मेरा गुरुदेव सेवा मैं करिहौं वाकी।
सब्द में रहै गलतान अवस्था ऐसी जाकी।।
निस दिन दसा अरूढ़ लगै न भूख पियासा।
ज्ञान-भूमि के बीच चलत है उलटी श्वासा।।
तुरिया सेति अतीत सोधि फिरि सहज समाधि।
भजन तेल की धार साधना निर्मल साधी।।
पलटू तन मन वारिये मिलै जो ऐसा कोउ।
धुन आनै जो गगन की सो मेरा गुरुदेव।।

सद्गुरु के संबंध में संत पलटू साहब की उपर्युक्त वाणी से महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की इस वाणी का बहुतांश में सामञ्जस्य प्रतीत होता है। उनका कथन है–'जीवनकाल में जिनकी सुरत सारे आवरणों को पार कर शब्दातीत पद में समाधि-समय लीन होती है और पिण्ड में बरतने के समय उन्मुनी रहनी में रहकर सारशब्द में लगी रहती है, ऐसे जीवन्मुक्त परम संत पुरुष पूरे और सच्चे सद्गुरु कहे जाते हैं।'

गुरु की उपर्युक्त परिभाषा सर्वसाधारण की बुद्धि के परे होने के कारण दुरूह-सी मालूम पड़े, असम्भव नहीं। अतएव पुनः परमाराध्य परमपूज्य सद्गुरु महाराज की ही सरस, सरल एवं सहज बोधगम्य वाणी में सुनिए–

मुक्ति मारग जानते साधन करते नित्त।।
साधन करते नित्त-सत्त चित्त जग में रहते।
दिन-दिन अधिक विराग प्रेम सत्संग सों करते।।

दृढ़ ज्ञान समुझाय बोध दे कुबुधि को हरते।
संशय दूर बहाय सन्तमत स्थिर करते।।
'मैं हीं' ये गुण धर जोई, गुरु सोई सत्चित्त।
मुक्ती मारग जानते साधन करते नित्त।।

संत कबीर साहब ने 'गुरु' और 'शिष्य' दोनों की परिभाषा और योग्यता का अंकन इस भाँति किया है–

गुरु नाम है ज्ञान का, सिष्य सीख ले सोइ।
ज्ञान मरजाद जाने बिना, गुरु अरु शिष्य न कोइ।।

तात्पर्य यह कि शिक्षा देनेवाले–ज्ञानदाता को 'गुरु' और शिक्षा ग्रहण करनेवाले को 'शिष्य' कहते हैं। यदि गुरु ज्ञान-दान में समर्थ नहीं है और शिष्य सद्गुरु की सीख को सीख नहीं लेता, शिक्षा-दीक्षानुकूल आचरण नहीं करता, तो ऐसी दशा में न तो कोई गुरु है और न कोई शिष्य ही।

गुरु के आचरण का शिष्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए गुरु का क्रियावान और शुद्धाचारी होना अत्यन्त आवश्यक है। क्रियाहीन और आचरणहीन गुरु से शिष्य का मंगल कभी हो नहीं सकता। अतएव यदि भूल से ऐसे गुरु को किसी ने धारण भी कर लिया हो तो उसका अविलम्ब त्याग कर देना चाहिए। महाभारत के उद्योग पर्व मे लिखा है–

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते।।

अर्थात् यदि गुरु कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को न समझते हुए कुपथ का आश्रय ले, तो ऐसे गुरु का परित्याग करना ही उचित है।

गर्वित कार्य अकार्य नहिं, जानत चलत कुपंथ।
ऐसे गुरु कहँ त्यागिये, यही कहत शुभ ग्रन्थ।।

बृहत्तन्त्रसार में लिखा है–

ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्ज्ञानं परात्परम्।
अतो यो ज्ञानदाने हि न क्षमस्तंत्यजेद् गुरुम्।।

अर्थात् ज्ञान से मोक्ष होता है, इसलिए ज्ञान से बढ़कर दूसरा उपदेश नहीं है। अतएव जो गुरु ज्ञान-दान में समर्थ नहीं है, ऐसे गुरु का त्याग कर देना चाहिए। और संत कबीर साहब कहते हैं–

झूठे गुरु के पच्छ को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै शब्द का, भटकै बारम्बार।।

'गुरु' के संबंध में महात्मा गाँधीजी के विचार भी विचारणीय हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है–"हिन्दू धर्म में गुरुपद को जो महत्त्व दिया गया है, उसे मैं मानता हूँ। 'गुरु बिन होत न ज्ञान' यह बहुतांश में सच है। अक्षर-ज्ञान देनेवाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार का काम चल सकता है, परन्तु आत्मदर्शन करानेवाले अधूरे शिक्षक से हरगिज काम नहीं चलाया जा सकता। सफलता गुरु की खोज में ही है; क्योंकि गुरु शिष्य के योग्यतानुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधक को योग्यता प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का पूरा-पूरा अधिकार है; परन्तु इस प्रयत्न का फल ईश्वराधीन है।"

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज डंके की चोट देकर कहते हैं–

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई।।

और संत कबीर साहब की भी सुनिए, वे क्या कहते हैं–

बिन सतगुरु उपदेश, सुर नर मुनि नहिं निस्तरै।
ब्रह्मा विष्णु महेश, और सकल जिव को गिनै।।

वस्तुतः संतमत अर्थात् संतों के मत में संत सद्गुरु का स्थान शीर्ष है। यही कारण है कि हम संतों की वाणियों एवं सद्ग्रन्थों में संत से श्रेष्ठ अन्य किन्हीं को नहीं पाते। यदि कहा जाय कि संतमत की मूल भित्ति सर्वेश्वर है, तो उसके साथ यह भी कह देना अपेक्षित है कि जिस भव्य भवन की मूल भित्ति भगवान हैं, उसकी छत संत सद्गुरु हैं और उनकी दीवार सत्संग है, जिनकी सच्ची प्रेमभक्ति के गिलावे से जोड़कर सच्चरित्रता या सदाचारिता के सीमेंट से प्लास्टर किया गया है।

जैसे किसी अट्टालिका की उत्तमोत्तम नींव होने पर भी दीवार और छत के अभाव में प्राणी आश्रय नहीं पाता, उसी भाँति सर्व व्यापक सर्वेश्वर के सर्वत्र रहने पर भी सत्संग और सद्गुरु के अभाव में मानव आश्रयहीन हो यत्र-तत्र भटकता रहता है; कहीं आश्रय-स्थल नहीं–मंगलदायक शरण नहीं, सर्वत्र अशान्ति-ही-अशान्ति। प्राणी त्रयतापों से संतप्त

हो उसकी भीषण ज्वाला से दग्ध हो कराह रहा है। भगवान बुद्ध कहते हैं–

बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि बनानि च।
आराम रुक्ख चेत्यानि मनुस्सा भय तज्जिता।।
नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरनमागम्म सब्ब दुक्खा पमुच्चति।।

अर्थात् मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य आदि को देवता मान उनकी शरण में जाते हैं; किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं; ये शरण उत्तम नहीं; क्योंकि इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। विवेक विलोचन से अवलोकन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि संत सद्गुरु की शरण जाने पर ही मानव-जीवन कुशलमय, मंगलमय और कल्याणमय हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी दृष्टि को अपनाए रखकर सन्तों ने स्पष्ट कहा है–

सन्त शरण जो पड़ा, ताहि का लगा ठिकाना।
और कहीं नहिं कुशल, सकल वैराट चबाना।।

क्यों? इसलिए कि–

सबसे बड़े हैं सन्त दूसरा नाम है।
तीजे दश अवतार तिन्हें परनाम है।।
ब्रह्मा विष्णु महेश, सकल अवतार है।
अरे हाँ पलटू सबके ऊपर, संत मुकुट सरदार है।।
(सन्त पलटू साहब)

अतएव यह दृढ़ निश्चित है कि सन्त सद्गुरु की शरण ग्रहण करने पर ही जन-जीवन की डूबती किश्ती किनारे लग सकती है। संतमत में सद्गुरु को सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित करने का यही हेतु है।

सन्तगण सद्गुरु की गाथा गाते नहीं अघाते। वे अपने हृदयोद्गार की उद्दाम धारा को रोके नहीं, रोक पाते और वह बैखरी वाणी के रूप में उनसे बरबस निःसृत हो जाती है। सन्तों सद्गुरु को अनेक और अनन्त रूप में देखने का भरसक प्रयास किया है। यही कारण है कि उन्होंने उनको सद्ग्रन्थों में कहीं सुर-रूप में, कहीं ईश्वर-रूप में और कहीं सुर एवं सर्वेश्वर से भी श्रेष्ठ रूप में अभिव्यंजित किया है; यथा–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
(योगशिखोपनिषद् अ० २)

पुनः इसी उपनिषद् के पञ्चम अध्याय, मन्त्र ५६, ५७ और ५८ में लिखा है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते।।
दिव्य ज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्।।
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्तया न भेदो विद्यतेऽनयोः।।
(योगशिखोपनिषद्)

अर्थात् गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। त्रिभुवन में गुरु से विशेष कोई नहीं। दिव्य ज्ञान के उपदेष्टा गुरु की भक्ति उनको प्रत्यक्ष परमेश्वर वत् करनेवाले शिष्य ही ज्ञान का फल प्राप्त करेगा। अतएव जैसे गुरु हैं, वैसे ही ईश हैं; जैसे ईश हैं, वैसे गुरु हैं, अर्थात् दोनों में अभेद है, इस भावना से भावित होकर–महाभक्ति के साथ पूजा वा उपासना करे।

संत चरणदासजी महाराज की गुरु-निष्ठा देखिए। वे संत कबीर साहब की 'गुरु को तजि हरि सेव कबहूँ नहिं कीजिये' वाली उक्ति को स्वीकृत करते हुए अपनी मृदुवाणी में कहते हैं–

गुरु बिन और न जान मान मेरो कहो।
चरणदास उपदेश विचारत ही रहो।।

इतना ही नहीं, वे अपने गुरु में विश्वदर्शन करते हैं। इस हेतु कभी वेद के रूप में, कभी पण्डित के रूप में, कभी कल्पवृक्ष के रूप में, कभी काम-धेनु के रूप में वे गुरु को देखते हैं। कभी शेषावतार, कभी महेशावतार, कभी विधिरूप में अवतार, कभी विष्णुरूप में अवतार भी अवलोकन करते हैं। कभी सूर्यरूप में दर्शन कर अपने को अज्ञानान्धकार से वियुक्त और प्रकाश से युक्त पाते हैं, तो कभी उनकी ज्ञान-गंगा में अवगाहन कर वे अपने समस्त अघ-ओघ से मुक्त होते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कृत 'रामचरितमानस' के एक प्रसंग में आया है कि जनकपुर में श्रीसीताजी के स्वयंवर के अवसर पर भगवान श्रीराम को अनेक लोगों ने अपनी-अपनी भावना के अनुरूप अनेक रूपों में देखा था। किन्तु संत चरणदासजी जैसे एकनिष्ठ गुरु-भक्त के विवेक-विलोचन में उनके सद्गुरुदेव

अनेक रूपों में उद्भासित होते हैं। वे अपने गुरु के विराट् रूप का वर्णन इस भाँति करते हैं–

वेद रूप गुरु होहिं कि कथा सुनावहीं।
पण्डित को धरि रूप कि अर्थ बतावहीं।।
कल्पवृच्छ गुरुदेव मनोरथ सब सरैं।
कामधेनु गुरुदेव क्षुधा तृष्णा हरैं।।
गुरु ही शेष महेश तोहि चेतन करैं।
गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु होय खाली भरैं।।
गंगा सम गुरु होय पाप सब धोवहीं।
सूरज सम गुरु होय तिमिर हरि लेवहीं।।

संतों की अटूट श्रद्धा एवं अविचल भक्ति अपने इष्ट गुरु में होती है। उनकी दृष्टि में उनके इष्ट से श्रेष्ठ अन्य कोई भी नहीं दीखते। यही हेतु है कि अन्य लोग जो अन्य देव-देवी प्रभृति की महिमागाथा गाते हैं, उन सबकी महिमा-विभूतियों को ये अपने मात्र गुरु में ही समाहित कर देते हैं। समाहित कर देते हैं भावुकतावश–ऐसी बात नहीं है, वरन् वे तत्त्वतः वैसा उनमें प्रत्यक्ष पाते हैं।

इसी जनपद के उत्तरी भाग में, जो सम्प्रति सहर्षा जनपद के नाम से सुविख्यात है, एक अच्छे महात्मा हुए थे। उनका नाम था–परमहंस श्रीलक्ष्मीपतिजी महाराज। सम्प्रति इनको कुछ लोग लक्ष्मीपति गोसाईं भी कहते हैं। इनकी वाणी से महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की वाणी का अद्भुत साम्य है। ऐसा लगता है, जैसे उभय परमहंसजी महाराज की वाणियाँ उभय नहीं अद्वय हैं। दोनों के आविर्भाव-काल में अन्तर अवश्य है, किन्तु देश में नहीं। तात्पर्य यह कि युगल परमहंसजी महाराज की जन्मभूमि जनपद एक ही है। अब इन दोनों की तुलनात्मक वाणी का अध्ययन कीजिए; यथा–

प्रथम देव गुरुदेव जगत में और न दूजो देवा।
गुरु पूजे सब देवन पूजे, गुरु सेवा सब सेवा।।

और भी–

गुरु इष्ट गुरु मन्त्र देवता, गुरु सकल उपचारा।
गुरु मन्त्र गुरु तंत्र गुरु हैं, गुरु सकल संसारा।।
गुरु आवाहन ध्यान गुरु हैं, गुरु पंच विधि पूजा।
गुरु पद हव्य कव्य गुरु पावक, सकल वेद गुरु दूजा।।
गुरु होता गुरु जाग महा यशु, गुरु भागवत ईशा।
गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु सदाशिव, इन्द्र वरुण दिग धीशा।।
गुरु बिन जप तप दान व्यर्थ व्रत, तीरथ फल नहिं दाता।
लक्ष्मीपति नहिं सिद्ध गुरु बिनु, वृथा जीव जग जाता।।

जैसे वृक्ष-मूल के सिंचन से समस्त वृक्ष यानी उसकी डाली, टहनियाँ और पत्तियाँ प्रभृति सभी स्वभावतः अभिसिंचित होती हैं, वैसे ही गुरु की एकनिष्ठ भक्ति से अखिल देवी-देव के सहित देवाधि देव परमात्मा-पर्यन्त की भक्ति हो जाती है। इसी दृष्टि को अपनाए रखकर परम पूज्य सद्गुरुदेवजी (महर्षि मेँहीँ परमहंसजी) ने निखिल संतों की साक्षी देकर एक ही वाक्य में सब कुछ कह दिया है, मानो गागर में सागर सन्निविष्ट कर दिया हो–

देवी देव समस्त पूरण ब्रह्म परम प्रभु।
गुरु में करें निवास कहत हैं सन्त सभू।।

वस्तुतः अनेक गुणसम्पन्न होने के कारण एक ही गुरु को अनेक रूपों में देखना स्वाभाविक है। अनंतस्वरूपी के दर्शक और दर्शायक होने के कारण अनंत रूप में भी उनके दर्शन हों, कोई अनर्गल बात नहीं। सद्गुरु धन्य हैं, उनकी महिमा अनंत है। शिष्य के ऊपर उनका अनंत उपकार रहता है। वे शिष्य के अनंत लोचन का उन्मेष कराकर अनंतस्वरूपी सर्वेश्वर का साक्षात् कराते हैं। इस संबंध में संत कबीर साहब की यह कड़ी बड़ी खरी उतरती है–

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार।।

संत दरिया साहब की वाणी भी उपर्युक्त वाणी से मिली-जुली मालूम पड़ती है। शिष्य पर सद्गुरु की कृपा होती है अथवा यों समझिए कि गुरुदेव कृपा कर शिष्य को एक शब्द में संलग्न कराते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उस शब्द में लगते ही वे चेतन हो जाते हैं और उनके अनेक नेत्र खुल जाते हैं।

दरिया सतगुरु कृपा करि, शब्द लगाया एक।
लागत ही चेतन भया, नेत्तर खुला अनेक।।
(दरिया साहब, मारवाड़ी)

साथ ही, संत दरिया साहब संत सद्गुरु को एक कुशल तैराक के रूप में देखते हैं। लेकिन वह कौन-सा तैराक? सर, सरित्, सुरसरि या समुद्र का

तैरनेवाला? नहीं, अरे प्रवीण तैरू का संकेत करते हैं, जिन्होंने प्रथम स्वयं भवसिन्धु तैरकर पार किया और पश्चात् वे अन्यों के भी पारकर्त्ता बने। गुरु ने संसार-सागर के लोभ-मोह की प्रबल-प्रखर धारा में डूबते हुए का उद्धार किया, यह प्रसिद्ध है। वे कहते हैं–

डूबत रहा भव सिन्ध में, लोभ मोह की धार।
दरिया गुरु तैरू मिला, कर दिया पैले पार।।

गोस्वामी तुलसीदासजी श्री हनुमानजी की वंदना कर रहे थे–'जय जय हनुमान गुसाईं।' एकाएक उनको गुरु की स्मृति हो आती है और वे झट लगे हाथ कह बैठते हैं–'कृपा करो गुरुदेव की नाईं।।' इससे ज्ञात होता है कि उनको गुरुदेव के प्रति कितनी गहरी निष्ठा थी। यह बात सर्वविदित है कि गोस्वामीजी के इष्ट दाशरथि राम भी थे और उनमें इनकी श्रद्धा भी थी। किन्तु गुरु और राम की कृपा का तुलनात्मक विचार करने पर उनको गुरु में ही अधिक गंभीरता जान पड़ी। अतएव 'जय जय जय हनुमान गोसाईं। कृपा करो रघुवर की नाईं।।' नहीं कहकर 'जय जय जय हनुमान गुसाईं। कृपा करो गुरुदेव की नाईं।।' ये वाक्य उनके मुख से निःसृत हो पड़ते हैं। संभवतः संत कबीर साहब की यह साखी भी उनके समक्ष साक्षी रूप में उपस्थित हो गई हो–

गुरु देवें तासों अधिक, राम सकें नहिं देय।
मूर्ख बिगाड़ें आपने, गुरु तजि रामहिं सेय।।

तथा,

गुरु रुचि स्वीकृत राम को, जानहु बारम्बार।
जो गुरु रुचि देवन नहीं, कधी न दे करतार।।

संत दादूदयालजी की दृष्टि में सच्चे गुरु शिष्य की पाशविक वृत्ति को मानवीय वृत्ति में बदल देते हैं। इतना हीं नहीं, वे उससे सिद्ध, देवता और उससे भी परब्रह्म–परमात्मा के स्वरूप में परिवर्तित कर उसमें प्रतिष्ठित कर देते हैं।

सतगुरु पसु मानस करै, माणस थैं सिध सोइ।
दादू सिध थैं देवता, देव निरंजन होइ।।

पुनः वे कहते हैं–सद्गुरु शिष्य को काल के गाल से निकालकर बाल-बाल बचा लेते हैं। अंधों को आँख–दिव्यदृष्टि, ज्ञानदृष्टि, आत्मदृष्टि देते हैं और जीव को शिव (ब्रह्म) बना लेते हैं।–

दादू काढ़े काल मुख, अन्धे लोचन देइ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेइ।।

सद्गुरु अपने कामान्ध शिष्य को ज्ञानाञ्जन देकर निर्मल नेत्रधारी बनाते हैं। इसकी एक रोमांचकारी कथा सुनिए–भगवान बुद्ध के अनेक शिष्यों में एक का नाम था राजकुमार नन्द। वह भगवान् बुद्ध का मौसेरा भाई था। उनके मन में विषयों की ओर से विराग और आत्मसाक्षात्कार के लिए अनुराग हुआ, तो उन्होंने अपनी संतति, सम्पत्ति और दम्पत्ति के संबंध को त्यागकर भगवान् की शरण ली। किन्तु कभी-कभी उनके मन में अपनी पत्नी की स्मृति हो आती थी; क्योंकि प्रव्रज्या के लिए गृह से प्रस्थान करते समय उनकी वधू (नवविवाहिता पत्नी) ने करुण स्वर में उनसे कहा था–'शाक्यपुत्र (प्रियतम)! जाओ, किन्तु इस पतिता पत्नी को भूल न जाना।' राजकुमार भगवान बुद्ध के पास जाकर प्रव्रजित हुए। किन्तु पद कल्याणी की यह मर्म वाणी 'शाक्यपुत्र! भूल न जाना' की अमिट छाप उनके अंतःकरण अंकित हो चुकी थी। परिणामस्वरूप रह-रहकर उसकी स्मृति होती ओर उनके मर्मस्थल पर आकर बिछुड़न की असह्य व्यथा उत्पन्न करती रहती। इस भाँति कुछ दिनों तक उसकी निरंतर स्मृति रहने के अनन्तर उनका मन पुनः गृहस्थ आश्रम प्रवेश करने का होने लगा। यदा-कदा वह भिक्षुओं के समक्ष चर्चा करता–मैं ब्रह्मचर्य-पालन नहीं कर सकूँगा, अपने घर लौट जाऊँगा। भिक्षुओं ने राजकुमार नन्द की यह बात भगवान बुद्ध को ज्ञात करायी। भगवान ने नंद को बुलाकर पूछा, 'नंद! क्या यह बात सत्य है कि तुम प्रव्रज्या का परित्याग कर गृहस्थ होना चाहते हो?' नंद ने संकुचित स्वर में कहा, 'हाँ भन्ते!' भगवान ने पुनः पूछा, 'नंद! तुम संन्यासी होकर पुनः गृहस्थ होना क्यों चाहते हो?' राजकुमार नंद ने कहा, 'भन्ते! जिस दिन मैं प्रव्रज्या होने भगवान के पास आ रहा था, उस दिन करुणस्वर में जनपद कल्याणी बोली थी, 'शाक्यपुत्र! मुझे भूल न जाना।' भगवन्! यह वाक्य मेरे मानसपटल पर अंकित हो गया और बारंबार उस आकृति की स्मृति मुझे होती रहती है। अब अपने अवश मन के अधीन हो विवश हो गया। बिना उसको देखे बिना मन विकल हो रहा है।

तथागत ने अच्छा, कहकर राजकुमार नंद को

आलिंगन किया और उनके साथ अंतर्द्धान हो, वहाँ प्रकट हुए, जहाँ पाँच सौ महासुन्दरी अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। भगवान् ने कहा—'नंद! देख रहो हो इन अप्सराओं को?' हाँ भन्ते! राजकुमार नंद ने कहा। तुम अपनी गृहिणी की सुन्दरता के साथ इन अप्सराओं से तुलना करो और बताओ कि किसका सौंदर्य विशेष है।—भगवान बुद्ध ने कहा। अगर तुम एक वर्ष तक कड़ी साधना करो, तो वे सभी अप्सराएँ तुम्हें दिलाने का प्रतिभू होता हूँ। भगवान् बुद्ध के विचार को नन्द ने आनन्द से स्वीकार कर लिया। पश्चात् उनके सान्निध्य में रहकर उन्होंने एक वर्ष तक बड़ी तत्परता से ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए कड़ी साधना की। अन्तर्यामी भगवान बुद्ध ने एक दिन नन्द को बुलाकर कहा—'नन्द! तुम्हारी तपस्या पूरी हो गई। अब बताओ, वे सभी अप्सराएँ मैं तुम्हें दूँ?' नन्द ने कर जोड़कर कहा—'भन्ते! अब मुझे एक भी नहीं चाहिए।'

पूरे गुरु का संग हो, अनंग क्या करे।

संतों ने सद्‌गुरु की गरिमा-गाथा भूरि-भूरि गाई है। उन्होंने बताया है कि लौकिक वा पारमार्थिक कोई भी कार्य क्यों न हो, बिना गुरु के उसकी सफलता सम्भव नहीं है। जब जागतिक कार्य की सम्पन्नता भी गुरु के अभाव में असम्भव है, तब पारलौकिक बात के लिए कहना ही क्या? गोस्वामी तुलसीदास जी ने कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

गुरु बिन भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।।

यह कितना मर्मस्पर्शी उद्घोष है उनका। जहाँ गुरुहीन विरंचि और शंकर के लिए भी असार संसार अपार सागर है, पार किया नहीं जा सकता, वहाँ हम किस खेत की मूली हैं? ऐसा लगता है, जैसे 'छुद्र नदी चली तोराई। जस थोरे धन खल बौराई।।' को चरितार्थ करने हम चले हैं। अपनी अल्प विद्या-बुद्धि पर इठलाते हैं, फूले नहीं समाते हैं। हमारा शास्त्र हमें सम्मति देता है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत क्षुरस्य धारा।
निशिता दुरत्या दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

अर्थात् (अरे अविद्याग्रस्त लोगो!) उठो (अज्ञान निद्रा से), जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्व-ज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं। कठोपनिषद् (अ०१, वल्ली ३, श्लोक १४) ही नहीं, गीता भी कहती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

इसलिए तत्त्व के जाननेवाले ज्ञानीपुरुषों से भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किए हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जान वे मर्म। को जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे। वृष्टि का जल सर्वत्र समरूप में बरसता है, तथापि वह गहरे गढ़े में ही एकत्र होता है, ऊँचे टीले पर नहीं। इसी भाँति संत सद्‌गुरु की दया सभी शिष्यों पर समान रूप से होती रहती है; किन्तु वह दया श्रद्धावान के ही निकट टिकती है, श्रद्धाहीन के निकट नहीं। कभी-कभी संत सद्‌गुरु मौज में आते हैं तो स्वजन पर उनकी अदृश्य दया होती है; किन्तु अज्ञजन उसको समझ नहीं पाते। वे उनकी अहैतुकी कृपा का आदर नहीं करते। फलतः वे उससे वंचित रह जाते हैं। एक मधुर लघु कथा है—पीरो मुर्शिद ने अपने शिष्य चंदाशाह के द्वारा एक अनार बादशाह तानाशाह के पास भेजा। तानाशाह गुरु का भेजा हुआ अनार पाकर बहुत खुश हुआ और उस अनार में से पाँच दाने निकालकर मुँह में लिए। अनार खट्टा था। उपने गुरु के भेजे अनार के दानें को वह मुँह से फेंक नहीं सकता था। किसी तरह उसे निगल गया। तानाशाह के गुरु-भाई की बात निभाने के लिए पाँच दाने और खाए। लेकिन बादशाह से उनके गुरु-भाई ने और दाना खाने कहा। बादशह ने कहा—'भाई! आप इसे मुझे दे दें, मैं पीछे सब खा लूँगा।' गुरुभाई ने कहा—'भाई! गुरु ने तो मुझे कहा था कि अनार के सभी दाने खिला देना। अच्छा ये चार दाने और खा लो।' इसके बाद चंदाशाह अपने गुरु के पास वापस पहुँचे। पीरो मुर्शिद ने पूछा—'तानाशाह ने अनार खा लिया?' चंदाशाह ने कहा—'दो पाँच-पाँच और चार यानी चौदह दाने।''अफसोस!' मुर्शिद ने धीरे से कहा—'उसकी किस्मत में चौदह साल की बादशाहत थी।'

संत सद्‌गुरु की अहैतुकी कृपा शिष्यों पर कब किस तरह होती है, सामान्य बुद्धि के लोग समझ नहीं पाते। (शान्ति सन्देश, अक्टूबर+नवम्बर, १९६९)

२४. गुरु हैं बड़े गोविन्द तें

संत चरणदासजी महाराज कहते हैं—

पितु सूँ माता सौ गुना, सुत को राखै प्यार।
मन सेती सेवन करै, तन सूँ डाँट अरु गार॥
माता सूँ हरि सौ गुना, जिनसे सौ गुरुदेव।
प्यार करैं औगुन हरैं, चरणदास शुकदेव॥

तात्पर्य यह कि पुत्र का प्यार जितना पिता करते हैं, उससे सौ गुणा अधिक प्यार माता करती हैं। माता की गोद में शिशु जितना पलता है, उतना पिता की गोद में नहीं। पिता की अपेक्षा माता में ममता के साथ क्षमा-शक्ति की क्षमता भी अधिक मात्रा में होती है। इसका ज्वलंत प्रमाण यह है कि यदि पिताजी की गोद में बच्चा एक बार भी पेशाब या पाखाना कर दे, तो वे अविलंब उस बच्चे को अपनी गोद से उतार देंगे। किन्तु माता की गोद में वही बच्चा सहस्त्र बार भी पेशाब या पाखाना क्यों न कर दे, उनके लिए कोई अप्रसन्नता की बात नहीं, उनके चित में विषाद की रेखा नहीं। माताजी के मन में तनिक भी मलिनता आ नहीं पाती और उकताना तो वे जानती ही नहीं। वस्तुतः माता धरित्री हैं, पृथ्वी हैं, थोड़ी भी घृणा नहीं। बल्कि साफ-सुथरा होकर पुनः बच्चे को गोद में बिठाकर निहाल हो जाती है। प्यार करने लगती है और हर्षातिरेक में मस्त हो एक बार झूम उठती है।

कोई भी पिता अपने नन्हें पुत्र को प्रसन्नतापूर्वक पीठ पर पाँच प्रहर नहीं ढो सकते, किन्तु माता जी ऐसी सहृदयता होती है कि पीठ को कौन कहे, अपने पेट में रखकर अनवरत, अहर्निश दस महीने ढोती है। उस समय उसका खाना-पीना, सोना-बैठना तथा ऐशो-आराम सभी हराम हो जाते है। अपनी सारी सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देकर माता शिशु की सेवा में संलग्न रहती हैं। बच्चे के भूमिष्ठ होने पर उसे कोई कष्ट न हो, इसके लिए वे सतत सचेष्ट व जागरुक रहती हैं। यदि कहीं, किसी कारण शिशु अस्वस्थ हो गया, तब तो कहना ही क्या? वे अपने खून को पसीना बनाकर बहा देती हैं। शिशु के पूर्ण स्वस्थावस्था पर्यन्त अपने समय का सदुपयोग वे शिशु-सेवा के लिए करती हैं। समयानुकूल शिशु के संरक्षण व सँभाल का भार माता तबतक निरंतर करती है, जबतक उसको अपनी स्वयं सूझ न हो जाए। गो० तुलसीदासजी ने भी कहा है—'गहि शिशु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखहिं जननी अरु गाई॥ (रामचरितमानस)

बच्चों को बचपन में अपनी माता के अधिक संग का अवसर मिलता है। इसलिए जैसे कच्चे बाँस को जिस ओर मोड़ना चाहे, सरलतापूर्वक मोड़ सकते हैं, उसी तरह बच्चे का हृदय कच्चा होता है, माता जिस ओर मोड़ना चाहे, मोड़ सकती हैं। बचपन से बच्चे को सीख देकर सत्पथ पर लाने का श्रेय माता को ही है। इसके लिए मदालसा—जैसी माता का आदर्श हमारे सम्मुख है।

जैसे साफ कपड़े पर जो भी रंग चढ़ाया जाता है, वह शीघ्र चढ़ जाता है, वैसे ही शिशु के सरल व शुद्ध मन पर माता की शिक्षा जादू का काम करती है। उसके अंतःकरण पर उसकी अमिट छाप पड़ जाती है। इसलिए सुत के सुधार, सँभाल और उसके भविष्य जीवन का निर्माण माता के हाथ में है। माता अपने पुत्र-पुत्री को जिस साँचे में ढालना चाहे, ढाल सकती है—जैसा बनाना चाहें, बना सकती हैं; ठीक वैसे ही जैसे गीली मिट्टी के लौंदे को कुम्हार जैसा बनाना चाहता है, बना लेता है।

स्वसंतान के दोष पर पिता रोष प्रकट करते हैं, किन्तु माता रोष नहीं करके अफसोस करती है। इतना ही नहीं, बल्कि वे अपने आर्त एवं करुण हृदय से उसके दोष को ऐसे शोष लेती है, जैसे प्रातः अरुण उदय ओसकण का शोषण करती है। वस्तुतः माता का जितना स्नेह पुत्र को मिलता है, उतना पिता का नहीं। महाभारत ग्रंथ में एक प्रसंग आया है। कौरवों के अन्याय युद्ध में अभिमन्यु वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके वियोग में उनकी माता सुभद्रा फूट-फूटकर रो रही थी। धर्मराज पर्यन्त समझाते-समझाते थक गये, किन्तु उनका करुण क्रंदन बंद नहीं हुआ। वर्षाकाल की झड़ी की भाँति उनकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। अंत में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण उनको समझाने आये। बोले—बहन! यह क्या कर रही हो, क्यों रो रही हो, किनके लिए रो रही हो? देह सर्वदा किसी की रहती नहीं और आत्मा तो

अजर, अमर, अविनाशी है; फिर इतना विकल होकर विलाप क्यों कर रही हो? जरा सोच, समझ, विचार तू कौन है? किसकी बहन है, किसकी पत्नी है और किसकी तू माता है? तेरे लिए इस प्रकार का रुदन शोभनीय नहीं। अन्य लोग भी क्या कहेंगे? उपहास करेंगे। बहन सुभद्रे!

वीर माँ वीर पत्नी बहन वीर की,
वीर कन्या जगत में कहाती है तू।
इस तरह शोभती क्या तुझे है रुदन,
गीत गा-गा के मुझको सुनाती है तू॥

भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशात्मक वाक्यों को सुनकर सुभद्रा क्या उत्तर देती है, सुनिये–भैया! इस समय चुप रहो, पीछे बोलना; सम्प्रति मुझे कुछ सुहाता नहीं। भैया! तुम्हारी बहन सुभद्रा नहीं रो रही है और न वीर-पत्नी रो रही है। यह तो बेटे की माँ रो रही है। इसे तू रोक नहीं सकते, समझा नहीं सकते। क्योंकि भैया! तुम जानते नहीं कि माता का हृदय कैसा होता है। अतएव अभी जाओ, पहले बेटे की माँ बनो और जब तुम्हारा वह इकलौता लाड़ला मर जाय और तुम न रोओ, तब मुझे समझाने के लिए आना। सुभद्रा की मर्मवाणी सुनकर भगवान श्रीकृष्ण आवाक् रह गये। यह है माता का हृदय।

उस स्नेहमयी माताजी की जितनी गाथा गायी जाए, थोड़ी होगी। इसलिए 'पितु सूँ माता सौ गुणा, सुत को राखै प्यार।' संत चरणदासजी महाराज ने कहा है–ऐसा प्रतीत होता है। इसके पश्चात् वे कहते हैं–

माता सूँ हरि सौ गुना, जिनसे सौ गुरुदेव।
प्यार करैं औगुन हरैं, चरणदास शुकदेव॥

अतएव अब इसपर हम विचार करें। माता अपने सद्यःजात शिशु को जबसे अपनी आँखों देख पाती हैं, तबसे उसके संरक्षण और उसकी सँभाल किया करती हैं। किन्तु गर्भस्थ शिशु के कल्याण, संरक्षण और सँभाल का हाल बेचारी माँ क्या जाने, उस समय सर्वेश्वर के सिवा उस शिशु को देखनेवाला कौन था? आश्चर्य है–एक बूँद से पिंड की रचना, उसका बढ़ना, पलित होना और समयानुकूल सुंदर सुगठित शरीर से शिशु का भूमिष्ठ होना, इनकी क्रमबद्ध योजना करनेवाला और उसका संचालनकर्ता कौन है? अरे, शिशु के जन्म धारण करने पर माता उसको स्तनपान कराती हैं, लेकिन जरा सोचो तो सही, उस अज्ञ शिशु को दूध चूसने और घूँटने की कला किसने सिखाई? शिशु जब गर्भ में था, तब वह क्या खाता था, क्या पीता था, कैसे सोता था, कैसे बैठता था, श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया कैसे कर पाता था। बेचारी माता और बेचारा पिता का वहाँ चारा कहाँ? उसका वहाँ सर्वेश्वर सर्वाधार के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं, कोई अवलंब नहीं, कोई सहारा नहीं। अरे! जरा विचारो तो सही, वहाँ जलती जठराग्नि में जलने से बचाने और जीवन दान देनेवाला कौन है? धन्य वह प्रभु! प्रभु तुम धन्य हो! इसीलिए संत के दिल दरियाव से उनकी बैखरी वाणी में 'माता सूँ हरि सौ गुणा' की वेगवती धारा बह चली।

वह प्रखर और उद्दाम धारा और भी आगे की और अपनी कल-कल ध्वनि में हरि से भी शतगुण बेशी सद्‌गुरु को बताये बिना कल न पड़ा। अर्थात् 'माता सूँ हरि सौ गुणा, जिनसे सौ गुरुदेव।'

अब हम जरा गंभीरतापूर्वक विचार करें। संत चरणदासजी महाराज ने ऐसा क्यों कहा। उनका यह वचन रोचक है, भयानक है, सत्य है अथवा इसमें कोई तथ्य है?

मेरी समझ से संतों की वाणियाँ चिकनी-चुपड़ी नमक-तेल व गोलमिर्च मिली नहीं होतीं, वरं जस का तस, ज्यों-का-त्यों, बिल्कुल साफ, स्वच्छ और स्वाभाविक होती हैं। आइए, अन्य संत-वाणियों के सहारे इसपर विचार-विमर्श करें।

संत कबीर साहब एक स्थल पर कहते हैं–'परमातम गुरु निकट विराजैं जागु जागु मन मेरे।' इस शब्द में संत कबीर साहब ने गुरु को परमात्मरूप बताया है। किन्तु जब उनके सामने गुरु और गोविन्द दोनों एक साथ उपस्थित होते हैं, यों उभय साकार के सामने अभय होकर प्रथम वे गुरु के आकार का ही अभिवादन करते हैं, जिसके लिए उनकी यह साखी प्रसिद्ध है।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय॥

और भी,

गुरु हैं बड़े गोविन्द तें, मन में देखु विचार।
हरि सुमिरै सो वार है, गुरु सुमिरै सो पार॥
तीन लोक ब्रह्माण्ड में, गुरु तें बड़ा न कोय।

करता करै न करि सकै, गुरु करै सो होय॥

इन शब्दों में संत कबीर साहब ने गोविंद, हरि और कर्ता शब्द का प्रयोग ईश्वर के लिए किया है। किन्तु इन सबमें श्रेष्ठ उन्होंने गुरु को ही बताया है। गुरु नानक देवजी महाराज की वाणी में गुरु की महत्ता इस भाँति करते हैं–

गुरु करता गुरु करनै जोगु।
गुरु परमेसुर है भी होगु॥
कहु नानक प्रभ इहै जनाई।
गुरु बिनु मुकति न पाइअै भाई॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज अज्ञान तम नाशक कृपासिन्धु गुरु में हरि के दर्शन पाते हैं और उनके चरण-कमल की वंदना करते हैं।

बन्दौं गुरुपद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकर॥

यह लोकप्रसिद्ध बात है कि श्रीहनुमानजी की अनुकम्पा से गोस्वामीजी महाराज को भगवान् श्रीराम के दर्शन हुए थे और वे उनको इष्ट रूप में मानते भी थे। किन्तु रामचरितमानस के अनेक स्थलों पर प्रसंगवश ऐसा भी पाया जाता है कि गोस्वामीजी ने उन राम से भी गुरु को विशेष रूप में देखा है। जैसे काननकाल में जब भगवान श्रीराम वाल्मीकि मुनिजी के आश्रम में पधारते हैं और उनसे सीता-लक्ष्मण सहित निवासयोग्य आवास की जिज्ञासा करते हैं, तो मुनिजी कहते हैं–हे राम! जो अपने गुरु को तुमसे अधिक जानकर सेवा सम्मान करे, उनके मन-मंदिर में सीता-सहित निवास करो।

तुम्हतें अधिक गुरु हि जय जानी।
सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥

इतना ही नहीं और भी लीजिए। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज गुरु-मर्यादा-रक्षार्थ मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और शेषावतार श्रीलक्ष्मणजी से गुरु चरण-चापन-कार्य भी संपादन करवाते हैं, जिसका वर्णन रामचरितमानस के प्रथम सोपान में मिलता है। यथा–

मुनिबर सयन कीन्ह तब जाई।
लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्हके चरन सरोरूह लागी।
करत विविध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बन्धु प्रेम जनु जीते।
गुरु पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार-बार मुनि आज्ञा दीन्ही।
रघुवर जाइ सयन तब कीन्ही॥
(बालकांड)

गुरु और गोविन्द के तुलनात्मक विचार करने में संत सुंदरदासजी महाराज गुरु को ही गरिष्ठ और वरिष्ठ बतलाते हैं। साथ ही, इसके कारण का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं–

गोविन्दकृत कर्म के कारण जीव रसातल को जाता है और गुरूपदेश से वह यमजाल से छूटता है। गोविन्द के कारण जीव कर्मपाश में फँसता है और गुरु की कृपा से वह मुक्तपाश होता है, स्वतंत्र विचरण करता है। जीव को भवसागर में डुबानेवाले गोविन्द है और द्वंद्व-दुःख से उसकी निवृत्ति करानेवाले गुरु हैं। गुरु-महिमा गाते हुए अंत में वे कहते हैं–इस तरह मुँह से गुरु की जितनी भी महिमा गायी जाए, थोड़ी होगी। वस्तुतः गोविन्द से गुरु की महानता अत्यधिक है–बहुत विशेष है।

गोविन्द के किये जीव, जात है रसातल को।
गुरु उपदेशै सो तो, छूटै यम फन्द तें॥
गोविन्द के किये जीव, वश परे कर्मन के।
गुरु के निवारे सूँ, फिरत है स्वछंद तें॥
गोविन्द के किये जीव, डूबत भवसागर में।
सुन्दर कहत गुरु, काढ़ै दुख द्वन्द्व तें॥
औरहू कहाँ लौं कछु, मुख तें कहूँ बनाय।
गुरु की तो महिमा, अधिक है गोविन्द तें॥
–संत सुंदरदासजी

यही हेतु है कि महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के वचनों में–नित्य प्रातःकालीन प्रार्थना में सद्‌गुरु स्तुति करते समय हम पाते हैं।

नमो नमो सद्‌गुरु नमो, जा सम कोउ न आन।
परम पहुरुषहु ते अधिक, गावें संत सुजान॥

और भी,

प्रभुहू से गुरु अधिक, जगत विख्यात अहैं।
बिनु गुरु प्रभु नहिं मिलैं, यदपि घट माहिं रहैं॥
उर माहीं प्रभु गुप्त, अँधेरा छाइ रहै।
गुरु गुर करत प्रकाश, प्रभू को प्रत्यक्ष लहै॥
हरदम प्रभु रहैं संग, कबहुँ भव दुख न टरै।
भव दुख गुरु दें टारि, सकल जय जयति करै॥
तन मन धन को अरपि, गुरू-पद सेव करो।
'मेँहीँ' आज्ञा पालि, दुस्तर भव सुख से तरो॥

संत चरणदासजी महाराज की शिष्या थी भक्तिन सहजोबाई। उनकी प्रगाढ़ निष्ठा अपने गुरु में थी। अपने हृदय के संचित समस्त उद्गारों को जैसे वे गुरु चरणों में उड़ेल देती हैं—अपने को गुरुचरणों में अर्पित कर देती हैं। उनकी दृष्टि में गुरु की गुरुता, गंभीरता और महत्ता के सामने हरि भी सर्वोपरि नहीं, वरं वे बहुत साफ शब्दों में कहती हैं—

परमेसर सूँ गुरु बड़े, गावत वेद पुरान।

यदि उनसे जिज्ञासा की जाय कि परमेश्वर से गुरु बड़े हैं, इसके लिए आपके पास कोई प्रमाण है अथवा आप भावुकतावश कह रही हैं? तो वे निःसंकोच कहती हैं—प्रमाण? अरे! प्रमाण तो इतना प्रबल है कि मैं दृढ़तापूर्वक कह सकती हूँ—'राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥' जिज्ञासु पुनः जिज्ञासा करते हैं और कहते हैं—आप अपने वचन प्रमाण के लिए कुछ तो बताइए, ताकि भ्रम के कारण का निवारण हो। इसके समाधानार्थ उन्होंने जो उत्तर दिया है, उसमें उन्होंने हरि और गुरु के कार्य-कलापों में महान् अंतर का दिग्दर्शन कराया है अर्थात् उन्होंने हरि को बंधनकारक और गुरु को उद्धारक सिद्ध किया है। जैसे परम भक्तिन सहजोबाई जी कहती हैं—हरि हमें संसार में जन्म देकर हमारे आवागमन के चक्र की वृद्धि करते हैं और गुरुदेव ज्ञानोपदेश देकर संसृति-संताप से मुक्ति दिलाते हैं। दूसरे शब्दों में हरि हमें विषय-विष का पान कराते हैं और गुरु ज्ञानामृत का। हरि ने हमारे पीछे पाँच तस्कर तैनात कर दिये हैं, जिनके वश होकर हम विवश हैं और वे हमें लाचार पाकर चारो ओर से दिन-रात, सोते-जागते, बैठते-उठते लूटते रहते हैं। संत कबीर साहब के शब्दों में—

पाँच चोर बरजोर कुसंगी अति घने।
ये ठगियन जीव संग मूसत घर निसि दिने॥
सोवत जागत रैन दिवस घर मूसहीं।
ठाढ़ खड़े पुठवार भली विधि लूटहीं॥

अब समझो, हरि हमारे कैसे हितैषी हैं? किन्तु कृपालु गुरु ने हमें अनाथ जानकर उन दुष्टों का संबंध छुड़ाकर सनाथ कर दिया। हरि ने कुटुम्ब-परिवारादि में ममता में गिराकर काल के जाल में बँधवाया और गुरु अपनी शिक्षा-दीक्षा देकर काल के गाल से बाल-बाल बचा लिया। हरि ने रोग और भोग में फँसाकर रोगी-सोगी बना दिया और गुरु ने योगी बनाकर निःसोगी कर दिया। हरि ने कर्म और भ्रम के फंदे में फँसाया और गुरु ने आत्मस्वरूप का मर्म बता उसका साक्षात्कार कराया। हरि ने अपने आपको मुझसे छिपाया और गुरु ने मुझे दीपक देकर उनको दिखाया। पुनः हरि ने बंधन और मुक्ति की चाल चली, किन्तु गुरु के समक्ष उनकी एक दाल न गली। अर्थात् गुरु-कृपा से कर्मबंधन गले—भ्रम-फंदन जले। इसीलिए मैं अपने गुरुवर पर तन, मन, धन न्योछावर करती हूँ। वस्तुतः मेरे गुरु-भजने और हरि-तजने का यही तथ्य है। उनका उद्घोष है—

राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ।
गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं।
गुरु ने आवागमन छुटाहीं॥
हरि ने पाँच चोर दिये साथा।
गुरु ने लई छुटाय अनाथा॥
हरि ने कुटुँब जाल में गेरी।
गुरु ने काटी ममता बेरी॥
हरि ने रोग भोग उरझायौ।
गुरु जोगी कर सबै छुटायौ॥
हरि ने कर्म भर्म भरमायौ।
गुरु ने आतम रूप लखायौ॥
हरि ने मो सूँ आप छिपायौ।
गुरु दीपक दे ताहि दिखायौ॥
फिर हरि बंधमुक्ति गति लाये।
गुरु ने सबही भर्म मिटाये॥
चरणदास पर तन मन वारूँ।
गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ॥

किन्तु सावधान! संत कबीर साहब की यह साखी सदा स्मरण रहे—

तन मन ताको दीजिए, जाके विषया नाहिं।
आपा सबहीं डारिके, राखे साहब माहिं॥

अपने को उसपर न्योछावर करो, जो कामी-क्रोधी वा लोभी नहीं हो और जो क्रियावान व सदाचार समन्वित हो। गुरु में अन्यान्य अनेक गुण होने पर भी यदि वह आचरणहीन है, तो ऐसे गुरु को धारण करना कदापि योग्य नहीं। यदि अपनी अज्ञता, अल्पज्ञता अथवा अनभिज्ञता के कारण ऐसे गुरु को किसी ने धारण कर भी लिया है, तो उसके अविलंब त्यागने में ही

शिष्य का कुशल व कल्याण है; अन्यथा कहीं भी त्राण नहीं, जन्म-जन्मांतर में भटकता हुआ वह दुःखों को भोगता रहेगा। इसलिए–

झूठे गुरु के पच्छ को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै शब्द का भटकै बारम्बार॥

(संत कबीर साहब) दिसम्बर, १९६९

पाप करै सो तरै तुलसी

आपलोगों को ज्ञात हुआ है कि यहाँ संतमत का सत्संग होगा। अतएव सर्वप्रथम मैं यह बताऊँ कि संतमत क्या है? संतमत कोई नया धर्म, मत वा पंथ नहीं है। यह परम प्राचीन और वेद-सम्मत मत है। संतमत किसी एक संत के नाम पर आधारित मत नहीं है। इसमें सभी संतों की समान मान्यता है। अतएव आप इस सत्संग में परमपदगत विभिन्न संतों की वाणियाँ सुन पाएँगे। संतमत के संबंध में गो० तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में कहा है–

इहाँ न पच्छपात कछु राखौं। वेद पुरान संत मत भाखौं॥

यही यह संतमत है। वस्तुतः संतमत का अर्थ है–संतों का मत। इसलिए संत तुलसी साहब (हाथरस के संत) ने कहा है–

संत गुरु और पंथ न जाना। येही संत पंथ हित माना॥

संतों के ज्ञान से अनजान जन का कथन था–'संतों का ज्ञान वेद-बाह्य है।' वेद-ज्ञानविहीन जन का वचन था कि 'संतों के उच्चतम ज्ञान से वेद हीन है।' इस भाँति अपनी हीन भावना के कारण वे एक-दूसरे को दीन दृष्टि से देखा करते थे। इस हेतु दोनों के बीच में जो हृदय की दूरी बढ़ गई थी–बढ़ती जा रही थी, संतमत इस दूरी को भरपूर दूर करता है। अर्थात् उभय के वैमनस्य को मिटाकर परस्पर सामञ्जस्य स्थापित कराता है।

संतमत का उद्घोष है कि संतों और वेदों का अध्यात्म-ज्ञान अभिन्न है। अर्थात् पूर्व के संतगण ईश्वर-संबंधी ज्ञान जो दे गये हैं और वर्तमान काल में जो संत उस आधार पर ज्ञान दे रहे हैं, वह वेद में विद्यमान है। आवश्यकता है उसकी खोज की। संत कबीर साहब की वाणी में–

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठे॥

ऋषियों एवं संतों की वाणी का अध्ययन और अनुशीलन करने पर परस्पर अद्भुत साम्य का बोध होता है। संत दादू दयालजी की उदात्त भावना में हम कह सकेंगे–

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जाति॥

परम प्रभु सर्वेश्वर ने देखने के लिए सबको दृष्टि दी है, देखते सभी हैं, किन्तु अपनी-अपनी दृष्टि से। अर्थात् अर्जित ज्ञान के आधार पर ही देखते हैं–देख सकते हैं।

एक मंदिर है। उसमें एक पवित्र मूर्त्ति प्रतिष्ठित है। जो श्रद्धालु भक्त हैं, वे उस मूर्त्ति को परमात्मा का प्रतीक मानकर प्रणाम करते हैं। दूसरे जन उस मूर्त्ति की कला का अवलोकन करते हैं। तीसरे उस मूर्त्ति की धातु को देखते हैं–खरा है वा खोटा? चौथा व्यक्ति चोर वृत्ति का है। वह उस मूर्त्ति को देखकर यह सोचता है कि इसको चुराने से इतना लाभ होगा?

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि लोगों के दृष्टिकोण में भिन्नता हो सकती है, परन्तु वस्तुतः तत्त्व एक ही है। इसी तरह संतों एवं ऋषियों का ज्ञान एक ही है। आज भले ही हम उसे भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखें, किन्तु मैं तो दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि संतों एवं ऋषियों का ज्ञान एक है और उन्हें देखने के लिए हमको उनकी ही दृष्टि अपनानी आवश्यक है। अर्थात् उन ऋषियों एवं संतों की पूतवाणी की अभिज्ञता के लिए हमारी दृष्टि पवित्र होनी चाहिए। हम विवेक-विलोचन प्राप्त कर ही उनकी वाणियों के यथार्थ रूप का अवलोकन कर पाएँगे, अन्यथा नहीं।

अतएव आवश्यकता है हम उनकी वाणियों का अध्ययन, श्रवण और मनन करें। उनके शब्दार्थों और गूढ़ाशयों को जानें। साथ ही, संतों के पारिभाषिक शब्द, उनकी रहस्य-वाणियों और तत्संबंधी साधना का परिज्ञान कर नियमित रूप से निदिध्यासन भी करें। मात्र विद्या-बुद्धि में प्रवीण किन्तु संत-साधना से हीन और संतों के पारिभाषिक एवं रहस्यवाणी से विहीन जन जो संतवाणी का अर्थ करते हैं, वे अर्थ

की जगह अनर्थ कर अपना अमूल्य समय तो व्यर्थ करते ही हैं; साथ ही भोले-भाले मानव को वे यथार्थता से कोसों दूर रखते हैं।

कई वर्ष पूर्व की बात है। एक मासिक पत्रिका में संत कबीर साहब की वाणी 'मोरे जियरा बड़ा अंदेशवा मुसाफिर जैहौं कौनी ओर' निकली थी; जिसका अर्थ एक विद्वान सज्जन ने किया था। इस पद्य के अन्तर्गत की दो कड़ियाँ–

सत्त पुरुष इक बसै पछिम दिसि, तासों करो निहोर।
आवै दरद राह तोहि लावै, तब पैहौ निज ठौर।।

इन उभय पंक्तियों में ऊपरवाली पंक्ति में प्रयुक्त 'पछिम दिसि' का अर्थ उक्त विद्वान ने किया था–'चूँकि संत कबीर साहब मुसलमान खानदान में पाले-पोसे गए थे, इसलिए पश्चिम कहकर उन्होंने मक्का का निर्देशन किया है।'

आप विद्वज्जन इसपर गंभीरता से विचार करें। ऐसा लगता है, जैसे उक्त सज्जन को संत कबीर साहब की उस वाणी से भेंट नहीं हो पायी थी, जिसमें उन्होंने चारों दिशाओं का वर्णन किया है। यथा–

पूरब सोधि पछिम दिस लावै, अर्ध उर्ध के भेद बतावै।
सिला नाथि दक्षिण को धाओ, उत्तर दिशा को सुमरण चाखो।
चारो दिसा का हाल, ऐसा जानता कोइ ख्याल।।

संत कबीर साहब ने अपनी वाणी में बाह्य जगत का नहीं; वरन् अन्तर्जगत का दिग्दर्शन कराया है, जिसको उन्होंने साधना के माध्यम से स्वयं अनुभूत किया था। संतों की वाणियों में पूर्व दिशा को अन्ध कार पश्चिम दिशा को प्रकाश, दक्षिण दिशा को शब्द और उत्तर दिशा को निःशब्द कहकर अभिहित किया गया है। इसकी विशेष जानकारी के लिए हमारे यहाँ से प्रकाशित 'सत्संग-योग' पुस्तक का अनुशीलन करें। मात्र पश्चिम दिशा के संबंध में समास रूप में सुनिए। मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ब्राह्मण २ में लिखा है–**तदा पश्चिमाभिमुख प्रकाशः स्फटिक धूम्र विन्दु नाद कला नक्षत्र खद्योत दीप नेत्र सुवर्ण नवरत्नादि प्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणव-स्वरूपम् ।।२।।**

अर्थात् तब पश्चिम की ओर प्रकाश दिखाई देता है। स्फटिक, धूम्र, विन्दु, नाद, कला, तारा, जुगनू, दीपक, नेत्र, सोना और नवरत्न आदि की प्रभा दिखाई देती है। यही प्रणव का स्वरूप है।

संत तुलसी साहब (हाथरस) ने भी अपनी वाणी में पश्चिम दिशा की चर्चा की है, जिसमें उन्होंने प्रकाश का वर्णन किया है। यथा–

जब दीप सीप सुधारि सजि कै पछिम पट पद में गई।
(घटरामायण)

इसी तरह संत कबीर साहब की दूसरी वाणी भी विचारणीय है, जो परम रहस्यमयी है। वे कहते हैं–

जियत न मार मुआ मत लैयो, मास बिना मत ऐयो रे।

जिसका सामान्य अर्थ होता है–'जीवित को मारो नहीं, मरे हुए को लाओ नहीं और बिना मांस के आओ नहीं।'

किन्तु विचारणीय है कि वह कौन-सा मांस होगा, जो न जीवित होगा और न मृत ही। अथवा यदि ऐसा मांस कोई हो भी, तो संत को उस मांस की आवश्यकता ही क्या? वस्तुतः इसमें कुछ रहस्य है, जिसका उद्घाटन उनके ही पारिभाषिक शब्द के द्वारा होना संभव है। अतएव अब यही सर्वश्रेयस्कर होगा कि हम उनकी वाणियों की खोजकर यह सिद्ध करें कि उन्होंने जीवित और मृतक की क्या परिभाषा दी है? 'कबीर साखी संग्रह' नाम की पुस्तक में इसका इस भाँति समाधान मिलता है–

साध सिंह का एक मत, जीवत ही को खाय।
भाव-हीन मिरतक दशा, ताके निकट न जाय।।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि भाव-हीन मनुष्य मृतक है यानी जिसके हृदय में भगवत्-भक्ति भाव नहीं है, वह मृतक है और जिसके हृदय में ईश्वर-अनुराग है, वह जीवित है। 'मास' शब्द के अनेक अर्थों में 'चन्द्रमा' भी एक अर्थ है।

इस प्रकार संत कबीर साहब की उपर्युक्त कड़ी का अर्थ हुआ–'भगवत् प्रेमी को दुःखाओ नहीं, भावहीन को लाओ नहीं और ऐसी साधना करो, जिससे साधना काल में जबतक चन्द्र-दर्शन नहीं हो जाए, लौटकर आओ नहीं। इस भाँति संत कबीर साहब की वाणी लोगों को विचित्र-सी जान पड़ती है। कहावत भी है–

कबीर का गाया गावै, तो गजब का धक्का खावै।

और,

कबीर की वाणी बूझै, तो तीनों लोक सूझै।।

संत कबीर साहब का एक वचन और उपस्थित

करता हूँ, ध्यान देकर श्रवण करें।

दिल्लगी देवर भौजाय रे, कछु कहलो ना जाय।
ऐसन कठिन भौजाय रे, कछु कहलो ना जाय।।

इसका साधारण अर्थ—देवर और भौजाई की दिल्लगी होता है, किन्तु इसके गूढ़ाशय-परिज्ञान के लिए मर्मज्ञ की आवश्यकता है। संत कबीर साहब के कहने की यह एक विशेष कला है। यहाँ इसका अर्थ इस प्रकार कीजिए—दिल्लगी=दिल-लगी, देवर=देव-वर= परमात्मा, भौ=भव=संसार, जाय= जाना=नष्ट होना। आशय यह कि यदि परमात्मा से दिल लग जाए, तो भव-सागर, संसार-चक्र— आवागमन का चक्र छूट जाए, नष्ट हो जाय। मात्र कबीर साहब की ही नहीं गो० तुलसीदासजी महाराज की वाणी भी कुछ इसी तरह की है। रामचरितमानस में लिखा है—

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा।
जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।।

और एक दूसरे स्थल में है, जो कि श्रुत है—

नीर अगाध में मीन मरै, कबहूँ न मरै जल तें बिलगाये।
पिय परदेश में नारि सुखी, कबहूँ न सुखी पिय अंक लगाये।
अमृत पान करै सो मरै, कबहूँ न मरै विष पान कराये।
पाप करै सो तरै तुलसी, कबहूँ न तरै हरि के गुन गाये।

गोस्वामीजी का यह वचन कितना विपरीत प्रतीत होता है? किन्तु यदि स्वल्प मात्रा में ही बुद्धि का व्यायाम किया जाए, तो अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। अतएव इस कला का प्रयोग कर देखें, यथार्थता निखर उठेगी—

नीर अगाध में मीन मरै ? कबहूँ न;
मरै ? जल तें बिलगाये।
पिय परदेश में नारि सुखी ? कबहूँ न;
सुखी ? पिय अंक लगाये।।
अमृत पान करै सो मरै ? कबहूँ न;
मरै ? विष पान कराये।
पाप करै सो तरै तुलसी ? कबहूँ न;
तरै ? हरि के गुन गाये।।

संत कबीर साहब की वाणी भी इससे बिल्कुल मिलती-जुलती मालूम पड़ती है। जैसे—

पाप करे बिनु गति नहीं, पाप करे तब चैन।
कहै कबीर विचारि के, पाप करो दिन रैन।।

लौकिक दृष्टि से अवलोकन करने पर एक संत ऐसी वाणी असम्बद्ध और अशोभनीय ही नहीं, निन्दनीय भी मालूम पड़ती है, किन्तु उनकी दृष्टि कुछ और ही थी और वह आध्यात्मिक एवं विलक्षण थी।

जैसे श्रीमद्भगवद्गीता अ० ४।३४ में भगवान श्रीकृष्ण ने 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥' कहकर तत्त्वज्ञानी की चरण-शरण में जाकर उनसे उपदेश प्राप्त करने का आदेश दिया है; वैसे ही संत कबीर साहब ने इस वाणी में संत सद्गुरु के पादपद्मों को पकड़ने की प्रेरणा दी है। शब्दार्थ इस प्रकार है—संत सद्गुरु के पाँव पकड़े बिना गति—मुक्ति नहीं मिल सकती, पाँव पकड़ने पर ही चैन—कल्याण मिल सकता है। संत कबीर साहब विचारकर कहते हैं कि संत सद्गुरु के पाँव दिन-रात पकड़ो अर्थात् दिन-रात उनकी चरण-शरण में रहो। अतएव इस दोहे को इस भाँति पढ़ें—

पा-पकरे बिनु गति नहीं, पा पकरे तब चैन।
कहै कबीर विचारि के, पा पकरो दिन रैन।।

इसका दूसरी तरह से ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है, जिसके लिए हमें यह खोज करना अपरिहार्य होगा कि कबीर साहब ने किस कर्म को पाप बताया है? उनकी वाणी के अध्ययन-मनन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच तत्त्वों की पचीस प्रकृतियों को मारने के काम को पाप तथा इनके मारनेवाले को पापी की संज्ञा से अभिहित किया है। यथा—

पाँच पचीसो मारिया, पापी कहिये सोय।
यह परमारथ जानिके, पाप करो सब कोय।।

परमार्थ-पथ के पथिक को पाँच-पचीसो को मारना—उन पर अधिपत्य प्राप्त करना अत्यन्त अपेक्षित है। बिना इसके वह सफलता प्राप्त करने में सक्षम नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उस तरह के पाप करने का जो व्यंग्यात्मक प्रयोग संत कबीर साहब ने किया है, वह कोई अनुचित, अयोग्य वा अशोभनीय बात नहीं।

हाँ, तो मैं संतमत के प्रसंग में कह रहा था। संतमत परम आस्तिक मत है। यह एक ईश्वर का ज्ञान देता है और उसका प्रत्यक्षीकरण अपने अन्दर बतलाता है। ईश्वर-स्वरूप और उसकी प्राप्ति के संबंध में संतमत वेद, उपनिषद् और संतों की वाणियों का साक्ष्य देकर बौद्धिक विचार भी देता है। उसका कथन है—'जो परम तत्त्व आदि-अन्त- रहित, असीम,

अजन्मा, अगोचर, सर्वव्यापक और सर्वव्यापकता के भी परे है, उसे ही सर्वेश्वर-सर्वाधार मानना चाहिए।' यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में लिखा है–

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्र पात् ।
स भूमन सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।।

अर्थात् हजारों यानी असंख्य शिरोंवाला, हजारों यानी अनन्त आँखोंवाला, हजारों यानी अनन्त पैरोंवाला 'पुरुष' सर्वत्र पूर्ण जगदीश्वर है। वह सबको उत्पन्न करनेवाली भूमि के समान सर्वाश्रय प्रकृति को सब प्रकार व्याप कर और भी दश अंगुल अर्थात् दस अंग विकार महत् आदि या पृथ्वी आदि स्थूल और सूक्ष्म भूतों का अतिक्रमण करके उनमें भी व्याप्त होकर, उनसे भी अधिक शक्तिमान अध्यक्ष होकर विराजता है। मुण्डकोपनिषद् मुण्डक २, खण्ड २ के नवम श्लोक में लिखा है–

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्व च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।

अर्थात् यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं-बायीं ओर है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर फैला हुआ है। यह सारा जगत सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है और कठोपनिषद् अध्याय २, वल्ली २, श्लोक १० के अनुकूल–

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।

अर्थात् जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ पवन प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

मुण्डकोपनिषद् के उपर्युक्त मंत्र से संत कबीर साहब की वाणी में विलक्षण समता है, मनन करके देखिए।

श्रूप अखण्डित व्यापी चैतन्यश्चैतन्य ।
ऊपर नीचे आगे पीछे दाहिन बाँय अनन्य ।।

सर्वेश्वर के लिए अखण्ड, अनन्त, अपार, अगोचर, सर्वव्यापक, अजन्मा आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः सभी संतों की वाणियों में हम पाते हैं। गुरु नानकदेवजी कहते हैं–

अलख अपार अगम अगोचरि, ना तिसु काल न करमा ।।
जाति अजाति अजोनी संभउ, ना तिसु भाउ न भरमा ।।

और गो० तुलसीदासजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–

राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बृद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ।।

दूसरे शब्दों में–

ब्यापक ब्याप्य अखण्ड अनन्ता ।
अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता ।।
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता ।
सब दरसी अनवद्य अजीता ।।
निर्मल निराकार निर्मोहा ।
नित्य निरंजन सुख संदोहा ।।
प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी ।
ब्रह्म निरीह विरज अविनासी ।।

संतों के ज्ञानानुकूल सूक्ष्मातिसूक्ष्म सर्वेश्वर का साक्षात्कार चेतन आत्मा ही कर सकती है, स्थूल वा सूक्ष्म कोई भी इन्द्रिय नहीं। बल्कि सामवेद में तो स्पष्ट ही कहा है कि हाथ, पैर, गुदा, लिंग, वाक्, रसना, कान, त्वचा, आँखें, नाक और मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करना झूठ ही एक खेल करना है; क्योंकि वह इनसे नहीं जाना जा सकता है। वह तो इन्द्रियातीत है।

ओ३म् सयोजत उरुगास्य जूतिं वृथा क्रीड़न्तं मिमिते न गावः।
परीणसं कृणुते तिग्म शृंगो दिवा हरिर्दद्दशेनक्तमृज्रः ।।

मुण्डकोपनिषद् में भी लिखा है–

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्तस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यानमानः।

अर्थात् यह आत्मा न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद से पुरुष विशुद्ध चित्त हो जाता है और तभी वह ध्यान करने पर उस निष्कल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।

पलटू साहब, कबीर साहब प्रभृति संत भी इसी विषय का अनुमोदन और प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों को नहीं, चेतन आत्मा को होगा। इसलिए दृढ़ स्वर में संत कबीर साहब ने आदेश दिया है–

चाम चश्म सों नजरि न आवै खोजु रूह के नैना ।

और संत पलटू साहब भी कहते हैं–

रूह करे मेराज कुफर का खोलि कुलाबा ।
तीसो रोजा रहे अन्दर में सात रिकाबा ।।

लामकान में रब्ब को पावै पलटू दास।
साहब-साहब क्या करै, साहब तेरे पास।।

हाथरसवाले संत तुलसी साहब स्वानुभूति की बातें कहते हैं। उनका अनुभव सिद्ध वाक्य है कि मन-बुद्धि की गति सहस्रदल कमल के परे अर्थात् त्रिकुटी पर्यन्त है। उसके आगे किसी भी इन्द्रिय की गति नहीं है। वहाँ तो मात्र चेतन आत्मा–प्राण पुरुष ही जा सकता है–जाता है, जिसको परमात्मा की प्राप्ति होती है।

सहस्र कमल दल पार में मन बुद्धि हेराना हो।
प्राण पुरुष आगे चले सोइ करत बखाना हो।।

इस संदर्भ में परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के अनुभवगम्य वचन इस भाँति है–'जब मन लय होगा, तब सुरत को मन का संग छूट जाएगा। मन-विहीन हो, शब्दधारों से आकर्षित होती हुई निःशब्द में अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर में पहुँचकर वह भी लय हो जाएगी। अन्तःसाधन की यहाँ पर इति हो गई। प्रभु मिल गए। काम समाप्त हुआ।' संतमत मोक्ष-धर्म यानी ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग है। इसीलिए सर्वेश्वर साक्षात्कार के लिए संतों के मत में चार सोपान वर्णित हैं, जो क्रमबद्ध हैं और वे हैं–मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टि-साधन और शब्द-साधन यानी नादानुसंधान–सुरत-शब्द-योग।

संतमत दृढ़तापूर्वक इस बात का विश्वास दिलाता है कि सदाचार की आधारशिला पर ही ईश्वर-भक्ति रूपी भव्य भवन का निर्माण हो सकता है, अन्यथा नहीं। अपवित्र मनवाले को पवित्रतम परमात्मा की प्रत्यक्षता हो, कदापि संभव नहीं। कठोपनिषद् में कहा है–

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्त मानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

अर्थात् जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शांत नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशांत है, वह इसे आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है।

इस हेतु संतमत-सत्संग द्वारा लोगों को सदाचार पालन-हित प्रबल प्रेरणा दी जाती है। अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार; इन पंच पापों से विरत रहने की तथा गुरु-सेवा, सत्संग और दृढ़ ध्यानाभ्यास में निरत रहने की इसमें समुचित सीख दी जाती है। साथ ही, संतमत प्रमादी वा परमुखापेक्षी के पक्ष में नहीं है, वरन् अप्रमादी, पुरुषार्थी एवं स्वावलम्बी जीवन-यापन का आदेश देता है।

इस सम्बन्ध की एक रोचक कथा है–एक सेठ ने अपने पुत्र को व्यापार करने के लिए बाहर भेजा। सेठ-पुत्र ने शीघ्र सम्पत्तिवान होने की बात सोच नेपाल राज्य की राह ली। मार्ग में एक अरण्य मिला, जिसमें प्रवेश करने पर उसको एक बाघ दीख पड़ा। वह भय के मारे एक विशाल वृक्ष पर चढ़ गया। इतने में वह बाघ एक हिरण को मारकर लाता है और उसे खाने लगता है। खाने के बाद बचे हुए अंश को छोड़कर वह घनघोर जंगल की ओर चला जाता है। इसके बाद एक लँगड़ी लोमड़ी अपनी माँद से निकलती है और उस मरे जानवर के बचे मांस को खाने लगती है।

इस घटना को देखकर सेठ-पुत्र के मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि 'ईश्वर बड़े दयालु हैं। जबकि वे एक लँगड़ी लोमड़ी को भी भर पेट भोजन देते हैं, तो क्या वे मुझे भूखा रखेंगे? कदापि नहीं।'

ऐसा सोच वह वहाँ से घर लौट आया। सेठ ने अपने पुत्र से शीघ्र घर लौटने का कारण पूछा। उत्तर में पुत्र ने लँगड़ी लोमड़ी और बाघ की कथा कह सुनायी और कहा–'पिताजी! परमात्मा बड़े कृपालु हैं। वे एक लँगड़ी लोमड़ी को भी खिलाने का प्रबन्ध कर देते हैं। क्या वे मुझे पेट भर भोजन नहीं देंगे? यदि हाँ, तो फिर अपने जीवन के साथ जूझकर जंगल और पहाड़ की खाक क्यों छानूँ?'

सेठ ने कहा–'पुत्र! तुमने सर्वेश्वर के संकेत को उलटा समझ लिया। अरे! परमेश्वर ने तुमको निकम्मी लँगड़ी लोमड़ी बनने के लिए नहीं, वरन् बाघ जैसे उद्गामी बनने का उपदेश दिया है। जैसे बाघ ने परिश्रम किया, स्वयं भर पेट खाया और शेष अन्यों के लिए छोड़ दिया। उसी तरह तुम भी पुरुषार्थी बनो, अपनी सच्चाई की कमाई से अपना जीवन-यापन करो और बचे हुए धन को लूलों-लँगड़ों, दीन-दुखियों आदि के सेवार्थ छोड़ दो।' सन्तमत की यही सीख है। भूलकर भी भीख माँगो नहीं। प्रातःस्मरणीय परमपूज्य अनन्त श्रीविभूषित श्रीसद्गुरु महाराजजी का यह उद्घोष है–

जीवन बिताओ स्वावलम्बी, भरम भाँड़े फोड़िकर।

क्या गृहस्थ, क्या विरक्त; सभी साधकों के

लिए उनका सामान्य उपदेश है–'साधक को स्वावलम्बी होना चाहिए। अपने पसीने की कमाई से उसे अपना निर्वाह करना चाहिए। थोड़ी-सी वस्तुओं को पाकर ही अपने को संतुष्ट रखने की आदत लगानी उसके लिए परमोचित है। (शान्ति-सन्देश, नवम्बर, १९७०)
दिनांक–१.३.१९७०, स्थान : दिल्ली महाधिवेशन ६२वें, रामलीला मैदान (दल्ली)

२६.जो विषया सन्तन तजि मूढ़ ताहि लिपटात

उपस्थित धर्मप्रेमी सज्जनो, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

संसार के सभी प्राणी सुख की इच्छा रखते हैं। प्राणियों में मानव श्रेष्ठ है। वह भी सुख-प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के प्रयत्नों को करता है। जबसे नींद टूटती है, तबसे लेकर जबतक निद्रा देवी की गोद में नहीं जाता, वह प्रयत्नशील रहता है। प्राप्त सुख से वह संतुष्ट नहीं होता, वरन् सुख की वृद्धि और अतिवृद्धि चाहता है। इतना ही नहीं, उसकी अभिवृद्धि कहाँ तक हो, उसकी सीमारेखा उसके मस्तिष्क में नहीं। यह बात विचित्र-सी लगती है कि सुदूर रहकर जिनको हम सुखी और सम्पन्न समझते हैं, उनके निकट जाने पर वे भी दुःखी ही दीखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे विश्व में ऐसा कोई नहीं, जो दैहिक, दैविक, भौतिक तथा मानसिक; किसी-न-किसी पीड़ा से पीड़ित नहीं हो। बात क्या है? लोग धनवान, बलवान, ऐश्वर्यवान प्रभृति होते हुए भी दुःखी क्यों दीखते हैं? यथार्थ बात यह है कि सुख है कहीं और उसकी खोज हो रही है कहीं। दूसरे शब्दों में–

सुख है नहीं जहाँ। खोज हो रही तहाँ॥

संत कबीर साहब के शब्दों में हम कह सकेंगे–

वस्तु कहीं ढूँढ़े कहीं, केहि विधि आवै हाथ।

बस, यही बात चरितार्थ हो रही है और जागतिक नश्वर भोग जो हमें मिलता है, बस इसी में हम मस्त रहते हैं। एक लघु कथा है, सुनिये–

आचार्य द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा थे। उनको गाय नहीं थी। अतएव बालपन में उनको पीने के लिए गाय का दूध नहीं मिलता था। उनके बाल साथी जब बाल-क्रीड़ा के समय एकत्र होते, तो कहते कि हमलोग गाय का दूध पीते हैं और तुमको पीने के लिए दूध नहीं मिलता है, ऐसा कहकर उनको चिढ़ाया करते थे। वे बेचारे रोते हुए अपनी माता के पास आते और कहते–'माँ! मुझे गाय का दूध पिलाओ, मेरे संगी-साथी गाय का दूध पीकर खेलने आते हैं।' बेचारी माता के पास लाचारी थी, गाय थी नहीं, वह करती क्या? अरवा चावल को पीसकर, पानी में घोलकर और चीनी मिलाकर, उनको पीने देती; कहती–'ले बेटा! गाय का दूध पी।' बड़ी प्रसन्नता के साथ अश्वत्थामा उसको पी लेते और अपने साथियों से कहते कि 'अरे, मैंने भी गाय का दूध पिया है।'

विचारणीय है कि वे ही अश्वत्थामा बड़े हुए होंगे और उनको मालूम हुआ होगा कि मुझे पीने के लिए गाय का दूध नहीं मिलता था, बल्कि चावल को पानी में पीसकर चीनी मिलाकर मुझे पीने के लिए दिया जाता था, गाय का दूध कहकर, तो उनको कितनी आत्मग्लानि, कितनी लज्जा और कितना पश्चात्ताप होता होगा?

ठीक यही हालत हमारी है। हम भी मायिक मिथ्या सुख को, जो विषयोपभोग करने पर हमें मिलता है, सत्य सुख समझकर मस्त हो रहे हैं–उन्मत्त-से हो रहे हैं। जिन विषयों को संतों ने वमन-सदृश जानकर परित्याग कर दिया, उन्हीं विषयों को हम श्वान की नाईं स्वाद से स्वीकार कर प्रसन्न होते हैं, फूले नहीं समाते हैं।

जो विषया सन्तन्ह तजि, मूढ़ ताहि लपटात।
जौं नर डारत वमन करि, स्वान स्वाद सों खात॥

विचारणीय है, ज्ञान बढ़ने पर जब हमें विषय-सुख की असारता का बोध होगा, तो हमें भी कितनी ग्लानि, कितनी लज्जा और कितना दुःख एवं पश्चात्ताप होगा। अतएव हम सवेरे से ही क्यों न सँभलें। महान आश्चर्य है कि संतों की सद्वाणी सुनकर भी हमारे कानों पर जूँ तक रेंगने नहीं पाती और हम विषयों–रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द को पाकर, उन विषयों को भोगकर तृप्त होना चाहते

हैं–सुखी होना चाहते हैं; कब सम्भव है? विषयोपभोग कर आजतक कोई संतुष्ट हुआ है–किसी ने सुख का अनुभव किया है? गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

पावक काम भोग घृत ते सठ कैसे चहत बुझायो।

तथा–

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहूँ, विषय भोग बहु घी ते।

संतों ने कहा–अरे मानव! जरा सोच- विचार और समझकर देख। तू जिन पंच विषयों को भोगकर सुखी होना चाहता है, उन पंच विषयों के भोग और उनके परिणाम कैसे हैं, श्रवण कर। किसी कवि ने कितना अच्छा कहा है–

मृग मीन भृंग पतंग कुंजर, एक दोष बिनासहीं।
पंच दोष असाध्य जामें, ताकी केतिक आसहीं।।

मृग को कर्णेन्द्रिय का विषय–शब्द बहुत प्रिय प्रतीत होता है। इसीलिए वह व्याधे की मीठी सुरीली वंशी की तान सुन, जाल में फँसकर अपनी जान देता है। झष जिभ्या के रस में फँस परवश हो प्राण गँवाती है। भौंरा सरोवर-कूल-स्थित कमल फूल पर जाता है और उसकी सुगन्धि में मशगूल हो अपने को भूल जाता है। उसको उसके पराग से इतना अत्यधिक अनुराग है कि पिण्ड से प्राण भले भाग जाएँ; किन्तु वह उसका त्यागकर भाग नहीं सकता। कुछ काल पश्चात् रात होती है और अरविन्द की बिखरी पंखुड़ियाँ बंद हो जाती हैं। परिणामस्वरूप चन्द समय में उसका भी प्राणस्पन्द बंद हो जाता है अथवा दूसरे शब्दों में निशीथ के पश्चात् प्रभात में गयन्द के पदाघात से उसका प्राणान्त होता है।

जिस नेत्र-विषय–रूप में लोलुप हो बड़े-बड़े भूप तम-कूप में गिरे हैं, वहाँ बेचारे पतंग को बचने का ढंग कहाँ? वह नेत्र-विषय रूप में लोलुप हो प्रदीप के प्रकाश में अपना नाश करता है। बेचारे पंतग का क्या चारा? वह प्रदीप के प्रकाश में अपना सर्वस्व नाश करता है। इसी प्रकार मतिमन्द गयन्द स्पर्श विषय के फन्द में पड़ अपने जीवन-विध्वंस का कारण बनता है।

इस भाँति हम देखते हैं कि मात्र एक-एक विषय में आसक्ति के कारण एक-एक जीव की जान जाती है; किन्तु हम मानवों को तो इन पाँचों विषयों में अनुरक्ति है और उनपर विजय पाने के लिए न तो शारीरिक शक्ति है और न मानसिक विरक्ति ही। फिर इतने पर भी हम जीवित हैं, यह इस तुच्छ जीव पर पीव की अति कृपा है।

और भी देखिये, हम जिन पंच विषयों के भोग में सुख-प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, उन पंच विषयों के भोग के परिणाम क्या है, विचारिये। संतजन कहते हैं–विषय तत्त्व विषवत् है। समस्त संसार पंच विषयों से भरा है, जैसे स्वर्ण-घट में विषरस। जरा विचार करें, यदि हम 'विषय' शब्द लिखना चाहेंगे, तो कैसे लिखेंगे? विषय में तीन अक्षर हैं–'वि', 'ष' और 'य'। इन तीनों अक्षरों में 'य' को ढक्कन समझिये। अब 'विषय' में से 'य' रूप ढक्कन को हटाकर देखिये, क्या बचता है? 'विष'। फिर, 'विष' पान करके यदि अपने जीवन की आशा हम करते हैं, तो वह दुराशा मात्र है और उसमें निराशा अवश्यम्भावी है। इसलिए भगवान श्रीराम ने अपने राजत्वकाल में गुरुजन, पुरजन और सज्जन को आमंत्रण कर ये उपदेश-वाक्य कहे थे–

एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई।।
नर तन पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।।
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
गुँजा ग्रहइ परस मनि खोई।।

अर्थात् हे भाई! इस मनुष्य-शरीर को प्राप्त करने को फल विषयों का भोगना नहीं है। यदि स्वर्ग प्राप्त कर सको, तो वह भी स्वल्प और अंत में दुःख देनेवाला है। नर-तन पाकर जो जन विषयों में मन लगाता है, वह मूर्ख अमृत के बदले विष लेता है। उसको कभी कोई अच्छा नहीं कहता, जो पारसमणि खोकर करजनी लेता है।

इस उपदेश के अंदर भगवान का आदेश है कि उत्कृष्ट मानव-शरीर पाकर सर्वोत्कृष्ट सुख के लिए सर्वेश्वर की भक्ति करो, जो इन्द्रियातीत और विषयातीत है। बिना सर्वेश की आराधना किए वह शाश्वत सुख दूर ही नहीं, सुदूर है। इस संबंध में गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के आकाशवत् अलोल एवं अनमोल बोल सुनें। कितनी दृढ़ता है, उनकी वाणी में। वे कहते हैं–

सिव अज सुक सनकादिक नारद।
जे मुनि ब्रह्म विचार विसारद।।

सब कर मत खगनायक एहा।
करिय राम पद पंकज नेहा।।
श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।।
कमठपीठ जामहिं बरु बारा।
बन्ध्या सुत बरु काहुहि मारा।।
फूलहिं नभ बरु बहु विधि फूला।
जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना।
बरु जामहिं सस सीस विषाना।।
अन्धकार बरु रबिहिं नसावै।
राम विमुख न जीव सुख पावै।।
हिम ते प्रगट अनल बरु होई।
विमुख राम सुख पाव न कोई।।
बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।।

अर्थात् शिव, ब्रह्मा, शुकदेव, सनकादिक, नारद और जो मुनि ब्रह्म-विचार में प्रवीण हैं, हे पक्षिराज! सबका यही मत है, सब ग्रंथ (सद्ग्रंथ) कहते हैं कि राम की भक्ति के बिना सुख नहीं है। कछुए की पीठ पर चाहे बाल जम आवें और चाहे बाँझ का बेटा किसी को मार डाले, चाहे आकाश में बहुत तरह के फूल फूलें; परन्तु राम से विमुख रहकर जीव सुख नहीं पा सकता है। चाहे मृग-तृष्णा का जल पीने से प्यास दूर हो जावे, चाहे खरहे के माथे पर सींग जम आवे, चाहे अंधकार सूर्य को नाश कर दे; किन्तु राम से विमुख रहकर जीव सुख नहीं पा सकता है। चाहे पाले से अग्नि प्रकट हो जावे; परन्तु राम से विमुख होकर कोई सुख नहीं पा सकता है। चाहे पानी के मथने से घी हो जाय, चाहे बालू से तेल निकल आवे; परन्तु यह सिद्धांत अटल है कि बिना हरि-भजन के कोई संसार-समुद्र से पार नहीं हो सकता है।

अतएव नित्य, सत्य एवं शाश्वत सुख के लिए ईश्वर-भक्ति करनी चाहिए। ईश्वर-स्वरूप इन्द्रियातीत होने के कारण उसका सुख भी इन्द्रियातीत है। अतएव इन्द्रियों के द्वारा उस सुख की प्राप्ति कदापि हो नहीं सकती और न कोई भी इन्द्रिय उसके संबंध में कुछ कह सकती है। जो इन्द्रियों का विषय नहीं, जो अनिर्वचनीय है, उसके संबंध में वाणी मूक है। ठीक उसी तरह जैसे गूँगे को मीठा फल खिलाया जाय, तो वह उसके विषय में कुछ कह नहीं सकता। इस विषय का स्पष्टीकरण सूरदासजी महाराज ने इस भाँति किया है–

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगहि मीठे फल को रस, अन्तर्गत ही भावै।।
परम स्वाद सबही जु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन वाणी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।।

अमित तोष के लिए संतों ने ईश्वर की भक्ति बतलायी है; क्योंकि वह परम स्वाद और परम तृप्ति ईश्वर में ही है। यही हेतु है कि इस सत्संग के द्वारा ईश्वर-भक्ति का प्रचार किया जाता है। ❐

पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ६२वें वार्षिक महाधिवेशन, दिनांक ०२. ०३.१९७० ई० को दिल्ली के रामलीला मैदान में प्रातःकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था। (शान्ति-सन्देश, अप्रैल २०१०)

२७. मनुष्य का शरीर पाना दुर्लभ है

उपस्थित सज्जनवृन्द तथा देवियो!

भगवान बुद्ध ने कहा है–मनुष्य का शरीर पाना दुर्लभ है। मनुष्य-शरीर पाकर भी उसका जीवित रहना कठिन है। जीवित रहकर भी सद्धर्म-श्रवण कठिन है और श्रवण करने पर भी उसका पालन और भी कठिन है। यह वर्णन 'धम्मपद' नामक पुस्तक में है। जिस प्रकार गीता महाभारत ग्रंथ का एक छोटा-सा; किन्तु अत्यंत तेजस्वी अंश है, उसी प्रकार त्रिपिटिक ग्रंथ का एक अंश 'धम्मपद' है। श्रीरामकृष्ण परमहंसजी ने कहा है–'अपने को मारने के लिए एक छोटी-सी आलपीन काफी है; परन्तु दूसरे को मारने के लिए तलवार और ढाल की जरूरत पड़ती है। उसी तरह अपने को समझाना आसान है; परन्तु दूसरों को समझाने के लिए बहुत शास्त्र और सद्ग्रंथों के प्रमाण की जरूरत होती है। अगर हम गो० तुलसीदासजी महाराज की वाणी पढ़ते हैं, तो वही बात पाते हैं–

सुनिय गुनिय समझिय समझाइय, दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह-जनित, भव दारुण विपति सतावै।।

वस्तुतः धर्म का सुनना कठिन है, समझना और कठिन है तथा समझाना और भी कठिन है। और यदि सुन-समझकर अन्यों को समझा भी दिया जाय, तो उसका आचरण करना सबसे विशेष कठिन है। और आचरण बनाये बिना उसका प्रभाव नहीं पड़ता। परिणामस्वरूप वह वक्ता बकता ही रह जाता है। एक बार एक राजा ने अपने मंत्री से पूछा–'मंत्रीजी! क्या कारण है कि भगवान बुद्ध, संत कबीर, गुरु नानक आदि महात्माओं का जितना प्रभाव लोगों पर पड़ता था, आज के महात्माओं का प्रभाव उतना नहीं पड़ता?' मंत्री ने कहा–'महाराज! इस प्रश्न का उत्तर मैं परसों दूँगा।' तीसरे दिन जब राजदरबार लगा, सभासद के साथ राजा और मंत्री भी बैठे, तो एकाएक मंत्री ने एक सिपाही को आदेश दिया–'ऐ सिपाही! राजा को अभी कान पकड़कर राजसभा से बाहर निकाल दो।' सिपाही मंत्री का मुँह देखने लगा और मन में सोचने लगा–'आखिर मंत्री ऐसा क्यों बोल रहे हैं?' इसी तरह मंत्री ने दूसरी और तीसरी बार भी सिपाही से वही बात दुहरायी; लेकिन सिपाही टस-से-मस नहीं हुआ। राजा ने समझा, शायद मंत्री का मस्तिष्क तो कहीं विकृत नहीं हो गया है। इसलिए उन्होंने शंकित स्वर में पूछा–'मंत्रीजी! आपके मस्तिष्क का संतुलन ठीक तो है?' मंत्री ने मुस्कुराते हुए कहा–'महाराज! यही आपके प्रश्न का उत्तर है। मैं आपके प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ। जिस तरह मैंने सिपाही को आदेश देकर अनधिकार चेष्टा की और उसका प्रभाव सिपाही पर कुछ भी नहीं पड़ा, उसी तरह जो अपने को योग्य नहीं बना लेते और उपदेश करते हैं, तो उनका प्रभाव लोगों पर अवश्य ही कुछ नहीं पड़ता। अस्तु!

अभी आपलोगों ने सद्ग्रंथों के पाठ में 'योग' के संबंध में सुना है। उसपर जो कुछ मैं कहूँगा और मेरे कहने का जो प्रभाव पड़ेगा, उससे कहीं विशेष प्रभाव पूज्यपाद गुरुदेव के उपदेश का पड़ेगा; किन्तु जबतक वे यहाँ (मंच पर) नहीं पधारे हैं, आपकी सामयिक सेवा करने की चेष्टा करूँगा। 'योग' के संबंध में आप पूर्व भी सुन चुके होंगे, सम्प्रति मैं केवल आपलोगों को स्मरण दिलाऊँगा। भगवान बुद्ध ने कहा है–'स्मरण के लिए नहीं दुहराना धब्बा है।' अतः कभी-कभी स्मरण दिलाना भी आवश्यक होता है और वह बड़ा कारगर भी होता है। हनुमानजी अपने बल को भूल गये थे। उनको बल की याद दिलायी गई और कहा गया–'राम काज हित तव अवतारा।' सुनने भर की देर थी, क्या हुआ? 'सुनतहिं भयेउ पर्वताकारा।' फिर तो 'पवन तनय बल पवन समाना।' की स्मृति हो आई और एक ही छलाँग में वे सागर पार कर लंका पर चढ़ बैठे।

कितने जन 'योग' के नाम से घबराते हैं–आतंकित होते हैं। वे समझते हैं, 'योग' साधु-संन्यासियों, गृहत्यागियों के लिए है–गृहस्थों के लिए नहीं। संत-महात्मागण कहते हैं–'योग' को समझो। 'योग' किसे कहते हैं? 'योग' का अर्थ है–जोड़ना। अपनी चित्तवृत्ति को ईश्वर में लगाओ–जोड़ो, यही 'योग' है। पारमार्थिक जीवन के लिए तो कहना ही क्या, हमारा जागतिक जीवन भी योग के बिना सार-शून्य होता है। विचारिये, यदि हमारा मनोयोग पत्नी, पुत्र, पति, प्रतिष्ठा अथवा पैसे में है, तो इनमें से किसी का वियोग हमारे लिए कैसा होता है; सुखदायक वा दुःखदायक?

एक सज्जन का अपनी पत्नी से मन इतना जुड़ा हुआ था कि उनसे विलग होना उनके लिए असह्य होता था। अतएव वे कभी उनका साथ छोड़ना नहीं चाहते थे। विधि का विधान ही कुछ और है। कौन जानता है–कल क्या होनेवाला है! पत्नी बीमार हुई। बीमारी बढ़ी और एकाएक वह इस दुनिया से चल बसी। अब तो उनके लिए ऐसा हुआ जैसे विपत्ति का पहाड़ ही उनके ऊपर टूट पड़ा। सतत चिन्तामग्न रहते। आँख खोलते तो कहते–देखो, मेरी पत्नी कमरे में घुस रही है, कभी कहते–देखो, पेड़ पर चढ़ रही है आदि।

और तो और, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम जब इस जगती तल पर नर-रूप में अवतीर्ण हुए, तो उन्होंने नर-लीला में पत्नी-वियोग का नग्न-नृत्य दिखलाया। वे विरही हो वन-वन भटकते हुए व्याकुल एवं अधीर हो–धैर्य खोकर पशु-पक्षियों से पूछते हैं–'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृग नैनी।' खैर, मेरे कहने का आशय है कि हम योग को पसंद करते हैं, वियोग को नहीं।

योग जीवन है और वियोग मृत्यु है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि शरीर में जबतक प्राण का योग है, तबतक यह जीवित है, वियोग होते ही यह मृतक

हो जाता है। योग मानव को नीरोग बनाता है और वियोग नाना रोग उत्पन्न करता है। जबतक परमात्मा से जीवात्मा का वियोग है, तबतक यह भव के नाना रोगों से आक्रान्त है। जब जीवात्मा का परमात्मा से योग हो जाय, तो वह सभी रोगों से मुक्त हो, परम शांत पद को प्राप्त कर ले। जबतक ईश से बिछुड़न है, तबतक दुःख है, क्लेश है–विपद् है। ईश से मिलन होते ही सभी दुःख विपद् और क्लेश निःशेष हो जाते हैं।

लोग 'योग' का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उनको ऐसा लगता है, जैसे योग हिंस्र जन्तु हो। लोग योग को भयावह समझ बैठे हैं; किन्तु बात वस्तुतः वैसी नहीं। योग दो प्रकार के होते हैं–एक हठयोग और दूसरा राजयोग। अवश्य ही, हठयोग सबके लिए साध्य नहीं–दुःसाध्य है; किन्तु राजयोग सर्वसाधारण के लिए सरल है और सुसाध्य है। इसके सभी समान अधिकारी हैं, चाहे वे गृहस्थ हों वा विरक्त।

आप जानते हैं, भगवान श्रीकृष्ण ने पार्थ अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश दिया, जिसमें अठारह अध्याय हैं और वे अष्टादश योग के नाम से अभिहित किये गये हैं। भगवान श्रीकृष्ण 'महायोगेश्वरो हरिः' थे और सद्गृहस्थ थे तथा अर्जुन भी गृहस्थ थे, न कि गृहत्यागी संन्यासी। गीता के छठे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने ध्यानयोग का उपदेश अर्जुन को दिया है–

समं काय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

अर्थात् शरीर, गर्दन और मस्तक को सम करके अचल और स्थिर होवे। पश्चात् किसी दिशा का अवलोकन नहीं करके नासिका के आगे देखे।

गीता में प्रयुक्त नासाग्र, नासिकाग्र, भ्रुवोर्मध्य, भृकुटी के बीच प्रभृति शब्दों के संबंध में विभिन्न प्रकार के भ्रामक विचार फैले हुए हैं। कोई नासिका के ऊपर भाग का संकेत करते हैं, तो कोई नीचे की ओर इंगित करते हैं और कोई दोनों भौओं के बीच का स्थान बताते हैं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी भूलभुलैया में भूले हुए हैं। कारण? विवेकीजन विचार सकते हैं कि जब भगवान का वचन है कि 'दिशश्चानवलोकयन्' अर्थात् दिशाओं को नहीं देखते हुए 'सम्प्रेक्ष्यनासिकाग्रं' नासिका के आगे अवलोकन करे, तब क्या होगा? दिशाओं को नहीं देखने के लिए आँखों को बंद करना होगा अथवा आँख खुली रहेगी? उन्मीलित नेत्र में दिशा अवश्य देखी जाएगी। अतएव निमीलित नेत्र का आदेश भगवान का है–यह सरलतापूर्वक समझा जाता है। दूसरी बात ज्ञातव्य यह है कि दिशाएँ दश हैं–उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम; वायव्य, ईशान, नैर्ऋत्य और अग्नि; अधः और ऊर्ध्व। नेत्र बंद करने पर यद्यपि स्वतः आठ दिशाएँ छूट जाती हैं, तथापि अधः और ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर और नीचे–ये दो दिशाएँ तो रह जाती हैं। अतएव यह ध्रुव निश्चित है कि चक्षु बंद करने के पश्चात् भी यदि नासिका के ऊपर अथवा नीचे किसी भी भाग पर देखा जाएगा, तो दिशा रहेगी ही और भगवान का कथन है कि दिशाओं को नहीं देखते हुए नासाग्र में देखो। इसमें एक और भी रहस्यमयी बात है कि मूल श्लोक में 'भाग' शब्द नहीं आया है। अतः अर्थ में 'भाग' शब्द को जोड़ना गीता-ज्ञान से अपनी अनभिज्ञता का परिचय देने के सिवा और क्या कहा जा सकता है? इसकी जानकारी किसी क्रियावान् शुद्धाचारी संत सद्गुरु से हो सकती है, मात्र पाण्डित्य से नहीं। इसी नासिकाग्र-ध्यान के संबंध में भक्तप्रवर सूरदासजी महाराज कहते हैं–

नयन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को वास।
अविनासी विनसै नहीं, हो सहज जोति परकास।।

और बाबा धरनीदासजी महाराज कहते हैं–

धरनी निर्मल नासिका, निरखो नैन के कोर ।
सहजै चन्दा ऊगिहैं, भवन होइ उजियोर ।।

गीता के इसी छठे अध्याय के चौवालीसवें श्लोक में भगवान ने शब्द-ब्रह्म की भी चर्चा की है; यथा–'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्माति वर्तते।' योगशिखोपनिषद् में शब्दब्रह्म की परिभाषा इस भाँति है–अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।' अर्थात् अनाशी परम नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं। नासिकाग्र-ध्यान की क्रिया को दृष्टि-योग और शब्द की उपासना को सुरत-शब्द-योग कहते हैं; किन्तु ये उभय परवर्ती योग हैं, इसकी पूर्ववर्ती क्रिया को मानस-योग कहते हैं।

इस प्रकार मानस-योग (मानस जप, मानस ध्यान), दृष्टियोग (शाम्भवी मुद्रा, वैष्णवी मुद्रा)

और सुरत-शब्द-योग (नादानुसंधान)। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण का अमोघ वाक्य है–

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।

अर्थात्–इस योग के आरम्भ का नाश नहीं होता, उलटा परिणाम नहीं मिलता, धर्म का थोड़ा-सा अभ्यास भी महाभय से बचाता है। इस सरल योग-साधना की दीक्षा सद्गुरु से प्राप्त करनी चाहिए और नित्य-नियमित रूप से अभ्यास कर अपने जीवन को कल्याणमय बनाना चाहिए। ❋

दिनांक–०३.०३.१९७० ई०, प्रातःकाल, दिल्ली

८.भक्त की भावना होती है ईश्वर-दर्शन की

आदरणीय गुरुजन, पुरजन, सज्जन, भ्रातृगण तथा भगिनीगण!

आपलोगों को समझाने के उद्देश्य से मैं यहाँ नहीं बैठा हूँ। मैंने सत्संग में क्या समझा, वही कहूँगा। अगर आपको मेरे कथन में सार जँचे, तो उसे ग्रहण करें, अन्यथा जिस ज्ञान को आप ग्रहण किये हैं, उसी पर प्रतिष्ठित रहें।

भक्त की भावना होती है ईश्वर-दर्शन की। वह चाहता है कि कब ईश्वर का साक्षात्कार हो। भक्त के मन में विह्वलता, आतुरता, व्याकुलता होती है। उसके लिए वह सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहता है। संतों ने अपनी वाणी में कहीं-कहीं जीव और पीव में पति-पत्नी का भाव भी दिखाया है अर्थात् जीवात्मा को पत्नी और परमात्मा को पति भाव में वर्णित किया है। सूफी मत में इससे थोड़ा भिन्न ही माना है। अर्थात् उसमें जीवात्मा को पति के रूप में और परमात्मा को पत्नी का रूप माना है। संत कबीर साहब पति-पत्नी के भाव में एक पद्य कहते हैं–

घूँघट का पट खोल रे, तोको पीव मिलेंगे।
घट घट में वह साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे।।
धन यौवन का गर्व न कीजै, झूठा पँच रंग चोल रे।
शून्य महल में दियना बारि ले, आसा से मत डोल रे।।
जोग जुगत सों रंग महल में, पिय पायो अनमोल रे।
कहै कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।।

हमारे देश की माताएँ घूँघट से अपने चेहरे को ढँकती हैं। घूँघट के कारण वह पति का दर्शन नहीं कर पाती हैं।

जीवात्मा-रूपी पत्नी के ऊपर शरीर का घूँघट लगा हुआ है। इसीलिए वह परमात्मा का दर्शन नहीं कर पाता है। श्रीरामचरितमानस में गो० तुलसीदासजी ने इसका एक सुन्दर रूपक खींचा है–

आगे राम लखन पुनि पाछे । मुनिवर भेष मनोहर काछे ।।
उभय बीच सिय सोहित कैसे । जीव ब्रह्म बीच माया जैसे ।।

इस चौपाई में लक्ष्मणजी को जीव-रूप में, भगवान राम को पीव-रूप में, सीता माता को माया के रूप में चित्रित किया है। लक्ष्मण-रूप जीवात्मा के आगे से सीता-रूपी माया का आवरण हट जाए, तो उसे राम-रूप परमात्मा का दर्शन हो जाय। यह मायिक जड़ आवरण चार रूपों में है और वे हैं–स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण। इन्हीं आवरणों को गो० तुलसीदासजी महाराज ने विविध यवनिका कहकर वर्णित किया है; यथा–

माया बस मतिमन्द अभागी।
हृदय यवनिका बहु विधि लागी।।

गो० तुलसीदासजी कहते हैं कि जीव के ऊपर बहुत तरह के परदे पड़े हुए हैं। उन आवरणों का स्पष्टीकरण संत दादू दयालजी महाराज ने बहुत अच्छे ढंग से किया है। उन्होंने चार जड़ावरणों के साथ एक चेतन चोला भी जोड़ दिया है, जिससे पाँच आवरण हो जाते हैं। ये पाँच आवरण पाँच शरीर हैं–स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य।

नीके राम कहतु है बपुरा।
घर माहैं घर निर्मल राखे, पंचौं धोवै काया कपरा।।

संत दादू दयालजी महाराज कहते हैं–हे लोगो! राम-राम कहते हो, बहुत अच्छा करते हो; लेकिन राम-राम कहने की कला जानो और वह कला है–घर में घर को पवित्र रखो, काया–शरीर-रूप पाँचो कपड़ों को धो डालो। एक बड़ी अच्छी मधुर कथा है–एक साधु थे। वे भिक्षाटन किया करते थे। मुँह से टेर लगाते थे–'राम-राम करै, भव सागर तरै।' यह

आवाज एक सुग्गे ने सुनी, जो एक सद्‌गृहस्थ के दरवाजे पर लोहे के पिंजड़े में बंद था। उस सुग्गे ने महात्माजी से कहा–'महाराज! आप क्या बोल रहे हैं?' साधुजी ने कहा–'राम-राम करै, भव सागर तरै।' तोते ने कहा–'आपकी बात सही नहीं है। सही तो यही है कि 'राम-राम करै, लौह पिंजर पड़े। देखिये न! मैं राम-राम करता हूँ, तो लोहे के पिंजड़े में पड़ा हूँ और जो सुग्गा राम-राम नहीं करता है, वह स्वतंत्र होकर विचरण करता है।' साधु ने कहा–'नहीं जी! जुगती करै, तो सहजै तरै। तुम राम-राम तो कहते हो; किन्तु बिना युक्ति के कहते हो। इसलिए राम-राम कहने का ढंग जानो।' सुग्गे ने कहा–'महाराज! कृपा करके मुझे आप वह युक्ति बताएँ, जिससे मैं लौह-पिंजर के बंधन से छूट सकूँ।' महात्माजी ने प्राण-स्पन्दन-निरोध की युक्ति बता दी और कहा–देखो! जब तुम्हारा प्राण दीर्घकाल तक रुकने लगे, तब तुम मालिक के सामने भी वैसा ही करना। मालिक तुम्हें मरा हुआ समझकर बाहर फेंक देंगे और तुम उड़ जाना। सुग्गे ने महात्माजी की बताई हुई युक्ति से आरम्भ किया। जब वह उसमें निष्णात हो गया, तब एक दिन उसने मालिक के आने पर अपने को मृतकवत् बना लिया। मालिक ने समझा, सुग्गा मर चुका है। इसलिए उसे पिंजड़े से बाहर फेंक दिया। सुग्गा उड़कर भाग गया। गुरु गोरखनाथजी ने कहा है–

सप्त धातु का काया प्यंजरा, ता माहिं जुगति बिन सूवा।
सतगुरु मिलै तो ऊबरै बाबू, नहीं तो परलै हूआ।।

संत दादू दयालजी महाराज ने कहा है–एक ही शरीर नहीं है। जीवात्मा पाँच शरीरों में बँधा हुआ है। संत राधास्वामीजी महाराज ने इन शरीरों के अतिरिक्त और भी बंधन गिनाये हैं–

बँधे तुम गाढ़े बन्धन आन।।
पहला बन्धन पड़ा देह का, दूसर तिरिया जान।
तीजा बन्धन पुत्र विचारो, चौथा नाती मान।।
नाती के कहीं नाती हो गये, तब कहो कौन ठिकान।
धन सम्पत और हाट हवेली, यह बन्धन क्या करूँ बखान।।
चौलड़ पँचलड़ सतलड़ रसरी, बाँध लियो तोहि बहुविधि तान।
कैसे छूटन होय तुम्हारा, क्या कहूँ अजब सुजान।।

पुरुष-पुरुष में वार्तालाप होने के कारण राधा स्वामी साहब ने 'दूजा बन्धन तिरिया जान' कहा; किन्तु कहीं मीराबाई और सहजोबाई यानी भक्तिन-भक्तिन में इसकी चर्चा हुई होती, तो वे स्पष्ट कहतीं–'पहला बन्धन पड़ा देह का, दूसरा बन्धन पुरुषा जान।' वस्तुतः जिस भाँति पुरुष के लिए स्त्री बन्धन है, वैसे ही स्त्री के लिए पुरुष भी बंधन है। संत पलटू साहब कहते हैं–

यार फकीर तू पड़ा किस ख्याल में, पाँच पचीस संग तीस नारी।
एक तू छोड़िया तीस तेरे संग में, होय अस ज्ञान से नर्क भारी।।
तीस के कारने भीख तू माँगता, एक ने कवन तकसीर पारी।
दास पलटू कहै खेल यह ना बदो, जब छूटै तीस तब छोड़ प्यारी।।

तीस को छोड़ो तो एक स्वयं छूट जाएगी। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण आदि का आवरण जीव पर उसी तरह है, जिस तरह केले के वृक्ष में होता है। केला बाहर से देखने में एक ही मालूम पड़ता है; लेकिन जब उसके तने पर से परत उघारी जाती है, तो कई एक परतें निकालने पर तब केले का मध्य स्तम्भ निकलता है, जिसमें फल लगता है। यथार्थ तो यह है कि बन्धन और मोक्ष उभय का कारण अपना मन ही है–'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।'

आवरण से मुक्त होने के लिए ध्यान-साधना की सरल क्रिया संत सद्‌गुरु से जानना अत्यंत अपेक्षित है। संत कबीर साहब ने अपनी वाणी में घूँघट-पट यानी आवरण हटाने के लिए शून्य महल में दियना जलाने की आज्ञा दी है। यह वही बात है कि जो भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धवजी से श्रीमद्‌भागवत के द्वादश स्कन्ध में कही है। श्रीउद्धवजी ने भगवान श्रीकृष्ण से पूछा है–

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम्।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि।।

हे कमलनयन! अब आप मुझे यह बतलाइये कि मुमुक्षु पुरुष को आपका ध्यान किस प्रकार, किस रूप में और किस भाव से करना चाहिए।

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्संग आधाय स्वनासाग्र कृतेक्षणः।।

श्रीभगवान बोले–हे उद्धव! सुखपूर्वक सम आसन से शरीर को सीधा रखकर बैठे। हाथों को तर-ऊपर गोद में रखे और दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में स्थिर करे।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः।।

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि मन के द्वारा

इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर उस मन को बुद्धिरूपी सारथी की सहायता से सर्वांगयुक्त मुझमें ही लगा दे।

तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्।।

सब ओर से फैले हुए चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करें और फिर अन्य अंगों का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुस्कान-युक्त मुख का ही ध्यान करे।

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।

मुखारविन्द में चित्त के स्थिर हो जाने पर उसे वहाँ से हटाकर आकाश में स्थिर करें, तदनन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो कुछ भी चिन्तन न करे।

संत कबीर साहब ने 'दियना जलाने' अर्थात् प्रकाश पाने के पश्चात् अनहद ढोल की भी चर्चा की है। ये प्रकाश और शब्द सर्वेश्वर के दोनों हाथों के तुल्य हैं, जिनके सहारे साधक सर्वेश्वर की गोद में पहुँचता है। जैसे पिता अपने पुत्र को दोनों हाथों से अपनी गोद में उठा ले, वैसे ही परमात्मा अन्तर्ज्योति और अन्तर्नाद का अवलम्ब देकर साधक को अपने में मिला लेता है।

ध्यान-साधना-द्वारा विषय से निर्विषय की ओर गमन होगा। निर्विषय तत्त्व परमात्मा है, जिसकी प्रत्यक्षता में सभी विषय छूटते हैं—बन्धन टूटते हैं तथा आवरण फूटते हैं। प्रथम स्थूल सगुण रूप उपासना, फिर सूक्ष्म सगुण रूप उपासना, पश्चात् अरूप सगुण उपासना और अंत में निर्गुण निराकार की उपासना होती है। उपासना की यहाँ समाप्ति है और काम भी समाप्त है। ❁

दिनांक—०३.०३.१९७० ई०, रात्रिकाल, दिल्ली

२९. भगवान के दरबार में भक्त और भक्ति का चमत्कार

परम प्रभु परमात्मा स्वरूपतः अनंत है। उनके नाम और गुण अनंत हैं। उनके अनेक नामों में ॐ सर्वादि नाम है। परम प्रभु वदन-विहीन होने के कारण वचनहीन है अवश्य; फिर भी यदि कहा जाए कि उनकी एक वाणी है और वह 'ॐ' है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि सृष्टि के शुभारंभ में सर्वेश्वर से अत्याश्चर्यजनक अलौकिक एक ध्वन्यात्मक ध्वनि प्रस्फुटित हुई, जिसको ऋषियों ने विशेष कारणों से 'ॐ' में आरोपित किया।

इस नाम को अत्यन्त पावन मानकर इतना गोपित रखा गया है कि इसके वाचक वर्णात्मक नाम को भी द्विजातियों के अतिरिक्त अन्य किन्हीं को जपने का अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि उन द्विजातियों की स्त्री-जाति पर भी यह संविधान लागू था। यद्यपि प्रकृत 'ॐ' वाणी का विषय नहीं होने के कारण किन्हीं के भी जपयोग के योग्य कदापि हो नहीं सकता, फिर भी उस अनिर्वचनीय प्रकृत 'ॐ' के वर्णात्मक वाचक 'ॐ' के जप से इतर जन की वैचारिक संकीर्णता के कारण वंचित रखा गया था। वस्तुतः एक जमाना था, जबकि 'स्त्रीशूद्र द्विज बन्धूनां त्रयी न श्रुति गोचराः' की ध्वनि चतुर्दिक मुखरित थी।

विश्व उपकारहित व्यग्रचित्त संत ने विश्व के व्यथित मानव की मूक वाणी सुनी और अन्यों के संकीर्ण हृदय की शृंखला को निःशेष कर सबको समान रूप से 'ॐ' के वर्णात्मक नाम का जप और उसकी ध्वन्यात्मक स्वरूप के ध्यान की स्वतंत्रता प्रदान की। यथा गुरु नानकदेवजी ने '१ॐ सतनाम...' का मंत्र दिया और उदारतापूर्वक आदेश दिया।

चहुँ बरना को दे उपदेश।
तिसु पंडित को सदा अदेश ॥

तथा,

जाति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

संतों ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की, 'मानव मात्र सर्वेश्वर की संतान होने के नाते ईश-भजन के सभी अधिकारी हैं और उनके पावन नाम के सभी पूजारी समान हैं।' ये तो भक्त के जोश भरे वाक्य आपने सुना, अब भगवान के उद्घोष सुनें—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

अर्थात् हे पार्थ! मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र अथवा अन्त्यज आदि जो पाप योनि हों, वे भी परम गति पाते हैं।

जहाँ भक्त और भगवान के वचन में ऐक्य है अर्थात् जहाँ संत और भगवन्त के वाक्य में पार्थक्य नहीं, वहाँ उभय भगवान के ज्ञान में कोई असमंजस नहीं, सामंजस्य ही सामंजस्य है। अतएव जहाँ मुरली-धर श्याम की वाणी आपने सुनी, वहाँ धनुर्धर राम की वाणी भी सुनें। रामचरितमानस के अरण्यकांड में परम भक्तिन शबरी (श्रमणी) से वे क्या कहते हैं?

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई।
भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल वारिद देखिय जैसा॥

तथा,

भगति वन्त अति नीचहु प्रानी।
मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥
'भगति हीन विरंचि किन होई।'
पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥

यथार्थ बात तो यह है कि 'जिसकी बुद्धि सम हो जावे, वही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह सुनार हो, बढ़ई हो, बनिया हो या कसाई; किसी मनुष्य की योग्यता उसके धंधे पर, व्यवसाय पर, जाति पर अवलंबित नहीं; किन्तु सर्वथा उसके अंतःकरण की शुद्धता पर अवलंबित होती है और यही भगवान का अभिप्राय भी है। (गीता-रहस्य, भक्तिमार्ग)

भगवान की दृष्टि में स्त्री हो वा पुरुष, वैश्य हो या वेश्या, ब्राह्मण हो वा शूद्र, भक्त होने के नाते सभी समान हैं। साधु तुकाराम जी के विचार कितने स्पष्ट निखरे हैं। निम्नलिखित वाणी से समझिए—

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईश को
वेश्या भी भज सकती है।
श्वपचों को भी भक्ति भाव में,
शुचिता कब तज सकती है।
अनुभव से कहता हूँ मैंने, उसे कर लिया है वश में।
जो चाहे सो पिये प्रेम से, अमृत भरा है इस रस में॥

उक्त पद में 'वेश्या' शब्द (जो साधु तुकाराम के इस वचन के आधार से रखा गया है) को देखकर पवित्रता का ढोंग करनेवाले बहुतेरे विद्वानों को निश्चित बुरा लगे; परन्तु सच तो यह है कि ऐसे लोगों को सच्चा धर्म तत्त्व मालूम ही नहीं। न विश्व-हिन्दूधर्म में, किन्तु बुद्ध धर्म में भी यही सिद्धांत स्वीकार किया गया है। (मिलिन्द, प्रश्न ३.७.२) उनके धर्मग्रंथों में ऐसी कथाएँ हैं कि बुद्ध ने आम्रपाली नामक किसी वेश्या को और अंगुलिमाल नामक डाकू को दीक्षा दी थी। ईसाइयों के धर्मग्रंथ में भी यह वर्णन है कि क्राइस्ट के साथ जो दो चोर शूली पर लटकाये गये थे, उनमें से एक चोर मृत्यु के समय क्राइस्ट की शरण में गया और क्राइस्ट ने उसे सद्गति दी। (ल्यूक २३, ४२, और ४३) स्वयं क्राइस्ट ने भी एक स्थान में कहा है कि हमारे धर्म में श्रद्धा रखनेवाली वेश्याएँ भी मुक्त हो जाती हैं। (मेथ्यू २१, ३१; ल्यूक ७.५०)

संत और भगवन्त की परंपरा में सदा से यही परिपाटी चली आ रही है कि पतितों को पावन करना उनका विरद है। 'तुम्हारो विरद गुरु हैं पतितन को तारन।' और इस पावन विरद के रक्षार्थ स्वयं महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने भी कई वर्ष पूर्व एक वेश्या को दीक्षा देकर उसका उद्धार किया।

इस प्रकार ऐतिहासिक और पौराणिक कथाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि भागवत धर्म में—भगवदीय स्थिति में जाति-पाँति की उच्चता वा निम्नता पर भक्ति आधारित नहीं। 'भक्ति' गणिका जैसी पतिता को पावन करती है और रत्नाकर जैसे घोर दुराचारी को भी सदाचारी बना ब्रह्मवत् बना देती है। कहा नहीं जाता—यह भक्ति की महिमा वा भक्त अथवा भगवन्त की? महायोगेश्वरो हरिः भगवान श्रीकृष्ण के आदेशानुसार काशी के वाल्मीकि नामक श्वपच का पूजन राजा युधिष्ठिर करते हैं, अपने निवास-निकेत में यज्ञ-पूर्णता के हेतु। कहना नहीं होगा, भक्त प्रवर श्वपच ने महाराजा युधिष्ठिर की प्रतिष्ठा—पानी रख ली, अन्यथा यज्ञ की अपूर्णता के कारण वे बेपानी हो गये होते।

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण महाराजा दुर्योधन का आतिथ्य स्वीकार नहीं कर शूद्राणी विदुरानी के निकेतन अनामंत्रित मेहमान बनते हैं। त्रेता युग में भगवान श्रीराम ने अन्त्यज शबरी के गृह खान-पान कर भक्ति की आन और भक्तिन की शान रखी। भला, ऐसा क्यों न हो, मर्यादा पुरुषोत्तम ही तो थे; फिर उनके

समक्ष मर्यादा-उल्लंघन का प्रश्न ही कहाँ उठता? इसी को लक्ष्य कर संत पलटू साहब ने कहा है—

साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार ॥
केवल भक्ति पियार, साहिब भक्ती में राजी।
तजा सकल पकवान, लिया दासीसुत भाजी ॥
जप तप नेम अचार, करे बहुतेरा कोई।
खाये सबरी के बेर, मुए सब रिषि मुनि रोई ॥
किया युधिष्ठिर यज्ञ, बटोरा सकल समाजा।
मरदा सबका मान, श्वपच बिन घंट न बाजा ॥
पलटू ऊँची जाति का, जनि कोइ करै हंकार।
साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार ॥

निम्न कुलोद्भव कबीर साहब, रविदासजी, दादू दयालजी भक्ति की भागीरथी में अवगाहन कर स्वयं निर्मल संत हुए और अनन्त जीवों को निर्मल बना अनंतस्वरूपी के मार्ग-दर्शन दिये। यह क्या है? भक्ति की ही तो महिमा है। दासीसुत का देवर्षि होना, घट योनि का श्रेष्ठ मुनि होना और वाल्मीकि का ब्रह्म होना, भ्रम नहीं सत्य है। और सत्य का साक्षात्कार करा देना भक्ति का चमत्कार है।

इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यात्म शास्त्र को यह सिद्धांत निर्विवाद स्वीकृत है कि कोई बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह अनन्य भाव से भगवद्भजन करता है, तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिए; क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है। वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति पाता है। भगवान श्रीकृष्ण का यह महावाक्य है—हे अर्जुन! तू खूब समझे रह कि मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता। गीता अध्याय ९ में है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

तीसवें श्लोक का भावार्थ ऐसा न समझना चाहिए कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हों, तो भी वे भगवत् के प्यारे ही रहते हैं। भगवान इतना ही कहते हैं कि पहले कोई मनुष्य दुराचारी भी रहा हो; परन्तु जब एक बार उसकी बुद्धि का निश्चय परमेश्वर का भजन करने में हो जाता है, तब उसके हाथ से फिर कोई भी दुष्कर्म नहीं हो सकता। और वह धीरे-धीरे धर्मात्मा होकर सिद्धि पाता है तथा इसी सिद्धि से उसके पाप का बिल्कुल नाश हो जाता है। (लो.मा. तिलक) भक्ति बीज अर्थात् योगारम्भ-रूप संस्कार की अविनश्वरता के संबंध में पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के विचार ये हैं—"योगारम्भ रूप संस्कार जबसे अभ्यासी के अंदर बीज रूप में पड़ जाता है, तबसे वह उसके साथ तबतक वर्तमान रहता है, जबतक अभ्यासी को मोक्ष और परम शान्ति न मिल जाए।" संत कबीर साहब ने भी कहा है—

भक्ति बीज बिनसै नहीं, जो जुग जाय अनन्त।
ऊँच नीच घर जन्म ले, तऊ संत को सन्त ॥
भक्ति बीज पलटै नहीं, आय पड़ै जो चोल।
कंचन जौं बिष्ठा पड़ै, घटै न ताको मोल ॥

और श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण की यह अमरवाणी है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

अर्थात् इस योग मार्ग में (एकबार) आरंभ किये हुए कर्म का नाश नहीं होता और (आगे) विघ्न भी नहीं होते। इस धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण बड़े महाभय से संरक्षण करता है।

तात्पर्य यह कि 'आत्मा अमर होने के कारण इसपर लिंग शरीर द्वारा इस जन्म में जो थोड़े-बहुत संस्कार होते हैं, वे आगे भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं। तबतक यह 'योगभ्रष्ट पुरुष अर्थात् कर्मयोग को पूरा न करने के कारण उससे भ्रष्ट होनेवाला पुरुष अगले जन्म में अपना प्रयत्न वहीं से शुरू करता है, जहाँ से उसका अभ्यास छूट गया था और ऐसा होते-होते 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६/४५)—अनेक जन्मों में पूर्ण सिद्धि हो जाते हैं एवं अंत में उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस सिद्धांत को लक्ष्य करके दूसरे अध्याय में कहा गया है कि 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इस धर्म का स्वल्प आचरण भी बड़े-बड़े कष्टों से बचा देता है। जितना आज हो सके, उतने ही योगबल को प्राप्त करके योग का आचरण शुरू कर देना चाहिए। इससे धीरे-धीरे बुद्धि अधिकाधिक सात्त्विक तथा शुद्ध होती जाएगी और योग का यह स्वल्पाचरण ही जिज्ञासा तक रहँट में लगे हुए मनुष्य की तरह आगे ढकेलते-ढकेलते अंत में आज नहीं तो कल, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में उसकी आत्मा को पूर्ण ब्रह्म

प्राप्ति करा देगा। इसीलिए भगवान ने गीता में साफ कहा है कि योग में एक विशेष गुण यह है कि उसका स्वल्प आचरण कभी व्यर्थ नहीं जाने पाता।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सु दुर्लभः।।

जब कोई मनुष्य एक बार भक्तिमार्ग से चलने लगता है, तब इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, अगले जन्म में नहीं तो उसके आगे जन्म में, कभी-न-कभी उसको परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा यथार्थ ज्ञान हो जाता है कि 'यह सब वासुदेवात्मक ही है' इस ज्ञान से अंत में उसे मुक्ति भी मिल जाती है।

(शान्ति-सन्देश, अप्रैल, १९७० ई०)

३०. संत विकार के शिकार नहीं

यह घटना पटना की नहीं, पूर्णियाँ की है। पूर्णियाँ की भी पुरानी नहीं, बिल्कुल नई है। तीन मई का दिन था। सन् उन्नीस सौ उनहत्तर नहीं, सत्तर ईसवी थी। रविवार के प्रातः रवि के उदय का काल था। स्थानीय संतमत-सत्संग मंदिर में सुजन समाज के साथ एक योगिराज विराज रहे थे। प्रशान्त महासागर की भाँति शांत, किन्तु प्रसन्न मुद्रा में। उनकी दिव्य-मूर्त्ति, चौड़े ललाट, उन्नत भाल, रेशम के-से मश्न, मुलायम एवं धवल लम्बे बाल, गौरवर्ण तन पर गैरिक वस्त्र लाल प्रभृति प्राचीन काल के ऋषि की स्मृति दिला रहे थे।

उन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के वर्तमान आचार्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के समक्ष बिहार राज्य के मुख्य आमात्य* (माननीय श्रीदारोगा प्रसाद रायजी महोदय) अपनी भद्र जमात के साथ अध्यात्म-प्रीति-प्रतीति से प्रेरित हो वहाँ उपनीत हुए और विनम्र अभिवादन कर एक ओर बैठ गए।

वह अरुणोदय काल प्रार्थना-सभा के शुभारम्भ का था। सत्संग-प्रेमीजन कुछ आ चुके थे और अन्य आ रहे थे। उस प्रातः वेला में प्रातःस्मरणीय पूज्य आचार्य गुरुदेव के सहित सबने सामूहिक ईशादिक स्तुति की। तत्पश्चात् ऋषिजी महाराज का प्रवचन हुआ। जिसका सार था—'ईश्वर एक है। वह स्वरूपतः अनन्त है। अगोचर है अर्थात् इन्द्रियातीत है। इन्द्रिय ज्ञान में रहनेवाला उसके स्वरूप-ज्ञान से सदा अनजान रहता है। शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से ऊपर उठकर जड़विहीन होकर—अकेली रहकर चेतन आत्मा उस एक को पा सकती है। तात्पर्य यह कि निजस्वरूप में स्थित होने पर ही परमात्मस्वरूप का प्रत्यक्षीकरण होगा। सापेक्ष पद के परे होने पर ही अपरोक्ष ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं। इसके लिए साधक का संयममय पवित्र जीवन का होना अपरिहार्य है।'

अंत में, बाल सूर्य के उदय काल के बाद संत शिशु-सूर्य ने उन बाबू की ओर इंगित करते हुए परम पूज्य परमहंसजी से पाणिबद्ध प्रार्थना कर निवेदन किया—महाराज! इनका कथन है कि 'मनोविकार का दमन होता है, शमन नहीं। अवश्य ही साधना के माध्यम से कोई साधक अपने विकारों को अधिक मात्रा में दमन कर पाते हैं और कोई कम मात्रा में, किन्तु उसका समूल नष्ट नहीं किया जा सकता, वस्तुतः नाश होता नहीं।' यदि इस पर कुछ प्रकाश डाला जाता तो महती कृपा होती।

परमपूज्य महर्षिजी ने कहा—'वेदान्त शास्त्र में श्रवणादिक चार प्रकार के ज्ञान का वर्णन है। यावत्पर्यन्त साधक श्रवण और मनन ज्ञान में रहता है, तावत्पर्यन्त वह विकारों को विचारों-द्वारा दमन करता है और जब निदिध्यासन-द्वारा मनोलय की अवस्था प्राप्त कर पाता है, तब वह विकार का शिकार नहीं होता। क्योंकि मन के कारण ही विकार उत्पन्न होते हैं और जब मन की स्थिति ही नहीं, तब फिर उसके विकार का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है? अर्थात् मन के विलय में विकारों का क्षय होता है।'

पुनः बिहार के उन परम पूज्य परमहंसजी ने बंगाल के प्रसिद्ध परमहंसजी की चर्चा करते हुए कहा कि उनके पास भी एक सज्जन ने ऐसी ही शंका की थी कि 'महात्मन्! साधु-महात्माओं में भी यदा-कदा मनोविकार के दर्शन होते हैं।' इसके उत्तर में श्रीपरमहंसदेवजी ने कहा था—'रस्सी से गठरी बाँधते

हो, किन्तु जब वह रस्सी जल जाती है, तब फिर उससे गठरी नहीं बँध सकती। यद्यपि देखने में वह पूर्ववत् रस्सी-जैसी ही लगती है, तथापि उसका स्पर्श करके देखो, उसमें कोई जान नहीं रह जाती। इसी तरह साधु-महात्माओं में क्रोधादिक विकार देखे जाते हैं, किन्तु वह बन्धन कारक नहीं होता।'

वस्तुतः अन्तरसाधना करते-करते विषयानुरक्ति छूटती है। विषयों से विरक्ति होने पर इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं रह जाती, जिससे वह साधक को आपत्ति में डाल सके। वरं साधक साधना करके ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता है।

भजन में होत आनन्द आनन्द ।
वरसत विशद अमी के बादर, भींजत हैं कोइ संत ।।
अगर वास जहँ तत की नदिया, मानो धारा गंग ।
कर स्नान मगन होइ बैठो, चढ़त शब्द को रंग ।।
(कबीर साहब)

उस ब्रह्मरस प्राप्त साधक के लिए विषय-रस विष-रस-सम हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी इसके साक्षी हैं। वे कहते हैं–

ब्रह्मपियूष मधुर शीतल जो पै मन सो रस पावै ।
तौ कत मृग जल-रूप विषय कारण निशिवासर धावै ।।

संत चरणदासजी अन्यों का साक्ष्य देना पसन्द नहीं करते और न कोरी कल्पना की बातें करते, बल्कि वे अपने साधनानुभव की बातों को दृढ़तापूर्वक कहते हैं–

जबसे अनहद घोर सुनी ।
इन्द्रिय थकित गलित मन हूआ, आशा सकल भुनी ।।
घूमत नैन शिथिल भइ काया, अमल जो सुरत सनी ।
रोम-रोम आनन्द उपज करि, आलस सहज भनी ।।
मतवारे ज्यों शब्द समाये, अंतर भींज कनी ।
करम भरम के बन्धन छूटे, दूविधा विपति हनी ।।
आपा विसरि जक्त कूँ विसरो, कित रहि पाँच जनी ।
लोक भोग सुधि रही न कोई, भूले ज्ञानि गुनी ।।
हो तहँ लीन चरण ही दासा, कहैं शुकदेव मुनी ।
ऐसा ध्यान भाग सूँ पैये, चढ़ि रहै शिखर अनी ।।

अर्थात् आन्तरिक अनहद नाद-श्रवण करने पर इन्द्रियाँ थक गईं, मन गल गया और सकल आशाएँ जल गईं। अन्तर्दृष्टि होने पर निर्मल शब्द में सुरत सन गई और शरीर शिथिल पड़ गया। रोम-रोम से आनन्द की लहरियाँ उद्भूत होने लगीं और आलस्य सहज ही भस्मीभूत हो गया। अपनपौ की स्मृति मिटी, जागतिक विस्मृति हुई, फिर बेचारी पाँच जनी–(पंच ज्ञानेन्द्रियों) का क्या ठिकाना कि वे कहाँ रहीं? परिणाम-स्वरूप किसी भी भाँति की लौकिक भोग-वासना नहीं रह गई–समाप्त हो गई।

एक बंगदेशीय महात्मा की अनुभूति उपर्युक्त संत की वाणी से कितनी मिलती-जुलती और कितना साम्य है, अनुशीलन करके देखें।

आनन्दे आनन्द बाड़े प्रतिक्षण, दशेन्द्रिय थाके शून्ये ते बन्धन ।
रिपुचय पराजय सकलि आनन्दमय,
अनुभव मात्र रय, आर सब पाय लय,
जेमन जीवने जीवन थाके ना ।

अनुभव ज्ञान के उद्भव में यानी साधना की सुनिष्पन्न अवस्था में षट्रिपुओं की खटपट मिट जाती है। दुष्ट की दुष्टता शिष्टता में परिणत हो जाती है। परतत्त्व-दर्शन के पश्चात् परेशान करनेवाली कोई परिस्थिति रह नहीं जाती। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता अ० २/५९ में स्पष्ट कहा है–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।

अर्थात् निराहारी प्राणी के विषयों से हटाव होने पर भी उनका रस और चाह नहीं छूटती। ये तो परब्रह्म परमात्मा के दर्शन से ही छूटते हैं।

दूसरी बात यह है कि मन की उत्पत्ति का स्थान जड़ात्मिका मूल प्रकृति होने के कारण उसके आगे उसकी गति हो नहीं सकती। संत दरिया साहब (मारवाड़ी) ने बताया है कि मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों की दौड़ त्रिकुटी तक है।

मन बुधि चित हंकार की,है त्रिकुटी लग दौड़।
जन दरिया इनके परे, ब्रह्म सुरत की ठौर।।

मन बुधि चित्त हंकार ये, रहैं अपनी हद माहिं ।
आगे पूरण ब्रह्म है, सो इनकी गम नाहिं ।।

और संत तुलसी साहब (हाथरस) कहते हैं–

सहस कमल दल पार में, मन बुद्धि हेराना हो ।
प्राण पुरुष आगे चले, सोइ करत बखाना हो ।।

अतएव यह स्वयं सिद्ध है कि साधना के द्वारा साधक जब त्रिकुटी का अतिक्रमण कर जाता है, तब मन के विकार उसके बाधक नहीं हो सकते। क्योंकि जहाँ मन का अस्तित्व नहीं, वहाँ उसके विकार की चर्चा शशकश्रृंगवत् ही होगी।

संतों के विचार में त्रिकुटी ज्योतिःपुंज का स्थान है, जहाँ से मन आगे प्रस्थान नहीं कर सकता। वहाँ पहुँचने पर मन के समस्त विकार और सभी कुत्सित विचार स्वतः क्षार हो जाते हैं। जैसे सहस्त्रों मन ईंधन को अग्नि-कण क्षणभर में भस्मीभूत करता है, वैसे ही ब्रह्म-प्रकाश विकारों का नाश करता है। इस संबंध में गो० तुलसीदासजी महाराज के विचार कितने स्पष्ट निखरे हैं, पठनीय हैं। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में है–

जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा।।
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका।।
जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी।।
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने।।
विविध कर्म गुण काल सुभाउ। ये चकोर सुख लहहिं न काउ।।
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।।
धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ये पंकज बिकसे विधि नाना।।
सुख संतोष विराग विवेका। विगत सोक ये कोक अनेका।।
यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।
पिछले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास।।

गोस्वामी तुलसीदासजी के उपर्युक्त विषय पर महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की टिप्पणी इस भाँति है–"यह राम-प्रताप-रूप सूर्य त्रिकुटी महल में विराजित ओ३म् ब्रह्म का स्वरूप है। त्रिकुटी महल में विद्या सारा, घनहर गरजै बजै नगारा। लाल वरन सूरज उजियारा, चत्र कँवल मँझार सब्द ओंकारा' है।।" (कबीर साहब)

भक्तियोग के सच्चे साधकों को अपने हृदय में यह तब दरसता है, जब वे रामचरितमानस में वर्णित नवधा भक्ति में छठी भक्ति का साधन पूर्णरूप से कर लेते हैं। यह सूर्य हिमकरयुक्त है। इसी (सूर्य) को रामचरितमानस के बालकाण्ड में 'कृसानु-भानु-हिमकर' कहा गया है। उपर्युक्त चौपाई में वर्णित अज्ञान, पाप, काम और क्रोधादिक ताप मनुष्य के हृदय को दग्ध करते हैं, परन्तु साधन में लवलीन भक्त अपने हृदय में त्रिकुटी महल पर चढ़कर ऊपर कथित सूर्य का दर्शन पाते हैं और इससे ऊपर वर्णित विकारों का ताप उनके हृदय से दूर हो जाता है। फलस्वरूप हृदय शीतल एवं शान्त हो जाता है और उसमें ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, विराग और विवेक बढ़ जाता है।

जैसे उल्लू पक्षी को आकाश में उदित सूर्य नहीं दरसता है, उसी तरह छठी भक्ति के साधन से हीन भक्त को वर्णित 'राम प्रताप प्रबल दिनेश' अपने अन्तर में नहीं दरसता है। इसीलिए उसके हृदय के विकार दूर नहीं होते और न उसमें ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, विराग और विवेक आते हैं।

'राम प्रबल प्रताप दिनेश' के प्रसंग को पढ़कर यह समझ लेना बड़ी भूल होगी कि यह सूर्य त्रेतायुग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के अवधेश रहने के समय में उदित था और अब अस्त हो गया है। वास्तव में यह सूर्य सर्वदा सबके हृदय-रूपी आकाश में (बाहरी आकाश में नहीं) उदित है, पर उल्लू पक्षीरूप अनधिकारी को अपने अन्तर में नहीं दरसता है।

घूघर अंधे भेष टेक अभिमान में,
सूझै न सबमें ब्रह्म धुन्ध अज्ञान में।
घूघर नेत्र खुलैं सुनो भाइ साध है।
देखै तन बिच भान सो ब्रह्म अगाध है।
जो दुपहैर गगन रवि छाई।
तासे उजास भया घट माहीं।।
(तुलसी साहब)

'यह प्रताप रवि जाके, उर, जब करइ प्रकास' का अर्थ यह नहीं होता है कि किसी एक ही युग वा युग-भाग में वह सूर्य उगा था; परन्तु यह अर्थ होता है कि यह सूर्य जिसके हृदय में प्रकाश जब करेगा, तब वह अपने अंतर में दर्शन पावेगा। मैत्रय्युपनिषद् का यह मंत्र भी इसी विषय को उत्कृष्ट करता है–

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति।
नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे।। १४।।

अर्थात्–हृदय-आकाश में चैतन्य-रूप सूर्य बराबर उगा रहता है, न कभी अस्त होता है और न कभी उदय लेता है; संध्या कैसे करूँ ?

और संतों ने की वाणियों में तो इसकी भरपूर चर्चा मिलती ही है। यथा–

यहि घट चंदा यहि घट सूर।
यहि घट बाजै अनहद तूर।
यहि घट बाजै तबल निसान।
बहिरा शब्द सुनै नहीं कान।
(कबीर साहब)

पंच ततु मिलि अहिनिसि दीपकु निरमल जोति अपारी।
रवि ससि लउके इहु तनु किंगुरी बाजै सबदु निरारी।।

निरमल जोत जरत घट माहीं,
देखत दृष्टि दोष सभ छीजै ।
(तुलसी साहब)

ऐसे योगी ज्ञानी भक्त के चित्तमल समूल नष्ट हो जाते हैं। उनके समक्ष कभी भी ऐसी परिस्थिति की उपस्थिति नहीं हो सकती, जिस कारण वे विकार के शिकार हो सकें।

(महामहिम महर्षिजी महाराज के मर्ममय महावाक्य को मन में मनन करें माननीय मुख्यमंत्री महोदयजी ने कहा–'मैंने तो मध्यम वर्गीय मानव की मनःस्थिति की बात कही थी, किन्तु यहाँ तो **High Standard** की बात हो गई।' और, अन्त में उनका अभिवादन कर वे प्रसन्न मुद्रा में पड़ाव के लिए प्रस्थान किए।) (शांति-संदेश, जून, १९७०)

३१. शरीर परिवर्तनशील और नाशवान है

सम्प्रति हमलोग जाग्रत अवस्था में है। इसमें हमलोगों को स्थूल शरीर और स्थूल संसार का ज्ञान होता है। जब हमलोग जाग्रतावस्था से स्वप्नावस्था में चले जाते हैं, उस समय हमें अपने स्थूल शरीर का ज्ञान नहीं रहता है। फलतः स्थूल शरीर के ज्ञानाभाव में स्थूल संसार के ज्ञान का भी अभाव हो जाता है। पुनः जगने पर अपने स्थूल शरीर का ज्ञान होता है, तो स्थूल संसार का भी ज्ञान होता है। किन्तु अफसोस! अपने स्वरूप की अभिज्ञता नहीं हो पाती–स्वरूप का प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो पाता। वस्तुतः हमें मानव शरीर मिला है, अपने स्वरूप को पहचानने के लिए ही।

यह मानव-शरीर परिवर्तनशील है, नाशवान है। इसके अंदर रहनेवाला चेतन पुरुष अपरिवर्तनशील है, अनाशी है। वह अजर है, अमर है, अक्षर है। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के पन्द्रहवें अध्याय में कहा है–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

अर्थात् इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं जिनमें समस्त भूत क्षर हैं यानी नाशवान हैं और उनमें स्थित रहनेवाला पुरुष अक्षर है, अविनाशी है। पुनः इसी गीता के द्वितीय अध्याय में जीवात्मा से अविनश्वरता दिखलाते हुए उन्होंने कहा है–

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अर्थात् यह कभी जन्म लेता नहीं और न मरता है। यह भूतकाल में था और भविष्य में नहीं रहेगा, इनकी बात भी नहीं। क्योंकि यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुरातन है; इसलिए शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता। और भी,

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

अर्थात् कोई भी शस्त्र आत्मा का छेदन नहीं कर सकता और न अनल जला सकता है। जल इसे सजल नहीं कर सकता और न अनिल सुखा सकता है। इसी विषय की भावाभिव्यक्ति गोस्वामीजी ने अपनी भाषा में, सार संक्षेप में इस भाँति की है–

ईस्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥
(गो० तुलसीदासजी)

भगवान श्रीकृष्ण ने भी 'ममैवांशोजीव लोके जीव भूतः सनातनः' कहकर जीवात्मा को अपना यानी ईश्वर का सनातन अंश जताया गया है।

जीवात्म प्रभु का अंश है, जस अंश नभ को देखिये।
घट मठ प्रपंचन्ह जब मिटैं, नहीं अंश कहना चाहिये॥

इस तरह आप्त वाक्यों द्वारा विश्वास होता है कि जीवात्मा ईश्वर का अंश है सही, किन्तु इसका सही ज्ञान नहीं होता। जिज्ञासा होती है इसकी सही जानकारी की और सही जानकारी नहीं होने के कारण को भी।

अभी हम सुन चुके हैं कि जाग्रत अवस्था में जब हमको अपने स्थूल शरीर का ज्ञान रहता है, तब स्थूल संसार का भी ज्ञान होता है। स्वप्नावस्था में जब स्थूल शरीर का ज्ञान नहीं रहता, तब स्थूल संसार का भी ज्ञान जाता रहता है। पुनः जब हम जग जाते हैं, तो प्रथम अपने शरीर का ज्ञान हमको होता है, पश्चात् संसार का। ठीक इसी भाँति जबतक हम मोह-निशा में निद्रित हैं, तबतक अपने स्वरूप से विस्मृत हैं।

जबतक मोह-निद्रा भंग नहीं होती, तबतक जग से जीव का असंग नहीं होता। जबतक जगत से असंगता नहीं होती, तबतक अज्ञानता नहीं मिटती। परिणाम-स्वरूप हम स्वरूप-साक्षात्कार से सुदूर रहते। फिर ऐसी दुरवस्था में सर्वेश्वर-स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान हो तो कैसे?

आवश्यकता है ऐसी युक्ति विशेष की ज्ञप्ति की, जिसके द्वारा मोह-निशा निःशेष हो—अज्ञान तिमिर का अवसान हो; फिर तो स्वरूप की पहचान में कोई व्यवधान नहीं रह जाता। संत चरणदासजी महाराज की शिष्या परम भक्तिन सहजोबाई स्व-स्वर में दृढ़तापूर्वक कहती हैं—'आपुन ही कूँ खोज मिलैं जब राम सनेही।' अर्थात् सबके स्नेही राम तभी मिल सकते हैं, जब तुम अपनी यानी आत्मा की खोज करो। भगवान बुद्ध की बातें भी प्रायः इसी से मिलती-जुलती दीखती हैं—

अत्ताहि अत्तनो नाथो कोहि नाथो परोसिया।
अत्तनाव सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभो ॥

जिसका अर्थ होता है—"आत्मा ही आत्मा का अधिपति है, इसका अन्य पति कौन हो सकता है? अपने को ही अच्छी तरह दमन करने से वह दुर्लभ नाथ को प्राप्त करता है।"

तात्पर्य यह कि परमात्मा ही जीवात्मा का नाथ है, इसके अतिरिक्त इसका कोई दूसरा नाथ वा स्वामी नहीं है। किन्तु उस परम प्रभु परमात्मारूप दुर्लभ पति की प्राप्ति आत्मसंयम करने से होती है।

भगवान बुद्ध की वाणी में प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द के विविध रूपों में व्यवहार अर्वाचीन नहीं, प्राचीन है। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ६/५-६ में 'आत्मा' शब्द भिन्न-भिन्न भावों में व्यवहृत है। यथा—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अर्थात् मनुष्य आत्मा द्वारा आत्मा का उद्धार करे। अपनी आत्मा की अधोगति नहीं होने दे। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जिसने अपने आपको जीत लिया, उसकी आत्मा बन्धु है और जिसने अपनी आत्मा को नहीं जीता, वह अपने साथ शत्रु का-सा व्यवहार करता है।

इस तरह भगवान बुद्ध और भगवान श्रीकृष्ण के आत्मा-संबंधी विचार में कुछ भी अंतर ज्ञात नहीं होता। वरं ऐसा कहने में कोई अनुचित नहीं जान पड़ता कि "उपर्युक्त श्लोकों के अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि जैसे द्वापर युग की श्रीकृष्ण-वाणी कलियुग में बुद्ध-वाणी के रूप में प्रतिध्वनित हुई हो।" हाँ, अब एक जिज्ञासा हो सकती है कि इस आत्मा का अर्थात् जीवात्मा का निवास कहाँ है? अथवा दूसरे शब्दों में हम कहाँ हैं? इसके उत्तर के लिए संतों और सद्ग्रंथों में कोई अंतर नहीं, सभी एक स्वर से एक बात कहते हैं—

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कंठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तरीयं मुर्ध्नि संस्थितम्॥

अर्थात् जीव जाग्रतकाल में नेत्र में, स्वप्नकाल में कंठ में, सुषुप्ति समय हृदय में और तुरीयावस्था में मूर्द्धा में निवास करता है।

संतों ने जीवात्मा को 'सुरत' की संज्ञा से भी अभिहित किया है, इसलिए संत दरिया साहब (बिहारी) ने उसी प्राचीन प्रचलन का अनुकरण कर जीवात्मा के लिए 'सुरत' शब्द का प्रयोग किया है और उसकी जाग्रत कालिक बैठक आँख बतायी गयी है।

'जानिले जानिले सत्त पहचानिले,
सुरत साँची बसै दीद दाना।'

संत तुलसी साहब (हाथरस) कहते हैं—

सत सुरत समझि सिहार साधौ निरखि नित नैनन रहो।

और संत कबीर साहब क्या कहते हैं—

नैनों माहीं मन बसै, निकसि जाय नौ ठौर।
गुरुगम भेद बताइया, सब सन्तन्ह सिरमौर॥

कुछेक लोगों की यह धारणा है कि 'चतुष्टय अंतःकरण में एक 'मन' भी है। उसको 'सुरत' की जगह स्थानापन्न करना समुचित नहीं जँचता। उनको जानना चाहिए कि यद्यपि अन्तरेन्द्रियाँ—मन, बुद्धि, चित और अहंकार; ये चार हैं। फिर यदा-कदा 'मन' की जगह 'चित' और 'चित' की जगह 'मन' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। जैसे मेरा मन चंचल है। मन स्थिर नहीं हो पाता। मेरा चित चंचल है। चित स्थिर नहीं हो पाता। गीता के अध्याय ६ में भगवान श्रीकृष्ण के वचन हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

अर्थात् हे कृष्ण! मन चंचल है, मनुष्य को को मथ डालता है और यह बहुत बलवान है। उसका निरोध करना वैसे ही अत्यन्त कठिन है; जैसे वायु को वश करना। भगवान बुद्ध कहते हैं–

फन्दनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकरो'व तेजनं॥
(धम्मपद ३/१)

अर्थात् चित्त अस्थिर है, चंचल है, इसे रोक रखना कठिन है और इसका निवारण करना भी दुष्कर है। इस प्रकार के टेढ़े व कठिन चित को बुद्धिमान जन सरल व सीधा करते हैं, जैसे वाण बनानेवाले वाण को।

चक्रहु चाहि चलै चित चंचल
मूल मता गहि निश्चल कौरे।
–बाबा धरनी दासजी

चंचल चित को थीर कर, चौथी में चित लाव।
चन्द्रसुधा रस चाखि के, चिंतामणि पद पाव॥
(परमहंस लक्ष्मीपतिजी)

दूसरी बात यह है कि स्वयं संत कबीर साहब ने मन के दो रूप बताये हैं–१. तन-मन और २. निज-मन। यथा–

तन मन दिया तो क्या हुआ, निजमन दिया न जाय।
कह कबीर ता दास से, कैसे मन पतियाय॥
तनमन दिया आपना, निजमन ताके संग।
कह कबीर निर्भय भया, सुन सतगुरु परसंग॥

तनमन=शरीर संबंधी मन=पिंडी मन=बहिर्मुखी मन और निजमन=ब्रह्मांडी मन=अंतर्मुखी मन। बहिर्मुखी मन जब उलटकर अंतर्मुखी होता है, तो वही सुरत कहलाता है। जैसे–'मन उलटे तो सुरत कहावे।' इसलिए संत कबीर साहब ने जो 'सुरत' की जगह 'मन' का व्यवहार किया है, यह कोई अप्रासंगिक नहीं।

दूसरी बात यह है कि जैसे सामान्यतया दुग्ध में निश्चितरूप से घृत मिश्रित रहता ही है, उसी प्रकार सामान्य अवस्था में जीवात्मा के साथ मन भी अवश्यमेव रहता है। अतएव इस दृष्टि से–सामान्य व्यवहार के लिए यदि संत कबीर साहब ने जीवात्मा की जगह 'मन' कहकर उसका निवास नयन बताया हो, तो यह भी अनुचित नहीं, आनुषंगिक ही है। संत चरणदासजी महाराज की भी सुनिये। उनकी वाणी ब्रह्मोपनिषद् की ऋषिवाणी से बिल्कुल साम्य है–

जाग्रत वासा नैन में, स्वप्न कंठ स्थान।
जान सुषुप्ति हृदय में, नाभि तुरिय मन तान॥

इस संबंध में अन्य संतों की भी आप्तवचन पर्याप्त हैं, जिसमें किसी प्रकार के संशय का लेश नहीं। फिर भी यदि कोई तर्कदृष्टि से देखना चाहे, तो उसमें भी कोई फर्क नहीं पड़ता। क्योंकि यह किसी को भी अंगीकार नहीं हो सकता कि वह अपने शरीर में नहीं है। अर्थात् यह सभी को मान्य है और होगा कि वह अपने शरीर में अवश्य है। अपनी देह में अपनी अवस्थिति की अभिज्ञता हो जाने पर पुनः यह जिज्ञासा हो सकती है कि मैं इस तन में हूँ, तो कहाँ हूँ तथा इसका प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे हो?

इसके उत्तर में ऐसा कहना कोई अप्रासंगिक नहीं होगा कि 'बाह्य जागतिक वस्तु को देखने के लिए हम बाह्य दृष्टि का प्रयोग करते हैं अर्थात् उन्मीलित नेत्र से उसका अवलोकन करते हैं। 'बाहर' का विपरीत होता है 'अंतर'। इसलिए आंतरिक पदार्थ अवलोकनार्थ हम अंतर्दृष्टि का प्रयोग करें अर्थात् निमीलित नेत्र से निहारें, निरीक्षण करें।

नेत्र द्वय बंद करने पर स्वतः तमस् मंडल सम्मुख गोचर होगा। अब अपने आपसे हम पूछें–'मैं कहाँ हूँ?' उत्तर आएगा–'अंधकार में हूँ?' पुनः उत्तर मिलेगा–'नयनाकाश में।' इस भाँति यह सिद्ध हो गया कि मैं नयनाकाश के अंधकार मंडल में हूँ। किन्तु इतना ज्ञान होने पर भी यह परोक्ष ज्ञान ही है अपरोक्ष वा अप्रत्यक्ष ज्ञान नहीं; क्योंकि अंधकूप में उस अनूप स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतएव इससे आगे बढ़ें तथा इससे भी आगे बढ़कर उसके अंत तक पहुँचें।

यदि अनुभव ज्ञान प्राप्त संत की अनुभूत पूतवाणी श्रवण करना चाहें, तो संत सूरदासजी महाराज की सुनें। उन्होंने आपबीती बात बतायी है कि उनको कहाँ और कैसे 'अपुनपौ' की प्राप्ति हुई?

अपुनपौ आपुन में ही पायो।
शब्दहिं शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो॥

वस्तुतः जो वस्तु जहाँ हो, उसकी खोज वहाँ ही हो, यही श्रेयस्कर और समीचीन है। अतएव संत सद्गुरु से प्राप्त सद्युक्ति के द्वारा अपने अंदर अपनी खोज अत्यन्त अपेक्षित है। यद्यपि अपुनपौ की प्रत्यक्षता त्रयावस्थातीत और त्रिगुणातीत अवस्था में ही संभव

है, तथापि उसके पूर्ववर्ती प्राप्तव्य पदार्थ प्रकाश और शब्द की प्राप्ति वांछनीय है–जैसा कि संत सूरदासजी महाराज ने कहा।

प्रकाश के संबंध में श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ८, श्लोक ९ में भगवान श्रीकृष्ण के महावाक्य–'तमसः परस्तात्' यानी अंधकार के परे प्रकाश का और ऋषि वाक्य–'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के रहस्य का उद्घाटन जो संत पलटू साहब ने किया है, वह अत्यन्त विलक्षण है और एक बार सबको चमत्कृत किये बिना नहीं रहता। देखिए, उनके कहने की कैसी अद्भुत कला है–

काजर दिये से का भया, ताकन को ढब नाहिं ॥
ताकन को ढब नाहिं, ताकन की गति है न्यारी ।
इक टक लेवै ताकि, सोई है पिय की प्यारी ॥
ताकै नैन मिरोरि, नहीं चित अंतै टारै ।
बिन ताके केहि काम, लाख कोउ नैन सँवारै ॥
ताके में है फेर, फेर काजर में नाहीं ।
भंगि मिली जो नाहिं, नफा क्या जोग के माहीं ॥
पलटू सनकारत रहा, पिय को खिन खिन माहिं ।
काजर दिहे से का भया, ताकन को ढब नाहिं ॥

और यही बात संत कबीर साहब ने कही है; किन्तु उनके कहने की शैली भिन्न है।

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु गुरु के वचन समाई हो ।
मैली चित चराचित राखो रहो दृष्टि लौलाई हो ॥

समस्त पद के तात्पर्यार्थ को यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें, तो इस भाँति कह सकेंगे–'अविचलित चित से निमीलित निर्निमेष दृष्टि को गुरु-निर्देशित स्थान पर स्थापित करें।'

किन्तु इतना स्पष्ट कह देने के बाद भी कहने के लिए बात बाकी ही रह जाती है और वह यह कि अंतर्निरीक्षण की प्रयोगात्मक प्रक्रिया का ज्ञान किसी क्रियावान्, शुद्धाचारवान् सत् जन से ग्रहण करना परमावश्यक है। (अगस्त, १९७० ई०)

रघुपति भक्ति में ही कुशल सन्निहित है

लोक-व्यवहार में एक सज्जन दूसरे सज्जन से, एक मित्र दूसरे मित्र से तथा एक परिचित जन दूसरे परिचित जन से भेंट होने पर–मिलने पर, परस्पर जिज्ञासा करते हैं–कहिए, कुशल है–समाचार अच्छे हैं न? इसके उत्तर में वे एक दूसरे को बताते हैं–हाँ, कुशल है। समाचार अच्छे हैं। किन्तु हम अपने हृदय पर अपनी हथेली रखकर अपने से पूछें–विचार करें, क्या सचमुच ही हम कुशल हैं? इसके उत्तर में 'नहीं' के सिवा 'हाँ' नहीं कह सकते।

यदि यह विचार किन्हीं को अस्वीकार हो, तो वे स्वयं अपने संबंध में गम्भीरतापूर्वक सोच सकते हैं। हमारी अपनी सोच-समझ जैसी है, जितनी है, हम स्वयं जानते हैं। अतएव अपना निर्णय स्वयं नहीं कर जो कोई हमसे विशेष जन हों, हमारे परम हितैषी हों तो हमें चाहिए कि हम उनसे निकट सम्पर्क स्थापित कर उनके आगे अपना विचार निवेदन कर उनकी समझ-बूझ से भी कुछ सूझ प्राप्त करें।

विवेक विलोचन से अवलोकन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि संत से बढ़कर हमारे अन्य विशेष शुभैषी कोई नहीं हो सकते। क्योंकि जिनका हृदय मक्खन से भी विशेष मुलायम होता है, जो अपने ऊपर आए पहाड़वत् पीड़ाओं के प्रहार की परवाह नहीं कर, पर-दुःख दुःखी एवं कातर हो, विश्व उपकार-हित सतत व्यग्रचित्त हो कार्य निरत हों, ऐसे निश्छल संत की अनन्त महिमा के समक्ष सभी नतमस्तक हैं। अतएव आइए, हम उन संतों से ही इस संबंध में पूछें, वे क्या कहते हैं? प्रथम हम भगवान बुद्ध से सीख लें, उनका क्या कथन है? धम्मपद ग्रंथ में उनका वचन है–

कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सती ।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ ।।

अर्थात् अज्ञानान्धकार से आवृत्त, प्रदीप वा प्रकाश की खोज नहीं करनेवाला, नित्य जलता रहता है–प्रज्वलित होता रहता है; फिर ऐसी स्थिति में हँसी क्या है? खुशी कहाँ है? अर्थात् सदा निरानन्द-ही-निरानन्द है। संत कबीर साहब की सुनिए, वे कितनी रहस्यमयी बात कहते हैं–

कुशल कुशल ही पूछते, जग में रहा न कोय ।

जरा मुई ना भय मुआ, कुशल कहाँ ते होय ।।

जवानी जाती है, जरापन आता है, लोग मरते हैं, किन्तु भय मरता नहीं–भय छूटता नहीं–निर्भयता आती नहीं–फिर कुशलता का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है? वस्तुतः मन की प्रतिकूल परिस्थिति में जिसकी अवस्थिति हो, उसकी कुशलता कहाँ? जिसका हम संग चाहें, उनसे असंग हो और जिसके संग से तंग आकर हम उससे निस्संग होना चाहें, उसका ही सतत संग हो, फिर चित्त की अभंग दशा रहे तो कैसे? और अभंग-दशाहीन दीन की दुर्दशा नहीं, तो कुशल कहाँ से? किसी ने कहा भी है–

जो जाकर न आये वह जवानी देखी ।
जो आकर न जाये वह बुढ़ापा देखा ।।

जहाँ लोग त्रिविध तापों से संतप्त होते हों अथवा कभी दैहिक, कभी दैविक, कभी भौतिक और कभी मानसिक तापों से दुर्बल वृक्ष की भाँति प्रबल प्रचंड पवन से झकझोरे जाते हों, वहाँ कुशल कैसा? जहाँ कामरूप वात, लोभरूप कफ और क्रोध रूप पित्त; इन त्रिदोषों से चित्त विक्षिप्त होता हो, वहाँ कुशल कैसा? गो० तुलसीदासजी ने भी कहा है–

काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ।।
प्रीति करइ जौं तीनिउँ भाई । उपजइ सन्निपात दुखदाई ।।

भला, जहाँ भीतर-ही-भीतर सुत, वित्त, लोक, ईष्णा की भीषण ज्वालामुखी भड़क रही हो, वहाँ कुशल कैसा? इस भयदायिनी–दुःख प्रदायिनी स्थिति में कोई सुख का मुख कैसे देख सकता है? एक मधुर कथा है–किसी समय नारद मुनि वैकुण्ठवासी भगवान विष्णु के निकट उपस्थित हुए। भगवान ने समयोचित सत्कार कर कुशल-क्षेम पूछा। मुनिजी ने कहा–भगवन्! लोग माया को अबला कहते हैं, किन्तु वह इतनी सबला और प्रबला होती है कि आपके पास आपके भक्तों को आने नहीं देती–वर्जन करती है और बरबस रोक रखती है। जीव परवश हो जड़वत् हो जाता है और उसकी सारी सुधि-बुद्धि जाती रहती है।

मुनिजी की बातों को सुन और मन में गुन गोविंद ने माया को बुलवाया। आदेश पा उपस्थित हो पाणिबद्ध प्रार्थना करती हुई माया बोली–भगवन्! क्या आज्ञा है? भगवान ने सतेज स्वर में कहा–मुनिजी कहते हैं–'तू मेरे भक्तों को भटकाकर, माया में लटकाकर और विषयों में अटकाकर रखती है; मेरे निकट फटकने तक नहीं देती। अन्यथा क्या बात है, ठीक-ठीक बताओ।

भयभीत हो थर-थर काँपती हुई माया बोली–देवेश! मेरा कोई दोष नहीं, मैं निरा निर्दोष हूँ। प्रभो! मैं बार-बार चेतावनी देती हूँ–'ऐ जीव! जाग, जग-जाल से तू भाग और प्रभु-पद में लाग।' भगवन्! मैं स्पष्ट कहती हूँ–'मेरी ओर मत आ, जगदीश की ओर जा।' किन्तु जड़ जीव अपनी जड़ता छोड़ता नहीं, मेरी बात मानता नहीं और जागतिक यात्रा करता है। भगवान! आप ही न्याय करें और इन मुनिजी को समझा दें, मेरा क्या दोष है, जो रोष में आकर ये मुझे कोस रहे हैं। भक्त-भय भंजन भगवान ने कहा–अंजन! तुमने जितनी बातें मुझसे कहीं, सो मेरे मनोरंजन के लिए अथवा इसको तुम सत्य प्रमाणित भी कर सकती हो?

इसके उत्तर में माया ने कितनी मार्मिक बात मायापति से कही, सो सुनिए। 'हे जगपालक! यदि कोई ट्रेन एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन की ओर जाती हो और उस स्टेशन का स्टेशन मास्टर खतरे का सिगनल दे–एक बार, दो बार, तीन बार; फिर भी यदि गाड़ी चालक अबोध बालक बन वर्जित पड़ाव पर गाड़ी ले जाने की धृष्टता करे, तो उसकी क्या गति हो भगवन्! क्या वह रथ-युथ रथी और सारथि सहित यमपुर-भवन गमन नहीं करेगा?

एक बात और निवेदन करूँ परवरदिगार। यदि कोइ पथिक किसी निर्दिष्ट स्थान के लिए प्रस्थान करे और यात्रा करने के समय ही कोई छींक दे, तो क्या वह यात्रा ठीक समझी जाती है? अथवा यदि यात्राकाल में ही कोई क्रन्दन करने लगे, तब भी वह शुभ नहीं समझा जाता। कितना कहूँ, अशरण शरण! घर से चलते समय अगर कोई टोक देता है, तो कुशल यात्री अशकुन समझकर अपनी यात्रा रोक देता है।

देव! अब आप ही दया कर इन्साफ फरमावें, जबकि उपर्युक्त तीनों में से कोई भी घटना घटित होने पर अशुभ और अमंगल होता है, तब जहाँ ये तीनों ही घटनाएँ घटित हों, वहाँ यदि उस राही की राह में राहजनी हो–जान जाने की नौवत आए अथवा जान ही जाए; कौन-सी असम्भव बात है?

हे जगन्नियन्ता! जीव जब जगदीश का संग छोड़कर जगत की ओर अग्रसर होता है यानी जग में

जन्म ग्रहण करता है, उसी समय भूमिष्ठ होते ही उसे पहले छींक आती है, पीछे वह शिशु रोता है और 'कहाँ, कहाँ' प्रश्न कर क्रन्दन प्रसारित करता है। इस तरह छींक, रुदन और प्रश्न; इन तीनों रूपों में मैं वर्जन करती हूँ। इतने पर भी यदि कोई नहीं माने, तो इसमें मेरा क्या दोष भगवन्? कहा भी है–

जनमत पहिले छींक भई, पाछे दीन्हा रोइ ।
ताते जग में जीव की, कुशल कहाँ ते होइ ।।

जीव की ऐसी निस्सहायावस्था में जिज्ञासा होती है–क्या शरणदायक, मंगलदायक और कुशलक्षेम-प्रदायक कोई आश्रय-स्थल नहीं? संतों ने दृढ़ता के स्वर में कहा है–हाँ, है; अवश्य है और वह सर्वेश्वर-शरण। रामचरितमानस में एक प्रसंग आया है। लंकेश जब अवधेश के चरण-शरण ग्रहण की इच्छा से उनके निकट उपस्थित हुए, तो भगवान श्रीराम ने भक्त विभीषण से पूछा–

कहु लंकेश सहित परिवारा ।
कुशल कुठाहर बास तुम्हारा ।।
खल-मंडली बसहु दिन राती ।
सखा धरम निबहइ केहि भाँति ।।

इसके उत्तर में विभीषण क्या कहते हैं, सुनिए–

अब पद देखि कुशल रघुराया ।
जौं तुम कीन्हि जानी जन दाया ।।

तथा–

तब लगि कुशल न जीव कहँ, सपनेहु मन विश्राम ।
जब लगि भजत न राम कहँ, शोक धाम तजि काम ।।

और भी,

अब मैं कुशल मिटे भय मारे ।
देखि राम पद कमल तुम्हारे ।।

अर्थात् कोशलपति के पद में ही कुशल है, अन्यथा विपद्-ही-विपद् है। वह कोशलपति राम कैसा है? इस संबंध में गोस्वामीजी के निम्नलिखित वचन का अध्ययन और मनन कीजिए।

राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।
अविगत अलख अनादि अनूपा ।।
सकल विकार रहित गत भेदा ।
कहि नित नेति निरूपहिं वेदा ।।

रघुपति की भक्ति में ही कुशल सन्निहित है, अन्यत्र तो विपत्ति ही है। कुशल कहाँ?

(शांति-संदेश, अक्टूबर, १९७०)

३३. श्रद्धावान जितेन्द्रिय जन ज्ञान पाता है

मलय पर्वत से जब पवन प्रवाहित होता है, तब वह शाल, शीशम, नीम, बबूल प्रभृति सार-संयुत तरु को सुवासित कर चंदन बना देता है; किन्तु उसके किकट निवासी आक, अरण्ड और बाँस जैसे सारहीन वृक्ष ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं–सुगंधित नहीं हो पाते, चंदन नहीं बन पाते। प्रश्न होता है, इसमें हाथ किसका–सारहीन पेड़ का वा सुगंधि-संयुत समीर का?

ठीक इसी भाँति ईश्वर का ज्ञान संत-सद्गुरु सबको समान रूप से प्रसादरूप में प्रदान करते हैं। जो श्रद्धावान होते हैं, वे उस ज्ञान को पाकर और उसे अपने आचरण में लाकर महान बन जाते हैं; किन्तु अपने को बाँस की तरह बड़ा मान, बड़ाई और अहंकार में आबद्ध प्राणी श्रद्धाहीन-सारहीन-असार होता है, वह सदा अनजान-अज्ञान बना रहता है। संत कबीर साहब ने कहा है–

गुरु बेचारा क्या करै, जो शिष्ये माहीं चूक ।
भावै ज्यों परबोधिये, बाँस बजायी फूँक ।।

सुरसा-वदन की भाँति जिसका अहंकार बढ़ता है और बढ़ते-बढ़ते द्रौपदी की साड़ी जैसे बढ़ता ही चला जाता है अर्थात् गुरुजन को कौन कहे, गुरुवर से आदर पाने की अभिलाषा जिसकी जागृत हो उठती है, वैसे जन के लिए संत कबीर साहब ने कड़ी चेतावनी भी दी है। यथा–

अहं अग्नि हिरदे जरै, गुरु से चाहै मान ।
तिनको जम न्योता दिया, हो हमरे मेहमान ।।

तात्पर्य यह कि उसका यमपुर-निवासी होना निश्चित है। ऐसे जन दया के पात्र हैं, प्रभु इनके विचार को विमल करें। और भगवान श्रीकृष्ण ने गीता, ४/३९-४० में कहा है–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।

अर्थात् श्रद्धावान जितेन्द्रिय जन ज्ञान पाता है

और ज्ञान पाकर वह परम शान्ति का लाभ करता है। किन्तु जो अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशयसंयुत है, उसका विनाश होता है। ऐसे संशयात्मा को न इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में ही।

भगवान के कहने का आशय यह है कि 'शान्ति सुख-प्राप्ति के लिए मानव का श्रद्धावान और जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। किन्तु यह शान्ति वा शाश्वत सुख है कहाँ?

हम देखते हैं, जब पड़ोसी के बच्चे परस्पर मार-पीट करते हैं, तो जिस बच्चे पर अधिक प्रहार पड़ता है, वह भय और दुःख के मारे भागकर घर की ओर जाता है और अपनी माँ की शरण लेता है, ताकि कहीं वह पहला लड़का अपने अभिभावक को संग लाकर उसका प्रतिशोध न करे! तात्पर्य यह कि घर जाकर माँ की छत्रच्छाया पाकर शिशु अपने को सुरक्षित पाता है तथा वहाँ ही शान्ति और सुख का अनुभव करता है।

एक बार का प्रसंग है कि कलकत्ते के महान् संत श्रीरामकृष्ण परमहंस देवजी महाराज जब कि वे काली मंदिर में रहते थे और उनकी पूजा-अर्चना किया करते थे, तो रानी रासमणि भी श्रीकाली माता जी के दर्शनार्थ प्रायः प्रतिदिन आया करती थीं।

एक दिन काली मंदिर में कुछ सज्जन बैठे थे, भगवद्चर्चा चल रही थी, पूज्य परमहंसजी महाराज भी वहाँ उपस्थित थे और रानी रासमणि भी थी। रानी रासमणि ने परमहंसजी महाराज से एक भजन गाने के लिए निवेदन किया। परमहंसजी महाराज प्रेममग्न होकर प्रभुगान गाने लगे। इधर रानी रासमणिजी को अपने मुकदमे की बात याद हो आयी और उसकी पैरवी के लिए वह मन-ही-मन वकील नियुक्त करने लगी। उनके मन की बात को महान संत मन-ही-मन जान गये और उन्होंने उनको एक थप्पड़ मारते हुए कहा—'मुझे गाना गाने के लिए कहती है और स्वयं वकील बहाल करती है।' रानी रासमणि का हृदय भय से प्रकंपित हो उठा और मुँह से चूँ शब्द तक नहीं निकला। सभा का कार्यक्रम समाप्त होने पर रानी रासमणि जी अपने घर चली गयी।

दूसरे दिन पुनः वे काली जी के दर्शनार्थ उक्त मंदिर की ओर जा रही थीं। उनको देखकर परमहंसजी के मामा जी ने उनसे कहा—'देखते हो, जिनको तुमने कल्ह थप्पड़ मारा था, वे आ रही हैं प्रतिशोध करने।

परमहंसजी श्रीकालीजी की मूर्ति को मातृवत् मानते थे। जैसे कोई आतंकित शिशु अपनी रक्षा के लिए अपनी माता की शरण में जाए और उनका स्नेह बल पाकर उसके मन में सत्साहस का संचार हो, उसी भाँति परमहंसजी महाराज श्रीकाली जी की मूर्ति के पीछे जाकर खड़े हो गये और वे मूर्ति के अगल-बगल से झुक-झुककर रानी की ओर झाँकते और कभी कभी बोल उठते—'अच्छा, आओ तो देखूँ, मारो तो देखूँ। मुझे मारोगी, तो माँ तुझे मारेगी।'

वह दृश्य रानी को ऐसा लगा, जैसे भयंकर रूप धारण कर कालीजी क्रोधावेश में आकर बोलती हो—'आओ तो देखूँ, मारो तो देखूँ!'

रानी रासमणि डर के मारे थर-थर काँपने लगी और हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाती हुई लड़खड़ाते स्वर में काली जी से बोली—'माँ! मेरे अपराध को क्षमा कर और अपने इस भयंकर रूप का सँवरन कर अपने सौम्य रूप में आ जा। कलकत्ते शहर के अंदर जो सबसे उत्तम और सबसे अधिक मूल्यवान साड़ी होगी, माँ! मैं वह तुम्हें पहनाऊँगी।'

फिर क्या था, थोड़ी ही देर के पश्चात् उनके सामने श्रीकालीजी का पूर्ववत् सौम्यरूप आ गया—ऐसा उनको ज्ञात हुआ। पश्चात् उनको प्रणाम करके वह निज निकेतन चली गयी।

दूसरे दिन अपने वचन के अनुकूल रानीजी ने ठीक वैसी ही साड़ी मँगवायी और श्रीकालीजी को पहनाने के लिए उनके मंदिर में गयी। पंडितों ने इसका घोर विरोध किया और कहा—कालीजी दिगम्बरी होती है, उनको साड़ी पहनाना असम्बद्ध बात है। रानीजी किंकर्तव्यविमूढ़ हो काठ की भाँति खड़ी रह गयीं। उसने हाथ से उस बहुमूल्य साड़ी को लेकर परमहंसजी ने यह कहते हुए कि 'मैं अपनी माँ को जो चाहूँगा, पहना दूँगा।' काली को साड़ी पहना दिया।

हाँ, तो मैं कह रहा था—'शान्ति बाहर की वस्तु नहीं, अंदर की है।' अतएव शान्ति के आकांक्षी को अपने अंदर झाँकना चाहिए। बाह्य जगत् के

आकर्षण में आकर्षित होनेवाला, विकार का शिकार बन मार की मार खाता है, दुःखी होता है और रोता है। किन्तु अंतर्जगत् के अवलोकन करनेवाले पर उस काल की दाल नहीं गलती। परिणामस्वरूप वे प्रसन्न एवं प्रमुदित हो परमात्म-पथ का पथिक बन परमानंद का अधिकारी होता है।

अंतर्गमन की विधि का निर्देशन संतों ने किया है, संत बुल्ला साहब की वाणी में हम सकते हैं–

सुखमनि सुरति डोरि बनाव ।
मिटिहैं सब कर्म जिव के, बहुरि इतहि न आव ॥
पैठि अंदर देखु कंदर, जहाँ जिय को वास।
उलटि प्रान अपान मेटो, सेत सबद निवास ॥
गंग जमुना मिलि सरसुति, उमँगि शिखर बहाव।
लवकंति बिजली दामिनी, अनहद्द गरज सुनाव ॥
जीति आया आपुहीं, गुरु यारि सबद सुनाव।
तब दास बुल्ला भक्ति ठानो, सदा रामहिं गाव ॥

इस पद्य में संत बुल्ला साहब ने अंदर पैठने की क्रिया का संकेत किया है और कहा है कि सुषुमना में अपनी सुरत की डोरी बनाओ अर्थात् जैसे डोरी बनाने के लिए बिखरे धागों को एक करना होता है, वैसे ही सुरत को बिखरी धारों को मिलाकर एक करो। इसका क्रियात्मक रूप यह होगा कि गंगा और यमुना को सरस्वती से संयुक्त करो। फलतः प्राण और अपान का भिन्न-भिन्न स्थिति नहीं रहेगी। दोनों की विलीनता में विद्युत्-छटा छिटकेगी, अनहद की अनुभूति, सभी कर्म बंधन क्षय होंगे, अक्षय शान्ति को पाओगे और आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाओगे।

ऐसा लगता है, जैसे संतों के साज-बाज भिन्न-भिन्न हों, किन्तु आवाज सबकी एक है। तात्पर्य यह कि संतों के कहने की कथाएँ अनेक हैं, परन्तु बात सब एक ही है–लक्ष्य सबका एक है–प्राप्तव्य वस्तु एक है। संत बुल्ला साहब की वाणी से मिलती जुलती बातें संत गुलाल साहब कहते हैं–

उलटि देखो घट में जोति पसार ।
बिनु बाजे तहँ धुनि सब होवै, विगसि कमल कचनार ॥
पैठि पताल सूर ससि बाँधौ, साधौ त्रिकुटी द्वार।
गंग जमुन के वारपार बिच, भरतु है अमिय करार ॥
इंगला पिंगला सुखमन सोधो, बहत शिखर मुख धार ।
सुरति निरति ले बैठ गगन पर, सहज उठै झनकार ॥
सोहं डोरि मूल गहि बाँधो, मानिक बरत लिलार।
कह गुलाल सतगुरु बर पायो, भरो है मुक्ति भंडार ॥

अर्थात् उलटो, बहिर्मुख से अंतर्मुख होओ, बाह्य जगत् से अंतर्जगत् में प्रवेश करो। कैसे प्रवेश करोगे? 'इड़ा और पिंगला यानी बायीं और दायीं धार का संयम सुषुम्ना में करो–युगल धारों का एकत्रीकरण करो। इंगला-पिंगला कहो वा गंगा-यमुना कहो, दोनों एक ही बात है। यदि जिज्ञासा हो कि युगधार के मिलन का परिणाम क्या होगा? तो इसके उत्तर में संत गुलाल साहब ने कहा–'बहत शिखर मुख धार' होगा।

अर्थात् सुरत की ऊर्ध्वगति हो जाएगी, पिंड से ब्रह्मांड में गति हो जाएगी, स्थूल से सूक्ष्म में गमन होगा, अंधकार से प्रकाश में प्रतिष्ठित होओगे और वहाँ सुरत की विशेष तल्लीनता रही, तो स्वाभाविक ही झनकार सुनोगे अर्थात् अनहद नाद की अनुभूति होगी। ॐ सोहं नाद की डोरी दृढ़ता से ग्रहण कर उसके मूल में पहुँचो, तो तुम्हारे लिए मुक्ति का खजाना खुला हुआ है। गुरु नानकदेवजी ने कहा है–

सुखमन के घर राग सुन सुन मंडल लिव लाय।
अकथ कथा बीचारीअै मनसा मनहिं समाय ॥

सुषुम्ना में नाद ग्रहण का संकेत संत तुलसी साहब के वचन में भी हम पाते हैं और संत गुलाल साहब की भाँति ये भी इंगला-पिंगला और गंगा-यमुना की चर्चा करते हैं। यथा–

गंग जमुन सुन संयम कीना। इंगल पिंगल पट पौरी।

तथा,

गगन द्वार दीसै एक तारा। अनहद नाद सुनै झनकारा॥

तात्पर्य यह कि ईश्वर-दर्शनार्थ बाह्य जागतिक यात्रा का परित्याग कर, जो अंतर्जगत् का यात्री बनता है, वह अंतर्ज्योति और अंतर्नाद पाता है। अनंत ज्योतिपुंज में वह निमज्जन करता है और वह सेवक अपने स्वामी के संग सदा आनंद विहार करता है। संत कबीर साहब कहते हैं–

उलटि समाना आप में, प्रगटी ज्योति अनन्त।
साहब सेवक एक संगे, खेलैं सदा बसन्त ॥

(दिनांक–१३.१२.१९७०, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर)

३४. कोई चतुर न पावै पार नगरिया बावरी

आदरणीय महात्मागण, सज्जनवृन्द तथा देवियो!

आपलोगों ने संत कबीर साहब की वाणी सुनी– **कोई चतुर न पावै पार नगरिया बाबरी।** मैं इसी संतवाणी के आधार पर समास रूप में प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा।

परमात्मा ने देखने के लिए सबको समान दृष्टि दिया है। सभी कोई अपनी-अपनी आँखों से देखते हैं; किन्तु सबके दृष्टिकोण एक से नहीं होते। जैसे–किसी मंदिर में एक मूर्ति है। एक भक्त उस मूर्ति को भगवान मानकर प्रणाम करता है। दूसरा आदमी देखता है कि यह मूर्ति जिस धातु से बनी है, वह धातु खरा है वा खोटा? तीसरा आदमी उस मूर्ति को कला की दृष्टि से अवलोकन करता है। चौथा आदमी उसे इस नजर से निहारता है कि मूर्ति चाँदी की है, लोग यदि सो जाएँ, तो उसे लेकर 'नौ दो ग्यारह' हो जाऊँ। कहने का मतलब यह कि चीज एक है; लेकिन देखने का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है। वस्तुतः मानव अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर ही कुछ देखता, सुनता, समझता और करता है। एक उपनिषद् कथा है–एक बार ब्रह्माजी के पास देव, दानव और मानव तीनों गये। ब्रह्माजी ने पूछा–'आपलोग कहाँ आए हैं?' तीनों ने एक स्वर में उत्तर दिया–'आपसे उपदेश ग्रहण करने के लिए।' ब्रह्माजी ने तीनों को क्रम-क्रम से बुलाया। पहले देवता उनके सामने गये। ब्रह्माजी ने कहा–"तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है–'द'। बताओ, इस उपदेश को तुमने क्या समझा?" देवता ने कहा–'जी हाँ! हमलोगों की इन्द्रियाँ विषयों में बहुत बहकती हैं, इसलिए उनके दमन करने का आदेश आपने हमलोगों को दिया है।' ब्रह्माजी ने कहा–'ठीक है जाओ।' उसके बाद दानव उपस्थित हुए। उनको भी प्रजापति ने कहा–"तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है–'द'। थोड़ी देर के बाद में उन्होंने दानव से पूछा–'तुमने मेरे उपदेश को समझा?" दानव ने कहा–'जी हाँ! समझ गया। हम दानवगण क्रूर और हिंसक स्वभाव के होते हैं। आपने जीवों पर दया करने का उपदेश दिया है।' ब्रह्माजी ने कहा–'ठीक है, जाओ।' अंत में मानव की बारी आई। ब्रह्माजी ने कहा–"तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है–'द'। बोलो, इस उपदेश से तुमने क्या समझा?' मानव ने कहा–'भगवन्! हमलोग येन-केन-प्रकारेण संग्रह करते हैं। आपका उपदेश है–संगृहीत वस्तुओं का दान करो।' ब्रह्माजी ने कहा–'हाँ, ठीक ही समझा।' अब समझिए अक्षर तो एक ही था–'द'; लेकिन समझनेवाले का अपना-अपना दृष्टिकोण था। इसलिए एक ही उपदेश को सबने भिन्न-भिन्न भाषा में ग्रहण किया। इसी भाँति यह शरीर एक है; किन्तु लोग इसको भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। अभी जो संत कबीर साहब के वचन का पाठ हुआ–

कोई चतुर न पावे पार, नगरिया बाबरी।
लाल-लाल जो सब कोइ कहै, सबकी गाँठी लाल॥
गाँठी खोलि के परखै नाहीं, तासे भयो कंगाल॥
काया बड़े समुद्र केरो, थाह न पावै कोइ।
मन मरि जैहैं डूबि के हो, मानिक परखै सोइ॥
ऊँचा महल अगमपुर जहवाँ, संत समागम होइ।
जो कोइ पहुँचै वही नगरिया, आवागमन न होइ॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, का खोजो बड़ि दूर।
जो कोइ खोजै यही नगरिया, सो पावै भरपूर॥

इसमें संत कबीर साहब काया (शरीर) को समुद्र की दृष्टि से देखते हैं। एक दूसरे स्थल पर भी उन्होंने कहा है–

कबीर काया समुँद है, अंत न पावै कोय।
मिरतक होइ कै जो रहे, मानिक लावै सोय॥

किसी संत का कथन है–

यह शरीर सागर अवगाहा। यहि कर नहिं कोइ पावत थाहा॥
अन्तरि उलटि निरेखै जोई। आवागमन मिटावै सोई॥

गोस्वामी तुलसीदासजी ने नर-शरीर को भवसागर की नाव की दृष्टि से अवलोकन किया है और भगवान श्रीराम के वचनों में उन्होंने कहा है–

नर तन भव बारिधि कहँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

गुरु नानकदेवजी महाराज ने इस शरीर को नगर के रूप में देखा तथा इसको हरि-रस के व्यापार करने का उत्तम माध्यम बताया।

काइआ नगर नगर गड़ अंदरि,
साचा वासा पुरि गगनंदरि।

तथा–

काइआ नगरु नगरु है नीको बिचि,
सउदा हरि रसु कीजै।

महायोगी गोरखनाथजी महाराज ने सप्त धातु से निर्मित इस तन को पिंजड़े की संज्ञा दी और इसमें निवास करनेवाली जीवात्मा को सुग्गा की। यथा–

सप्त धातु का काया प्यंजरा ता माहिं जुगति बिन सूवा।

संत कबीर साहब इस पद में तीन नगरों का वर्णन करते हैं। यथा–कोई चतुर न पावै पार नगरिया बावरी। यह प्रथम नगर हुआ। द्वितीय नगर है–

ऊँचा महल अगमपुर जहँवाँ, संत समागम होय।
जो कोइ पहुँचे वही नगरिया, आवागमन न होय।।

और तीसरा नगर है–

कहै कबीर सुनो भाइ साधो, का खोजो बड़ि दूर।
जो कोइ खोजै यही नगरिया, सो पावै भरपूर।।

इस तरह एक ही शब्द में तीन नगरियों का वर्णन है। पहला नगर तो उन्होंने इस संसार को बताया है और इस संसार रूप नगर में रहनेवाले को पागल कहा है। जैसे पागल को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहने के कारण जो कर्म नहीं करने योग्य है, उसे भी वह कर बैठता है, उसी तरह संसारासक्त लोग भी विषय-मदपान कर उन्मत्त की भाँति विचरता है और जो नहीं करना चाहिए–जिस कर्म से घोर कष्ट होता है। वैसे ही कर्मों को करता है और बारम्बार दुःख की अग्नि में जला करता है। इसलिए इस जगत् को संत कबीर साहब ने पागलों का नगर कहा है। एक दूसरे शब्द में उन्होंने इस संसार को चोर का नगर भी कहा है–

मैं तो आन पड़ी चोरन के नगर, सत्संग बिना जिया तरसे।

ऐसा क्यों? चोर वह चीज लेता है, जो उसे नहीं दी गई है अर्थात् अनैतिक तरीके से– छुपाकर वस्तु लेनेवाले को चोर कहते हैं। हम अपने हृदय पर हथेली रखकर सोचें, कहीं हम भी तो ऐसी वस्तु नहीं लेते? परम पूज्य गुरुदेवजी महाराज के मुखारविन्द से मैंने सुना था। एक दिन के सत्संग में प्रवचन करते हुए उन्होंने फरमाया था–'भगवद्-भजन करने से जो जी चुराता है, वह चोर है। संसार के बहुत-से लोग इसी तरह के हैं, इसीलिए संत कबीर साहब ने इस संसार को चोर का नगर कहा है।

एक बार रेकार्ड में मैंने गाते हुए सुना था–

इस दुनिया में सब चोर चोर।
कोइ चोरी करे खजाने की, कोइ आने की दो आने की।
कोइ छोटा चोर कोइ बड़ा चोर,
इस दुनिया में सब चोर-चोर....।।

लेकिन उन चोरों में सबसे बढ़कर चोर हम हैं; क्योंकि हम तो चोरी करते ही हैं, 'सीना जोरी' भी करते हैं और वादा-खिलाफी करके मिथ्यावादी भी बनते हैं। हम स्मरण करें, क्या हमने कभी कोई वादा वा करार भी किया था? यदि याद नहीं आती हो, तो संतों की वाणी सुनिये, वे हमें याद दिलाते हैं–

'करके कौल करार, आया था भजन को।
अब तू मूरख गँवार, कुएँ लगा पड़न को।।'
'गर्भवास में रह्यो कह्यो मैं भजिहौं तोही।
निसदिन सुमिरौं नाम कष्ट से काढ़ो मोही।।
इतना कियो करार काढ़ि गुरु बाहर कीन्हा।
भूलि गयेउ वह बात भयेउ माया आधीना।।'

–संत कबीर साहब

दस मास रहे जब गर्भ में ही,
तबही प्रभु से हम कौल किया।
मैं बाहर होऊँ हरि भक्ति करूँ,
तेहि कारण मोहि निकाल दिया।।

संत कबीर साहब ने दूसरा नगर परमात्म-धाम को बताया है, जहाँ पहुँचकर पुनः कोई आवागमन के चक्र में नहीं पड़ता है। जिस धाम का वर्णन भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता अ० १५/६ में इस भाँति किया है–

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

कठोपनिषद् अध्याय दो के द्वितीय वल्ली में ठीक इसी भाँति कहा है–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

अर्थात् उस आत्मलोक में सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत ही चमचमाती है; फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है।

यदि संत कबीर साहब से पूछा जाए कि जिस

नगर में पहुँचने पर आवागमन नहीं होता है, वह धाम कैसा है? तो वे कहेंगे–

कहौं उस देश की बतियाँ, जहाँ नहिं होत दिन रतियाँ।
नहीं रवि चन्द्र औ तारा, नहीं उँजियार अँधियारा।
नहीं तहँ पवन औ पानी, गये वहि देस जिन जानी।।

और गुरु नानकदेवजी महाराज इस संबंध में क्या कहते हैं?

झिलमिल झिलकैं चंदु न तारा,
सूरज किरणि न बिजुलि गैणारा।
अकथी कथहु चिहनु नहिं कोई,
पूरि रहिआ मन भाइदा।।

संतों की वाणियों से अद्‌भुत विलक्षणता है। ऐसा लगता है, जैसे भिन्न-भिन्न साज-बाज की एक ही आवाज हो। जैसा वर्णन हम उपनिषद् में पाते हैं, वैसा ही गीता और संतों की विभिन्न वाणियों में भी।

हाँ, तो मैं दूसरे नगर का वर्णन कर रहा था। अब तीसरे नगर के संबंध में सुनिये। स्मरण रहे, पहला नगर संसार, दूसरा नगर परमात्म-धाम और तीसरा नगर संत कबीर साहब ने इस शरीर को बताया; क्योंकि उक्त पद्य में संत कबीर साहब ने कहा है–'जो कोई खोजै यही नगरिया सो पावै भरपूर।' अर्थात् जो कोई इस शरीर रूप नगर में ईश्वर की खोज करेगा, वह पूर्णरूपेण पावेगा। संत कबीर साहब को यह मान्य है कि सर्वेश्वर का साक्षात्कार बाहर में नहीं, घर में यानी घट में होगा।

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय।।

परमात्मा कहाँ है? रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में एक प्रसंग है कि भगवान श्रीराम जब वाल्मीकि मुनि के आश्रम में पहुँचते हैं और उनसे पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ? तब मुनिजी राम के स्वरूप का वर्णन करते हुए उनके निवास का निर्देशन करते हैं–

राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह।।
'पूछेहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होउ तहँ देहु कहि, तुम्हहिं बतावउँ ठाउँ।।'

अर्थात् वह प्रभु सर्वत्र है। 'प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना।' ईश्वर की व्यापकता के संबंध में ही इस पद्य में संत कबीर साहब ने कहा है–

लाल लाल जो सब कोइ कहै, सब की गाँठी लाल।
गाँठी खोलि कै परखै नाहीं, तासे भयो कंगाल।।

परमात्मा सबके अंदर समान रूप में व्यापक हैं। फिर भी जड़ और चेतन की ग्रंथि खुले बिना उनका दर्शन सम्भव नहीं।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है–

जड़ चेतनहि ग्रंथि पड़ि गई।
यदपि मृषा छूटत कठिनई।।

एक रोचक कथा है–एक बार एक पुराने ठग को एक नए ठग से भेंट हो गई। पुराने ठग के पास अशर्फी थी। नए ठग को यह बात मालूम हो गई। अब उसके मन में उसकी अशर्फी लेने की लालसा जग उठी। उसकी भाव-भंगिमा को पुराने ठग ने परख लिया। जब रात्रि हुई तो पुराने ठग ने नये ठग से कहा–भाई! देखो, हमलोगों के पास सामान है, उसकी सुरक्षा भी हो और हमलोग सोयें भी; इसके लिए कोई उपाय सोचो। नये ठग ने कहा–बात ठीक है, हमलोग बारी-बारी से सोयें और जगें। दोनों को यह बात मंजूर हो गई। पुराने ठग ने नये ठग से कहा–पहले तुम सो जाओ। जब दो घंटे तुम सो जाओगे, तब मैं तुम्हें जगा दूँगा; तब तुम जगना और मैं सोऊँगा। नये ठग ने वैसा ही किया। जब नए ठग को सोये दो घंटे हो गये, तब पुराने ठग ने अपनी अशर्फी नये ठग की गठरी में घुसाकर उसे जगाया और कहा–भाई! जगो दो घंटे पूरे हो गये। अब जगकर तुम पहरा दो, तबतक मैं सोता हूँ। ऐसा कहकर वह सो गया। इसी तरह दो-दो घंटे के क्रम से दोनों ठग सोते और जगते। जब-जब पुराना ठग सोने जाता, तो वह अपनी अशर्फी नये ठग की गठरी में घुसा देता और जब नये ठग जगकर पहरा करने लगता, तो वह पुराने ठग को सोया जानकर उसकी जेब और गठरी टटोलता; लेकिन उसको अशर्फी मिली नहीं। सारी रात यह क्रम चलता रहा; किन्तु नया ठग अशर्फी प्राप्त नहीं कर सका। सबेरा होने पर जब दोनों ठग अपने-अपने घर जाने लगा, तब नये ठग ने पूछा–भाई साहब! मेरी समझ में यह बात एकदम नहीं आई कि आखिर आप अपनी अशर्फी रखते कहाँ थे? आप जब-जब सोते थे, तब-तब मैं आपकी देह, गठरी और जेब टटोलता। अनेक बार आपकी गठरी और सारी देह को टटोलते-टटोलते मैंने रातभर छान डाला; लेकिन अशर्फी से भेंट नहीं हो पायी। तब पुराने ठग ने कहा–अरे भाई!

तुम तो मेरी गठरी में अशर्फी ढूँढ़ता था; लेकिन मैं अपनी अशर्फी तुम्हारे जगने के पहले ही तुम्हारी गठरी में रख देता था। अतएव तुमको अशर्फी कैसे मिलती? तुम अपनी गठरी में खोज करते, तो अवश्य मिल जाती। ठीक इसी तरह हमलोग भी परमात्मा को अपने अंदर नहीं खोजकर दूसरी-दूसरी जगह, बाहर-बाहर ढूँढ़ते-फिरते हैं। भला! परमात्मा का दर्शन हो तो कैसे? अपने अंदर जो जड़ और चेतन की ग्रंथि पड़ी है, इसी को खोलने पर परमात्मा रूपी लाल मिलेंगे। संत कबीर साहब ने कहा था–

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़ै वन माहिं।
ऐसे घट में पीव है, दुनियाँ जानै नाहिं।।
समुझे तो घर में रहै, परदा पलक लगाय।
तेरा साईं तुज्झ में, अनत कहूँ मत जाय।।

पुनः संत कबीर साहब कहते हैं–

काया बड़े समुद्र केरो, थाह न पावै कोय।

अर्थात् 'यह शरीर महासागर है, इसकी थाह कोई नहीं पाता।' केवल विचार द्वारा ही नहीं, साधक साधना करके इसका साक्षात्कार करता है। साधक जब साधना आरम्भ करता है, तब उसे घोर अन्धकार दीख पड़ता है, जिसकी सीमा उसकी दृष्टि में आती नहीं। यह विशाल अंधकार पहला समुद्र है। सद्गुरु की विशेष कृपा प्राप्त कर साधक साधन द्वारा जब अंधकार को पार करता है, तब वह प्रकाश में प्रवेश करता है। यह सुविस्तृत प्रकाश दूसरा समुद्र है। इसके आगे तीसरा समुद्र नाद का है।

आप सरस्वतीजी की तस्वीर देखते हैं। उसमें क्या देखते हैं? वाणीजी अपने कर-कमलों में वीणा धारण की हुई हैं। शास्त्रकारों ने लिखा है–

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जन भयात् तुम्बं वहति वक्षसि।।

अर्थात् नादरूपी समुद्र की सीमा का पार सरस्वती नहीं जानती हैं। इसीलिए आज भी डूबने के भय से हृदय के पास तुम्बे को धारण की हुई हैं। इन तीनों समुद्रों की थाह कौन पावेगा? कबीर साहब कहते हैं–

मन मरि जैहैं डूबि के हो, मानिक परखै सोय।

जैसे जो कोई गोताखोर समुद्र में देर तक डुबकी लगा पाता है, वह मोती पाता है। उसी तरह अंधकार रूपी समुद्र में जो साधनशील साधक डूब पाते हैं, उनको ब्रह्मज्योति रूप माणिक मिलता है। भक्तवर सूरदासजी के शब्दों में हम कह सकेंगे–

ज्यों-ज्यों बूड़े श्याम रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।

इस काया-समुद्र में डूबने की युक्ति हम संत सद्गुरु से जानें। शरीर रूप नगर स्थित अंधकार, प्रकाश और शब्द को जो पार करता है, वह संत दादू दयालजी के विचारानुकूल 'सुन्नी सुन्न सुन्न के पारा' हो जाता है। यह ऐसा ऊँचा महल है, जिससे ऊँचा महल और नहीं हो सकता। परम संत सद्गुरु गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के शब्दों में हम कह सकेंगे–

स्थूल सूक्ष्म कारण महाकारण कैवल्यहु के पार।
तन में पिल पाँचों तन पारा जा पाओ प्रभु सार।।

यहाँ ही प्रभु-मिलन वा संत-समागम होता है।

अब अंत में, एक लघु कथा कहकर मैं अपना प्रवचन समाप्त करना चाहूँगा।

संत कबीर साहब इस देह को उदधि रूप में देखा और गुरु गोरखनाथजी ने पिंजड़े के रूप में।

सप्त धातु का काया प्यंजरा,ता माहिं जुगति बिनु सूवा।
सतगुरु मिलै तो उबरै बाबू,नहिं तो परलय हूआ।।

एक कथा है–एक साधु यह रट लगाते हुए घूमते थे कि–'राम राम करै, भव सागर तरै।' यह रट एक सुग्गा ने सुनी, जो लोहे के पिंजड़े में बंद था। जब साधु उस सुग्गे के निकट पहुँचे, तो सुग्गा ने पूछा–'महात्माजी! आप क्या रट लगाते हैं?' साधु ने कहा–'राम राम करै, भव सागर तरै।' सुग्गा ने कहा–'नहीं, महात्मा जी! 'राम राम करै, लौह पिंजड़ पड़ै।' साधु बाबा ने कहा–'यह बात तुम कैसे कहते हो?' सुग्गे ने कहा–'यह तो प्रत्यक्ष है, जो सुग्गा राम-राम नहीं कहता, वह स्वतंत्र विचरण करता है। जब चाहता है, जैसा चाहता है, वैसा करता है, खाता है, आराम करता है और मैं ही एक अभागा राम-नाम रटनेवाला ठहरा, जो लौह के पिंजड़े में बंद हूँ। साधु ने कहा–'नहीं जी! युक्ति करै, तो सहजै तरै।' सुग्गा ने कहा–'महात्माजी! आप मुझे वह युक्ति बताने की कृपा करें, जिससे मैं इस पिंजड़े से मुक्त हो सकूँ। महात्माजी ने उसे युक्ति बता दी और कहा–'अभ्यास करते-करते तुम्हारा प्राणस्पन्दन निरुद्ध होने लगेगा। इस अभ्यास को धीरे-धीरे बढ़ाना। जब देर तक प्राणस्पन्दन बंद होने लग जाएगा, तब तुम्हारे मालिक तुम्हें मरा हुआ जानकर पिंजड़े से निकाल फेकेंगे; तब तुम उड़ जाना।'

सुग्गे ने श्रद्धापूर्वक साधु की बताई सद्युक्ति से साधना का शुभारम्भ किया। अभ्यास क्रम को शनैः शनैः बढ़ाया। अब वह कुछ काल पर्यन्त उस अवस्था में रहने लग गया, जिस अवस्था में उसका प्राणस्पन्दन भी बंद रह सकता था। एक दिन वह उसी साधना में संलग्न था, प्राणस्पन्दन अवरुद्ध था। मालिक ने जब आकर देखा, तो उसे वह श्वास-हीन मृत जान पड़ा। सुग्गे को मरा जानकर उसने पिंजड़े से निकाल कर फेंक दिया। मालिक ने ज्यों ही सुग्गे को फेंका, त्यों ही गगनगामी होकर लौह-पिंजर से सदा के लिए मुक्त हो गया।

यह तो एक कथा मात्र है, वस्तुतः पिण्ड रूप पिंजड़े में जीव रूप सुग्गा आबद्ध है। संत सद्गुरु की कृपा से ही शरीर स्थित जीव रूप सुग्गे का सुधार और उद्धार हो सकता है अन्यथा प्रलय के गर्त में तो है ही। ❖

यह प्रवचन बिहार राज्यान्तर्गत खगड़िया जिला के पितौंझिया ग्राम में जिला संतमत-सत्संग के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर दिनांक ०७.०१.१९७१ ई० को हुआ था।

३५. संतमत किसी मत का खंडन नहीं करता

परम प्रभु सर्वेश्वर की असीम अनुकम्पा से आज अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का ६३वाँ वार्षिक महाधिवेशन का शुभारंभ यहाँ होने जा रहा है। आपमें से बहुतों की जिज्ञासा हो सकती है—संतमत क्या है? अतः मैं अभी इसी के ऊपर प्रकाश डालूँगा। संतमत परम प्राचीन आस्तिक मत है। संतमत में सब संतों की मान्यता है। संतमत में अधिक सिद्धांत नहीं है। मात्र तीन हैं—गुरु, ध्यान और सत्संग। यदि और कुछ कहना चाहें, तो वह है—सदाचार और स्वावलंबी जीवन। उसमें पाँच विधि कर्म हैं—एक सर्वेश्वर पर अचल विश्वास, पूर्ण भरोसा तथा अपने अंतर में उनकी प्राप्ति का दृढ़ निश्चय रखना, सद्गुरु की निष्कपट सेवा, सत्संग और दृढ़ ध्यानाभ्यास और पाँच निषेध कर्म भी हैं—झूठ बोलना, नशा खाना, व्यभिचार करना, हिंसा करनी (अर्थात् जीवों को दुःख देना वा मत्स्य-मांस को खाद्य पदार्थ समझना) और चोरी करनी। संतमत किसी एक संत के नाम पर का प्रचालित नहीं है। संतमत में सभी संतों की समान मान्यता है। संत दादू दयालजी के शब्दों में हम कह सकते हैं—

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जाति॥

इसीलिए संतमत किसी संत को बड़ा और किसी को छोटा नहीं मानता है। संतमत की विशेषता यह है कि यह किसी धर्म, मत, मजहब वा संप्रदाय आदि का खंडन नहीं करता। संतमत अपना सिद्धांत सबके सामने रखता है। लोग उसे अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर उसे समझ लें।

एक समय की बात है—बादशाह अकबर अपनी सभा में बैठे थे। एकाएक बादशाह ने बीरबल से पूछा—'बीरबल! तुम कुछ पढ़े-लिखे भी हो? बीरबल ने कहा—'जी हाँ, जहाँपनाह! थोड़ा-बहुत लिखा-पढ़ा हूँ।' बादशाह ने पूछा, 'बीरबल! थोड़ा भी कहते हो और बहुत भी; कोई निश्चयात्मक बात बताओ—थोड़ा या बहुत।' बीरबल ने कहा, 'जहाँ बहुत बड़े-बड़े विद्वान लोग रहते हैं, वहाँ मैं कम हो जाता हूँ और जहाँ कम पढ़े-लिखे रहते हैं, वहाँ मैं बहुत हो जाता हूँ।' बादशाह ने हँसते हुए एक लकीर खींच दी और कहा, 'बीरबल! इस लकीर को छूओ नहीं, मिटाओ नहीं; किन्तु छोटा कर दो।' बीरबल ने अविलंब उस लकीर की सीध में उससे अधिक लंबी लकीर खींच दी और कहा, 'बादशाह सलामत! देखिए, मैंने आपकी लकीर को छुआ नहीं, मेटा नहीं; किन्तु आपही आप वह छोटी हो गयी।' इस तरह संतमत किसी मत वा पंथ का खंडन नहीं करता, केवल अपना सिद्धांत सबके सामने रख देता है।

संतमत की यह घोषणा है—सबके ईश्वर एक हैं और इस ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता एक ही है। जबतक अपने अंदर-अंदर कोई नहीं चलेगा, तबतक उस तक कोई पहुँच नहीं सकता है। उस आंतरिक मार्ग पर चलने का सबको समान अधिकार है।—

क्या द्विजाति वा शूद्र ईश को
वेश्या भी भज सकती है।

श्वपचों को भी भक्तिभाव में शुचिता कब तज सकती है।
अनुभव से कहता हूँ इसको मैंने कर लिया है वश में।
जो कोई चाहे पिये प्रेम से अमृत भरा है इस रस में॥

परम पूज्य सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज का उद्घोष है—"सबके ईश्वर एक हैं। ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग एक है। सब स्थूल सगुण उपासनाएँ उस मार्ग को पकड़ने की योग्यता प्रदान करती हैं।' 'ईश्वर की भक्ति ही संसार में शान्ति प्रदान करेगी। उस सर्वेश्वर की प्राप्ति सर्वप्रथम अपने अंदर होगी, पश्चात् सर्वत्र।"

संतमत जिस ईश्वर को मानता है, वह स्वरूपतः कैसा है? अभी सिद्धांत के पाठ में आपलोगों ने सुना—"जो परम तत्त्व, आदि-अन्त-रहित, असीम, अजन्मा, अगोचर, सर्वव्यापक और सर्वव्यापकता के परे है, उसे ही सर्वेश्वर सर्वाधार मानना चाहिए।" उस परम प्रभु सर्वेश्वर की प्राप्ति की जो साधना वा प्रक्रिया है, वह इतनी सरल और सुगम है, जिसे सभी कोई कर सकते हैं। चाहे वे पढ़े-लिखे हों, अनपढ़े हों, धनी हों वा निर्धन हों, गृहस्थ हों वा विरक्त हों, पुरुष हों वा स्त्रियाँ हों, किसी भी धर्म वा जाति के हों, इस देश के हों वा दूसरे देश को हों, सभी कोई बेखटक साधना कर सकते हैं। संतमत का उद्देश्य सारे संसार में जनकल्याण के लिए है। वस्तुतः संतों का अवतार विश्वकल्याण के लिए ही हुआ करता है। गो० तुलसीदासजी के शब्दों में—सन्त उदय संतत सुखकारी।
विस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥

संतों के संबंध में गो० तुलसीदासजी ने जो बतलाया, उसके अनुसार कोई वेशधारी ही संत नहीं होता। वेशधारी भी संत होते हैं और बिना वेशधारी भी। गो० तुलसीदासजी ने संतों के ये लक्षण बतलाये—

अमित बोध अनीह मितभोगी।
सत्य सार कवि कोविद योगी॥
षट विकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥

ये संतों के लक्षण हैं। संतों का हृदय कैसा होता है? इसपर गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा—

संत हृदय नवनीत समाना।
कहा कविन्ह पै कहइ न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता।
पर दुख द्रवइ संत सुपुनीता॥

बंगाल के संत श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराज ने कहा है कि तुमने आलू और बैगन की सब्जी खायी है? जैसे बैगन की सब्जी बहुत कोमल और मुलायम होती है। संतों का भी हृदय उसी तरह कोमल और मुलायम होता है। उन्होंने दूसरा उदाहरण दिया कि संत नारियल की तरह होते हैं। नारियल ऊपर से तो कड़ा होता है; किन्तु उसके भीतर की गरी स्वच्छ, धवल, अनाविल और शीतल जल लिये रहती है। उसी तरह संतों का हृदय साफ, स्वच्छ, निर्मल और शीतलता-संयुत होता है। एक बार छत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ रामदासजी महाराज भिक्षाटन करते हुए एक गृहस्थ के घर पहुँचे। उस गृहस्थ के घर भोजन समाप्त हो चुका था। घर की माई चौका लगा रही थी। अपने गृह में भोजनार्थ साधु को आये देखकर क्रोधावेश में आ उस माई ने उसी जूटे पोतना से दे मारा। उनका समूचा शरीर जूठा से भर जाता है; परन्तु समर्थ रामदासजी महाराज बिना कोई दुःख वा क्रोध प्रकट किये उस पोतना को लेकर चल पड़े। स्नान करके उस पोतना को भी साफ करके सुखा लेते हैं और उसकी बत्ती बनाकर भगवान के आगे आरती जलाते हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं—"हे प्रभु! जिस प्रकार उस माई के कपड़े से मैं आपके सामने प्रकाश कर रहा हूँ, उसी तरह उस अबोध माई के हृदयाकाश में प्रकाश कर।" यह है संतों का हृदय।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा—कवियों ने संतों का हृदय की उपमा मक्खन से दी है। किन्तु उपमा उपयुक्त नहीं हुई। क्योंकि मक्खन तो अपनी ही गर्मी पाकर पिघल जाता है; परन्तु संत दूसरों के दुःख को देखकर पिघलते हैं अर्थात् दुःखी होते हैं। क्योंकि उनका अवतार ही विश्व-कल्याणार्थ हुआ करता है। जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा है—

संत उदय संतत सुखकारी।
विस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥

तथा, विश्व उपकार हित व्यग्र चित सर्वदा
त्यक्त मदमन्यु कृत पुण्य रासी॥
यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि
सहित गच्छन्ति क्षीराब्धि वासी॥

अर्थात् विश्वकल्याण के लिए जिनका चित सतत व्यग्र रहता है, ऐसे संत-महात्मा जहाँ कहीं रहते हैं, वहीं ब्रह्मा, विष्णु, शिव उपस्थित रहते हैं। इस तरह

के जो संत है, उनका जो सत्संग है, उसी सत्संग का यह ६३वाँ वार्षिक महाधिवेशन है। इन संतों की साधना इतनी सरल है, खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते कर सकते हैं। इस सत्संग का आधार संतवाणी है। इसीलिए आपलोगों ने अभी वेद, उपनिषद् तथा विभिन्न संतों का वाणियों के पाठ सुनें।

वेद भगवान की आज्ञा है कि 'संगच्छध्वं' अर्थात् आपस में सब मेल से रहो। प्रेम से बातचीत करो और ईश्वर की उपासना करो। मिलकर रहने में क्या होता है? जहाँ मेल है, वहाँ बल है। जहाँ मेल नहीं, वहाँ बल नहीं। समुद्र क्या है? जल बूँद का समूह है। एक-एक बूँद यदि समुद्र से निकल जाए, तो समुद्र का अस्तित्व मिट जाएगा। इसलिए मानना पड़ता है कि मेल में बल निहित है। कोई भी कपड़ा अनेक सूतों का एकत्रीकरण है। जिस कपड़े से हमारी इज्जत की रक्षा होती है। जाड़े से रक्षा होती है, यदि उसे एक-एक सूत अलग हो जाए, तो उसी संज्ञा 'कपड़ा' रह नहीं सकती। एक-एक अक्षरों के पढ़ने पर ही विद्वान् होते हैं। जिसने अक्षरों का एकत्रीकरण नहीं किया है, वह विद्याहीन है। हमलोग एक-एक कौर भोजन करते जाते हैं और पेट भरता जाता है। उसी से शरीर में बल आता है।

एक बूढ़े आदमी मरने लगे। उन्होंने अपने सभी पुत्रों को बुलाकर कहा—एक-एक गट्ठर लकड़ी जंगल से ले आओ। उनके सभी पुत्रों ने वैसा किया। बूढ़े ने कहा, 'तुमलोग अपने-अपने गट्ठर को तोड़ो। पुत्रों ने अपने-अपने गट्ठर को तोड़ने का प्रयास किया; किन्तु सभी असफल रहे। सबने एक स्वर से कहा, पिताजी! गट्ठर टूटता नहीं है। बूढ़े ने कहा—पुत्रो! उस गट्ठर की लकड़ियों को अलग-अलग करके एक-एक करके तोड़ो। पुत्रों ने वैसा ही किया। लकड़ियों को अलग-अलग कर तोड़ने पर सभी लकड़ियाँ टूट गयीं। बूढ़े ने कहा—प्रिय वत्सगण! तुमलोगों को मैंने यही शिक्षा दी। पुत्रों ने कहा—पिताजी! इसका स्पष्टीकरण कीजिए। हमलोग समझ नहीं सके। बूढ़े ने कहा, देखो पुत्रो! जबतक तुमलोग आपस में मेल से रहोगे, तबतक तुम्हारा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। जिस तरह उस एकत्रित लकड़ियों के गट्ठर नहीं तोड़ सके। किन्तु जैसे तुमलोगों के आपस का मेल टूटेगा, वैसे ही जो चाहेगा, तुमको धर दबावेगा। अतः आपस में मेल से रहना। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है—

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥

एक अच्छी कहावत है—

बाहर उपजै फूट तो सब कोय खाय।
घर में उपजै फूट तो घर को खाय॥

प्राचीनकाल की बात है। किसी समय किसी देश में एक बड़े प्रभावशाली राजा थे। एक बार उन्होंने किसी दूसरे राज्य पर चढ़ाई करके उसे जीत लिया और उस राज्य-प्रबंध के लिए अपने मंत्री को वहाँ रखकर स्वदेश लौट गया। कुछ दिनों के बाद अपने मंत्री से वहाँ का उत्तम-उत्तम फल माँगा। उनके मंत्री राजनीति में निपुण थे। उन्होंने फूट और बैर; ये दोनों फल उनके पास भेज दिये। जब राजा जी ने इन फलों को चखा, तो वे उन्हें अत्यन्त बेस्वाद मालूम हुए। क्रुद्ध होकर उन्होंने मंत्री की बुलाहट की बड़ी कड़ी चेतावनी के साथ। राजाजी की बुलाहट पर मंत्रीजी उसके निकट उपस्थित हुए और विनयपूर्वक कहा, "राजन्! आपके लिए वहाँ का ये सर्वोत्तम फल है—बैर और फूट। जबतक उस देश में ये दोनों फल रहेंगे अर्थात् आपस में बैर-फूट रहेगा, तबतक आपका राज्य वहाँ रहेगा। बैर-फूट दूर होते ही आपका साम्राज्य भी वहाँ से सुदूर हो जाएगा।" राजाजी मंत्री की बात से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे पुरस्कृत किया।

इतिहास इसका साक्षी है कि भारत की पराधीनता का कारण पृथ्वीराज और जयचन्द की फूट ही था। पति-पत्नी के मेल टूटने से कितना बड़ा अनर्थ हुआ, यह बात रामायण बताता है। पिता-पुत्र के वैमनस्य से क्या हानि होती है, यह हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की कथा बताती है।

अँगरेजी में एक कहावत है—'Charity beginning from home' अर्थात् उदारता गृह से ही आरंभ होती है। अतएव हम सर्वप्रथम अपने गृह का निर्माण सुधार करें। किन्तु स्मरण रहे गृह-सुधार तबतक संभव नहीं है, जबतक हम स्वयं अपना निर्माण वा सुधार न कर लें।

इसलिए वेद भगवान कहते हैं—आपस में सब मेल से रहो। यदि एक घर के सभी कोई मेल से रहें, तो एक घर सुधर जाएगा। इसी तरह उस घर का अनुकरण पड़ोसी सुधरेंगे। फिर गाँव सुधर जाएगा। इस

तरह अनुकरण करते चले जाएँगे, तो गाँव के सुधार से थाना सुधरेगा, थानाओं के सुधार से जिला सुधरेगा, जिलाओं के सुधार से कमिश्नरी सुधरेगी, कमिश्नरियों के सुधार से प्रान्त सुधरेगा, प्रान्तों के सुधार से देश सुधरेगा और देशों के सुधार से विश्व का सुधार होगा। इस तरह गाँव से थाना, जिला, प्रान्त, देश और संसार के सारे देश के लोग एक मेल में आकर सुधर जाएँगे। इस तरह विश्व में शान्ति विराजेगी।

लेकिन इस मेल को दृढ़ रखनेवाला कौन है? आपस में लोगों को जोड़नेवाला क्या है? वह है–धर्म और सभी धर्मों का मूल है–सत्य। 'धर्म न दूसर सत्य समाना।'–गोस्वामीजी ने कहा है। इसीलिए संतमत सत्य की सीख देता है। असत्य व्यवहार में मेल टूटता है। सती और शंकर के मेल टूटने का कारण असत्य भाषण ही था। वस्तुतः झूठ के कारण ही बेमेल, अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार, दुराचार आदि पाप होते हैं। संतमत सत्य धर्म का प्रचार करता है। संतमत एक सर्वेश्वर का ज्ञान देता है। जो स्वरूपतः नित्य है, सत्य है। वह एक ही एक है, चाहे उसे हम ब्रह्म की संज्ञा दें या ईश्वर की। गॉड की वा अल्लाह की। भाषा की भिन्नता है; वस्तु एक ही है। चाहे हम जल कहें, नीर कहें, पानी कहें, वाटर कहें, आब कहें, कोई फर्क नहीं पड़ता। केवल शब्द की लड़ाई है, वस्तु की नहीं, जिसे हम बच्चों की लड़ाई कह सकते हैं।

एक स्थान पर तीन बच्चे बड़े प्रेम से खेल रहे थे। एक सज्जन ने उनलोगों के खेल से प्रसन्न होकर तीनो बच्चों को एक सज्जन ने कुछ पैसे दिये। तीनों ने विचार किया कि इन पैसों से कुछ खरीदकर खाना चाहिए। उन बच्चों में से एक ने कहा (जो अंग्रेज था)–'इस पैसे का मैं वाटरमेलन खरीदूँगा।' दूसरे ने कहा (जो इस्लाम था)–'नहीं, मैं इस पैसे का हिन्दवाना खरीदूँगा।' तीसरे ने कहा (जो वैदिक था)–'मैं इस पैसे का तरबूज खरीदूँगा।' इस प्रकार विचार-वैषम्य के कारण तीनों बच्चे आपस में झगड़ने लगे। पैसे देनेवाले सज्जन ने तीनों का झगड़ा देखकर कहा–'बच्चो! मुझे पैसे दो। तुमलोग जो चीज चाहते हो, वही लाकर तुमलोगों को दूँगा।' उनलोगों ने पैसे दे दिए। वे सज्जन पैसे लेकर बाजार से एक तरबूज खरीद कर ले आए और उसे कपड़े से ढँककर तीनों को क्रम-क्रम से बुलाकर एक-एक टुकड़ा देते हुए कहा–'कहो! तुमको यही चाहिए ना?' तीनों अपनी-अपनी मनोवांछित वस्तु को पाकर बड़े प्रसन्न हुए। वस्तुतः चीज एक ही थी, मात्र भाषा की भिन्नता थी। भाषा की अनभिज्ञता के कारण वे लोग आपस में झगड़ रहे थे। इसी भाँति परम प्रभु परमात्मा एक हैं। उसे लोग अनेक नामों से अभिहित करते हैं। ईसाई उसे गॉड कहते हैं, मुसलमान अल्लाह कहते हैं, पारसी अहुरमज्द, चीनी तितीन और वैदिक उसे ब्रह्म कहते हैं। विभिन्न संज्ञाओं के कारण ब्रह्म या परमात्मा अनेक हैं, ऐसी बात नहीं है। इसी शब्दजाल में उलझकर हम आपस में लड़-झगड़ रहे हैं–हमारा ईश्वर भिन्न है और अमुक का गॉड वा अल्लाह भिन्न है।

हम जिस किसी भी देश, जाति वा धर्म के क्यों न हों, सब लोगों के देखने का रास्ता एक है और वह है आँख। किसी भी देश, जाति वा धर्म के लोग आँख के अतिरिक्त कान, नाक, जिभ्या वा त्वचा से नहीं देखते। कोई भी नाक से नहीं सुनते, जब कोई कुछ सुनते हैं, तो कान से ही। इसी प्रकार सभी कोई मुँह से ही भोजन करते हैं, ऐसा नहीं कि कोई कान से वा अन्य इन्द्रिय से भोजन ग्रहण करते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा ने सबको समान इन्द्रियाँ दी हैं। एक देश, जाति वा धर्म के लोग जिस इन्द्रिय से जो काम लेते हैं, सभी देश, जाति वा धर्म के लोग उस इन्द्रिय से वही काम लेते हैं। जैसे सबके देखने का एक रास्ता आँख है, सबके सुनने का एक रास्ता कान है, सबके भोजन करने का एक रास्ता मुँह है, उसी तरह परमात्मा तक जाने के लिए भी सबका एक ही रास्ता है और वह है अंदर का रास्ता।

बेहोशिये इंसान से यह ख्याल जुदा है ।
जाहिर में है मुहम्मद बातिन में खुदा है ॥

भिन्न-भिन्न इष्टों की भिन्न-भिन्न प्रकार से जो उपासनाएँ की जाती हैं, वे राह नहीं हैं, बल्कि उस राह पर पहुँचने का मात्र माध्यम है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सभी स्थूल सगुण उपासनाएँ वा आराधनाएँ उस राह को पकड़ने की योग्यता प्रदान करती हैं, वस्तुतः रास्ता लकीर को कहते हैं। जिसका कहीं आरंभ होता है, कहीं अन्त होता है और मध्य की दूरी होती है।

यह निर्विवाद रूप से निश्चित है कि परम प्रभु परमात्मा को चेतन आत्मा ही प्राप्त कर सकती है

और उस तक पहुँचने में उसके अतिरिक्त और कोई सक्षम नहीं। जो जहाँ बैठा रहता है, वह वहीं से चलता है। यहाँ जितने लोग बैठे हैं, क्या कोई कह सकते हैं कि वे शरीर से बाहर हैं? कदापि नहीं। आप इस शरीर में रहते हैं। अब जिज्ञासा हो सकती है कि यदि आप इसी शरीर में हैं, तो शरीर के किस भाग में, कहाँ पर रहते हैं?

बाहर की चीजों को हम आँख खोलकर देखते हैं, यह स्वाभाविक बात है। किन्तु जो चीज अंदर में है, उसकी खोज हम कैसे करेंगे? बाहर का उलटा होता है अंदर, इसलिए खुले नेत्र का उलटा होता है बंद नेत्र। अतएव हम आँख बंद कर देखें। आँख बंद कर देखते हें तो अपने को अंधकार में पाते हैं। यह अंधकार कहाँ है? नयनाकाश में। इसलिए कबीर साहब ने कहा है–

नैनों माहीं मन बसै, निकसि जाय नौ ठौर।
सतगुरु भेद बताइया, सब सन्तन सिरमौर॥

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि जैसे जहाँ दूध रहता है, वहाँ घृत भी। इसी तरह पिंड में जहाँ मन रहता है, वहाँ चेतन आत्मा वा सुरत भी। इसीलिए संत कबीर साहब ने इस साखी में 'जीव' वा 'सुरत' के लिए 'मन' का प्रयोग किया है। फिर ब्रह्मोपनिषद् के इस श्लोक से तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि किस अवस्था में जीव का कहाँ वासा होता है? ब्रह्मोपनिषद् में लिखा है–

जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः।
नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥

जीव जाग्रत् और स्वप्न में पुनः पुनः आता-जाता रहता है। जीव का वासा जाग्रत् में नेत्र में, स्वप्न में कण्ठ में, सुषुप्ति में हृदय में और तुरीयावस्था में मस्तक में होता है।

संत दरिया साहब बिहारी कहते हैं–

जानिले जानिले सत्त पहचानिले,
सुरत साँची बसै दीद दाना॥

संत चरणदासजी महाराज ब्रह्मोपनिषद् से बिल्कुल मिलती-जुलती बातें कहते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे दो साजों की एक ही आवाज हो–

जाग्रत बासा नैन में, स्वप्न कंठ स्थान।
जान सुषुप्ति हृदय में, नाभि तुरीय मन तान॥

साधना का आरंभ जाग्रतावस्था से ही होगा। अतएव नेत्र संबंधी स्थान से ही साधना का आरंभ वा ईश्वर से मिलन के लिए यात्रा का आरंभ होगा।

यही रास्ता संतमत बतलाता है। कहीं बाहर जाने की जरूरत नहीं है। अंतर्गमन की सद्युक्ति संतमत बतलाता है। आवश्यकता है इन्द्रियों में पसरी हुई चेतनवृत्तियों को एकत्रीकरण करने की, जिसका यत्न और लक्ष्य-स्थान संतमत बतलाता है। संतमत की उपासना-विधि–मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टिसाधन और सुरत-शब्द-योग वा नादानुसंधान है। जो वेद, उपनिषद्कालीन ऋषियों से लेकर अद्यावधि संतों तक चली आ रही है। जितने संत हुए हैं सबने एक ईश्वर को बताया और उस तक पहुँचने की सबों ने एक ही राह बतायी। गो० तुलसीदासजी की वाणी में अभी आपलोगों ने सुना–

पात पात के सींचवो, बरी-बरी के लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहके कहु कोन॥

आप वृक्ष के मूल में पानी नहीं डालकर उसके पत्ते-पत्ते पर पानी डालें, तो वह वृक्ष सूख जाय, संभव है; परन्तु यदि उसके मूल का सिंचन किया जाए, तो वृक्ष पल्लवित, पुष्पित और फलित हो, इसमें संदेह क्या। उसी तरह बरी के बेसन में ही यदि नमक मिला दें, तो छोटी-बड़ी सभी बरियों में समान रूप से नमक पड़ जाएगा। यदि बेसन में नमक नहीं डालेंगे और अलग-अलग प्रत्येक बरी में नमक देंगे, तो किसी में अधिक, किसी में कम और किसी बरी में लवण नहीं भी हो, संभव है। गोस्वामीजी के कहने का भाव यह है कि एक परमात्मा की उपासना करो, बहुदेव उपासी नहीं बनो। एक ईश्वर की भक्ति से सबकी भक्ति आप ही आप हो जाएगी। संतमत यही सिखलाता है कि एक सर्वेश्वर पर ही अचल विश्वास एवं पूर्ण भरोसा करो।

ईश्वर-स्वरूप का ज्ञान बड़ा गंभीर है। जैसे हवा का रूप कैसा होता है, वह समझाना कठिन है, उसी प्रकार ईश्वर का स्वरूप ऐसा है, यह समझाना और भी अति कठिन, बल्कि असंभव है। फिर भी

संतों एवं ऋषियों ने उपमा-उपमेय के द्वारा समझाने की भरसक चेष्टा की है। कठोपनिषद् में आया है—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

अर्थात्—जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

जिस प्रकार साइकिल का चक्का चक्राकार होता है, उस चक्के में जो हवा रहती है, वह चक्राकार हो जाती है। उसी तरह बैलून में—यदि लंबा है, तो उसकी हवा लंबी हो जाती है और फूटबॉल जो कि गोलाकार है, उसमें हवा गोल रूप धारण करती है। वस्तुतः हवा का क्या रूप है? यथार्थ में हवा न तो लंबी है, न गोल है और न चक्राकार ही। जिस वस्तु में प्रविष्ट होती है, वैसा ही रूप वह धारण करती है। उसी तरह परमात्मा सब रूपों में व्यापक होकर सर्वरूपी होते हुए सबसे परे भी है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा है—

अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा वसत,
इति वासना धूप दीजै।

स्मरण रहे सब रूपों में परमात्मा है सही; परंतु सब रूप ही परमात्मा नहीं। जो सबमें व्यापक है, उनका ज्ञान हमें होना चाहिए, उस ज्ञान के लिए सर्व प्रथम अपना ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि जबतक हम अपने को नहीं जानेंगे, तबतक परमात्मा को नहीं जान सकेंगे। भक्तिन सहजोबाई ने कहा है—

आपनही कूँ खोज मिलै जब राम सनेही।

जबतक अपनी पहचान नहीं होगी, तबतक परमात्मा का सही ज्ञान नहीं होगा। ठीक वैसे ही, जैसे जबतक अपने शरीर का ज्ञान नहीं होता, तबतक किसी के शरीर के ज्ञान नहीं होता। जब अपने शरीर का ज्ञान हमें होता है, तब अन्यों के शरीर का भी ज्ञान होता है। इसके लिए हम जाग्रत एवं स्वप्न की अवस्था पर विचार करें। जाग्रत अवस्था में अपने शरीर का ज्ञान हमें रहता है, तो संसार का भी ज्ञान रहता है। जाग्रतावस्था से स्वप्नावस्था में जाने पर अपने शरीर का ज्ञान नहीं रहता है, तो स्थूल संसार का ज्ञान नहीं रहता है। पुनः जगने पर स्व-शरीर का ज्ञान होता है, तब पर-शरीर वा संसार का भी ज्ञान होता है। इसलिए संतों ने कहा—परम प्रभु परमात्मा की खोज करना चाहो, तो उसके पूर्व अपनी खोज कर लो। अपने स्वरूप का ज्ञान होगा, तो परमात्म-स्वरूप का भी; क्योंकि दोनों तत्त्वरूप में एक ही है। जैसे जल-बूँद की पहचान से जल-सिन्धु की पहचान होती है, वैसे ही जीव की पहचान से शिव की—सर्वेश्वर की पहचान होती है। परम प्रभु की प्राप्ति का सरल साधन ध्यान विन्दूपनिषद् में इस भाँति बताया है—

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥

अर्थात्—परम विन्दु ही बीजाक्षर है; उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाश ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है।

अक्षर का बीज विन्दु कैसे बनता है? स्थूल जगत में कागज के ऊपर कलम की नोक जहाँ रखते हैं, वहाँ एक छोटा चिह्न अंकित होता है, वही विन्दु कहलाता है। किन्तु विन्दु की परिभाषा है—जिसका स्थान हो, परन्तु परिमाण नहीं। बाल के नोक से चिह्नित करने पर भी जो विन्दु बनेगा, वह परिभाषा के अनुकूल विन्दु नहीं हो सकता। उसी तरह उसी विन्दु के समूह को रेखा कहते हैं। रेखा में लंबाई होती है, पर मोटाई, चौड़ाई नहीं। स्थूल जगत में किसी भी तरह यथार्थ विन्दु वा रेखा नहीं बन सकती।

हमलोग रेखागणित वा ज्यामिति में पढ़ते हैं—कल्पना किया कि 'अ ब स' एक त्रिभज है। क्यों? इसलिए कि कल्पित विन्दु से जो रेखा बनी, वह कल्पित रेखा और उस कल्पित रेखा से जो त्रिभुज बना, वह कल्पित त्रिभुज है।

ध्यानविन्दूपनिषद् के ऋषि कल्पित विन्दु की बात नहीं करते। वे यथार्थ विन्दु वा परम विन्दु की बात कहते हैं। यह दृष्टि की लेखनी से गुरु निर्देशानुकूल निर्दिष्ट स्थान पर क्रिया-विशेष द्वारा बनता है। इसका यत्न संत गुरु से सीखना चाहिए, जहाँ विन्दु का उदय होता है, वहाँ ध्वनि भी सुनाई

पड़ती है। वह ध्वनि अंतर्ध्वनि है, ब्रह्मध्वनि है। उस ध्वनि को ग्रहण कर, उसके अवलंब से बढ़ते-बढ़ते अंत में सुरत अध्वनि में पहुँचती है, जिसको ऋषि ने 'परमं पदम्' कहा और गो० तुलसीदासजी के शब्दों में 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥' है। यही संतों का अभीष्ट है-मोक्ष पद है, जहाँ से पुनः आवागमन नहीं होता है। यही संतमत बतलाता है।

दिनांक-२१.३.१९७१, स्थान : पटना (६३वाँ महाधिवेशन) प्रातःकाल

३६.योगी की दृष्टि में संसार का अस्तित्व नहीं है

एक महात्मा के पास तीन सज्जन पधारे और अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। महात्माजी ने पूछा-'आपलोग किस उद्देश्य से पधारे हैं?' तीनों ने कहा-'आपसे शिक्षा ग्रहण करने के लिये।' महात्माजी ने पुनः उन तीनों से पूछा-आपलोग पहले यह बतलाइए कि आँख और कान में क्या अंतर है? तब मैं उपदेश करूँगा।' उन तीनों में से एक ने कहा-'आँख और कान में चार अंगुल का अंतर है। दूसरे ने कहा, 'कान से सुनी हुई बातों की अपेक्षा आँख से देखी हुई बातें अधिक प्रामाणिक होती हैं।' तीसरे ने उत्तर दिया, 'महात्मन्! इन बातों के सिवा श्रवणेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय में यह भी अंतर है कि चक्षु केवल विषय-मायिक पदार्थों को देख सकता है, किन्तु कर्ण मायिक वार्ता विषय संबंधी बातों के अतिरिक्त निर्मायिक, निर्विषय तत्त्व के संबंध में भी सुन सकता है।

महात्माजी ने पहले को सत्संग करने का, दूसरे को भक्ति का और तीसरे को ज्ञान का उपदेश दिया। अखिल भारतीय संतमत-सत्संग की इस महती सभा में आपलोग भी सत्संग के संबंध में, भक्ति के संबंध में और ज्ञान के संबंध में सुन पायेंगे। किन्तु इस प्रकार के कथन से आप ऐसा न समझें कि इसमें 'योग' की चर्चा नहीं होगी। 'योग' का संयोग तो भक्ति के साथ और ज्ञान के साथ स्वभावतः रहता ही है। इसीलिए हम कहते हैं-भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि। 'योग' के बिना किसी भी साधन में सफलता संभव नहीं। किन्तु हाँ, यह भी कह देना आवश्यक है कि वह हठयोग नहीं, कठिन योग नहीं, राजयोग-सरलयोग है।

दूसरी बात बताऊँ-आप देखते हैं, सरिता के शब्द तबतक ही सुन पाते हैं, जबतक वह समुद्र की समीपता प्राप्त नहीं करती। गगन में उडुगण तबतक ही टिमटिमाते हैं, जबतक सूर्य का उदय नहीं होता है। इसी तरह वन में गीदड़ तबतक ही भूकते हैं, जबतक सिंह का गर्जन नहीं होता। ठीक इसी भाँति वेदान्त ज्ञान के सामने अन्य सभी ज्ञान उसी तरह फीके पड़ जाते हैं, जिस तरह सूर्य के प्रकाश के सामने चन्द्र वा अन्य प्रकाश। श्रवणादिक सभी प्रकार के ज्ञान का जहाँ पर्यवसान होता है, उसे वेदान्त कहते हैं। इसीलिए वेद अर्थात् ज्ञान की परिसमाप्ति जहाँ है, वह ज्ञान वेदान्त कहता है। वेदान्त कहता है-'सत्य ब्रह्म जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। सामान्यतया सत्य और असत्य की परिभाषा बड़ी सीधी है। यथा-हम जैसे सुनते और देखते हैं, ठीक उसी तरह वर्णन करने को सत्य कहते हैं। जिस तरह सुना और देखा, उस तरह नहीं कहा, बात बदल दिया, उसको झूठ कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो जैसा था, वैसा ही रहा, वह सत्य है और जो जैसा था, वैसा नहीं रहा, परिवर्तन हो गया, मिथ्या है।

ब्रह्म जैसा था, वैसा ही सदा रहता है, इसलिए वह सत्य है और संसार परिवर्तनशील है-बदलनेवाला है और बदलते-बदलते नाश भी हो जाता है, इसलिए यह असत्य है। दूसरी तरह से संतगण ऐसा भी कहते हैं, यह संसार स्वप्नवत् हैं। अर्थात् स्वप्न के समय स्वप्न की चीजें सत्य प्रतीत होती हैं, किन्तु जगने पर असत्य हो जाती हैं, वस्तु का अभाव हो जाता है। वस्तुतः वह वस्तु थी ही नहीं। उसी तरह अज्ञान की रात में सोये जन को संसार सत्य प्रतीत होता है, किन्तु जगे हुए योगी की दृष्टि में संसार का अस्तित्व ही नहीं है।

स्वप्न में राजा भिखारी और दरिद्र इन्द्र बन जाता है, पर जग जाने पर राजा को न तो कोई हानि

होती है और न दरिद्र को कुछ लाभ होता है। ऐसे ही इस संसार को स्वप्नवत् जानो। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है–

सपने होहिं भिखारी नृप, रंक नाकपति होय।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय॥
मोह निसा सब सोबनिहारा।
देखइ सपन अनेक प्रकारा॥
यहि जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी।

विनय-पत्रिका में उन्होंने इस प्रकार कहा है–

सुभग सेज सोवइ सपने वारिधि बूड़त भय लागे।
कोटिन्ह नाव न पार परै तहँ जब लगि आपु न जागे॥

कोई राजकुमार सुन्दर शय्या पर सोया हुआ है और वह स्वप्न देख रहा है कि मैं समुद्र में डूब रहा हूँ; किन्तु उसके निकट में करोड़ों नावें बँधी रहने पर भी उसके डूबने का विकट भय दूर नहीं हो सकता, जबतक कि वह जग न जाए।

एक बड़ी अच्छी कथा है–राजा जनकजी अपने महल में सोए हुए थे। उन्हेंने स्वप्न देखा कि किसी राजा ने उनके राज्य पर चढ़ाई कर दी। लड़ाई होने लग गयी और भीषण युद्ध हुआ। अन्त में राजा जनकजी हार गये। वे बन्दी बनाकर नये राजा के सामने लाये गये। राजा जनक डर के मारे थर-थर काँप रहे थे। जिस राजा के अधिकार में राजा जनक हो गए थे, उसने कहा–'जनक! डरने की कोई बात नहीं है। मैं तुम्हारी जान नहीं लूँगा। तुम्हारे शरीर पर जो राजसी वस्त्र-अलंकारादि हैं, उन्हें उतारकर नीचे रख दो। एक कौपीन पहन लो और तुम इस राज्य से बाहर चले जाओ। अब यह सारी प्रजा मेरी हो गयी है।' तदनन्तर प्रजाओं में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि अब राजा जनक राजा नहीं रहे। राजा मैं हुआ। अब जनक से कोई बोल तक नहीं सकता। अगर मुझे पता चला कि जनक से कोई एक शब्द भी बोला है, तो उसके समूचे परिवार को जलाकर समाप्त कर दिया जाएगा।

अब इधर देखिए–राजा जनकजी पैदल जा रहे हैं। शरीर पर एक कौपीन मात्र है। उनको राज्य सीमा पार करनी है। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन; भूखे-प्यासे चले जा रहे हैं, कोई पूछता तक नहीं। चलते-चलते पैरों में फफोले पड़ गए हैं। अब भूख और प्यास के मारे जीभ मुँह से बाहर हो रही है। येन-केन-प्रकारेण सातवाँ दिन होता है, तो राज्य सीमा पार करते हैं। दुर्बल हो गये हैं। राज्य-पाट पहले ही छीन गया है। जब राज्य-सीमा पार करते हैं, तो पूछते हैं किसी से–'भाई! बताओ, यहाँ आस-पास में कहीं कुछ खाने को मिलेगा? एक ने कह दिया–'थोड़ी दूर आगे जाओ, वहाँ खिचड़ी बँटती है। तुमको खिचड़ी मिल जाएगी; लेकिन समय पूरा होने जा रहा है, कहीं ताला न लग जाए भण्डार घर में।' पैरों में फफोले हैं, चल नहीं सकते हैं और भण्डार के बंद होने का भी भय है। इसलिए वे किसी प्रकार आगे बढ़ते हैं। फफोले फूटते हैं, पानी बहता है और घावों में पीड़ा होती है। इधर भूख भी सता रही है। अतः बढ़ते चले जाते हैं।

जाते-जाते जबतक पहुँचते हैं–भण्डार में ताला लग ही जाता है। अब क्या हो! कहते हैं–'मुझे तो बड़ी भूख सता रही है, कुछ खिलाओ।' उत्तर मिला–'पहले आते, तो तुमको खाना मिल जाता, अब तो जितनी खिचड़ी बनी थी, सब बँट चुकी है। हाँ, हो सकता है, जली हुई खिचड़ी बर्त्तन में लगी रह गयी हो।' कहा–'वही खुरचकर खुरचन ही दे दो। भूख से आग लगी हुई है मेरे भीतर।' बरतन के पेंदे खुरचकर कहा–'लो! बरतन कहाँ है?' बरतन तो था नहीं। कहा–'हाथ में दे दो।' हाथ फैलाता है। हाथ पर जली हुई खिचड़ी की खुरचन डाल दी गई। जैसे ही वे उसमें मुँह लगाना चाहते हैं कि एक चील आती है, झपट्टा मारती है और वह खिचड़ी भी हाथ से गिर जाती है।

तबतक राजा की नींद टूट जाती है। इतनी देर तक तो राजा स्वप्न में थे। नींद में थे। अब नींद टूटती है, तो देखते हैं–'अरे! यह तो राजमहल है। यह मेरी पत्नी है। यह सिंहासन है। यह पलंग है।' अब वे सोचने लगते हैं–यह जो अभी देख रहा हूँ, यह सच है कि वह सच था? कुछ बोलते नहीं हैं। बोलते हैं, तो बस इतना ही 'यह सच है कि वह सच?'

रानी जगकर देखती है कि राजा की छाती धक-धक कर रही है। रानी ने पूछा–'क्या हो गया है आपको?' बारम्बार पूछती है, राजा कोई उत्तर नहीं देते। यही कहते हैं–'यह सच है कि वह सच।' इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलते। एक दिन, दो दिन, कई दिन बीत गए। डॉक्टर आए, वैद्य-ओझा आए,

सबसे एक ही प्रश्न–'यह सच है कि वह सच?' कोई उत्तर दे नहीं सके। आखिर राजा जनक ने घोषणा की–'जो कोई मेरे प्रश्न का उत्तर दे देगा, उसको मैं अपना गुरु बना लूँगा और आधा राज्य दक्षिणा में दे दूँगा।' राजा जनक बड़े ज्ञानी राजा हैं, जो कोई उनके गुरु बने, उसमें उनका कितना बड़ा सम्मान होगा, यह जानकर बड़े-बड़े धुरन्धर पण्डित आए, समझाने-बुझाने के लिए, प्रश्न का उत्तर देने के लिए; लेकिन समाधान नहीं हो सका। अन्त में, जब प्रश्न निरुत्तरित ही रहा तो राजा जनक ने सोचा कि ऐसे अब घर बैठे-बैठे नहीं होगा। वे एक रथ पर सवार होकर चल पड़ते हैं गुरु की खोज में।

उधर से अष्टावक्र मुनि आ रहे थे। अष्टावक्र अर्थात् जिनके आठो अंग टेढ़े हों। जो रथवाहक था उसने कहा–'अरे तुमको सूझता नहीं है? राजा की सवारी आ रही है और तू सीधे चला आ रहा है।' अष्टावक्र मुनि के कहा–'अन्धा मैं हूँ या तुम हो या जो उस रथ पर बैठा हुआ है वह है? अरे! कोई लंगड़ा होता है, लूला होता है, अंधा होता है, अंग-विहीन होता है, तो उसे रास्ता दिया जाता है, उससे रास्ता माँगा नहीं जाता। तुम देख रहे हो, मैं आठो अंग से टेढ़ा हूँ, चलने-फिरने में भी लाचार हूँ और उल्टे तू मुझसे रास्ता माँग रहा है। तारीफ यह है कि उस रथ पर बैठा हुआ जो अंधा है, वह भी कुछ कहता नहीं है।' राजा जनक ने सोचा यह कोई साधारण आदमी नहीं हो सकता। राजा जनक रथ से उतर पड़े और बोले–'महात्मन्! आप कौन हैं?' मुनि ने कहा–'तुम कौन हो?' राजा बोले–'मैं तो राजा जनक हूँ।' मुनि ने कहा–'कहाँ चले हो?' राजा ने कहा–'गुरु की खोज में चला हूँ।' मुनि ने हँसकर कहा–'तुम रथ पर बैठकर चले हो गुरु खोजने के लिए। रास्ते में गुरु मिल जाएँ, तो उन्हें कैसे ले जाओगे?' राजा बोले–'महाराज! मैं पैदल चलूँगा, गुरु को रथ पर बैठा लूँगा। अगर आप मेरे प्रश्न का उत्तर देना चाहें तो रथ पर पधारें।' मुनि ने कहा–'चल, मैं तेरे प्रश्न का उत्तर दूँगा।' राजा अष्टावक्र मुनि को रथ पर बैठा लेते हैं और स्वयं पैदल चलते हैं। प्रजा देखती है कि महाराज पैदल चले आ रहे हैं। सब चकित हैं। आखिर रथ पर कौन है? राजमहल आता है। अष्टावक्र मुनि को रथ पर से उतारा जाता है। उनके हाथ, पैर, मुँह, कान, नाक सब-के-सब टेढ़े थे। यह देखकर राजा जनक के सभासद हँस पड़े। इधर अष्टावक्र मुनि ने भी ठहाका लगाकर हँस दिया। राजा जनक ने मुनि को आदर-सत्कार के साथ बैठाया और पूछा–'आपके हँसने का कारण?' मुनि ने कहा–'राजन्! तुम्हारे जो सभासद हैं, पहले उनसे हँसने का कारण पूछो। पहले वे उत्तर दे दें, उसके बाद मैं उत्तर दूँगा।' सभासदों ने कहा–'इस तरह की कुरूपता हमलोगों ने पहले कभी देखी नहीं थी। इस प्रकार के रूप देखने से हमलोगों को एकाएक हँसी आ गई।'

अब अष्टावक्र मुनि बोले–'मेरे हँसने का कारण यह है कि मैंने सुन रखा था–महाराज जनक की सभा में बड़े-बड़े ज्ञानी हैं, विद्वान् हैं, विज्ञानी हैं, ब्रह्मवेत्ता हैं, आत्मदर्शी हैं; लेकिन जब मैं सभा में पहुँचा हूँ, तो मुझे बड़ी निराशा हो रही है। यहाँ तो देखता हूँ कि सब-के-सब चमार बैठे हुए हैं।' राजा जनक ने विस्मयपूर्वक कहा–'महाराज! आप ऐसी बात क्यों कर रहे हैं?'

मुनि ने उत्तर दिया–'अगर कोई आत्मविद् होता, आत्मज्ञानी होता, यथार्थ में कोई ब्राह्मण होता, तो वह ब्रह्म की पहचान करता। ब्रह्म की पहचान करनेवाला ही ब्राह्मण होता है। चमड़े और हड्डी की पहचान करनेवाले, भला चमार नहीं तो और क्या हो सकते हैं? इन सभासदों ने तो मेरे चमड़े और हड्डी की पहचान की है। मेरा यह अंग टेढ़ा, मेरी यह हड्डी टेढ़ी, यह चमड़ा टेढ़ा। चमड़े और हड्डी की पहचान करनेवालों को चमार की संज्ञा न दी जाए, तो और क्या कहा जाय? समझो, विचारो तो तुम। नदी टेढ़ी होती है; लेकिन उसका पानी टेढ़ा नहीं होता। उसी प्रकार यह शरीर टेढ़-मेढ़ा हो सकता है; परन्तु इसके अन्दर निवास करनेवाली आत्मा टेढ़ी नहीं हो सकती। वह तो ज्यों-की-त्यों है। अरे! अपने बगल में लगे तकियों को देखो–तकियों के ऊपर के खोल जो हैं–कोई लाल है, कोई नीला है, कोई पीला है, कोई कैसा है; लेकिन सबों के अन्दर एक ही प्रकार की रूई रहती है। उसी तरह शरीर बाहर से गोरा है, काला है, लम्बा है, नाटा है, मोटा है, दुबला-पतला है, यह तो शरीर का रूप-रंग है, आकार-प्रकार है; लेकिन उसके अन्दर रहनेवाली आत्मा का स्वरूप तो एक ही है।'

राजा जनकजी समझ गए कि ये कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। उन्होंने कहा–'महाराज! अब मेरी जो जिज्ञासा है, उसका समाधान किया जाए।' मुनि ने कहा–'पूछो।' राजा ने कहा–'यह सच है कि वह सच?' मुनि ने अल्पकाल के लिए अपनी आँखें बन्द की और फिर खोल दी। सारी स्थिति को जान लिया। आँख बन्द करते ही वे सारी घटना देख चुके। उन्होंने कहा–'राजन्! न यह सच है और न वह सच है।' राजा ने कहा–'यह आप क्या कह रहे हैं? खुलासा कीजिए।' मुनि ने कहा–'राजन्! जिस प्रकार तुम्हारे राज्य पर किसी दूसरे राजा ने चढ़ाई की थी, घनघोर युद्ध हुआ था, तुम हार गये थे, सभी राजोचित वस्त्र-अलंकार तुमको छोड़ने पड़े थे, एक कौपीन पहनकर सात दिनों तक भूखे पैदल चले थे। पैरों में फफोले पड़ गये थे, भूख-प्यास के मारे तुम्हारी जान निकल रही थी और भिक्षा में हाथ में जली हुई खिचड़ी की खुरचन मिली थी, उसी वक्त चील ने झपट्टा मार दिया था, क्यों याद है ना?' जनक ने कहा–'हाँ याद तो है।' मुनि ने पूछा–'क्या वह स्थिति अभी है?' राजा बोले–'नहीं महाराज! अभी तो नहीं है।' मुनि ने कहा–'जिस वक्त तुम उस अवस्था में थे, क्या अभी की अवस्था थी तुम्हारी?' राजा ने कहा–'नहीं।' मुनि ने पूछा–'यह राज्य-वैभव था?' राजा ने कहा–'नहीं, राज्य-वैभव कहाँ? तब तो मैं कंगाल था।' मुनि ने कहा–'उस कंगाल की अवस्था में थे, तब यह राज्य वैभव नहीं था और जब तुम राजा बने हुए हो, तब वह कंगालवाली अवस्था नहीं है। इसलिए न यह सच, न वह सच। उस अवस्था के लिए यह अवस्था झूठी और इस अवस्था के लिए वह अवस्था झूठी। इसलिए न यह सच है, न वह सच है।' राजा ने पूछा–'महाराज तब क्या सच है?' मुनि बोले–'कंगाल कौन था?' राजा ने कहा–'मैं था।' मुनि बोले–'अभी राजा बना कौन बैठा है?' राजा ने कहा–'मैं हूँ राजा।' मुनि बोले–'तब तुम ही सच हो, तब भी तुम थे और अब भी तुम हो। इसलिए तुम सच हो।'

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि वह झूठा था, फिर स्वप्नावस्था में जनकजी को बहुत कष्ट था। जिस तरह राजा जनकजी के स्वप्न के दुःख अष्टावक्र मुनि की कृपा से जगने पर छूटा, उसी तरह मोह-निशा में सोया हुआ जागतिक जीव असत्य जगत को सत्य मानकर दुःख भोग रहा है। संत सद्गुरु की दया पाकर जगने पर ही उससे छूट सकता है। संत-महात्मागण बतलाते हैं कि जगत् स्वप्नवत् है। स्वप्न में स्वप्नावस्था के कार्य-कलापों को कोई मिथ्या नहीं जानता। किन्तु जब उसकी निद्रा टूटती है अर्थात् जगता है, तब उसको स्वप्न में मिथ्यात्व का बोध होता है। आवश्यकता है, बहिर्मुख से ईश्वराभिमुख होकर जगने की। इसी के संबंध में संत दरिया साहब ने कहा है–

माया मुख जागे सबै, सो सूता कर जान।
दरिया जागे ब्रह्म दिसि, सो जागा परमान॥

यह वेदान्त ज्ञान बतलाता है। संसार की अस्तित्वशून्यता के संबंध में पुनः गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर वारि।
यद्यपि मृषा तिहुँ काल महँ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥
यह विधि जग हरि आस्रित रहई।
यद्यपि असत्य देत दुःख अहई॥

अर्थात् जैसे सीपी पर जब सूर्य की किरण पड़ती है, तो वह चाँदी जैसी भासती है। बालू में धूप के कारण प्यासा मृग को पानी-जैसा भासता है। वह उसे पानी समझकर पान करने के लिए दौड़ता है। दौड़ते-दौड़ते वह मर जाता है, पर पानी मिलता नहीं। पानी मिले भी तो कैसे? वहाँ तो पानी है नहीं। लेकिन उस अज्ञ मृग को कौन समझा सकता है! इसी तरह ईश्वर की सत्ता पर यह जगत भासता है। लेकिन जगत का स्वयं अस्तित्व नहीं है। ठीक वैसे ही, जैसे सित्तू (सीपी) के आधार पर चाँदी भासती है, लेकिन वहाँ चाँदी है नहीं। अंधकार में रस्सी को देखकर साँप का भ्रम होता है। इसी तरह अज्ञानता में संसार दीखता है। ज्ञान प्रकाश पाने पर संसार नहीं रह जाता, फिर उससे उत्पन्न भ्रम और भय स्वयं भाग जाते हैं। यही संत महात्मागण बतलाते हैं।

संतगण ऐसा भी कहते हैं कि यह संसार बाजीगर के खेल जैसा है। बाजीगर अपने खेल वा तमाशे में जो कुछ दिखलाता है, देखने में तो सत्य प्रतीत होता है, किन्तु यथार्थ में वह कुछ नहीं है। जैसा जो कुछ देखने में आता है, वैसा वह है नहीं, यही है माया। उसी तरह यह जगत् है। जैसा दीखता है, वैसा नहीं है। वनवासकाल में भगवान श्रीराम से लक्ष्मणजी

ने पूछा था, माया क्या है? भगवान ने कहा था–

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥

अर्थात् इन्द्रियों को जो प्रत्यक्ष हो और जहाँ तक मन जाता है, सब माया ही माया है। आपको जितने भी प्रकार के रंग-रूपों के दर्शन हों, सबको इसी कसौटी पर कसकर देख लीजिए। स्वतः पता चल जाएगा कि वह ब्रह्म है वा भ्रम है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करते हैं।

जो माया सब जगहिं नचावा।
जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सो प्रभु भ्रू विलास खग राजा।
नाच नटी इव सहित समाजा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता।
अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।
सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा।
नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥

और भी,

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहि कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय॥

कोई कहते हैं–'जो भगवान निर्गुण है, निराकार है, अव्यक्त है, फिर उनसे लेना क्या? न कभी भेंट, न मुलाकात। जब चाहें, तब दर्शन; जो माँगना चाहें, प्रत्यक्ष माँग लें।' उनसे दूसरे कहते हैं–'आपके ईश्वर सगुण, साकार और व्यक्त हैं, तो क्या अभी उनके दर्शन हो सकते हैं?' इसके उत्तर में वे कहते हैं–नहीं, वे तो समय पाकर अवतार धारण करते हैं और कार्य संपादन काल तक ठहरकर फिर चले जाते हैं।' हमारे भगवान तो सगुण हैं, साकार हैं, व्यक्त हैं। दूसरे कहते हैं–"आपके कहने का तात्पर्य यह हुआ कि पहले वे अव्यक्त थे, कार्यवश व्यक्त हो गये। पहले वे निर्गुण थे, कार्यवश सगुण हुए, फिर निर्गुण स्वरूप को प्राप्त हो गये। पहले निराकार थे, भक्त प्रेमवश साकार हुए, दर्शन देकर फिर निराकार हो गये। अब तराजू के दोनों पलड़ों पर एक ओर निर्गुण, निराकार और अव्यक्त को रखिए और दूसरे पलड़े पर सगुण, साकार और व्यक्त को रखकर देखिए, कौन पलड़ा भारी होता है? आदि में निर्गुण और अंत में निर्गुण; किन्तु बीच में सगुण। इसलिए दोनों निर्गुणों को एक पलड़े पर रखिए और सगुण को दूसरे पलड़े पर। आदि में निराकार, अंत में निराकार, केवल मध्य में साकार। इसलिए दोनों निराकार को एक पलड़े पर रखिए और साकार को दूसरे पलड़े पर। पुनः आदि में अव्यक्त, अंत अव्यक्त और बीच में कुछ काल के लिए व्यक्त। इसलिए दोनों अव्यक्त को एक पलड़े पर और एक व्यक्त को दूसरे पलड़े पर रखिए। साथ ही, यह भी स्मरणीय है कि उस सगुण, साकार, व्यक्त के साथ निर्गुण, निराकार, अव्यक्त सतत अव्याहत रूप से व्यापक रहता है। अब विवेक विलोचन से अवलोकन करें, निश्चित कर नित्य स्थिर वा शाश्वत सत्य कौन है?"

मूलारंभ तत्त्व क्या है? गोस्वामीजी कहते हैं– 'अगुन अखंड अलख अज जोई।' और पश्चात् का? तो वे पुनः स्पष्ट कह देते हैं–

'भगत प्रेम बस सगुन सो होई।'

गोस्वामी तुलसीदासजी ने और भी कहा है–

भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥

भगवान श्रीकृष्ण के अवतार की बात श्रीमद् भागवत स्कन्ध १, अध्याय १५ के ३४-३५ श्लोकों में लिखा है–जैसे किसी को काँटा गड़ जाए, तो उस काँटे को दूसरे काँटे से निकालकर पुनः दोनों को फेंक देते हैं। उसी तरह पृथ्वी पर जब दुष्टरूप काँटों का उदय होता है, तब भगवान भी शरीररूपी काँटों को धारण करते हैं और दुष्टरूप काँटों का विनाश कर फिर अपना शरीर भी त्याग देते हैं।

यथा हरद् भुवो भारं ता तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम्॥
यथा मत्स्यादि रूपाणि धत्ते जह्याद् यथानटः।
भूभारः क्षपितोयेन जहौ तच्च कलेवरम्॥

और, भगवान श्रीराम के अवतार के विषय में रामचरितमानस के उत्तरकांड में लिखा है–

यथा अनेकन वेष धरि, नृत्य करइ नट कोय।
सोइ सोइ भाव दिखावइ, आपु न होय न सोय॥

अर्थात् जैसे कोई नट वा बहुरूपिया अनेक रूप बनाकर नाच करता और वही-वही भाव दिखाता है; किन्तु आप वह यानी जिस व्यक्ति का रूप धारण किया है, नहीं हो जाता है। एक कथा है–

एक बहुरूपिया था। एक दिन वह वहाँ के राजा के घर पर पहुँचा। राजा ने कहा–'अजी! सुनता हूँ कि तुम अनेक प्रकार का वेश बनाकर लोगों को ठग लेते हो, लोग तुम्हें पहचान नहीं सकते। क्या तुम मुझे ठग सकते हो? यदि तुम मुझे ठग सको, तो मैं तुमको इनाम दूँगा। बहुरूपिया ने कहा–'जी हाँ, हुजूर को भी ठग सकता हूँ। ऐसा कहकर और राजा को प्रणाम कर वह वहाँ से चल पड़ा। बाजार से नकली दाढ़ी-मूँछ और बाल लेकर साधु वेश बनाकर वह शहर से बाहर धुनी रमाकर बैठ गया। साधु जानकर लोग उसके निकट जाता, प्रणाम करता, कुछ भेंट चढ़ाता; किन्तु वह चुपचाप बैठा रहता, किसी का कुछ ग्रहण नहीं करता। धीरे-धीरे शहर में बात फैल गयी कि एक सिद्ध महात्मा पहुँचे हुए हैं। वे बड़े त्यागी और विरक्त हैं, किसी के दिये हुए को छूते तक नहीं। अब उसकी खबर राजा तक पहुँच गयी। राजा के मन में इच्छा हुई कि ऐसे सिद्ध महात्मा का दर्शन अवश्य किया जाए। राजा भी उसके निकट पहुँचे। उसके रूप और वेश-भूषा से प्रभावित होकर राजा ने सौ रुपये का नोट सामने रखकर श्रद्धावनत हो प्रणाम किया। बहुरूपिया (जो संन्यासी वेश में था) ने उस नोट को हाथ से नहीं छूकर अपने चिमटा से उठाकर जलती धुनी की आग में डाल दिया। यह देखकर राजा चकित हो गया और उसके त्याग, तपस्या, विरक्ति और महानता की मन-ही-मन प्रशंसा करता हुआ घर लौटा। थोड़ी देर के बाद संन्यासी का वेश त्यागकर बहुरूपिया राजा के दरबार में हाजिर हुआ और राजा को सलाम कर इनाम माँगा। राजा ने पूछा–'कैसा इनाम?' बहरूपिया से राजा ने पूछा तुमने मुझे संन्यासी का स्वांग दिखाया? बहरूपिया ने कहा–हुजूर! ने मुझे रूप बनाकर ठगने कहा था और ठगने पर इनाम देने की बात हुजूर ने कही थी। राजा ने विस्मित होकर पूछा, 'तुमने मुझे ठग लिया?' कब? बहुरूपिया ने कहा, 'महाराज! कल्ह आपने सौ रुपये के नोट देकर जिस संन्यासी को प्रणाम किया था, वह कौन था? मैं ही तो था।' बहुरूपिया के उस संन्यास वेश को याद कर और अपने को ठगा जानकर राजा ने हँसते हुए कहा, 'देखो! मैं तो तुमको मामूली इनाम दूँगा, जो उस सौ रुपये से कम होगा। किन्तु तुमने उस सौ रुपये के नोट को आग में क्यों जला दिया?' बहुरूपिया ने कहा, 'महाराज! यदि मैं उस रुपये को नहीं जलाता, तो मेरे संन्यास वेश को कलंक लगता।' राजा प्रसन्न हुआ और बहुरूपिया को पुरस्कृत कर विदा किया। जैसे वह बहुरूपिया मात्र लीला दिखाने के लिए संन्यासी का रूप बनाया था। वास्तव में वह संन्यासी नहीं हो गया, जो का सो ही रहा। उसी तरह ईश्वर सगुण रूप को धारण करते हैं, किन्तु वे सगुण ही नहीं हो जाते, स्वरूपतः वे जैसे के तैसे रहते हैं। संत कबीर साहब कहते हैं–

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोय।

असल में ईश्वर का स्वरूप तो 'व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता॥' है जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है। कठोपनिषद् में है–

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ १०॥

अर्थात् जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है। उसी तरह सर्वभूतों में रहनेवाली एक आत्मा सर्वव्यापक होकर उसको भरकर भी कितना बाकी बच जाता है, उसका अंदाजा नहीं किया जा सकता। ऐसे परमात्म-स्वरूप के संबंध में सभी संतों का एक ही विचार है। संत दादू दयालजी कहते हैं–

ये हौं बूझि रही जीव जैसा, तैसा कोइ न कहै रे।
अगम अगाध अपार अगोचर, सुधि बुधि कोई न लहै रे॥

संत कबीर साहब ने कहा है–

नाद बिन्दु तें अगम अगोचर, पँच तत्त तें न्यार।
तीन गुनन तें भिन्न है, पुरुष अलक्ख अपार॥

गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा है–

अलख अपार अगम अगोचरि ना तिसु काल न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु भाउ न भरमा॥
साचे सचिआर विटहु कुरबाणु।
ना तिसु रूप बरनु नहिं रेखिआ साचे सबदि नीसाणु॥
ना तिसु मात पिता सुत बंधपु ना तिसु काम न नारी।
अकुल निरंजन अपर-परंपरु सगली जोति तुमारी॥
घट घट अंतरी ब्रह्मु लुकाइआ घटि घटि जोति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी लाई॥
जंत उपाइ कालु सिरिजंता बसगति जुगति सबाई।
सतिगुरु सेवि पदारथु पावहि छूटहि सबदु कमाई॥
सूचै भाडै साचु समावै बिरले सूचाचारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ नानक सरणि तुमारी॥

ऐसे प्रभु के दर्शन इस स्थूल नेत्र से नहीं हो सकते तथा स्थूल और सूक्ष्म किसी भी इन्द्रिय से उस सर्वेश्वर का साक्षात्कार संभव नहीं; क्योंकि इन्द्रियों में ऐसी क्षमता नहीं। सामवेद में लिखा है–

ओइम् सयोजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमिते न गावः।
परीणसं कृणुते तिग्म शृंगो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः॥

अर्थात् इस मंत्र के द्वारा वेद भगवान् उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! हाथ, पैर, गुदा, लिंग, रसना, कान, त्वचा, आँखें, नाक और मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करना, झूठ ही एक खेल करना है; क्योंकि इनसे वह नहीं जाना जा सकता। वह तो इन्द्रियातीत है। तब किससे जाना जाएगा? कठोपनिषद् में आया लिखा है–

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयं-
भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदा-
वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥१॥

अर्थात्–स्वयंभू–परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, इसलिए वे बाहर ही देखती हैं; अन्तरात्मा को नहीं। तब कोई-कोई धीर अमृतत्व की इच्छा करते हुए आवृत्तचक्षु होकर अर्थात् ढँके हुए नेत्र–बन्द नेत्रवाला होकर–दृष्टिशक्ति को अन्तर्मुख फेरकर आत्मा का दर्शन करते हैं।

इसलिए कबीर साहब ने कहा है–

चाम चश्म न नजरि न आवै खोजु रूह के नैना।

यदि पूछा जाय कि इन नेत्रों से हमें ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकने का कारण क्या है? अथवा स्थूल वा सूक्ष्म किसी भी इन्द्रिय द्वारा परमेश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों संभव नहीं है? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जैसे स्थूल यंत्र से सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता, वैसे ही हमारी स्थूल वा सूक्ष्म सभी इन्द्रियाँ उस परमात्म-स्वरूप को सूक्ष्मता के समक्ष अत्यन्त स्थूल हैं। इसलिए ईश्वर-दर्शन में ये सक्षम नहीं हैं।

यदि इसे तर्क की कसौटी पर कसकर देखना चाहें, तो हमें थोड़ा बुद्धि का व्यायाम करना होगा। सृष्टिक्रम की ओर दृष्टि करने पर इस विषय की परिपुष्टि हो जाती है कि विश्व का विरचना सूक्ष्म से स्थूलता की ओर हुआ है। हमलोग सृष्टि के जिस मंडल में अभी अवस्थित हैं, इसको पांचभौतिक जगत कहते हैं। इस पांचभौतिक जगत के पाँच तत्त्वों–क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर में किसको सबसे पूर्व का माना जाए? विवेकी जन सरलतापूर्वक कह सकेंगे आकाश को। क्योंकि आकाश के बिना अवकाश कहाँ, जहाँ ये अन्य चार तत्त्व रह सकें? अतएव ये सर्वमान्य है कि पंच तत्त्व में प्रथम गगन, फिर पवन, तब अनल, पश्चात् जल और तत्पश्चात् स्थल हुआ। पर पदार्थ की अपेक्षा पूर्व का पदार्थ सूक्ष्म होता है। अतएव वह अपने स्थूल पदार्थ में यानी पर पदार्थ में स्वभावतः व्यापक होकर अपना मंडल ऊपर रखता है। जैसे पाँच तत्त्वों में सबसे प्रथम आकाश होने के कारण आकाश चार तत्त्वों में व्यापक होकर वह अपना मंडल सबसे ऊपर रखता है। यदि सर्व साधारण जन की समझ में यह बात स्पष्ट नहीं हो सके, तो वे इस तरह समझें। पानी में मिट्टी को घोलकर एक काँच के गिलास में रखकर चौबीस घंटे के बाद वे देखें। देखने में आएगा कि मिट्टी का भाग नीचे जमा है और उसमें व्यापक होता हुआ पानी उसके ऊपर भी है। इससे यह निचोड़ निकला कि मिट्टी से पानी पहले का है, इसलिए वह मिट्टी के ऊपर है और सूक्ष्म होने के कारण उसमें व्यापक

भी है। मिट्टी का गुण गंध और इसके पूर्व के चार तत्त्व इसमें व्यापक होने के कारण उन चारों तत्त्वों के गुण इसमें व्याप्त हैं। यही हेतु है कि यह अपने निज गुण गंध के अतिरिक्त रस, रूप, स्पर्श और शब्द से भी अपने को संयुक्त किये रहती है। जल के पश्चात् थल की रचना होने के कारण जल में मिट्टी व्यापक नहीं हो सकती है, इसलिए शुद्ध जल में मिट्टी का गुण गंध व्यापक नहीं होती। किन्तु उक्त जल में अग्नि का गुण रूप, वायु का गुण स्पर्श और आकाश का गुण शब्द तो उसमें व्यापक रहता ही है। फिर अग्नि के पश्चात् जल और मिट्टी के गुण होने के कारण इन दो तत्त्वों के गुण रस और गंध इसमें व्यापक नहीं होते, किन्तु इसके पूर्व के दो तत्त्व वायु और आकाश के गुण स्पर्श और शब्द तो व्यापक रहते ही हैं। अब वायु को लीजिए। वायु के पश्चात् अग्नि, जल और पृथ्वी के होने के कारण, इन तीन तत्त्वों के तीन गुण इसमें प्रवेश कर नहीं पाते, किन्तु निज गुण स्पर्श के सहित आकाश का गुण शब्द को धारण किये तो यह रहती ही है और आकाश इन सब तत्त्वों से पूर्व होने के कारण मात्र अपने गुण शब्द को यह धारण करता है, अन्य चार तत्त्वों के किसी गुण को नहीं।

हम क्षिति, जल, पावक; इन तीन तत्त्वों को देखते हैं; किन्तु वायु और आकाश को नहीं। क्यों? इसका यही कारण है कि अग्नि का गुण रूप है। यह रूप-गुण वायु और आकाश में व्यापक नहीं है। इसलिए इन दो तत्त्वों को नहीं देखते; परंतु उन तीन तत्त्वों में व्यापक है, इसलिए उन तीन तत्त्वों को देखते हैं। वायु का स्पर्श होता है, किन्तु आकाश का स्पर्श ज्ञान नहीं होता। क्यों? इसका कारण है कि वायु का स्पर्श-गुण आकाश में व्यापक नहीं है।

अब विचारवान विचार सकते हैं—जबकि हम पवन को इस नयन से नहीं देख पाते और गगन को किसी इन्द्रिय से स्पर्श नहीं कर पाते; तब उसके भी पूर्व के तत्त्व हैं और उन तत्त्वों के रचयिता जो परमात्मा हैं, उनको हम कैसे देख सकते हैं और किसी इन्द्रिय से स्पर्श भी कैसे कर सकते हैं?

मैंने तो पंच तत्त्वों की बात कही। अब संत सुंदर दासजी की वाणी में उन तत्त्वों के सहित अन्य तत्त्वों के एवं उनके निर्माता के संबंध में भी सुनिए—

भूमि पर अप आपहू के, परे पावक है।
पावक के परे पुनि, वायुहू बहत है।।
वायु के परे व्योम, व्योमहू के परे इन्द्री दश।
इन्द्रिन के परे अन्तःकरण रहत है।।
अन्तःकरण पर, तीनों गुण अहंकार।
अहंकार पर, महतत्त्व कूँ लहत है।।
महतत्त्व पर मूल माया, माया पर ब्रह्म।
ताहि तें परातपर, सुन्दर कहत है।।

एक छोटी-सी उपमा दूँ, अब विचार कीजिए, वह कितना सूक्ष्म होगा और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? एक घड़ी होती है, जिसे हाथ में बाँधते हैं और दूसरी घड़ी होती है, जिसे दीवाल पर टाँगते हैं। दीवाल घड़ी बड़ी होती है, उसके कल-पूर्जे को पकड़नेवाला यंत्र बड़ा होता है और हाथ की घड़ी के कल-पुर्जे को खोलने के यंत्र छोटे-छोटे होते हैं। यदि हम बड़ी घड़ी के औजार से छोटी घड़ी के कल-पुर्जों को खोलना चाहें, तो खोल नहीं सकते! उसके लिए तो छोटे महीन यंत्र की ही आवश्यकता होगी और तभी हम खोल भी सकते हैं।

इसी तरह हमारी बाह्यान्तर की सभी इन्द्रियाँ स्थूल हैं। ये उस सूक्ष्मतम परमात्मा को ग्रहण नहीं कर सकती। हाँ, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ् स्वाम्।।

अर्थात् साधक ही जिस आत्मा का वरण करता है, उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। अर्थात् चेतन आत्मा ही परमात्मा को प्राप्त कर सकती है; क्योंकि यह उसका अभिन्न अंश है। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में हम कह सकेंगे—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी।।

और अंत में यह तो सबको समझे ही निस्तार है कि प्रभु-मिलन की सद्युक्ति संत सद्गुरु से ही मिल सकती है। अतएव हम उनकी शरण ग्रहण करें और सत्साधना जानकर नित्य प्रति अभ्यास करें।

यह प्रवचन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ६३वें वार्षिक महाधिवेशन के अवसर पर दिनांक—२१.३.१९७१, स्थान : पटना के राजेन्द्रनगर में रात्रिकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।

(शान्ति-संदेश, मई १९७१)

३७. त्रिशूल का उपाय संत के पास

मैं अपनी बात आपको सुनाने नहीं आया हूँ। संतों तथा ऋषियों के उपदेशपूर्ण वाणियों को सुनाने आया हूँ। हमलोगों के संतमत-सत्संग में वेद-वाणी, उपनिषद्-वाणी, संतवाणी आदि के पाठ हुआ करते हैं। अभी आपलोगों ने योगशिखोपनिषद् का यह प्रसंग सुना है, जिसमें ब्रह्माजी तथा शिवजी का संवाद है। एक समय षडानन जी उपस्थित हो कहने लगे–हे शूलपाणि! संसार के लोग त्रयताप तापित हैं। उस त्रिशूल के निर्मूल नाश के लिए आप कोई निर्भूल उपाय बताइए। शिवजी ने कहा–इसके लिए कोई योग बताते हैं और कोई ज्ञान। किंतु मेरे विचार से केवल योग के द्वारा वा केवल ज्ञान के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति हो, मोक्ष की प्राप्ति हो, संभव नहीं। इसलिए ज्ञान और योग दोनों का अभ्यास मुमुक्षु को करना चाहिए।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥

अर्थात्–योगहीन ज्ञान मोक्षप्रद भला कैसे हो सकता है ? उसी तरह ज्ञान-रहित योग भी मोक्ष-कार्य में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान और योग; दोनों का अभ्यास दृढ़ता के साथ मुमुक्षु को करना चाहिए।

इतने में गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज उपस्थित हो जाते हैं–

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू।
जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

योग के कुयोग होने से सर्वेश्वर से संयोग नहीं हो सकता। वस्तुतः जिसको भक्ति की युक्ति की उपलब्धि नहीं, उसके लिए योग कुयोग और ज्ञान अज्ञानू है। इसलिए ज्ञान, योग और भक्ति–तीनों चाहिए। जैसे मिष्टान्न बनाने के लिए अन्न, घृत और मिठाई–तीनों की आवश्यकता होती है। वैसे ही मोक्ष प्राप्त्यर्थ ज्ञान, योग और भक्ति–इन तीनों का प्रबल प्रयोजन है। इस महाधिवेशन के विज्ञापन में भी आप पढ़े होंगे–'ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर-भक्ति-सन्देश।'

सम्प्रति मैं योग के ऊपर समासरूप में प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा। क्योंकि योग के नाम से लोग ऐसे चौंक उठते हैं, जैसे कोई हिंस्र जानवर से। कहते हैं कि एक बार गोनू झा को बिल्ली पालने के लिए किसी ने एक गाय दी। झा जी ने बिल्ली को दूध पिलाने के बजाय स्वयं दूध पीने का एक उपाय सोचा। इसलिए एक दिन उन्होंने बहुत गर्म दूध में बिल्ली का मुँह पकड़कर घुसेड़ दिया। बिल्ली का मुँह जल गया। मुँह जल जाने के कारण डर के मारे अब वह ठंढे दूध में भी मुँह नहीं देती। उसी तरह किसी ने हठयोग की क्रिया की। संयम-विहीन को हठयोग हानि पहुँचाता ही है। उस योग के कारण उसको रोग हुआ। इसीलिए लोग योग का नाम सुनकर घबड़ाने लगे और अब भी बहुत लोग घबड़ाते हैं। असल में सोचा जाए, तो योग के बिना हम रह नहीं सकते। हमलोगों का जीवन नहीं रह सकता है। हम योग से ही जीवित हैं। योग का अर्थ है जोड़ना। एक किसान यदि मनोयोगपूर्वक खेती का काम नहीं करेगा, तो वह भूखा मरेगा। विद्यार्थी यदि अपना पाठ मनोयोगपूर्वक नहीं पढ़ेगा, तो वह विद्योपार्जन नहीं कर सकता। युद्ध में यदि सैनिक मनोयोगपूर्वक लड़े नहीं, तो देश की आजादी रहेगी नहीं। हमारे मन का योग पत्नी में, पति में, पुत्र में और सम्पत्ति में है। सम्पत्ति के योग में सुख का अनुभव करते हैं और सम्पत्ति के वियोग में दुःख का। अगर मन का योग नहीं रहे तो माताएँ और बहनें जो रसोई बनाती हैं, नहीं बना सकतीं। रोटी जल जाएगी, सब्जी कच्ची रह जाएगी, दाल लवण-हीन रह जाएगी। हम चलते हैं, उसमें योग रहता है। रास्ते पर चलने में मनोयोग नहीं रहे, तो पल में लोगों का जीवन खतरे में पड़ जाए। भोजन करते हैं, उसमें योग है। यदि भोजन काल में भोजन से मन का योग नहीं रहे, तो भोजन का स्वाद ही नहीं मालूम पड़े। इसलिए योग से डरने का प्रश्न ही नहीं उठता है। हठयोग में हठात् क्यों पड़ते हैं? राजयोग सरल है और सबके लिए सुलभ है। इसे राजा-रंक, पंडित-मूर्ख, स्त्री-पुरुष इस देश वा उस देश, सभी देश के सभी कोई कर सकते हैं। आवश्यकता है, सद्युक्ति प्राप्ति और संयममय जीवन व्यतीत करने की। स्मरणीय है कि योग का अर्थ जहाँ

जोड़ना होता है; वहाँ कभी-कभी योग का अर्थ घटाव भी होता है। जैसे कमाने के दो अर्थ होते हैं– संग्रह करना और व्यय करना भी। चेतनवृत्ति के निरोध में चित्त को रोका जाता है अर्थात् मन की धारा जहाँ-जहाँ जाती है, वहाँ-वहाँ से उसको रोकना होता है। मन का जहाँ से हटाव होगा, वहीं घटाव हो जाएगा। संत-महात्मागण परमात्म-प्राप्ति के लिए एक लक्ष्य पर मन को लगाने के लिए कहते हैं। लेकिन जबतक संसार से हटाव नहीं होगा, तबतक परमात्मा से जुटाव नहीं होगा। जिस हिसाब में जाड़, घटाव दोनों रहता है, वहाँ पहले घटाव की क्रिया होती है, तब जोड़ की क्रिया होती है। उसी तरह साधना में पहले घटाव होता है, तब जोड़। संतों ने घटाने की कला बतायी है। इस संसार से मन को हटाना है। संसार को कहते हैं–'नामरूपात्मक जगत्'। दिन-रात में कितने रूपों को देखते हैं। कितने शब्दों में बोलते हैं, ठिकाना नहीं। बहुत-से शब्दों को छोड़कर एक शब्द में, जो ईश्वर-वाचक हो, मन लगावें। यह है– मानस जप। बहुत-से रूपों को छोड़कर एक रूप में जो ईश्वर की पवित्र विभूति हो, उसमें मन लगावें, यही है मानस ध्यान। अब कितना घटाव हो गया, प्रत्यक्ष देखिए। स्थूल मंडल में स्थूल का सहारा लेकर ही स्थूल जगत को पार किया जाता है। जैसे पानी में तैरनेवाले के लिए पानी ही सहारा होता है और उसी के सहारे वह सूखी जमीन पर जाता है। लेकिन यदि कोई तैरना छोड़कर पानी को एक ही जगह पकड़े रहे, तो वह डूब मरेगा। इसी भाँति संतों ने भवसिन्धु से पार होने के लिए स्थूल-सूक्ष्मादि का अवलंब बताया है। अर्थात् संतों ने कहा-स्थूल मंडल को पार करने के लिए पहले स्थूल नामरूप को पकड़ो, फिर सूक्ष्म नामरूप को पकड़ना। सूक्ष्मरूप के सहारे रूप ब्रह्मांड को और सूक्ष्म नाम के अवलंब के सहारे अरूप ब्रह्मांड को पार कर सकोगे। इस क्रम से बढ़ते- बढ़ते सभी नाम और रूप छूटेंगे तथा अंत में–'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।।' की प्राप्ति होगी। किन्तु यदि कोई साधक अनजाने में वा अपने भोलेपन के कारण केवल स्थूल नाम और स्थूल रूप को ही जकड़कर पकड़ रखे, तो वह भक्तिमार्ग में आगे नहीं बढ़कर भवसागर में डूबता रहेगा। स्थूल नामरूप के बाद सूक्ष्म नामरूप है। यह असली सहारा है संसार-सागर पार होने का। नाम की महिमा हमलोग बहुत सुनते हैं। लोग कहते हैं–

जान आदि कवि नाम प्रतापू।
भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू।।
उलटा नाम जपत जग जाना।
बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।

बाल्मीकि मुनि का पहला नाम–रत्नाकर था। लोग कहते हैं कि बहुत बड़ा पापी होने के कारण वह मुँह से राम-राम नहीं कह सकता था, मरा-मरा कहता था। लेकिन यह तो विचारिये कि कोई कितना भी बड़ा पापी हो, क्या वह 'राम-राम' अर्थात् वर्णात्मक चार अक्षर का उच्चारण नहीं कर सकता? यदि हम उनकी यह बात मान भी लें कि वाल्मीकिजी 'राम-राम' का उलटा 'मरा-मरा' जपकर ब्रह्म हो गये, तो जो व्यक्ति सुलटा 'राम-राम' जपते हैं, ब्रह्म क्यों नहीं हो जाते? पुनः नाम की ऐसी महिमा है कि 'नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं।' मैं कहता हूँ कि समुद्र और नदी की बात तो जाने दीजिए, नाम लेकर एक चुल्लू पानी ही सुखा दीजिए तो। यदि कोई कहे कि 'तो शास्त्रों में लिखित महिमा क्या झूठी है?' तो उत्तर होगा, यह बात झूठी नहीं हो सकती है। नाम को बहुत थोड़े लोग जानते हैं। यदि यथार्थ में उस नाम को जान लें, तो चुल्लू भर पानी को कौन कहे, समुद्र सूखा सकता है। वह नाम वर्णन में आने योग्य नहीं है। वर्णात्मक नहीं है, वर्णनातीत है। यह साधारण विचार में, जैसा सामान्यतया हम जानते हैं, नाम दो तरह के होते हैं–वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। वर्णात्मक नाम सुलटा है। उसका उलटा क्या होगा? ध्वन्यात्मक होगा। ध्वन्यात्मक में भी भेद है–सगुण और निर्गुण नाम। श्रीमदभागवत में शब्द के तीन भेद बताए गये हैं–इन्द्रिय मय, मनोमय और प्राणमय शब्द। इन्द्रियमय और मनोमय शब्द सगुण है तथा प्राणमय शब्द निर्गुण है। यह निर्गुण ध्वन्यात्मक शब्दब्रह्म सगुण ब्रह्म से उलटा है, का अभ्यास कर वाल्मीकि मुनिजी ब्रह्मवत् हुए थे। आज भी यदि हम उस निर्गुण शब्दब्रह्म की आराधना करें, तो ब्रह्मवत् होने में किसी प्रकार की शंका का लवलेश स्थान नहीं है। ब्रह्मविन्दूपनिषद् में लिखा है–

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्द ब्रह्म परं च यत्।
शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।।

अर्थात् दो विद्याएँ समझनी चाहिए, एक तो

शब्द ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शब्दब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, परब्रह्म को प्राप्त करता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने नाम के तीन भेद बताये हैं। यथा–

श्रवणात्मक ध्वन्यात्मक, वर्णात्मक विधि तीन।
त्रिविध शब्द अनुभव अगम, तुलसी कहहिं प्रवीन।।
चौदह चारो अष्टदश, रस समझव भरपूर।
नाम-भेद जाने बिना, सकल समझ महँ धूर।।
भेद जाहि विधि नाम महँ, बिन गुरु जान न कोय।
तुलसी कहहिं विनीत वर, जो विरंचि शिव होय।।

नाम के इन भेदों को क्रियावान शुद्धाचरणी सद्गुरु से जानकर अभ्यास करना चाहिए। तभी नाम के गंभीरतम रहस्य का उद्घाटन हो सकता है, अन्यथा नहीं। दिनांक–२३.३.१९७१, स्थान : पटना (६३वाँ महाधिवेशन) प्रातःकाल

३८. स्वर्ग और नरक क्या है?

बात भारत की अथवा चीन की नहीं, अर्वाचीन भी नहीं, प्राचीन है और जापान की है। एक समय एक महात्मा अपनी कुटिया में विराज रहे थे। उनके पास एक आदमी ने जो शस्त्राशस्त्र से सुसज्जित था, उपस्थित होकर पूछा, 'महात्मन्! स्वर्ग और नरक क्या है?' महात्मा जी ने पूछा, 'तुम कौन हो? प्रथम अपना परिचय दो, फिर स्वर्ग और नरक की बात पूछना?' उसने कहा, 'मैं फौज का कैप्टन हूँ।' महात्माजी ने कहा, 'तुम कतई कैप्टन हो नहीं सकता। तेरे अंदर से विषय-रस की बू आ रही है। यदि तू कैप्टन होता, तो तेरे अंदर से वीररस टपकता। कैप्टन का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। उसने अपने म्यान से तलवार निकाली और महात्मा जी पर चलाना चाहा। महात्माजी ने उसकी तलवार हाथ से पकड़ ली और व्यंग्य भरे शब्दों में कहा–अच्छा, तेरे पास तलवार भी है; लेकिन तेरी तलवार एक तिनका तक नहीं काट सकती, फिर मेरे गले की तो बात ही क्या?' कैप्टन की क्रोधाग्नि भड़की जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति पड़ी हो। उसने महात्माजी के हाथ से तलवार खींचकर उसे गले पर प्रहार करना चाहा। महात्माजी ने कहा, 'जरा रुको और मेरी सुनो। देख, तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर है। कैप्टन ने कहा, 'मेरे प्रश्न का यह उत्तर कैसा?' महात्माजी ने कहा, 'जब हृदय में क्रोध उत्पन्न हो, दया दूर चली गयी हो, विवेक खो गया हो, निर्दयता, क्रूरता और अज्ञानता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी हो, तो समझ लो कि नरक का द्वार खुल चुका है, जिस अवस्था में तुम अभी हो।' कैप्टन लज्जित होकर अपनी तलवार म्यान में रख लेता है और महात्माजी के चरणों में अपना मस्तक रखकर क्षमा याचना करता है। महात्माजी ने उसके सिर का स्पर्श कर शरीर को सहलाते हुए कहा–"बेटा! क्षमा है। जब हृदय में दया, प्रेम, निरभिमानता, विवेक और सद्बुद्धि की अभिवृद्धि हो, तो समझना कि स्वर्ग का द्वारा खुला है, जिस अवस्था में सम्प्रति तुम हो।"

कैप्टन को स्वर्ग और नरक का ज्ञान का मान हुआ और वह महात्माजी को शतशः प्रणाम करता हुआ अपना अहोभाग्य समझा। यह बात हुई विदेश की, किन्तु स्वदेश की भी बात सुनिये। जापानी महात्मा ने स्वर्ग और नरक की बात कही, हमारे देश के महात्मा इन दोनों से परे एक तीसरी बात भी कहते हैं और यह है अपवर्ग वा मोक्ष?

नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी।
ज्ञान विराग भगति सुख देनी।।

तथा,

संत संग अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, श्रुति पुरान सद्ग्रंथ।।

संतों का मार्ग मोक्ष का है। मोक्ष का अर्थ है–छुटकारा। किससे छुटकारा? शरीर और संसार के बंधनों से । भगवान बुद्ध ने कहा है–'बुद्धिमान लोग उसे मजबूत बेड़ी नहीं कहते जो लोहे, लकड़ी अथवा सन की बनी हुई हो। रत्न, आभूषण, बच्चे और स्त्री के बंधन अधिक मजबूत हैं।

आगरे में एक संत हो गये हैं। उनका नाम था संत राधास्वामी साहब। उन्होंने अपनी वाणी में इन बंधनों पर अच्छा प्रकाश डाला है।

"बंधे तुम गाढ़े बंधन आन ।।

पहला बंधन पड़ा देह का, दूजा बंधन तिरिया जान।
तीसर बंधन पुत्र बिचारो, चौथा नाती मान॥
नाती के कहीं नाती होवै, तब कहो कौन ठिकान।
धन संपत्ति और हाट हवेली, यह बंधन क्या करूँ बखान॥
चौलड़ पंचलड़ सतलड़ रसरी, बाँध लियो बहु विधि तान।
कैसे छूटन होय तुम्हारा, गहरे खूँटे गड़े निदान॥
मरे बिना तुम छूटो नाहीं, जीते जी तुम सुनो न कान।
जगत लाज और कुल की मरयादा, यह बंधन सब ऊपर ठान॥
लीक पुरानी कभी न छोड़ो, जो छोड़ो तो जग की हान।
क्या क्या कहूँ विपत मैं तुम्हारी, भटको जोनी भूत मसान॥
तुम तो जगत सत्त कर पकड़ा, क्यों कर पावो नाम निशान।
बेड़ी तोड़ हथकड़ी बाँधे, काल कोठरी कष्ट समान॥
काल दुष्ट तुम्हें बहुविधि बाँधा, तुम खुश होके रहो गलतान।
ऐसे मूरख दुख-सुख जाना, क्या कहुँ अजब सुजान॥
शरम करो कुछ लज्जा जानो, नाहिं तो जमपुर का भोगो डान।
'राधास्वामी' सरन गहो अब, तो कुछ पाओ उनसे दान॥"

यहाँ पर पुरुष-पुरुष का संवाद है, इसलिए 'दूसर बंधन तिरिया जान' कहा गया है। यदि यहाँ नारी-नारी का संवाद हुआ होता, तो कहना पड़ता कि–'पहला बंधन पड़ा देह का, दूसर पुरुषा जान।' अर्थात् जिस प्रकार पुरुष के लिए स्त्री बंधन है, उसी प्रकार स्त्री के लिए पुरुष भी। इसका अर्थ यह नहीं कि दाम्पत्य जीवन का परित्याग करने से बंधन छूटता है। संत पलटू साहब ने बड़ा अच्छा कहा है।

"यार फक्कीर तू पड़ा किस ख्याल में,
पाँच पच्चीस संग तीस नारी।
एक तुम छोड़िया तीस तेरे संग में,
होय अस ज्ञान से नर्क भारी॥
तीस के कारने भीख तुम माँगता,
एक ने कवन तकसीर पारी।
दास पलटू कहै खेल या न बदो,
छुटै जब तीस तो छोड़ प्यारी॥"

संतों ने मोक्ष-प्राप्ति वा ईश्वर-भजन के लिए घर-वार वा परिवार परित्याग की सीख नहीं दी। संपत्ति, दम्पति और संतति को तिलांजलि देने की सलाह नहीं दी, बल्कि उन्होंने कहा–

अबधू भूले को घर लावै, सो जन हमको भावै॥
घर में जोग भोग घर ही में, घर तजि बन नहिं जावै।
बन के गये कलपना उपजै, तब धौं कहाँ समावै॥
घर में जुक्ति मुक्ति घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।
सहज सुन्न में रहै समाना, सहज समाधि लगावै॥
उनमुनि रहै ब्रह्म को चीन्है, परम तत्त को ध्यावै।
सुरत निरत सों मेला करिकै, अनहद नाद बजावै॥
घर में बसत बस्तु भी घर है, घर ही बस्तु मिलावै।
कहै कबीर सुनो हो अबधू, ज्यों का त्यों ठहरावै॥

इस संबंध में बाबा नानक साहब क्या कहते हैं? सुनिये–

जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणै।
सुरत सबद भवसागर तरीऐ नानक नामु बखाणै॥

अर्थात् जागतिक जीव को जल-जलजवत् रहते हुए जगदीश का भजन करना चाहिए और उस भजन का भेद है–सुरत-शब्द-योग। संतगण कहते हैं–परिवार में रहो। लेकिन उसमें लिप्त नहीं होओ। एक संत ने कहा है–'पानी में नाव रहे, कोई हानि की बात नहीं, लेकिन नाव में पानी नहीं आने पावे, नहीं तो नाव डूब जाएगी। उसी तरह भक्त संसार में रहे, लेकिन याद रखे, उसके मन में सांसारिकता नहीं आने पावे, नहीं तो वह भवसागर में डूब मरेगा। संसार में भला से रहने की कला सहजोबाई बताती हैं–

सहजो जग में यों रहो, ज्यों जिभ्या मुँह माहिं।
घीव घना भोजन करै, तो भी चिकनी नाहिं॥

संत पलटू साहब ने कहा है–

कमठ दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥
सो ध्यानी परमान, सुरति से अंडा सेवै।
आप रहै जल माहिं, सूखे में अंडा देवै॥
जस पनिहारी कलस, भरे मारग में आवै।
कर छोड़े मुख बचन, चित्त कलसा में लावै॥
फनि मनि धरै उतारि, आपु चरने को जावै।
वह गाफिल ना पड़ै, सुरति मनि माहिं रहावै॥
पलटू सब कारज करै, सुरति रहै अलगान।
कमठ दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥

कछुवी पानी में रहती है, लेकिन अंडा सूखे में देती है। वह सुरत से अंडा सेवती रहती है। अगर कोई कछुवी को मार डाले, तो अंडा सड़ जाएगा। संत लोग कहते हैं–जागतिक कार्य करते हुए कछुवी की तरह अपने इष्टदेव पर मन को लगाये रखो। पानी भरने के लिए माई-दाई कुएँ पर जाती है। वह हाथ से घड़े को बिना पकड़े माथे पर घड़ा लेकर लेकर मार्ग में चलती है और मुँह से बातचीत भी करती जाती है। उसी तरह तुम भी संसार के कामों को करते जाओ;

परंतु अपने को परमात्मा की ओर लगाये रखो। जिस तरह साँप मणि को मुँह से निकालकर उसी के प्रकाश में विचरण करता है, उसी तरह तुम भी अपने को अंतःप्रकाश में रखते हुए सांसारिक कार्य का संपादन करते रहो। साथ ही जैसे फणि अपने मन को मणि की ओर लगाकर रखता है, उसी तरह तुम भी प्रभु-चरणों में मन लगाकर रखो।

सुप्रसिद्ध संत रामकृष्ण परमहंसदेवजी ने कहा– बंगाल में बाउल नाम के एक संप्रदाय के साधु होते हैं। वे एक हाथ से तंबूरा और दूसरे हाथ से करताल बजाते हैं और मुँह से गाना गाते हैं। इसी तरह ऐ संसारी जीव! तुम भी दोनों हाथों से संसार के कामों को करते जाओ और मुँह से भगवान का नाम जपा करो, चूको मत।

जिस तरह माई लोग, ढेकी से धान कूटती है और हाथ से धान को सँभालती है, पर हाथ को मूसल से सदा बचाती भी रहती है। इसी तरह संसार का काम करते हुए अपने को सांसारिकता से बचाते रहो। परन्तु यह ज्ञान बिना गुरु के होना असंभव है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु॥

वस्तुतः गुरु होना चाहिए, गरु नहीं।

संत पलटू साहब कहते हैं, गुरु कैसा होना चाहिए–

धुन आनै जो गगन की, सो मेरा गुरुदेव ॥
सो मेरा गुरुदेव, सेवा मैं करिहौं वाकी ।
सब्द में है गलतान, अवस्था ऐसी जाकी ॥
निस दिन दसा अरूढ़, लगै ना भूख पियासा ।
ज्ञान भूमि के बीच, चलत है उलटी स्वासा ॥
तुरिया सेति अतीत, सोधि फिर सहज समाधी ।
भजन तेल की धार, साधना निर्मल साधी ॥
पलटू तन मन वारिये, मिलै जो ऐसा कोउ ।
धुन आनै जो गगन की, सो मेरा गुरुदेव ॥

जो अंदर की गगन-ध्वनि को बतलावे, वह गुरु है। कान बंद कर नाद सुनने की बात नहीं, नाद सुनने की कला होती है, वह कला क्या है? नाद-विन्दूपनिषद् में लिखा है–

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥ २॥

अर्थ–परम विन्दु ही बीजाक्षर है; उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाश ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है। योगशिखोपनिषद् में लिखा है–

विन्दुपीठं विनिर्भेद्य नादलिंगमुपस्थितम्।

अर्थात् पहले विन्दु को प्राप्त करो, उसके बाद नाद है, उसको सुनो। संत तुलसी साहब (हाथरसवाले) कहते हैं–

"गगन द्वारा दीसै एक तारा।
अनहद नाद सुनै झनकारा॥"

अर्थात् पहले तारा देखो, पश्चात् झनकारा सुनते हैं। योगशिखोपनिषद में विन्दुनाद को शिवशक्ति का लिंग (चिह्न) कहा गया है।

"विन्दुनाद महालिंगं शिवशक्तिनिकेतनम् ।
देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ॥"

अर्थात्–विन्दु-नाद महालिंग है और शिव-शक्ति का घर है। इस देह को शिवालय कहते हैं। इस शरीर में सभी प्राणियों को सिद्धि मिलती है। हमलोगों का यह शरीर शिवालय है। जब विन्दु का नहीं प्रकट करोगे, तबतक शब्द को कैसे ग्रहण करोगे। सृष्टि की ओर दृष्टि करने पर भी इसकी परिपुष्टि हो जाती है कि पहले प्रकाश होता है, तब शब्द। जब-जब आकाश में काले-काले बादल मँड़राते हैं, तब-तब पहले बिजली चमकती है, फिर उसके बाद ठनके की आवाज होती है। संत बुल्ला साहब इसका एक चित्र खींचकर हमलोगों के समक्ष रखते हैं। अंतर्ज्योति और अंतर्नाद के संबंध में उनका कथन है–

श्याम घटा घनघेरि चहुँदिसि आइया।
अनहद बाजे घोर जो गगन सुनाइया।
दामिनि दमकि जो चमकि त्रिवेणी न्हाइया।
बुल्ला हृदय विचारि तहाँ मन लाइया ॥

इसकी सद्‌युक्ति बतलानेवाले संत सद्‌गुरु होते हैं, किन्तु इसकी पहचान आसान नहीं।

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥

गोस्वामीजी के विचारानुसार ऐसे गुरु की पहचान कौन कर सकते हैं? किसी मीटर से इसकी जाँच हो कि ये अंधकार से परे प्रकाश में प्रतिष्ठित पुरुष हैं? अज्ञानावस्था से रहित ज्ञानावस्था में अवस्थित है और त्रयगुण से उच्च निर्गुण देश के निवासी हैं?

बिना गुरु के ज्ञान नहीं और बिना पहचान के

गुरु धारण करना उचित नहीं; क्योंकि हमारे यहाँ यह प्रसिद्ध है कि 'गुरु कीजिये जान। पानी पीजिए छान।' ऐसी अवस्था में एक कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है कि किनको गुरु धारण किया जाए? पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज इसकी एक सरल सद्‌युक्ति बतलाते हैं। वे कहते हैं–

मुक्ती मारग जानते, साधन करते नित्त ।।
साधन करते नित्त, सत्त चित जग में रहते ।
दिन दिन अधिक विराग, प्रेम सतसँग सों करते ।।
दृढ़ ज्ञान समुझाय, बोध दे कुबुधि को हरते ।
संशय दूर बहाय, सन्त मत स्थिर करते ।।
'मेँहीँ' ये गुण धर जोई, गुरु सोई सतचित्त ।
मुक्ती मारग जानते, साधन करते नित्त ।।

तात्पर्य यह कि गुरु उनको कहना चाहिए, जो सर्वेश्वर प्राप्ति की साधना की युक्ति जानते हों, स्वयं साधना करते हों और दूसरे को भी उसकी सद्‌युक्ति बतलाते हों। साथ ही सदाचारनिष्ठ भी हों। भगवान् श्रीकृष्ण की 'महायोगेश्वरो हरिः' हमलोग कहते हैं, फिर भी वे स्वयं नित्यप्रति ध्यान-साधना करते थे। श्रीमद्‌भागवत के १०वें स्कंध में आया है–

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥ ४॥ अ० ७०॥

अर्थात्–भगवान श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्म मुहूर्त में ही उठ जाते और हाथ-मुँह धोकर अपने मायातीत आत्मस्वरूप का ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्द से खिल उठता था।

गुरु के संग करने से आचरण का सही पता लगता है। अध्यात्म-जगत में 'हाट का गुरु और बाट का चेला' से काम चलने को नहीं है। वास्तव में गुरु की महिमा अति गंभीर है। जितने संत हो गये हैं, सबने एक स्वर से गुरु की मान्यता दी है। सद्‌गुरु के सत्संग से ही प्रभु का ज्ञान होता है। संत कबीर साहब ने कहा है–

परमातम गुरु निकट बिराजैं, जागु जागु मन मेरे।
धाइ के सतगुरु चरनन लागो, काल खड़ा सिर तेरे॥

गोस्वामी तुलसीदासजी गुरु वंदना करते हुए उनकी महत्ता देते हैं, सो देखिए–

बन्दौं गुरुपद कंज, कृपा सिन्धु नररूप हरि ।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर ।।

अर्थात् वे नररूप गुरु में हरि के दर्शन करते हैं। इतना ही नहीं गोस्वामी जी की दृष्टि में गुरु की महिमा तो यह है कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम भी गुरु के चरण दबाते हैं। यथा–

मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई।
लगे चरन चापन दोउ भाई॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज हनुमानजी से प्रार्थना करते हैं–

जय जय जय हनुमान गुसाईं।
कृपा करहु गुरुदेव की नाईं॥

अथवा, जय जय जय हनुमान गुसाईं।
कृपा करहु जो तुम्हहिं सुहाईं॥

विचारवान विचार करें, गोस्वामीजी की निष्ठा, उनकी श्रद्धा-भक्ति की धारा किनकी ओर प्रबल प्रवाहित थी, भगवान श्रीराम की ओर, हनुमान की ओर अथवा अपने गुरुदेव की ओर? अब आगे गोस्वामीजी की इस वाणी पर भी ध्यान दिया जाए–

राम नाम कलि काम तरु, राम भगति सुरधेनु।
सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु ।।
–दोहावली

सामान्य ज्ञान में लोग समझते हैं कि कामधेनु ओर कल्पवृक्ष मिल जाने पर किस बात की कमी रह सकती है? सकल मनोरथ पूर्ण होंगे। किसी प्रकार का क्लेश, दुःख, पीड़ा आदि नहीं रहेगी। किन्तु विवेक विलोचन से अवलोकन करने पर सारासार का पता लगता है। कामधेनु के लिए विश्वामित्र और वशिष्ठ मुनि में लड़ाई हुई। वशिष्ठजी के सौ पुत्र मारे गये। परिणामस्वरूप उनकी सौ पुत्रवधुएँ विधवा हो गयीं। मुनिजी के ऊपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। कामधेनु पाकर भी वशिष्ठजी का कैसा मंगल हुआ! विवेकशील विचारें। अब कल्पवृक्ष के विषय में सुनिए।

एक आदमी जंगल गया। संयोग से वह कल्पवृक्ष के नीचे पहुँचा। जैसे भूख-प्यास सता रही थी। थका- माँदा श्रान्त-क्लान्त था वह। उसने सोचा, यदि भोजन मिलता, तो भूख मिट जाती। कल्पवृक्ष की महिमा से उसे भोजन तुरंत मिल गया। भोजन के बाद पानी पीने की इच्छा हुई। पानी भी मिल गया। अब उसे आलस आने लगा। उसने सोचा कि इस वृक्ष के नीचे जो-जो इच्छा करता हूँ, पूरी होती जाती है। यदि बिछावन होता तो मैं सो जाता। इच्छा करने मात्र की देर थी, कल्पवृक्ष की कृपा से बिछावन मिल

गया। पुनः उसने सोचा, बिछावन तो हो गया; लेकिन जंगल में जमीन पर सोना ठीक नहीं, पलंग मिलता तो, उसपर बिछावन बिछाकर आराम से सो लेता। कल्पना करने से पलंग आ गया। पलंग पर बिछावन बिछाकर सोते हुए वह सोचता है, पलंग पर सोने से लाभ ही क्या? वृक्ष के ऊपर चिड़िया बीट कर दे, तो सारा शरीर अपवित्र हो जाएगा। यदि किसी प्रकार का घर बन जाता, तो पूरा विश्राम कर लेता। इच्छा मात्र से मकान बन गया। इस प्रकार जितनी भी इच्छाएँ उसके मन में उठीं, सभी पूरी होती गयीं। अंत में एकाएक उसके मन में आता है, यह तो घोर जंगल है, कहीं बाघ आया, तो मंगल कहाँ, वह तो मुझे मार डालेगा। मन में इतनी बात आते ही अविलंब वहाँ बाघ आया और उसे मार डाला। तात्पर्य यह कि कल्पवृक्ष के नीचे भी कल्याण नहीं। इसीलिए गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

सकल सुमंगल मूल जग, गुरुपद पंकज रेनु॥

अर्थात् सब तरह का सुमंगल चाहते हो तो 'गुरु पद पंकज रेनु' प्राप्त करो।

(शान्ति-सन्देश, सितम्बर, १९७१)

दिनांक–२३.३.१९७१, स्थान : पटना

(६३वाँ महाधिवेशन) सायंःकाल

३९. स्वकर्मानुसार लोग सुख-दुःख भोगते हैं

एक विचित्र बात बताऊँ? संसार के प्रायः सभी लोग सुख-भोग की कामना करते हैं। कोई भी दुःख की इच्छा नहीं करते। बल्कि ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि प्राप्त दुःख की इतिश्री और प्राप्त सुख की अभिवृद्धि की टेक में सबकी सम्मति एक मिलती है। फिर भी इच्छा वा अनिच्छा से स्वकर्मानुसार लोग सुख-दुःख का भोग भोगते हैं।

अब अपवादस्वरूप ही सही, फिर भी कोई-कोई ऐसे जन भी हैं, जो अपने दुःख में ही सुख का अनुभव करते हैं। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि वे सुख का समादर नहीं कर दुःख का सत्कार करते हैं। उदाहरणस्वरूप आप संत कबीर साहब को ले सकते हैं। वे कितने बड़े संत थे, कुछ विश्लेषण कर बताना, पूषण को प्रदीप दिखाने जैसे हैं। वैसे महान् संत के ये अमोघ वचन हैं–"उस सुख के सिर पर शिला-पत्थर पड़ जाए, जिस सुख में हृदय से प्रभु का नाम निकल जाय अर्थात् प्रभु नाम का स्मरण हृदय में नहीं रहे, अतएव उस दुःख को धन्य-वाद है, जिससे प्रभु की स्मृति विस्मृति रूप में परिवर्तन नहीं होती। वस्तुतः क्षण मन प्रभु नाम-भजन में रमण करता रहे, ऐसे दुःख की बलिहारी है।

सुख के माथे सिल परै, (जो) नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुक्ख की, पल पल नाम रटाय॥

संत कबीर साहब जब सुख की खोज में निकलते हैं और बीच बाट में उनको दुःख मिलता है, तो वे चिल्लाते नहीं है, पर प्रसन्नतापूर्वक दुःख का वरण करते हुए विनम्र हो सुख से संबोधन कर कहते हैं–हे सुख! आप अपने घर को वापस जाएँ और मुझे स्वतंत्र हो दुःख से निबट लेने दें।

हम चाले थे सुक्ख को, बाटहिं मिलिया दुक्ख।
जाहु सुक्ख घर आपने, मैं जानूँ और दुक्ख॥

संत कबीर साहब कहते हैं–ईश्वर के नाम का जप करनेवाला कुष्ट रोग से पीड़ित शरीर, जिससे गल-गल कर मांस गिरता हो, श्रेष्ठ है, उत्तम है, भला है। किन्तु भगवन्नाम-जप नहीं करनेवाला स्वर्ण समान कान्तिमान शरीर किस काम का है? उसका क्या प्रयोजन? अर्थात् निष्प्रयोजन है। तात्पर्य यह कि किसी भी प्रकार का शरीर चाहे वह निष्कृष्ट वा घृणित ही क्यों न हो, यदि उससे भगवन्नाम-भजन होता है, तो वह धन्य है और जिस सुन्दर, स्वस्थ, सबल, सलोना, सुगठित शरीर से सर्वेश्वर स्मरण नहीं होता, उसे धिक्कार है।

नाम जपत कुष्टी भला, चुइ चुइ पड़ै जो चाम।
कंचन देह केहि काम का, जा मुख नाहीं नाम॥

अतः वे कहते हैं–वह द्रव्यहीन-दरिद्र नाम जापक अच्छा है, जिसके घर का छप्पर टूटा हुआ है। वर्षा में पानी चूता है, जाड़े में शीत टपकता है और ग्रीष्म में लू लपकती है; परंतु वह कनकवत् गगनचुम्बी अट्टालिका भस्मीभूत भवन के समान है, यदि उसके गृहपति गुरु-भक्ति का ज्ञान नहीं रखते हैं।

नाम जपत दरिद्री भला, टूटी घर की छानि।
कंचन मंदिर जारि दे, जहँ गुरु भक्ति न जानि॥

और भी देखिए, महाभारत का सुप्रसिद्ध सर्वश्रेष्ठ नायिका कुन्ती देवी की भी अद्भुत गाथा है। वह सुख से सुदूर रह दुःख को आलंगिन करनेवाली एक महान् महिला थी। अपने आदर्श जीवन का जो ज्वलंत उदाहरण उन्होंने हमारे समक्ष रखा है, वह अतीत का इतिहास हमारी भविष्य-संस्कृति को भी गौरवान्वित करनेवाला है। उनका त्याग, उनकी तपस्या, उनके दयार्द्र एवं करुणा से विगलित हृदय की उपमा नहीं दी जा सकती। उनकी गौरवगाथाओं से भारतीय इतिवृत्त आज भी अनुगूंजित है और भविष्य में भी रहेगा।

आप भी सोचें, भला, ऐसी धीरवती और गंभीर मति की महिला दूसरी कौन हो सकती है, जो अपने लाल को काल के गाल में डालकर अपने को निहाल समझे। किन्तु नहीं, पर दुःख दुःखी एवं कातर हृदयवाली कुन्ती देवी की आत्मा चीत्कार कर बोल उठती है–"भले ही हमारे पुत्र का काम तमाम हो जाए, यदि गाम के लोग आराम से रह सकें, तो उसी में मुझे विश्राम है।"

मात्र वचन में नहीं, बल्कि कर्तव्यरूप में परिणत कर उन्होंने संसार को दिखा दिया। भले ही भीमसेन ने ईश की असीम अनुकम्पा से असुर का ही संहार का डाला, यह दूसरी बात थी।

धन्य है, दया की जीती जागती प्रतिमूर्ति कुन्ती देवी! जिन्होंने अपने पुत्र को असुर-बलि देकर बस्ती के लोगों को अभय वर दिया। उनकी विस्मृति कैसे हो सकती! भला, ऐसी दिव्य देवी को भूला कैसे जा सकता?

इस समय उनके एक लघु-प्रसंग की चर्चा करना चाहूँगा, महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। धर्मराज युधिष्ठिर सिंहासनारूढ़ हो चुके थे। अश्वत्थामा ने पांडव-वंशवृक्ष को समूल नष्ट करने के लिए जिस ब्रह्मास्त्र का प्रक्षेपण किया था, भगवान ने उसे असफल कर दिया और उत्तरा की गर्भस्थ संतान का संरक्षण कर पांडव-वंशवृक्ष को सफल बनाया। पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण ने पांडवों के समक्ष अपनी द्वारिका जाने की इच्छा प्रकट की।

जब कुन्ती देवी को इस बात का पता लगा, तो वह अत्यन्त दुःखी होकर सजल जलज नेत्र से भगवान के निकट आयी और प्रार्थना करने लगी। प्रार्थना भी उनकी विचित्र थी। इस देवी की प्रार्थना में श्रीकृष्णचन्द्र से ऐसी चीज की माँग की थी, जिसकी माँग शायद सर्वप्रथम इसने ही की है, जिसे सुनकर स्वयं भगवान भी एक क्षण विस्मृत हो उनकी ओर एकटक निहारते रहे। देवी कुन्ती की माँग थी–

विपदः सन्तु नः शस्वत् तत्रतत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत! स्याद पुनर्भव दर्शनम्॥
(श्रीभद्भागवत १/८/२५)

अर्थात् हे जगद्गुरो! जीवन में मुझपर बार-बार विपत्तियाँ ही आती रहें। क्योंकि जिनके दर्शन से जीव जगत के आवागमन से मुक्त होता है, उन आपके दर्शन तो विपत्तियों में ही होते हैं।

वस्तुतः यह कुन्ती देवी का वाचक ज्ञान नहीं, अपना अनुभव है। क्योंकि उनका समस्त जीवन विपत्तियों में ही बीता और विपत्तियाँ भगवान का वरदान है, अभिशाप नहीं। यद्यपि उनके पुत्रों का निष्कंटक राज्य हो चुका था और एकछत्र राजा युधि-ष्ठिर राज्य करने लगे थे, फिर भी देवी कुन्ती को ऐसा लगा, जैसे कि विपत्तिरूपी सम्पत्ति उनके हाथ से चली गयी, तो भगवान श्रीकृष्ण भी उनके निकट से दूर होने लगे। यही हेतु है कि किन्तु देवी ने भगवान से विपत्तियों को वरदान माँगा।

उस जागतिक वैभव विलास से जीवन को धिक्कार है, जिसमें भगवान भूले-से रहते हैं। धन्य है वह दुःखमय संकटग्रस्त जीवन, जिसमें सर्वेश्वर के सर्वक्षण स्मरण होते रहते हैं। इस दृष्टि से यह कथन असंगत नहीं है, वरणीय दुःख है, सुख नहीं।

प्राणिमात्र सुख पाने का प्रयत्न करता है। प्राणियों में मानवमात्र सर्वश्रेष्ठ गिना जाता है। मानव को जीवन घटनाओं के अध्ययन-आधार पर इस सार का पता लगता है कि वह सुख का सुख नहीं, वरन् दुःख ही दुःख देखता है।

बल्कि यदि मानव अपने जीवन के अबतक प्राप्त सुख-दुःखों को तुला के दो पल्लों पर पृथक्-पृथक् कर रखे, तो दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति उसे स्पष्ट दीख पड़ेगा कि उसके जीवन में दुःखमय क्षण ही अधिक व्यतीत हुए हैं।

वैचारिक दृष्टि से जागतिक सुख-दुःख की परिभाषा भी बड़ी विचित्र है। लोग अपने-अपने दृष्टिकोण से उसका माप-तौल किया करते हैं। एक

के विचार में जैसे अंधकार के अभाव को प्रकाश और प्रकाश के अभाव को अंधकार कहते हैं, वैसे ही दुःख के अभाव को सुख और सुख के अभाव को दुःख कहते हैं। जैसे एक ही समय दो भागों में विभाजन कर दिन और रात की संज्ञा देते हैं, जैसे एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं, जैसे एक ही पन्ना के दो पृष्ठ होते हैं, वैसे ही एक ही जीवन के दो भाग हैं—एक सुख और दूसरा दुःख। जैसे दिन नहीं है, तो रात्रि है और रात्रि नहीं है, तो दिन है। वैसे ही सुख नहीं है, तो दुःख है और दुःख नहीं है, तो सुख है। दूसरे पक्ष वाले इस मत को मान्यता नहीं देते। उनका कथन है कि यदि अभाव में दुःख और बहुतायत में सुख के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए, तो कहा जा सकता है कि जैसे कोई पिपासित आदमी पानी पीने के उद्देश्य से नदी किनारे जाए और पानी पीते-पीते उसका पैर पिसल जाए, परिणामस्वरूप वह उस नदी के पानी में डूबने लग जाए, तो यह कहा जा सकता है कि वह सुख में डूब रहा है? अथवा यदि जल पीते-पीते वह उस नदी में जलमग्न हो जाए, तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह सुखमग्न हो गया? कदापि नहीं। तीसरी तरह के लोग कहते हैं—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को सुख और अनिच्छित वस्तु की प्राप्ति को दुःख कहते हैं। जैसे जब हमें मित्र से मिलने की इच्छा होती है और वे हमें मिल जाते हैं, तो हम सुख का अनुभव करते हैं। इसी तरह इसके विपरीत शत्रु से मिलने पर दुःख का अनुभव करते हैं। चौथे विचार के लोग कहते हैं—दुःख-सुख की यह परिभाषा भी परिष्कृत नहीं है। क्योंकि जब हम यात्रा करते हैं और मार्ग में एकाएक सुरभित सुमन से सुसज्जित साफ-सुथरा सुंदर उद्यान मिल जाता है, तो क्या उसे देखकर हम सुखी नहीं होते? और मार्ग चलने में यदि पैर में काँटा चुभ जाता है, तो क्या हम दुःखी नहीं होते हैं? अवश्य होते हैं। तब ऐसी स्थिति में उपयुक्त सिद्धांत की सिद्धि कहाँ हो पाती है? क्योंकि यात्राकाल में हमने न तो सुंदर फुलवाड़ी प्राप्ति की इच्छा की थी और न काँटे की ही कल्पना की थी इत्यादि। सांसारिक सुख-दुःख की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। शास्त्र ने सांसारिक सुख-दुःख के इस सिद्धांत को स्वीकार किया है कि 'अनुकूल वेदनीयं सुखम् प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्। अर्थात् अनुकूलता को सुख और प्रतिकूलता को दुःख कहते हैं। इस विचारधारानुकूल कोई भी दुःख वा सुख सामूहिक नहीं रह जाता, वरं व्यक्तिगत हो जाता है। क्योंकि सभी अपने-अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर सुख और दुःख का ज्ञान करते हैं।

वस्तुतः जिस सुख और दुःख की व्याख्या की गयी, वह विषय संबंधी है। विषयोपभोग में सुख प्राप्ति की कामना करनी दहकती अग्नि में हाथ डालकर जलने से बचने की अभिलाषावत् है। यथार्थतः विषयों—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द में सुख है ही नहीं। संत कबीर साहब ने कहा है—

झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मनमोद।
जगत चबेना काल का, मुख में कुछ गोद॥

सच्चा सुख वह है, जो सबके लिए समान है। उसमें किसी के लिए भी न्यूनाधिक का प्रश्न ही नहीं रह जाता और वह है विषय से सुदूर निर्विषय तत्त्व।

निर्विषय तत्त्व परमात्मा है। परमात्म-प्राप्ति में ही परम सुख है, चरम शान्ति है और शाश्वत कल्याण है। इसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन जो सबके लिए सुलभ और सरल है, वह है सर्वेश्वर की भक्ति।

जैसे बिना जल के नाव नहीं चल सकती और जैसे बिना जमीन के वृक्ष नहीं जम सकता; वैसे ही बिना ईश्वर-भक्ति के जीव सुख नहीं पा सकता।

सर्वेश्वर के सिवा अन्य किसी में ऐसी शक्ति नहीं जो शाश्वत सुख प्रदान कर सके; चाहे वे महान् से महान् देव हों वा दनुज; नाग हों वा मनुज। सुप्रसिद्ध भक्तकवि अब्दुर्रहीम खानखाना ने इस संबंध में बड़ी ही मर्मस्पर्शी बात कही है—उन्होंने विभिन्न उपमाओं द्वारा इसकी पुष्टि करने का भरसक प्रयास किया है कि जिसके संरक्षक सर्वेश्वर नहीं, उसकी रक्षा करने की क्षमता दूसरे किसी में नहीं। भगवद्भक्ति रूपी भागीरथी में जिसका क्लेश और कलुष नहीं घुला, उसका अन्यत्र धुल नहीं सकता। यथा—

बड़ेन सौं जान-पहचान कै 'रहीम' कहा,
जो पै करतार ही, न सुख देनहार है।
सीतहर सूरज सौं नेह कियौ याही हेतु,
ताहू पै कमल जारि, डारत तुषार है।
छीरनिधि माहि धस्यौ संकर के सीस बस्यौ,
तऊ न कलंक नस्यौ, ससि में सदा रहै।
बड़ौ रिझवार है चकौर दरबार है,

कला निधि-सौ यार, तऊ चाखत अंगार है।

इस विषय की विशेष जानकारी गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की इन पंक्तियों से कीजिए–

सिव अज सुक सनकादिक नारद ।
जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥
सब कर मत खगनायक एहा ।
करिअ राम पद पंकज नेहा ॥
श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं ।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा ।
बन्ध्या सुत बरु काहुहि मारा ॥
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला ।
जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना ।
बरु जामहिं सस सीस बिषाना ॥
अन्धकार बरु रबिहि नसावै ।
राम बिमुख न जीव सुख पावै ॥
हिम ते प्रगट अनल बरु होई ।
बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥
बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल ॥
मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन ।
अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन ॥

शिव, ब्रह्मा, शुकदेव, सनकादिक, नारद और जो मुनि ब्रह्म विचार में प्रवीण हैं। हे पक्षिराज! सबका यही मत है कि राम के चरण-कमल में प्रेम करना चाहिए। वेद, पुराण और सब ग्रंथ (सद्ग्रंथ) कहते हैं कि राम की भक्ति बिना सुख नहीं है। कछुए की पीठ पर चाहे बाल जम आवें, चाहे आकाश में बहुत तरह के फूल फूलें; परन्तु राम से विमुख रहकर जीव सुख नहीं पा सकता। चाहे मृगतृष्णा का जल पीने से प्यास दूर हो जावे, चाहे खरहे के माथे पर सींग जम आवे, चाहे अंधकार सूर्य को नाश कर दे; किन्तु राम से विमुख होकर जीव सुख नहीं पा सकता है। चाहे पाला से अग्नि प्रकट हो जावे, परन्तु राम से विमुख होकर कोई सुख नहीं पा सकता है। चाहे पानी के मथने से घी हो जाए और चाहे बालू से तेल निकल आवें; परन्तु यह सिद्धांत अटल है कि बिना हरिभजन के कोई संसार समुद्र से पार नहीं हो सकता। प्रभु मच्छर को ब्रह्मा बना सकते हैं, ब्रह्मा को मच्छर से तुच्छ कर सकते हैं। ऐसा विचारकर और सब संदेहों को छोड़कर बुद्धिमान चतुर प्राणी राम का भजन करते हैं।

दिनांक–२३.३.१९७१, स्थान : पटना (६३वाँ महाधिवेशन) सायं:काल,

शान्ति-संदेश अक्टूबर+नवम्बर, १९७१

४०. भगवान बुद्ध और महर्षि मेँहीँ

समवेत सज्जनो तथा देवियो!

आज हमारे आराध्यदेव की जन्मतिथि है। अतएव स्वाभाविक ही हमारे सौभाग्योदय का यह परम पावन पर्व है। यह बात लोक और वेद में प्रसिद्ध है कि शशि और सूर्य की भाँति सन्तों का अवतरण जगन्मंगल के लिए हुआ करता है। सन्तों की गति अनन्त होती है। उनकी महिमा-विभूति के गायन के लिए वाणी के वाणी भी मूक हो जाती है। मुझ अज्ञानी के लिए तो आसानी की बात ही क्या हो सकती है! सन्त सद्गुरु अपने कृपा-कटाक्ष से अनन्त शिष्यों के अनन्त-अक्ष का उन्मेष कराकर अनन्तस्वरूपी के दर्शन करानेवाले होते हैं–

सतगुरु की महिमा अनन्त , अनन्त किया उपकार ।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त दिखावनहार ।।
(सन्त कबीर साहब)

वस्तुतः, सर्वेश को पाकर वे इतने विशेष हो जाते हैं कि शेष निःशेष हो जाता है। उनकी दृष्टि इतनी पैनी हो जाती है कि उसे व्यष्टि और समष्टि वेष्टित नहीं कर पाती, वरं इन उभय का अतिक्रमण कर निर्भय हो सम हो जाती है। यही हेतु है कि सन्तों ने कहीं 'गुरु शंकररूपिणौ', कहीं 'कृपासिन्धु नररूप हरि' तो कहीं 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः महेश्वरः' के रूप में गुरु के दर्शन किये हैं। इतना ही नहीं, किसी स्थल पर राम-सम, तो कहीं गोविन्द से विशेष और कहीं 'परम पुरुषहू तें अधिक' की दृष्टि से वे गुरु को निहारते हैं।

किन्तु मुझ-जैसा 'मुकुर मलिन अरु नयन विहीना' तथा 'अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥' जन अपने परम गुरुदेव के दिव्य रूप को देखे तो किस दृष्टि से और कुछ बोले तो किस मुँह से?

का मुख ले विनती करौं, लाज आवत है मोहि।
तुव देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहि।।
(सन्त कबीर साहब)

फिर भी आपलोगों की प्रीति-प्रतीति देखकर कहना आवश्यक प्रतीत होता है। अस्तु, आज तिथि यानी वैशाख चतुर्दशी के दिन ही ८८ वर्ष पूर्व हमारे गुरुदेवजी महाराज का आविर्भाव इस जगती-तल पर हुआ था। चैत और वैशाख वसन्त ऋतु कहलाता है। वसन्त ऋतु के बहार में सन्त और भगवन्त उभय के अवतार हुए हैं अर्थात् भगवन्त और सन्तरूप में भगवंत-उभय के अवतरण हुए हैं, जैसे चैत्र शुक्ल नवमी को भगवान राम और वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को भगवान बुद्ध। और भी लीजिए, वैशाख शुक्ल पंचमी को आचार्य शंकर और वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को संतमत के महान आचार्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज हुए। ऋतुराज को योगिराज और ऋषिराज को लाने का नाज (श्रेय) स्वाभाविक है।

अपने परमाराध्य को मैं राम कहूँ, कृष्ण कहूँ, बुद्ध कहूँ, शंकर कहूँ; समझ में नहीं आता। सन्त कहूँ या भगवंत कहूँ, अपनी अल्प बुद्धि में निर्णय नहीं कर पाता।

रामावतार त्रेतायुग में हुआ। नाम राम था, किन्तु वर्ण श्याम था। कृष्णावतार द्वापर में हुआ। उस समय नाम श्याम और रूप भी श्याम हुआ। गोया त्रेतायुग का अधूरापन द्वापर में पूरा हुआ; किन्तु जब उसमें भी कमी दृष्टिगोचर हुई, तो कलियुग के अवतार में उसकी पूर्त्ति की गई। वह क्या? नाम और रूप तो मिला, किन्तु ग्राम का अभाव था। इसलिए त्रेता युगवाला नाम (राम) रहा और जन्मभूमि का ग्राम श्याम हुआ। यदि और भी स्पष्ट करना चाहें, तो ऐसा कह सकते हैं कि भगवान राम ही दूसरे अवतार में श्याम हुए थे। तो ऐसा क्यों न कहा जाए कि इन युगल युगों के योग से कलियुग में राम+अनुग्रह= 'रामानुग्रह' नाम पड़ा अर्थात् अनुग्रहपूर्वक राम ग्राम श्याम में अवतरित हुए।

इस अवसर पर सन्त और भगवन्त के अवतरण पर स्वल्प प्रकाश डालना असंगत न होगा।

साधारण लोग मायावश होकर जन्म लेते हैं; परन्तु महायोगेश्वर माया को स्ववश में रखते हुए संसार के कार्यों का सम्पादन करने के लिए जन्म धारण करते हैं।

संत-संतजन सर्वश्रेष्ठ होते हैं। वे माया को कौन कहे, मायापति को वश में किए होते हैं। **अपने बस करि राखेउ रामू।** (रामचरितमानस) संत पलटू साहब की वाणी में हम कह सकेंगे-

सबसे बड़े हैं सन्त दूसरा नाम है।
तीजै दस अवतार तिन्हें परनाम है।।
ब्रह्मा विष्णु महेश सकल अवतार हैं।
अरे हाँ रे पलटू सबके ऊपर सन्त मुकुट सिरताज हैं।।

संतजन-लोक-कल्याणार्थ निज इच्छा से जन्म धारण करते हैं।

भगवंत-उनके जन्म का कारण होता है-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।
-श्रीमद्भगवद्गीता ४/७-८

अर्थात् हे भारत! जब-जब धर्म मंद पड़ता है, अधर्म की प्रबलता होती है, तब-तब मैं जन्म धारण करता हूँ। साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश तथा धर्म के प्रतिष्ठापन-हेतु युग-युग में जन्म लेता हूँ।

संत-संतजन के लिए दुष्ट और शिष्ट सभी समान होते हैं। अतः वे दुष्टों का नहीं, वरं दुष्टों की दुर्वृत्ति-दुर्बुद्धि का नाश करते हैं। वे अज्ञान का नाश एवं सद्ज्ञान का प्रकाश करते हैं। वे अपकारक के भी उपकारक होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में-

सन्त उदय सन्तत सुखकारी।
विस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी।।
भूरज तरु सम सन्त कृपाला।
परहित नित सह बिपति बिसाला।।
तुलसी सन्त सुअम्ब तरु, फूलै फरै पर हेत।
इत तें वे पाहन हनें, उत तें वे फल देत।।

संतजन विश्व-उपकार की भावना स्वेच्छापूर्वक शरीर धारण करके संसार में विचरण करते हैं,

इसीलिए अपने आराध्यदेव के संबंध में हम कह सकेंगे कि उनका इस संसार में सहर्ष आना हुआ, इसलिए सहर्ष+ आ=सहर्षा उनकी जन्मभूमि का जनपद (जिला) हुआ।

भगवंत–संसार-रूपी कारागार में कारापाल की भाँति रहते हैं।

संत–जलकमलवत् जगत में रहते हैं।

भगवंत–का अवतरण कारण-मंडल से स्थूल मंडल में किसी कारणवश होता है। कार्य सम्पन्न करके पुनः कारण मंडल में प्रतिष्ठित होते हैं।

संत–का अवतरण सत् गुरुधाम–परमात्मपद से होता है और लौकिक लीला संपन्न करके परम धाम–अजर लोक में निवास करते हैं। संत कबीर साहब के शब्दों में–

जमीं आसमान वहाँ नहीं, वह अजर कहावै ।
कहै कबीर कोइ साध जन, या लोक मँझावै ।।

हमारे सद्गुरु महाराज का जन्म श्याम ग्राम के मँझुआ टोले में हुआ। ऐसा लगता है, जैसे 'मँझावै' का ही यह अपभ्रंश हो। मँझुआ+आवै=मँझुवावै। यदि हम गुरुदेव को बुद्ध की दृष्टि से देखना चाहें तो उससे भी एक विलक्षण बोध प्राप्त होगा; जैसे–

भगवान बुद्ध–इनका पूर्व का नाम सिद्धार्थ था और पश्चात् का नाम बुद्ध।

हमारे सद्गुरु देव–आपका पूर्व नाम 'राम-अनुग्रह' था और पश्चात् का नाम महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज।

भगवान बुद्ध–का पित्तृगृह नेपाल की तराई कपिलवस्तु नगर में था, जो बिहार प्रांत में ही कभी अवस्थित था।

हमारे सद्गुरुदेव–का पितृगृह नेपाल की तराई–पुरैनियाँ (पूर्णियाँ) जिले में है, जो बिहार राज्यान्तर्गत है।

भगवान बुद्ध–का जन्म वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को हुआ था।

हमारे सद्गुरु–का जन्म वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को हुआ अर्थात् एक दिन पूर्व।

द्रष्टव्य–इस दृष्टि से यदि कहा जाए कि भगवान बुद्ध से हमारे गुरु महाराज एक दिन के बड़े हैं, तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी।

भगवान बुद्ध–की माता जब अपने पितृगृह–मायके जा रही थीं, तब मार्ग में ही–शालवन में बुद्ध का जन्म हुआ था।

हमारे सद्गुरुदेव–की माता जब अपने पितृगृह–मायके पहुँच चुकी थीं, तब वहाँ ही आपका जन्म हुआ।

भगवान बुद्ध–जन्म धारण करते ही तत्क्षण सात डेग चले थे, जो अलौकिक बात है वा यौगिक सजन जन विचारें।

हमारे सद्गुरुदेव–जन्मजात सात जटाएँ थीं, जो प्रतिदिन सुलझा देने पर भी पुनः सात-की-सात ही जटाएँ बन जाती थीं, यह विलक्षणता जन्मजात योगी के प्रतीक नहीं तो और क्या?

भगवान बुद्ध–की अल्पावस्था में ही उनकी माता की मृत्यु हुई थी।

हमारे सद्गुरुदेव–की भी अल्पावस्था में यानी चार वर्ष की उम्र होने पर इनकी माता की मृत्यु हुई।

भगवान बुद्ध–के पिता राजा शुद्धोधन ने पुनर्विवाह किया था।

हमारे सद्गुरुदेव–के पिता बबुजनलाल दासजी ने भी पुनर्विवाह किया था।

भगवान बुद्ध–की सौतेली माँ का अद्भुत स्नेह उसके प्रति था। उसने लाड़-प्यार से उनका पालन-पोषण किया था और बड़े होने पर भी–बुद्ध होने पर गुरुवत् उसी प्रतिष्ठा की दृष्टि से उनको देखती थी।

हमारे सद्गुरुदेव–की सौतेली माँ का अलौकिक प्यार आपको प्राप्त था और जब आप बड़े हुए, तो वे आपको पुत्र की दृष्टि से नहीं, वरं एक सन्त की दृष्टि से देखती थीं। इसका प्रबल प्रमाण है कि जब वे इस जगत से महाप्रयाण कर रही थीं, उस समय उन्होंने आपका आवाहन कर आपके शुभ दर्शन किये थे।

भगवान बुद्ध–ने विवाह करके कुछ काल के लिए गृहस्थ धर्म स्वीकार किया था, तत्पश्चात् वे संन्यासी बने।

हमारे सद्गुरुदेव–ने बाल-ब्रह्मचारी रहकर संन्यास व्रत धारण किये।

भगवान बुद्ध–को वृद्ध, रुग्न और मृतक-दर्शनरूप प्रचंड पवन के तीन झकझोरे लगने पर प्रबल वैराग्य हुआ।

हमारे सद्गुरुदेव–को अध्ययन-काल में ही

वैराग्य हुआ। आपको परीक्षा-काल में 'Builders' (निर्माणकर्त्ता) शीर्षक कविता का मात्र एक झटका लगा और वैराग्याग्नि प्रदीप्त हो उठी। ऐसा लगता है कि जैसे सूखी दियासलाई पर मात्र एक काठी घिसने की आवश्यकता थी।

भगवान बुद्ध—छः वर्षों तक जंगल में कठोर तप करने पर इस निर्णय पर पहुँचे कि इससे अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती।

हमारे सद्‌गुरुदेव—ने छः महीने तक जमीन के नीचे रहकर यह निष्कर्ष निकाला कि इस कठिन तपश्चर्या से सर्वेश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

भगवान बुद्ध—को बिहार राज्यान्तर्गत गया जिले की गया-भूमि में वटवृक्ष के नीचे परम सिद्धि की प्राप्ति हुई थी।

हमारे सद्‌गुरु—को बिहार राज्यान्तर्गत भागलपुर जिले में गंगा-पुलिन-स्थित कुप्पाघाट की गुफा, भागलपुर में परम सिद्धि मिली।

स्मरणीय है कि इन दोनों सन्तों की जन्मभूमि गंगा के उत्तरी पार थी और उभय को अभय सिद्धि की प्राप्ति गंगा के दक्षिणी पार में हुई।

भगवान बुद्ध—ने ध्यान करने और पंचशील पालन करने का उपदेश दिया।

हमारे सद्‌गुरुदेव—ने ध्यानाभ्यास करने और झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार; इन पंच पापों से विरत रहने का प्रबल आदेश दिया।

भगवान बुद्ध—ने बुद्ध, धर्म और संघ की त्रिशरण बताई—'**बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।**'

हमारे गुरुदेव—ने त्रिशरण के समास-रूप—गुरु, ध्यान और सत्संग का निर्देशन करते हुए एक सर्वेश्वर पर अचल विश्वास एवं पूर्ण भरोसा रखने की शिक्षा दी।

भगवान बुद्ध—ने अंगुलिमाल नामक डाकू तथा आम्रपाली नामक वेश्या का उद्धार किया।

हमारे गुरुदेव—ने कितने ही दुष्टों तथा अज्ञात-नामा (कटिहार नगर की) वेश्या का उद्धार किया।

भगवान बुद्ध—ने पैदल घूम-घूमकर सम्पूर्ण देश में अपने धर्म का प्रचार किया।

हमारे सद्‌गुरुदेव—ने भी पदयात्रा करके बीहड़ मार्गों को तय कर सन्तमत का प्रचार और प्रसार किया; मात्र अपने देश में ही नहीं, अपितु नेपाल राज्य में भी। अनपढ़, असभ्य और गिरे हुए, जिनको पूछनेवाला कोई नहीं, ऐसों को आपने सद्ज्ञान दिया।

अब स्वल्प रूप में जो विषमताएँ हैं, उनका समास रूप में दिग्दर्शन कराना चाहूँगा।

कहते हैं, भगवान बुद्ध ने वेद और ब्रह्म को अस्वीकार किया; परन्तु हमारे सद्‌गुरुदेवजी ने उन दोनों को स्वीकार किया और मानवीय मर्यादा दी। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं और भिक्षुणियों की संख्या बढ़ाने में प्रोत्साहन दिया; किन्तु हमारे सद्‌गुरुजी ने देशकालानुकूल गृहस्थाश्रम में रहने तथा स्वावलम्बी जीवन-यापन का आदेश दिया। भगवान बुद्ध ने मौखिक उपदेश दिया; किन्तु परम पूज्य गुरुदेवजी ने मौखिक उपदेश के साथ साहित्य-सृजन भी किये। वेदवादी और पंथवादी के बीच का पाटन-कार्य आपने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। साथ ही, साम्प्रदायिक भाव के कारण सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि की जो आपस में कटुता थी, आपने अपने अर्जित ज्ञान और सामंजस्यपूर्ण विचार द्वारा उसकी झंझट का आमूल उन्मूलन करके उसमें मधुरिमा ला दी।

अन्य संतों की भाँति आपने एक ईश्वर पर विश्वास दिलाया और उनकी भक्ति दृढ़ाई। साथ ही, उनकी प्राप्ति का एकमात्र मार्ग अन्तर्मार्ग बताया, जो ज्योतिर्मय और ध्वनिमय है। जैसे जल में तैरनेवाले के लिए जल ही मार्ग होता है और जल ही अवलम्ब, वैसे ही अंतर्मार्गी साधक के लिए ज्योति और नाद ही मार्ग हैं तथा ये ही दोनों अवलम्ब भी। आपने प्रकाश और शब्द को परमात्मा का वाम और दक्षिण हस्त बतलाया और कहा कि यह शब्द जहाँ विलीन होगा, वहाँ ही उपनिषद् का यह वाक्य 'निःशब्दं परमं पदम्' सार्थक होगा अर्थात् वही परमात्म-धाम है। वही गोस्वामी तुलसीदासजी का 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥' है। इन कतिपय शब्दों के साथ मैं श्री सद्‌गुरुजी महाराज के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

(शान्ति-सन्देश, जून १९७१ ई०)

(श्रद्धेय श्रीसंतसेवीजी महाराज का यह प्रवचन दिनांक ९ मई, १९७१ ई० को परम पूज्य अनंत श्रीविभूषित महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की ८८वीं जयन्ती के अवसर पर महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट में हुआ था।)

४१.ऐसी सेवकु सेवा करै, जिसका जीउ तिसु आगे धरै

आदरणीय सज्जनो तथा आदरणीया देवियो!

आपलोगों को ज्ञात है कि यहाँ संतमत का सत्संग होगा। अभी पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के पधारने में थोड़ी देर है। अतएव तबतक के लिए उनका आदेश है कि मैं आपलोगों की कुछ सामयिक सेवा करूँ। किन्तु आप जानते हैं—सेवा के प्रकार बहुत हैं। जैसे समाज-सेवा, देश-सेवा, मातृ-सेवा, पितृ-सेवा, गुरु-सेवा आदि विविध प्रकार की सेवाएँ हैं। मैं आपलोगों की सेवा किस तरह करूँ?

महाभारत ग्रन्थ में एक आख्यान आया है कि महाभारत युद्ध के समय भीष्म पितामह के शरीर में इतने वाण लगे थे कि उनके शरीर में दो ईंच से अधिक जगह खाली नहीं बची थी। तीर पर ही उनका शरीर टँग गया था। इसलिए उसे शर-शय्या कहा गया। भीष्म का धड़ तो शर पर था; किन्तु उनका गला नीचे लटक रहा था। भीष्म ने दुर्योधन की ओर देखा। दुर्योधन ने अपने सहयोगी से कहा—"मखमली सुन्दर तकिया ले आओ।" दुर्योधन की बात सुनकर भीष्म ने खिन्न होकर कहा—"दुर्योधन, तुमको सामयिक ज्ञान नहीं; तुमने कभी बड़े-बूढ़े की सेवा नहीं की। तुम सदा मूर्ख ही रहे।" फिर उन्होंने अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन ने उनके सिर में तीन तीखे वाणों को मारकर ऊपर उठा दिया। भीष्म ने प्रसन्न होकर कहा—शाबाश बेटा! तुम धन्य हो। जैसा बिछावन, वैसा तकिया देकर तुमने मेरी शूरता की शोभा बढ़ायी है, मैं तुमको आशीर्वाद करता हूँ।

पुनः दुर्योधन की ओर देखकर कहा—"मुझे प्यास लगी है।" फिर दुर्योधन ने किसी सेवक से कहा—"सोने की झारी में पानी ले आओ।" यह सुनते ही उसकी ओर से निराश होकर भीष्म ने अर्जुन को देखा। अर्जुन ने अपने तरकश से वाण निकाला, धनुष पर चढ़ाया और पृथ्वी में जोर से मारा। फिर क्या था, पाताल से पानी का स्त्रोत निकलकर पितामह के मुँह में जाने लगा। वे अत्यंत प्रसन्न होकर अर्जुन को शुभाशीर्वाद देने लगे। यह है सामयिक सेवा। उसी तरह अभी जो यहाँ आयोजन किया गया है, इसमें आपकी सेवा मैं संतवाणी एवं सत्संग-द्वारा करूँ, यही सामयिक सेवा होगी।

इस सत्संग के द्वारा ईश्वर-भक्ति का प्रचार होता है। हरि सर्वत्र हैं। ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ ईश्वर नहीं। जैसे मछलियाँ पानी में रहती हैं, उसके चतुर्दिक पानी-ही-पानी रहता है। उसी तरह जीवात्मा संसार में है; किन्तु अफसोस है कि प्रभु के सर्व व्यापक होने पर भी जीवात्मा को उसकी प्रत्यक्षता नहीं। संत कबीर साहब ने कहा है—**'पानी बिच मीन प्यासी, मोहि सुनि-सुनि आवत हाँसी।'** यही बात हमलोगों के लिए चरितार्थ हो रही है। परमात्म-प्राप्ति की प्यास लगती है, वे मिलते नहीं, प्यास बुझती नहीं। स्मरण रहे कि मछली के चतुर्दिक पानी रहने पर भी साधारण ढंग से वह पानी नहीं पी सकती। जब वह पानी में उलटती है, तभी पानी पी सकती है। उसी तरह जीव भी परमात्मा के अन्दर में है; लेकिन जबतक वह बहिर्मुखी है, अन्तर्मुखी नहीं हो जाता, तबतक ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। बहिर्मुखी रहने पर जीव को माया का दर्शन होता है, ब्रह्म का नहीं। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है—

'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जान्हु भाई।।'

माया कभी सत्य नहीं होती, ब्रह्म सदा सत्य है। माया बाजीगर के खेल-सदृश असत्य है। ब्रह्म सत्य, शाश्वत और नित्य है। माया और छाया एक-सी होती है। उसकी कोई हस्ती नहीं है। "आपलोग कहेंगे—हम देखते हैं कि चौकी है, इतने लोग इकट्ठे हैं, शामियाना है। फिर वेदान्त कहता है—जो कुछ तुम देखते हो, वह सत्य नहीं है। यह कैसी बात है?" अच्छा सुनिये, एक बाजीगर था। उसने एक लम्बी रस्सी आकाश में फेंक दी। रस्सी अधर में लटक गयी। उसका नीचेवाला छोर तो दिखाई पड़ता था; किन्तु ऊपरवाला छोर कहाँ लगा था, दीख नहीं पड़ता था। बाजीगर का साथी उस रस्सी के सहारे ऊपर की ओर जाता है। कुछ देर तक, कुछ दूरी तक

तो वह जाते हुए दीख पड़ा। पीछे वह आकाश में कहाँ विलीन हुआ, पता नहीं। थोड़ी देर के बाद अपने साथी पर बाजीगर बिगड़ने लगा। अपने साथी से कुछ भी उत्तर नहीं पा आवेश में आकर वह भी उसी रस्सी को पकड़ते हुए नंगी तलवार लेकर ऊपर जाता है। और कुछ दूर जाने के पश्चात् वह भी ओझल हो जाता है। पश्चात् क्रम-क्रम से हाथ, पैर, धड़, सिर आदि कट-कटकर गिरने लगे। वहाँ कैमरा लेकर जितने फोटोग्राफर थे, सभी ने उन सबका फोटो ले लिया। थोड़ी देर के बाद जब बाजीगर नीचे उतरा, तो उसने देखा कि अपने साथी को ही उसने मार डाला है। वह फूट-फूटकर रोने लगा और रोते ही रोते उसने शरीर के सभी कटे हुए अंगों को एकत्र किया और एक कपड़े से ढँक दिया। कपड़ा हटाने पर उसका साथी जीवित हो उठा। उसका भी फोटो ले लिया गया। किन्तु जब उन चित्रों की सफाई हुई, तो उसमें केवल एक उड़ती हुई चील की तस्वीर आयी और कुछ नहीं। बाजीगर ने जो कुछ दिखलाया, वह सब मिथ्या था। उसी तरह हम देखते सब कुछ हैं; परन्तु सत्य कुछ भी नहीं। संतों ने कहा—ब्रह्म को जानो, तो भ्रम जायेगा। जीव भ्रम में पड़कर नाना प्रकार के दुःख, क्लेश, शोक, पीड़ा आदि से पीड़ित होते रहता है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है—

राका पति षोड्स उअहिं, तारागन समुदाय ।
सकल गिरिन्ह दव लाइय, बिनु रवि राति न जाय ।।
ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा।
मिटहि न जीवन केर कलेसा।।
—रामचरितमानस

जबतक सूर्योदय नहीं होता, तबतक दिन नहीं होता। उसी तरह ईश-भजन के बिना क्लेश नहीं मिट सकता। स्मरण रहे, भक्ति अकेली नहीं रहती। उसके साथ ज्ञान और योग का भी संयोग रहता ही है। भक्ति, ज्ञान और योग—तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञान-हीन योग और योग-हीन ज्ञान मोक्षप्रद नहीं होता; यह उपनिषद्-वाक्य है। और गो० तुलसीदासजी कहते हैं—

'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।।'

वह योग, कुयोग है और वह ज्ञान, अज्ञान है, जहाँ ईश्वर में प्रेम नहीं। आटा, चीनी और घृत को अलग-अलग कर खाने से न तो स्वाद मिलता है और न बल ही मिलता है; किन्तु तीनों को मिलाकर अच्छी मिठाई बनती है, तब उसका स्वाद भी बढ़ जाता है और वह पौष्टिक भी बन जाता है। इसी तरह अध्यात्म-पथ के पथिक के लिए भक्ति, योग और ज्ञान मिश्रित रूप उत्कृष्ट पाथेय है। भक्ति अर्थात् सेवा; किनकी? ईश्वर की। ज्ञान अर्थात् जानना; किनको? अपने को—ईश्वर को। योग अर्थात् मिलन; किनसे? ईश्वर से। इस तरह योग, ज्ञान वा भक्ति; जो कुछ कहा वा किया जाए, ईश्वर के लिए ही होता है।

योग का नाम सुनकर कुछ लोग बहुत घबराते हैं। कहते हैं—कलियुग में योग नहीं हो सकता; परन्तु मैं कहता हूँ कि आप योग के बिना नहीं रह सकते। योग के बिना आपका जीवन भारस्वरूप हो जायगा। आप विचार कर देखें—जिस वस्तु वा व्यक्ति के साथ आपके मन का प्रबल योग है, उसके वियोग को सहर्ष सहन कर सकते हैं? कुम्भ-मेला के अवसर पर कहलगाँव के एक पति-पत्नी गये हुए थे। पहले पति स्नान करके आये, तब पत्नी स्नान करने गई। भीड़ इतनी अधिक थी कि वह स्नान करके ऊपर होते समय भटक गई। उसका पति उसे खोजने लगे। खोजते-खोजते वे लाश की भी तलाश करने लगे। माघ का महीना था। पत्नी अलग व्याकुल है। खोजते-खोजते दूसरे दिन दोनों की भेंट हुई। दोनों मिलते ही काफी देर रोये। यह क्या है, योग या वियोग।

योग का अर्थ है—जोड़। श्रीमद्भगवद्गीता में अठारह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय को एक-एक 'योग' की संज्ञा देकर अठारह प्रकार के योगों का वर्णन किया गया है। साथ ही योग की भिन्न-भिन्न प्रकार की परिभाषाएँ भी दी गयी हैं—"योगः कर्मसु कौशलम्", "समत्वं योग उच्चते" आदि।

महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यथा—"चित्तवृत्ति निरोधः इतियोगः।" यद्यपि योग के अर्थ जोड़, मिलन, मिलाप आदि विशेष व्यवहृत हैं, तथापि यत्र-तत्र योग का अर्थ घटाव भी होता है। जिस तरह कमाने का अर्थ जमा

करना भी होता है और घटाना भी। श्रीमद्भगवद्गीता और पातंजल योग के अनुसार–"जहाँ-जहाँ तुम्हारी चित्तवृत्ति जाती है, वहाँ-वहाँ से उसको हटाओ।" विषयों से चित्तवृत्ति को हटाना, घटाना ही तो हुआ। इसलिए योग का अर्थ घटाव भी होता है। वस्तुतः जबतक हटाव नहीं–तबतक घटाव नहीं और जब घटाव नहीं, तो फिर परमात्मा से सटाव भी नहीं।

मेरे कथन का आशय यह कि शब्दों के हेर-फेर से योग को जोड़ वा घटाव कहें, हटाव या सटाव कहें; किन्तु इसमें हठयोग का लेश नहीं है, जिससे कितने को क्लेश हुआ है। यह तो वह सरल राजयोग है, जिसमें दैहिक, दैविक भौतिक सभी प्रकार के क्लेश निःशेष होते हैं। हठयोग अवश्य ही सबके लिए सरल, सुगम और सुख साध्य नहीं है; किन्तु राजयोग के लिए ऐसी बात नहीं है। इसमें तो वह आसान क्रिया बतलायी जाती है, जिसको क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या गरीब, क्या अमीर, क्या विद्वान्, क्या अविद्वान्, क्या इस देश, क्या अन्य देश; विश्व के मानव मात्र कर सकते हैं। क्या गृहस्थ क्या विरक्त सभी के लिए समान अधिकार है। यह कठिन साधना नहीं, सहज साधना–ध्यान योग है। संत कबीर साहब ने कहा है–

'न योगी जोग से ध्यावै, न तपसी देह जरवावै ।
सहज में ध्यान से पावै, सुरति का खेल जेहि आवै ।।'

यह है राजयोग और श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय का ध्यान योग। इसमें कहीं भी हठयोग नहीं, प्राणायाम की चर्चा तक नहीं।

महाभारत युद्ध से मुख मोड़कर अर्जुन जंगल जाना चाहता था; किन्तु महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने समझाया–"मामनुस्मर युध्य च।" मेरा स्मरण करो और युद्ध भी। "तन काम में मन राम में।" यही सीख संत कबीर साहब ने दी। उन्होंने कहा–

घर में जोग भोग घर ही में, घर तजि बन नहिं जावै।
बन के गये कलपना उपजै, तब धौं कहाँ समावै।।

और बाबा नानक ने कहा है–

जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणै।
सुरति सबदि भवसागरु तरीऐ नानक नामु बखाणै।।

अर्थात् संसार में जल-कमलवत् रहो और भवसागर पार होने हेतु सुरत-शब्द का अभ्यास भी करो। श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव ने कहा है–भक्त संसार में रहे कोई हानि नहीं; परन्तु उसमें सांसारिकता नहीं आनी चाहिये। क्योंकि सांसारिकता उसके अनर्थ का कारण होती है। जैसे पानी में नाव के रहने से हानि नहीं; परन्तु नाव में पानी नहीं आना चाहिये। नाव में पानी के आने से वह डूब जायगी। देहात की एक मशहूर कहावत है–

'घर में हो खट पट, तो चल बाबाजी के मठ पर।
बाबाजी माँगे टहल, तो रमते रहल।।
रमता में मिलै टक्का, तो संन्यासी भेष पक्का।।
और कहीं-रमता में हो फक्का, तब गृहस्थी चक्का।।'

संत पलटू साहब ने कहा–

यार फक्कीर तू पड़ा किस ख्याल में,
पाँच पचीस संग तीस नारी।
एक तू छोड़िया तीस तेरे संग में,
होय अस ज्ञान से नर्क भारी।।
तीस के कारने भीख तू माँगता,
एक ने कवन तकसीर पारी।
दास पलटू कहै खेल यह ना बदो,
जब छूटै तीस तब छोड़ प्यारी।।

इस योग में घर-वार वा रोजगार छोड़ने की आवश्यकता नहीं। राजा जनक भी तो गृहस्थ ही थे। वे कितने महान थे कि उनके यहाँ शुकदेव मुनि भी शिक्षा-ग्रहण करने के लिए गये थे। एक बार का प्रसंग है कि श्रीशुकदेव मुनि को उनके पिता व्यासदेवजी ने शिक्षा ग्रहण करने के लिए राजा जनक के पास भेजा। शुकदेवजी जब राजा जनकजी के यहाँ पहुँचे, तो वे उनके राज्य-वैभव को देखकर चकित हो गये। उन्होंने मन में सोचा–पिताजी ने मुझे कहाँ भेज दिया! भला, राजभोग करनेवाले मुझे योग, ज्ञान, ध्यान क्या सिखायेंगे? उनके मन की बात को जानकर राजा जनकजी ने उनके परीक्षार्थ कई दिनों तक उनको फाटक पर ही रखा। पश्चात् उनको भोजन कराने के लिए भवन के भीतर ले गये। भोजन के पदार्थ विविध प्रकार के बने थे। मुनिजी के बैठने के बाद राजशाही भोजन परोसकर उनके सामने रखा गया और उनसे कहा गया कि गलती से चौका यहाँ लगाया गया है। जिस स्थान पर आप बैठे हैं, उसके ऊपर की छत गिरने ही वाली है। ऊपर देखने पर मुनिजी को भी ऐसा लगा कि छत शीघ्र ही धराशायी होनेवाली है। भय के मारे भोजन करने में उन्होंने इतनी शीघ्रता की

कि भोजन के स्वाद का उनको कुछ पता ही नहीं चला। फिर कटोरी में पानी भरकर कहा कि "इसे हाथ में लेकर शहर देखकर आइये; लेकिन देखिये, एक बूँद भी पानी नीचे गिरने न पावे। यदि एक बूँद भी पानी नीचे गिरा, तो धड़ से सर अलग कर दिया जायगा।" शुकदेव मुनि की दोनों तरफ दो सिपाही साथ लगा दिये गये और दोनों को राजाज्ञा मिली–"अगर कटोरे से पानी गिरे, तो धड़ से सिर काटकर अलग कर देना।" सम्पूर्ण शहर घुमाकर मुनिजी को जब राजा जनक के सामने लाया गया, तो राजा जनक ने पहले पूछा–"कहिये! क्या-क्या भोजन हुआ और भोजन कैसा बना था?" शुकदेव मुनि ने कहा–"छत गिरने के भय से मैंने इतनी शीघ्रता से भोजन किया कि पता भी न चला कि मैंने क्या-क्या भोजन किया और भोजन कैसा बना था?" तब फिर राजा ने पूछा–"अच्छा, बताइये शहर कैसा था?" शुकदेव मुनि ने पुनः कहा–"मैं शहर क्या देखता? डर के मारे मैं तो कटोरी को ही देखता था कि कहीं पानी न गिर जाय।" राजा जनक ने कहा–यही आपको उपदेश दिया। जिस तरह छत गिरने के भय से आपको भोजन का स्वाद नहीं मालूम पड़ा। पानी गिरने के भय से शहर नहीं देख सके। आपका ध्यान छत में और कटोरी के पानी में लगा था, इसी तरह अपना ध्यान ईश्वर की ओर लगाकर संसार का काम करना चाहिए। जिस तरह पनिहारिन पानी का एक घड़ा सिर पर रखती है, दूसरे घड़ा को दूसरे हाथ से पकड़कर बगल में दबाती है और एक हाथ में बाल्टी और रस्सी रखती है, साथ ही अपने सहचरी के संग बातचीत भी करती जाती है। इसी प्रकार कर से कर्म करते हुए मन ईश्वर की ओर लगाये रखना चाहिये, यह संतों की सीख है। यही है–"तन काम में, मन राम में।" उसी तरह संसार में रहो। यह सरल योग है।

बिना मनोयोग के किसी भी काम में सफलता नहीं मिल सकती। और तो और अगर मन का योग चौके में नहीं रहे, तो माताएँ रोटी भी बना नहीं सकतीं। कभी रोटी जल जायगी, तो कभी साग जलेगा। कभी दाल में नमक छूट जायगा, तो कभी अधिक हो जायगा। किसान यदि मनोयोगपूर्वक खेती नहीं करे, तो खेती का काम हो नहीं सकता। सिपाही मनोयोगपूर्वक लड़ाई में नहीं लड़े, तो वह देश को खो देगा। इसलिए योग का संयोग तो हमारे दैनन्दिन कार्य के साथ भी रहता ही है, फिर इससे डरने वा घबराने की बात क्या?

ज्ञान कहते हैं, जानने को। ज्ञान चार प्रकार के होते हैं–श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभव। श्रवण-ज्ञान सामान्य अग्नि के समान होता है। मनन-ज्ञान बिजली की चमक के समान होता है। निदिध्यासन ज्ञान बड़वानल के समान और अनुभव ज्ञान महाप्रलय की अग्नि के समान होता है। अनुभव ज्ञान में माया-प्रपंच का नाश हो जाता है। श्रवण और मनन ज्ञान में चंचलता रहती है। निदिध्यासन ज्ञान माया को मर्यादित रखता है, नाश नहीं कर सकता। 'अनु' का अर्थ होता है–'पीछे' और 'भव' का अर्थ होता है–'होना'। अनुभव ज्ञान के बाद कोई ज्ञान बाकी नहीं रह जाता–किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती। यही प्रत्यक्ष ज्ञान है। आत्म-ज्ञान है–स्वरूप ज्ञान है, सर्वोपरि ज्ञान है। श्रीमदाद्य शंकराचार्यजी ने स्वरूपानुसन्धान को 'भक्ति' संज्ञा से अभिहित किया है। उन्होंने कहा है–

'मोक्ष कारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभि धीयते ।।'

भक्ति की श्रेणियाँ हैं, जिसको नवधा भक्ति कहते हैं। जो जहाँ गिरा रहता है, वह वहीं से उठकर चलना आरम्भ करता है। स्थूल मण्डल निवासियों के लिए प्रथम स्थूल उपासना की सहायता अत्यन्त अपेक्षित है। जैसे जबतक कोई मोटे अक्षर को नहीं लिखता, तबतक बारीक अक्षर लिख नहीं सकता। वस्तुतः भक्ति का आरम्भ स्थूल उपासना से होता है और उसका अन्तिम चरण है–आत्मनिवेदनम्। गुरु नानकदेव ने कहा है–

ऐसी सेवकु सेवा करै। जिसका जीउ तिसु आगै धरै।।

❒

यह प्रवचन दिनांक २८-११-७१ ई० को बिहार की राजधानी पटना के राजेन्द्र नगर में प्रस्तावित महर्षि मेँहीं योगाश्रम की ओर से आयोजित साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।

(शान्ति-सन्देश, अप्रैल, २०१२ ई०)

४२.ध्यानयोग से पापों का समूल नष्ट हो जाता है

ध्यानविन्दूपनिषद् में लिखा है–

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥

अर्थ–कई योजन तक फैला हुआ पहाड़ के समान यदि पाप हो तो वह ध्यानयोग से नष्ट हो जाता है; इसके समान पापों का नष्ट करनेवाला कभी कुछ नहीं हुआ है। आइये, इस विषय पर हम विचार करें कि ध्यानयोग से पापों का समूल नष्ट कैसे होता है। किन्तु इसके पूर्व एक निवेदन करना चाहूँगा कि गो० तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस के उत्तरकांड में लिखा है–

संत उदय संतत सुखकारी।
विस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥

अर्थात् जैसे शशि-सूर्य संसार को सुख पहुँचाने के लिए उदित होते हैं, उसी तरह संतों का अवतार जगन्मंगल के लिए ही होता है। अब प्रश्न होता है–'जगत् कल्याण के लिए संतों का अवतरण होने पर भी जागतिक जन अकल्याण की दशा में क्यों रहते हैं? उत्तर में निवेदन है, किसी ने अमानिशीथ से पूछा, तू इतनी काली क्यों है? उसने उत्तर दिया, मुझे सूर्य से नफरत है। सूर्य अर्थात् प्रकाशपुंज से जिसे घृणा है, वह अंधकारपूर्ण रहेगा, इसमें संदेह ही क्या है? इसी प्रकार जो साधु-संत, ज्ञानी-ध्यानी और सदाचारी सज्जन से घृणा या द्वेष करता हो, यह दुर्जन बनकर अज्ञान की दशा में या अकल्याणावस्था में रहे, इसमें आश्चर्य ही क्या है? चाहे वे अपने मन से अपने को कितना भी ज्ञानी क्यों न मानते हो। ठीक इसी प्रकार जो पुण्य से घृणा करता है, वह पाप में प्रवृत्त हो जाय, इसमें संशय का स्थान ही कहाँ है? भगवान बुद्ध ने कहा है–

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।
दग्धंहि करो तो पुञ्ञं पापस्मिं रमते मनो॥

अर्थात् पुण्य करने में शीघ्रता करें। पाप से चित्त को हटावें। पुण्यकार्य में शिथिलता करनेवाले का मन पाप में लग जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

सरदातप निसि ससि अपहरई।
संत दरस जिमि पातक टरई॥

जिस तरह शरद ऋतु में उसकी गरमी को रात्रि में चन्द्रमा हरण कर लेता है, उसी तरह संतों के दर्शन से पातक टल जाते हैं। विचारणीय है कि जैसे आकाश में काले-काले बादल उमड़ने पर हवा उसे दूर उड़ा ले जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि फिर कभी बादल आएगा ही नहीं और वर्षा होगी ही नहीं। यथार्थ बात तो यह है कि हवा उसे थोड़ी ही देर के लिए दूर हटा देती है, पुनः बादल आ सकता है और वर्षा भी हो सकती है। उसी तरह संत दर्शन से पातक टरते हैं, नष्ट नहीं होते हैं। जैसे सरोवर में जल के ऊपर मल यानी हरी-हरी काई (सेंवार) जम जाता है, लगातार कुछ काल तक उस जल को हिलाते रहने से कुछ काल के लिए काई दूर हो जाती है, किन्तु जैसे हिलाना बंद हुआ, वैसे ही धीरे-धीरे वह काई आने लगती है और थोड़ी देर के बाद पूर्ववत् हो जाती है। उसी तरह जबतक संत दर्शन और उनके प्रवचन श्रवण करते रहते हैं, तबतक मन विषयों की ओर से, पापों की ओर से हटा रहता है; किन्तु जैसे ही संतों का संग, सत्संग छूटता है, वैसे ही धीरे-धीरे वे विकार आने लगते हैं और मन पुनः पूर्ववत् विकारी बन विषयों में विचरण करने लगता है, पाप कर्मों में रत हो जाता है। ऐसी अवस्था में जिज्ञासा होती है कि क्या इसको समूल नष्ट करने का कोई यत्न नहीं है? हाँ, है।

मेरे विचार में, जैसे गाय के पेट से जिस समय बच्चा निकलता है, उस समय उस बच्चे के शरीर में दुर्गन्धयुक्त रस, रक्त और मांस की झिल्लियाँ लिपटी रहती हैं; लेकिन उसकी माँ धीरे-धीरे उसको चाट-चाटकर उसकी सारी दुर्गन्धियों को दूर कर देती है। इसी प्रकार संसार में जब जीव आता है, तो उसके अंदर काम-क्रोधादिक बहुत प्रकार के विकार मल भरे रहते हैं; किन्तु संत सद्गुरु की शरण से ये सभी विकार धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। संत जन अपने ज्ञानोपदेश व शिक्षा-दीक्षा द्वारा उसके समस्त मल का शनैः शनैः हरण कर लेते हैं। जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार नहीं रह जाता है। इस संबंध में गो०

तुलसीदासजी महाराज के विचार भी पठनीय हैं। उन्होंने पाप को समूल नष्ट करने की एक अच्छी सद्युक्ति बतलायी है और वह यह है–

जब द्रवहिं दीनदयाल राघव, साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक, पाप रासि नसाइये॥

अर्थात् जब दीन दयालु रघुनाथजी कृपा करते हैं, तब संत समागम होता है। जिन संतों के दर्शन, स्पर्श और सत्संग से पाप समूह समूल नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य यह कि ईश्वर की अनुकम्पा से और साधु-संग से उनके दर्शन, स्पर्शन और समागम आदि का सौभाग्य प्राप्त होता है। फलतः अघ का वध करना सुलभ हो जाता है। किन्तु सावधान! गो० तुलसीदासजी महाराज ने अपनी कविता में बड़ी ही कुशलतापूर्वक इस विषय का विश्लेषण और प्रतिपादन किया है। ध्यान में रखें–संतों के दर्शन हों, स्पर्शन हों, समागम हों ठीक है; किन्तु इतने से ही पातकों की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। 'समागम' में आदिक शब्द जोड़कर गोस्वामीजी ने उनके अंतर्निहित गूढ़ रहस्य का उद्घाटन नहीं किया, वरन् गोपनीय रख दिया। वह रहस्य क्या है? 'खग ही जाने खग की भाषा' के अनुकूल क्रियावान, शुद्धाचरणी मर्मी सज्जन ही इस मर्म को जान सकते हैं।

आवश्यकता है, ऐसे संत सद्गुरु की जो उस रहस्य का उद्घाटन कर सकें और जिनकी बताई क्रिया विशेष के द्वारा पाप राशि को निःशेष किया जा सके। वह है ध्यानयोग। कहते हैं कि अमानिशीथ की तमिस्रा को नाश करने तथा दिन के प्रकाश को लाने के लिए बड़े-बड़े प्रयत्न किये गये। चन्द्रदेव से प्रार्थना करने पर वे समस्त ताराओं के साथ षोडश कलाओं से आकाश में उदित हुए। गृह-गृह में प्रदीप प्रज्वलित किये गये। सड़कों पर करोड़ों मशाल जलाए गए। समस्त वन, गिरि, वृक्ष एवं लताओं में अग्नि लगा दी गयी। फिर भी दिन का प्रकाश नहीं हो सका और न अंधकार जा सका। किन्तु जैसे ही सूर्योदय हुआ, वैसे ही समस्त विश्व प्रकाशपुंज से प्रकाशित हो गया। तम का नामोनिशान नहीं रहा। इसी तरह कितने भी बड़े से बड़े यज्ञ किये जाएँ, तीर्थ किये जाएँ, व्रत किये जाएँ; किन्तु पापों का नाश नहीं किया जा सकता। जैसे कपड़ा साफ करने के लिए साबुन और पानी की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही मन की मैल धोने के लिए ध्यान और सदाचार का पालन है।

पुनः सुषुम्ना ध्यान की महिमा का वर्णन करते हुए शिवजी ने ब्रह्माजी से इस भाँति कहा है, जिसका उल्लेख हम योगशिखोपनिषद् में पाते हैं–

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
सुषुम्ना ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

अर्थ–हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ सुषुम्ना-ध्यान-योग का सोलहवाँ भाग भी नहीं है।

सुषुम्नायां सदा गोष्ठीं यः कश्चित्कुरुते नरः।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्॥

अर्थ–जो नर सुषुम्ना में सदा सभा करता है, वह सब पापों से मुक्त होकर सच्चा कल्याण पाता है।

सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः॥

अर्थ–सुषुम्ना ही प्रधान तीर्थ है, सुषुम्ना ही प्रधान जप है, सुषुम्ना ही प्रधान ध्यान है और सुषुम्ना ही परा (ऊँची) गति है।

अनेक यज्ञदानानि व्रतानि नियमास्तथा।
सुषुम्नाध्यानलेशस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

अर्थ–अनेक यज्ञ, दान, व्रत और नियम; स्वल्पमात्र सुषुम्ना-ध्यान के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है।

मुहूर्त्तमपि यो गच्छेन्नासाग्रे मनसा सह।
सर्व्वं तरति पापानां तस्य जन्मशतार्ज्जितम्॥

अर्थ–जो मुहूर्त भर भी (अर्थात् कुछ काल भी) मन-सहित नासाग्र में जाता है (अर्थात् नासाग्र में मन को रोककर ठहरता है), वह सैकड़ों जन्मों का किया हुआ जो पाप है, उससे पार उतर जाता है।

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

अर्थ–देह में इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाम की तीन प्रधान नाड़ियाँ हैं। इड़ा गंगा, पिंगला यमुना और इड़ा-पिंगला के बीच में रहनेवाली सुषुम्ना सरस्वती नदी के नाम से कही जाती है।

त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥

अर्थ–देह में जहाँ उल्लिखित तीनों नाड़ियों

का संगम है, उस स्थान को गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम–त्रिवेणी कहते हैं। यह त्रिवेणी सर्वप्रधान तीर्थ कहकर गिनी जाती है। इस तीर्थ में स्नान करने से सब पापों से मुक्ति मिलती है॥

यदि कहा जाय कि 'ध्यानयोग द्वारा पापों का समूल नष्ट होता है।' इसमें विश्वास क्यों किया जाए? तो जानना चाहिए कि ध्यानयोग में एकाग्रता होती है। एकाग्रता में तन्मयता स्वाभाविक होती है। जिसमें मनोवृत्ति का सभी ओर से सिमटाव होकर एक ओर होना होता है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि–एकाग्रता में पूर्ण सिमटाव होता है। पूर्ण सिमटाव में ऊर्ध्वगति होती है और ऊर्ध्वगति में आवरण भेदन होता है। जिसके परिणामस्वरूप साधक अंध कार से प्रकाश में और प्रकाश से शब्द में, पुनः शब्द से निःशब्द में पहुँचकर परमात्म-स्वरूप का लाभ करता है। जिनके लिए ध्यानविन्दूपनिषद् में लिखा है–

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥

अर्थ–परम विन्दु ही बीजाक्षर है; उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाश ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है। ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करनेवाला ब्रह्मरस को छोड़कर विषयरस पान करे, यह कब संभव है? गोस्वामीजी ने लिखा भी है–

ब्रह्म पियूष मधुर शीतल, जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल रूप विषय कारण निसिवासर धावै॥

अर्थात् मन तबतक ही विषयरस की ओर दौड़ता है, जबतक इनको ब्रह्मरस की प्राप्ति नहीं हो जाती। ब्रह्मरस प्राप्त करने पर विषय रस नीरस हो जाता है। इतना ही नहीं, ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करनेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। गोस्वामीजी के शब्द में 'जानत तुम्हहिं तुम्हइ जाई' हो जाता है। फिर ऐसे जन के लिए तो कहना ही क्या है?

यह प्रवचन डेहरी ऑन-सोन, शाहाबाद में श्रीहरिहर प्रसाद के यहाँ आयोजित मास-ध्यान-साधना के अवसर पर (शान्ति-सन्देश, मार्च १९७२ई०) में हुआ था।

४३. योग और ज्ञान दोनों का दृढ़ता से अभ्यास करें

बात अपनी नहीं, भाव गोस्वामीजी का और भाषा मेरी सुनें–संत का पंथ निर्बन्ध अर्थात् मोक्ष का होता है और कामान्ध के भव-बंध का; यही वेद, पुराण, कवि, कोविद, संत और सद्ग्रंथ का शुभ कथन है–

संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोबिद, श्रुति पुराण सद्ग्रंथ॥

इसी मोक्ष-धर्म के संबंध में अभी आपलोग योगशिखोपनिषद् के पाठ में श्रवण कर रहे थे–

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥

इस उपनिषद् में विधि और हर का मधुरतर संवाद है। प्रसंग इस भाँति है कि किसी समय गजानन और षडानन के पिता पंचानन अपने आसन पर आसीन थे। उसी समय विधिवत् विधि वहाँ उपनीत हो विनीत भाव से कहने लगे, 'हे शंकर! संसार के लोग लोकैषणा में पड़ भयंकर कष्ट को सहते प्रपीड़ित हो रहे हैं। हे त्रिलोचन! उनके भवदुःख मोचन के लिए यदि आप अपना अनुभव-सिद्ध ज्ञान कह सकें, तो आपके उस ज्ञान से जग-जनजीवन कल्याणमय हो।

पुनः लगे हाथ दूसरे शब्दों में उन्होंने कहा–हे शूलपाणि! त्रयशूल को निर्मूल करने का यदि कोई निर्भूल उपाय हो, तो आप कृपा कर बतायें। शिवजी ने प्रजापति से कहा–हे अज! बात आज की नहीं, बहुत पुरानी है। इसके लिए कोई ज्ञान का सम्मान करते हैं, तो कोई योग का प्रयोग करते हैं। परन्तु उक्त वचन चाहे जिन सज्जन का हो अथवा प्राचीन हो वा अर्वाचीन, मुझे समीचीन नहीं मालूम पड़ता। वस्तुतः ज्ञान का सम्मान हो और उसमें योग का भी संयोग हो, यही उत्तम है; क्योंकि योगतत्त्वोपनिषद् में भी इसकी चर्चा हुई है, जो इस प्रकार है–

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥

अर्थ–योगहीन ज्ञान मोक्षप्रद भला कैसे हो

सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है, यह निश्चित है। उसी तरह ज्ञान-रहित योग भी मोक्ष-कार्य में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान और योग; दोनों का अभ्यास दृढ़ता के साथ मुमुक्षु को करना चाहिए।

उपनिषद्काल के पश्चात् संत-काल का आगमन होता है। संतों की वाणियों के श्रवण-मनन वा अध्ययन-अनुशीलन से भी यही बात ज्ञात होती है। भगवान बुद्ध मोक्ष को निर्वाण की संज्ञा देते हैं। उनका कथन है–

नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बान सन्तिके॥

अर्थात् प्रज्ञा-विहीन को ध्यान नहीं होता है, ध्यान न करनेवाले को प्रज्ञा नहीं होती। जिसमें ज्ञान और ध्यान दोनों हैं, वह निर्वाण के समीप है।

भगवान बुद्ध के अनेक वर्षों के अनन्तर रविकुल कमल दिवाकर भगवान श्रीराम के अनन्य भक्त कविकुल कमल दिवाकर संत गोस्वामी तुलसी दासजी महाराज हुए। उन्होंने ज्ञान और योग के संग भक्तियोग का भी सगम संयोग किया है।

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानु।
जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

तथा,

धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना।
ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना॥

सरिता-स्नान से शारीरिक मल साफ होता है, किन्तु ज्ञान, योग और भक्ति की त्रिवेणी में स्नान करने से मानव त्रिताप के संताप से मुक्त होता है। विवेक विलोचन से अवलोकन करने पर यह स्वत: सिद्ध हो जाएगा कि भक्ति, ज्ञान और योग से रिक्त नहीं। भक्ति और ज्ञान में योग का योग अनिवार्य रूप से रहता ही है तथा ज्ञान और योग को भक्ति सतत अभिसिक्त करती रहती है।

साधना-पथ में प्रगति कर चरम अवस्था प्राप्त्यर्थ प्रत्येक साधक के लिए ये तीनों अत्यन्त अपेक्षित हैं। ठीक वैसे ही, जैसे गगन-पथ में उड़ान भरने के लिए पक्षी को पर, पैर और पूँछ का प्रबल प्रयोजन होता है। अत: मोक्ष-पथ के पथिक के लिए ज्ञान, योग और भक्ति; ये तीनों अत्यन्त आवश्यक हैं।

कुछ लोग 'योग' का नाम सुनते ही भयभीत हो घबड़ा उठते हैं, ठीक वैसे ही जैसे किसी बिल्ली का मुँह एक बार गर्म दूध में जल गया, तो वह ठंढा मट्ठा को देखकर भी भागने लगती है। लोगों के मन में होता है–'योग करने से रोग होगा, घर-वार, व्यापार और परिवार का परिहार करना होगा।' किन्तु मैं जिस योग की चर्चा करना चाहता हूँ, वह 'योग' भवरोग को छुड़ाता है। उसमें शारीरिक क्लेश का तनिक भी लेश नहीं, न उसमें गृहस्थी का विरक्ति का भेद लेकर किसी वेश-विशेष की गुंजाइश है और न उसमें जात-पात के कारण वाद-विवाद की ही कोई बात है।

योग शब्द के श्रवणमात्र से महर्षि पतंजलि की स्मृति हो आती है। उन्होंने चित्त-वृत्ति-निरोध को 'योग' की संज्ञा दी है। यथा–'चित्त-वृत्ति-निरोध इति योग:।' श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योग के विविध प्रकार तथा उसकी विभिन्न परिभाषाएँ बतायी हैं। यथा–'योग: कर्मसु कौशलम्', 'समत्वं योग उच्यते' आदि।

यद्यपि 'योग' के प्रकार अनेक हैं, किन्तु इनके प्रकार प्रसार में पड़ना नहीं है। फिर भी इसे सामान्य तया दो भागों में हम विभक्त कर सकते हैं–राजयोग और हठयोग। वराहोपनिषद् के अ० ४ में लिखा है–

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते।
शुको विहंगम: प्रोक्तो वामदेव: पिपीलिका॥३६॥

अर्थात्–देवताओं ने शुक और वामदेव नामक दो मार्गों को बनाया है। शुक-मार्ग विहंगम-मार्ग के नाम से विख्यात है और वामदेव-मार्ग पिपीलिका-मार्ग के नाम से। विहंगम मार्ग को राजयोग और पिपीलिका मार्ग को हठयोग के नाम से अभिहित किया जाता है। हठयोग कंटकाकीर्ण होने के कारण, सबके लिए सुलभ नहीं होने से सापद भी है; किन्तु राजयोग सर्वसाधारण के लिए सुलभ, सुगम, सुखद और निरापद है। इसी राजयोग की सीख भगवान श्रीकृष्ण ने राजकुमार पार्थ अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता के छठे और आठवें अध्याय में दिया है। साथ ही योग की गरिमा-गाथा को गाते हुए उन्होंने कहा है, वह छठे अध्याय के श्लोक ४० और ४६ पर्यन्त पठनीय है।

'योग' के अनेक अर्थों में 'मिलन' भी एक अर्थ है। यथार्थ में जीवात्मा का परमात्मा से मिलन ही योग है। क्योंकि यही एक ऐसा मिलन वा योग है, जिससे बिछुड़न का कभी प्रश्न ही नहीं उठता। संत

कबीर साहब ने कहा है–

न पल बिछुड़ें पिया हमसे न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से ने लागी है, हमन को बेकरारी क्या॥

परम भक्तिन मीराबाई की सूझ देखिये, पते की बात कहती हैं–

ऐसी पति को को बरै, जो जनमे मरि जाय।
पति तो ऐसो कीजिए, चुड़लो अमर होइ जाय॥

अमर सुहाग के लिए परम आवश्यक है–मानस योग, दृष्टियोग ओर शब्दयोग का अभ्यास करना।

'नान्यो पन्थाः विद्यतेऽयनाय।'

और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। ज्ञान के प्रकार चार हैं और वे–श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभव कहलाते हैं। श्रवण वा अध्ययन से ज्ञान का शुभारंभ होता है और अनुभव में समापन होता है; क्योंकि 'अनु' का अर्थ होता है–पीछे और 'भव' का अर्थ होता है–'उत्पन्न' होना, इसलिए जो ज्ञान सबसे पीछे उत्पन्न हो, वह अनुभव ज्ञान कहलाता है। इन चारो ज्ञान का विश्लेषण बड़े ही विलक्षण ढंग से संत सुंदर दासजी ने किया है। यथा–

काहू कूँ पूछत रंक कैसे पाइयत।
कान दै कै सुनत, श्रवण सोई जानिये॥
जब कह्यो धन हम, देख्यो है फलानो ठौर।
मनन करत भयो, कब घर आनिये॥
फेरि जब कह्यो धन, गड्यो तेरे घर माहिं।
खोदन लाग्यो है तब, निदिध्यासन ठानिये॥
धन निकस्यो है जब, दारिद गयो है जब।
सुन्दर साक्षात्कार, नृपति बखानिये॥

और भी,

एक तौ श्रवण ज्ञान, पावक ज्यूँ देखियत।
माया जल परसत, बेगि बूझि जात है॥
एक है मनन ज्ञान, बिजली ज्यूँ धन मध्य।
माया जल बरसत, तामें न बुझात है॥
एक निदिध्यास ज्ञान, बड़वा अनल जैसे।
प्रगट समुद्र माहिं, माया जल खात है॥
अनुभव साक्षात ज्ञान, प्रलय को अगिन सम।
सुन्दर कहत द्वैत, प्रपंच बिलात है॥

यदि ज्ञान के प्रकार को हम दो भागों में विभक्त करें, तो एक को परोक्ष ज्ञान और दूसरे को अपरोक्ष ज्ञान कह सकते हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन; इन तीनों को परोक्ष और अनुभव को प्रत्यक्ष वा अपरोक्ष ज्ञान कहेंगे। वस्तुतः ब्रह्म साक्षात्कार ही प्रत्यक्ष ज्ञान वा अनुभव ज्ञान है और जहाँ ब्रह्मानुभूति है, वहीं मोक्ष वा मुक्ति है। सुनिये, शिवगीता (१३-१२) की सूक्ति कितनी सुन्दर और सूक्तियुक्त है–

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति ग्रामन्तरमेव वा।
अज्ञान हृदयग्रंथिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

ज्ञान की गंभीरता वा उसकी महिमा-विभूति का दिग्दर्शन भगवान ने गीता के चतुर्थ अध्याय में किया है–

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमहि विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥

अर्थात् तू समस्त पापियों में बड़े-से-बड़ा पापी होने पर भी ज्ञान रूपी नौका द्वारा सब पापों को पार कर जाएगा। हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित पावक ईन्धन को भस्म कर देता है, वैसे ज्ञानरूपी अनल सब कर्मों को भस्म कर देता है। ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है। योग में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय पर अपने आपमें उस ज्ञान को पाता है। श्रद्धावान ईश्वर-परायण, जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरंत परम शान्ति को पाता है।

शान्तिरूप सर्वेश्वर जानो।
शब्दातीत कहि सन्त बखानो॥
क्षर अक्षर के पार हैं येही।
सगुण अगुण पर सकल सनेही॥
अलख अगम अरु नाम अनामा।
अनिर्वाच्य सब पर सुखधामा॥
ये सब मन पर गुण इनके ही।
पड़े महादुख संशय जेही॥
यहि तुम्हरा निज प्रभु रे भाई।
जहाँ तहाँ तव सदा सहाई॥
इन्ह की भक्ति करो मन लाई।
भक्ति भेद सतगुरु से पाई॥

योग और ज्ञान-कथन के अनन्तर अब समास रूप में सर्वेश्वर की भक्ति के संबंध में श्रवण कीजिए।

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का वर्णन है और गोस्वामी तुलसीदासजी की कृत रामचरितमानस में भी। किन्तु उभय सद्ग्रंथों की विषयवस्तु में थोड़ी भिन्नता और विलक्षणता है, जिससे विद्वज्जन अनुशीलन कर समझ सकते हैं। यथा–

श्रवणं कीर्तनं विष्णोस्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं साख्यं आत्मनिवेदनम् ॥
–भागवतपुराण

और रामचरितमानस में–

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं ।
सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥
प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा ।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान ॥
मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा ।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा ।
निरत निरन्तर सज्जन धर्मा ॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा ।
मोतें सन्त अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथा लाभ सन्तोषा ।
सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना ।
मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥
नव महुँ एकउ जिन्हके होई ।
नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें ।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥
जोगिबृन्द दुर्लभ गति जोई ।
तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥
मम दरसन फल परम अनूपा ।
जीव पाव निज सहज सरूपा ॥

ये नौ प्रकार की भक्तियाँ भगवान श्रीराम ने भक्तिमयी श्रीशबरी जी को सुनाया था। यथार्थ बात तो यह है कि भक्ति शब्द 'भज्' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से बनता है, जिसका अर्थ होता है–सेवा। प्रश्न होगा–कौन-सी सेवा? क्योंकि सेवा के प्रकार अनेक हैं। गो० तुलसीदासजी ने इसका उत्तर दिया है–'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।' अर्थात् सेव्य का आज्ञानुवर्ती होना सर्वोत्तम सेवा है और गुरु नानकदेव जी ने इसका उत्तर इस भाँति दिया है–

ऐसी सेवकु सेवा करे, जिसका जीउ तिसु आगे धरै।

यहाँ आत्म-निवेदन की भावना है। किन्तु जबतक आत्म-दर्शन नहीं, तबतक आत्म-निवेदन कैसा? इसीलिए श्रीमदाद्य शंकराचार्यजी ने 'आत्मानुसंधान' को भक्ति की संज्ञा से अभिहित किया है और कहा है कि यह भक्ति ही मुक्ति-प्राप्त्यर्थ गरिष्ठ सामग्री है। यथा–

मोक्षस्य कारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् मुक्ति के कारणरूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसंधान करना ही 'भक्ति' कहलाती है।

आत्म-अनुसंधान के लिए आवश्यकता है–'मैं कौन हूँ?' इसके परिज्ञान की। 'मैं हूँ, मैं हूँ'–हमलोग कहते हैं, किन्तु मैं कौन हूँ? यह हम नहीं जानते। यह हमारी स्त्री है, ये हमारे पति हैं, यह हमारी सम्पत्ति है, यह हमारी संतति है आदि; इन सारी बातों को हम जानते हैं; परन्तु 'हम स्वयं कौन हैं?' नहीं जानते–यह कितने आश्चर्य का विषय है? अफसोस! मूल का पता नहीं, पर फूल को ही मूल जानकर उसे ही जकड़कर पकड़ने चले हैं, फिर भी अपनी भूल का हमें पता नहीं। संत कबीर साहब ने कहा है–

मूल गहे ते सब कछु पावे।
डाल पात में मूल गँवावे॥

एक बंग-प्रदेशीय संत ने कहा है–

"आमि आमि करि बुझिते ना पारि ।
के आमि आमाते आछे कि रतन ॥

वस्तुतः अपनी खोज में परमात्मा की खोज होगी और अपनी पहचान में ही परमात्मा की पहचान होगी। अतः प्रथम हम अपनी खोज करें, जो सबकी खोज करता है। इसीलिए संत चरणदासजी महाराज की शिष्या परम भक्तिन सहजोबाई का यह उद्घोष है।

आपन ही कूँ खोज मिलै जब राम सनेही॥

अपनी प्रत्यक्षता में परमात्मा की प्रत्यक्षता होगी। जैसे एक बूँद जल की पहचान से गिलास के, लोटे के, कुएँ के, सरोवर के, सरिता के और समुद्र प्रभृति के समस्त जल की पहचान होती है। क्योंकि जैसे

महदाकाश का अभिन्न अंश घटाकाश, मठाकाश और पटाकाशादि होते हैं, वैसे ही हम परमात्मा के अभिन्न अंश हैं। परमात्मा अंशी हैं और हम अंश हैं। गोस्वामीजी ने कहा है–

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥

संतों ने कहा–'अपनी खोज आप अपने अंदर करें; क्योंकि आप अपने अंदर हैं।' कोई भी अपनी निसबत नहीं कह सकते कि वे अपने शरीर में नहीं हैं–बाहर हैं। अर्थात् अपनी स्थिति से सभी अवगत हैं कि वे स्व-शरीरस्थ हैं।

अब प्रश्नोदय हो सकता है कि हम अपने शरीर के अंदर अपनी खोज कैसे करें? खोज करने की कला क्या है?

उत्तर इसका बड़ा ही सरल है कि हम बाहर की चीजों को आँखें खोलकर देखते हैं, तो भीतर की चीजों को आँखें बंदकर खोजेंगे; क्योंकि बाहर का उलटा अंदर होता है। इसलिए बाह्य-खोज की जो क्रिया होगी, उसकी उलटी क्रिया आंतरिक खोज की हो, यह स्वाभाविक है।

आँखें बंद कर देखिए और स्वयं से पूछिये–आप कहाँ हैं? उत्तर मिलेगा–अंधकार में। यदि पूछा जाय कि यह अंधकार कहाँ है? तो कहा जाएगा–नयनाकाश में। अतएव कहा जाएगा कि नयनाकाश में हमारा वासा है। यह तो वैचारिक दृष्टि हुई, यदि शास्त्रीय रीति से विचार किया जाए, तो इन वाणियों पर ध्यान दें। ब्रह्मोपनिषद् में लिखा है–

जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः।
नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥

अर्थात् जीव जाग्रत् और स्वप्न में पुनः पुनः आता-जाता रहता है। जीव का वासा जाग्रत् में नेत्र में, स्वप्न में कण्ठ में, सुषुप्ति में हृदय में और तुरीयावस्था में मस्तक में होता है।

संत चरणदासजी महाराज ने कहा है–

जाग्रत वासा नैन में, स्वप्न कंठ स्थान।
जान सुषुप्ति हृदय में, नाभि तुरीय मन तान॥

संत दरिया साहब बिहारी ने कहा है–

जानि ले जानि ले सत्त पहिचानि ले
सुरति साँची बसै दीद दाना।
खोलो कपाट यह बाट सहजै मिलै
पलक परवीन दिव दृष्टि ताना।
ऐन के भवन में बैन बोला करै
चैन चंगा हुआ जीति दाना।
मनी माथे बरै छत्र फीरा करै
जागता जिन्द है देखु ध्याना।
पीर पंजा दिया रसद दाया किया
मसत माता रहै आपु ज्ञाना।
हूआ बेकैद यह और सभ कैद में
झूमता दिव्य निशान बाना।
गगन घहरान वए जिन्द अमान है
जिन्हि यह जगत सब रचा खाना।
कहै दरिया सर्वज्ञ सब माहिं है
कफा सब काटि के कुफुर हाना।

और हाथरस निवासी संत तुलसी साहब कहते हैं–

सत सुरत समझि सिहार साधौ।
निरखि नित नैनन रहौ॥
धुनि धधक धीर गंभीर मुरली।
मरम मन मारग गहौ॥

जीवात्मा के नेत्र-निवासी होने का एक प्रबल और प्रत्यक्ष प्रमाण बुद्धिजीवी व्यक्तियों के लिए इस भाँति दिया जा सकता है। सूर्य यानी सूर से जो जितनी दूर रहता है, उसको उसकी गर्मी उतनी ही कम लगती है और सूर्य के जो जितना निकट रहता है, उसको उसकी उतनी ही विकट गर्मी सहनी पड़ती है। दूसरी भाँति ऐसा भी कहा जा सकता है कि नृपति का प्रभुत्व उसके निकटवर्ती क्षेत्र में जितना अधिक रहता है, उतना उनसे दूरस्थ क्षेत्र में नहीं।

यही हेतु है कि अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा नेत्र इन्द्रिय में अधिक शक्ति है; क्योंकि इसमें जीवात्मा का निवास है। इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि जितनी दूर के रूप को आँख ग्रहण कर सकती है, उतनी दूर के शब्द को कान ग्रहण नहीं कर सकता। बाह्येन्द्रिय की बनावट पर विचार करने से यह प्रत्यक्ष ही है कि नेत्रेन्द्रिय ऊपर है और कर्णेन्द्रिय नीचे है। श्रवणेन्द्रिय से भी नाशा-इन्द्रिय निम्न स्तर पर रहने के कारण जितनी दूर का शब्द-श्रवण कर्ण कर सकता है, उतनी दूर का गंध ग्रहण घ्राणेन्द्रिय नहीं कर सकती। नासिका से भी नीचे रसना इन्द्रिय है। इसलिए

यह थोड़ी भी दूर-स्थित खाद्य पदार्थ के स्वाद को नहीं जान सकती अर्थात् जिभ्या पर रखने पर ही इसको स्वाद का ज्ञान होता है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह हुआ कि आप चेतन स्वरूप होकर नेत्र-स्थित है। इस कारण जो इन्द्रिय चेतन के जितना अधिक निकट संपर्क में है, वह उतना ही अधिक सचेतन है।

दूसरी बात और बताऊँ—जागतिक व्यवहार में हम प्रतिदिन देखते हैं कि बड़े जन को (बैठने के लिए) वरासन मिलता है। इस दृष्टि से भी ज्ञानेन्द्रियों में नयन का सर्वोच्च स्थान प्राप्त है ही और भी लीजिए, श्रेष्ठजन यानी सज्जन की बातों पर सभी जन विश्वास करते हैं। उसी प्रकार कान से सुनी हुई बातों की अपेक्षा आँख से देखी बातें अधिक प्रामाणिक होती हैं।

इसी भाँति भी चेतन आत्मा का नयन निवासी होना निश्चित प्रतीत होता है। हाँ, अब एक नयी जिज्ञासा हो, संभव है और वह यह कि 'हमारी दो आँखें हैं, हमारा वासा इन दोनों आँखें में है अथवा किसी एक में? यदि दोनों में है, तो यह संभव कैसे सकता है? क्योंकि हम हैं एक, 'एक' का वासा एक ही समय में दो स्थानों में कैसे हो सकता है? यदि किसी एक ही नेत्र में निवास है, तो वह कौन नेत्र है, दायाँ या बायाँ?

इसके उत्तर में निवेदन है कि हम इन उभय आँखों में अथवा दोनों में से किसी एक में भी नहीं रहते हैं। बल्कि युगल नेत्रों के मध्य मुकाबले अंदर रहते हैं, जिसको तीसरा नेत्र वा शिव-नेत्र भी कहते हैं। गोस्वामीजी के शब्दों में कह सकेंगे—

तब सिव तीसर नयन उघारा।
चितवत काम भयेउ जरि छारा॥

और संत प्रवर सूरदासजी महाराज कहते हैं—

नयन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को वास।
अविनासी बिनसै नहीं, हो सहज ज्योति प्रकास॥

इस प्रकाश को कैसे पाया जाए? प्रकाश के पाने का यत्न क्या है? हम तो अंधकार में पड़े हैं।

आप यहाँ देखिए। यहाँ एक बैट्री और एम्लीफायर है। बैट्री में दो क्लिप लगे हैं, जिसके तार को संबंध एम्पलीफायर से है। साथ ही एम्पलीफायर के दूसरे तार का संबंध लाउडस्पीकार-हॉर्न से जुड़ा है। जबतक एम्लीफायर का तार बैट्री के दोनों क्लिप निगेटिव (Negative) और पोजिटिव (Positive) से संबंध स्थित है, तबतक एम्लीफायर में बल्ब जलता है यानी प्रकाश होता है, उसमें वाइब्रेशन यानी कम्पन होता है और शब्द सुन पड़ता है।

इसी भाँति अपने अंदर युग-दृष्टिधार यानी इड़ा और पिंगला वा दायीं और बायीं धार अथवा शीत और उष्ण (Negative & Positive) मिलकर एक हो, तो अंतःप्रकाश होगा और अंतर्नाद भी सुन पड़ेगा। इस संबंध में संस्कृत ग्रंथों एवं संतों की वाणियों में भरपूर चर्चा मिलती है। यथा—

विन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम्।

अर्थात् बिन्दुपीठ का भेदन करके नादलिंग उपस्थित होता है। ध्यानविन्दूपनिषद् में लिखा है—

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥

अर्थ—परम विन्दु ही बीजाक्षर है; उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाश ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है। इसी भाँति संत पलटू साहब ने भी कहा है—

विन्दु में तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावनं।

हाथरस के तुलसी साहब के वचन में हम कह सकेंगे—

गगन द्वार दीसै एक तारा।
अनहद नाद सुनै झनकारा॥

अर्थात् अंतर्साधना करके पहले तारा देखो, फिर झनकारा सुनो। मुक्तिकोपनिषद् में भगवान श्रीराम ने पवनसुत हनुमान से कहा है—

बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन मारुते ज्योतिरान्तरम्॥

अर्थात्—बहुत-से शास्त्रों की कथाओं को मथने से क्या फल? हे वायुसुत! अत्यन्त यत्नवान होकर केवल अन्तर की ज्योति की खोज करो। भगवान बुद्ध की धम्मपद नाम्नी पुस्तक में भी हम प्रकाश पाने की चर्चा पाते हैं। उन्होंने कहा है—

"कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलितेसति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ॥"

अर्थात् जब सभी नित्य (चिंतानल में) जल रहे हैं, तो हँसी कैसी और आनंद कैसा? तुम जो अंध कार से आच्छादित हो, प्रकाश की खोज क्यों नहीं

करते? संत कबीर साहब के वचन में हम पाते हैं।

यहि घट चंदा यहि घट सूर।
यहि घट बाजै अनहद तूर॥
यहि घट बाजै तबल निशान।
बहिरा शब्द सुनै नहिं कान॥

सूर्य, चन्द्र, दीपक, तारे प्रभृति के प्रकाश का वर्णन हम गुरु नानक देवजी महाराज के वचनों में भी पाते हैं; किन्तु इसकी प्राप्ति का पता वे संत सद्‌गुरु के माध्यम बतलाते हैं। यथा–

सतिगुर मिलहु आपे प्रभ तारे।
ससि धरि सूर दीपक गैणारे॥

तथा–

अंतरि जोत भई गुर साखी चीने राम करंमा।
नानक हउमै मारि पतीणे तारा चड़िया लंमा॥

परम पूज्य श्रीगुरुदेव (महर्षि मेँहीँ परमहंसजी) महाराज की रचनाओं अंतर्साधना में अनुभूत शशि-सूर्यादि प्रकाश का विलक्षण वर्णन मिलता है। शास्त्र पुराण का प्रमाण नहीं देकर वे अपनी साधना-अनुभूति की बातें कहते हैं–

सुष्मनियाँ में नजरिया थिर होइ,
बिन्दु लखी तिल की।
झकझक ज्योती जगमग होती, चकमक चकमक सी।
मोती हीरा ध्रुव सा तारा, विद्युत् हू चमकी॥

तथा–

सूरति दरस करन को जाती, तकती तीसरि तिल खिरकी॥
जोति बिन्दु ध्रुवतार इन्दु लखि, लाल भानु झलकी।
बजत विविध विधि अनहद शोरा, पाँच मंडलों की॥
सन्तमते का सार भेद यह, बात कही उनकी।
समझा 'मेँहीँ' लखा नमूना, बात है सत हित की॥

और भी–

खोज करो अंतर उजियारी दृष्टिवान कोइ देखा है।

और तो और, भारतीय संतों की बातें तो जाने दीजिए, ईसाइयों के पवित्र ग्रंथ बाइबिल में संत ल्यूक ने जो कहा, पठनीय है–शरीर का दीपक आँख है। इसलिए जब तेरी आँख एक हो तो तेरा संपूर्ण शरीर प्रकाशमय होगा। परन्तु जब तेरी आँख बुरी हो, तो तेरा शरीर भी अंधकारमय होता है। इसलिए इसका ध्यान रख कि यह ज्योति (दीपक) जो तुम्हारे अंदर है, अंधकारमय न हो। इसलिए अगर तेरा संपूर्ण शरीर प्रकाश से पूरित हो, उसका कोई भी अंश अंधकारमय नहीं हो, तो जिस प्रकार तेज जलनेवाली मोमबत्ती तुझे प्रकाश देती है–संपूर्ण उजियारा हो जाएगा। संत कबीर साहब ने कड़ी, किन्तु बड़ी खरी बात कही है–

घर घर दीपक बरै, लखै नहिं अंध है।
लखत लखत लखि पड़ै, कटै जम फंद है॥

घर-घर अर्थात् घट-घट में ब्रह्मज्योति ज्योतित हो रही है; किन्तु सभी कोई उसको देख नहीं पाते। क्यों? इसलिए कि वे अंध हैं–दिव्यदृष्टि विहीन है। फिर भी उत्साह-हीन होने की बात नहीं, वे आश्वासन देते हैं–देखने की कला जानकार से जानकर देखो, देखते-देखते देखने में आवेगा और यमफंद कटेगा। वह देखने की कला क्या है? संत पलटू साहब से सीखिए–

काजर दिहे से का भया, ताकन को ढब नाहिं॥
ताकन को ढब नाहिं, ताकन की गति है न्यारी।
इक टक लेवै ताकि, सोई है पिय की प्यारी॥
ताकै नैन मिरोरि, नहीं चित अंतै टारै।
बिन ताके केहि काम, लाख कोउ नैन सँवारै॥
ताके में है फेर, फेर काजर में नाहीं।
भंगि मिली जो नाहिं, नफा क्या जोग के माहीं॥
पलटू सनकारत रहा, पिय को खिन खिन माहिं।
काजर दिहे से का भया, ताकन को ढब नाहिं॥

संत चरणदासजी महाराज की शिष्या परम भक्तिन सहजोबाई की सहज एवं सरल वाणी सुनिये–

सहजो गुरु प्रसन्न ह्वै, मुंद लियो दोउ नैन।
फिर मोसूँ ऐसो कह्यो, समुझि लेहु यह सैन॥

संतों के सैन को यदि बैन में रूपायित कर जानना चाहे, तो सावधान हो श्रीसद्‌गुरु महाराज जी के शब्द को समासरूप में श्रवण कीजिए–

दोउ नैन नजर जोड़ि के, एक नोक बना के।
अंतर में देख सुन-सुन, अंतर में खोजना॥
तिल द्वार तक के सीधे, सूरत को खैंच ला।
अनहद धुनों को सुन सुन, चढ़-चढ़ के खोजना॥

अंतर्ज्योति और अंतर्नाद के संबंध में संत कबीर साहब ने इस भाँति कहा है

कबीर कमल प्रकाशिया, ऊगा निर्मल सूर।
रैन अंधेरी मिटि गई, बाजै अनहद तूर॥

अर्थात् संत सद्‌गुरु से सद्युक्ति जानकर सत् साधन करो, तो अंधकार दूर होगा, सूर के नूर को

देखोगे और अंतर के तूर को सुनोगे। गुरु नानक देवजी महाराज सुषुम्ना में सुरत को थिर कर शब्द सुनने की सलाह देते हैं।

सुखमन के घर राग सुनि, सुन मंडल लिव लाय।
अकथ कथा बिचारिऐ, मनसा मनहिं समाय॥

शब्द में स्वाभाविक गुण है कि वह अपने केंद्र में आकर्षित करता है, केन्द्र के गुण को साथ लिये रहता है और सुननेवाले को उससे गुणान्वित करता है। ऊपर का शब्द नीचे दूर तक जाता है, किन्तु नीचे का शब्द ऊपर दूर तक नहीं जाता।

इसका प्रबल प्रमाण यह है कि अमानिशीथ की घोर तमिस्रा में कुत्ते को पुकारने पर वह पुकारनेवाले के निकट पहुँच जाता है। शब्दबेधी वाण भी इसी भाँति छोड़ा जाता है। राजा दशरथ जी के शब्दबेधी सर के शिकार श्रवण कुमार हुए, यह सभी जानते हैं। यह तो त्रेतायुग की बात हुई। द्वापर में अर्जुन शब्दबेधी वाण चलाना जानते थे और कलिकाल का हाल पूछिये तो भारत सम्राट पृथ्वीराज जानते थे और तो और, आप सर्कस में एक खेल देखे होंगे, जो करीब-करीब शब्दबेधी वाण से ही मिलता-जुलता होता है। एक लकड़ी का तख्ता खड़ा कर उसी के सहारे एक आदमी को खड़ा कर दिया जाता है। एक दूसरे आदमी की आँखों में पट्टी बाँधकर उसके पास दश-बीस छुरे देकर उनको दर खड़ा कर देते हैं। तीसरे आदमी लकड़ी के तख्ते में क्रम-क्रम से जहाँ-तहाँ ठोकर देते हैं, जिनकी आँखों में पट्टी बँधी रहती है, वे क्रम-क्रम से छुरे को फेंकते हैं और वे छुरे ठीक वहीं-वहीं पड़ते हैं, जहाँ-जहाँ ठोकर दी जाती है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि शब्द अपने उद्गम स्थान पर आकर्षण करता है। जो शब्द परमात्मा की मौज से उत्थित है, उस शब्द को जो कोई ग्रहण करते हैं, वे उनके आकर्षण से आकृष्ट हो परमात्मा तक पहुँचते हैं। किन्तु यह नाद-साधना बचपन का खेल नहीं है, यम-नियम हीन जन से कभी हो नहीं सकती। साथ ही, इसकी पूर्ववर्ती साधना दृष्टियोग हैं। इसमें सफलता प्राप्त किये बिना नादानुसंधान की क्रिया कहीं नादान अनुसंधान न हो जाय, इसका भी भय रहता है। दृष्टियोग-क्रिया में कुशलता प्राप्त करने पर सुरत-शब्दयोग-साधना करने की क्षमता आती है। दृष्टियोग-क्रिया के लाभ का वर्णन रामचरित मानस में गोस्वामीजी ने इस भाँति किया है–

"जब ते राम प्रताप खगेसा।
उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका।
बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका॥
जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी।
प्रथम अबिद्या निसा नसानी॥
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने।
काम क्रोध कैरव सकुचाने॥
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ।
ए चकोर सुख लहहिं न काऊ॥
मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा॥
धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना।
ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥
सुख सन्तोष बिराग बिबेका।
बिगत सोक ए कोक अनेका॥
यह प्रताप रबि जाकें, उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास॥"

आज कुछ ऐसे भी ज्ञान प्रचार हो रहा है, जिसमें अध्यात्म-ज्ञान से अनभिज्ञ धर्मभीरू जन की आँखों की ऊपरी भाग का चीप-चाप किया जाता है और उससे जो कुछ भक्-भुक् वा कुछ प्रकाश का आभास-सा मालूम होता है, तो उसी को दिव्य ज्योति वा 'Divine light' की संज्ञा दी जाती है।

मैं नहीं कहता–संतों का ज्ञान कहता है और आप भी विवेकशील प्राणी हैं, स्वयं विचार सकते हैं। यदि हमें 'Divine light' मिल जाय, तो हमारी 'Divine life' हो जाएगी। अभी जो तुलसीकृत रामायण से अंतःप्रकाश के संबंध में कुछ चौपाइयाँ पढ़ी गयीं, उनमें वर्णित सभी सद्गुण यदि अपने में मेरे कथित 'Divine light' से मिल जाए तो अत्युत्तम, अन्यथा दिव्यप्रकाश को पाकर भी यदि जीवन दिव्य नहीं हुआ तो वैसे प्रकाश का विश्वास हो गया? वा वैसी ज्योति की कीमत हो क्या? स्मरण रहे, दिव्यजीवन विकार-रहित होता है। विकारी जीवन को कभी भी दिव्य जीवन की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अपने अंतःकरण का अध्ययन हम स्वयं करें। देखें, हममें काम-क्रोधादिक विकार तो नहीं है, किसी भी परिस्थिति में हम किसी भी विकार के शिकार तो

नहीं हो जाते? किसी भी प्रकार के पाप करने की प्रवृत्ति तो हममें नहीं है? मत्सर, मान, मोह और मद के मद से कभी अंध तो नहीं हो जाते? यदि ये बातें होती हैं अथवा इन बातों में से किसी भी बात के साथ किसी भी प्रकार का हमारा संबंध है, तो हमारा जीवन दिव्य नहीं कहा जा सकता और यह निश्चय जानिए कि वह ब्रह्मज्योति नहीं, भ्रम ज्योति है।

कितने लोग कहते हैं—कान बंद करो और शब्द सुनो, यही अनहद नाद है। मैं कहता हूँ—कान बंद नहीं करो और हमारे कुप्पाघाट स्थित गुहा में प्रवेश करो, आप ही शब्द सुनोगे। किन्तु यह अनहद नाद कदापि नहीं है। अनहद नाद सुनने से साधक की स्थिति कैसी होती है, उनकी मनोदशा कैसी होती है, संसार में उनकी रहनी कैसी होती है आदि बात संत चरणदासजी महाराज की वाणी में श्रवण कीजिए। साथ ही, नाद साधना करनेवाले अपने में इन गुणों की खोज करे—

जब से अनहद घोर सुनी।
इन्द्री थकित गलित मन हूआ, आशा सकल भुनी॥
घूमत नैन शिथिल भइ काया, अमल जो सुरत सनी।
रोम रोम आनन्द उपज करि, आलस सहज भनी॥
मतवारे ज्यों शब्द समाये, अंतर भींज कनी।
करम भरम के बन्धन छूटे, दुविधा विपति हनी॥
आपा विसरि जक्त कूँ विसरो, कित रहि पाँच जनी।
लोक भोग सुधि रही न कोई, भूले ज्ञानि गुनी॥
हो तहँ लीन चरण ही दासा, कहै शुकदेव मुनी।
ऐसा ध्यान भाग सूँ पैये, चढ़ि रहै शिखर अनी॥

तथा—

करते अनहद ध्यान के, ब्रह्म रूप हो जाय।
चरणदास यों कहत हैं, बाधा सब मिट जाय॥

अनहद नाद-श्रवण की स्थिति कब प्राप्त होती है, संत तुलसी साहब की वाणी से जानिए—

गगन द्वार दीसै एक तारा।
अनहद नाद सुनै झनकारा॥

और संत राधास्वामी साहब के वचन में है—

तू तो सुरत जमा नभ द्वार, शब्द मिलै छूटै जंजार।
शब्द भेद तू जना गँवार, क्यों भरमे तू मन की लार॥

तात्पर्य यह कि दृष्टियोग-क्रिया के द्वारा कम-से कम एकविन्दुता प्राप्त कर फिर अंतर्नाद वा अनहद नाद की आराधना वा साधना करनी चाहिए। शब्द से सृष्टि हुई है। इसलिए सृष्टि को पार करने के लिए शब्द से बढ़कर अन्य कोई दूसरा अवलंब नहीं हो सकता। वह आदिशब्द सृष्टि का साराधार है। सृष्टि अणु-परमाणु में वह व्यापक है। नाद-साधना सभी संतों की सूक्ष्मतम साधना है। इसी आदिनाद वा शब्द-ब्रह्म के सहारे परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार की सीख सभी संतों ने दी है। यथा—

साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि शब्द से प्रकट भये सब, सोई शब्द साधना कीजै॥

गुरु नानकदेवजी महाराज की वाणी में—

शब्द तत्तु बीर्ज संसार। शब्दु निरालमु अपर अपार॥
शब्द विचारि तरे बहु भेषा। नानक भेदु न शब्द अलेषा॥
शब्दै सुरति भया प्रगासा। सभ को करै शब्द की आसा॥
पंथी पंखी सिऊँ न्ति राता। नानक शब्दै शब्दु पछाता॥
हाट बाट शब्द का खेलु। बिनु शब्दै क्यों होवै मेलु॥
सारी स्त्रिष्टि शब्द कै पाछै। नानक शब्द घटै घटि आछै॥

संत सुन्दरदासजी ने कहा है—

शब्दब्रह्म परिब्रह्म भली विधि जानिये।
पाँच तत्त्व गुण तीन, मृषा करि मानिये॥
बुद्धिवन्त सब संत कहैं गुरु सोइ रे।
और ठौर शिष जाइ, भ्रमे जिनी कोइ रे॥

ईसाई संत की मूल बाइबिल में सेंट जॉन ने कहा है—"In the beginning was the word. The word was with God. and word was God."

अर्थात् आदि में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर था।

अंतर्ज्योति और अंतर्नाद की बड़ी महिमा है। क्या जागतिक क्या पारमार्थिक, क्या इहलोक क्या परलोक, सर्वजीवन का संगी शब्द और प्रकाश है। शब्द और प्रकाश से ही यह शरीर जीवित। सब जीवों के जीवनदाता—जगदीश के दर्शन में शब्द और प्रकाश ही सहायक होते हैं। अतएव बाहर भटकने की जरूरत नहीं, अपने अंदर ज्योति की खोज करें और नाद की भी। ज्योति शब्द को पकड़ायेगी और एक शब्द दूसरे शब्द को पकड़ाता हुआ सर्वेश्वर तक पहुँचावेगा। अर्थात् स्थूल मंडल का केन्द्रीय शब्द ग्रहण कर उसके आकर्षण से सूक्ष्म मंडल के केन्द्र पर पहुँचेंगे। एवं क्रम-क्रम से एक-एक मंडल का अतिक्रमण करते हुए कारण, महाकारण और कैवल्य के केन्द्र पर पहुँचा जाएगा।

कैवल्य मंडल का केन्द्र स्वयं परम प्रभु सर्वेश्वर हैं। कैवल्य शरीर चेतन है। यह परम प्रभु सर्वेश्वर का अत्यन्त निकटवर्ती है अर्थात् इसके परे सर्वेश्वर के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसके सहित रहने पर परम प्रभु सर्वेश्वर का तथा निज आत्मस्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होना, परम संभव है। साथ ही, आत्मा का अपना और परम प्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष ज्ञान हो, इसमें संशय करने का कारण ही नहीं है।

—परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

और संत कबीर साहब ने तो अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा है—शब्द गह्यो जीव संशय नाहीं, साहब भयो तेरो संग॥

अर्थात् सारशब्द सर्वेश्वर का साक्षात्कार करावेगा, यह सुनिश्चित है। कितना कहा जाए, ज्योति और शब्द की महिमा अमित है। इनकी सद्युक्ति जानकर संयमपूर्वक साधना करते हुए हम अपनी जीवन को मंगलमय बनावें।

(शान्ति-संदेश, जुलाई एवं अगस्त १९७२)

४४. ईश्वर-प्राप्ति का सरल और सीधा मार्ग

आस्तिक बुद्धि के लोग सदा लालायित रहते हैं कि त्वरित परमात्म-दर्शन हों और इसके लिए वे यथासाध्य चेष्टाएँ भी किया करते हैं। किन्तु संत सद्गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग से अनभिज्ञ रहकर अज्ञान अन्धकार में यत्र-तत्र भटकते फिरते हैं और इस प्रगाढ़ अज्ञानता की अमानिशीथ में अनात्मा को ही आत्मा मान बैठते हैं, जिससे अपना परम कल्याण नहीं हो पाता। संतों ने बहुत अच्छा कहा है—

बिन सतगुरु नर रहत भुलाना। खोजत फिरत राह नहिं जाना॥
बिन गुरु ज्ञान नाम ना पैहो, बिरथा जनम गँवाई हो॥

(संत कबीर साहब)

बिनु सतगुरु भेटे महा गरबि गुबारि।
नानक बिन सतगुरु मूआ जनम हारि॥

—गुरुनानक देवजी

गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥
बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान, सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु॥

—गो० तुलसीदासजी

सन् १९३३ ई० का एक प्रसंग है। उस समय प्रातः स्मरणीय श्री १००८ महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज बिहार—भागलपुर की गंगा- कूलस्थ कुप्पाघाट गुहा में निवास करते थे। एक दिन एक मुसलमान सज्जन वहाँ आए और पूज्य महर्षिजी महाराज से कुछ काल तक पारमार्थिक बातचीत करते रहे। पूज्य महर्षिजी महाराज ने उन्हें उनके बोधार्थ उनसे पूछने की कृपा की कि 'पैगम्बर मुहम्मद साहब जी कि खुदा को प्राप्त करने का सरल और सीधा मार्ग बताने आए थे वह कौन-सा मार्ग है?' उक्त सज्जन ने कहा—'वह मार्ग है—रोजा, नमाज, जकात और हज।' पूज्य महर्षिजी महाराज ने पुनः कहने की कृपा की कि रोजा-व्रत वा उपवास को, नमाज, प्रार्थना वा स्तुति को, जकात, दान वा खैरात को और हज-मक्का जाने को कहते हैं। व्रत वा उपवास से शारीरिक शुद्धि होती है और विषय मंद पड़ते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

—गीता० २/५९

प्रार्थना वा स्तुति से खुदा वा परमेश्वर के प्रति श्रद्धा होती है, दान से आसक्ति घटती है और मक्का में जाकर नमाज पढ़ने से चित्त की शुद्धि होती है। ये मार्ग कैसे हुए? उक्त सज्जन ने कहा—हजरत! मैं तो आजतक इसी को रास्ता समझता आया हूँ। यदि इसके अलावा कोई और राह है, फरमाने की मेहरवानी की जाए।

पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥

को चरितार्थ करते हुए पूज्य महर्षिजी महाराज ने उन्हें समझाने की कृपा की कि आजकल एक भ्रान्ति फैल गई है, जिससे वैदिक धर्मावलम्बी कतिपय सज्जन भी ज्ञान, भक्ति, प्रेम आदि को मार्ग घोषित कर कई मार्ग बतलाने लग गए हैं। किन्तु यथार्थ में ये मार्ग नहीं, ये तो सहारे मात्र हैं। जैसे किसी पथ पर चलने के लिए किसी निर्बल पथिक को उसकी लाठी।

रास्ता, मार्ग वा पथ उस लकीर को कहते हैं,

जिसके छोर का आरम्भ एक स्थान से होकर दूसरे स्थान पर समाप्त होता है और बीच में फासला यानी दूरी होती है। यथार्थतः जिस पर चला जाए, वह मार्ग है। मुहम्मद साहब द्वारा निर्देशित मार्ग बाह्य जगत में नहीं; वह आपके, मेरे और सबके अन्दर-अन्दर मौजूद है। इस मार्ग पर चलने के सभी अधिकारी हैं, चाहे वे भारतीय आर्य, मुसलमान, ईसाई, मुसाई, बौद्ध, जैन, पारसी, स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि किसी जाति वा धर्म के हों। मुहम्मद साहब खुदा को प्राप्त करने का मार्ग बतलाने आए थे, जो बिल्कुल सरल और सीधा है और वह है—निरापद आभ्यान्तरिक मार्ग न कि जागतिक कँटकाकीर्ण उलझनपूर्ण सापदमार्ग।

होगा फजल दर्गाह तक खौफो खतर की जा नहीं।
सीधे चला जाना वहाँ मुर्शद ने ये फतवा दिया।।
मनसूर सरमद बू अली और शम्श मौलाना हुए।
पहुँचे सभी इस राह से जिसने दिल पुख्ता किया।।
(तुलसी साहब)

यह सभी जानते हैं कि खुदा दिल-दिल में रहते हैं। इसलिए किसी ने कहा भी है—

बेहोशिये इन्सान से वह ख्याल जुदा है।
जाहिर में है मुहम्मद बातिन में खुदा है।।

और,

निकट निरंजन नूर जहूर जुहारिये।
मीनी मारग खोजि सिंधु यूँ फारिये।।
—संत गरीब दासजी

नहिं जाइ दूर हजूर साहिब फूलि सब तन में रह्यो।
अमर अछय सदा जुंगन जुग जक्त दीपक उगि रह्यो।।
—संत केशव दासजी

है नेरे सूझत नहीं, ल्यानत ऐसो जिंद।
तुलसी या संसार को, भयो मोतियाबिन्द।।
—गो० तुलसीदासजी

घट घट अंतरी ब्रह्मु लुकाइया, घटि घटि जोति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी लाई।।
—गुरुनानक साहब

परमात्मा हमारे इतने निकट रहते हुए भी हम अज्ञजन मूढ़ मृगवत् उन्हें यत्र-तत्र ढूढ़ते फिरते हैं।

ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद,
अति मति हीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल,
परम सुगंध कहाँ ते आयो।।
—गो०तुलसीदासजी

कोई दौड़े द्वारिका कोई कासी जाहिं।
कोई मथुरा को चले साहिब घट ही माहिं।।

कोउक जात प्रयाग बनारस कोउ गया जगनाथहिँ धावै।
कोउ मथुरा बदरी हरिद्वारजु कोउ गंगा कुरुक्षेत्र नहावै।।
कोउ पुष्कर ह्वै पंच तीरथ, दौड़हि दौड़ि जु द्वारिका आवै।
सुन्दर वित्त गर्‌यो घर माहिँ सु, बाहिर ढूँढ़त क्यों करि पावै।।
—संत सुन्दरदासजी

स्पष्टवादी संत कबीर ने कहा कि यदि तुम्हारा दिल स्थिर नहीं हो तो काशी, द्वारिका; बद्री, हरिद्वार वा मक्का आदि पवित्र स्थानों में जाने से भी खुदा नहीं मिल सकता।

सेख सबूरी बाहरा क्या हज काबे जाय।
जा का दिल साबत नहीं, ताको कहाँ खुदाय।।

संत-महात्मा, पीर-पैगम्बर आदि सभी ने कहा है कि वह खुदा अपने अन्दर सातवें आसमान वा चौदहवें तबक में रहता है। उसे हवासों के जरिए हासिल नहीं कर सकते। उसे प्राप्त या ग्रहण करने के लिए रूह चेतन आत्मा ही काबिल है। क्योंकि जो हवासों के जरिए हासिल हो, वह माद्दा (माया) है। और जो केवल रूह की पकड़ में आवे, वह खुदा—निर्मायिक तत्त्व (परमात्मा) है। इसलिए वह तरीका अख्तियार कर उसपर अमल करना चाहिए, जिससे रूह का मेराज (सुरत की ऊर्ध्वगति) हो।

रूह करे मेराज कुफर का खोलि कुलावा।
तीसो रोजा रहै अन्दर में सात रिकावा।।

संत पलटू साहब ने कितना अच्छा कहा है—

साहब साहब क्या करै, साहब तेरे पास।।
साहब तेरे पास याद करु होवै हाजिर।
अन्दर धंसिकै देखु मिलेगा साहिब नादिर।।
मान मनी हो फना नूर तब नजर में आवै।
बुरका डारै टारि खुदा बाखुद दिखरावै।।
रूह करै मेराज कुफर का खोलि कुलाबा।
तीसो रोजा रहै अन्दर में सात रिकाबा।।
ला मकान में रब्ब को पावैपलटू दास।
साहिब साहिब क्या करै साहब तेरे पास।।

जब यह निश्चित हो गया कि खुदा अपने अन्दर सातवें रिकावे वा चौदहवें तबक में है और रूह भी इस जिस्म (शरीर) में है, तो इसका भी पता लगाना चाहिए कि इस जिस्म के अन्दर रूह (चेतन

आत्मा) कहाँ है? क्योंकि खुदा से मिलने के काबिल रूहे पाक (निर्मल-चेतन) ही है। यही उससे मिल सकता है–उसे छू सकता है।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण (खुलासा) कर देना अच्छा होगा कि मौजूदगी हालत (वर्त्तमान अवस्था) में रूह और मन इन दोनों का ऐसा संग है, जैसे घृत और दूध का। जबतक दूध बिलोया नहीं जाता, घृत उससे जुदा (पृथक) नहीं होता। जहाँ दुग्ध रहता है, वहीं घृत भी। ठीक इसी भाँति वर्त्तमान काल में जहाँ मन है, वहीं रूह है। इसलिए पहले मन का पता लगाना चाहिए कि वह कहाँ है? संत कबीर साहब कहते हैं–

> इस तन में मन कहाँ वसत है, निकसि जाइ केहि ठौर।
> गुरुगम है तो परखि ले, नातर कर गुरु और।।

इसके उत्तर में संत कबीर साहब के अतिरिक्त अन्य संतों के वचन भी द्रष्टव्य हैं–

> नैनों माहीं मन बसै, निकसि जाइ नौ ठौर।
> गुरुगम भेद बताइया, सब सन्तन्ह सिर मौर।।
>
> –कबीर साहब

> जानिले जानिले सत्त पहिचानिले, सुरत साँची बसै दीद दाना।
> खोलो कपाट यह बाट सहजै मिलै,
> पलक परवीन दिव दृष्टि ताना।।
>
> –दरिया साहब बिहारी

> जाग्रत वासा नैन में, स्वप्न कंठ स्थान।
> जान सुषुप्ति हृदय में, नाभि तुरिय मन तान।।
>
> –संत चरण दासजी

संतवाणी से बिल्कुल मिलते-जुलते शब्दों को उपनिषद्-वाणी में पढ़िए–

> नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कंठे स्वप्नं समाविशेत्।
> सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्।।
>
> –ब्रह्मोपनिषद्

उपर्युक्त संतवाणी के व्यतिरिक्त तर्क की कसौटी पर कसकर भी आप इसे देख सकते हैं। इस विचार को कोई अस्वीकार नहीं कर सकते कि इस जिस्म में रूह-चेतन-वा स्वयं अपने आप हैं। अब प्रश्न होगा कि अन्दर में आप कहाँ है? अन्तरावलोकन करने के लिए बाह्यावलोकन का सर्वथा त्याग करना होगा। इसलिए चश्म (नेत्र) बन्द कर भीतर देखिए क्या है? अंधकार! घोर अंधकार!! पुनः प्रश्नोदय होगा कि यह अंधकार कहाँ है? उत्तर मिलेगा–नयनाकाश में। बस! इसी नयनाकाश में आपका वास है और इसी नयनाकाश के घोर अंधकार में आप अहर्निश घूमते रहते हैं। अंधकार में रहने के कारण ही आपको कुछ अवलोकित नहीं होता। यहाँ तक कि इस प्रत्यक्षान्धकार की अमानिशीथ में आपको स्वयं अपने का भी अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो पाता। फिर परमात्मा के लिए तो कहना ही क्या है? संत कबीर साहब कहते हैं–

> देख माया को रूप तिमिर आगे फिरै।
> तेरी भक्ति गई बड़ी दूर जीव कैसे तरै।

और संत बुल्ला साहब–

> श्याम घटा घन घेरि चहुं दिसि आइया।।

इसी का स्पष्टीकरण पूज्यपाद श्रीमहर्षिजी महाराज ने कितने अच्छे ढंग से किया है–

> तू उतरि पर्‌यो तम माहिं पीव निःशब्द में।
> याहि ते पड़ि गयो दूरि चलो निःशब्द में।।

यह सर्वसम्मत है कि जो जहाँ बैठा रहता है, वह वहीं से यात्रा करता है। ऊपर वर्णनानुसार जीवात्मा का वासा आँख में नयनाकाश में रहने के कारण उसी स्थान से यात्रा करनी उसके लिए अत्यन्त अपेक्षित होगा। इसीलिए तो–

> नैन कमल तम मांझ से पंथहिं धारिये।
> सुनि धुनि ज्योति निहारि के पंथ सिधारिये।।
>
> –महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

और संत तुलसी साहबजी महाराज कहते हैं–

> हिय नैन सैन सुचैन सुन्दरि साजि श्रुति पिउ पै चली।
> गिरि गवन गोह गुहारि मारग चढ़त गढ़ गगना गली।।
> सखी ऐन सुरति पैन पावै नील चढ़ि निर्मल भई।
> जब दीप सीप सुधारि सजिकै पछिम पट पद में गई।।

'पछिम पट' अर्थात् प्रकाश मंडल। सागिल (अभ्यासी) मुर्शिद कामिल से एक सूई दिल (मन की एकाग्रता का राज रहस्य-भेद) पाकर अंधकार का अतिक्रमण कर प्रकाश मंडल में ब्रह्मज्योति (नूरे खुदा) को प्राप्त करता है। वहाँ वह नाना प्रकार की ज्योतियों, जलवों का अवलोकन कर उससे भी निष्क्रमण करने के लिए अथवा यों कहिए कि अपने ऊपर से प्रकाशावरण को हटाने के लिए परमात्मा से इस प्रकार प्रार्थना करता है–

> हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्न पावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१५।।

–ईशावास्योनिषद्

रूह केवल प्रार्थना ही नहीं करती, बल्कि सगलेनसीरा का अमल करती हुई प्रकाश मंडल का सैर करती हुई अन्तर्ध्वनि (ब्रह्म नाद, आवाजे गैब) को सुनती है और उसी के सहारे वह खुदा तक पहुँचाती है।

गोश बातिन हो कुशादा जो करे कुछ दिन अमल ।
ला इलाह अल्लाह हो अकबर पै जाने के लिये ।।

दूसरी तरह ऐसा कहा जा सकता है–

ब्रह्म ज्योति ब्रह्म ध्वनि को धर धर ले चेतन आधार ।
तन में पिल पाँचो तन पारा जा पाओ प्रभु सार ।।

–महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

मेरे कहने का आशय थोड़े शब्दों में यह है कि वर्णित दृष्टियोग (सगलेनसीरा) और सुरत-शब्द-योग यानी नादानुसंधान (सुलतानउलजकार) ही मुहम्मद साहब का बताया हुआ खुदा को प्राप्त करने का सरल और सीधा मार्ग है। ऊपर किए गए बयान के अनुकूल यह बेतकल्लुफ (निःसंकोच) कहा जा सकता है कि कामिल फकीर से सगलेनसीरा और सुलतान उजलकार का राज पाकर जो उसका अमल करेगा वह बेशक खुदा को हासिल करेगा।

(शांति-संदेश, जून १९७२)

४५. गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सों सुत होय

आज का बुधवार हमलोगों के लिए महा-मंगलवार है; क्योंकि रविकुल कमल दिवाकर भगवन्त श्रीराम के अनन्य भक्त कविकुलकमल दिवाकर संत गो० तुलसीदासजी महाराज की 'जयन्ती' मनाने के लिए हमलोग एकत्रित हुए हैं।

'शब्दानां अनेकार्थः' के न्याय से 'जयन्ती' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जिनमें प्रचलित हैं–किसी की जन्म-तिथि पर होनेवाला उत्सव, किसी महान् आत्मा के महाप्रयाण की तिथि में किया जानेवाला उत्सव, वर्षगाँठ का उत्सव, जौ के छोटे पौधे, जिन्हें विजयादशमी के दिन ब्राह्मण यजमानों को भेंट करते हैं आदि। इन अर्थों के अतिरिक्त 'जयन्ती' शब्द के अर्थ को हम इस भाँति भी समझ सकते हैं। 'जयंती' शब्द स्त्रीलिंग है। इसका पुल्लिंग 'जयन्त' होता है, जिसका अर्थ होता है–विजयी। और 'जयन्ती' शब्द का अर्थ विजया या विजयिनी होता है।

इससे स्पष्ट है कि हमलोग जिनकी जयन्ती मनाने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं, वे महान योद्धा वा विजयी पुरुष थे। इस दृष्टि को अपनाने पर सामान्य जन के मन में एक शंका हो सकती है–गो० तुलसीदास जी महाराज न तो राजा थे और न वे कोई राजनीतिक पुरुष ही। वे तो एक आध्यात्मिक महापुरुष थे, संत थे। संतों की दृष्टि सम होती है; क्योंकि वे समत्व प्राप्त किये होते हैं। वे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दृष्टि से देखते हैं। गोस्वामीजी के वचन में ही हम कह सकते हैं–

सम अभूत रिपु विमद विरागी।
लोभामरष हरष भय त्यागी।।

उनके लिए कोई शत्रु नहीं, कोई मित्र नहीं, उनके लिए हानि-लाभ, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान, स्तुति-निंदा सभी समान हैं। फिर उनका युद्ध किनसे और उनकी विजय कैसी? इस प्रसंग में एक आख्यान आया है कि किसी समय राजा गोपीचंद की माता जी अपने राजमहल में बैठी थीं। उनके निकट ही गोपीचन्द भी बैठे हुए थे। एकाएक उनकी माताजी के मुख से यह शब्द निकल पड़ा–उफ्! शत्रु बहुत सताता है। चकित होकर गोपीचंद ने पूछा, 'माताजी! आपको शत्रु कष्ट दे रहा है? आपका कौन शत्रु है? बतायें, मैं उनका खड्ग से उसके अंग का भंग कर तुरत नाश करूँगा। आप शत्रु द्वारा सताये जाएँ और मैं सुख की नींद सोऊँ? पुत्र के जीवन में माता को कष्ट हो, ऐसे पुत्र का जीना संसार में किस काम का? पुत्र के वचन को सुनकर उनकी माता जी गंभीर मुद्रा में बोली–बेटा! तू समझ नहीं रहा है। वह शत्रु कोई बाहर का नहीं है कि तुम अपने तलवार से उसका संहार कर सकोगे। वे तो अंदर के षट्विकार–षट् रिपु है। बेटा! इन रिपुओं के साथ दिन-रात जूझना पड़ता है। बेटा! तनिक भी असावधानी पर वह आक्रमण

कर बैठता है। गोपीचंद अपनी माताजी की बातें सुन स्तब्ध–चुप हो गये।

वस्तुतः ये काम-क्रोधादि षट्विकार इतने प्रबल हैं कि अध्यात्म-पथ के पथिक को एक डेग भी आगे बढ़ने देना नहीं चाहते। इस हेतु साधकों का इनसे युद्ध करना अनिवार्य हो जाता है। समर में संग्राम कर इन्हें पराजित करने पर ही उनके आगे का मार्ग–मुक्तिमार्ग उन्मुक्त हो पाता है। इसमें जीवन पर्यन्त बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है, अन्यथा बनी बनायी बातें भी बिगड़ जाती हैं। संत कबीर साहब ने भी कहा है–

"साध संग्राम तो बिकट बेड़ा मती,
सती और सूर की खेल आगे।
सूर संग्राम है पलक दो चार का,
सती संग्राम पल एक लागे॥
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना,
जन्म-पर्यन्त का काम भाई।
कहै कबीर टुक बाग ढीली करै,
उलटि मन गगन सों जमीं आई॥"

कामदेव की सेना को देखकर भगवान श्रीराम जी श्रीलक्ष्मणजी से कह रहे हैं–

लछिमन देखहिं काम अनीका।
रहहिं धीर तिन्हकै जग लीका॥

इस मार के साथ सभी संतों को मार मचानी पड़ी है और बड़ी सावधानी से संग्राम करना पड़ा है। संत कबीर साहब कहते हैं–

"सूर संग्राम को देखि भागै नहीं,
देखि भागै सोई सूर नाहीं।
काम औ क्रोध मद लोभ से जूझना,
मँड़ा घमसान तहँ खेत माहीं॥
सील औ साँच संतोष साही भये,
नाम समसेर तहँ खूब बाजै।
कहत कबीर कोइ जूझिहैं सूरमा,
कायराँ भीड़ तहँ तुरत भाजै॥"

और संत पलटू साहब कहते हैं–

"खैंचि समसेर तब पैठु रणमेर में,
करै ना देर सोइ साध बंका।
कम दल जारि के क्रोध को मारि कै,
रहै निरसंक ना करै संका॥
मन राव को पकड़ि के ज्ञान से जकड़ि कै,
छिमा दे ढाल गढ़ लेत लंका।
पलटू सोइ दास कहै सून्न में वास तब,
गैव घर बैठ के देत डंका॥"

साथ ही सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के शब्दों में हम कह सकते हैं–

आओ वीरो मर्द बनो अब, जेल तुम्हें तजना होगा।
मन-निग्रह के समर क्षेत्र में, सन्मुख थिर डटना होगा॥

इस संबंध में अनेक आख्यान हैं। महायोगी श्रीशंकरजी की काम-विजय प्रसिद्ध ही है और भगवान बुद्ध की मार के साथ जो मार रची है, विद्वज्जन जानते हैं। गो० तुलसीदासजी महाराज के साथ भी यह घटना अघटित नहीं है। रामचरितमानस के एक स्थल पर उन्होंने कहा है–

व्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाखंड॥

गो० तुलसीदासजी के जीवनवृत्त से सभी सुपरिचित हैं कि अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में वे कैसे विषयोन्मुख थे, इन्द्रियों के दास थे। ऐसा लगता है–जबतक वे इन्द्रियों के दास बने रहे होंगे, तबतक उनकी उपाधि 'गो स्वामी' की नहीं हुई होगी। गो अर्थात् इन्द्रिय को वश में कर लेने पर ही वे गोस्वामी की उपाधि से विभूषित किये गये। इन्द्रियों पर आधिपत्य पा लेने पर उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा है–

'अब लौं नसानी अब ना नसैहौं।
परबस जानि हँसेउ इन इन्द्रिन्ह निज बस ह्वै न हँसैहौं।'

किसी दिन इन्द्रियाधीन रहने के कारण स्वपत्नी से ही निंदित और अपमानित हुए थे; किन्तु इन्द्रियों को स्वाधीन कर लेने पर आज वे परम पूज्य, अति प्रतिष्ठित और जगत प्रशंसित हैं।

यहाँ परवश और निजवश को भी समझ लेना अपेक्षित है। परवश और निजवश की अवस्था में अंतर क्या है? स्वयं गोस्वामीजी ने ही कहा है–

परबस जीव स्वबस भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥

जबतक ये परवश थे, तबतक इनमें 'जीवता' थी। अब स्ववश में होने से ये 'भगवन्ता' हो गये। अब विद्वज्जन विवेक दृष्टि से अवलोकन कर देखें–आज हम संत की 'जयंती' मना रहे हैं वा भगवंत की?

संत भगवंत अन्तर नहीं,
किमपि मति विमल कह दास तुलसी।
–विनय-पत्रिका

बात पक्षपात की नहीं, यथार्थ और जगत् विख्यात है। भगवान श्रीराम गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के उपास्य थे और गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज थे उनके उपासक। यद्यपि ये स्थूल सगुण साकार को इष्ट मानते थे, तथापि निर्गुण निराकार राम उनका अभीष्ट था। वैसे तो गोस्वामीजी ने 'सियाराम मय सब जग जानी' को प्राप्त कर अचर-चर सब रूपों में हरि के दर्शन करते हुए सबको प्रणाम किया है—श्रद्धा निवेदन किया है; फिर भी वैचारिक दृष्टि से अवलोकन करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि जैसे एक सभ्य सम्भ्रान्त परिवार की सुशिक्षित सुशीला, साध्वी पतिव्रता महिला स्व-परिवार के समस्त सदस्यों को सामयिक समुचित सेवा सुश्रूषा करती हुई अपने एक नैष्ठिक प्रेम को स्वपति के लिए संजोये रहती है, उसी भाँति गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज 'देव-दनुज मुनि नाग मनुज' प्रभृति सबका समादर, अभिवंदन और अभिवादन करते हुए अपने निश्छल और निश्चल प्रेम भक्तिसूत्र को प्रभु पद में लगाये रखते हैं।

बात रोचक वा भौचक की नहीं, उनकी इस विषय की मानो प्रच्छन्न परीक्षा ली गई। उन्होंने परीक्षा दी और वे उत्तीर्ण भी हुए। एक श्रुत प्रसंग है कि मथुरा में गोस्वामी जी को पीत परिधान पहने मोरमुकुट मकराकृत कुण्डल, वंशी और स्वमाला संयुक्त श्याम सलोने रूप में भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य मूर्ति के दर्शन हुए; किन्तु गोस्वामीजी टस-से-मस नहीं हुए। होते भी क्यों? बादल चाहे कितना भी गर्जन वा वर्षण क्यों न कर ले; सर-सरिता और समुद्र को क्यों न भर ले, पर उसकी पपीहा को परवाह क्या? उसे तो मात्र एक बूँद चाहिए और वह भी स्वाति की। कोई कितना भी धनवान, बलवान, विद्वान, गुणवान, कामदेव के समान, सुन्दर, रूपवान शरीरवाला पुरुष क्यों न हो, पतिव्रता स्त्री को उससे प्रयोजन क्या? उसको तो स्वपति चाहिए, चाहे वह रोगी हो, निर्धन हो, विद्याहीन हो, कुरूप हो और भी लीजिए—उपवास पर उपवास हो और पास में पर्याप्त हरी-हरी घास हो, किन्तु वनराज को उससे क्या काज? उसे तो गजराज चाहिए। किसी कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

"सरवर नीर न पीवई, स्वाती बूँद की आस।
केहरि कबहूँ न तृण चरै, ज्यों व्रत करै पचास॥
ज्यों व्रत करै पचास, विपुल गज जूह विदारै।
धन है गर्व न करै, निर्धन नहिं दीन उचारै॥
नरहरि कुल के मिटै, भाय नहिं जब लगि जीयै।
बरु चातक मरि जाय, नीर सरवर नहिं पीयै॥"

गोस्वामीजी के हृदय में उस दिव्य-दर्शन से क्या भाव उत्पन्न हुए और उस रूप का अवलोकन कर उन्होंने क्या कहा? उनकी ही वाणी में सुनिये—

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुषवाण लो हाथ॥

यह है गोस्वामीजी की एकनिष्ठता का प्रबल प्रमाण और अनन्य भक्त होने का विलक्षण उदाहरण। गोस्वामीजी राम के सगुण और निर्गुण उभय रूपों के ज्ञाता और ध्याता थे। वे सगुण राम-रूप को नयन में धारण करते थे और निर्गुण राम स्वरूप को हृदय में। दोहावली में उन्होंने कहा है—

हिय निर्गुण नयनन्हि सगुण, रसना नाम सुनाम।
मनहु पुरट सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥

विद्वज्जन सरलतापूर्वक समझ सकते हैं—नयन ग्राह्य वस्तु विशेष होती है वा दृश्य ग्राह्य? जबकि गोस्वामीजी ने ही रामचरितमानस में इन्द्रिय गोचर पदार्थ को माया की संज्ञा से अभिहित किया है। यथा—गो गोचर जहँ लगि मन जाई

सो सब माया जानेहु भाई॥

पुनः सगुण और निर्गुण उभय स्वरूपों की महिमा-गाथा गाते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है—

महिमा सगुन जो कहब बखानी।
सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥

संत कवि ने रामचरितमानस के वर्णन में सगुण साकार रूप को जल की स्वच्छता बताया है और यह भी कहा है कि वह स्वच्छता मल की हानि करती है। विचारणीय है—जल स्वच्छ होने पर भी मात्रा में यदि स्वल्प हो, तो उससे स्वल्प मल की ही कमी होगी, समस्त की नहीं। इसलिए कवि ने अपने कथन में कलात्मक ढंग से काम लिया है अर्थात् 'करइ मल हानी' कहा है, नाश होगा—ऐसा नहीं कहा। मल को संपूर्णतः निर्मूल करने के लिए उस स्वच्छ जल में अगाधता आवश्यक है, जो निर्गुण स्वरूप में है। जैसा कि कवि ने कहा है—

रघुपति महिमा अगुन अबाधा।
बरनव सोइ बरवारि अगाधा॥

निर्गुण स्वरूप में अगाधता के साथ, जिसकी

प्राप्ति में, सुलभता का भी अद्‌भुत वर्णन गोस्वामी जी ने किया है। यथा–

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण जान नहिं कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय॥

देखिए, भगवान श्रीराम के दर्शन करते हुए भी उनकी दृष्टि कितनी पैनी है! अद्‌भुत है! विलक्षण है! वाल्मीकि मुनि जी के सम्मुख श्रीसीताराम श्रीलक्ष्मण जी सहित उपस्थित हैं। किन्तु 'नीलाम्बुज श्यामल-कोमलांगं सीता समारोपित वाम भागम् पाणौ महासायक चारु चापं....।' संयुक्त श्रीरघुवंश नाथम् के स्थूल रूप पर जैसे उनकी दृष्टि पड़ ही नहीं रही है। ठीक वैसे ही जैसे एक कुशल स्वर्णकार की दृष्टि स्वर्ण-अलंकार में कलाकार प्रदत्त आकार पर नहीं पड़ती–शुद्ध स्वर्ण की ही ओर जाती है। यही हेतु है कि कानन-काल में श्रीराम की इस जिज्ञासा पर कि 'मैं कहाँ रहूँ?' के समाधान में वाल्मीकि मुनिजी ने तत्क्षण उत्तर दिया था–

पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु सो देहु कहि, तुम्हइ बतावउँ ठाउँ॥

तथा,

राम स्वरूप तुम्हारा, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अलख अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

पुनः श्रीलक्ष्मणजी ने गुह-निषाद के समक्ष राम के वास्तविक स्वरूप का कितना सुन्दर चित्र चित्रण किया है, पठनीय है।

सखा परम परमारथ एहु।
मन क्रम वचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गत भेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

और भी देखिए, श्रीकागभुशुण्डिजी श्रीगरुड़जी से राम के तत्त्वतः रूप के संबंध में क्या कहते हैं–

जो माया सब जगहि नचावा।
जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा।
नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा।
अज बिग्यान रूप बल धामा॥
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता।
अखिल अमोघसक्ति भगवन्ता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।
सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा।
नित्य निरंजन सुख सन्दोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं।
रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेकन बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥

यह तो बात हुई कागभुशुण्डि और गरुड़-संवाद की, किन्तु स्वयं भगवान श्रीराम ने श्रीहनुमानजी से जो स्व-स्वरूप का वर्णन किया है, वह कह देना भी अप्रासंगिक नहीं, बल्कि विशेष प्रामाणिक होगा। मुक्तिकोपनिषद् में उन्होंने कहा है–

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनामगोत्रं मम रूपमीदृशं भजस्व नित्यं पवनात्मजार्त्तिहन्॥

अर्थात् हे पवनतनय ! अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अविनाशी, अस्वाद, अगन्ध, अनाम और गोत्रहीन, दुःखहरण करनेवाले मेरे इस तरह के रूप का तुम नित्य भजन करो।

अब इस प्रसंग को आगे नहीं बढ़ाकर हम जानना चाहेंगे कि उस प्रभु की प्राप्ति का मार्ग क्या है? गोस्वामीजी ने प्रभु-प्राप्ति-पथ इतना सरल, सुगम और निरापद बताया है कि किसी भी देश, जाति वा धर्म के धनी वा निर्धन, विद्वान वा अविद्वान, नर वा नारी सभी समान रूप से चल सकने में सक्षम हैं। स्वयं भगवान श्रीराम कहते हैं–

सरल सुखद मारग यह भाई।
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।
भगति के साधन कहउँ बखानी।
सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥

वह कौन-सी भक्ति है? वह भक्ति है, जिसका विशद वर्णन रामचरितमानस के अरण्यकांडान्तर्गत श्रीराम-शबरी संवाद रूप में हम पाते हैं।

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान॥
मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा।
निरत निरन्तर सज्जन धर्मा॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा।
मोतें सन्त अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ सन्तोषा।
सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छल हीना।
मम भरोस हियँ हरष न दीना॥
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥
जोगिबृन्द दुर्लभ गति जोई।
तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥
मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा॥

श्रीशबरीजी को भगवान श्रीराम द्वारा उपदिष्ट नवधा भक्ति में प्रथम भक्ति से पंचम भक्ति पर्यन्त सत्संग, कथा-प्रसंग, गुरु-पद-पंकज सेवा, ईश- गुण-गान तथा मंत्रजप को सरलतापूर्वक सभी समझ सकते हैं। किन्तु छठी और सातवीं भक्ति में उन्होंने 'दम और शम' की साधना कही है। यथा–

छठ दम सील बिरति बहु कर्मा।
निरत निरन्तर सज्जन धर्मा॥

तथा–

सातवँ सम मोहिमय जग देखा।
मोतें सन्त अधिक करि लेखा॥

'दम' अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह। इन्द्रियाँ बलवती हैं। इसका निग्रह कैसे हो? जैसे हम अपने दोनों हाथों से किसी एक वस्तु को जकड़कर पकड़ रखें, तो संपूर्ण शरीर की सारी शक्ति उस ओर खिंच जाएगी, यह स्वाभाविक है। इसी भाँति जहाँ से समस्त इन्द्रियों में चेतनधार प्रवाहित होती है, उस केन्द्र में यदि दृष्टि की युगल धाराओं को गुरु-संकेतानुसार समेटकर एकत्र किया जाए, तो समस्त इन्द्रियगत चेतन-धाराएँ वहाँ इकट्ठी जो जाएँगी और इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाएँगी, विषयों में नहीं जाएँगी, इन्द्रिय-निग्रह हो जाएगा। संतों ने इस क्रिया को दृष्टियोग की संज्ञा दी है। अर्थात् दृष्टियोग की क्रिया से दमशीलता होगी।

'शम' के संबंध में ऐसी बात है कि गोस्वामी जी ने 'स' और 'श' में कोई अंतर नहीं माना है। 'शम' का अर्थ होता है–'मनोनिग्रह' और 'सम' का होता है–'समत्व'। 'समत्व' प्राप्त करने के लिए 'शम' की साधना अनिवार्य है। क्योंकि मनोनिग्रह के बिना साधना में सफलता संभव नहीं। फिर तो ऐसी अवस्था में आगे की प्रगति और समत्व की प्राप्ति सुदूर रह जाती है। इस हेतु मन को वशीभूत करने के लिए संतों ने सर्वश्रेष्ठ और सरलतम साधना नादानुसंधान बतलायी है। संत कबीर साहब कहते हैं–

सबद खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि।
सत्त सब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥

तथा संत दादूदयालजी का वचन है–

साध सबद सों मिलि रहै, मन राखै बिलमाय।
साध सब्द बिन क्यों रहै, तब ही बीखरि जाय॥

शब्द-साधना से इन्द्रियों के थकने और मन के गलने की बात हम संत चरणदासजी की वाणी में पाते हैं। यथा–

जबसे अनहद घोर सुनी।
इन्द्री थकित गलित मन हूआ, आशा सकल भुनी॥

नादविन्दूपनिषद् में इस प्रकार की बहुत चर्चा मिलती है। उसमें लिखा है–जिस प्रकार मधुमक्खी मधु को पीती हुई उसकी सुगंध की चिंता नहीं करती है, उसी प्रकार चित्त जो नाद में सर्वदा लीन रहता है, विषय चाहना नहीं करता है; क्योंकि वह नाद की मिठास में वशीभूत होकर अपनी चंचल प्रकृति को त्याग चुका होता है। नागरूप चित्त नाद का अभ्यास करते-करते पूर्ण रूप से उसमें लीन हो जाता है और सभी विषयों को भूलकर नाद में अपने को एकाग्र करता है। नाद-मदांध हाथीरूप चित्त को, जो विषयों की आनंद वाटिका में विचरण करता है, रोकने के लिए तीव्र अंकुश का काम करता है। मृगरूपी चित्त को बाँधने के लिए यह नाद जाल का काम करता है और समुद्ररूपी चित्त के लिए यह नाद तट का काम करता है आदि।

अतएव इस विचार को स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच वा भ्रम नहीं रहना चाहिए कि रामचरितमानस में वर्णित छठी और सातवीं भक्ति, जो कि 'दम' और 'शम' की साधना है, वह दृष्टियोग और नादयोग है। इस विषय का संकेत गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के अयोध्याकांड में इस भाँति किया है–

लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी।
रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक।
बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक॥

तथा,

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

किन्तु इसका यथार्थ ज्ञान क्रियावान सच्चे सद्गुरु के बिना संभव नहीं है। शब्द-साधना के द्वारा निःशब्द में पहुँचा जाता है, जैसे सरिता-जल के सहारे तैरते हुए प्राणी सूखी जमीन पर जाता है। गोस्वामी जी ने जिसको 'एक अरूप अनीह अनामा' कहा है। ध्यानविन्दूपनिषद् वही 'निःशब्दं परमं पदम्' कहकर वर्णित है। अनाम कहिये अथवा अशब्द वा निःशब्द, कोई अंतर नहीं पड़ता–एक ही बात है। यहाँ सभी प्रकार की साधनाओं की समाप्ति है। प्रभु मिल गये, काम समाप्त हुआ।

यह प्रवचन 'तुलसी-जयन्ती' के सुअवसर पर दिनांक–१६.८.१९७२, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में हुआ था।

(शान्ति-संदेश, सितम्बर एवं अक्टूबर १९७२)

४६. पुत्रवती सोइ नारि भक्त जेहि कोख में

अनन्तस्वरूपी सर्वेश्वर की सृष्टि में जिस ओर दृष्टि कीजिए, उनकी अनंतता की परिपुष्टि का ही बोध होगा। प्रभु की रचना कला-कौशल और अद्भुतता से परिपूर्ण है, जिनको देखकर बड़े-बड़े वैज्ञानिक का मस्तिष्क भी चक्कर काटता है। श्रीब्रह्मानंद स्वामी ने कहा है–

रचना प्रभू की देख के, ज्ञानी बड़े-बड़े।
पावे न कोई पार, तो नादान क्या करे॥

और गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

केशव कही न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि! समुझि मनहि मन रहिये॥
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिना लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुःख पाइय एहि तनु हेरे॥
रवि कर नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
वदन हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
'तुलसीदास' परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥

अर्थात् गोस्वामीजी कहते हैं–हे प्रभु! तुम्हारी विचित्र रचना को देख और समझकर मन-ही-मन रह जाता हूँ। क्या कहूँ, कुछ कहा नहीं जाता। चित्रकार–निराकार प्रभु से शून्य की दीवार पर बिना रंग के असंख्य चित्र चित्रित किये हैं। वह विचित्र चित्र धोने से धुलता नहीं और देहाभिमानी–अनात्मदर्शी होने के कारण दुःखों को भोगता हूँ।

विवेकी जन विचार सकते हैं–बिना आधार के आकाश में असंख्य तारे, चन्द्र, सूर्य आदि कैसे लट्टू की भाँति लटके हुए हैं? और अति विचित्रता तथा विलक्षणता तो यह है कि सभी नक्षत्र और ग्रहों की अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न गति भी है, फिर भी कभी किसी से किसी को परस्पर संघर्ष नहीं होता–कभी कोई दुर्घटना नहीं घटती। कितना बड़ा कुशल वैज्ञानिक और नियन्ता है वह?

यही हेतु है कि गोस्वामीजी ने उस प्रभु को 'विज्ञानस्वरूप' कहा है। 'अज विज्ञान रूप बलधामा।' किन्तु आज के कितने आधिभौतिक वैज्ञानिक आये दिन स्वयं नित्य नवीन घटना के शिकार बने देखे जाते हैं, फिर उनकी रचना की दुर्घटना से बचना कैसे संभव है? उस अलौकिक प्रभु की इस लौकिक

रचना को देखकर किसी कवि ने आश्चर्यचकित होकर कहा है—

ध्यान लगाकर जो देखो, तुम सृष्टि की सुघराई को।
बात-बात में पाओगे, उस ईश्वर की चतुराई को॥
ये सब भाँति-भाँति के पक्षी, ये सब रंग-रंग के फूल।
ये वन की लहलही लता औ, ललित-ललित शोभा के मूल॥
ये पर्वत की रम्य शिखा और शोभा, सहित चढ़ाव-उतार।
निर्मल जल के सोते झरने, सीमा सहित महा विस्तार॥
छह प्रकार के ऋतु का होना, नित नवीन शोभा के संग।
पाकर काल वनस्पति का फलना, रूप बदलना रंग-बिरंग॥
चाँद सूर्य की शोभा अद्भुत, वारी से आना दिन-रात।
त्यों अनन्त तारा मंडल से, सज जाता रजनी का गात॥
लर्जन-गर्जन घन मंडल का, बिजली वर्षा का संचार।
जिसमें देखो परमेश्वर की, लीला अद्भुत अपरम्पार॥

प्रभु की रचना अद्भुत है। उनकी सारी रचनाओं में मानव-प्राणी अति अद्भुत है। मानव शरीरस्थ चेतन आत्मा अंशरूप में जीव और अंशी में मिलकर 'पीव' वा 'शिव' होता है। जीवत्व इसलिए कि यह अपने में अभाव का अनुभव करता है। अंतर्साधना के माध्यम, जब उसके अभाव का तिरोभाव वा अत्यन्ताभाव हो जाता है, तब वह 'शिवत्व' की प्राप्ति करता है। इसलिए कहा गया है कि अपूर्णता में जीव और पूर्णता में ब्रह्म है वह। वस्तुतः कामना के कारण मानव कंगाल बना रहता है, अन्यथा अचाह में 'शाह', 'बादशाह' और 'शाहंशाह' है वह। संत कबीर साहब ने कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जाको कछु न चाहिए, सोई शाहंशाह॥

अज्ञ जीव अपने वर्तमान जीवन की जागतिक आवश्यकताओं को जितना समझता है, उतना भविष्य जीवन को नहीं। यही कारण है कि वह इसकी पूर्ति हेतु प्रयत्न में पिल पड़ता है, पर उसकी पूर्ति में ढील करता है। यह जीव की अदूरदर्शिता का प्रबल प्रमाण है कि उसके सामने सांसारिक कालक्षेपण का तो प्रश्न रहता है; परन्तु उस ओर उसका ध्यान नहीं जाता कि किसी-न-किसी दिन अन्यों की भाँति वह भी काल कलेवा बननेवाला है और तब उस मग के लिए उसको संबल भी चाहिए।

किसी ने एक बड़ी अच्छी उपमा दी है—'हमारी घड़ी में दिन के तीन बजे हैं, हम यह जानते हैं; परन्तु हमारे जीवन के कितने दिन बीत चुके, यह नहीं जानते। सूर्यास्त होने के समय को हम जानते हैं, पर अपने जीवन-अस्त के काल को नहीं जानते, फिर भी हम निश्चिन्त हैं। जग-जीवन को सुखमय बनाने के लिए बीबी, बच्चा, बंगला और बैंक-बैलेंस की बड़ी आवश्यकता हमें विदित होती है; किन्तु इस जग के जीवन की कल्पना तक नहीं कर पाते। फिर तो वहाँ के सुख वा दुःख को समझने का प्रश्न ही कहाँ आता है? जीवन-रक्षा के लिए अन्न-वस्त्रादि चाहिए, यह अच्छी तरह जानते हैं; लेकिन मानव जीवन किसलिए है—यह सोचने-समझने की हमें फुर्सत कहाँ?

आइए, आज इसपर विचार किया जाए। एक बड़ा सुमधुर प्रसंग है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज और अब्दुल रहीम खानखाना साहब; दोनों समकालीन थे। उनमें यदा-कदा परस्पर मिलन होता और उस मिलन में भगवद्-चर्चा चल पड़ती। एक बार किसी समय उभय मिलन में गोस्वामीजी ने खानखाना साहब से पूछा—

सुरतिय नरतिय नागतिय, सह वेदन सब कोय।

अर्थात् देवों की देवियाँ, मनुष्यों की स्त्रियाँ और नागों की नारियाँ प्रसव-पीड़ा क्यों सहती हैं? प्रसव-पीड़ा अति भयंकर होती है। यहाँ तक कि कभी-कभी प्राण जाने तक की नौबत आ जाती है। इस गंभीर वेदन का वर्णन गोस्वामीजी के वचन में हम इस भाँति पाते हैं—

ज्यों युवती अनुभवति प्रसव अति दारुण दुःख उपजै।

ध्यान देने योग्य बातें हैं—सामान्यतया सामान्य जन सामान्य दुःख सहने के लिए भी प्रसन्नचित्त से प्रस्तुत नहीं; परन्तु यदि दारुण दुःख हो, तब उसको सहने के लिए कौन तैयार हो? और जहाँ अति दारुण दुःख की उपस्थिति हो, ऐसी परिस्थिति में उस दुसह दुःख को कौन सहे? क्यों सहे? किन्तु स्त्रियाँ सहती हैं और भविष्य में भी सहने को तैयार रहती हैं, क्यों? इसके अंदर राज क्या है? इसके उत्तर में भाव-भीने स्वर में उक्त कवि रहीम ने क्या कहा, उनके ही शब्दों में सुनिए—

गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सों सुत होय।

अर्थात् उस अतीव दुःख की दूरवस्था को वह दुःखदा नहीं समझती, बल्कि सुखदा समझकर सहर्ष स्वीकार करती है। क्यों? इस उल्लास में कि हमारे

सुत तुलसीदास जी जैसे भगवद्भक्त होंगे।

विचारणीय है कि आज चार अक्षरों का ज्ञान कर लेने के बाद भी हम भगवद्भक्त नहीं हो पाये, तो क्या हम अपनी पूज्या माताजी की अभीप्सा पर कुठाराघात नहीं करते? क्या, उनकी आशाबेलि पर हम तुषारापात नहीं करते? उस ममतामयी माता की पवित्रतमा मनसा-पूर्ति में यदि हम असफल रहे, तो हम कैसे पूत हैं? जरा सोचें।

संत कबीर साहब ने इसकी बड़ी कड़ी आलोचना की है। उन्होंने कहा है–अभक्त पुत्र से भक्तिमती पुत्री ही भली है। ऐसा पुत्र तो वैसा ही है, जैसे बकरी के गले में लटके हुए मांस-पिंड, जिसमें न तो दूध ही होता और न मूत्र ही।

भक्ति करत कन्या भली, साकट भला न पूत।
छेरी के गल गलथना, जामें दूध न मूत ।।

जननी इस अवनि पर हों वा अम्बर के अमर नगर में, उनकी आत्मा क्या कहती होगी? उनकी उपकारिता के समक्ष अपनी अदूरदर्शिता पर हमें तरस आनी चाहिए। मातृ-सेवा, पितृ-सेवा, गुरु-सेवा, समाज-सेवा, देश-सेवा तो दूर रही, हम भगवदानुरागी होने के बदले विषयानुरागी होते हैं। हमारा यह अशोभनीय व्यवहार संतों को स्वीकार नहीं, अतएव वे हमें फटकार लगाते हैं। काश, उसपर भी हम अपना होश-हवाश सँभालें। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

ते नर नरक-रूप जीवत जग,
भव-भंजन पद विमुख अभागी।
निसि वासर रुचि पाप असुचि मन,
खल मति मलिन निगम पथ त्यागी ।।
नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को,
स्रवन न राम-कथा अनुरागी।
सुत वित दार भवन ममता निसि,
सोवत अति न कबहुँ मति जागी ।।
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि,
सठ हठ पियत विषय-विष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि दुख लागी ।।

संतों ने केवल पुरुषों को ही परुष वचन कहकर छेड़ा है, ऐसी बात नहीं; बल्कि उन्होंने नारियों को भी न्यायपूर्ण निर्देशन दिये बिना नहीं छोड़ा है। संत पलटू साहब ने कहा है–अभक्त पुत्र उत्पन्न कर कोई महिला पुत्रवती नहीं होती। पुत्रवती वह होती है, जिनके पुत्र की अनुरक्ति ईश्वर-भक्ति में होती है। इसलिए उनको चाहिए कि वे अभक्त संतान उत्पन्न नहीं करें।

जननि रहे तो बाँझ पै साकट न जनै।
जनमत ही मरि जाय जिये से ना बनै।।
पुत्र से भला मदार फिरै न दोख में।
अरे हाँ पलटू पुत्रवती सोइ नारि, भक्त जेहि कोख में।।

इसी से मिलती-जुलती बातें श्री सुमित्रा जी ने स्वसुत शेषावतार श्रीलक्ष्मणजी से कही थी।

पुत्रवती युवती जग सोई।
रघुपति भगत जासु सुत होई।।
नतरु बाँझ भल वादि बियानी।
राम विमुख सुत ते हित जानी।।

स्मरणीय है कि संतों ने शासकीय शब्दों में नहीं, वरन् सहानुभूति के शब्दों में, जिससे सबकी शाश्वत सुख की प्राप्ति हो और सबकी शुभगति हो, इस शुभेच्छा से सदुपेदश दिया है। फिर भी सभी जन स्वधर्माचरण कर्म करने में सर्वतंत्र स्वतंत्र हैं। अतएव अपना निर्णय हम आप करें।

यह प्रवचन डॉ० नंदलाल मोदी के निवास-स्थान पर दिनांक–१९.१०.१९७०, स्थान : पटना साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर हुआ था।

(शान्ति-संदेश, मई १९७१ ई०)

४७. जिमि हरिभजन हिय उपज न कामा

मनुज के मानस षट् पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'काम' या 'मनोज' है। मन कोई शरीरधारी व्यक्ति-विशेष नहीं है, तब फिर इसके पुत्र को शरीरधारी मानना बिल्कुल असंगत ही होगा। शरीररहित होने के कारण ही इसका दूसरा नाम 'अनंग' भी है। अंगरहित होते हुए भी संसारासक्त जन के लिए 'अंग बिना मिली संग अधिक आनन्द बढ़ावन' इसका प्रमुख कार्य है। ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते 'काम' ने अपना कम

नाम नहीं फैलाया। विद्वान-अविद्वान, धनी-निर्धन, स्वदेशी-विदेशी आदि सभी के घटों में इसने अपना घर बना लिया। मनोज ने अपनी प्रभुता को मानव तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि सभी थलचर, जलचर और नभचर तक निज प्रभुत्व से अपना साम्राज्य विस्तृत कर लिया। ऐहलौकिक समस्त चर प्राणियों पर आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर जब उसे सन्तोष नहीं हुआ, तब उसने देवलोक की ओर अपना कदम बढ़ाया। सुचतुर 'मनोज' ने देवलोक जाने के पूर्व ही सोच लिया था–

एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।
जो गहि सेवे मूल को, फूले फले अघाय।।

इसलिए उसने सर्वप्रथम देवराज इन्द्र पर ही धावा बोल दिया। मनोज की विपुल सेना के आगे इन्द्र की एक भी कला न चली; और इसीलिए उसने विवश होकर मनोज की शरण स्वीकार कर ली। कामाधीन इन्द्र ने नरलोक में आकर गौतम-गृह में प्रवेश किया और पुरस्कार-स्वरूप उसने वह पदार्थ प्राप्त किया, जिसे छिपाकर रखने में उसे वर्षों छिपकर रहना पड़ा।

तत्पश्चात् 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' को चरितार्थ करते हुए मनोज ने एक-एक करके क्रमशः ब्रह्मलोक तथा शिवलोक प्रभृति लोकों पर एवं लोकपतियों पर हँसते-खेलते स्वशासन स्थापित कर लिया। इस प्रकार विजयी 'मनोज' त्रिभुवनपति बन बैठा। यह बिल्कुल सत्य है कि जो चीज जितनी कड़ी होती है, टूटने पर उसके उतने ही अधिक टुकड़े होते हैं। ठीक इसी भाँति मानव-जाति से बढ़े-चढ़े एवं कड़े बलशाली देवराज एवं देवों की शक्ति को मनोज ने चूर-चूर करके टुकड़े-टुकड़े कर डाला और उनको कामोन्मुख करके उनकी विलासिता एवं विषय-भोग-शक्ति को अत्यधिक उभाड़ दिया। इसीलिए गो० तुलसीदासजी को ऐसे भक्त के लिए कहना पड़ा–

इन्द्रिय सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। विषय-भोग पर प्रीति सदाई।।

पुरुषवर्ग पर आधिपत्य जमा लेने के पश्चात् 'काम' स्त्रीवर्ग की ओर बढ़ा और अपनी प्रभुता से उन्हें विशेष प्रभावित करके 'कामिनी' की उपाधि से विभूषित किया। साथ ही, उसने अपना डेरा भी वहीं डाल लिया अथवा यदि यों कहा जाए कि स्त्री-शरीरस्थ काम ने अपने को 'नारि बिस्व माया प्रकट' के रूप में रूपान्तरित कर लिया, तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी। देवगण 'मनोज' की शरण स्वीकार कर ही चुके थे, अब माया से भी विशेष मोहित हो उसके जाल में मृगा की नाईं फँसने लगे। काम की इस मायिक लीला को देखकर स्पष्टवादी संत कबीर साहब से रहा न गया और उन्होंने स्पष्ट कहा–

माया महा ठगनी हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।।
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी।
पण्डा के मुरत ह्वै बैठी, तीरथ में भइ पानी।।
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू की कौड़ी कानी।।
भगता के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो हो संतो, यह सब अकथ कहानी।।

मनोज की इस भाँति त्रिभुवन-प्रभुता बढ़ जाने पर भी नरलोक में कुछ ऐसे भी लोग थे, जो इसकी अधीनता स्वीकार नहीं करके बागी हो गए। दुर्जय मनोज ने उनलोगों पर चढ़ाई की और कल, बल तथा छल करके नारद, श्रृंगी तथा विश्वामित्र-सरीखे बागियों को अपने पंजे में करके शान्तनुपुत्र देवव्रत से लड़ाई प्रारम्भ कर दी। घनघोर संग्राम के बाद देवव्रत विजयी हुए। इस भीषण संग्राम में ही विजयी होने के कारण तबसे देवव्रत का नाम 'भीष्म' पड़ा। यद्यपि 'काम' देवव्रत से पराजित होने के कारण दुःखित तथा लज्जित था, तथापि वह पूर्वप्राप्त ऐश्वर्य से मदान्ध था। वह कहने लगा–'निर्ममता और योगाभ्यास के बिना कोई उपाय करके भी कोई जीव मुझको नहीं मार सकता। जो पण्डित आत्मा को न जानकर मोक्ष-मार्ग में नियत होकर मेरे मारने का उपाय करता है, उस मोक्ष में प्रवृत्तचित्त मनुष्य को देखकर मैं नाचता हूँ और हँसता हूँ। मैं अकेला सनातन सब जीवमात्रों से अवध्य हूँ।'

(महाभारत, अश्वमेध पर्व, अ० १३)

इस प्रकार कहकर मनोज ने उन महान आत्माओं पर, जिनका अन्तःकरण स्फटिक के समान स्वच्छ

एवं निर्मल था तथा जो अविचल भाव से अचल आत्मा में अवस्थित थे, आक्रमण किया; किन्तु–

बून्द अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के वचन सन्त सह जैसे।।

तथा–

ऊसर बरसइ तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।।

की भाँति श्रीशुकदेवजी, श्रीगोरखनाथजी तथा श्रीतुलसी साहबजी प्रभृति सरीखे आत्मज्ञानी संतों के समक्ष 'काम' की एक भी कला न चली। इन महान आत्माओं के दुर्ग के भीतर प्रविष्ट करना तो दूर रहा, उनके फाटक के समीप भी वह फटकने नहीं पाया। उनके द्वारपाल शम, दम और नियम-यम दृढ़तापूर्वक पहरा दे रहे थे तथा उस गढ़ के अन्दर आत्मसाक्षात्-रूपी महा प्रलय की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। प्रदीप में पतंग की भाँति उन महान आत्माओं के ब्रह्मतेज में जलकर वह भस्मीभूत हो गया।

अतएव, यदि आप भी दुष्ट काम का दमन और शमन करना चाहते हैं, तो शम-दम का साधन, यम-नियम का पालन कीजिए और संसार से अनासक्त रह, योगाभ्यास-द्वारा अपने अन्दर की ब्रह्मज्योति को जगाइए। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।। (अ०२)

अर्थात्, यदि कोई भोजन छोड़े और उपवासी होकर रहे, तो विषयों की ओर से उसकी इन्द्रियों की गति मन्द पड़ती है, परन्तु विषय-रस की स्मृति और उसकी इच्छा नहीं छूटती है। ये तो पर-ब्रह्मपरमात्मा के ही दर्शन से छूटती है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।। (अ०३)

इस तरह बुद्धि से परे आत्मा को पहचानकर और आत्मा-द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो! कामरूप दुर्जय शत्रु का संहार कर।

उपर्युक्त श्लोक पर महात्मा गाँधीजी की टिप्पणी इस भाँति है–'यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्मा को जान ले, तो मन उसके वश में रहेगा और मन जीता जाए, तो 'काम' क्या कर सकता है?' मन और मनोज पर विजय प्राप्त करने के लिए मुक्तिकोपनिषद् में लिखा है–

एक तत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः।
प्रक्षीण चित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः।
पद्मिन्य इव हेमन्त क्षीयन्ते भोगवासनाः।।

अर्थात् जबतक मन नहीं जीता गया हो, तबतक एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से चित्त एवं अहंकार को पूर्ण रूप से नष्ट करके इन्द्रिय-शत्रु को निग्रह करना। ऐसा होने से ही हेमन्त काल के कमल-सदृश भोगवासना का नाश हो जाएगा। एक बात और, जो अत्यन्त प्राचीन एवं बिल्कुल सत्य कहावत है, इसे भी जरा स्मरण में रखिए–'जैसा खाय अन्न, वैसा होय मन।' संत कबीर साहब ने भी कहा है–

जैसा अन्न जल खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी होय।।

आहार का प्रभाव मन पर पड़ता है। इसलिए अच्छे-बुरे भोजन के परिणामस्वरूप मन भी अच्छा-बुरा बनता है। मन से विचार उत्पन्न होते हैं, इसलिए अच्छे-बुरे मन के अनुकूल ही अच्छे या बुरे विचार उद्भूत होते हैं। फिर, विचारानुकूल ही व्यवहार होते हैं। इसलिए अच्छे-बुरे विचार के कारण ही व्यवहार भी अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ होते हैं। रजोगुणी और तमोगुणी भोजन से मन में चंचलता और मूढ़ता उत्पन्न होती है, जिससे काम-क्रोधादिक विकार उभड़ते हैं; और सतोगुणी भोजन से मन शान्त, शुद्ध और सात्त्विक रहता है, इससे पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं।

अतएव, मनोज (काम)-विजय की अभीप्सा रखनेवाले के लिए संयमित आहार-विहार का पूर्ण ध्यान रखना अत्यन्त अपेक्षित है। भोजन सदा सात्त्विक और हल्का होना चाहिए। कभी भी, खास करके रात्रि के समय भूलकर भी गरिष्ठ भोजन नहीं करना चाहिए। उत्तेजक, बासी, अधिक मिर्च-मसालेदार, गर्म, खटाई और चरपरे भोजन से सदा बचते रहना चाहिए। अधिक बार और अधिक मात्रा में भोजन करना या अधिक उपवास करना, अधिक जगना या अधिक सोना–ये सभी हानिकारक हैं। इनका व्यवहार करनेवालों से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता; और यह अत्यन्त दृढ़ निश्चय जानना चाहिए कि ब्रह्मचर्यविहीन, असंयमी जन के लिए 'कामदहन मन वशकरण' कठिन ही नहीं, बल्कि पूर्ण असंभव है।

ठीक ही कहा है–

घास पात जो खात है, ताहि सतावै काम।
नित प्रति हलुआ खाय जो, ताकी जानै राम।।

किन्तु, जो इन्द्रियों का संयम करता है, आहार-विहार का परिणाम जानकर मितभोगी बनता है, सत्पुरुषों का समागम करता है तथा अपने ब्रह्मचर्य की अनमोल रत्न के समान रक्षा करता है, उसी आचरण-समन्वित वीर्यवान के अन्दर योगाभ्यास-साधन से ब्रह्मज्योति जगेगी और वही वीर साधक मन और मनोज पर विजयी प्राप्त कर सकेगा।

(शान्ति-सन्देश, दिसम्बर, १९७२ ई०)

४८. महतत्त्व पर मूल माया, माया पर ब्रह्म

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ एवं भक्तिमती बहनो!

इस संतमत-सत्संग के द्वारा ईश्वर-भक्ति का प्रचार होता है। ईश्वर-भक्ति की विधि जानने के पूर्व ईश्वर-स्वरूप की अभिज्ञता आवश्यक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी लिखा है–

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगेस जल कै चिकनाई।।

सर्वेश्वर-स्वरूप के सम्बन्ध में संतमत के सिद्धान्त हैं–'जो परम तत्त्व, आदि-अन्त-रहित, असीम, अजन्मा, अगोचर, सर्वव्यापक और सर्वव्यापकता के भी परे है, उसे ही सर्वेश्वर सर्वाधार मानना चाहिए।'

अब इसपर हम विचार करें। तत्त्वों में जो सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, वह है परमात्मा; किन्तु हम परमात्म-तत्त्व के सम्बन्ध में अनभिज्ञ हैं। अभिज्ञता हमें पाँच तत्त्वों की है, जिन्हें हम–क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर शब्द से सम्बोधित करते हैं। विवेकशील प्राणी सरलतापूर्वक समझ सकते हैं कि जो प्रथम का तत्त्व होता है, वह पश्चात् के तत्त्वों से सूक्ष्म होने के कारण उसमें व्यापक होकर अपना मण्डल ऊपर रखता है। पंच तत्त्वों में सर्वप्रथम तत्त्व आकाश है। इसलिए वह चार तत्त्वों–हवा, अग्नि, जल और पृथ्वी में व्यापक होकर अपना मण्डल इन सबसे ऊपर रखता है। इस दृष्टि को अपनाए रखकर संत सुन्दरदासजी ने सर्वेश्वर के सम्बन्ध में लिखा है, वह इस प्रकार है–

भूमि पर अप आपहू के परे पावक है।
पावक के परे पुनि वायुहू बहत है।।
वायु के परे व्योम व्योमहू के परे इन्द्रिन दश।।
इन्द्रिन के परे अन्तःकरण रहत है।।
अन्तःकरण पर तीनों गुण अहंकार।
अहंकार पर महतत्त्व कूँ लहत है।।
महतत्त्व पर मूल माया, माया पर ब्रह्म।
ताहितें परात्पर सुन्दर कहत है।।

तथा–

व्योम को व्योम अनन्त अखंडित,
आदि न अन्त सुमध्य कहाँ है।

इसी विषय को गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने इस भाँति कहा है– नभ सत कोटि अमित अवकासा।

सामान्य ज्ञान में तो एक आकाश के अन्त का ज्ञान नहीं होता, तब जो सौ करोड़ आकाश से भी विशेष अवकाशवाला तत्त्व है, उसके सम्बन्ध में बुद्धि कल्पना भी नहीं कर सकती; ठीक वैसे ही जैसे अनन्त विस्तृत समुद्र के गहरे गर्त में रहनेवाली मछली शुद्ध आकाश के सम्बन्ध में कुछ सोच नहीं सकती।

'नभ सत कोटि अमित अवकासा।' कहकर गोस्वामीजी ने जिस अनादि-अनन्त-अपरिमित तत्त्व का निर्देशन किया है, अन्यान्य संतों ने उसी को परम-तत्त्व वा परमात्म-तत्त्व शब्दों से अभिहित किया है।

वह अनन्त तत्त्व कहाँ होगा और कहाँ नहीं होगा? अर्थात् वह सर्वत्र यानी सर्वव्यापक होगा। गोस्वामीजी ने कहा है–

व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता।
अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता।।

इस अनन्त तत्त्व का वर्णन सभी सन्तों ने किया है। गुरु नानक साहब ने कहा है–

अलख अपार अगम अगोचरि, ना तिसु काल न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ, ना तिसु भाउ न भरमा।।

संत कबीर साहब ने कहा है—

श्रूप अखण्डित व्यापी चैतन्यश्चैतन्य।
ऊँचे नीचे आगे पीछे दाहिन बायँ अनन्य।।
बड़ा तें बड़ा छोट तें छोटा मींहीं तें सब लेखा।
सबके मध्य निरन्तर साईं दृष्टि दृष्टि सों देखा।।

कठोपनिषद् के वाक्यों में जो—'अणोरणीयाम् महतो महीयान्' है, उसको यह स्थूल आँख कैसे देख सकती है? जबकि यह आँख पुष्प को देख सकती है; किन्तु उसमें व्यापक उसकी गन्ध को नहीं, तब संसार के पदार्थों को देखकर उसमें व्यापक सर्वेश्वर का ज्ञान यह नेत्र कैसे कर सकती है? इसीलिए कबीर साहब ने साफ शब्दों में कहा है—

चाम चश्म सों नजरि न आवै।

तब किससे देखा जाएगा? तो कहा—

'खोजु रूह के नैना।'

अर्थात् आत्म-दृष्टि से देखा जाएगा। तैत्तरीय उपनिषद् में आया है—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

अर्थात् जो मन को भी दुर्गम है और वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती, वह ब्रह्मस्वरूप है। इस आँख से हम सूक्ष्म जन्तुओं को भी नहीं देख सकते हैं, फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म परम तत्त्व—परमात्मा को कैसे देख सकेंगे?

पटना में पैथोलॉजी के एक अच्छे डॉक्टर हैं। उनका नाम माननीय डॉक्टर एन०एल० मोदी साहब है। बहुत दिन पूर्व की एक घटना है—मैंने देखा कि उन्होंने एक रोगी का रक्त लेकर एक शीशे के प्लेट पर रखकर दूसरे शीशे के प्लेट से उसको घिसकर पसार दिया। मैंने जिज्ञासा की—'इस रक्त में आप क्या देखेंगे?' उन्होंने प्रसन्न मुद्रा में मुस्कुराते हुए कहा—'इसमें रोग के कीटाणुओं को देखूँगा।' मैंने कहा—'आपने तो रक्त को घिस दिया, जो भी कीड़े इसमें होंगे वे मर गये होंगे?' मुझे ठीक स्मरण नहीं; किन्तु जहाँ तक स्मरण है, उन्होंने कहा—'अभी भी ये कीटाणु छह घंटे जीवित रहेंगे। मैंने पूछा—'इन कीटाणुओं को कैसे देखा जा सकता है?' उन्होंने उत्तर दिया—'इस आँख से नहीं, Microscope नामक यन्त्र से देखा जाएगा।' अब यह बात सरलतापूर्वक समझी जा सकती है कि जब रक्त के कीड़े को इस आँख से हम नहीं देख पाते, तब उसमें निवास करनेवाली चेतन आत्मा का, परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण इस चक्षु से कैसे सम्भव है? इसलिए यह अत्यन्त थिर है कि जो परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं, उनको इस स्थूल आँख से हम नहीं देख सकते। इस आँख से जो ग्रहण होगा, वह माया होगी। गो० तुलसीदासजी महाराज ने लिखा है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।।

अर्थात् इन्द्रियों तथा मन से जो कुछ जानते हैं, वह माया है। भगवान के मायिक रूप के दर्शन से कामनाएँ नहीं मिटतीं और जबतक कामनाएँ रहेंगी, गोस्वामी तुलसीदासजी के विचार में उसको स्वप्न में भी सुख नहीं मिलेगा अर्थात् 'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।' कश्यप-अदिति के कथा से भी विदित होता है कि भगवान विष्णु के दर्शन होने पर उन्हें पुत्र की कामना हुई; परन्तु अनन्त स्वरूपी परमात्मा की प्राप्ति में सारी कामनाएँ अन्त हो जाती हैं। संत कबीर साहब ने बड़ा ही अच्छा कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिये, सोई शाहंशाह।।

सन्तों की गति अनन्त तक होती है। जिसका आदि होगा, उसका अन्त अवश्य होगा, वह ससीम होगा। सभी ससीमों के बाद असीम कहे बिना प्रश्न बना ही रहेगा। आदि मूल तत्त्व अनादि है, असीम है। जो आदि-अन्त-रहित होगा, वह असीम होगा, अजन्मा होगा। वह किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण होने योग्य नहीं। परमात्मा सर्वव्यापक हैं, सर्वव्यापकता के भी परे हैं। उसको ऐसे समझिए—जिस तरह लोहा को आग में डाल दीजिए, लोहा लाल हो जाएगा। अग्नि लोहा में व्यापक हो गई। लोहा का गोला जितना बड़ा था, उतने में ही अग्नि व्यापक होकर मर्यादित नहीं हो जाती, वरन् उसके बाहर भी अग्नि का विस्तृत मण्डल बना रहता है। उसी तरह परमात्मा प्रकृति मण्डल में व्यापक होकर मर्यादित नहीं हो जाते, बल्कि प्रकृति के परे और कितना विशेष बाकी बचा रहता है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा—

प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी।।

और संत कबीर साहब कहते हैं—

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।

बलिहारी वा घट्ट की, जा घट्ट परगट होय।।

और भी-

निज तन में खोज सज्जन, बाहर न खोजना।
अपने ही घट में हरि हैं, अपने में खोजना।।

-महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

गोस्वामीजी ने जिस प्रभु को उर-वासी कहा, संत कबीर साहब ने उसको घट-वासी कहा और महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने 'घट' और 'उर' दोनों को मंजूर किया। फिर तीनों सन्तों के वचनों में अंतर क्या रहा? कुछ भी नहीं; किन्तु एक बात यह है कि महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने घट का बहुत विलक्षण विश्लेषण किया है, उन्होंने बतलाया है कि घट-त्रिपट के पार में जो घट है, यथार्थतः उसके उर-पुर में साईं यानी प्रभु बसते हैं। यथा-

घट पट तिहू के पार में साईं बसै हिय अन्तरे।

इसी त्रिपट का वर्णन संत दादू दयालजी ने इस भाँति किया है-

सुन्नी सुन्न सुन्न के पारा, अगुण सगुण नहिं दोई।।

गुरु नानकदेवजी ने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा है- **काहे रे वन खोजन जाई।**

सरब निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई।।

विचारवान विचार सकते हैं कि परम प्रभु परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण सर्वत्र व्यापक होकर हमारे अंदर भी हैं और हम स्वयं भी अपने अंदर ही हैं। दूसरे शब्दों में हम स्वयं और हमारे प्रभु दोनों ही अपने अन्दर हैं। ऐसी अवस्था में ईश्वर की खोज के लिए कहीं बाहर जाना कहाँ तक समीचीन होगा, विवेकी जन जान सकते हैं, सोच सकते हैं, विचार सकते हैं।

हमारे सद्गुरु महाराजजी ने जीव और पीव की बृहत् व्याख्या कर बताया है कि इस शरीर में जीव कहाँ है, पीव कहाँ है, दोनों की दूरी क्या है? इन दोनों की दूरी दूर कैसे हो सकती है, इस शरीर में जीव और पीव दोनों का मिलन कहाँ और किस भाँति होगा, प्रभु-प्राप्ति का पथ अपने अंदर-ही-अंदर किस प्रकार है, उसका आरम्भ, मध्य और अंत कहाँ होता है? इत्यादि विषयों का इतना सरल और मार्मिक वर्णन इन्होंने अपने एक पद्य में किया है, जिसका अध्ययन एवं मनन कर सर्वसाधारण भी सरलतापूर्वक समझ सकते हैं-

खोजो पंथी पंथ तेरे घट भीतरे।
तू अरु तेरो पीव भी घट ही अन्तरे।।
पिउ व्यापक सर्वत्र परख आवै नहीं।
गुरुमुख घट ही माहिं परख पावै सही।।
तू यात्री पीव घर को चलन जो चाहहू।
तो घट ही में पंथ निहारु विलम्ब न लावहू।।
तम प्रकाश अरु शब्द निःशब्द की कोठरी।
चारो कोठरिया अहइ अन्दर घट कोट री।।
तू उतरि पर्‍यो तम माहिं पीव निःशब्द में।
यहि तें पड़ि गयो दूर चलो निःशब्द में।।
नयन कँवल तम माँझ से पंथहि धारिये।
सुनि धुनि जोति निहारि के पंथ सिधारिये।।
पाँचो नौबत बजत खिंचत चढ़ि जाइये।
यहि ते भिन्न उपाय न दिल बिच लाइये।।
संतन कर भक्ति-भेद अन्तर पथ चालिये।
'मेँहीँ' मेँहीँ धुनि धारि सो पंथ पधारिये।।

प्रभु-प्राप्ति के संबंध में संत कबीर साहब का विचार है- घूँघट का पट खोल रे, तोको पीव मिलेंगे।

एक ही कमरे में पति और पत्नी दोनों हैं, पर परस्पर भेंट नहीं होती। क्यों? इसलिए कि पत्नी अपने ऊपर घूँघट ले रखी है। इसी भाँति इस शरीर में हम हैं और हमारे प्रभु भी हैं; परन्तु आवरण के कारण दर्शन नहीं हो पाता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कितना ही उत्तम कहा है-

माया बस मति मन्द अभागी।
हृदय जवनिका बहु विधि लागी।।
ते सठ हठ बस संसय करहीं।
निज अज्ञान राम पर धरहीं।।
काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ पड़े तम कूप।।

परम प्रभु यद्यपि सर्वत्र हैं, फिर भी तम-कूप में पड़े रहने के कारण उनकी पहचान नहीं होती। वर्णित विचार से यह दृढ़ हो चुका कि परम प्रभु सर्वत्र होते हुए भी सर्वत्र उनकी पहचान नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम परमात्मा की पहचान जहाँ होगी, वहाँ जाना आवश्यक है। पूज्यपाद गुरुदेवजी की वाणी में है-

तू उतरि पर्‍यो तम माहिं, पीव निःशब्द में।
यहि तें पड़ि गयो दूरि, चलो निःशब्द में।।

रास्ता का आरम्भ अंधकार से होगा; क्योंकि

हम अंधकार में पड़े हैं और जाना निःशब्द तक है; क्योंकि सर्वेश्वर का सर्वप्रथम साक्षात्कार वहाँ ही होगा। इसलिए–

नयन कँवल तम माँझ से पंथहिं धारिये।
सुनि धुनि जोति निहारि के पंथ सिधारिये।।

अंधकार के बाद प्रकाश होगा; किन्तु इस प्रकाश से भी परमात्मा की प्रत्यक्षता नहीं होती; क्योंकि वह प्रकाश भी एक परदा है। ईशावास्योपनिषद् में आया है–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

अर्थात् आदित्य-मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! मुझ सत्य धर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उघाड़ दे। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में आया है–

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः।।

अर्थात् अनाहत शब्द का जो शब्द है, उसकी जो ध्वनि है, उस ध्वनि के अंदर ज्योति (चेतन) है और ज्योति के अंदर मन (लय को प्राप्त होता) है।

इस प्रकाश के परे जाने पर भी शब्द का आवरण रहता है। नादानुसंधान द्वारा शब्दावरण का अतिक्रमण कर निःशब्द में प्रतिष्ठित होना होता है। यह निःशब्द ही परम पद वा परमात्मपद है। इसको ध्यानविन्दूपनिषद् में लिखा है–

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्।।

अर्थात् परम विन्दु ही बीजाक्षर है, उसके ऊपर नाद है, नाद जब अक्षर (अनाश ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है। यही निःशब्द गोस्वामीजी का–

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।।

ब्रह्मविन्दूपनिषद् में आया है–

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।।

अर्थात् दो विद्याएँ समझनी चाहिए, एक शब्द ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शब्द ब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है।

इसी विषय को संत सुन्दरदासजी ने इस भाँति कहा है–

शब्दब्रह्म परिब्रह्म, भली विधि जानिये।
पाँच तत्त्व गुण तीन, मृषा करि मानिये।।
बुद्धिवन्त सब सन्त, कहैं गुरु सोइ रे।
और ठौर शिष जाइ, भ्रमे जिनि कोइ रे।।

परमात्म-प्राप्ति के पश्चात् और कुछ अप्राप्त नहीं रह जाता। साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पूर्ण काम हो जाता है।

सारांश यह कि प्रभु प्राप्त्यर्थ न बाहर जाने की आवश्यकता है, न घर-वार और काम-रोजगार छोड़ने की है। क्या पुरुष, क्या स्त्री सभी अपने घरों में रहो, ईश्वर-भजन की सद्युक्ति जानकर नित्य नियमित रूप से भजन करो, सत्संग करो, सदाचार का पालन करो और स्वावलम्बी जीवन बिताओ। सन्तों के उपदेशों का यह सार है। ❖

यह प्रवचन दिनांक २४.०३.१९७३ ई० को अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ६५वाँ वार्षिक महाधिवेशन बिहार राज्यान्तर्गत पुरैनियाँ जिले के झालीघाट ग्राम में प्रातःकालीन सत्संग के अवसर पर हुआ था।

(शान्ति-सन्देश, नवम्बर, २०१०)

४९. संतमत संकुचित नहीं, विशाल विचार रखता है

आदरणीय गुरुजन, सज्जनवृन्द तथा आदरणीया माताओ एवं बहनो!

शिशु जब अपने से बड़े के भुजबल-सहारे उनके कन्धे पर खड़ा होता है, तो उनसे वह बड़ा मालूम होता है; किन्तु बात वास्तविक यह नहीं है। उसी भाँति आपलोगों ने जो मुझे उच्चासन पर आसीन किया है, यह आपलोगों की महानता है, विशेषता है, वस्तुतः आप विशेष हैं, धन्य हैं।

आपलोगों को ज्ञात हुआ है कि यहाँ अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का ६५वाँ वार्षिक महाधिवेशन है। इसमें अभी बिहार के वित्त मंत्री श्रीमान् दारोगा प्र० रायजी का भाषण हुआ। इनको मैं बिहार का कुबेर कहता हूँ। कुबेर के भाषण के बाद अब फकीर का प्रवचन शुरू हो रहा है, आप विस्मित न हों। यह संतमत का सत्संग है। संतमत कहता क्या है? इससे पूर्व संतमत है क्या? इसको जान लेने पर मूल

का पता चल जाएगा, जिससे भविष्य में भूल होने की संभावना नहीं रहेगी। संतमत संतों का विचार है। किसी एक संत के ज्ञान का आधार इसमें नहीं है और न संतमत किसी एक संत के नाम पर का प्रचलित पंथ है।

१९१९ ई० के १९ जनवरी को परम संत बाबा देवी साहब का परिनिर्वाण हुआ था। एक दिन उन्होंने हमारे गुरुदेव से कहने की कृपा की–'तुम पहले दरियापंथी थे, अब समुद्रपंथी हो गये।' समुद्र में बहुत-सी नदियों का एकत्रीकरण होता है। उसमें बहुत-सी नदियों का पानी मिलता है। उसी तरह संतमत रूप समुद्र में बहुत-से संतों की वाणियाँ आपको मिलेंगी। मुण्डकोपनिषद् में है–

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

अर्थात् जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को त्यागकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है। इसी भाँति संतमत नाम-रूप से परे जाकर सर्वेश्वर का साक्षात्कार कराता है। जितने भी पंथ, धर्म, मजहब वा सम्प्रदाय हैं, सभी संतमत रूपी समुद्र में समाहित हो जाते हैं। यही हेतु है कि अभी आपलोग संत कबीर साहब, गुरु नानक साहब आदि संतों की वाणियाँ सुन रहे थे। वस्तुतः संतमत संकुचित नहीं है। यह विशाल विचार रखता है।

व्योम को व्योम अनन्त अखंडित,
आदि न अन्त सुमध्य कहाँ है?

एक कथा है–एक कुएँ में एक मेढ़क रहता था। संयोग से बाढ़ आयी। बाढ़ के पानी के साथ बहता हुआ समुद्र का एक मेढ़क उसी कुएँ में जा गिरा। कुएँ के मेढ़क ने पूछा–'तुम कहाँ से आए हो?' समुद्र के मेढ़क ने कहा–'मैं समुद्र से आया हूँ।' पुनः उसने पूछा–'समुद्र कितना बड़ा होता है?' इस मेढ़क ने कहा–'बहुत बड़ा।' कुएँ के मेढ़क ने एक बित्ता उछलकर कहा–'क्या समुद्र इतना बड़ा है?' इसने कहा–'नहीं; इससे बहुत बड़ा है।' फिर कुएँ का मेढ़क एक छलाँग मारकर कुएँ के आधे भाग पर जाकर कहा–'इतना बड़ा?' इसने कहा–'नहीं भाई! समुद्र इससे बहुत बड़ा होता है।' इसपर वह मेढ़क कुएँ के दूसरे किनारे तक छलाँग मारकर कहा–'अब?' इसने कहा–'उससे भी बहुत बड़ा।' इसपर कुएँ के मेढ़क ने कहा–'यह तुम्हारा गप्प मात्र है। भला, इस कुएँ से भी बड़ा कहीं कुछ हो सकता है?'

साम्प्रदायिक भावना रखना, कूप-मण्डूकता है। संतमत एक परिधि के अन्दर करना नहीं चाहता है। आज जिन-जिन संतों के नाम पर एक-एक मत की संज्ञा दी गई है, यदि उनसे पूछा जाए कि आप किस मत के हैं? तो क्या वे अपने नाम पर प्रचलित मत को स्वीकार कर कह सकेंगे कि 'मैं अमुक नाम के पंथ का हूँ।' यथार्थ बात तो यह है कि श्रद्धालु भक्तों ने अपने गुरु वा आचार्य के नाम पर मत का नाम रखा है। संत कबीर साहब को ही लिया जाय, उनको संतमत पसंद है और इसलिए वे हृदय की उद्गार-भावना को उड़ेलते हुए कहते हैं–

संतमता कुछ और है, खोजहु तिन पाई हो।

गोस्वामी तुलसीदासजी के वचन में आप पाएँगे–

यहाँ न पक्षपात कछु राखौं। वेद पुरान संतमत भाखौं॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज का परलोक गमन १६८० ई० में हुआ है। सम्वत् १९०० ई० में तुलसी साहब हाथरस वाले का। इनका भी कथन है–

संत गुरु अरु पंथ न जाना। ये ही संतपंथ हित माना॥

संतों का विचार–संतों का मत यही संतमत है। संतमत को सप्त सकार स्वीकार है। (१) सर्वेश्वर में विश्वास (२) सद्गुरु की आश (३) सत्संग की प्यास (४) सदाचार का अभ्यास (५) सत्य साधना विधि (६) सतत प्रयास और (७) स्वावलम्बी जीवन।

संतमत में जहाँ सप्त सिद्धांतों का स्वीकार अनिवार्य बताया गया है, वहाँ पंच पापों–झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार का परिहार भी आवश्यक कहा गया है। पापों के परिहारी सदाचारी कहलाते हैं और पापों के आचारी–पापाचारी वा दुराचारी। सदाचारी की सद्गति व शुभगति होती है, तो दुराचारी की दुर्गति।

भगवान बुद्ध ने कहा है–सदाचारी को पाँच चीजें मिलती हैं–(१) संसार में सुयश फैलता है। संसार में ही नहीं, तथागत ने तो यहाँ तक कहा है कि यह जो बेली, चमेली, जूही आदि पुष्पों की गंध है, वह तो तुच्छ है; किन्तु जो सदाचारी की सुगंध है, वह

पवित्र गंध देवताओं तक पहुँचती है।

तगर पुष्प गन्धो पटिवात मेति न, चन्दनं तगर मल्लिका वा ।
सतञ्च गन्धो पटिवात मेति, सब्बा दिसा सप्पु रिसो पावति ।।

अर्थात् पुष्प, चन्दन, तगर या चमेली किसी की भी सुगंधि हवा के प्रतिकूल नहीं जाती; परन्तु संतों की सुगन्धि हवा के प्रतिकूल भी जाती है। सत्पुरुष सभी दिशाओं में सुगन्ध बहाता है।

(२) सदाचारी की सम्पत्ति बढ़ती है; क्योंकि वे अपव्ययी नहीं होते। (३) जिस किसी सभा में वे प्रवचन करते हैं, तो उनका प्रभाव पड़ता है। लोग उनपर विश्वास करते हैं। (४) जब शरीर छूटता है, तो सुख से छूटता है और (५) मृत्यु के बाद सुखकर स्थान को प्राप्त करता है। इसी तरह जो दुराचारी होते हैं, उन्हें भी पाँच चीजें मिलती हैं। (१) अपयश मिलता है अर्थात् संसार में उसकी अपकीर्ति फैलती है। (२) उसकी सम्पत्ति का नाश होता है। (३) किसी भी सभा में उसके भाषण का प्रभाव नहीं पड़ता। (४) उसकी मृत्यु कष्टकर होती है और (५) मरणोपरान्त वह दुःखकर स्थान को पाता है।

एक महात्माजी थे। वे कहीं जा रहे थे। एक भव्य नगर में प्रवेश करते हैं। आरम्भ में ही एक वेश्या का मकान था। वेश्या अपनी दासी से कह रही थी कि नगर में जो अमुक सेठ की मृत्यु हुई है, उन्हें तुम देख आओ–नरक हुआ वा स्वर्ग? महात्माजी आश्चर्य में पड़ गए कि वेश्या गृह में स्वर्ग-नरक का क्या हिसाब है? वह कैसे जानती है कि अमुक नरक को गया वा स्वर्ग को? दासी जाती है और थोड़ी देर में शहर से लौटकर आती है और कहती है–उस सेठ को स्वर्ग हुआ। अब तो महात्माजी को आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे वेश्या के दरवाजे पर चले गए। वेश्या पूछती है–महाराज! आप मेरे यहाँ कैसे पधारे? महात्माजी ने कहा–'तुम्हारी दासी कैसे जान गई कि अमुक आदमी के मरने पर उसे स्वर्ग हुआ? यह बात मेरी समझ में नहीं आई।' वेश्या ने कहा–'महाराज! यह कौन-सी बड़ी बात है? जो लोगों की सुख-सुविधा का ख्याल करते हैं। सदाचारमय, परोपकारमय जिनका जीवन होता है, उनके मरने पर लोग रोते हैं, शोक प्रकट करते हैं, ऐसे लोगों को स्वर्ग क्यों न होगा? किन्तु जो दूसरों को सताते हैं, उसके मरने पर लोग हर्ष मनाते हैं, उसको नरक न होगा तो क्या होगा? मेरे विचार में स्वर्ग और नरक का यही विचार है।' संतमत सदाचार का पालन सिखाता है; किन्तु स्मरण रहे यथार्थ में सदाचार का पालन होना चाहिए, मात्र आचार का नहीं। हमारे सद्गुरु महाराजजी का कथन है–

पालन हो सदाचार ना आचार मेँहीँ क्या ।

एक बड़ी मधुर कथा है। एक थे बाबाजी–आचारी बाबा। वे स्वयं पाकी तो थे ही, जलावन को भी धोकर जलाते थे। उनके चौके पर अन्य कोई पैर नहीं रख सकते। उनकी भोज्य सामग्रियों को अलग से ही चौके पर रख दिया जाता था। स्वयं भी स्नान के पश्चात् चौके पर चरण रखते थे। इतना ही नहीं, पाक-काल में तथा खान-पान-काल में बायें हाथ को चौके से बाहर रखते थे।

एक दिन किसी ग्रामीण ने विनीत भाव में पूछा–'महाराज! बायाँ हाथ को चौका से बाहर क्यों रखा गया है?' बाबाजी को यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने रंज होकर कहा–'मूर्ख! तुम्हें क्या पता? तू नहीं जानता कि बायाँ हाथ शरीर की कैसी-कैसी अपवित्र जगहों में जाती है?' जिज्ञासु ने हाथ जोड़कर कहा–'महाराज! क्षमा करें, भूल हुई; किन्तु मेरी प्रार्थना है–जरा विचार करें, जिन-जिन अपवित्र स्थानों में जाने के कारण वाम हस्त को चौका-प्रवेश से निषेध किया गया है, वे सभी स्थान तो आपके चौके पर हैं, फिर बेचारे हाथ का क्या दोष!'

बस, क्या था? बाबाजी तो क्रोध के मारे आग बबूले हो गये....। यह आचार सदाचार नहीं, वरं दम्भ है। इसीलिए तो संत कबीर साहब ने कहा है–

आचारी सब जग मिला, बिचारी मिला न कोय ।
कोटि अचारी वारिये, इक विचारी जो होय ।।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि बाह्य शौच को बिल्कुल तिलांजलि दे दी जाए। बल्कि आवश्यक बाह्य शौच के साथ-साथ अन्तः शौच का होना अत्यावश्यक है। हाँ, तो मैं कह रहा था–संतमत में सदाचार पालन अत्यंत अपेक्षित है और सदाचार का ईश्वर-भजन से घनिष्ठ संबंध है। ठीक वैसे ही जैसे 'Q' के साथ 'U' का। आप देखेंगे जहाँ 'Q' रहता है, वहाँ 'U' का रहना भी अनिवार्य हो जाता है। जैसे 'Quarter, Quality, Quantity' आदि।

इसीलिए भगवान बुद्ध ने कहा था– सदाचार चाहिए, चमत्कार नहीं। संतमत एक ईश्वर पर अचल

विश्वास और पूर्ण भरोसा रखना सिखाता है तथा उनकी प्राप्ति अपने अन्दर में होगी, इसका दृढ़ निश्चय दिलाता है। संत सद्गुरु महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज का यह उद्घोष है–'सबके ईश्वर एक हैं। उनतक पहुँचने का रास्ता एक है। सभी स्थूल सगुण उपासनाएँ उस मार्ग पर चलने के लिए योग्यता प्रदान करती हैं। ईश्वर-भक्ति में ही कल्याण है।'

कुछ लोग कहते हैं–जैसे एक गाँव में जाने के लिए अनेक रास्ते हैं, उसी तरह ईश्वर तक जाने के लिए भी अनेक मार्ग हैं; किन्तु वास्तव में ईश्वर तक जाने के मार्ग अनेक नहीं, एक है। जैसे किसी भी देश वा जाति के कोई मानव क्यों न हों, सबके भोजन करने का एक रास्ता मुँह है। देखने का एक रास्ता आँख है। सुनने का एक रास्ता श्रवण वा कान है। गंध लेने का एक मार्ग नाक है। पेशाब करने का एक रास्ता है। पाखाना करने का एक रास्ता है। उसी तरह ईश्वर सबके अन्दर है और ईश्वर तक जाने का मार्ग भी एक ही है। यह मेरा विचार नहीं, संतों का विचार है। इस मार्ग का कहीं से आरम्भ होता है, उसका कहीं अंत होता है और बीच में फासला होता है। ❖

यह प्रवचन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ६५वें वार्षिक महाधिवेशन के अवसर पर झालीघाट, पूर्णियाँ में दिनांक २४.०३.१९७३ ई० को अपराह्नकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था। (शांति-संदेश, फरवरी २०११ ई०)

५०. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ एवं भक्तिमती बहनो!

मैं आपलोगों के दर्शनार्थ यहाँ आया हूँ। आपलोगों के दर्शन से मेरे मन में बड़ी प्रसन्नता हुई है। मैं आपलोगों को अपना उपदेश नहीं, संतों का सन्देश देने आया हूँ। यद्यपि शारीरिक क्लेश से मैं अस्वस्थ हूँ, तथापि परम पूज्य आराध्यदेव की कृपा और आपलोगों के दर्शन से आश्वस्त हूँ। एक तो मुझे बोलने की कला नहीं, दूसरे सर्दी-खाँसी से बझा हुआ गला है। इस स्थिति में भला आपके सामने मैं क्या कह सकता हूँ! तब भी आराध्यदेव के आदेश-पालनार्थ आपलोगों के समक्ष उपस्थित हुआ हूँ।

आपलोगों को ज्ञात है कि यहाँ अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का ६८वाँ वार्षिक महाधिवेशन है। आज विश्व के कोने-कोने में अशान्ति फैली हुई है। जन-जन का मन राग, द्वेष, ईर्ष्यादि कलुषों से कलुषित हो रहा है। भाई-भाई, पिता-पुत्र, पति-पत्नी प्रभृति में परस्पर वैमनस्यता की आग सुलग रही है। सभी शान्ति की आकांक्षा रखते हैं। अपनी-अपनी विद्या-बुद्धि के बल पर यथासंभव सभी कोई प्रयास कर रहे हैं; किन्तु सफलता कहाँ तक मिली, यह सबके सामने है।

संतों ने बतलाया कि संसार के पद, प्रतिष्ठा, पदार्थ व पैसे–किसी की भी प्राप्ति में शान्ति नहीं है; क्योंकि शान्ति बाह्य जगत् की वस्तु में नहीं है, अपने अन्दर ही है। इसलिए अपने को बहिर्मुख से अन्तर्मुख करो। जो पदार्थ परस्पर एक दूसरे के उलटे होते हैं, उनके गुण भी उलटे होते हैं; जैसे रात और दिन, हानि और लाभ, दुःख और सुख आदि। इसी भाँति संसार का उल्टा परमात्मा है। संसार व्यक्त है और परमात्मा अव्यक्त। संसार विषय है और परमात्मा निर्विषय। संसार इन्द्रियगम्य है और परमात्मा इन्द्रियातीत। संसार असार है और सर्वेश्वर सार है। जगत् का नाश है और जगत्पति अनाश है, विश्व उत्पत्ति और विनाशशील है; किन्तु विश्वेश्वर अज और अविनाशी है। संसार सगुण और साकार है; परन्तु ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। जगत् उपाधिरूप और ब्रह्म निरुपाधि स्वरूप है। संसार अशाश्वत है और ब्रह्म शाश्वत है। संसार विषम है और परमेश्वर सम है। संसार सविकार है और अखिलेश निर्विकार है। संसार स्वल्प है और परमात्मा परिमाण-रहित है। संसार कालाधीन है और परम प्रभु कालातीत है। संसार समल और चंचल है, परब्रह्म निर्मल और निश्चल है। जगत् सापेक्ष है और जगदीश्वर निरपेक्ष है। संसार को पाकर शान्ति नहीं है, तो सर्वेश्वर को पाकर अवश्य ही शान्ति मिलेगी। संतों ने उसी एक परमात्मा को प्राप्त करने की सलाह दी है। हमारे सद्गुरु महाराज ने दृढ़तापूर्वक कहा है–"एक ईश्वर पर अचल विश्वास और पूर्ण भरोसा करो। उसकी प्राप्ति अपने अन्दर होगी, इसका दृढ़ विश्वास रखो।"

उनका उद्घोष है—"सबके ईश्वर एक हैं। उनको पाने का रास्ता भी एक ही है। सभी स्थूल सगुण उपासनाएँ उस मार्ग तक पहुँचाने के माध्यम हैं। ईश्वर-भक्ति से ही विश्व में शान्ति आएगी।" सभी संतों ने एक ईश्वर का ज्ञान दिया है और उसी एक विचार पर दृढ़ विश्वास करने की सीख दी है। परम प्रभु परमात्मा के सम्बन्ध में सभी संतों ने एक स्वर में कहा है कि वह अनेक नहीं; एक है। विश्व का परम प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है, उसमें यह मंत्र आया है—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" अर्थात् वह एक ही है और सद्विप्र उसे अनेक नामों से अभिहित करते हैं। यहूदी उसे जेहोवा कहते हैं, ईसाई गॉड या स्वर्गस्थ कहते हैं, मुसलमान अल्लाह कहकर पूजते हैं, बौद्ध बुद्ध, पारसी अहुरमज्द, चीनी तितीन और वैदिक ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। संत कबीर साहब के शब्दों में हम कह सकेंगे—

साहिब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय।
दूजा साहिब जो कहूँ, साहिब खड़ा रिसाय॥

गुरु नानक देवजी महाराज कहते हैं—उस एक ईश्वर में सारी सृष्टि समाहित है और सारी सृष्टि में वह अकेला ही व्यापक है। इतना ही नहीं, उससे परे भी है। यथा—

एको एकु सुअपर परम्परु, परखि खजाने पाइदा।

तथा—

एक महि सरब सरब महि एका,
यह सत्गुर देखि दिखाई॥

कवि भूषण गोस्वामी जी ने उस सर्वव्यापक राम को ब्रह्म-रूप, अनाम, अज, अकाम, सत्, चित्, आनन्द और परधाम कहकर वर्णन किया है। तथा—

'एक अरूप अनीह अनामा।
अज सच्चिदानन्द परधामा॥'

एक सही सबके उर अन्तर,
ता प्रभु कूँ कहू काहि न ध्यावै।
संकट माहि सहाय करै,
पुनि सो अपनो प्रभु क्यों विसरावै॥
चारि पदारथ और जहाँ लौं,
आठहु सिद्धि नवौ निधि पावै।
सुन्दर छार परै तिनके मुख,
जो हरि को तजि आन कूँ ध्यावै॥
—संत सुन्दर दासजी

और संत पलटू दासजी कहते हैं—

दास पलटू कहै एक ही एक है,
दूसरा नहीं कोउ राव रानी।

ईश्वर के सम्बन्ध में महात्मा गाँधीजी की कितनी अगाध और अविचल श्रद्धा है, उन्होंने कहा है—"कोई सात बहनें थीं। उनमें से एक बहन की मृत्यु हो गई। फिर भी वह अपने को सात बहनवाली ही मानती थी। लोग उन्हें कितना भी समझावे; लेकिन वह अपने विचार पर दृढ़ थी। इसी भाँति मुझे कोई कितना भी कहे कि ईश्वर नहीं है, तो मैं मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। कोई नास्तिक ईश्वर के सम्बन्ध में मुझसे बात-चीत करते हुए अपनी दलील से मुझे हरा भी दे, फिर भी ईश्वर की सत्ता को मैं कदापि अस्वीकार नहीं कर सकता।"

वास्तव में, जिस प्रकार समुद्र के अन्तस्तल में रहनेवाली मछली को स्वच्छाकाश का ज्ञान नहीं होता, उसी भाँति माया के गहन तम में पड़ा प्राणी को परमात्मा के स्वरूप की पहचान नहीं होती।

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहि रघुपतिहिं, मूढ़ परे तम कूप॥
—गोस्वामी तुलसीदासजी

जैसे घूघर पक्षी को सूर्य के दर्शन नहीं होते, उसी भाँति अज्ञान-तमसाच्छन्न जन को परम ब्रह्म की प्रत्यक्षता नहीं होती। इसलिए यदि घूघर कहे कि सूर्य नहीं है और अज्ञजन कहे कि ईश्वर नहीं है, तो जैसे उलूक के बात की मान्यता नहीं हो सकती, वैसे ही उन अल्पज्ञ की यह बात भी अमान्य ही होगी।

घूघर अंधे भेष टेक अभिमान में।
लखै न तन बिच ब्रह्म धुंध अज्ञान में॥
घूघर नेतर खुलै लखै सोई साध है।
देखै तन बिच भानु सो ब्रह्म अगाध है॥
—संत तुलसी साहब

स्त्रष्टा को समझने के लिए उनकी सृष्टि की ओर जरा हम अपनी दृष्टि को करें। शायद इस शोध से भी कुछ बोध हो जाय। सर्वेश्वर की सृष्टि अति अद्भुत है, बड़ा ही विलक्षण है। स्थूल में सूक्ष्म और सूक्ष्म में कारण अधिष्ठित है। स्थूल निवासी सूक्ष्म निवासी को और सूक्ष्म निवासी कारण निवासी को सामान्य दृष्टि से देख नहीं पाते।

जब स्थूल-सूक्ष्मादि भेद से समस्त प्रकार की सृष्टियों को हम इस स्थूल दृष्टि से नहीं देख सकते, तब उस सृष्टिकर्त्ता को जो उसके कण-कण में

अणु-परमाणु में प्रति-पल, प्रति-क्षण परिव्याप्त है, कैसे देख सकते हैं?

वास्तविक बात तो यह है कि जैसे इस स्थूल जगत् को देखने के लिए स्थूल दृष्टि की और सूक्ष्म जगत् को देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि वा दिव्य दृष्टि की आवश्यकता होती है; वैसे ही ब्रह्म-दर्शन वा आत्म-दर्शन के लिए आत्म-दृष्टि अत्यन्त अपेक्षित है।

सूक्ष्म-दृष्टि, दिव्य-दृष्टि वा आत्म-दृष्टि किसी भी दृष्टि के लिए संत सद्‌गुरु की सद्‌युक्ति और उनकी कृपा अपरिहार्य है। जबकि जागतिक कार्य का सफल सम्पादन सुयोग्य गुरु के अभाव में सम्भव नहीं होता, तब पारमार्थिक पथ बिना संत सद्‌गुरु के प्रशस्त हो, कैसे सम्भव है? संत सुन्दरदासजी महाराज कहते हैं–

गुरु बिन ज्ञान नहिं गुरु बिन ध्यान नहिं,
गुरु बिन आतम विचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहिं गुरु बिन नेम नहिं,
गुरु बिन शीलहु संतोष न गहतु हैं॥
गुरु बिन प्यास नहिं बुद्धि को प्रकाश नहिं,
भ्रमहू को नाश नहिं संशय रहतु हैं।
गुरु बिनु बाट नहिं कौड़ी बिन हाट नहिं,
सुन्दर प्रकट लोक वेद यों कहतु हैं॥

किसी कवि ने कितना कमाल कहा है–

ध्यान लगा के जो देखो
तुम सृष्टि की सुघराई को।
बात-बात में पाओगे उस
ईश्वर की चतुराई को॥
ये सब भाँति-भाँति के पक्षी
ये सब रंग-रंग के फूल।
ये वन की लहलही लतायें
ललित-ललित शोभा के मूल॥
ये पर्वत की रम्य शिखा औ
शोभा सहित चढ़ाव उतार।
निर्मल जल के सोते झरने
सीमा रहित महा विस्तार॥
छः प्रकार की ऋतु का होना
नित नवीन शोभा के संग।
पाकर काल वनस्पति फलना
रूप बदलना रंग-बिरंग॥
चाँद-सूर्य की शोभा अद्‌भुत
बारी से आना दिन-रात।
त्यों अनन्त तारा मण्डल से
सज जाना रजनी का गात॥
लर्जन गर्जन घन मंडल का
बिजली वर्षा का संचार।
जिसमें देखो परमेश्वर की
लीला अद्‌भुत अपरम्पार॥

यह प्रवचन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ६८वें वार्षिक महाधिवेशन के अवसर पर भवानीपुर (राजधाम), पुरैनियाँ में दिनांक ७.३.१९७६ के अपराह्णकालीन सत्संग में हुआ था।

५१. प्रत्येक मानव शान्ति चाहता है, क्यों?

आदरणीय सज्जनवृन्द तथा आदरणीया माताओ एवं बहनो!

मैं आपलोगों के दर्शन करने आया हूँ। कुछ प्रवचन करने नहीं; क्योंकि मेरा शरीर स्वस्थ नहीं है। फिर भी माइक मेरे सामने किया गया है, यद्यपि मैं कुछ कहने लायक नहीं हूँ। अच्छा तो सुनें–

प्रत्येक मानव शांति चाहता है, क्यों? इसलिए कि उसका जीवन अशान्त है। यह स्वाभाविक बात है कि जिसको प्यास लगती है, वह पानी चाहता है, जिसको भूख लगती है, वह भोजन चाहता है, जिसको धूप लगती है, वह छाया चाहता है और जिसको जाड़ा लगता है, वह गर्मी चाहता है।

मानव बाहर से हरा-भरा दीखता है; लेकिन भीतर उसका सड़ा-गला पड़ा है। बाहर से वह सुखी प्रतीत होता है; किन्तु भीतर से वह महादुःखी है। बाहर सद्‌व्यवहार; किन्तु अन्तर विकार और दुर्विचार। बाहर सत्ता, सन्तति और सम्पत्ति से भरपूर, फिर भी अन्तर चकनाचूर है। मुख में मुस्कान, अन्तर में म्लान। ऊपर मुस्कुराहट, भीतर घबराहट। ऊपर से क्षोभ, भीतर से लोभ। बाहर प्रीति-प्रतीति, भीतर उसके विपरीत। बाहर मधु, भीतर कटु। बाहर दिखावा सम्मान का, अन्तरंग भाव अपमान का। बाहर सत्कार, अन्दर

दुत्कार। बाहर छोह, भीतर निर्मोह। बाहर परमार्थ, भीतर स्वार्थ। बाहर ज्ञानी, भीतर नादानी। वह बाहर सरल, भीतर गरल। वस्तुतः आज का मानव दानव बना हुआ है। वह बाहर कुछ दिखाता है और उसके अन्दर देखने पर भीतर से वह कुछ और ही दीखता है। यदि कहा जाए कि इस प्रकार के सैकड़ा में निन्यानबे नहीं, सहस्र में नौ सौ निन्यानबे लोग इस रोग के शिकार हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऐसी दयनीय अवस्था में यदि कोई बाह्य विषय की प्राप्ति से शांति की कामना करता है, तो वह धधकती आग में हाथ डालकर शीतलता चाहता है। यद्यपि अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर वह प्रसन्न रहने का अथक यत्न करता है, तथापि परिणाम में वह अपने को खिन्न पाता है, क्यों? इसका कारण क्या है? जबतक रोग का कारण नहीं जाना जाता है, तबतक उसका निवारण भी सम्भव नहीं। हमारे प्राचीन शास्त्रकार कहते हैं—'मूलः नास्ति कुतः शाखाः।' जिसके मूल का ही पता नहीं, उसकी शाखा क्या होगी? जहाँ शाखा नहीं, उसमें फूल या फल की आशा दुराशा नहीं तो और क्या?

गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस विषय की बड़ी ही अच्छी अभिव्यंजना की है। उनकी यह पंक्ति हमें बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है।

सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं।
बरषि गये पुनि तुरत सुखाहीं।।

जिस प्रकार जिस सरिता की जड़ में जल-स्रोत नहीं है, वह वर्षा-जल की आशा में कितने दिनों तक जीवित रह सकती है? अर्थात् वह अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती, सूख जाएगी; किन्तु जिस सरिता का संबंध पाताल से है, वह सूख नहीं सकती, सदा स्थिर रहेगी। इसी भाँति हमारा संबंध जागतिक पदार्थों से है, जो नष्ट होनेवाला है। ऐसा अस्थिर विषय-पदार्थों को पाकर स्थिरता वा शांति मिले, कब सम्भव है? हाँ, 'जो जगत् से विलक्षण, जिसमें न विषय-लक्षण, जो एकरस सकल क्षण' की भाँति हो जाए, तब तो कहना ही क्या है! उस एक को पा जाने पर कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता, सभी करतल-गत हो जाते हैं। वृक्ष अगर स्वस्थ है, तो पत्ते भी हरे-भरे होंगे। अन्दर यदि सुन्दर होगा, तो बाहर भी सुन्दर होगा। तात्पर्य अन्दर जैसा होगा, बाहर भी वैसा होगा। आज मानव का अन्दर अशान्त है। इसलिए वह बाहर संसार में जहाँ भी जाता है, जो कुछ पाता है; उससे शांत नहीं, अशांत रहता है।

मैंने एक पुस्तक में पढ़ा था—स्वामी रामतीर्थ जी महाराज जापान गये थे। उन्होंने देखा कि देवदार के वृक्ष, जिसकी ऊँचाई भारत में दो सौ फीट होती है, वहाँ दो-दो फीट के हैं। विस्मित होकर उन्होंने वहाँ के एक सज्जन से पूछा—ये वृक्ष दो-दो फीट के ही क्यों हैं? उत्तर मिला—'इसकी जड़ रोज काटी जाती है।' उसी तरह हमने अपनी बुद्धिमत्ता की कुल्हाड़ी से आस्तिकतारूपी पादप की जड़ ही काट डाली है, फिर शान्ति कहाँ? साथ में परमात्मरूपी लाल के रहते हुए कंगाल बने हुए हैं। संत कबीर साहब ने कहा है—

लाल लाल जो सब कोइ कहै, सबकी गाँठ लाल।
गाँठी खोलि के परखै नाहीं, तासे भये कंगाल।।

लाल बहुत कीमती—बहुमूल्य पदार्थ है। वह गाँठी में है। जबतक वह गाँठ खुलेगी नहीं, कंगाल बने रहेंगे। गाँठ कहिये, गाँठी कहिये, ग्रंथि कहिये—एक ही बात है। वह गाँठी क्या है? गो० तुलसीदासजी ने इसका स्पष्टीकरण इस भाँति किया है—

जड़ चेतनहिं ग्रंथि पड़ गई।
यद्यपि मृषा छूटत कठिनई।।

वह जड़-चेतन की ही ग्रंथि है। जड़-चेतन की गाँठ खोलने पर परमात्म-रूपी लाल की प्राप्ति होती है। इसको कबीर साहब ने बहुत ही अच्छा कहा है—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।

जिन्होंने उस लाल को पाया, वे मालोमाल हो गये, उनका जीवन निहाल हो गया। वह लाल ऐसा कमाल है कि उसपर काल की भी दाल नहीं गल पाती। क्यों? इसलिए कि जड़-चेतन की ग्रंथि खुलने पर परमात्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है, प्रभु की प्राप्ति हो जाती है। फिर तो परमात्मा को पाकर वे भी परमात्मा ही हो जाते हैं। गो० तुलसीदासजी ने कहा है—

सोइ जानहि जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।।

इसी को मुक्तिकोपनिषद् में भगवान श्रीराम ने श्रीहनुमानजी से कहा था—

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
य आस्ते कपिशार्दूल ब्रह्म स ब्रह्मवित् स्वयम्।।

अर्थात् 'हे कपिशार्दूल! दृश्य और अदृश्य को त्यागकर (पुरुष) कैवल्य-स्वरूप हो जाता है। वह केवल ब्रह्मज्ञानी नहीं, बल्कि स्वयं ब्रह्म ही है।' जिज्ञासा हो सकती है कि वह जड़-चेतन की ग्रंथि कहाँ है? जिसके प्रहीण होने पर जीव शिव या परमात्मा हो जाता है। इस संबंध में सभी संतों ने एक स्वर से कहा है–'वह अपने अन्दर है।' अन्दर में जहाँ गाँठ खुलेगी, वहाँ ही परमात्मा से साँठ-गाँठ होगी। एक लघुकथा है– एक सेठजी थे। उनका लड़का सयाना हो गया था। वह कोई रोजगार नहीं करता था, बैठा रहता था। सेठजी ने कहा–तुम घर पर रहो; मैं बाहर रोजगार करने जाता हूँ। वे बाहर गये। व्यापार किया, पैसे कमाये, पैसे अधिक हो गये, तो उसे लाल में बदलकर उसे एक मनीबेग में रखकर घर की ओर चले; लेकिन जेब में मनीबेग रखते समय किसी ने देख लिया। जिस ट्रेन से सेठजी आ रहे थे, उसी में वह भी सवार हुआ। जिस डब्बे में सेठजी बैठे थे, उसी में उनके निकट वह ठग भी जा बैठा। दोनों में थोड़ी देर बातचीत होने पर उस ठग ने कहा– 'बड़ा अच्छा हुआ। मेरा कोई साथी नहीं था, आप साथी हो गये।' सेठजी उसकी चाल-ढाल से समझ गये कि यह कोई ठग है। वे मन-ही-मन उससे सावधानी बरतने लगे। निश्चित स्टेशन पर दोनों उतरे और एक धर्मशाला में जाकर ठहरे। दोनों आस-पास में अपना-अपना बिस्तर बिछाकर बैठ गये। जब खाने-पीने का समय हुआ, तो सेठजी ने कहा–'आप जाएँ, भोजन कर लें और मेरे लिए भी भोजन लेते आवें।' जब ठग भोजन करने चला गया, तो सेठजी ने अपना मनीबेग उसके बेडिंग के नीचे घुसाकर रख दिया। जब वह भोजन करके आया, तो सेठजी ने भी भोजन किया और निश्चित होकर सो गये; लेकिन ठग को नींद कहाँ? उसकी आँख में तो वह मनीबेग घूम रहा था। जब उसने देखा कि सेठजी गहरी नींद में चले गये, तो उसने उनके पॉकेट, कमर, बिछावन आदि को टटोलना शुरू कर दिया। सारी रात वह मनीबेग खोजता रहा; लेकिन पता नहीं मिला। जब प्रत्यूष हुआ, तो वह मनहूस होकर सो गया। सबेरे जब सेठजी जगे, तो उन्होंने उसको भी जगाया और कहा–'अरे भाई! जागो, सबेरा हो गया।' वह जगा और चाय पीने चला गया। इधर सेठजी ने उसके बेडिंग के नीचे से अपना मनीबेग निकालकर अपने पास रख लिया। जब सेठजी घर की ओर चले, तो वह भी कुछ दूर तक उनके साथ-साथ चला गया। उसके बाद उसने सोचा कि अब सेठजी का लाल लेना सम्भव नहीं। लाचार होकर उसने सेठजी से कहा–'सुनिये, सेठजी! मैं ठग हूँ। मैंने समूची रात आपके बिस्तर, पॉकेट, कमर आदि को टटोला; लेकिन मनीबेग का पता नहीं लगा, जिसमें आपने लाल रखा था। अब तो आप थोड़ी देर के बाद अपने घर पहुँच जाएँगे, कृपया बताने का कष्ट करें कि आपने रात में मनीबेग कहाँ रखा था।' सेठजी ने कहा– 'देखो भाई! तुम जब खाना लाने के लिए बाजार गये थे, उसी समय मैंने मनीबेग को तुम्हारे बेडिंग के नीचे घुसाकर रख दिया था और जब तुम सबेरे चाय पीने गये, तो वहाँ से उसे निकालकर मैंने अपने पास रख लिया। यदि तुम अपने बिछावन में खोजते, तो तुमको अवश्य मनीबेग मिल गया होता; लेकिन तुम तो रात-भर मेरी कमर और पॉकेट टटोलते रहे। फिर लाल-भरा मनीबेग तुमको मिलता कैसे?

ठीक इसी तरह परमात्मा हमारे अन्दर है; लेकिन हम खोजते हैं बाहर-बाहर। ऐसी अवस्था में परमात्मा मिलेंगे कैसे और जबतक परमात्मा मिलेंगे नहीं, शांति मिलेगी नहीं। यह निश्चित जानिये। संत कबीर साहब का कथन है–

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परगट होय।।
कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूँढै बन माहिं।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जानै नाहिं।।
समझे तो घर में रहै, परदा पलक लगाय।
तेरा साहब तुज्झ में, अनत कहूँ मत जाय।।

गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–

घर ही महि अम्रित भरपूर है, मनुषा स्वादु न पाइया।
जिउ कस्तूरी मिरगु न जानै, भ्रमदा भ्रमि भूलाइया।।

कस्तूरी-मृग की उपमा हम भक्तवर सूरदासजी महाराज के वचन में भी पाते हैं, उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा है कि आत्मतत्त्व की प्राप्ति हमें अपने अन्दर हुई, जबतक इस ज्ञान से अनभिज्ञ था, तबतक मैं भी अज्ञ मृग की भाँति भटकता रहा; यथा–

अपुनपौ आपुन ही में पायो।
शब्दहिं शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो।।
ज्यों कुरंग नाभि कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायो।

फिर चेत्यो जब चेतन ह्वै करि, आपुन ही तनु छायो।।

इन संतों के विचार से गो० तुलसीदासजी महाराज के वचन का कितना साम्य है, देखिये–

एहि तन मैं हरि ज्ञान गँवायो।
परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं,
बाहर फिरत विकल भय धायो।।
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद,
अति मतिहीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल,
परम सुगन्ध कहाँ ते आयो।।

गो० तुलसीदासजी के कहने की कला कितनी अच्छी है। वे कहते हैं–कस्तूरी मृगा के अंग-संग है; किन्तु मतिहीनता के कारण उसका मर्म उसको मालूम नहीं। इसलिए भ्रम में पड़कर वह पहाड़, वृक्ष, लता, भूमि तथा बिल में ढूँढ़ता है। उसी तरह परमात्मा भी सबके अन्दर विद्यमान है; किन्तु बुद्धिहीन जन उसी पशु की भाँति प्रभु को यत्र-तत्र खोजते हैं।

सामवेद में एक मंत्र आया है, जिसमें ऋषि ने स्पष्ट कहा है कि वह कल्याणकारी प्रभु तो शरीर में प्रतिष्ठित है, पर मूर्ख लोग तीर्थ में, दान में, जप में, यज्ञ में, काष्ठ में और पाषाण में शिव देखते हैं–

तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते।।

सूरदासजी के विचार बड़े सुलझे और अनुभवपूर्ण हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है–

अपने जान मैं बहुत करी।
कौन भाँति हरि कृपा तुम्हारी, सो स्वामी समुझि न परी।
दूरि गये दरसन के ताईं, व्यापक प्रभुता सब बिसरी।
मनसा वाचा कर्म अगोचर, सो मूरति नहिं नैन धरी।।

जो अरूप है, वह आँख से देखने की चीज नहीं है। उसको आँख से कैसे देख सकते हैं? उसी तरह जो सर्वेश्वर-सर्वाधार मन-वचन और कर्म से अग्राह्य है, वह इन्द्रियग्राह्य कैसे हो सकता है? वास्तविक बात तो यह है कि लोहे के गर्म तवा को हाथ से नहीं, लोहे की सँड़सी से ही पकड़ सकते हैं, इसी तरह परमात्मा को इन्द्रियों से नहीं, चेतन-आत्मा से ही ग्रहण कर सकते हैं। यह निश्चित जानिये कि स्वरूपतः आप जो हैं, वही परमात्मा भी है। इसलिए आप सर्वप्रथम स्वयं को ही जानिये, फिर परमात्मा को पहचानिये।

एक बात और भी समझने की है। विचारवान जन सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। जो अपने को जानता है, वही परमात्मा को भी जान सकता है। जो अपने को नहीं जानता, वह परमात्मा को भी नहीं जान सकता। जैसे जो अपने शरीर को पहचानता है, वही दूसरे के शरीर को पहचान सकता है। जिसको अपने शरीर का ज्ञान नहीं, वह दूसरे के शरीर से भी अनजान रहता है। प्रमाणार्थ जब कोई सो जाता है, तो उसको अपने शरीर का ज्ञान नहीं रहता है। उस समय उसके शरीर से सटकर भी यदि कोई रहता है, तो उसको उसका ज्ञान नहीं होता है। फिर जगने पर पहले अपने शरीर को देखता और पहचानता है, तब दूसरे के शरीर को भी। इसी तरह जो अपने स्वरूप से विज्ञ है, वही परमात्म-स्वरूप से अभिज्ञ हो सकता है।

इसी विषय की परिपुष्टि परम भक्तिन सहजोबाई भी करती हैं। वे कहती हैं–सबके स्नेही राम के दर्शन करना चाहते हो, तो प्रथम अपनी आत्मा की खोज करो।

'आपुन ही कूँ खोज, मिले जब राम सनेही।'

यदि मेरे इस वचन का श्रवण कर किन्हीं की यह धारणा बनी हो कि ये तो ऊँचे ज्ञान और योग की बातें करते हैं, सरल सुगम भक्ति की नहीं, तो मैं निवेदन करना चाहूँगा, आप ज्ञान, योग और भक्ति को भिन्न-भिन्न क्यों समझ रहे हैं। भिन्न-भिन्न भासते हुए भी तीनों अभिन्न हैं; क्योंकि तीनों का अन्योन्याश्रित संबंध है।

अभी मैं आत्मस्वरूप की बात कह रहा था। यथार्थतः स्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति है। यदि मेरी बात का सन्देहात्मक प्रतीत हो, तो श्रीमदाद्य शंकराचार्य कृत विवेकचूड़ामणि ग्रंथ पढ़ें। उसमें उन्होंने लिखा है–

मोक्षकारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वं स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।।

अर्थात् मुक्ति की कारण रूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसंधान करना ही भक्ति कहलाता है।

यदि हम सरलतम शब्दों में कहना चाहेंगे, तो इस तरह कहेंगे–भक्ति का अर्थ है–सेवा-सुश्रूषा। हम किनकी सेवा करें, किस प्रकार सेवा करें, यह 'ज्ञान' आवश्यक है। साथ ही इस सेवा कार्य में यदि मन का

योग नहीं है, तो वह वास्तविक सेवा नहीं हो सकती। इस प्रकार ज्ञान-योग और भक्ति–तीनों संग-संग स्वाभाविक हैं। जैसे लड्डू बनाने में घृत, शक्कर और बेसन तीनों की अनिवार्य आवश्यकता है, वैसे ही ईश्वर-भक्ति में भक्ति, योग और ज्ञान–तीनों अपरिहार्य हैं।

हाँ! एक बात अवश्य है कि कोई ज्ञान को प्रधान, कोई योग को प्रधान और कोई भक्ति को प्रधान मानता है। यह एक दूसरी बात है। एक मजेदार प्रसंग सुनाता हूँ, सुनिये। महामहिम आचार्य विनोबा भावेजी महाराज हैं! इनके निकट सम्पर्क का एक बार सौभाग्य प्राप्त हुआ। बात की बात में वे बता रहे थे; उनके पूज्य दादाजी को मिठाई खाने का बड़ा शौक था। उनकी पूज्या दादी सतत बड़े प्रेम से मिष्टान्न बनाकर उनको खिलाया करतीं। भोजन करते समय वे बोलते कि लड्डू बना तो अच्छा है; लेकिन थोड़ा और शक्कर मिलाती तो और अच्छा होता। दूसरी बार उससे अधिक शक्कर डालकर जब खिलाने जातीं, तो खाते हुए कहते–उस बार से इस बार तो उत्तम बना, फिर भी यदि इसमें शक्कर की मात्रा थोड़ी और बढ़ा दी जाती, तो अत्युत्तम होता।

इस प्रकार जितनी बार वह मिष्टान्न बनाती, कुछ-न-कुछ वे कमी महसूस करते। इस बार उन्होंने कुछ भी अन्न मिलाये बिना मात्र चीनी की ही मिठाई बनायी और उनको खिलाने गयी। मिठाई-भोग लगाते हुए बड़ी प्रसन्नता की मुद्रा में वे बोल उठे–"वाह! आज की मिठाई सबसे अच्छी और स्वादिष्ट बनी है; लेकिन यदि इसमें थोड़ा और खाँड़ मिला दिया जाता, तब क्या कहना! पूर्ण हो जाता।" आदरणीय आचार्य भावेजी की पूज्या दादीजी बोली–"अब इसमें कुछ मिलाने के लिए शेष ही क्या रह गया! इसमें तो अन्न का लेश भी नहीं है।"

हाँ, तो मैं ज्ञान, योग और भक्ति के संबंध में कह रहा था। इन तीनों के लिए या यों कहिये कि तीनों के समन्वय-रूप के लिए जो साधना अपेक्षित है, वह करनी चाहिए। साधना के आरम्भ में सरल-साधना स्वाभाविक है; क्योंकि बिना सरलाक्षर लिखे कोई संयुक्ताक्षर नहीं लिख सकता। इसलिए प्रारम्भ में स्थूल, सगुण भक्ति, फिर सगुण अणोरणीयाम् (विन्दु) रूप की भक्ति, तत्पश्चात् सूक्ष्मतर सगुण निराकार की भक्ति और अंत में सूक्ष्मतम ॐ शब्दब्रह्म वा नाद रूप निर्गुण निराकार की भक्ति कर योग, ज्ञान और भक्ति में परिपूर्ण होगी। इसी में आत्म-साक्षात्कार, परमात्मा का दर्शन और मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसके मार्गदर्शन के लिए क्रियावान शुद्धाचारी संत सद्गुरु की नितान्त आवश्यकता है। ✦

पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में दिनांक ०५.०२.१९७८ ई० को अपराह्नकालीन सत्संग में हुआ था।

५२. नामभेद जाने बिना सकल समझ महँ धूर

जैसे एक वृक्ष में फल लगा हुआ है। उसके फल को तोड़ने के लिए एक नेत्रहीन आदमी ढेला फेंक रहा है और दूसरा नेत्रधारी। अब आप ही बतलाइए, फल तोड़ेगा कौन? जो नेत्रधारी है, वह फल तोड़ेगा। जो नेत्रहीन है, वह भी यदि निरंतर ढेला मारता रहेगा, तो हो सकता है, कभी-न-कभी उसका भी ढेला लग जाए। अतएव ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि नहीं लग सकता, फिर भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है कि उसका ढेला लगेगा ही। परन्तु जो कोई दृष्टिसाधन की क्रिया करते हैं, इस साधन के फलस्वरूप उनको दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है और दिव्यदृष्टि हो जाने से दिव्यफल–नाद की प्राप्ति सरलतापूर्वक हो जाती है। दिव्य दृष्टिविहीन जन दिव्य शब्द को पकड़ेगा, कठिन है। इसलिए आवश्यकता है मानस जप और मानस ध्यान के पश्चात् दृढ़तापूर्वक दृष्टि-साधन करने की। जो दृष्टि-साधन करते हैं, वे ज्योतिर्मय विन्दु को पाते हैं, फिर प्रकाशपुंज में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जो प्रकाशपुंज में पहुँच जाते हैं, वहाँ उनके अनहद नाद की अनुभूति होती है। अनहद नाद यानी जिसकी हद नहीं, सीमा नहीं। उन असंख्य शब्दों में से किस शब्द को कहाँ और कैसे पकड़ा जाए, इसका यत्न संत सद्गुरु से जानना होता है। अनहद नादों की साधना

करते-करते अंत में एक शब्द मिलता है, जिसको अनाहद नाद कहते हैं, सारशब्द कहते हैं। यही नाद परम प्रभु परमात्मा से मिलाता है। श्रीमदाद्य शंकराचार्य जी महाराज इसकी स्तुति करते हैं–

नादानुसंधान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन शाकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥
(योगतारावलि)

हे नादानुसंधान! आपको नमस्कार है, आप परम पद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन, ये दोनों विष्णु के परमपद में लीन हो जाएँगे। पहले भजन-भेद होता है। उसके बाद शब्दभेद यानी नामभेद होता है। भजन-भेद और नाम-भेद एक ही बात नहीं होती है। इसलिए गोस्वामीजी ने लिखा है–

चौदह चारो अष्टदश, रस समझव भरपूर।
नाम भेद जाने बिना, सकल समझ महँ धूर॥
भेद जाहि विधि नाम महँ, बिनु गुरु जान न कोय।
तुलसी कहहिं विनीत वर, जौं विरंचि शिव होय॥

तथा–

बिन दया संतन की मैंहीँ जानना इस राह को।
हुआ नहीं होता नहीं वो होन हारा है नहीं॥
(महर्षि मैंहीँ-पदावली)

दृष्टि-साधन की क्रिया में जो कुशल हो जाता है, उसमें उस शब्द को पकड़ने की योग्यता आती है, जो केन्द्रीय है। जबतक दृष्टिसाधन की क्रिया सही नहीं होती, तबतक कितने लोग कान बंद करके भी सुनते हैं; लेकिन वह केन्द्रीय शब्द नहीं, बिखरे हुए शब्द हैं। जैसे अभी हम यहाँ बैठे हुए हैं और दिल्ली रेडियो स्टेशन का शब्द सुनना चाहें, तो वहाँ के शब्द को पकड़ने के लिए हमें क्या करना होगा? हमारे घर में जो ट्रांजिस्टर है, उसमें दिल्ली के लिए जो अंक नियुक्त है, उस अंक पर सूई रखनी पड़ेगी, तब हम दिल्ली की आवाज पकड़ सकेंगे। कलकत्ते की आवाज सुनना चाहते हैं, तो उस अंक पर सूई रखिए, जो कलकत्ते के लिए नियुक्त है। इसी तरह इंग्लैंड, अमेरिका आदि जहाँ कहीं की भी आवाज हम सुनना चाहेंगे, वहाँ के लिए जो अंक नियुक्त है, उसपर सूई रखिए, वहाँ की आवाज सुन सकेंगे। इसी तरह परम प्रभु परमात्मा की ओर से जो आवाज आ रही है, उस आवाज को पकड़ने के लिए हमें अपने को या अपनी सूई को यानी अपनी वृत्ति को कहाँ रखनी पड़ेगी? संत तुलसी साहब के शब्दों को सुनिए–

कुदरती काबे की तू मेहराब में सुन गौर से।
है आ रही धूर से सदा तेरे बुलाने के लिये॥

कुदरती काबा क्या है? हमलोगों का शरीर है? जिसको योगशिखोपनिषद् में शिवालय और ठाकुरबाड़ी की संज्ञा से अभिहित किया गया है। यथा–

विन्दुनाद महालिंगं शिवशक्तिनिकेतनम्।
देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्॥

अर्थ–विन्दुनाद महालिंग है और शिव-शक्ति का घर है। इस देह को शिवालय कहते हैं। सभी प्राणियों को इसमें सिद्धि मिलती है।

विन्दुनाद महालिंगं विष्णुलक्ष्मीनिकेतनम्।
देहं विष्णवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्॥

अर्थ–विन्दुनाद-रूप जो महालिंग है, वही विष्णु और लक्ष्मी का घर है। इस देह को विष्णु-मंदिर (ठाकुरवाड़ी) कहते हैं। सभी प्राणियों को इसमें सिद्धि मिलती है। और मेहराव किसको कहते हैं? फाटक के ऊपर जो अर्ध गोलाकार होता है, उसको मेहराब कहते हैं। हाँ, तो प्रभु के पास जाने का जो फाटक है, वहाँ भी मेहराव है। आँख की ये दोनों भौंएँ मेहराब के प्रतीक हैं। इसी के बीच में वह स्थान नियुक्त है, जहाँ उस शब्द को पकड़ा जाता है। वहाँ पर अपनी सूई रखिए। सूई रखेंगे तो क्या होगा? विन्दु मिलेगा, जिसको फारसी भाषा में नुख्ता कहते हैं। किसी शायर का कथन है–

नुख्ते के हेर फेर से खुदा तुमसे जुदा हुआ।
नुख्ता जो धरा सर पर खुद ही खुदा हुआ॥
खुदा जुदा की एक ही सुरत नुख्ता भेद बताता है।
नुख्ता नीचे नुख्ता ऊपर नोख्ता आता जाता है॥

संतों ने कहा–इस नुख्ते यानी विन्दु को पकड़ो। जो कोई इस विन्दु-साधना की विधि को जानता है और तदनुकूल साधना करके उसको प्राप्त करता है, तो वही विन्दु प्राप्तकर्ता एक दिन भवसिन्धु पार करता है। जो विन्दु प्राप्त नहीं करेगा, वह भवसिन्धु नहीं तरेगा। विन्दु ग्रहण करनेवाला नाद श्रवण करता है। अनहद नाद की साधना करते-करते अंत में आदिनाद मिलता है, जो परम प्रभु से जाकर मिलाता है; क्योंकि वह नाद परम प्रभु परमात्मा से ही उत्थित है।

नाद में अपने उद्‌गम पर खींचने का गुण होता है। इसलिए परम प्रभु की ओर से जो शब्द आया है, उस शब्द को जो कोई पकड़ता है, खींचकर प्रभु के पास चला जाता है। अभी मैं माइक पर बोल रहा हूँ। इसकी आवाज जितनी दूर तक जाएगी, अँधेरी रात होने पर भी सुननेवाला आवाज सुनते-सुनते मेरे पास आ जाएगा। इसी तरह परम प्रभु की ओर से जो ब्रह्म ध्वनि ध्वनित हो रही है, हमारी ओर आ रही है, उसको जो कोई पकड़ेगा, परमात्मा तक चला जाएगा। यही उलटा नाम है। गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में लिखा है–

उलटा नाम जपत जग जाना।
बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥

वाल्मीकि जी का पूर्व नाम रत्नाकर था। कथा है कि वह बड़ा हत्यारा था। मारकाट में ही उसका जीवन बितता था। इसलिए नारदजी द्वारा उपदेश पाकर भी वह राम-राम उच्चारण नहीं कर सकता था, मरा-मरा कहता था, ऐसा लोग कहा कहते हैं।

अभी हाल में ही गोड्डा जिला संतमत-सत्संग का वार्षिक अधिवेशन डुमरिया हाट में हुआ था। वहाँ एक दारोगाजी, एक वकील साहब और एक डॉक्टर साहब अपने कुछ साथियों के साथ मेरे पास आये थे। उनलोगों ने भी यही बात कही–'रत्नाकर बड़ा पापी था। राम-राम नहीं कह सकता था, फिर भी मरा-मरा जपते-जपते वह ब्रह्म के समान हो गया।' मैंने कहा–सुनिए, आपलोग पढ़े-लिखे विद्वान् हैं, गंभीरतापर्वक विचार कीजिए। जरा सोचिए, जो वर्णमाला का उच्चारण कर सकता है, 'म' और 'रा' यानी 'मरा' उच्चारण कर सकता है, वह 'रा' और 'म' यानी 'राम' उच्चारण नहीं कर सकता, यह कहाँ का न्याय है? क्या कोई बुद्धिजीवी इस बात को स्वीकार कर सकता है कि जो 'म' और 'रा'–'मरा' कह सकता है, वह 'रा' और 'म'–'राम' नहीं कह सकता? वे लोग पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी तो थे ही, मेरी बात को सबने एक स्वर से स्वीकार किया और कहा, आपकी बात युक्तिसंगत और जँचनेवाली है। पुनः मैंने कहा–वकील साहब! एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। 'र' आकार और 'म' यानी 'राम' और इसको उलटने से 'मरा' शब्द बना। यह नाम का उलटना हुआ या अक्षर को उलट दिया गया। नाम नहीं उलटा, यह तो अक्षर उलट दिया गया। उलटा नाम क्या है? उनलोगों ने कहा–यह तो हमलोग नहीं जानते। मैंने कहा– सुनिए, नाभि, हृदय और कंठ–इन तीनों स्थानों में ठोकर लगाकर मुँह के उच्चारण स्थानों का स्पर्श करती हुई जो ध्वनि बाहर निःसृत होती है, उसको बैखरी वाणी कहते हैं। बैखरी का मतलब, जो बिखर गयी। यानी नीचे की ओर से एकत्रित होती हुई ऊपर मुँह में आने के बाद बाहर निकल गयी। संत चरणदास जी महाराज की वाणी है–नाभि से परा, हृदय से पश्यन्ती, कंठ से मध्यमा और मुँह से बैखरी वाणी निकलती है। यथा–

नाभि मध्य वाणी परा, हिय पश्यन्ती सुख्य।
कंठ मध्यमा जानिये, कहूँ बैखरी मुख्य॥

वह वर्णात्मक है। वर्णात्मक शब्द का अर्थ होता है, इसलिए वह सार्थक है और सगुण भी। वर्णात्मक का उलटा ध्वन्यात्मक शब्द होता है। ध्वन्यात्मक का अर्थ नहीं होता, इसलिए उसको निरर्थक कहते हैं। (निरर्थक का अर्थ व्यर्थ नहीं) वह (ध्वन्यात्मक शब्द) परम प्रभु परमात्मा से निःसृत होकर कैवल्य, महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल तक आया है। यह निर्गुण शब्द के ऊपर से नीचे की ओर आया है। इसका स्पष्टीकरण हम इस भाँति कर सकते हैं–एक नाम (शब्द) नीचे से ऊपर की ओर और दूसरा ऊपर से नीचे आता है। एक नाम (शब्द) सगुण है और दूसरा निर्गुण है। एक शब्द पिंड से नाभिचक्र से आरंभ होकर पिंड के मुखस्थान में समाप्त होता है। दूसरा शब्द ब्रह्मांड के परे से निकलकर नीचे पिंड तक जाता है। इस प्रकार एक दूसरे का उलटा होने के कारण इसको 'उलटा नाम' की संज्ञा दी गयी। इसी निर्गुण ध्वन्यात्मक ध्वनि की साधना के द्वारा वाल्मीकि जी ब्रह्म में समाकर ब्रह्मवत् हुए थे।

कहते हैं–सृष्टि के आरंभकाल में परम प्रभु परमात्मा में मौज हुई, मौज हुई तो कम्प हुआ। कम्प शब्दमय और शब्द कम्पमय होता है। इसलिए स्वाभाविक है कि कम्प अपने सहचर ध्वन्यात्मक शब्द के साथ होगा। यह ध्वन्यात्मक शब्द ऊपर से नीचे की ओर आया है। इसका अपना कोई अर्थ नहीं होता, इसलिए इसको निरर्थक कहते हैं और यह निर्गुण शब्द है तथा यही एक दूसरे का उलटा है। इसी ध्वन्यात्मक, निरर्थक, निर्गुण शब्द की साधना

वाल्मीकिजी ने की थी। शब्द-साधना के संबंध में गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में लिखा है–

उलटा नाम जपत जग जाना।
बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।

दूसरी बात यह है कि शब्द में तीन प्रकार के गुण होते हैं–१. ऊपर का शब्द नीचे दूर तक जाता है। २. सुननेवाले को अपने केन्द्र की ओर आकर्षित करता है। ३. शब्द में जो गुण होता है, सुननेवाले को उससे गुणान्वित करता है। इसलिए जो शब्द परम प्रभु परमात्मा से आया हुआ है, उसको जो कोई पकड़ लेता है, वह परमात्मा तक पहुँच जाता है तथा परमात्मा के गुण से गुणान्वित होकर परमात्मा ही हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेनेवाले के लिए ही गोस्वामी जी की 'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई' वाली वाणी चरितार्थ हो जाती है।

इस आदिनाद वा सारशब्द की चर्चा हम पवित्र बाइबिल में भी पाते हैं–"In the beginning was the word was with God. and the word was God." आरंभ में शब्द था। शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर था। इसी शब्द की ओर इंगित कर संत कबीर साहब ने कहा था–

साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि शब्द से प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै।।

गुरु नानक साहब की वाणी में है–

शब्द तत्तु बीर्ज संसार। शब्दु निरालमु अपर अपार।।
शब्द विचारि तरे बहु भेषा। नानक भेदु न शब्द अलेषा।।
शब्दै सुरति भया प्रगासा। सभको करै शब्द की आसा।।
पंथी पंखी सिऊँ न्ति राता। नानक शब्दै शब्दु पछाता।।
हाट बाट शब्द का खेलु। बिनु शब्दै क्यों होवै मेलु।।
सारी स्त्रिष्टि शब्द कै पाछै। नानक शब्द घटै घटि आछै।।

संत दादू दयालजी महाराज इस विषय की परिपुष्टि इस भाँति करते हैं–

एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोय।
आगै पीछै तौ करै, जे बलहीणा होय।।

इस आदि शब्द की क्या विशेषता है, संत कबीर साहब की वाणी में श्रवण कीजिए–

आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह।।

जो कोई आदिनाम को पकड़ लेता है, तो उसके आकर्षण से आकर्षित हो वह परम प्रभु परमात्मा तक चला जाता है और उनसे एकमेक हो अद्वय हो जाता है। कविकुल-कमल-दिवाकर गोस्वामी जी की भाषा में–

सरिता जल जलनिधि महँ जाई।
होहिं अचल जिमि जीव हरि पाई।।

अर्थात जिस तरह सरिता का जल सागर में समाकर सागर ही हो जाता है, उसी तरह जीव भी पीव को पाकर पीव हो जाता है। इसी संदर्भ में भगवान श्रीराम ने भक्त श्रीहनुमानजी को उपदेश देते हुए कहा था–

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवल रूपतः।
य आस्ते कपिशार्दूल ब्रह्म स ब्रह्मवित्स्वयम्।।
(मुक्तिोपनिषद्)

हे कपिशार्दूल! दृश्य और अदृश्य को त्यागकर (पुरुष) कैवल्यस्वरूप हो जाता है। वह केवल ब्रह्मज्ञानी नहीं; बल्कि स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। वह दृश्य और अदृश्य अर्थात् दर्शन और अदर्शन क्या है? दर्शन है ज्योति और अदर्शन है नाद। जो ज्योति और नाद को पार कर जाता है, वह नाम-रूप को पार करके अनामी और अरूपी प्रभु में जाकर मिलता है। यही है–एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा।।–यही परम प्रभु परमात्मा है, उसे पाकर वह वही हो जाता है।

संतमत यही बतलाता है। ईश्वर-प्राप्ति का यही एक रास्ता है। सर्वेश्वर की सर्वोत्कृष्ट साधना पराभक्ति है। परा भक्ति में ये कान काम नहीं करते, ये आँख काम नहीं करतीं, यह नाक काम नहीं करती। कोई भी इन्द्रिय काम नहीं करती, फिर भी बिना श्रवण के सुनते हैं, बिना नेत्र के देखते हैं, बिना जिभ्या के उच्चारण होता है, बिना चरण के नृत्य करते हैं, बिना हाथ के ताल बजाते हैं, बिना अंग का संग होता है, बिना शीश के सेव्य को नमन करते हैं, आदि बड़ी ही अद्भुत बातें होती हैं। संत सुन्दरदासजी के शब्दों में–

श्रवण बिना धुनि सुनै, नयन बिनु रूप निहारै।
रसना बिनु उच्चरै, प्रशंसा बहु विस्तारै।।
नृत्य चरण बिनु करै, हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिलि संग, बहुत आनन्द बढ़ावै।।
बिनु शीश नवे जहँ सेव्य को, सेवक भाव लिये रहै।
मिलि परमातम सों आतमा, परा भक्ति सुन्दर कहै।।

यह परा भक्ति है। हमारे गुरु महाराज ने भी कहा है, यह परा भक्ति का प्रसिद्ध मार्ग है। जैसे सरिता का जल समुद्र में जाकर समुद्र हो जाता है, वैसे ही जीव भी प्रभु से मिलकर प्रभु ही हो जाता है।

विहंग मीनी चाल चलि ज्यों, सरित सों सरित समाहिं।
त्यों नाद सों नादों में चलि, प्रभु पास भक्तन जाहि॥
संतों का मेँहीँ मार्ग यह, 'मेँहीँ' सुनो दे कान।
यहि परा भक्ति प्रसिद्ध मार्गहि, धरु हिय धरि ध्यान॥

(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

हमारे परम पूज्य गुरुदेव का उद्घोष है–

सार शब्द ही नाह मिलावै और नहीं कोई।
मेँहीँ कही जो संतन भाखी बात नहिं निज की॥

इससे बढ़कर और कोई ऊँची भक्ति नहीं है और न कोई ऊँची गति ही है। यही आत्मनिवेदनम् है अथवा जीव का पीव में मिलन कहिये, आत्मा परमात्मा का मिलन कहिये, चाहे आप जो इसकी संज्ञा दीजिए। यही संतमत बतलाता है। इसके लिए घर-वार, परिवार, रोजगार छोड़ने की जरूरत नहीं है। आचार्य बिनोवा भावे ने कहा था–मछली पानी में रहती है। मछली कहे कि पानी की कीमत कुछ नहीं है, मैं दूध में जाकर रहूँगी अथवा उससे अधिक कीमत की चीज घी है, उसमें जाकर रहूँगी, तो मछली न तो दूध में जी सकती है और न घृत में ही जीवित रह सकती है। तो वह पानी में ही और वहाँ ही अपना विकास भी कर सकती है। उसी तरह जिस कुटुम्ब में, जिस परिवार में, जिस समाज में हम हैं, उसी में रहकर हम अपनी उभयलोक उन्नति कर अपना परम कल्याण बनावें।

(शान्ति-सन्देश, मई, १९७८ ई०)

५३. रामनाम अमर नाम भजो भाई सोई

जैसे कमलपत्र पर पानी पड़ने से वहाँ वह नहीं ठहरता, ढरक जाता है, नीचे गिर जाता है, वैसे ही इस पिंड से प्राण-पखेरू कब प्रस्थान कर जाए, इसका ठिकाना नहीं। संत कबीर साहब ने कहा है–

पाँच तत्त्व का पिंजड़ा, ता में पंछी पौन।
रहिबो को अचरज है, गये तो अचरज कौन॥

पुनः वे कहते हैं–

यह तन काँचा कुम्भ है, लिये फिरै थे साथ।
टपका लागा फूटिया, कछु नहिं आया हाथ॥

शरीर की नश्वरता के संबंध में परम भक्तिन सहजोबाई कहती हैं–

पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय।
पीव मिलन को ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय॥
रहिये ना पड़ि सोय, बहुरि नहिं मनुखा देही।
आपुन ही कूँ खोज, मिलै जब राम सनेही॥
हरि कूँ भूले जो फिरै, सहजो जीवन छार।
सुखिया जब ही होयगो, सुमिरेगो करतार॥

इस असार संसार में भगवद्भजन ही सार है। इसलिए ईश्वर का भजन करो। यही सब संतों ने एक स्वर से कहा है। जगत के जितने काम हैं, वे सारे के सारे आपके अभाव में भी पूरे हो सकते हैं; लेकिन एक काम ईश्वर-भजन है, जो आपके बिना आपका यह काम कोई पूरा नहीं कर सकता। जैसे आपको भूख लगे और जिसको आप बहुत प्यारा मानते हैं, उसको भरपेट भोजन करा दें, तो क्या आपका पेट भर जाएगा? कोई रोग आपको हो गया है, उस रोग को दूर करने के लिए आपका जो परम प्रिय है, उसको उस रोग की दवा खिला दें, तो क्या आपका रोग दूर हो जाएग? पाखाने-पेशाब की हाजत आपको लगे और जो आपके अत्यन्त प्रेमी हैं, उनको कहें कि मेरे बदले में आप हो आइए, मुझे फुर्सत नहीं है, तो क्या काम चल जाएगा! वास्तविक बात तो यही है कि खाना आपको है, पीना आपको, सोना आपको, दवा लेनी आपको है, पाखाना आपको जाना है, पेशाब जाना आपको है। ये आपके शरीर-संबंधी जितने आपके काम हैं, जैसे आपके बिना दूसरा कोई नहीं कर सकता, उसी तरह आत्मा-संबंधी जो आपका काम है, वह आपके बिना दूसरा कोई नहीं कर सकता। यहाँ ठीकेदारी से काम चलने की आशा नहीं कीजिए। यह स्पष्ट और सीधी बात समझिए। कोई कहता है–११००० बेल-पत्रों पर रामनाम लिखकर मैं शिव पर चढ़ा दूँगा, २१००० रुपये दक्षिणा के रूप मे मुझको दे दीजिएगा। आपका काम हो जाएगा। इस तरह से काम चलने को नहीं है। भगवद्भजन आपको

स्वयं करना होगा। संतों का जो उपदेश है, बिल्कुल ठोस। उसमें टस-मस होने की कोई बात नहीं है। कुछ भजन-कीर्तन गा लिये, कुछ किताबें पढ़ लीं, कुछ कथाएँ सुन लीं। बहुत-से प्रवचन रटकर लंबा भाषण कर दिया, इससे क्या हुआ? कठोपनिषद् कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषआत्माविवृणुते तनूँ स्वाम्॥

अर्थात् यह आत्मा वेदाध्ययन-द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणा-शक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह (साधक) जिस (आत्मा) का वरण करता है, उस (आत्मा) से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। श्रवण, मनन और अध्ययन द्वारा अर्जित ज्ञान आचरण में उतारने के लिए होता है। श्रवण-मनन किया; किन्तु आचरण नहीं किया, तो क्या लाभ होगा?

स्वामी विवेकानंदजी ने लिखा है—"हम भले ही सारा जीवन पुस्तकों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक हो जाएँ, पर अंत में हम देखेंगे कि हमारी तनिक भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई है। यह बात सत्य नहीं कि उच्च स्तर के बौद्धिक विकास के साथ-साथ मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष की उतनी ही उन्नति होगी। पुस्तकों का अध्ययन करते समय हमें कभी-कभी यह भ्रम हो जाता है कि इससे हमें आध्यात्मिक सहायता मिल रही है, पर यदि हम ऐसे अध्ययन से अपने में होनेवाले फल का विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि उससे अधिक-से-अधिक हमारी बुद्धि को ही कुछ लाभ होता है, हमारी अंतरात्मा को नहीं। पुस्तकों का अध्ययन हमारे आध्यात्मिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। यही कारण है कि यद्यपि लगभग हम सब आध्यात्मिक विषयों पर बड़ी पांडित्यपूर्ण बातें कर सकते हैं, पर जब उन बातों का कार्यरूप में परिणत करने का यथार्थ आध्यात्मिक जीवन बिताने का अवसर आता है, तो हम अपने को सर्वथा अयोग्य पाते हैं। जीवात्मा की शक्ति को जाग्रत करने के लिए किसी दूसरी आत्मा से ही शक्ति का संचार होना चाहिए।" संत पलटू साहब ने कहा है—

इलम सीखा पर अमल नहीं,
अमल बिना इलम खाक है जी।
बेहद्द कथै और हद रहै, उसका तो मुँह नापाक है जी।

कुछ करने के लिए ही कुछ पढ़ा-सुना जाता है और जो कुछ किया जाता है, वह कुछ पाने के लिए ही। साथ ही, यह भी समझ लेना आवश्यक है कि प्राप्तव्य वस्तु भी कुछ ऐसी होनी चाहिए कि फिर कुछ पाना बाकी न रहे, वह क्या है? ईश्वर-प्राप्ति—आत्म-लाभ, इसके बिना सब सूना है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

चौदह चारो अष्टदश रस समझब भरपूर।
नाम भेद जाने बिना, सकल समझ महँ धूर॥

अर्थात् कोई व्यक्ति चारो वेद, छहो शास्त्र, आठो व्याकरण और अठारहो पुराण याद कर लें, छन्द, अलंकार और काव्यरस के भी मर्मज्ञ हों, किन्तु यदि नाम-भेद नहीं जाना, तो भरपूर जानना भी धूल वत् है। आजकल कितने लोग इतिहास-पुराण की कथा लोगों को सुनाते हैं, लोग सुन-सुनकर बाग-बाग हो जाते हैं और कथावाचक की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। लेकिन यह सुनिश्चित समझ लें—कितनी ही अच्छी कथा क्यों न हो, उससे भव-व्यथा दूर नहीं होती। और तो और, जब कथावाचक की व्यथा दूर नहीं होती, तब श्रोता की तो बात ही क्या? किसी सुभाषितकार ने कितना अच्छा कहा है—

पढ़े छहो शास्त्र वो अठारहो पुराण पढ़े।
वेद उपवेद आदि अन्त कोई छाना है॥
गीता रामायण और श्रुति स्मृति पढ़े।
सांख्य योग न्याय आदि दर्शन भी जाना है॥
जाना है बनाना छन्द सोरठा चौपाई को।
जाना है ध्रुपद राग भैरवी का गाना है॥
इतना जो जाना सब खाक धूर छाना है।
जाना है सोई जो स्वरूप पहिचाना है॥

संतों और सद्ग्रंथों की सम्मति है—आत्मा की पहचान करो कि तुम कौन हो? आत्मज्ञान हो गया, फिर अन्य कोई ज्ञान बाकी नहीं रह जाता। जैसे हाथी के पदचिह्न में अन्य सभी जीवों के पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार आत्मज्ञान के अंदर अन्य सभी ज्ञान आ जाते हैं। आत्मज्ञान कैसे होगा? नाम-भेद को जानने से। लेकिन बिना गुरु के इस नाम-भेद का ज्ञान नहीं होता। श्रीगोस्वामीजी ने लिखा है—

भेद जाहि विधि नाम महँ, बिन गुरु जान न कोय।
तुलसी कहहिं विनीत वर, जौं बिरंचि सिव होय॥

अर्थात् विरंचि के समान सृष्टि करने की कुशलता तुममें आ जाए या शिव के सदृश संहार करने की शक्ति तुममें हो जाए, फिर भी संत सद्गुरु के अभाव में नाम के भेद को नहीं जान सकते। इसलिए किसी ने कहा है–

भेद यह गुप्त पाना किसी ग्रंथ से।
है असंभव समझ लो, किसी संत से ॥
बिन दया संतन की मैँहीँ जानना इस राह को।
हुआ नहीं होता नहीं वो होनहारा है नहीं ॥
(महर्षि मैँहीँ-पदावली)

इसलिए नाम का भेद जानो। पहले ही प्रत्यक्ष में जानना तो दूर की बात है। इसलिए पहले समझकर जानो। यह नाम क्या है?

श्रवणात्मक ध्वन्यात्मक, वर्णात्मक विधि तीन।
त्रिविध शब्द अनुभव अगम, तुलसी कहहिं प्रवीण ॥
(गो० तुलसीदासजी महाराज)

वह नाम-भजन कैसे होगा? रामचरितमानस के मर्म को नहीं जाननेवाले धर्म के ठीकेदार का कथन है कि हम तो राम-राम जपते हैं, नाम-भेद जानना क्या है? रत्नाकर जैसा बड़ा पापी, जो राम-राम नहीं कह सकता था, मरा-मरा जपकर तर गया। हम तो स्पष्ट रूप से राम-राम कहते हैं, हमारा उद्धार क्यों नहीं होगा? इसकी पुष्टि में वे रामचरितमानस की इन चौपाइयों की दुहाई देते हैं–

उलटा नाम जपत जग जाना।
बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना ॥
जान आदि कवि नाम प्रतापू।
भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू ॥
(रामचरितमानस)

सज्जनो! जरा गंभीरतापूर्वक विचारिये, उलटा नाम क्या होता है? उलटा नाम का तात्पर्य क्या होता है? कितने ही लोगों का यह कथन है कि रत्नाकर बहुत बड़ा डाकू था, हत्यारा था। उसने बहुतों की हत्या की थी। वह इतना बड़ा पापी था कि मुँह से राम-राम का उच्चारण नहीं कर सकता था। चूँकि बहुत लोगों को उसने मारा था, इसलिए उसके मुँह से 'राम-राम' न निकलकर 'मरा-मरा' शब्द निकलता था। इस तरह 'मरा-मरा' कहते-कहते 'राम-राम' हो गया और उसका उद्धार हो गया।

आज जो थोड़ा-सा भी ज्ञान रखते हैं, थोड़ी-सी भी विद्या जिनके पास है, थोड़ा-सा भी विवेक जिनका संबल है, वे कोई भी बुद्धिजीवी व्यक्ति सोच सकते हैं कि जो कोई वर्णमाला के 'म' और 'रा' का उच्चारण कर सकता है, उससे 'रा' और 'म' का उच्चारण नहीं हो सकते, यह कब संभव है? भले ही जिससे 'म' का और 'रा' का उच्चारण नहीं हो सकते, तो उससे 'रा' और 'म' का भी उच्चारण नहीं हो सकता है। ये तो देवनागरी वर्णमाला के वर्ण हैं, अक्षर हैं। अतएव यह सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि जो 'मरा-मरा' कह सकेगा, वह 'राम-राम' भी कहेगा।

दूसरी बात समझने की यह है कि गोस्वामी जी ने 'उलटा नाम' लिखा है, न कि 'उलटा अक्षर।' 'राम' की जगह 'मरा' कहने से तो 'अक्षर' का उलटना होता है, न कि नाम का।

अतएव अत्यावश्यक है कि हम यह समझने की कोशिश करें कि उलटा नाम क्या है? विपरीत को उलटा कहते हैं। नाम कहते हैं शब्द को। ये शब्द दो प्रकार के होते हैं। एक वर्णात्मक और दूसरा ध्वन्यात्मक। वर्णात्मक शब्द वह है, जो वर्णों में लिखा जाता है और जिसका अर्थ होता है। वर्णात्मक शब्द का अर्थ होता है, इसलिए इसको सार्थक कहते हैं। वर्णात्मक का विपरीत होता है ध्वन्यात्मक। वह वर्णों में नहीं लिखा जाता है और उसका अर्थ भी नहीं होता, इसलिए उसको निरर्थक कहते हैं। हम जो मुँह से राम शब्द का उच्चारण करते हैं, वह वर्णात्मक शब्द है और इसका अर्थ भी है, जैसे–रघुवंशी राम, भृगुवंशी परशुराम, यदुवंशी बलराम। लेकिन एक ऐसा भी राम-नाम है, जो वर्णात्मक नहीं, ध्वन्यात्मक है। उसी ध्वन्यात्मक रामनाम के लिए गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने लिखा है–

बन्दउँ राम नाम रघुवर के।
हेतु कृषानु भानु हिमकर के ॥
विधि हरिहरमय वेद प्रान सो।
अगुन अनुपम गुन निधान सो ॥

राम अर्थात् जो सबमें रमण करे, जिसमें योगी जन रमण करें। रामनाम=सर्वव्यापक शब्द। गो० तुलसीदासजी कहते हैं–मैं रघुवर के रामनाम की वंदना करता हूँ। जो कृशानु, भानु और हिमकर का हेतु है। कृशानु का अर्थ होता है–अग्नि। भानु का

अर्थ होता है–सूर्य और हिमकर का अर्थ होता है–चन्द्रमा। कृशानु में से 'र' निकाल लीजिए, तब क्या होगा? किशानु, जिसका अर्थ अग्नि नहीं होगा। भानु में से 'आ' निकाल लीजिए, तब क्या होगा? भनु, जिसका अर्थ सूर्य नहीं होगा। हिमकर से 'म' निकाल लीजिए, तब क्या होगा? हिकर, जिसका अर्थ चन्द्रमा नहीं होगा। तात्पर्य क्या हुआ? कृशानु में से 'र' लिया, भानु में से 'आ' लिया और हिमकर में से 'म' निकाल लिया, तीनों मिलाकर क्या हुआ? राम। यही राम उक्त तीनों–अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का कारण है। यह भेद है नाम का। पुनः रामनाम की विशेषता बतलाते हुए गोस्वामीजी कहते हैं–

विधि हरिहर मय वेद प्रान सो।
अगुन अनुपम गुन निधान सो॥

अर्थात् वह ब्रह्मा, विष्णु और महेशमय है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश क्या हैं? ब्रह्मा उत्पादक शक्ति है, विष्णु पालक शक्ति और रूद्र विनाशक शक्ति है। जिस राम से तीनों शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, वह कौन है? वह है–ओ३म्। इस ओ३म् की विशद व्याख्या हमारे गुरुदेव ने इस भाँति की है–

अव्यक्त अनादि अनन्त अजय, अज आदि मूल परमातम जो।
ध्वनि प्रथम स्फुटित परा धारा, जिनसे कहिये स्फोट है सो॥
है स्फोट वही उद्‌गीथ वही, ब्रह्मनाद शब्दब्रह्म ओ३म् वही।
अति मधुर प्रणव ध्वनि धार वही, है परमातम-प्रतीक वही॥
प्रभु का ध्वन्यात्मक नाम वही, है सारशब्द सत्‌शब्द वही।
है सत् चेतन अव्यक्त वही, व्यक्तों में व्यापक नाम वही॥
है सर्वव्यापिनि ध्वनि राम वही, सर्व-कर्षक हरि कृष्ण नाम वही।
है परम प्रचण्डिनि शक्ति वही, है शिव शंकर हर नाम वही॥
पुनि राम नाम है अगुण वही, है अकथ अगम पूर्णकाम वही।
स्वर-व्यंजन-रहित अघोष वही, चेतन ध्वनि-सिन्धु अदोष वही॥
है एक ओम् सत्‌नाम वही, ऋषि-सेवित प्रभु का नाम वही।
X X X X X मुनि-सेवित गुरु का नाम वही।
भजो ॐ ॐ प्रभु नाम यही, भजो ॐ ॐ 'मेँहीँ' नाम यही॥
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

इसलिए उसको वेद का प्राण कहा है। वेद के जितने मंत्र हैं, प्रत्येक के आरंभ में ओ३म् जुड़ा हुआ है। यही हेतु है कि बिना ओ३म् का उच्चारण किये वेदमंत्र का उच्चारण नहीं किया जाता है। स्मरणीय है कि जिस ओ३म् का हम मुँह से उच्चारण करते हैं, वह ओ३म् यह नहीं है। वह ओ३म् कैसा है? ज्ञान-संकलिनी तंत्र में लिखा है–

अघोषमव्यंजनमस्वरं च अतालुकण्ठोष्ठमनासिकञ्च।
अरेफजातं परमुष्मवर्ज्जितं तदक्षरं न क्षरते कदाचित्॥

और भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में ओ३म् के संदर्भ में बतलाया है–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

समस्त इन्द्रिय-द्वारों का संयमन करके, मन को हृदय में निरुद्ध करके, प्राण को धारण करके, आत्म-समाधि रूप योग का आश्रय लेकर इस ओ३म् ब्रह्मरूप एकाक्षर शब्द का ध्यान करते हुए जो शरीर का त्याग करते हैं, वे परम गति को प्राप्त करते हैं।

उनके कहने का आशय यह है–अगर ओ३म् को जानना चाहते हो, तो इन्द्रियों के जितने द्वारा हैं, सभी का संयमन करो और मन को हृदय में निरुद्ध कर लो, तब ओ३म् का स्मरण करो। विवेकी जन विचार सकते हैं कि जब सब इन्द्रियों के द्वार बंद हो जाएँगे और मन की गति भी नियंत्रित (अवरुद्ध) हो जाएगी, तब ओ३म् का उच्चारण कैसे किया जा सकता है? यदि इसके उत्तर में कहा जाएगा कि बाहर की इन्द्रियों का संयम कर मन-ही-मन उच्चारण किया जाएगा, तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं है; क्योंकि मन को हृदय में रोककर रखने के लिए कहा गया है।

'मनो हृदि निरुध्य च'। ऐसी स्थिति में जिज्ञासा हो सकती है कि जब समस्त इन्द्रियों के द्वार बंद हो गये, मन भी निरुद्ध हो गया, तब ओ३म् को जानेगा कौन? इसके उत्तर में संत दरिया साहब कहते हैं–

मन बुद्धि चित हंकार की, है त्रिकुटी लग दौड़।
जन दरिया इनके परे, ब्रह्म सुरत की ठौर॥

तथा हाथरस-निवासी संत तुलसी साहब के वचन में है–

सहस कँवल दल पार में, मन बुद्धि हिराना हो।
प्रान पुरुष आगे चले, सोइ करत बखाना हो॥

आशय यह है कि जहाँ मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों की गति नहीं रहती, वहाँ सुरत-प्राणपुरुष-चेतन आत्मा चलेगी। इसी को इसका ज्ञान होगा और यही तत्संबंधी साधना करेगी।

इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि वर्णित ओ३म्

वर्णात्मक नहीं, ध्वन्यात्मक है। ध्वन्यात्मक में भी जड़ात्मक मंडल का जड़ शब्द नहीं, चेतन-मंडल का चेतन शब्द है। इसी को श्रीमद्भागवत में प्राणमय शब्द कहा गया है। यथा–

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विग्राह्यं समुद्रवत्॥३६, अ०३१॥

अर्थात् शब्दब्रह्म अत्यन्त दुर्बोध है। यह प्राणमय, मनोमय और इन्द्रियमय तीन प्रकार का है तथा समुद्र के समान अनंतपार, गंभीर और कठिनता से पार किये जाने योग्य है। इन्द्रियों के द्वारा जिन शब्दों को हम ग्रहण कर सकते हैं, वे इन्द्रियमय हैं। मन के द्वारा गृहीत वा मन के संचरण में जो शब्द होता है, वह मनोमय है तथा प्राण के द्वारा जो शब्द ग्रहण होता है, वह प्राणमय है, कथित ओ३म् प्राणमय है।

इतने विवेचन के बाद भी यदि किन्हीं की समझ में आवे कि वह ओ३म् वा राम-नाम सगुण ही है, तो उनके भी भ्रम निवारणार्थ गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की उपर्युक्त चौपाइयों के बाद पुनः कहते हैं–

विधि हरिहर मय बेद प्रान सो।
अगुन अनुपम गुन निधान सो॥

अर्थात् भाई! वह शब्द सगुण नहीं, अगुण-निर्गुण है। अनुपम=उपमारहित है और गुणनिधान यानी गुणों का खजाना है। उस रामनाम के संदर्भ में प्रातः स्मरणीय परम पूज्य अनंत श्रीविभूषित सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज कहते हैं–

रामनाम अमर नाम, भजो भाई सोई।
सोई सतधुन सब, घट-घट होई॥ १॥
परा न पश्यन्ति न, मधिमा न बैखरि न,
वर्णात्मक हतधुन नहिं कोई॥ २॥
अनहत अनाहत, परसावे सत पद,
पहुँचि जहाँ पुनि, भव नहिं होई॥ ३॥
गुरु भेद धरि-धरि, दिव्य दृष्टि करि-करि,
तीन बन्द बन्द करि, भजो नाम सोई॥ ४॥
'मेँहीँ' मेँहीँ ध्वनि, अन्तर अन्त सुनि,
सुरत रमे गुरु आश्रित होई॥ ५॥
(शांति-सन्देश, मई १९७८)

श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने तीन पुरुषों–क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम का वर्णन किया है, यथा–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥

अर्थात् इस संसार में विनाशी और अनाशी, ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इन दोनों में समस्त प्राणियों के शरीर तो नाशवान यानी क्षर हैं और उन नाशवानों में निवास करनेवाली जो जीवात्मा है, उसको नाशहीन यानी अक्षर कहते हैं।

पुनः उन दोनों विनाशी और अनाशी पुरुषों से भी उत्तम अविनाशी पुरुष है, जो पुरुषोत्तम पुरुष कहलाता है और त्रयलोक में व्यापक होकर सबका धारण-पोषण करता है, वस्तुतः वही परमात्मा-परमेश्वर है। संत कबीर साहब कहते हैं–

सर्गुण की सेवा करो, निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सर्गुण के परे, तहैं हमारा ध्यान॥

सगुण क्षर है और निर्गुण अक्षर। इन दोनों के परे परमात्मा है, ऐसा संत कबीर साहब का भी विचार है। श्रीमद्भगवद्गीता के भाव को इन्होंने अपनी भाषा में इस भाँति अभिव्यक्त किया है। यथा–

छर अच्छर निःअच्छर बूझै, सूझि गुरू परिचावै।
छर परिहरि अच्छर लौ लावै, तब निःअच्छर पावै॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने जिसको पुरुषोत्तम पुरुष कहा है, संत कबीर साहब ने भी उसकी को निःअच्छर शब्द से संबोधित किया है–

अच्छर गहे विवेक करि, पावै तेहि से भिन्न।
कहै कबीर निःअच्छरहिं, लहै पारखी चीन्ह॥

संत गुरु नानकदेवजी भी सगुण-निर्गुण के परे का परमात्मा मान्य है। उन्होंने बतलाया है कि वह सर्वेश्वर-सर्वाधार सगुण यानी रज, सत, तम के परे है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह निर्गुण है। बल्कि निर्गुण से भी वह परे है और निर्लिप्त रहते हुए सर्वत्र भरकर है।

निर्गुण सर्गुण त्रिहु गुण ते दूरि।
नानक अलिप्तु रहिआ भरपूरि॥

इस विषय पर प्रातः स्मरणीय परम पूज्य अनंत श्रीविभूषित संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के विचार पठनीय हैं। उन्होंने कहा है–"परम प्रभु सर्वेश्वर व्याप्य अर्थात् समस्त प्रकृति मंडल में व्यापक हैं; परन्तु व्याप्य को भर कर ही वे मर्यादित नहीं हो जाते हैं। वे व्याप्य के बाहर और कितना अधिक है,

इसकी कल्पना भी नहीं हो सकती; क्योंकि वे अनंत हैं।" गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के शब्दों में हम कह सकेंगे–

व्यापक व्याप्य अखंड अनंता।
अखिल अमोघ शक्ति भगवंता॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥

संत दादू दयालजी महाराज के विचार में है–प्रभु अगम है, अकथ है, अविगत है, सर्वगत है और अंतरपट के अंत में अवगत होता है। वह सगुण तो है ही नहीं, अगुण भी नहीं है; किन्तु तीन शून्यों–अंधकार, प्रकाश और शब्द के परे विद्यमान है; यथा–

अविगत अंत अंत अंतरपट, अगम अगाध अगोई।
सुन्नी सुन्न सुन्न के पारा, अगुण सगुण नहिं दोई॥

संत गरीबदासजी महाराज ने सगुण और निर्गुण को प्रभु का अंश माना है और कहा है कि पिंड-ब्रह्मांड सबको भरपूर करने के बाद भी वे रमते राम हैं अर्थात् इसके भी परे हैं। यथा–

निरगुन सरगुन सब कला, बहुरंगी बरियाम।
पिंड ब्रह्मांड पूरन पुरुष, अवगत रमता राम॥

अंत में, परम पूज्य सद्गुरुदेव के वचन में हम कह सकेंगे–जड़ात्मक सगुण प्रकृति वा अपरा प्रकृति नाना रूपों में रूपान्तरित होती रहती है। इसलिए इसे क्षर और असत् कहते हैं। चेतनात्मक निर्गुण प्रकृति वा परा प्रकृति रूपांतरित नहीं होती, इसीलिए इसको अक्षर और सत् कहते हैं। परम प्रभु सर्वेश्वर सत् और असत् तथा क्षर और अक्षर से परे हैं।

सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर, औरु अक्षर पार में।
निर्गुण सगुण के पार में, सत् असत् हू के पार में॥

(शांति-सन्देश, जून १९७८)

५४. त्रिविध जीव जग बेद बखाने

तीन प्रकार के प्राणी हुआ करते हैं। एक को जड़ प्रधान, दूसरे को कर्म प्रधान और तीसरे को ज्ञान प्रधान कहते हैं। जड़ प्रधान प्राणियों में वृक्ष, पर्वत आदि हैं। कर्म-प्रधान प्राणियों में पशु-पक्षी आदि हैं। ज्ञान-प्रधान प्राणी में मानव हैं। मानव बुद्धिमान प्राणी हैं, ज्ञानवान प्राणी हैं। और इसके ज्ञान का विकास इतना हो सकता है कि वह अपना विकास करते-करते उस परब्रह्म परमात्मा का प्राप्त कर उस स्वरूप में एकमेक हो सकता है।

हमलोगों का शरीर अस्वस्थ होता है। डॉक्टर और वैद्य के पास जाते हैं, चिकित्सा कराते हैं। महात्मा गाँधीजी ने कहा–"स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का वासा हो, तो पूर्ण स्वस्थ हैं।" अपने शरीर की स्वस्थता के लिए अच्छे-से-अच्छे वैद्य, अच्छे-से-अच्छे डॉक्टर से अच्छी-से-अच्छी चिकित्सा कराते हैं। शरीर की चिंता जितनी हमलोगों को रहती है, मन की चिंता शायद कम रहती है। हमारा मन रोगी है या नीरोगी है, इसकी परवाह हमलोग नहीं करते। जबकि शरीर रोगाक्रान्त होकर अगर छूट भी जाए, तो उससे एक जन्म का जीवन जाता है, किन्तु मन अगर अस्वस्थ होकर इस शरीर के साथ चला जाय, तो जन्म-जन्मांतर दुःखों में भटकना पड़ता है।

साधारणतया लोग कहते हैं कि हमलोगों का मन बीमार कहाँ है? रोगी कहाँ है? मन तो बिल्कुल साफ है, स्वच्छ है, पवित्र है। संत-महात्मा लोग कहते हैं–गहराई में पैठकर देखो, तुम्हारा मन स्वस्थ है या अस्वस्थ है? जो चीनी हमलोग खाते हैं, देखने में बड़ी अच्छी मालूम पड़ती है–साफ। कुछ भी मैल उसमें मालूम नहीं पड़ती। लेकिन चूल्हे पर उसे चढ़ाओ, पानी में घोल दो, नीचे से आग दो, तो देखोगे कि मैल उससे निकल रही है। फिर उसमें दूध डालते हैं और उसकी मैल काटकर निकालते हैं। जिस तरह चीनी साफ मालूम पड़ती है; लेकिन उसमें मैल है, उसी तरह हमलोग समझते हैं कि हमारा मन नीरोग है, लेकिन मन में रोग है। इस मन के रोग का पता कब चलता है? जिस तरह से चीनी को चूल्हे पर चढ़ाकर आँच देते हैं, तो मैल मालूम पड़ती है, उसी तरह जब आप ध्यान करने बैठिये, तब देखिये आपका मन रोगी है या नहीं है। बैठते हैं हम जाप करने के लिए; लेकिन जाप करते-करते ही हम कितना पाप करने लगते हैं, ठिकाना नहीं। बैठते हैं हमलोग पूजा करने के लिए; लेकिन विषय का भूँजा फाँकने लग

जाते हैं वहाँ। यह क्या है? यह नीरोग मन का लक्षण नहीं है। जिसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य–ये षट विकार हैं, क्या वह मन भी कभी नीरोग कहा जा सकता है? जबतक हम षट्विकार के शिकार होते जाते हैं, तबतक हमारा मन रोगी है। अपने हृदय पर हथेली रखकर क्या हम कोई कह सकते हैं कि हमारे मन में कोई विकार नहीं। गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

काम वात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजहिं सन्निपात दुखदाई॥

काम का विकार वात रोग है, कफ का विकार 'लोभ अपारा'। 'क्रोध पित नित छाती जारा'। अब किन्हीं अच्छे कविराज से पूछिए, जहाँ ये तीनों मिल जाएँ–कफ, पित्त, वात; उस रोगी की क्या हालत होगी? त्रिदोष की बीमारी हो गई। 'उपजै सन्निपात दुखदाई'। जब हमारे अंदर में काम, क्रोध, लोभ–ये तीनों हैं, तो हमारा मन स्वस्थ है या अस्वस्थ है, समझिए। किस प्रकार का रोग है, यह भी समझिए।

विषय मनोरथ दुर्गम नाना।
ये सब सूल नाम को जाना॥

ये सब रोग हैं। ये ही रोग हमलोगों को बंधन में डालते हैं। बंधन ही दुःख का कारण है। 'मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः।' मन ही बंधन में डालता है, मन ही मुक्त करता है। जबतक हमारे अंदर के विकार हैं, बंधन है। इन विकारों से मुक्त हो जाएँ, तो हम बंधन से मुक्त हो जाएँगे। इन विकारों से हम कितने आक्रान्त हैं कि आध्यात्मिकता हमको सूझ नहीं रही है। मूर्च्छित है अध्यात्म-ज्ञान की ओर से। संत महात्मा लोग कहते हैं–देखो मन की अवस्था। खोज करके देखो, टटोल करके देखो। विचार की दृष्टि से देखो। संसार में तीन प्रकार के लोग हैं–

विषयी साधक सिद्ध सयाने।
त्रिविध जीव जग बेद बखाने॥
–गोस्वामी तुलसीदास

एक विषयी प्राणी होते हैं, दूसरे साधक होते है और तीसरे सिद्ध होते हैं। संतों ने उपमा दी हैं। विषयी लोग कैसे होते हैं? जिस तरह से गुबरैला मक्खी होती है। साधक लोग कैसे होते हैं, जैसे हमलोगों के घरों की जो मक्खियाँ हुआ करती हैं, वैसे और जो लोग सिद्ध होते हैं, वे कैसे होते हैं? वे होते हैं मधुमक्खी जैसे। गुबरैला कहते हैं, उस मक्खी को जो बाहर मैदान में लोग टट्टी (शौच) करने जाते हैं न, उन टट्टियों को वह इकट्ठा करती है गोली बना-बनाकर। नजदीक ही में फुलवाड़ी हो, अच्छे-से-अच्छे फूल लगे हों, कितनी भी उत्तम सुगंध उस फुलवाड़ी में क्यों न हो; लेकिन वह गुबरैला मक्खी फुलवाड़ी में नहीं जाती है। एक संत ने कहा–भूत पिशाच जो पूजते हैं, वे जाकर होवै भूत है जी।

भगवान श्रीकृष्ण ने भी तो कहा है–'भूतों की पूजा करनेवाले भूतलोक को जाते हैं, पितृ की पूजा करनेवाले पितृलोक को जाते हैं। मेरा भजन करनेवाले मेरे पास आते हैं। संत कहते हैं–

भूत पिशाच जो पूजते हैं, वे जाकर होवै भूत है जी।
भूत जोनि भरमत फिरै, याको नहीं याकूत है जी॥
गुबरैला फूल पर न बैठे, वह जाकर बैठे गुह-मूत पे जी।
पलटू कुल रीत नहिं छोड़ै, जहाँ बाप गया वहाँ पूत है जी॥

जैसे वह गुबरैला मक्खी पाखाने की गोलियाँ बनाती है, उसी तरह जो विषयी लोग होते हैं, वे विषयों का ही मंथन करते रहते हैं। कितनी भी सत्संग की चर्चा हो; लेकिन वे वहाँ नहीं जायेंगे; क्योंकि उनको विषयों से ही फुर्सत नहीं है। ये होते हैं विषयी। दूसरे होते हैं साधक। साधना करनेवाले साधना करते हैं। उनकी उपमा दी गई है घरों की मक्खियों से। हमारे घरों में जो मक्खियाँ होती हैं, वे क्या करती हैं? हमारे यहाँ जो मिठाइयाँ बनती हैं, उन मिठाइयों का स्वाद लेती हैं। यदि बच्चे ने पाखाना कर दिया है, तो उड़कर पाखाना पर भी जा बैठती हैं। पाखाने पर भी जायेंगी वे उड़कर और मिठाई पर भी उड़कर आयेंगी। यह साधक की अवस्था है। साधना करता है भगवान की भक्ति का रसास्वादन करने के लिए; लेकिन उसका मन उड़-उड़कर कभी विषयों की फुलवाड़ी में भी जाता है और इधर से उड़ा दीजिए तो भगवान का जप-तप करने लगेगा। यह है साधक की गति। और जो सिद्ध लोग होते हैं, वे मधुमक्खी के समान केवल मधु-संग्रह करते हैं–भगवद्रस केवल लेते हैं। अब हम अपने को समझ लें कि किसमें हैं? दूसरे को कहने की आवश्यकता नहीं है, हम किस श्रेणी में हैं, अपने समझ लें और उसके लिए उपाय करें।

रोगी मन के लिए दवा चाहिए। लक्ष्मणजी को वाण लग गया मेघनाद का। मूर्च्छित हो गये। अब बतलाया गया कि अगर रातभर में औषधि आयी, तब तो लक्ष्मण के प्राण बचेंगे, अन्यथा बचने की आशा नहीं है। वहाँ जाने में कई साल का समय लगता है। केवल रातभर की अवधि है। भगवान बड़े चिंतित हुए। हनुमानजी ने देखा कि हमारे प्रभु बहुत ही चिंतित हैं, उन्होंने कहा, 'भगवन्! आप क्यों चिंतित हैं?' तो भगवान ने कहा, 'देखो, रातभर की अवधि है। अमुक-अमुक औषधियाँ हैं। अगर लायी जायँ, तो लक्ष्मण बच सकते हैं, अन्यथा लक्ष्मण के जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। लक्ष्मण नहीं रहेगा, तो कौन-सा मुँह लेकर मैं अयोध्या जाऊँगा।' हनुमानजी ने कहा, 'भगवन्! आपको चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं ले आऊँगा दवा।' भगवान राम ने पूछा, 'जाने-आने में दस साल लगते हैं। रातभर में ला सकोगे?' उन्होंने कहा, 'आपकी कृपा चाहिए, आपका आशीर्वाद चाहिए।'

हनुमानजी चले औषधि लाने के लिए। चार प्रकार की औषधियाँ उनको बतलायी गयी थीं, सुषेण वैद्य ने बतलायी थी। हनुमानजी चले। इधर गुप्तचर लगा हुआ था रावण का कि राम क्या कर रहे हैं? गुप्तचर खबर देता है रावण को कि औषधि लाने को चल पड़ा है हनुमान। रावण के वश में सभी देवता थे। उन्होंने सूर्य से कहा, 'जाकर तुम उदयाचल पर उदित हो जाओ।' सूर्य ने कहा, 'अभी आधी रात हुई है, आधी रात अभी बाकी है। रात पूरी होगी, तभी मैं उदित होऊँगा।' रावण ने कहा, 'नहीं, तुम्हें अभी उदित होना है।' तबतक हनुमानजी पहुँच गये वहाँ, जहाँ औषधि थी। औषधि खोज रहे हैं पहाड़ पर। इधर कुछ साफ-सा मालूम पड़ने लगा। हनुमानजी ने सोचा, 'अन्याय हो गया। उदित हो गया सूर्य, तो दवाई लेकर मैं क्या करूँगा?' मारी छलांग, पहुँच गये सूर्य के पास। सूर्य से कहा, 'सुनिये, आप देवता के पक्ष में हैं कि दानव के पक्ष में?'

सूर्य ने कहा, 'हूँ तो देवता के पक्ष में; लेकिन दानव के वश में हूँ, तो उपाय क्या है?' हनुमानजी ने पूछा—'तो क्या आप उदित हो जायेंगे?' उन्होंने कहा, 'रावण की आज्ञा है, उदित होने की।' हनुमानजी ने कहा, 'एक बात मैं आपके कान में कहता हूँ। मेरी बात सुन लीजिए। फिर आपको उदित होना हो, तो हो लीजिएगा।' सूर्य को अपने पास जैसे ही बुलाया कि पकड़कर अपनी काँख में दबा लिया। चले गये पहाड़ पर। औषधि लेकर आये लक्ष्मणजी के पास।

सुषेण वैद्य ने उन औषधियों को निकाला। कथा लंबी है, उस ओर नहीं जाऊँगा। एक औषधि का नाम था विशल्यकरणी, दूसरी औषधि का नाम था अस्थिसंचारिणी, तीसरी औषधि का नाम था सुवर्णकरणी, चौथी औषधि का नाम था मृतसंजीवनी। पहली औषधि सुँघायी गयी लक्ष्मणजी को, तो उसका नाम ही था विशल्यकरणी, जितनी लगी हुई थीं उनके शरीर में तलवारें, तीर, भाले सबके-सब आप ही निकल गये। दूसरी अस्थि संचारिणी जड़ी सुँघायी गयी। जो उनकी हड्डियाँ टूट गयी थीं, मुड़ गयी थीं, इसके सुँघाने से सारी-की-सारी हड्डियाँ अपनी-अपनी जगह पर जुट गयीं। हड्डियाँ जुट गयीं, लेकिन हथियार लगने के घाव शरीर में थे। सुवर्णकरणी जड़ी सुँघायी गयी। सभी घाव मिट गये, दाग कुछ भी नहीं रहा। सोने के समान शरीर सुवर्णकरणी जड़ी के सुँघाने से हो गया। पीछे उनको मृतसंजीवनी जड़ी सुँघायी गयी। जीवित हो उठे।

लक्ष्मणजी को तो मेघनाद का वाण लगा हुआ था और हमलोगों को काल का वाण लगा हुआ है। काल के गाल से कोई बच नहीं सकता। काल के आगे किसी की दाल नहीं गल सकती। लेकिन परमात्मा-रूपी लाल को जो पा सकता है, उसी का जीवन निहाल हो सकता है। ये जड़ियाँ, ये ज्ञान हमलोगों को भी चाहिए। संतमत बतलाता है कि ये जड़ियाँ हैं—जिसको विशल्यकरणी कहते हैं, वह है मानस जप। जिसको अस्थिसंचारिणी कहते हैं, वह है मानस ध्यान। जिसको सुवर्णकरणी कहते हैं, वह है दृष्टियोग। जिसको मृतसंजीवनी कहते हैं, वह है नादानुसंधान। जो कोई ठीक-ठीक मानस जप कर पाता है, उसके जितने विकृत विकार हैं, वे सब दूर हो जाते हैं। जप में जप और जापक रहे, बीच में कुछ न रहे, वह है जप। यह जप नहीं है, यह सुमिरन नहीं है कि—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआँ तो दह दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥

एक बार बादशाह अकबर गये शिकार खेलने

के लिए और समय हो गया नमाज पढ़ने का। उसी जंगल के एक बगल में उन्होंने चादर बिछा दी और नमाज पढ़ने लग गये। एक कोई महिला थी, जिसके पति को विदेश गये कुछ वर्ष हो गये थे। किसी ने आकर कहा, 'तुम्हारे पति आ रहे हैं।' विह्वल होकर उनसे मिलने के लिए वह बढ़ी अपने घर से। बादशाह की चादर पर होती हुई वह आगे बढ़ गयी। बादशाह अकबर नमाज पढ़ रहे थे, उस समय वे कुछ बोले नहीं। मन में कुछ खेद हुआ तो जरूर। वह महिला जब वापस लौटी कि नमाज समाप्त हो गया। बादशाह लाल-लाल आँखें करके बोले कि तुमको कुछ तमीज नहीं है! तुमने देखा नहीं कि मेरी चादर बिछी थी नमाज पढ़ने की, उसपर से तुम चली गयी। वह महिला कहती है–

नर राची सूझी नहीं, तू कस लखे सुजान।
पढ़ी कुरान बौरे भये, ना राची रहमान॥

वह महिला कहती है, 'मैं तो जागतिक पुरुष के प्रेम में इतनी पग गयी थी कि मेरा पग कहाँ पड़ रहा था, यह मुझे मालूम नहीं था। लेकिन आप तो जगत्पति की आराधना कर रहे थे, आपकी दृष्टि कैसे पड़ गयी मुझपर!' तो यह जप नहीं है। जप में एकाग्रता चाहिए। जप जब एकाग्रतापूर्वक होता है, तो शास्त्र कहता है, 'जपात् सिद्धिः' जप से सिद्धि मिल जाती है।

एक सत्संगी का लड़का अभी भी मौजूद है। जिस समय गुरु महाराज स्वस्थ थे, स्वयं दीक्षा दिया करते थे, वह लड़का उस समय आई०एससी० में पढ़ता था। दीक्षा ली थी गुरु महाराज से। उसने कुछ किया। उसमें यह सिद्धि आ गयी थी कि आप जो प्रश्न करते, उस प्रश्न का उत्तर वह मुँह से नहीं दिया करता था। लकड़ी के कोयले को पीसकर पुड़िया बनाकर रखे हुए था। जब कोई प्रश्न पूछते तो उस काजल को वह अपनी बाँह पर लेप लेता है। प्रश्न का उत्तर उसकी बाँह में निकल आता। यह तमाशा करने लगा वह। गुरु महाराज को यह बात मालूम हुई। गुरु महाराज ने उसके पिता से कहा, 'लड़के को मना कर दीजिए। यह सब तमाशा की चीज नहीं है।' उसको मनाही की गयी। लेकिन लड़के ने मानी नहीं बात। गुरु महाराज ने कहा, 'उसको यहाँ भेज दीजिए।' उसके पिता उसको लेते हुए यहाँ कुप्पाघाट आये। कुप्पाघाट आश्रम में बहुत-से लड़के रहते हैं। उनलोगों ने पूछा, 'बताओ, इस बार हम परीक्षा में फेल होंगे या पास? कितने नम्बर आयेंगे?' वह बताने लगा उनको। लड़के की बारी जब खत्म हो गयी, तो बड़के की बारी आयी। कहा–'चलो, गुरु महाराज के सामने ही पूछेंगे, उत्तर देना, तो समझेंगे कि ठीक है।' गुरु महाराज ने तो मनाही कर दी थी।

मायापति सेवक सन माया।
करइ तो उलटि परइ खगराया॥

जिनकी माया था, उनके सामने ही वह माया दिखाने पहुँच गया। गुरु महाराज बैठे हुए थे और जो सत्संगी लोग वहाँ थे, वे सब भी बैठ गये। प्रश्न कर दिया। काजल उसने पोता। काजल पोता ही रह गया, कुछ नहीं निकला, समाप्त हो गया।

जो एकाग्रतापूर्वक जप भी कर पाता है, उसमें सिद्धि आ जाती है; लेकिन यह दिखलाने की चीज नहीं है। एक बंगाली महात्मा ने कहा है–

जाँक जम के कर्ले पूजा, अहंकार हय मने मने।
तूमि लुकिये ताँरे कर्बे पूजा, जानबे ना रे जगज्जने॥

रामकृष्ण परमहंसजी महाराज ने कहा, 'यथार्थ में जो ध्यान करनेवाले होते हैं, रात में जब सब सो जाते हैं, तो वे ध्यान करते हैं।' लगता है कि वे सोये हुए हैं। यह दिखाने की चीज नहीं है। एकाग्रतापूर्वक यदि जप हो जाए, तो जितने दुर्विकार है, दूर हो जाते हैं, जैसे सभी शल्य निकल जाते हैं।

जो कोई मानस ध्यान करते हैं, वह ध्यान अस्थिसंचारिणी जड़ी का काम करता है। अस्थि संचारिणी जड़ी से टूटी हुई हड्डियाँ आकर जुड़ जाती हैं अर्थात् हमारी बिखरी हुई वृत्तियाँ आकर जुड़ जाती हैं। अगर मानस ध्यान ठीक से कोई कर पाता है, तो गुरु नानक देवजी कहते हैं–

सतगुर की मूरति रिदै बसाए। जो ईछै सोई फल पाए।

अगर ठीक-ठीक मानस ध्यान कर पाता है, तो जो कामना करेगा, वह पूरी हो जाएगी। आपलोगों ने पढ़ी होगी कथा एकलव्य की। एकलव्य आचार्य द्रोण के पास गया था धनुर्विद्या सीखने के लिए। लेकिन द्रोणाचार्य ने धनुर्विद्या नहीं सिखलायी। उन्होंने कहा, 'मैं केवल राजपुत्रों को ही यह विद्या सिखलाता हूँ। लेकिन इसने धारण कर लिया अपने मन में कि ये ही गुरु हैं। आचार्य द्रोण की मूर्ति की प्रतिष्ठा करता

है वह जंगल में आकर। उनका वह ध्यान करता है और जैसे-जैसे संकेत मिलता है, वैसे वैसे वह शर-संधान करता है। शर-संधान करते-करते वह इतना कुशल निकलता है कि कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता। आचार्य द्रोण ने अर्जुन से कहा था कि तुमसे बेशी किसी को नहीं सिखलाऊँगा। वह अर्जुन से भी विशेष निकला। जब सब-के-सब पाँचो भाई पांडव गये जंगल में आचार्य द्रोण के साथ, तो उनके साथ में एक कुत्ता भी गया था।

एकलव्य बैठकर ध्यान कर रहा था। कुत्ता भूँकने लग गया। ध्यान उसका भंग हो गया। इतने तीर मारे उस कुत्ते के मुँह में कि उनका मुँह तरकश हो गया। एक भी बूँद खून की नहीं निकली। मुँह भर गया, वापस हुआ कुत्ता। अर्जुन की दृष्टि पड़ी कुत्ते पर। अर्जुन ने पूछा–'गुरुदेव! आपने तो कहा था कि तुमसे बढ़कर धनुर्विद्या की शिक्षा किसी को नहीं दूँगा। मुझसे बढ़कर यह विद्या किसको दी?' द्रोण ने कहा, 'मैंने तो इस तरह की विद्या किसी को नहीं दी है। चलो, आगे इसका भेद खुलेगा।' सब-के-सब वहाँ पहुँच गये, जहाँ एकलव्य ध्यान कर रहा था। पग की आहट से उसका ध्यान भंग हुआ, तो देखता है कि आचार्य द्रोण हैं। पैर छूकर प्रणाम करता है।

आचार्य द्रोण पूछते हैं, 'कुत्ते को इस तरह किसने वाण मारा है।' एकलव्य ने कहा, 'आपका जो शिष्य है, उसने मारा है।' द्रोण ने पूछा, 'वह मेरा शिष्य कौन है?' उसने कहा, 'मैं।' द्रोण ने पूछा, 'कब तुमने मुझसे शिक्षा ली, कब तुम मेरे शिष्य बने?' उसने कहा, 'महाराज! मैं जब आपके यहाँ दीक्षा लेने गया था, तो आपने मुझे दीक्षा नहीं दी थी, तो मैंने आपको गुरु मान लिया और आपकी मूर्ति का गठन करके साधना की, उसका जो परिणाम है, सो आपके सामने है।' एकलव्य के मन में केवल यही कामना थी कि धनुर्विद्या में मैं कुशल हो जाऊँ, तो कुशल हो गया। यह मानस ध्यान में गुण है। जो मानस जप, मानस ध्यान एकाग्रतापूर्वक कर लेते हैं, तो उनमें वह शक्ति आ जाती है कि वे दृष्टिसाधन करें।

दृष्टि-साधन करने से क्या होता है? दृष्टि की धार जो फैली हुई है, उसको एक करना, यही क्रिया सभी संतों ने बतलायी है। चाहे वे वैदिक धर्मावलंबी हों, चाहे इस्लाम धर्मावलंबी वा ईसाई धर्मावलंबी हों या किसी भी धर्म के माननेवाले क्यों न हों। ईसा मसीह ने कहा था–"यदि तुम्हारी आँख एक हो जावे, तो तेरा सारा शरीर उजियाला होगा। यदि तुम्हारी आँख एक नहीं है, तो देख लो कितना बड़ा अंधकार है।" यह दृष्टिसाधन की क्रिया है।

मुहम्मद साहब यही सीधा रास्ता बतलाने के लिए आये थे। यही हमलोगों को वेद कह रहा है। उपनिषद् कह रही है–"तमसो मा ज्योतिर्गमय।' प्रकाश में जाने की कला है दृष्टि-साधन। जो यह कला जानते हैं, वे अंधकार से प्रकाश में जायेंगे।

कितने तो कहते हैं–प्रकाश तो है नहीं, ज्ञान का विकास हो गया, यही प्रकाश है। लेकिन ज्ञान का विकास होता है कहाँ है? केवल स्कूल और कॉलेज के ज्ञान से जो नॉलेज आता है, वह क्या है? वह पोथी की थोथी बुद्धि है। यथार्थ में अगर प्रकाश पाना चाहें, यथार्थ में जो ज्ञान पाना चाहें, तो ज्ञान का लोक कहाँ है? ज्ञान का लोक आँख से ऊपर है। ज्ञान का लोक आँख से नीचे नहीं है। आँख के नीचे जितना जाइए, अज्ञानता है। आँख से ऊपर जाइये ज्ञान है। ज्ञान की दिशा आँख से ऊपर है।

स्वामी विवेकानन्दजी बी०ए० थे। आजकल कितने बी०ए० हैं, ठिकाना नहीं। मगर उतनी प्रतिभा क्यों नहीं है? स्वामी विवेकानंद ने कहा था–'यह मनुष्य का मस्तिष्क अनंत ज्ञान का भंडार और अछोर पुस्तकालय है।' अगर विद्वान् बनना चाहते हो, तो मस्तिष्क का अध्ययन करो। कबीर साहब पढ़े-लिखे नहीं थे। कभी स्कूल-कॉलेज गये नहीं। 'मसि कागज छुऔं नहीं, कलम गही न हाथ।' उनसे किसी ने प्रश्न कर दिया–'आप स्कूल-कॉलेज गये नहीं, आप इतने बड़े विज्ञानी कैसे हो गये? उन्होंने कहा–

मैं मरजीवा समुँद का, डुबकी मारी एक।
मुठी लाया ज्ञान का, जामें वस्तु अनेक॥

कबीर साहब ने समुद्र में डुबकी लगायी और ज्ञान प्राप्त किया। किस समुद्र में डुबकी लगायी थी–हिन्द महासागर में, अरब सागर में, प्रशान्त महासागर में, एटलांटिक महासागर में? पूछा उनसे किसी ने–'किस समुद्र में डुबकी लगायी, जो ज्ञान मिला। उन्होंने कहा–

कबीर काया समुँद है, अन्त न पावै कोय।
मिरतक होय के जो रहै, मानिक लावै सोय॥

'यह शरीर सागर अवगाहा।
यहि कर कोइ पावत नहिं थाहा।।'
'अन्तर उलटि निरेखै जोय।
आपा मेटिहैं जावै सोय।।'

संत कबीर साहब कहते हैं—

'उलटि समाना आप में, प्रगटे ज्योति अनन्त।'

संत गुलाल साहब कहते हैं—

उलटि देखो घट में जोति पसार।

मुहम्मद साहब ने कहा है, जो कुरान के पहले पन्ने में लिखा हुआ है—हे परवरदीगार! मुझे सीधा रास्ता बतला। उसका रास्ता कौन-सा है? एक फकीर ने बतलाया—

सुन ऐ तकी न जाइयो जिनहार देखना।
अपने में आप जलवए दिलदार देखना॥

अपने आप में ही प्रकाश है। बाहर देखने की जरूरत नहीं।

बेहोश हो मत छोड़ियो गर चाहे तू जलवा पिया।
होगा फजल दरगाह तक खोफो खतर की जा नहीं॥
सीधे चला जाना वहाँ मुर्शद ने ये फतवा दिया॥

किसी ने पूछा—आप जो सीधा रास्ता बतला रहे हैं, उसपर कोई चला है क्या? तो कहा—

मन्सूर सरमद बूअली ओ शम्स मौलाना हुए।
पहुँचे सभी इस राह से जिसने कि दिल पुख्ता किया॥

यही भगवान श्रीकृष्ण का उपदेश है श्रीमद्-भगवद्गीता के आठवें अध्याय में—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥९॥

और वेद में भी है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय॥
—ऋग्वेद ३१, मंत्र १८, खं० २ पृ० ५३१

वेद जो कह रहा है, वही कुरान कह रहा है, वही बाइबिल कह रहा है। लेकिन खोजकर देखिये, ढूँढ़ करके देखिये, सबका मूल है वेद। वेद से ही सब ज्ञान निकले हैं।

स्वामी विवेकानंदजी महाराज जब शिकागो गये हुए थे, उस समय वहाँ के लोग यही जानते थे कि भारत में आध्यात्मिक ज्ञान कुछ भी नहीं है। बड़ी हेय दृष्टि से देखा करते थे। वहाँ पर क्या किया गया था! मंच जो सजाया गया था, हर धर्म की पुस्तक को सजाया गया था। सबसे ऊपर बाइबिल को रखा गया था। उसके नीचे कुरान को और जितने- जितने ध र्म के लोग इकट्ठे हुए थे, सबकी पुस्तकें नीचे और सबसे नीचे वेद रखा गया था।

स्वामी विवेकानंदजी जब पहुँचे, तो उन्होंने पुस्तकों की सजावट देखी। उन्होंने कहा—'पुस्तकों को जिस ढंग से सजाया गया है, बिल्कुल ठीक है। मैं देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ, इसी तरह की सजावट होनी चाहिए। इसमें दिखलाया गया है कि आपलोगों के जितने ज्ञान के ग्रंथ हैं, उनमें सबका आधार वेद है। वेद को यदि आप खींच लेंगे, तो सारी पुस्तकें भरभरा कर गिर पड़ेंगी।' सारे ज्ञान का आधार है वेद।

जो कोई दृष्टि-साधन की क्रिया करते हैं, तो दिव्य शरीर को प्राप्त करते हैं, यह स्थूल शरीर नहीं, जिसमें मल-मूत्र भरे पड़े हैं। लिंग शरीर मिल जाता है, जड़ के चारो शरीर को देखते हैं। इसके अंदर जो कारण है, इसके अंदर जो महाकारण है, सबको प्रत्यक्ष देखता है व चैतन्य अवस्था को प्राप्त करता है। निर्मल शब्द को प्राप्त करता है। वही सारशब्द है, वही चेतन शब्द है। वही शरीर को सजीव रखता है। जो कोई उस चेतन शब्द को पकड़ता है, उसके सहारे वह परम प्रभु परमात्मा को पाता है। वह है मृतसंजीवनी जड़ी। एक संत ने कहा—यह अमृत क्या है? वह शब्द ही अमृत है—

अमृत नीका कहै सब कोई,
पीये बिना अमर नहिं होई॥
कोइ कहै अमृत बसै पताल,
नर्क अंत नित ग्रासै काल॥
कोइ कहै अमृत समुँदर माहिं,
बड़वा अगिन क्यों सोखत ताहि॥
कोइ कहै अमृत ससि में बास,
घटै बढ़ै क्यों होइहै नास॥
कोइ कहै अमृत सुरगाँ माहिं,
देव पियें क्यों खिर खिर जाहिं॥
सब अमृत बातों की बात,
अमृत है संतन के साथ॥
'दरिया' अमृत नाम अनंत,
जा को पी पी अमर भये संत॥

गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं—

घर ही महि अंम्रित भरपूर है मनुखा सादु न पाइआ ।
जिउ कस्तूरी मिरगु न जाणै भ्रमदा भरम भुलाइआ ।।
अंम्रितु तजि विखु संग्रहै करतै आपि खुआइआ ।
गुरमुखि विरले सोझी पाई तिना अंदरि ब्रह्मु दिखाइआ ।।
तनु मनु सीतलु होइआ रसना हरि सादु आइआ ।
शबदे ही नाऊ ऊपजै शबद मेलि मिलाइआ ।।
बिनु शबदै सभु जगु बउराना बिरथा जनमु गवाइआ ।
अंम्रित एको शबदु है नानक गुरमुखि पाइआ ।।

जो गुरुमुखी लोग होते हैं, वे ही अमृत पाते हैं। यही चार क्रियाएँ संतमत में बतलायी जाती हैं, अमृत प्राप्त करने के लिए। बस, इतना मैंने कहा। महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन भागलपुर नगर सत्संग के अवसर पर दिनांक–३१. १२.१९७८, स्थान : मारवाड़ी पाठशाला, भागलपुर में हुआ था। (शान्ति-संदेश, जून १९९१ ई०)

५५. साध संग्राम है दिन रैन जूझना

किसी भी कार्य की सफलता के लिए उसमें तत्परता की आवश्यकता होती है। बिना मुस्तैदी के कार्य में सफलता नहीं मिलती, चाहे वह कार्य लौकिक हो या पारलौकिक। लौकिक में जितना श्रम है, उससे अधिक श्रम पारलौकिक कर्म में है। पारलौकिक कर्म के लिए संत कबीर साहब ने बतलाया है कि अपने को कैसा बनाओ, जिसमें तुमको सफलता मिले। उन्होंने बताया कि कि शूर बनो, वीर बनो, योद्धा बनो। शूर, वीर, योद्धा क्या करते हैं? अपनी हथेली पर अपनी जान लेकर समर-क्षेत्र में उतर जाते हैं। उसी तरह धर्म के क्षेत्र में उतरने के लिए अपनी जान अपने हाथ में लो, मुट्ठी में लो और शूर बन जाओ। संत कबीर साहब ने बतलाया।

सूर संग्राम को देखि भागै नहीं,
देखि भागै सोई सूर नाहीं ।
काम औ क्रोध मद लोभ से जूझना,
मँड़ा घमसान तहँ खेत माहीं ।।
सील औ साँच संतोष साही भये,
नाम समसेर तहँ खूब बाजै ।
कहत कबीर कोइ जूझिहैं सूरमा,
कायराँ भीड़ तहँ तुरत भाजै ।।

इनसे युद्ध करना है, घनघोर लड़ाई करनी है। बल्कि एक जगह उन्होंने कहा–ये जो शूर होते हैं, ये तो सतियाँ होती हैं और ये साधु लोग जो होते हैं, इन तीनों के युद्ध में अंतर है।

सूर संग्राम है पलक दो चार का।
सती संग्राम पल एक लागे।

मैदान में युद्ध करने के लिए दोनों दल के लोग आमने-सामने खड़े हैं। इसने उसको मारा, उसने उसको मारा, थोड़ी देर में मैदान साफ हो जाता है। इसीलिए 'सूर संग्राम है पलक दो चार का' और 'सती संग्राम पल एक लागे'। जिसके पति का देहावसान हो जाता है, वह महिला अपने पति के शव को लेकर चिता पर बैठती है। पति के साथ वह भी भस्म हो जाती है। यह 'सती संग्राम पल एक लागे।' लेकिन साधु के लिए कहा–'साध संग्राम रैन दिन जूझना।'

दिन-रात युद्ध करो। कबतक के लिए? तो कहा–'देह पर्यन्त का काम भाई।' जबतक तुम्हारा जीवन है तबतक। अगर इसमें कुछ भी चूक हुई तो–
'कहै कबीर टुक बाग ढीली करै,
उलटि मन गगन से जमीं आई।'

इसलिए साधकों के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है, जिसकी चेतावनी कबीर साहब देते हैं। वही गुरु महाराज बतलाते हैं–

आओ वीरो मर्द बनो अब,जेल तुम्हें तजना होगा ।
मन निग्रह के समर क्षेत्र में, सन्मुख थिर डटना होगा ।।

यहाँ डटने की बात है, हटने की नहीं। जब डटने की बात होगी, अभी पटने की बात हो सकती है। साधक साधना के लिए बैठता है। वह बैठता है साधना करने के लिए, मन को एक लक्ष्य पर स्थिर करने के लिए, किन्तु मन एक लक्ष्य पर स्थिर नहीं हो पाता। मन इधर-उधर भागता रहता है, यत्र-तत्र विचरण

करता रहता है। साधक उसको समेटना चाहता है। जिस समय साधक अपने मन को समेटता है, उस समय जब वह किसी और की याद करने लग जाता है, तो वह चिंतन इतना मीठा लगता है कि साधक भजन को तीता समझने लगता है, उसके सामने भजन फीका पड़ जाता है। उसी विषय के चिंतन में वह लग जाता है। गुरु महाराज कहते हैं–

जहँ जहँ मन भगि जाइ ताहि तहँ तहँ से तत्छन।
फेरि फेरि ले आइ, लगाइय ध्येय में आपन ॥
ऐसेहि करि प्रत्याहार, धारणा धारण करिके।
अरे हाँ रे मेँहीँ औरो आगे बढ़िय,
चढ़िय धर धारा धरिके ॥

जैसे मन भागे, वैसे ही समेट लो। नहीं तो वह घर बनाने लग जाएगा। जब वह घर बना लेगा, तो फिर उसका लौटना मुश्किल हो जाएगा। आजकल यदि कोई किसी की जमीन पर घर बना लेता है, तो वह जल्द हटना नहीं चाहता है। उसी तरह तुम्हारा मन जहाँ घर बना लेगा, तो फिर वह वहाँ से हटना नहीं चाहेगा। बड़ी मुश्किल होगी। इसलिए प्रत्याहार में हारो नहीं। प्रत्याहार में जो हार जाएगा, उसकी विजय कभी नहीं होगी। इसलिए प्रत्याहार में हारो मत। मन भागे समेटकर लाओ। फिर भागे, समेटकर लाओ। बारंबार इस तरह की क्रिया जारी रहेगी, तो परिणाम यह होगा, जैसा कि कबीर साहब ने कहा है–

'मन तू थकत थकत थकि जाई।'

यह मन प्रत्याहार करते रहने से थकते-थकते थक जाएगा। जिस तरह हाथ को बारंबार मोड़ने और फैलाने से वह इस तरह थक जाएगा कि फिर उसको इधर-उधर करने की इच्छा नहीं होगी, इसी तरह मन भागे, तो समेटकर लाइये, मन थक जाएगा। फिर भागने की इच्छा नहीं होगी और लक्ष्य पर स्थिर हो जाएगा। इसीलिए संत कबीर साहब कहते हैं–

'साध संग्राम को देखि भागै नहीं।'

वह भागता नहीं है, लगता है। संत कबीर साहब कहते हैं–

'लय लागत लागत लागै, भय भागत भागत भागै।'

यह संग्राम है–युद्ध करना है, हारना नहीं है। अपने को न्योछावर कर देते हैं, अपनी मुट्ठी में जो सब कुछ कर लेते हैं, वे ही एक दिन विजयी होते हैं। डरकर जो भागनेवाले होते हैं, विजयी नहीं होते, उनका नाम भी कभी नहीं होता है।

कृषक खेत में खेती करने के लिए जाते हैं, जाड़े के समय में अपने को बर्फ में ठिठुराते हैं, वैशाख-जेठ की गर्मी में अपनी त्वचा को झुलसाते हैं, वर्षा के दिनों में अपने शरीर को सड़ाते हैं, तब कहीं वे अनाज पाते हैं और सालभर सुखमय जीवन बिताते हैं। अगर कोई कृषक वैशाख-जेठ की गर्मी में शरीर नहीं जलाये, वर्षा के दिनों में शरीर नहीं सड़ाये, जाड़े के दिनों में अपने को ठिठुराये नहीं, तो क्या वह कभी अन्न पा सकता है, सुखी हो सकता है?

एक विद्यार्थी है। पढ़ने के समय वह स्कूल-कॉलेज में पढ़ता है और वहाँ से आता है, तो घर में लालटेन जलाकर रात में भी पढ़ता है। लोग सब सोये रहते हैं, तीन बजे रात में जगकर तप करता है–पढ़ता है। तब कहीं वह परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होता है, प्रतिष्ठा पाता है। उसी तरह साधकों के लिए भी है। संत-महात्मा लोग कहते हैं कि साधक को भी बड़ी तपस्या करनी होती है। दस महीने तक खाना-पीना, आराम हराम कर माताएँ रहती हैं, तब कहीं अपने पुत्र का मुख देखकर सुख का अनुभव करती है।

यह संग्राम है। यही तो भगवान श्रीकृष्ण से अर्जुन ने कहा था–हे प्रभु! मन तो भागता है, समेट में नहीं आता है। वायु को वश में करना सहज है; लेकिन मन को वश करना सहज नहीं है।' भगवान ने बतलाया–

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से मन वश में होगा और वश में करने के लिए इसको अच्छी तरह कस लीजिए। जब इसको कस लीजिएगा, तो इसका भागना छूट जाएगा, अर्थात्–

नउ दर ठाके धावत रहाए,
दसवें निज घरि वासा पाए ॥
उथैं अनहद शब्द बजहिं दिनराती।
गुरमति शबदु सुनावणिआ ॥

जबतक नौ दरवाजे में यह मन लगा रहेगा, तबतक विषयों में भागता रहेगा। नौ दरवाजे से समेटकर

इसको दसवें दरवाजे में प्रतिष्ठित कीजिए। जब दसवें दरवाजे में प्रतिष्ठित होगा, तब इसको अंतर का रस मिलने लगेगा। गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जौ पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृग जल रूप विषय कारण निसिवासर धावै ॥

(विनय-पत्रिका)

वहाँ उसे ब्रह्म-पीयूष मिलेगा। उसके लिए विषय रस विषरस के समान हो जाएगा। इसलिए संत-महात्मा कहते हैं, गुरु महाराज कहते हैं, अपने को वहाँ पर ठहराने की कोशिश करो। इसकी युक्ति जान लो, कला जान लो, साधना करो, फिर तो गुरु की कृपा होगी ही और सफलता मिलेगी ही। गुरु-कृपा का भरोसा मत छोड़ो। गो० तुलसीदासजी ने बड़ा ही अच्छा कहा है–

जौ तेहि पंथ चलै मन लाई।
तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥

गुरु की कृपा साथ है। गुरु की कृपा मिलती रहेगी और आगे बढ़ते जायेंगे। सफलता मिलती रहेगी। हिम्मत छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। हिम्मत करनी है। यह निश्चित है कि एक-न-एक दिन विजय होगी। गुरु महाराज कबीर साहब की वाणी में कहते हैं–

मन जाय तो जाने दे, तू मत जाय शरीर।
पाँचों आत्मा वश कर, कह गये दास कबीर ॥

कहते हैं, इसका कारण यह है कि मन तन से अलग नहीं रहता। तन स्थिर रहेगा, तो मन भी स्थिर हो जाएगा। जैसे हमलोग पतंग-गुड्डी उड़ाते हैं, तो लटेर हाथ में रखते हैं। गुड्डी उड़ती रहती है, उसका धागा लटेर में लगा रहता है। लटेर को घुमाते रहने से पतंग हाथ में आ जाएगी। अगर लटेर को ही छोड़ दें, तो पतंग उड़कर कहाँ चली जाएगी ठिकाना नहीं। लटेर को कसकर हाथ में पकड़े रहिये और घुमाते रहिए, धीरे-धीरे पतंग आपके हाथ में आ जाएगी। उसी तरह मन जो भागता है, वह तो चला गया। लेकिन अपने तन को स्थिर करके हम रख सकते हैं। फिर मन भी धीरे-धीरे आकर वहाँ स्थिर हो जाएगा।

मन मार दिल में कर, अमल माशूक आवै यौं निकल।
ये वक्त फिर आवै न कल मशहूर है ये सच अमल॥

–संत तुलसी साहब

एक बार कुएँ को भेंट हो गयी समुद्र से। कुएँ ने समुद्र से कहा, 'तुम सरिता से प्यार करते हो, गोद में बिठाते हो और आलिंगन करते हो; लेकिन तुम मुझे कभी प्यार नहीं करते, आलिंगन नहीं करते, गोद में नहीं बिठाते।' समुद्र ने कहा, 'सरिता जब आती है, तो उसके पास कोई दीवार नहीं होती; लेकिन तुम्हारे पास दीवार-ही-दीवार है।' कुएँ ने कहा, 'देखो, तुमसे मिलने के लिए मैं बावला हो गया हूँ, इसीलिए मेरा नाम लोग बावली भी कहते हैं।' समुद्र ने कहा, 'कुछ भी हो, तुम्हारे अंदर जबतक चहारदिवारी है, तबतक तुम मुझसे नहीं मिल सकते।

यह संतमत जो है, समुद्रमत है। इसमें जो भी 'मत' मिलना चाहे, मिल सकता है; लेकिन चहारदिवारी को छोड़कर। संतमत संकुचित मत नहीं, उदार मत है। यह तो यह बतलाता है कि जो कोई जिस धर्म में मानते हैं, वे उसी धर्म पर अवस्थित रहें; लेकिन अपने धर्म के मर्म को वे अच्छी तरह समझ लें। अगर उनके ही धर्म में समझानेवाले हैं, तो वे उनसे समझ लें। यदि उनके धर्म में समझानेवाले कोई नहीं हैं, चाहे वे किसी धर्म के माननेवाले हों, 'संतमत' उसको राह बतला देगा। जितने भी प्रकार के धर्म संसार में हैं, सबको राह बतानेवाला संतमत है और यह बिल्कुल उदार मत है। इसलिए हम अपने धर्म के मर्म को अच्छी तरह समझ लें। नहीं तो धर्म को पाल लेने से कोई लाभ नहीं होगा। यथा–

सहि कुबोल सांसति सकल, अंगह अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि करि गये सुजान ॥

(गोस्वामी तुलसीदास)

दूसरे के कठोर वचनों को सहो–सहि कुबोल, यातनाओं को सहो, अपमानों को सहो, तुम्हारे ऊपर जो कुछ भी करे, सब सहो; लेकिन अपने धर्म का परित्याग न करो। जो अच्छे लोग हुए हैं, उन्होंने यह कहा है और उन्होंने इसका आचरण भी किया है।

महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन ७१वाँ महाधिवेशन के अवसर पर दिनांक–३.३. १९७९, स्थान : मानसी, खगड़िया में हुआ था। (ध्यान-सन्देश, नवम्बर+दिसम्बर १९९४)

५६. सुदामा और कृष्ण क्या हैं?

मन में हुआ कि में आपलोगों को एक कथा सुनाऊँ। किन्तु फिर सोचा, जिस कथा से व्यथा दूर न हो, ऐसी कथा वृथा है। तो क्या कहूँ? फिर मन में आया कि इस सत्संग के अवसर पर प्रेरक प्रसंग ही कहा जाए। तो आपलोगों को मैं श्रीमद्भागवत का एक प्रसंग सुनाना चाहूँगा।

भगवान श्रीकृष्ण और सुदामा दोनों गुरुकुल में एक साथ पढ़ते थे। दोनों में बड़ी मित्रता थी। एक साथ उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना होता था। दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। एक दिन गुरुपत्नी ने आदेश दिया कि तुमलोग जंगल से जलावन हेतु सूखी लकड़ी चयन कर लाओ। दोनों मित्र जंगल की ओर प्रस्थित हुए, तो गुरुपत्नी ने कुछ चबेना साथ में दे दिया और कहा, 'वहाँ जाओगे, देर हो जाएगी, यदि भूख-प्यास लगेगी, तो इसे दोनों मिलकर खा लेना।' दोनों जंगल पहुँचे। जलावन एकत्र करने लगे। कुछ अंश एकत्र कर चुके थे कि इतने में जोरों की आँधी आयी और घनघोर वृष्टि होने लगी। भगवान श्रीकृष्ण का शरीर कोमल था। उनकी अपेक्षा सुदामाजी का शरीर बलिष्ठ था। उन्होंने अपने शरीर से कृष्ण को ढँक लिया। वर्षा का प्रभाव अपने शरीर पर सहने लगे। याद आया सुदामाजी को कि गुरुपत्नी ने जो चबेना दिया है, वह तो यों ही पड़ा हुआ है, क्यों न उसे खा लूँ। चना चबाने लगे, तो कटर-कटर की आवाज आने लगी। भगवान कृष्ण ने सुदामाजी से पूछा, 'क्या मित्र! कुछ खा रहे हो?' सुदामाजी ने कहा, 'इतनी ठंढ लग रही है कि दाँत कटकटाने लगे हैं।' वे चना खा चुके, तूफान भी समाप्त हो चुका। जलावन लेकर दोनों-के-दोनों गुरुगृह पहुँचे।

जबतक गुरुकुल की शिक्षा आवश्यक थी, दोनों मित्र वहाँ रहे। शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् दोनों अपने-अपने घर गये। दोनों ने गृहस्थधर्म स्वीकार किया। भगवान श्रीकृष्ण तो भगवान ही थे—द्वारिकाधीश और ये सुदामाजी अपने घर आये, तो दीन बन गये। बहुत गरीबी से इनका दिन कटता था। दिन खायेंगे तो रात क्या और रात खायेंगे तो दिन क्या? दाने-दाने के मुँहताज थे। सुदामाजी की धर्मपत्नी धर्मप्रिया थीं, धर्म में रुचि रखती थीं। वे सुदामाजी को प्रेरणा देतीं कि पतिदेव! आप इतने कष्टों को झेल रहे हैं, भूखे रहने की नौबत आपको आती है और आप अपने मित्र की प्रशंसा करते हैं कि इतने बड़े राजा हैं, वे महान हैं, भगवान हैं, तो आप क्यों न उनके पास जाते, वे आपकी सहायता कर देंगे। आपका दुर्दिन सुदिन में परिवर्तित हो जाएगा। लेकिन सुदामाजी को संकोच होता कि मित्र के यहाँ माँगने जाऊँगा, यह ठीक नहीं है। बारंबार जब पत्नी की प्रेरणा मिलने लगी, तो ये भी राजी हो गये चलने के लिए। सुदामाजी ने पत्नी से कहा, 'जब मुझसे मित्र माँगेगे कि सन्देश क्या लाये हो, तो मैं क्या दूँगा? कुछ संदेश के लिए दो।' बेचारी ब्राह्मणी पड़ोस में गयी, तंडुल माँगकर ले आयी और पतिदेव को दे दिया। सुदामाजी वह लेकर चले। उनको रास्ता ठीक-ठीक मालूम नहीं था। पूछने लग गये—किस होकर जाना है, कितनी दूर है? पैदल ही चलना है। चलते-चलते मन में कभी निराशा आती, फिर आशा भी बँधती कि अब इतना रास्ता तय हो गया। कुछ दूर जाने के बाद अँधेरा होने लगा। सुदूर में देखा, एक तारा नजर आया। वह भगवान कृष्ण की अट्टालिका के ऊपर रोशनी जल रही थी। वही नजर आयी। लोगों ने कहा था कि भगवान के महल के ऊपर मणि का प्रकाश जल रहा है। जैसे ही उस प्रकाश को सुदामाजी ने देखा तो उनके मन में ढाढ़स आया कि अब मैं नजदीक आ गया हूँ। फिर धीरे-धीरे नौबतखाने की आवाज सुनायी पड़ने लग गयी। बढ़ते-बढ़ते भगवान कृष्ण के दरवाजे पर पहुँच गये। लेकिन तन पर वस्त्र नहीं, तन पर मात्र चिथड़ा। दरबान ने रोका और पूछा, 'कहाँ जाओगे इधर?' सुदामाजी ने कहा, 'मेरे मित्र हैं भीतर, वहीं जा रहा हूँ।' दरबान ने पूछा, 'कौन हैं मित्र तुम्हारे?' सुदामाजी ने कहा, 'द्वारिकाधीश भगवान।' दरबान ने कहा, 'रुक जाओ जरा, मैं पूछ लेता हूँ। तुम अपना नाम बताओ।' इन्होंने कहा, 'सुदामा।' दरबान ने भगवान कृष्ण से कहा, 'भगवन्! सुदामा नाम के एक ब्राह्मण आये हैं, उनके तन पर एक फटा चिथड़ा है, पैर में पनही तक नहीं है।

लेकिन वे अपने आपको आपका मित्र बतला रहे हैं और आपसे मिलने के लिए आये हैं। भगवान का क्या आदेश होता है?' सुदामा का नाम सुनना था कि भगवान दौड़ पड़े उनसे मिलने के लिए और अपने हृदय से चिपका लिये। मन में नहीं हुआ कि ये गरीब हैं। इनके तन पर वस्त्र नहीं है और हम राजेश्वर हैं, कुछ भी ध्यान नहीं इन बातों पर, वे प्रेम से मिले। सुदामाजी को बिठा लिया अपने आसन पर। उनकी पत्नी सुदामाजी के चरण धोवन करने लगीं; चँवर डुलाने लगीं। भगवान ने कहा, 'मित्र! बहुत दिनों के बाद आये हो, कुछ सन्देश लाये हो? कुछ तो भाभी ने दिया होगा मेरे लिए।' अब सुदामाजी को अपनी बगल से तंडुल निकालना मुश्किल हो रहा है। भगवान ने स्वयं टटोलकर तंडुल निकाल लिया और लगे भोग लगाने।

भगवान प्रेम के भूखे हैं, भाव के भूखे हैं, तंडुल क्या चीज है? कुछ दिन सुदामाजी वहाँ रहे। फिर वहाँ से लौटे अपने घर की ओर। मन में सोचने लगा कि मैं तो पहले ही कह रहा था कि तू कहाँ भेज रही है? कुछ भी दिया तो नहीं। यह सब सोचते हुए वे लौटे। जब वे अपने घर के पास आते हैं, तो देखते हैं कि इनके घर के स्थान पर अट्टालिका बनी हुई है। अब तो इनका माथा और भारी हो गया। जो भी टूटा-फूटा घर था, उसे उजाड़कर किसने घर बना लिया? यदि मैं यहाँ रहता, तो मेरी झोपड़ी नहीं उजड़ती। सुदामाजी के मन में ये सब बातें हो रही थीं। भगवान ही की कृपा से अट्टालिका बनी थी। उसमें खाने- पीने, रहने-सहने की कोई कमी नहीं। सब तरह से सम्पन्न है। ब्राह्मणी को जब मालूम हआ कि आ रहे हैं पतिदेव, तो वह जाती है, पतिदेव की आरती उतारती है। पत्नी के वस्त्र देखकर वे कहती हैं, 'अरी! तुम्हारे इतने अच्छे वस्त्र! तुम्हारा यह रंग-रूप कैसे? पत्नी ने कहा, 'यह तो आप जानें। आप गये थे कहाँ?' फिर दोनों पति-पत्नी महल गये और रहने लग गये।

आपलोगों ने यह कथा सुनी होगी बहुत बार। लेकिन इस कथा में तथ्य क्या है? इसीलिए मैंने यह कथा आपलोगों को सुनायी। इसमें कृष्ण और सुदामा का मिलन है। श्रीकृष्ण अर्थात् 'परमात्मा', सुदामा अर्थात् 'जीव'। तो जीव और पीव के मिलन का यह प्रसंग है। कृष्ण शब्द का अर्थ है–जो आकर्षण करता है। कृष्ण कहते हैं आकर्षण करनेवाले को। भगवान आकर्षण करते हैं कि सब मेरे पास आओ। सुदामा का अर्थ होता है–सु+दामा। सु=अच्छी। दामा=रस्सी। अर्थात् जो अच्छी तरह बँधा हुआ हो, बेतरह बँधा हुआ हो, वह है सुदामा। यह जीव बेतरह बँधा हुआ है। आप कहेंगे कोई बंधन तो नहीं है? इसके उत्तर में संत राधास्वामी साहब कहते हैं–

बंधे तुम गाढ़े बंधन आन ॥
पहला बंधन पड़ा देह का, दूसर तिरिया जान।
तीसर बंधन पुत्र बिचारो, चौथा नाती मान ॥
नाती के कहि नाती होवै, फिर कहो कौन ठिकान।
धन संपत्ति और हाट हवेली, यह बंधन क्या करूँ बखान ॥
चौलड़ पंचलड़ सतलड़ रसरी, बाँध लिया अब बहु विधि तान।
कैसे छूटन होय तुम्हारा, गहरे खूँटे गड़े निदान ॥
मरे बिना तुम छूटो नाहीं, जीते जी तुम सुनो न कान।
जगत लाज और कुल की मरयादा, यह बंधन सब ऊपर ठान ॥
लीक पुरानी कभी न छोड़ो, जो छोड़ो तो जग की हान।
क्या क्या कहूँ विपत मैं तुम्हारी, भटको जोनी भूत मसान ॥
तुम तो जगत सत्त कर पकड़ा, क्यों कर पावो नाम निशान।
बेड़ी तोक हथकड़ी बाँधे, काल कोठरी कष्ट समान ॥
काल दुष्ट तुम्हें बहुविधि बाँधा, तुम खुश होके रहो गलतान।
ऐसे मूरख दुख-सुख जाना, क्या कहुँ अजब सुजान ॥
शरम करो कुछ लज्जा जानो, नाहिं तो जमपुर का भोगो हान।
'राधास्वामी' सरन गहो अब, तो कुछ पाओ उनसे दान ॥

इन गाढ़े बंधनों से जो जीव बँधा हुआ है, वही है सुदामा। यहाँ तो एक पुरुष का दूसरे पुरुष से वार्तालाप है, इसलिए कहा गया–'पहला बंधन पड़ा देह का, दूसर तिरिया जान।' कहीं यदि सहजोबाई और मीराबाई में बातचीत होती तो वहाँ वे लोग क्या कहतीं? वे कहतीं–'पहला बंधन पड़ा देह का, दूसर पुरुषा जान।' जैसे पुरुष के लिए स्त्री बंधन है, वैसे ही स्त्री के लिए पुरुष बंधन है। इसका अर्थ क्या हुआ कि पुरुष स्त्री को छोड़ दे और स्त्री पुरुष को छोड़ दे? नहीं। दोनों को मर्यादित ढंग से रहना है। संत पलटू साहब ने तो बड़ी फटकार लगायी है–

"यार फक्कीर तू पड़ा किस ख्याल में,
पाँच पच्चीस संग तीस नारी।
एक तुम छोड़िया तीस तेरे संग में,
होय अस ज्ञान नर्क भारी ।।
तीस के कारने भीख तुम माँगता,
एक ने कवन तकसीर पारी।

दास पलटू कहै खेल या न बदो,
छुटै जब तीस तो छोड़ प्यारी॥"

यह जीव है सुदामा। यह अच्छी तरह बँधा हुआ है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज क्या कहते हैं–

'ईस्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयेउ गुसाईं।
बँधेउ कीर-मरकट की नाईं॥

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–यह जीव परम प्रभु परमात्मा का अभिन्न अंश है।

जीवात्म प्रभु का अंश है, जस अंश नभ को देखिए।
घट मठ प्रपंचन्ह जब मिटै, नहिं अंश कहना चाहिए॥
–महर्षि मेँहीँ-पदावली

जैसे महदाकाश का अंश घटाकाश, मठाकाश, पटाकाश है, उसी तरह परम प्रभु परमात्मा का यह जीव अभिन्न अंश है। अनार के दानों में से एक दाना नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–सहज सुखरासी। यह चेतन है, अमल है–शुद्ध है। सब सुखों की खान है। लेकिन इतना होते हुए भी यह माया के वश में पड़ा हुआ है। यह माया का बंधन कैसा है? तो कहा–'बँधेउ कीर मरकट की नाईं'। कीर कहते हैं सुग्गे को और मर्कट कहते हैं बंदर को। सुग्गे को फँसानेवाला जो होता है, वह बाँस की नली रखता है, उसमें एक लकड़ी लगी रहती है। उसके नीचे खाने की चीज लटका देता है वह। उसपर सुग्गे की नजर पड़ती है। वह खाने की चीज को पकड़ने के लिए चोंच बढ़ाता है। जैसे ही वह आगे झुकता है, नली घूम जाती है। नली घूम गयी तो उसका मुँह नीचे हो जाता है। वह अपने ही चंगुल से नली को पकड़े हुए है और नीचे लटका हुआ है। अब उस सुग्गे के मन में यह भ्रम हो गया कि किसी ने मुझे पकड़ लिया। किसी ने पकड़ा नहीं, वह स्वयं ही नली को पकड़े हुए है। इतने में सुग्गा बझानेवाला आता है और उसे सरलतापूर्वक पकड़कर पिंजड़े में बंद कर लेता है। इसी तरह हमलोग कहते हैं–माया ने पकड़ रखा है, माया से कहाँ छूट पाते हैं? बात तो सत्य यह है कि माया को हमने पकड़ा है। माया ने नहीं पकड़ा है। इसी तरह बंदर बझानेवाला क्या करता है? एक छोटा मुँहवाला घड़ा लेता है, जिसमें खुला हाथ तो आसानी से घुस जाय, लेकिन मुट्ठी बाँधकर निकाले तो निकले नहीं। वह कुछ मिठाइयाँ लेकर जंगल जाता है। उस घड़े को मिट्टी के अंदर गाड़ देता है। थोड़ी-सी मिठाई के टुकड़े उसके अगल-बगल छींट देता है। बंदर गाछ पर से नीचे उतरता है। मिठाई के टुकड़े जब खाता है, तो बड़ी अच्छी लगती है। ऊपरवाले सब टुकड़े खाने के बाद वह घड़े में झाँकता है, तो उसमें मिठाई दिखाई पड़ती है। मिठाई की सुगंधि भी आती है। वह अपना हाथ घुसाता है। हाथ तो सुगमता से घड़े के अंदर चला गया; लेकिन जब मिठाई को पकड़ा तो मुट्ठी बँध गई। अब मुट्ठी घड़े से निकलती ही नहीं। बंदर के मन में हुआ कि किसी ने मुझे पकड़ लिया। बाजीगर आता है, उसको पकड़कर ले जाता है और दरवाजे-दरवाजे नचाता है। उसी तरह हमलोगों को भी विषय का स्वाद लगा हुआ है, उस स्वाद को लेते-लेते अब उसको इतने जोर से पकड़ लिये हैं कि लगता है कि विषय हमें नहीं छोड़ रहा है। लेकिन बात तो ऐसी नहीं, विषय स्वाद को हमहीं नहीं छोड़ रहे हैं। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–'बँधेउ कीर मरकट की नाईं।' न स्वाद छूटता है, न हम उसे छोड़ते हैं। किसी ने तो कहा–

मृग मीन भृंग पतंग कुंजर, एक दोष विनासहीं।
पंच दोष असाध्य जामें, ताकी केतिक आसहीं॥

मृग की कर्णेन्द्रिय प्रबल है। शब्द में आकर्षण होता है। शिकारी जाल लगा देता है और मीठे-मीठे स्वर में झाँझ बजाता है। शब्द सुनते-सुनते मृग इतना आकर्षित हो जाता है कि आगे में जाल है, उसका ख्याल नहीं रहता। वह शब्द की ओर बढ़ जाता है और जाल में फँस जाता है। जाल में फँसा कि काल के गाल में फँसा। वह काल के गाल में फँस गया। उसकी जान चली गयी।

मीन–मछली की जिभ्या इन्द्रिय प्रबल है। मछली मारनेवाला वंशी में चारा लगाकर पानी में डाल देता है। मछली आती है, चारे को पहले नोंच-नोंच कर खाती है। इसके बाद वंशी को निगल जाती है। जैसे ही वंशी को निगलती है, मछली मारनेवाला उसे उठाकर जमीन पर पटक देता है। मछली की जान जिभ्या के चलते चली गयी।

भृंग–भँवरे को कहते हैं। उसकी घ्राणेन्द्रिय प्रबल है। वह कमल पर गंध या उसके पराग के लिए बैठता है। वह कमल की गंध और पराग लेने में मस्त हो जाता

है। शाम होने पर कमल का मुँह बंद हो जाता है। उसी के अंदर वह बंद हो जाता है। सबेरे हाथी आता है, वह कमल को खाता है, तो उसके संग में भृंग भी हाथी के मुँह में चला जाता है। उसकी जान वैसे ही चली गयी।

पतंग–मरकरी या बल्ब को शाम होने पर देखिए। कितने पतंग उसपर जाकर गिरेंगे, ठिकाना नहीं। उसमें वे अपनी जान गँवा देते हैं। उसकी नेत्र इन्द्रिय प्रबल होती है। रूप के आकर्षण में वह आग में भी कूद पड़ता है और उसकी जान चली जाती है।

कुंजर–हाथी को स्पर्श-दोष होता है। जो हाथी को बझानेवाला होता है, वह चतुर हथिनी को साथ लेकर जंगल जाता है। जंगल में वह एक बड़ा गड्ढा बनाता है। उसपर चाल बनाकर रखता है, फिर उसपर घास रख देता है। सिखाई हुई हथिनी हाथी का स्पर्श करती है, हाथी उसके पीछे-पीछे लग जाता है। अपने तो हथिनी बगल से निकलती है और हाथी जो उसके पीछे दौड़ता है, गड्ढे में गिर जाता है। उसको कई दिनों तक तो उसी में छोड़ देता है। जब वह हाथी भूख-प्यास के मारे कमजोर हो जाता है, तब उसे बाहर निकालता है। अब वह शिकारी के वश में आ जाता है। उसको अब कहता है–अगत्त! उठ, बैठ, तो वह सब करने लगता है। इन सबों की तो एक-एक इन्द्रिय प्रधान है, एक-एक विषय के कारण उन सबों की जानें जाती हैं; लेकिन हमलोग! हमलोग तो सुन्दर रूप, सुन्दर शब्द, सुन्दर गंध, सुन्दर रस, सुन्दर स्पर्श चाहते हैं। सब सुन्दर-ही-सुन्दर चाहते हैं। हमलोगों की पाँचों इन्द्रियाँ प्रबल हैं। फिर भी हम बचे हुए हैं। खुदा की खैरियत है। इस तरह जो हम विषयों में बँधे हुए हैं, इसलिए ऐसे जीव का नाम है सुदामा। यह सुदामा अर्थात् जीव चलता है मिलने, किससे? मित्र है कृष्ण। मित्र से मिलने जाता है। इस जीव का भी मित्र है परमात्मा। उपनिषद् में लिखा है–

एक वृक्ष पै दो पक्षी, अति सख्य भाव से थे रहते।
खाते एक फलों को थे, एक बिना खाये थे हँसते॥

एक वृक्ष है, उसमें दो डालें हैं। दोनों डालों पर दो पक्षी बैठे हैं। एक पक्षी फल खाता है, दूसरा पक्षी द्रष्टा है, वह मात्र देखता है, फल नहीं खाता है। केवल हँसता है। मतलब यह कि यह हमलोगों का शरीर वृक्ष है। इसपर दो पक्षी मैत्री भाव से बैठे हैं। वे दो पक्षी कौन हैं? एक चेतन आत्मा और दूसरा परमात्मा। चेतन आत्मा भोक्ता है और परमात्मा द्रष्टा है। जो भोक्ता है, वह फल भी तो भोगेगा। यह जीवरूपी सुदामा परमात्मारूपी कृष्ण से मिलने चलता है; लेकिन रास्ता मालूम नहीं। संत सद्गुरु उसको मुक्ति बतलाते हैं कि देखो रास्ता वह है, ऐसे-ऐसे करके जाना। मार्ग में ये सब चीजें मिलेंगी। अमुक स्थान पर पहुँच जाओगे। फिर उनसे भेंट होगी। केवल पुस्तकों को पढ़ लेने से काम नहीं चलता। जो वहाँ पहुँचे हुए हैं, उनसे पूछो, वे बतलायेंगे।

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बात।
सभी सयाने एक मत, तिनकी एकै जात॥

भगवान श्रीकृष्ण ने क्या कहा है श्रीमद्भगवद् गीता के चौथे अध्याय में–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥३४॥

अर्थात् भली प्रकार दंडवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जान। वे मर्म के जाननेवाले ज्ञानी जन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। इसी को संत कबीर साहब ने कहा है। उनके संबंध में प्रसिद्ध है–

कबीर का गाया गावे, तो गजब का धक्का खावे।
कबीर की वाणी बुझै, तो तीनों लोग सूझै॥
'कबीर की उलटी बाणी। बरसै कम्बल भीजै पानी॥'

कबीर साहब के कहने की कला विचित्र थी। वे एक जगह कहते हैं–

पाप करै बिनु गति नहिं, पाप करै तब चैन।
कहै कबीर विचारि के, पाप करो दिन रैन॥

कोई संत पाप करने के लिए कहते हैं? लेकिन वे कहते हैं–'पाप करै बिनु गति नहीं।' मतलब क्या हुआ? पाप करे। इसमें पा को अलग कर लीजिए। तब क्या होगा–

पा पकरे बिनु गति नहिं, पा पकरे तब चैन।
कहै कबीर विचारि के, पा पकरो दिन रैन॥

'पा' अर्थात् संत सद्गुरु के पाँव। संत-महात्मा लोग कहते हैं कि कार्यालयों में मोहरें होती हैं। उन मोहरों के अक्षर सब उलटे होते हैं; लेकिन कागज पर देने से सभी अक्षर सुलटे हो जायेंगे। उसी तरह तकदीर यदि उलटी होगी और तुम जब संतों के चरणों में पड़ोगे, तो तेरी तकदीर सुलटी हो जाएगी। तो संत

मार्ग दर्शन देते हैं। सुदामा चलता है, उसको घनघोर अँधेरा मालूम पड़ता है, कुछ सूझता नहीं है। चलेगा कौन? शरीर नहीं चलता, जीवात्मा चलेगा। कहाँ से चलेगा? जहाँ बैठा है, वहीं से चलेगा। चेतन आत्मा भीतर में है, परमात्मा भी भीतर में है। चेतन कहाँ है? बाहर की चीज को देखते हैं आँख खोलकर और भीतर की चीज को देखेंगे आँख बंद कर। क्या मालूम पड़ता है? घोर अंधकार। उसी अंधकार में चेतन आत्मा है। सुदामा यहीं से चलता है। सुदामा को बतलाया गया था कि भगवान श्रीकृष्ण के महल पर मणि का प्रकाश है। संत-महात्मा लोग कहते हैं–तुम भी जैसे-जैसे अंधकार के आगे बढ़ोगे, वैसे-वैसे ही कुछ-न-कुछ प्रकाश अवश्य मालूम पड़ेगा।

'गगन द्वार दीसै एक तारा' सुदामाजी द्वारिका में नगाड़ा भी सुनते थे, तो कोई अपने भीतर में तारे को देखता है, तो झनकार को भी सुनता है। इसीलिए कहा– गगन द्वारा दीसै एक तारा।

अनहद नाद सुनै झनकारा॥

साहस होता है साधक को कि अब हमारा मार्ग तय हो रहा है। तारा वे देखते हैं, किनारा मालूम पड़ता है, झनकार सुनता है। हमारे गुरु महाराज कहते हैं–'पाँच नौबत बिरतन्त कहौं सुनि लीजिये।' एक नौबत नहीं, पाँच नौबतें हैं।

बजती हैं पाँच नौबतें, सुनि एक-एक को।
पति एक पै चढ़ि जाय के, निज नाह खोजना॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य की पाँच नौबते हैं। इसीलिए–

निज तन में खोज सज्जन बाहर न खोजना।
अपने घट में हरि हैं, अपने में खोजना॥

तारा कैसे मिलेगा? तो कहा–

दोउ नैन नजर जोड़ि के, एक नोक बना के।
अंतर में देख सुन-सुन, अंतर में खोजना॥

कहाँ तक अपनी दृष्टि को ले जाना है?

तिल द्वार तक के सीधे, सुरत को खैंच ला।
अनहद धुनों को सुन-सुन, चढ़-चढ़ के खोजना॥
पंचम बजै धुर घर से, जहाँ आप बिराजैं।
गुरु की कृपा से मैंहीँ' तहँ पहुँचि खोजना॥

अंतर में चलने का यही रास्ता है। जीवरूपी सुदामा आगे बढ़ता है। उसके निकट आ जाता है, जो शब्द है, वह क्या है? हमलोगों का शास्त्र कहता है–'तस्यवाचकः प्रणवः।' जो प्रणव है, वह प्रभु का वाचक है। प्रभु परमात्मा वाच्य है। जो वाचक को प्राप्त कर लेता है, उससे वाच्य छूट नहीं सकता है। जो प्रणव ध्वनि का श्रवण कर लेता है, वह खिंचकर पहुँच जाता है। भगवान कह रहे हैं–आओ।

'है आ रही धुर से सदा तेरे बुलाने के लिए।'

"क्यों भटकता फिर रहा तू, ऐ तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है, दिलवर पै जाने के लिए॥
कुदरती काबे की तू मेहराब में सुन गौर से।
है आ रही धुर से सदा तेरे बुलाने के लिए॥"

लेकिन उस शब्द को इस कान से नहीं सुन सकते। किसी कान से सुनेंगे?

"गोश बातिन हो कुशादा जो करै कुछ दिन अमल।
ला इलाह अल्लाह हो अकबर पै जाने के लिए॥"

–संत तुलसी साहब

अल्लाह अकबर कहें वा ईश्वर परमात्मा कहें, एक ही बात है। केवल शब्दान्तर है, जिसको कहते हैं खुदा, उसी को हमलोग कहते हैं स्वयंभू। खुदा–खुद हुआ। स्वयंभू–जो स्वयं हुआ। अंतर क्या है? कुछ नहीं। भाषान्तर है केवल। जो प्रणव को पकड़ता है, वह प्रभु को पाता है। तब भगवान उसको लपेट लेते हैं, छोड़ते नहीं।

हममें तुममें भेद बुद्धि को, जो सकते हैं मिटा।
वह तुम्हीं तुम वही मैंहीँ, प्रश्न पुनि रहते नहीं॥

–महर्षि मैंहीँ पदावली

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

सो तुम ताहि तोहि नहिं भेदा।
वारि बीचि इव गावहिं वेदा॥

जबतक साधक साधना करता रहता है, जबतक उसका जीवन रहता है, तबतक चढ़ता है, उतरता है। सुदामा कृष्ण से मिलते हैं, फिर अपने घर आते हैं। जब घर की ओर लौटते हैं, तो सुबुद्धि उन्हें परमात्मा से मिलने की प्रेरणा करती है। सुदामाजी की पत्नी सुबुद्धिनी थी, जिसने भगवान श्रीकृष्ण से मिलने की प्रेरणा की थी। भगवद्भक्त जो होते हैं, उनकी सुबुद्धि प्रेरणा देती रहती है कि भजन करो, भजन करो। भजन करनेवाले की बुद्धि सुबुद्धि हो जाती है, मेधा शक्ति बढ़ जाती है।

जैसे सुदामाजी घर आये तो अपनी पत्नी को नहीं पहचान सके; क्योंकि पहले वह सामान्य महिला

थी; लेकिन अब वह मेधाशक्ति हो गयी है। उसी तरह साधक की बुद्धि भी पहले साधारण रहती है, भजनाभ्यास करते-करते उसकी बुद्धि मेधाशक्ति हो जाती है। साधक परमात्मा को प्राप्त कर एक हो जाता है। जैसे परदा हट जाने पर पटाकाश, महदाकाश एक हो जाता है, उसी तरह अंधकार, प्रकाश और शब्द; ये त्रयपट जीव पर से जब उतर जाते हैं, तो वह परमात्मा से मिलकर एक हो जाता है। वह सदा के लिए त्रयतापों से छूटकर मुक्त हो जाता है, आवागमन छूट जाता है। वह सदा का कल्याण पाता है। यही थोड़ा-सा मैंने आपलोगों क सेवा में कहा। अब गुरु महाराज के श्रीमुख से सुनें।

यह प्रवचन अपराह्नकालीन सत्संग के अवसर पर दिनांक—२७.३.१९८०, स्थान : संतमत-सत्संग मंदिर भवानीपुर राजधाम, पूर्णियाँ में हुआ था।

(शान्ति-संदेश, अक्टूबर १९८६)

५७. सठ हठ पियत विषय विष माँगी

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द तथा आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

कोयल अपने सुकण्ठ से सुमधुर सुरीले स्वर में संगीत सुनाकर सुख का सहस्त्रांश ही सही, सांसारिक जन को समुचित और समयोचित सुख प्रदान करती है। कुत्ता अन्न के कुछ कौर पाकर स्वस्वामी के काय, कनक, कोष, कामिनी एवं कुटुम्बादि की रक्षा करता है। मृग एवं मृगाधीश मृत्यूपरान्त भी अपने मनोहर—मनभावन त्वक् से मानव-सेवा के अधिकारी होते हैं। गाय, भैंस और छाग आदि स्वदुग्ध-दधि और घृतादि से, इतना ही नहीं, अपनी अस्थि, चर्म एवं गोंत-गोबर से भी बहुविधि लोकोपकार कर सकते हैं।

किन्तु क्या कभी कुछ अपनी निस्बत भी आपने सोचा है कि आपको जो सुर-दुर्लभ, सुन्दर, सुयोग्य और स्वस्थ शरीर मिला है, इसकी क्या उपयोगिता है? आपके इस चिकने-चुपड़े, सफेद, सुगठित, सलोने और साधन-सम्पन्न शरीर से समाज-सेवा, स्वदेश-सेवा, साधु-सेवा वा सर्वेश्वर-सेवा कुछ भी हो सकती है? यदि नहीं, तो इस अनमोल शरीर को अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाकर दाने पर पले हुए सूअर की तरह मोटापा प्रदान करके व्यर्थ ही बर्बाद क्यों कर रहे हैं? भगवान बुद्ध ने कहा है—'अगर आदमी मोटा हो जाता है और बहुत खाने लग जाता है, अगर वह बहुत सोता है और पड़ा लेटा रहता है, तो वह मूर्ख दानों पर पले हुए सूअर की तरह बार-बार गर्भ में पड़ता है।' और संत कबीर साहब कहते हैं—

खाय खुराका पहन पोशाका, जम का बकरा पालता है।
जम बदजाती तोड़े छाती, उससे क्यों नहीं डरता है।।

गो० तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि,
सठ हठ पियत विषय विष माँगी।
सूकर स्वान शृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि दुख लागी।।

ईश्वर-भक्ति-विहीन जन के लिए, चाहे वह वैदिक धर्मावलम्बी हो वा इस्लाम धर्मावलम्बी, संत कबीर साहब फटकार लगाते हुए कहते हैं—

बैल गढ़न्ता नर गढ़ा, चूका सींग अरु पूँछ।
एकहि गुरु की भक्ति बिन, धिक दाढ़ी धिक मूँछ।।

उत्तर गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

आहार निद्रा भयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिकं विशेषो ज्ञानेनहीनाः पशुभिः समानाः।।

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन; ये सब विषय पशु और मनुष्य में एक समान हैं, कुछ भी प्रभेद नहीं है। केवल ज्ञान-लाभ करने पर ही मनुष्य (पशु से) श्रेष्ठ हो सकता है; सुतरां स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानविहीन मानव पशु-तुल्य है। भगवान के उपर्युक्त वचन के मनन से मन में एक उत्सुकता उत्पन्न होती है कि वह कौन-सा 'ज्ञान' है, जिसके अभाव में मानव पशु-संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

यदि 'ज्ञान' शब्द का अर्थ अभिज्ञता, जानकारी वा जानना हम करते हैं, तो सामान्यतया सभी जन कुछ-न-कुछ अवश्य जानते हैं। मात्र मानव ही नहीं, सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि में प्राणिमात्र न्यूनाधिक रूप से जानते हैं। बल्कि कतिपय ऐसे भी ज्ञान-प्रकार हैं, जो मानव से पशु में अधिक है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रषु भारत।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।१।।

अर्थात् हे भारत! समस्त क्षेत्रों-शरीरों में रहनेवाला क्षेत्रज्ञ मुझको जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। इस तरह जबकि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद-ज्ञान को ही 'ज्ञान' कहते हैं, तब इन दोनों के भेद की अभिज्ञता भी अनिवार्य हो जाती है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चचेन्द्रिय गोचराः।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।

-गी० १३।५-६

अर्थात् पंच महाभूत-अहि, अप, अनल, अनिल और आकाश, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच-नासिका, श्रवण, नेत्र, रसना और त्वक्; कर्मेन्द्रियाँ पाँच-कर, पद, वदन और दो गुह्येन्द्रियाँ), पंच विषय-रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतन-शक्ति, धृति-यह अपने विकारों-सहित क्षेत्र संक्षेप में कहा है। और 'क्षेत्रज्ञ चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत (गी० १३/२)' कहकर स्पष्ट ही क्षेत्र-निवासी को क्षेत्रज्ञ कहा गया है। महाभारत शान्ति पर्व (१८७, २४) में भी लिखा है-

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।

अर्थात् जब आत्मा प्रकृति में वा शरीर में बद्ध रहती है, तब उसे क्षेत्रज्ञ वा जीवात्मा कहते हैं। उपर्युक्त देह और देही के ज्ञान को ही भगवान श्रीकृष्ण ने ज्ञान बताया है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के शब्दों में हम कह सकेंगे-

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ।।

(रामचरितमानस, तृतीय सोपान)

अर्थात् ज्ञान वह है, जहाँ एक भी मान न हो, सबमें समान ब्रह्म देखे।ऐसा लगता है, जिस 'ज्ञान' का ज्ञान त्रेतायुग में भगवान श्रीराम ने लक्ष्मण को सूत्र-रूप में दिया था, द्वापर युगान्त के कृष्णावतार में उन्होंने उसी ज्ञान का विशद विश्लेषण करके अर्जुन को बताया।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्ममात्मविनिग्रहः ।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम् ।।
असक्तिरनभिष्वङ्ग पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वामिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।
मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्त देश सेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।
अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्त्व ज्ञानार्थ दर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।

-गी० १३/७-११

अर्थात् अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार-रहितता; जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषों को निरन्तर भान; पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव; प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव; मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जन-समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्मदर्शन-यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है, वह अज्ञान है। इस भाँति श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान के सहित अनुभव ज्ञान के द्वारा क्षेत्रज्ञ वा आत्मा का प्रत्यक्षीकरण करने में ही नर-तन की उपयोगिता है। परमाराध्य सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज का यह अवतरण भी विशेष पठनीय है-'मननशील होने के कारण ही मानव, मानव कहलाता है। जो परमात्मा को कभी भूलता नहीं, वह तन और मन दोनों से मनुष्य है। जो नाशवान पदार्थों में लगा रहता है और अनाश को भूला रहता है, वह मनुष्य कैसे है? किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करके असत्य से मन को हटाकर जो सत्य तत्त्व-परमात्मा में सदा लव लगाये रहता है, वह मनुष्य है।' भगवान श्रीराम ने अपनी प्रजा को यही शिक्षा दी थी कि-

एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई।।
नरतन पाइ विषय मन देही।
पलटि सुधा ते सठ विष लेही।।
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई।।

जबकि 'विषय न भाई', तब उसका अर्थ

निर्विषय तत्त्व हो ही जाता है अर्थात् वह पंच विषय–रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से परे है तथा जिसके लिए यह उपनिषद्वाणी सार्थक होती है कि–

नाम रूप विहीनात्मा परसंवित् सुखात्मकः।
तुरीयातीत रूपात्मा शुभाशुभ विवर्जितः।।

–तेजोविन्दूपनिषद्

अर्थात् 'आत्मा नाम और रूप से विहीन, परज्ञानस्वरूप, सुखमय, तुरीय से भी अतीत, शुभ और अशुभ से विवर्जित है' की प्राप्ति के लिए ही नर-तन की उपादेयता है।

अतएव, यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि उपर्युक्त परमात्मस्वरूप के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने में ही मानव-शरीर की सार्थकता है। ❊

यह प्रवचन बिहार राज्यान्तर्गत मधेपुरा जिला के रासबिहारी उच्च विद्यालय के प्रांगण में दिनांक २२.१२.१९८० ई० को अपराह्नकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था। (शान्ति-संदेश, मार्च २०१० ई०)

५८. गुरु को सिर पर राखिये

आदरणीय सज्जनवृन्द तथा माताओ एवं बहनो!

प्रातःस्मरणीय अनन्त श्री-विभूषित परम पूज्य सद्गुरु महाराज का आदेश है कि मैं आपलोगों के सामने कुछ कहूँ; लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी आदेश दिया है कि देर तक नहीं कहना। सबेरे का सत्संग है और देर तक मैं नहीं कहूँगा। देर तक कहने के लिए आपलोग मुझे घेर नहीं सकते हैं।

अभी प्रातःकाल है। सूर्य को पीठ की ओर करके अगर हम चलें, चाहे कितनी भी तेजी से चलें या दौड़ें, फिर भी अपनी छाया नहीं पकड़ सकते हैं। छाया आगे-आगे ही भागती जाएगी। उसी तरह ईश्वर को पीठ की ओर करके माया को हम पकड़ने चलते हैं, माया आगे भागती चली जाती है। सुख मिलता नहीं है, जिस सुख-शांति के लिए हम सभी लालायित हैं, सभी इच्छुक हैं।

सूर्य को आप सामने करके चलिये। जैसे-जैसे आप सूर्य की ओर चलेंगे, वैसे-वैसे आपके पीछे आपकी छाया चलेगी। भागना चाहें दौड़ करके, तो छाया भी आपके पीछे-पीछे दौड़ेगी, आपका पीछा नहीं छोड़ेगी। उसी तरह यदि ईश्वर को सामने करके चलेंगे, तो माया भी आपके पीछे-पीछे चलेगी। अगर आप भागकर चलेंगे, तब भी आपका संग नहीं छोड़ेगी। ईश्वर के पास जितनी तेजी से चलेंगे, उतनी ही तेजी से माया आपके पीछे चलेगी, खुशामद करेगी, संग छोड़ेगी नहीं। इसलिए अगर सुख चाहते हैं, शांति चाहते हैं, कल्याण चाहते हैं, तो भगवद्भजन करें।

माया को खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मेवे की दुकान पर आप जाएँ, मेवा खरीदें, दोना खरीदने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। पैसे लगेंगे आपको मेवे के और दोना आपको मुफ्त में मिलेगा। उसी तरह ईश्वर का भजन करेंगे, तो परम धन मिलेगा ही और माया मुफ्त मिलेगी। उसकी खुशामद क्यों करें? उसके लिए हाय-हाय क्यों करें?

सूर्य को सिर पर लेकर चलिए, छाया आपके पैर के नीचे आ जाएगी। उसी तरह यदि संत सद्गुरु को सिर पर लेकर चलें, तो माया तेरे चरण चूमेगी, चरण तुम्हारे छोड़ेगी नहीं। 'लक्ष्मी है सन्तन की चेरी।' संत पलटूदासजी महाराज ने कहा है–

छाया माया एक सी, बिरला जानै कोय।
भक्तन के पीछे चलै, सन्मुख भागै सोय।।

कबीर साहब ने कहा है–

'गुरु को सिर पर राखिये, चलिये आज्ञा माहिं।
कह कबीर ता दास को, तीन लोक भय नाहिं।।'
'गुरु समरथ सिर पर खड़े, कहा कमी तोहि दास।
ऋद्धि सिद्धि सेवा करै, मुक्ति न छाड़ै पास।।'

सिर पर गुरु को रखिये। अव्यक्त रूप में परम प्रभु परमात्मा तो हैं ही; लेकिन व्यक्त रूप में जो संत सद्गुरु हैं, उनको सिर पर रखिये। तुम्हारा कल्याण होगा। हर समय कल्याण होगा, हर जगह कल्याण होगा।

यह कोई मैं पौराणिक बात नहीं कहता। यह फरवरी का अन्त है। शायद यह जनवरी की घटना है और वे सज्जन बैठे हुए आपके बीच में हैं। गुरु की भक्ति उनमें थी, श्रद्धा थी। उनको एक सज्जन ने प्रीतिभोज में निमन्त्रण दिया। वे उनके यहाँ गये। रात के सात बज गये थे। भोजन करके वे अपने घर लौट रहे थे। मोटर साइकिल से आ रहे थे। बदमाशों ने

एक रस्सी सड़क पर बाँध दी थी, इस पार से उस पार तक। वे मोटर साइकिल दौड़ाते चले आ रहे थे। देखा नहीं रस्सी को उन्होंने, मोटर साइकिल तेज गति में थी। मोटर साइकिल उलझ गई रस्सी में। मोटर साइकिल गिरी एक तरफ और अपने गिरे दूसरी तरफ। गिरना था कि चार-पाँच बदमाश आ गये और उनके ऊपर प्रहार करने लग गये। नाक से खून की धारा बहने लगी। 'गुरु महाराज रक्षा करो! गुरु महाराज रक्षा करो!!' पुकारने लगे। बदमाश उनको सड़क पर से खींचकर लाए मिट्टी पर, जहाँ की मिट्टी काटकर सड़क पर डाली जाती है। उनका कोट उतार लिया, घड़ी ले ली। इतना ही नहीं, उनलोगों ने चाहा कि इनकी जीवन-लीला ही समाप्त कर दो। बदमाश ने छुरा निकाला और उनके गले पर चलाना चाहा। चलाना ही नहीं चाहा, बल्कि चला चुका। 'गुरु महाराज रक्षा करो!' यह अन्तर्ध्वनि उनकी हो रही थी। उस बदमाश को अपने ही हाथ में वह छुरा लग गया। वह 'ओह! ओह!!' करने लग गया। इन्होंने कहा—'अरे एक वकील को मार दोगे तो ठीक है; लेकिन वकील तो तुमलोगों का ही काम करता है।' गुरु महाराज ने बदमाशों की बुद्धि फेर दी। हथियार उनके ऊपर नहीं चला। तबतक एक जीप आ गई सड़क पर। देखा, उसमें पुलिस है। बदमाश सब भाग गये। इनके सभी सामानों की पोटली बँधी रखी थी। इन्होंने अपना सामान लिया और घर चले आये।

जिनको गुरु पर निष्ठा है, विश्वास है, श्रद्धा है और यथार्थ में गुरु हैं, गोरू नहीं, तो अवश्य ही कल्याण होगा, कोई शक नहीं। निश्चित है, सुनिश्चित। गोस्वामी तुलसी दासजी महाराज के लिए लोग कहते हैं कि वे भगवान राम के बहुत बड़े भक्त थे; लेकिन जब हम उनकी वाणी पढ़ते हैं, तो देखते हैं कि उनका झुकाव किस ओर है। वे कहते हैं कि—

राम नाम कलि काम तरु, राम भगति सुर धेनु ।
सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु ।।

वे कहते हैं कि राम-नाम कलियुग में कल्पवृक्ष है—'राम नाम कलि कल्पतरु।' उनकी भक्ति सुर धेनु—कामधेनु है। कल्पवृक्ष के नीचे जाइये, जो कुछ माँगिये, कल्पवृक्ष देता है। मनोकामना की पूर्त्ति कल्पवृक्ष करता है। कामधेनु से जो कुछ खाने-पीने की चीज माँगिये वा और जो कुछ माँगिये, वह देती है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—कल्पवृक्ष और कामधेनु को पाकर तुम्हारा आंशिक मंगल हो सकता है; लेकिन सकल सुमंगल चाहो, तो—'गुरु पद पंकज रेनु।' अर्थात् 'सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु' बतलाया कि देखो! वशिष्ठजी महाराज के पास कामधेनु की पुत्री नन्दिनी थी। उनसे जो कुछ माँगो, वह देती थी; लेकिन विश्वामित्र को उसी कामधेनु को लेकर युद्ध ठन गया। इतना वैमनस्य बढ़ा कि वशिष्ठजी के सौ पुत्रों को विश्वामित्र ने मार दिया। मंगल कहाँ? एक पुत्र क्या, सभी पुत्र मारे गये, क्या उसे मंगल कहेंगे? वह मंगल क्या, षड़मंगल हो गया।

कल्पवृक्ष के लिए कहा जाता है कि जो कुछ माँगो, सब कुछ देता है। कथा है—एक सज्जन घूमने गये। घूमते-घूमते वे थक गये। विश्राम के लिए एक वृक्ष के नीचे चले गये। परेशान थे, श्रान्त-क्लान्त थे, पिपासित थे, थके-माँदे थे। मन में सोचा कि इतना थका हुआ हूँ, यदि पानी मिल जाता, तो अपनी प्यास बुझाता। उसको पता नहीं था कि वह कल्पवृक्ष के नीचे है। नजर उठाकर देखता है एक कलकल धारा बह रही है। सोचने लगा—'अभी तो मैं इसी होकर आया, पानी तो था नहीं, यह कलकल धारा कहाँ से आ गई?' सोचने लगा कि हो सकता है, मुझे दिग्भ्रम हो गया हो। वह स्नान कर लेता है और एक जलपात्र में जल लेता है, वृक्ष के नीचे बैठकर पीने के लिए। पीना चाहता है, फिर मन में आया कि यदि कुछ भोजन मिल जाता, तो भोजन करके पानी पीता, तो एक थाली में भोजन की सारी सामग्रियाँ आ गईं। जितना भोजन करना था, उसने उतना भोजन कर लिया। सोचने लग गया कि वाह! यह भोजन कहाँ से आ गया? अच्छा अब पानी पी लूँ। पानी पी लिया। फिर सोचा, कुछ विश्राम कर लूँ। मन में आया कि यहाँ तो जंगल है, चींटियाँ, कीड़े, साँप-बिच्छू आदि चलते रहते हैं, यदि एक पलंग हो जाता, तो ठीक से आराम करता। एक पलंग आ गया। फिर सोचा—यदि तोशक-तकिया हो जाते, तो बड़ा अच्छा होता। कल्पना करना था कि सारे सामान आ गये। उसपर वह लेटता है। फिर सोचा, वृक्ष के नीचे हूँ, ऊपर चिड़ियाँ है, कहीं बीट कर दे तो? अगर एक आवरण हो जाता कपड़े का, तो सुरक्षित रहता। कपड़घर बन गया। सिरहाने पर सिर रखता है और सोचता है, भाई! यहाँ तो मैं अकेला हूँ,

दूसरा-तीसरा कोई नहीं, अगर बाघ आकर मेरा गला मरोड़ दे तब? बस इतने में ही बाघ आया और उसका गला मरोड़ दिया। उसका 'राम-नाम सत्' हो गया। कल्पवृक्ष के नीचे भी दुःख है, यदि तुम्हारी कल्पना शुद्ध नहीं, विचार तुम्हारे शुद्ध नहीं है, तो कामधेनु और कल्पवृक्ष के समीप भी कष्ट होगा, सकल सुमंगल नहीं होगा। इसीलिए गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु।

बस! मैंने इतना कहा। ❐

यह प्रवचन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ७३वें वार्षिक महाधिवेशन तीर्थराज प्रयाग के त्रिवेणी संगम-तट पर दिनांक २८.०२.१९८१ ई० को प्रातःकालीन सत्संग में हुआ था।

(शान्ति-सन्देश, जून, २०१० ई०)

५९.तेरो को है रोकनहार मगन से आव चली

धर्मप्रिय आदरणीय साधकगण, समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द तथा आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

किसी समय समुद्र शांतभाव में बैठा चिन्तन में मगन था। उसी समय एक कूप उसके निकट पहुँचा और अभिवादन करके एक ओर बैठ गया। सागर ने जब उसकी ओर देखा, तो उसने पाया कि कुएँ का चित्त उदास है, मन खिन्न है; वह दुःखी है। समुद्र ने उससे उसकी उदासी का कारण पूछा। कुएँ ने कहा–'पिताजी! कहने में संकोच होता है, कुछ भय भी होता है, मन में लज्जा भी आती है।' समुद्र ने कहा–"वत्स! पिता के सामने संकोच किस बात का? भय और लज्जा की कोई बात नहीं। क्या तुम भगवान बुद्ध की इस बात को नहीं जानते? भगवान बुद्ध का वचन है–'जो लज्जा करने का स्थान है, वहाँ यदि लज्जा नहीं करता और जहाँ लज्जा नहीं करनी चाहिए, वहाँ जो लज्जा करता है, वह कुपथ में चलता है और उसका फल उसके लिए दुःखमय होता है। जो स्थान भय का नहीं है, वहाँ यदि भय करता है और जहाँ भय का स्थान है, वहाँ यदि भय नहीं करता है, तो वह कुमार्ग में पग देकर दुर्गति का भागी बनता है।' और इस बिहार के पड़ोस में जो बंगाल प्रदेश है, वहाँ की कहावत प्रसिद्ध है–'मिथ्या लज्जा भय, करिते न हय।' जो कहना हो, स्पष्ट कहो।"

अपने पिता के वचन से आश्वस्त होकर कुएँ ने कहा कि पिताजी! मैं देखता हूँ, आपके पास जब मेरी बहनें–गंगा, यमुना आदि नदियाँ आती हैं, तो आप उन बहनों को प्यार देते हैं, प्रेम से बात करते हैं, आलिंगन करते हैं, यहाँ तक कि आप अपनी गोद में बिठा लेते हैं; लेकिन हमारी आपके यहाँ कोई पूछ नहीं। एक पिता की अनेक संतानें होती हैं। सब संतानें एक-सी नहीं होतीं; लेकिन पिता को तो सब संतानों पर समदृष्टि होनी चाहिए। चाहे वह पुत्र हो या पुत्री हो। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

एक पिता के विपुल कुमारा।
होहिं पृथक गुन सील अचारा।।
कोई पंडित कोइ तापस ज्ञाता।
कोई धनवंत सूर कोई दाता।।
कोई सर्वज्ञ धर्मरत कोई।
सब पर पितहि प्रीति सम होई।।

आपकी भी दृष्टि हम सबपर एक-सी होनी चाहिए; लेकिन आपकी दृष्टि एक सम दीखती नहीं। सागर ने कहा–"पुत्र! जरा विचारो तो, तुम्हारी बहनें हैं, वे सब जब मेरे पास आती हैं, तो निश्छल हृदय से आती हैं, उल्लसित भाव से आती हैं, कोई परदा मेरे सामने नहीं रखती हैं। किनारों को तोड़कर आती हैं। क्या तुमने संत कबीर साहब की वाणी नहीं सुनी?

तेरो को है रोकनहार मगन से आव चली।।
लोक लाज कुल की मरजादा, सिर से डारि अली।
पटक्यो भार मोह माया को, निर्भय राह गही।।
काम क्रोधऽहंकार कल्पना, दुर्मति दूर करी।
मान अभिमान दोउ धर पटक्यो, होइ निशंक रली।।
पाँच पचीस करे वश अपने, करि गुरु ज्ञान छड़ी।
अगल बगल के मारि उड़ाये, सनमुख डगर धरी।।

तुमने तो अपनी चारो ओर दीवार बना रखी है, फिर मुझसे कैसे मिल सकते हो?" कुएँ के चारो ओर दीवार होती है और नदी जो बहती रहती है, वह दीवार से घिरी नहीं रहती है।

यह संतमत बतलाता है कि यहाँ भी जो कोई दीवार नहीं रखते हैं, उनके लिए संतमत तैयार है। चाहे वे किसी भी धर्म के हों, किसी भी मजहब के हों, किसी भी सम्प्रदाय के हों, यह संतमत अपना प्यार देने के लिए गोद फैलाकर तैयार है। संतमत में दो शब्द हैं–'संत और मत।' संत किनको कहते हैं? किनको हम संत कहें? उपनिषद् में आया है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

–महोपनिषद्, अ० ४/८२

अर्थात् परे से परे (परमात्मा) को देखने पर हृदय की ग्रंथि खुल जाती है, सभी संशय छिन्न हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।

गो० तुलसीदासजी ने भी कहा है–

जड़ चेतनहिं ग्रंथि पड़ि गई।यदपि मृषा छूटत कठिनई ।।

जड़-चेतन की ग्रंथि जिनकी खुल जाती है, उनको क्या मिलता है? संत कबीर साहब कहते हैं–

लाल लाल सब कोई कहै, सबकी गाँठी लाल ।
गाँठी खोलि के परखै नहीं, तासे भये कंगाल ।।

जो इस जड़-चेतन की गाँठ को खोल देते हैं, उनको लाल मिलता है। जो लाल संसार में जौहरी के यहाँ मिलता है, वह लाल नहीं; असल में वह लाल है–परमात्मा, अल्लाह, गॉड जो कहिये। जो परमात्मा रूपी लाल को पाता है, उसका जीवन निहाल हो जाता है; कंगाल वह नहीं रह जाता, मालोमाल हो जाता है और वह ऐसा हो जाता है कि उसपर काल की दाल नहीं गलती। उसी लाल को पाने के लिए संत-महात्मागण कहते हैं। जो परमात्मारूपी लाल को प्राप्त कर चुके हैं, वे ही संत कहलाते हैं। वे संत यह नहीं कहते कि परमात्मारूपी लाल तुमको कहीं बाहर में मिलेगा।

एक यात्री था। यात्रा कर रहा था। उसके पास में एक लाल था। एक कोई पॉकेटमार था। उसको मालूम हो गया कि इस यात्री के पास एक लाल है। किसी तरह लाल लेना चाहिए। वह उस यात्री का साथी बन गया। ट्रेन से जाते-जाते एक स्टेशन पर दोनों उतरे। एक ही कमरे में दोनों ठहरे। जो पॉकेटमार था, उसने कहा–'भाई! देखिये हमलोग परदेशी ठहरे। न आपके पास कोई साथी है और न मेरे ही साथ कोई है। आपके पास में भी कुछ जरूर है और मेरे पास में भी कुछ है। हम दोनों यदि एक ही साथ सो जाते हैं, तो हमलोगों का माल कोई लेकर गायब भी कर सकता है। इसलिए हम दोनों में तीन घंटे आप जगें और तीन घंटे मैं जगूँगा। इस तरह सोते-जागते हमलोग रात बितावें।' यात्री ने कहा–'हाँ भाई! ठीक कहते हो। देखो, तुम मुझसे उम्र में कम ही मालूम पड़ते हो, इसलिए पहले तुम ही सो जाओ। मैं जगकर रहूँगा।' वह पॉकेटमार तीन घंटे तक सो गया। इसने भी पॉकेटमार को परख लिया था कि यह जरूर कोई ठग है, मुझे ठगने आया है। इसलिए इसने अपने पास का लाल उसकी गठरी में रख दिया। तीन घंटे बीतने पर उसे जगा दिया और कहा कि भाई! तीन घंटे तुम्हें सोये हो गये, अब तुम जगो और मैं सोता हूँ। पॉकेटमार ने कहा–'हाँ! भाई साहब! ठीक है, अब आप सोइये।' यह निश्चिन्त होकर सो गया। जबतक वह सोया रहा, तबतक पॉकेटमार इसकी कमर, जेब, गठरी को टटोलते रहा। खोजते-खोजते तीनों घंटे बीत गये; लेकिन लाल-माल का पता नहीं चला। तीन घंटे के बाद इसको जगा दिया और कहा–'भाई साहब! सबेरा हो गया। अब हम दोनों दूसरी-दूसरी राह से जाएँगे; लेकिन एक बात आपसे पूछना चाहता हूँ।' इसने कहा–'क्या पूछना चाहते हो?' पॉकेटमार ने कहा–'देखिये, मैं तो ठग हूँ। मुझे पता चल गया है कि आपके पास में लाल है। उसी लाल को लेने के लिए ही मैंने आपका पीछा किया था। सारी रात उस लाल की खोज में बीत गई। आपकी जेब, कमर को टटोलते-टटोलते मैं थक गया; लेकिन लाल का पता नहीं चला। अब मुझे उस लाल का पता बता दें कि आप लाल को कहाँ और कैसे रखे थे? अब तो आप अपनी ओर चले जाएँगे और मैं भी अपनी ओर।' इसने कहा–'अरे! तू दो नम्बर का ठग है। मैं तो एक नम्बर का ठग हूँ। मुझे तो पहले से ही पता चल गया था कि तू ठग है। जिस समय तू सो जाता था, मैं तेरी गठरी में लाल को रख देता था। देखो, अभी भी तेरी ही गठरी में लाल है।' उसकी गठरी से लाल निकालकर रख लिया और कहा–'देखो! तेरी ही गठरी में लाल था न।' कहने का मतलब कि जो दूसरे की गठरी में लाल खोजेगा, उसको लाल कैसे मिल सकता है? लाल है

अपनी गठरी में, खोजता है दूसरे की गठरी में। लाल मिलेगा तो कैसे? इसी तरह जड़-चेतन की गाँठ अपने अंदर में है। इसको खोलकर जो अपने अंदर नहीं खोजता है, उसको परमात्मरूपी लाल कैसे मिलेगा? इसीलिए उसकी कंगाली बनी ही रहती है। इसीलिए संत-महात्मा लोग कहते हैं—बाहर में मत खोजो, अपने अंदर में खोज करो। संत-महात्मा लोग अपने अंदर में खोजकर परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए उपनिषत्कार ने कहा—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।'

जहाँ प्रत्यक्षता है, वहाँ संशय कहाँ? परमात्मा को जो प्राप्त कर लेते हैं, उनके हृदय की गाँठ खुल जाती है और सारे संशय दूर हो जाते हैं। हाँ, जहाँ प्रत्यक्षता नहीं है, वहाँ संशय है कि प्रभु हैं या नहीं। जिनको परमात्मा का दर्शन हो जाता है, उनके सारे धर्म नष्ट हो जाते हैं। उनको न अच्छे कर्म बाँध सकते, न बुरे कर्म ही। अशुभ-शुभ कर्म से वे परे हो जाते हैं। सत्-असत् से आगे चले जाते हैं। यदि पाप का बंधन लोहे का है, तो पुण्य का बंधन सोने का है। चाहे अपने को लोहे की जंजीर से बाँधिये या सोने की जंजीर से बाँधिये। आखिर दोनों बंधन-ही-बंधन हैं। संत-महात्मा लोग कहते हैं, इन दोनों से ऊपर उठ जाओ। ऐसे जो होते हैं, वे ही संत-महात्मा कहलाते हैं। संत-महात्माओं की दृष्टि परे-से-परे को देखनेवाली होती है। जड़ से परे चेतन और चेतन से भी परे देखनेवाली उनकी दृष्टि होती है। अपरा से परे परा और परा से भी परे देखने की दृष्टि उनकी होती है। क्षर से परे अक्षर और अक्षर से परे पुरुषोत्तम को देखने की जिनकी दृष्टि होती है, उन्हीं के लिए कहा—**'तस्मिन्दृष्टे परावरे।'** स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण के परे जो चेतन है, उनको भी जो पार कर जाते हैं, वे संत कहलाते हैं। ऐसे ही संत का जो मत है, वह 'संतमत' है। चाहे वे संत ईसाई हों, मुसाई हों, वैदिक हों, मुसलमान हों, इस देश के हों या अन्य देश के हों, साधु-वेश में हों या गृहस्थ-वेश में हों, चाहे इस जाति के हों या उस जाति के हों वा किसी भी जाति के हों।

जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई ।।

मुण्डकोपनिषद् में आया है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं
गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

अर्थात् जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को त्यागकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार संत-महात्मागण नाम-रूप का सहारा लेकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करते हैं।

ऐसे संतों का जो मत होता है, वह संतमत कहलाता है। ऐसे संत एक ईश्वर पर विश्वास करते हैं और सबको उपदेश करते हैं कि एक ईश्वर पर विश्वास करो। ईश्वर की प्राप्ति अपने अंदर होगी, बाहर में नहीं होगी। इसके लिए अपने को परम पवित्र बनाना होगा। गुरु नानक साहब ने कहा है—

सूचै भाडै साचु समावे, विरले सूचाचारी।
तन्तै कउ परम तंतु मिलाइया, नानक सरणि तुमारी ।।

पवित्रता केवल शरीर धोने से नहीं आती। पवित्रता आती है अन्तःकरण के धोने से। अन्तःकरण धोने का क्या उपाय है? इसके लिए मानस जप करो, मानस ध्यान करो, दृष्टि साधन की क्रिया करो और नादानु-सन्धान करो, तब अन्तःकरण की पवित्रता होगी। इस क्रियाओं के साथ पाँच पापों से अपने को बचाए रखो अर्थात् जो झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार—इन पंच पापों से विरक्त होकर प्रभु-भक्ति में अनुरक्त रहते हैं, वे संत कहलाते हैं। साथ ही संतों ने यह बतलाया कि परमुखापेक्षी मत बनो।

जीवन बिताओ स्वावलम्बी, भरम भाँड़े फोड़िकर।
संतों की आज्ञा हैं ये मैंहीं, माथ धर छल छोड़िकर ।।

—महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

इसलिए स्वोपार्जन करो। अपने पसीने की कमाई से जीवन-यापन करो। परिवार का जीवन-यापन करो। देश की भलाई करो। तुममें क्षमता है, तो विश्व की भलाई करो। यही संतों का मत है। थोड़ा-सा आपलोगों के सामने मैंने संतों के उपदेशानुसार अपना विचार रखा। ● (पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन ७४वें वार्षिक महाधिवेशन, राँची नगर के शहीद मैदान में दिनांक १९.०३.१९८१ ई० को अपराह्णकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था। दिसम्बर, २००९)

६०. जनमत जग जननी दुख लागी

किसी समय भगवान श्रीराम साकेत नगर–अयोध्याजी में उपस्थित थे। उनकी उपस्थिति में ही वहाँ के पुरजन, परिजन, गुरुजन, सज्जन–ये सबके सब दुःखी थे। सभी दुःख-शोक से आकुल-व्याकुल थे, छाती पीटते थे, सिर धुनते थे।

पुनः किसी दूसरे समय का प्रसंग है कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम श्रीअयोध्याजी में नहीं थे; परन्तु वहाँ के पुरजन, परिजन, गुरुजन, सज्जन सबके सब सुखी थे, प्रसन्न थे, खुशियाँ मना रहे थे। बात उलटी-सी लगती है; किन्तु उलटी नहीं, सुलटी है। आप कहेंगे–कैसे? रामचरितमानस का वह प्रसंग आपको स्मरण होगा, जबकि भगवान श्रीराम युवराज-पद पर प्रतिष्ठित होनेवाले थे; लेकिन माता कैकेयी के कहने से राजा दशरथजी ने उनको वन जाने की आज्ञा दे दी थी। उस समय श्रीभगवानजी तो अयोध्याजी में ही थे, किन्तु वनवास की बात सुनते ही सब-के-सब महादुःखी हो रोने लगे थे। उस समय वहाँ दुःख का साम्राज्य छा गया था।

भगवान श्रीराम १४ वर्षों के लिए जंगल गये थे। समय बीतते-बीतते इतना बीता कि मात्र एक दिन रह गया था। उस समय भरतजी की कैसी दयनीय दशा थी, गो० तुलसीदासजी महाराज ने इस भाँति चित्रित किया है–

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥

श्रीभरतजी विलाप कर रहे थे। इतने में ही श्रीहनुमानजी आते हैं और खबर देते हैं कि भगवान पुष्पक विमान से पधार रहे हैं। सुनते ही सबके सब प्रसन्न और सुखी हो गये। भगवान श्रीराम इस समय अयोध्या में नहीं हैं; किन्तु पुरवासी खुशियाँ मना रहे हैं। इसी हेतु मैंने उपर्युक्त दोनों प्रकार की बातें कहीं थीं।

हाँ, अब आगे का प्रसंग सुनिये। जब भगवान श्रीराम राजा होकर राज-काज सँभालने लग गये, उस समय उन्होंने गुरु, द्विज, पुरवासी, सज्जन, परिजन एवं समस्त प्रजाओं को बुलाकर इस प्रकार उपदेश दिया था–

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

उनके कहने का तात्पर्य यह है कि चार खानियों में चौरासी लाख योनियाँ हैं। यह अविनाशी जीव माया की प्रेरणा से काल, कर्म, स्वभाव और गुण के घेरे में रहकर इन चारो खानियों–अंडज, पिंडज, उष्मज, स्थावर की चौरासी लाख योनियों में भटकता है। कुछ लोगों ने चौरासी लाख योनियों की गणना इस भाँति बतायी है–

"तीस लाख स्थावर जानो।
नौ लाख सब जलचर मानो॥
ग्यारह लाख कृमि कवि गाये।
पक्षी गण दस लाख सुहाये॥
बीस लाख पशु जानहु भाई।
चार लाख वानर समुदाई॥
जब यह चौरासी छूटि जावै।
तब मानुष के तन को पावै॥"

'दासबोध' में सब इसी प्रकार बतलाकर चार लाख 'वानर' की जगह 'मनुष्य' लिखा है। खैर! जो कुछ भी हो, जीव को असह्य कष्ट और वेदना से दुःखी होते देखकर करुणा-सागर परम प्रभु करुणा करके मनुष्य का शरीर देते हैं।

भगवान श्रीराम के वचन के अध्ययन से यह आशय निकलता है कि मनुष्य का शरीर पीछे मिला है। इसके पहले तो मनुष्येतर पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि थे। संत तुलसीदासजी के वचन में है–

पूस कीट पतंग होते, किधौं तरबर पच्छि रे।
किधौं जल के जीव होते, किधौं सागर मच्छि रे॥
भ्रमत षट् ऋतु दिवसनिशि, तन सहत है बहु दुक्ख रे।
हरि विमुख सठ जीव कतहूँ, नाहिं पावत सुक्ख रे॥

पशुओं में भी भिन्नता होती है, सबकी बनावट एक-सी नहीं होती। कितने पशुओं को सींग और पूँछ दोनों होते हैं; जैसे गाय, बैल, हिरन, भैंस आदि। कुछ पशुओं को सींग नहीं होते, मात्र पूँछ होती है; जैसे बाघ, सिंह, घोड़ा, हाथी, कुत्ता आदि। लेकिन गोस्वामी तुलसीदासजी के विचार में बिना सींग और पूँछ के भी पशु होते हैं। कौन? इसके उत्तर में वे कहते हैं–

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वाण।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ विषाण॥
(रामचरितमानस)

अर्थात् ईश्वर-भक्ति किये बिना ही जो जन मुक्ति चाहते हैं, वे बिना पूँछ और सींग के पशु हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिकं विशेषो ज्ञानेनहीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात्–आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन; ये सब विषय पशु और मनुष्य में एक समान ही हैं यानी कुछ भी प्रभेद नहीं है। केवल ज्ञान-लाभ करने पर ही मनुष्य पशु से श्रेष्ठ हो सकता है; सुतरां स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानहीन मनुष्य पशुवत् है। और वह, जो अपने स्वल्प ज्ञान के अभिमान में बड़ों के उच्च्य ज्ञान को तुच्छ कर जानता है, पशु के समान ही है। बोल-चाल की भाषा में नासमझ वा कम समझ के लोगों को भी कुछ लोग बैल, गदहा, ऊँट आदि कह देते हैं। एक संत ने कहा है–एक कुत्ते को भूँकते देखकर अन्य कुत्ते भी भूँकने लगते हैं। एक सियार की 'हुआँ-हुआँ' आवाज को सुनकर निकटवर्ती अन्य गीदड़ भी हुआँ-हुआँ करने लगते हैं। उसी तरह किसी एक की बात को सुनकर सत्यासत्य का निर्णय किये बिना उसी की तरह बोलनेवाले, उन कुत्तों और गीदड़ों से कम नहीं है।

जैसे स्वान देखि कछु भूँकै, उसने तो कुछ पाई।
उसकी भूँक जो सुनि कै भूँकै, सो अहमक कहलाई॥

संत कबीर साहब कहते हैं–

कामी कुत्ता तीस दिन, अन्तर रहै उदास।
कामी नर कुत्ता सदा, छः ऋतु बारह मास॥

गोस्वामी तुलसीदासजजी महाराज विनय-पत्रिका में कहते हैं–

"ते नर नरक-रूप जीवत जग,
भव-भंजन पद विमुख अभागी।
निसि वासर रुचि पाप असुचि मन,
खल मति मलिन निगम पथ त्यागी॥१॥
नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को,
स्त्रवन न राम-कथा अनुरागी।
सुत वित दार भवन ममता निसि,
सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥२॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि,
सठ हठ पियत विषय-विष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि दुख लागी॥३॥

किसी ने कहा है, जो स्वयं दुःख सहकर दूसरे को सुख देते हैं, वे देवतुल्य हैं। जो अपने सुख के लिए दूसरे को दुःख नहीं देते हैं, वे मनुष्य हैं। जो स्वयं के सुख के लिए दूसरे को दुःख देते हैं, वे राक्षस हैं और जो दूसरे को दुःख देने के लिए स्वयं दुःख सहते हैं, उनके लिए कोई संज्ञा नहीं है। भगवान जानें, वे कौन हैं? अथवा हम स्वयं अपने लिए निर्णय करें, कौन हैं?

गुरु पशु नर पशु नारि पशु, वेद पशु संसार।
मानव सोई जानिये, जाहि विवेक विचार॥

इस दृष्टि से मानव-शरीर में आने के पूर्व हम पशु थे तथा मनुष्य-शरीर में आने पर भी विवेकहीन होने के कारण पशु हैं। इन दोनों के संबंध में हमलोगों ने समझ लिया। अब भविष्य में भी पशु होंगे। कौन? इस विषय की पुष्टि के लिए संत कबीर साहब की सूक्ति सुनिये–

लख चौरासी भरमि कै, पौ पर अटके आय।
अबकी पासा ना पड़ै, फिर चौरासी जाय॥

पचीसी एक प्रकार का खेल है और चौसर की विसात पर खेला जाता है। इसमें चौरासी कोठे (खाने) होते हैं और चार गोटियाँ होती हैं। सात कौड़ियों को एक साथ मुट्ठी में लेकर नीचे गिरायी जाती हैं। उनमें जितनी कौड़ियाँ चित होती हैं, उसी क्रम से एक-एक गोटी चलती है। इस प्रकार चलती-चलती गोटी जब चौरासीवें कोठे में पहुँचती है, तब वहाँ संज्ञा 'पौ' हो जाती है। उस समय जब एक कौड़ी चित होती है, तब गोटी चौरासी से बाहर हो जाती है और उसकी गोटी 'लाल' कही जाती है। यदि एक से अधिक कौड़ियाँ चित होती हैं, तो उस गोटी को पुनः चौरासी कोठों में घूमना पड़ता है।

इस दृष्टान्त के द्वारा संत कबीर साहब ने यह सीख दी है कि मनुष्य-शरीर चौरासी लाख योनियों में अंतिम योनि है। इसमें भगवद्भजन करके यदि जीव परम प्रभु परमात्मा को पा लेता है, तो वह भी लाल हो जाता है।

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

यानी आवागमन से छूट जाता है, अन्यथा पुनः चौरासी लाख योनियों के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। उनके विचार में जो लोग सचेत नहीं, अचेत रहेंगे यानी भगवद्भजन नहीं करके भौतिक भोगों में रमण करते रहेंगे, वे लोग पुनः कूकर-शूकर आदि योनियों में पड़कर दुस्सह दुःख भोगेंगे।

कहै कबीर चेत अजहूँ नहिं, फिर चौरासी जाई।
पाय जन्म कूकर सूकर को, भोगेगा दुःख भाई॥

भगवान बुद्ध ने भी कहा—आलसी, बहुत खानेवाला, निद्रालु, करवट बदल-बदलकर सोनेवाला, खिला-पिलाकर पुष्ट किये-गये मोटे सूअर की तरह मंदबुद्धि बार-बार गर्भ में पड़ता है।

मिद्धि यदा हो तिमहग्धसो च निद्दायिता सम्परिवत्त सायी।
महावराहो'व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो॥
(धम्मपद नागवग्गो)

संत चरणदासजी महाराज की वाणी में है—

सतगुरु सरना न लगे, किया न हरि का खोज।
जौं खर कूकर सूकरा, अरु जंगल का रोझ॥
जैसा तैसा खाय करि, पेट भरे भरि लेह।
पड़कर सोवै भोर लगि, सो कूकर की देह॥
जो पावै सोई चरै, करै नहीं पहचान।
पीठ लदै हरि ना जपै, ताकूँ खर ही जान॥

संत कबीर साहब प्राप्त अवसर से शीघ्र ही लाभ उठाने का प्रबल आदेश देते हैं और कहते हैं कि इसका शुभ संयोग बार-बार नहीं मिलता। यदि इस जन्म में चूक गया, तो मूक प्राणी बन दिन-रात दुःख के भागी बनोगे। यथा—

काल्ह करै सो हालहि करि ले, फिर न बने यह साथा।
चौरासी में जाय पड़हुगे, भुगतो दिन अरु राता॥

और संत सूरदासजी महाराज कहते हैं—

भजन बिनु बैल विरानै ह्वै हौ।
पाउँ चारि, सिर सींग, गूँग मुख, तब कैसे गुन गैहौं॥
चारि पहर दिन चरत-फिरत बन, तऊ न पेट अघैहौं।
टूटे कंध अरु फूटि नाकनि, कौ लौ धौ भूस खैहौं॥
लादत जोतत लकुट बाजिहैं, तब कहँ मुँड दुरैहौं।
सीत घाम धन विपत्ति बहुत विधि, भार तरैं मरि जैहौं॥
हरि सन्तन कौ कह्यौ न मानत, कियो आपुनौ पैहौं।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, मिथ्या जनम गँवैहौं॥

इतना ही नहीं, संत कबीर साहब ने तो भक्ति रिक्त लोगों के भविष्य के सात जन्मों की चर्चा एक साथ की है। उन्होंने उसका क्रम बतलाया है कि मानव-शरीर छूटने के बाद तुम किस-किस योनि में जाओगे तथा वहाँ तुम्हारी क्या स्थिति होगी!

दिवाने मन भजन बिना दुख पैहौ।।टेक॥
पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ।
काँटे पर लै पानी पैहौ, प्यासन ही मरि जैहौ॥
दूजा जनम सुवा का पैहौ, बाग बसेरा लेइहौ।
टूटे पंख बाज मँडराने, अधफड़ प्रान गँवैहौ॥
बाजीगर के बानर होइहौ, लकड़िन नाच नचैहौ।
ऊँच नीच से हाथ पसारिहौ, माँगे भीख न पैहौ॥
तेली घर के बैला होइहौ, आँखिन ढाँप ढँपैहौ।
कोस पचास घरै में चलिहौ, बाहर होन न पैहौ॥
पँचवाँ जनम ऊँट के पैहौ, बिन तौले बोझ लदैहौ।
बैठे से तो उठै न पैहौ, घुरच घुरच मरि जैहौ॥
धोबी घर के गदहा होइहौ, कटी घास न पैहौ।
लादी लादि आपु चढ़ि बैठे, लै घाटे पहुँचैहौ॥
पंछी माँ तौ कौवा होइहौ, करर करर गुहरैहौ।
उड़ि के जाइ मैला पर बैठो, गहिरे चोंच लगैहौ॥
सत्तनाम की टेर न करिहौ, मन हीं मन पछितैहौ।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, नरक निसानी पैहौ॥

संत और भगवंत के वचनों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूत में पशु थे, वर्तमान में पशु है और भविष्य में पशु रहेंगे। अतएव यदि हम इससे मुक्त होना चाहते हैं, तो ईश्वर का भजन करें। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में कागभुशुण्डिजी और गरुड़जी का संवाद लिखा है—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥

अर्थ—जैसे बिना धरती के जल नहीं रह सकता, चाहे कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे! हे गरुड़जी! सुनिए, उसी प्रकार हरि-भक्ति को छोड़कर मोक्ष

सुख दूसरी जगह रह नहीं सकता। इसलिए यदि हम आवागमन के दुःख से छूटना चाहते हैं, चौरासी में पड़ना नहीं चाहते हैं, भवबंधन से मुक्त होना चाहते हैं, तो ईश्वर का भजन करें। संतों ने कहा है—ईश्वर की भक्ति करो; किन्तु भक्ति की यथार्थ विधि जानकर करो। यानी जैसी भक्ति होनी चाहिए, वैसी भक्ति करो। देखादेखी की भक्ति से बात बनती नहीं। उससे भगवत् भक्ति का रंग लगता नहीं। अभंग भक्ति होती नहीं। फलतः भवभंग होता नहीं।

देखा देखी भक्ति का, कबहुँ न चढ़सी रंग।
विपति पड़े यों छाड़सी, ज्यों केंचुली भुजंग॥

गुड़वाा-गुड़िया का खेल खेलकर समय बिताने से कोई लाभ नहीं होगा। संत कबीर साहब के वचन में है—

करो जतन सखी साईं मिलन की।
गुड़वा गुड़िया सूप सुपलिया,
तजि दे बुध लड़कैयाँ खेलन की।

जैसे यदि कला सीखनी है, तो किसी कलाकार से सीखो। उसी तरह भव-पार होना चाहते हो, तो सद्गुरु-कर्णधार से मिलो। ईश्वर की भक्ति करना है, तो किसी जानकार से जानकर करो। मात्र पढ़न्त, सुनन्त और मनगढ़न्त ज्ञान से काम नहीं चलता। यदि किताबों को पढ़ लेने से लोग विद्वान् हो जाते, तो इंजीनियरिंग की पुस्तकों को पढ़कर इंजीनियर, कानून की किताबों को पढ़कर वकील और मेडिकल बुक्स को पढ़कर डॉक्टर बन जाते, विद्यालय-महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की क्या आवश्यकता थी? किन्तु ऐसा नहीं होता है। जिन्होंने जिस विषय का अध्ययन किया है, उसमें उत्तीर्णता प्राप्त की है, उनके पास जाकर उस विषय का अध्ययन करना पड़ता है। उसी तरह जिन्होंने भगवद्भजन करके सर्वेश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, उस अनुभवी संतों के पास जाकर हम **सैद्धांतिक और प्रायोगिक** (Practical and Theoritical) दोनों तरह से सीखें।

वे बतलायेंगे कि सत्य क्या है, असत्य क्या है, ईश्वर-स्वरूप क्या है, उसको पाने का रास्ता क्या है, किस तरफ चलना है, किस तरह चलना है आदि। संत राधास्वामीजी महाराज कहते हैं—

"यह तन दुर्लभ तुमने पाया।
कोटि जनम भटका जब खाया॥
अब याको बिरथा मत खोओ।
चेतो छिन-छिन भक्ति कमाओ॥
भक्ति करो तो गुरु की करना।
मारग शब्द गुरु से लेना॥
शब्द मारगी गुरु न होवे।
तो झूठी गुरुआई लेवे॥"

उनके कहने का प्रयोजन यह है कि जिन्होंने सुरत शब्द-योग की साधना की है, उनको गुरु धारण करें। अन्यथा जिनको नाद-संबंधी ज्ञान नहीं है, ऐसे गुरु धारण करने के योग्य नहीं है। हाथरस निवासी संत तुलसी साहब ने गुरु और शिष्य दोनों के संबंध में कहा है—

मुर्शिदे कामिल से मिल सिद्क और सबूरी से तकी।
जो तुझे देगा फहम शहरग के पाने के लिए॥

अर्थात् जो पहुँचे फकीर—संत सद्गुरु है।, सच्चाई और संतोष धारण करके उनसे मिलो, तुम्हें सुषुम्णा के पाने की सूझ देंगे। जहाँ संतोष और सच्चाई रहेगी, वहाँ अच्छाई-ही-अच्छाई है। इसके अतिरिक्त जहाँ लालच और झुठाई होगी, वहाँ अच्छाई की कतई गुंजाइश नहीं। परमाराध्य श्रीसद्गुरु महाराज जी के वचन में है—'नादानुसंधान (सुरत-शब्द-योग) लड़कपन का खेल नहीं है। इसका पूर्ण अभ्यास यम-नियम-हीन पुरुष से नहीं हो सकता है।

यद्यपि दृष्टियोग से शब्दयोग आसान है, फिर एकविन्दुता प्राप्त करने तक के लिए दृष्टियोग अवश्य होना चाहिए। परन्तु और विशेष दृष्टियोग कर तब शब्द अभ्यास करने का ख्याल रखना आवश्यक है; क्योंकि इसमें विशेष काल तक कठिन मार्ग पर चलते रहना है। ज्योति नहीं मिले तो उतनी हानि नहीं, जितनी हानि कि शब्द के नहीं मिलने से है। नादानुसंधान में पूर्णता के बिना परम प्रभु सर्वेश्वर की भक्ति में पूर्ण होकर अपना परम कल्याण बना लेना असंभव है।

कबीर पूरे गुरु बिना, पूरा शिष्य न होय।
गुरु लोभी शिष्य लालची, दूनी दाझन होय॥

जब कभी पूरे और सच्चे सद्गुरु मिलेंगे, तभी उनके सहारे अपना परम कल्याण बनाने का काम समाप्त होगा। (शान्ति-संदेश, अप्रैल १९९५)

यह प्रवचन साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर दिनांक—१६.१.१९८३, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में हुआ था।

६१. ईश्वर-भजन से भवसागर तर सकते हैं

जिन्होंने अधिक दिनों तक संतों का संग यानी सत्संग किया है, वे समझ पाये हैं कि संसार में यदि सार है, तो वह ईश्वर का भजन है—भगवद्भक्ति है। संत सद्गुरु से दीक्षित होकर वे भजन करने में लग जाते हैं। किन्तु जिस समय वे भजन करने लगते हैं, तो मन की क्या-क्या दशा होती है? मन की कैसी-कैसी अवस्थाएँ होती हैं? यह वे ही समझ पाते हैं। सब कोई ईश्वर-भजन करना चाहते हैं। लेकिन प्रायः यही सबकी ओर से शिकायत रहती है कि भजन में मन लगता ही नहीं है। क्यों नहीं लगता है? इसलिए कि हम मन लगाकर सत्संग नहीं करते हैं।

भगवद्भजन और सत्संग—इन दोनों का आपस में बहुत बड़ा घनिष्ठ संबंध है। जिस तरह कोई तैराक नदी में तैर रहा हो। तैरते-तैरते वह कुछ दूर चला गया हो। पूरी नदी वह अभी पार कर नहीं पाया है। बीच में ही वह थक गया है। थक जाने के कारण वह आगे बढ़ने में असमर्थ हो गया है। अब उस स्थान से हिलना डुलना भी उससे मुश्किल हो गया। है। यानी वह ऐसा थक गया कि कुछ कर नहीं सकता। दम तोड़ने को तैयार हो गया है। वह सोचता है कि अब मेरी अंतिम घड़ी है। लेकिन प्रभु की कृपा हो जाए और एकाएक उसको चट्टान मिल जाए, तब उस समय उसकी प्रसन्नता कैसी होगी? सब कोई समझ सकते हैं। उस चट्टान पर वह टिक जाएगा। उसपर आराम कर लेगा। थकावट दूर कर लेगा। फिर तैरना शुरू करेगा और तैरते-तैरते वह नदी पार कर जाएगा। उसी तरह हमलोग इस संसार-सागर में डूबते-उतराते हैं और दम तोड़ने के लिए ही तैयार हैं। जिस तरह तैराक के लिए चट्टान सहारा का काम करता है, वहाँ वह आराम कर लेता है, उसी तरह यह सत्संग भवसागर से पार होने में चट्टान का काम करता है। मन संसार के विषयों में भागता है और जब वह सत्संग में आकर कुछ सुनता है, समझता है तो वह अपने मन को कहता है—तुम जाते कहाँ हो? तुमको जाना चाहिए किधर और तुम जा रहे हो किधर? समझा-बुझाकर वह सत्संगरूपी चट्टान पर मन को टिका देता है। मन को ठहरा देता है। फिर वह साधना करने में जूट जाता है। साधना करते-करते वह भवसागर पार कर जाता है।

वस्तुतः वह साधना या भगवद्भजन अकेले में करने की चीज है। अगर अकेला नहीं कर मेले में भजन करना चाहेंगे, तो झमेला होगा। क्योंकि मेले का खेला कुछ और होता है। आपलोगों ने देखा होगा। हमलोगों के यहाँ तो बहुत मेले लगते हैं न! और उन मेलों में झुंड के झुंड लोग जाते हैं। स्त्रियाँ जाती हैं, बहुत-से पुरुष जाते हैं, युवक जाते हैं, युवतियाँ जाती हैं, बच्चियाँ जाती हैं, बच्चे जाते हैं, बूढ़े जाते हैं यानी सब तरह के लोग वहाँ जाते हैं। मेले में जब वे लोग घूमने लगते हैं, तो कितने के साथ में छोटा नन्हा-मुन्ना भी रहता है। देखते-देखते कहीं वह बच्चा कुछ देखने लग जाता है और उसकी माँ या उसका बाप आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार वह बच्चा वहीं छूट जाता है। थोड़ी देर तक तो वह बच्चा जो तमाशा देख रहा था, उसमें मशगूल था। उस तरफ से उसकी नजर जब हटती है, तो वह देखता है कि न माँ है, न बाबूजी ही हैं। तो वह बच्चा रोना शुरू कर देता है। पहले सिसक सिसककर, पीछे फूट-फूटकर रोने लग जाता है। कोई दयावंत होते हैं, तो वे उस बच्चे को अपनी गोद में उठा लेते हैं और पूछते हैं—'बेटे! क्यों रो रहे हो?' बच्चा तो केवल रोना जानता है। वह बेचारा माँ-माँ कहकर जोर से रोने लगता है। छोटा-सा बच्चा है न! पुनः उससे पूछता जाता है, तुम्हारा घर कहाँ है? तुम्हारा नाम क्या है? तुम्हारे पिताजी का नाम क्या है? बच्चा अगर कुछ समझ-बोध वाला हुआ तो अपना नाम, पिताजी का नाम और घर का ठिकाना बता देता है। जिन्होंने गोद में उठा लिया था, वे उसको ठौर ठिकाने पर पहुँचा देते हैं। अगर बच्चा कुछ बोलता नहीं है, केवल रोता ही रहता है, तो वे सज्जन क्या करते हैं? उसको खाने के लिए उसके हाथ में मिठाई देते हैं। बच्चा मिठाई खाकर कुछ देर चुप रहता है। फिर वे सज्जन कुछ खिलौने लाकर उसके सामने रख देते हैं। कुछ देर खिलौने में भी

बच्चा भूला रहता है। पीछे जब उसको फिर माँ-बाप की याद आ जाती है, तो खिलौना फेंक देता है, मिठाई भी फेंक देता है और रोना शुरू करता है। अब उस रोते हुए बच्चे को दुःख की हालत से छुड़ाने के लिए क्या उपाय है? उसको दुःख से छुड़ाने का यही उपाय है कि येन-केन-प्रकारेण उसको उसके माँ-बाप के पास पहुँचा दिया जाए; क्योंकि जबतक उसकी माँ या बाप से भेंट नहीं हो जाती, तबतक उसका रोना नहीं छूट सकता।

अब विचारिये! यह मेला क्या है? वह बच्चा कौन है, जो रोता है? वह मिठाई क्या है? गोद में उठानेवाला कौन है, जो माँ-बाप के पास पहुँचा देता है? यह संसार मेला है, इसमें पंच विषयों का झमेला है। हमलोग चलते हैं, उन्हीं पंच विषयों को देखने के लिए, भोगने के लिए। कहीं किसी विषय में हम लसक जाते हैं, तो लगता है—जैसे परमात्मा रूपी माँ-बाप बच्चे के आगे से खिसक गये। उनका संग छूट गया। जब कभी हमें सुधि आती है कि हमारे परम पिता परमात्मा कहाँ हैं? तो हम दुःखी होते हैं और रोने लगते हैं। जिस समय हमलोग विषय-भोग करते हैं, चाहे वह पंच विषयों में से कोई भी क्यों न हो, उसमें हम मशगूल हो जाते हैं, जैसे कि बच्चे मिठाई और खिलौने में होते हैं। लेकिन जब बुद्धि-विवेक संकेत देता है, समझाता है कि कहाँ तुम भूले हुए हो? अरे! ये पंच विषय क्या हैं? विष-युक्त मिठाइयाँ और इन्द्रियाँ ठग हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बच्चा किसी ठग के हाथ में पड़ जाता है। ठग उस बच्चे को ले जाता है। उसका अंग भंग कर उससे भीख मँगवाता है। कभी किसी के हाथ में बेच भी लेता है। इस प्रकार दो तरह के लोगों के हाथों में बच्चे पड़ जाते हैं। यदि ठग के हाथ में पड़ गये, तो उसका जीवन बर्बाद होता है और यदि कहीं सज्जन के हाथ में पड़ गये, तो वे उसको ठीक ठिकाने पर पहुँचा दते हैं। वे ठीक ठिकाने पर पहुँचानेवाले कौन हैं? संत सद्गुरु। संत तुलसी साहब कहते हैं—

कोइ भेटैं दीन दयाल डगर बतलावैं।
जेहि घर से आया जीव तहाँ पहुँचावैं॥
दरसन उनके उर माहिं करैं बड़ भागी।
तिनके तरने की नाव किनारे लागी॥
कहिं वे दाता मिल जायँ करैं भव पारी।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी॥
सत्संग करना मन तोड़ शरण संतन की।
अन्दर अभिलाषा लगी रहे चरनन की॥
सूरत तन मन से साँच रहै रस पीती।
कोइ जावै सज्जन कुफुर काल को जीती॥
अमृत हरदम कर पान चुवै चौधारी।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी॥

जो संत सद्गुरु होते हैं, वे परम दयालु होते हैं। जैसे सज्जन लोग बच्चे को गोद में लेकर उसके घर तक पहुँचाते हैं, उसी तरह संत सद्गुरु ईश्वर से मिलाते हैं। यदि कहीं ठग के फेर में पड़ गये, तब क्या होगा? संत कबीर साहब कहते हैं—

पाँच चोर बड़जोर कुसंगी अति घने।
ये ठगियन जीव संग मूसत घर निसिदिने।
सोवत जागत रैन दिवस घर मूसई।
ठाढ खड़े पुठवार भली विधि लुटई॥
इन ठगियन को राव पकड़ सो लीजिये।
जौं कहुँ आवै हाथ छाड़ि नहिं दीजिये॥

संत कबीर साहब कहते हैं—ये चोर हमारे साथ में जबर्दस्ती चोरी कर रहे हैं। हमारी ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच चोर हैं। चोर किसको कहते हैं? जिसकी जो चीज नहीं है, उसको जो छिपाकर ले लेता है, उसको हमलोग चोर कहते हैं। जिस आँख के लिए जो रूप नहीं रखा गया है, अगर उस रूप की ओर आँख देखती है, उस रूप को पकड़ती है, उस रूप को ग्रहण करती है, उस रूप को लेना चाहती है, तो वह आँख चोरी कर रही है। कान से जो शब्द नहीं सुनना चाहिए, यदि हम उसको सुन रहे हैं, तो यह चोरी कर रहे हैं। इसी प्रकार जो गंध नहीं लेनी चाहिए, वह गंध ले रहे हैं, चोरी है। जिस रस का आस्वादन नहीं करना चाहिए, जिभ्या से उसका रसास्वादन करते हैं, यह चोरी है। उसी तरह से स्पर्श विषय के संबंध में भी जानिए। ये जो पाँच चोर हमारे साथ लगे हुए हैं, ये पाँच बरजोर चोर हैं, कुसंगी हैं। अभी आपलागों ने रामचरितमानस के पाठ में सुना, जो अच्छी संगति होगी, तो गति अच्छी होगी। बुरी संगति होगी तो गति बुरी होगी। गो० तुलसीदासजी ने लिखा—

हानि कुसंग सुसंगति लाहू।
लोकउ वेद विदित सब काहू॥

किसी ने पूछ दिया—गोस्वामीजी! आपने तो कहा सही है; लेकिन यह बात सही कैसे है? तो इसके उत्तर में उन्होंने कहा, देखो—

गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा।
कीचहि मिलहिं नीच जल संगा।।

धूल जब हवा का संग कर लेती है, तब वह गगनगामिनी बन जाती है, आकाश में उड़ने लग जाती है। लेकिन वही धूल जब पानी का संग कर लेती है, तब वह मिट्टी में मिलकर कीचड़ बन जाती है, पाताल में चली जाती है। कहाँ आकाश में उड़नेवाली थी, कहाँ पाताल चली गयी। उसी तरह अच्छी संगति करोगे, तब तो आकाश में उड़ोगे अर्थात् परम प्रभु परमात्मा के पास जाओगे। अगर कहीं बुरी संगति करोगे, तो नरक के गर्त में गिरोगे, पड़ोगे, सड़ोगे।

पुनः कहा—कुसंगति पाकर धुआँ काजल हो जाता है और सुसंगति पाकर सुंदर स्याही, जिससे वेद, पुराण आदि सद्ग्रंथ लिखते हैं।

धूम कुसंगति कारिख होई।
लिखित पुरान मंजु मसि सोई।।

जैसा संग वैसा रंग, यह स्वाभाविक है। इसमें कोर कसर नहीं। यदि कहीं सज्जन मिल जायेंगे, तो हमको जरूर भव पार कर देंगे। अगर चोर मिल जायेंगे, तो कमजोर कर देंगे और नरक में ले जायेंगे।

ये पंच विषय जो हमलोगों के साथ में हैं, बड़े जबर्दस्त हैं। जिसको हम मामूली समझते हैं, वह भी हमारे दस्त में नहीं है। मान लीजिए खाना-पीना है। हमलोग रोज खाते-पीते हैं। अगर इस खान-पान पर हमारा संयम नहीं है, तो असंयमित जीवन दुःख का कारण बन जाता है। महात्मा गाँधी ने लिखा है—'जो कोई रसेन्द्रिय का संयम नहीं कर सकता है, वह जननेन्द्रिय का संयम कभी नहीं कर सकता।' इस संदर्भ में एक बड़ी मनोहर कहानी है—

एक राजा था। वह शिकार खेलने के लिए जंगल गया। बेचारे को घूमते-घूमते एक कुटी मिली। एक साधु बाबा उसमें बैठे हुए थे और आँख बंद करके कुछ क्रिया कर रहे थे। जाप की क्रिया कर रहे होंगे। राजा वहाँ पहुँचता है। साधु को क्या मालूम कि कौन आया वा न आया, क्योंकि उनकी आँखें बन्द थीं। राजा के मन में हुआ—अरे! इसके यहाँ हम आए और इसने हमको पूछा तक नहीं। हमारे राज्य में ही यह रह रहा है। लगता है इसका अहंकार बढ़ गया है। मन में कहा—देखें, तुम कितने बड़े योगी बने हो? वह चला गया और घर लौटकर उन्होंने घोषणा की—फलाने जंगल में जो एक साधु रहता है, उसको जो कोई हमारे दरबार में ले आवेगा, हम उसको मन-वांछित इनाम देकर पुरस्कृत करेंगे।

साधु को राजा के दरबार में ले जाना यह सामान्य बात नहीं थी। यदि सामान्य साधु हो तो सामान्य बात हो सकती है। लेकिन अगर कोई बड़े साधु हों, तो उनका वहाँ पहुँचना मुश्किल है। हुआ था न? जब यूनान का बादशाह सिकन्दर भारत आया था, तो सबसे पहले पंजाब आया था। पंजाब में एक नदी के किनारे उसने अपना डेरा डाला और पता लगाया कि निकट में कोई अच्छे साधु-महात्मा हैं? क्योंकि उसके गुरु ने कहा था कि भारत में संग्रह की मान्यता नहीं है, त्याग की विशेषता है। वहाँ जो जितने बड़े त्यागी होते हैं, उनका उतना ही बड़ा सम्मान होता है। इसलिए भारत से एक त्यागी महात्मा को ले आना। यहाँ आने पर उन्होंने खोज करवायी तो पता चला कि कुछ दूर पर एक साधु बाबा अपनी कुटिया में ध्यान मग्न हैं। सिकन्दर ने अपने मंत्री से कहा—उन महात्मा को सादर यहाँ बुला लाओ। मंत्री ने वहाँ जाकर उनसे प्रार्थना की—'यूनान का बादशाह यहाँ आये हैं और आपको बुला रहे हैं। वे आपसे मुलाकात करना चाहते हैं। वे कोई मामूली साधु नहीं थे, उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि तुम्हारे बादशाह को मुझसे क्या मतलब? वह तुम्हारा बादशाह है, ठीक है। तुम्हारे बादशाह को कोई सेठ-साहूकार चाहिए, तो थैली भेंट करे। मेरे पास तो थैला है नहीं, भेंट क्या करूँगा? तुम्हारे बादशाह को चाहिए नाचने-गानेवाली। मैं नाचने-गाने वाली बाला भी नहीं हूँ। नाच-गान की विद्या मेरे पास नहीं है। तुम्हारे बादशाह को चाहिए कोई मसखरा, जो हँसी-मजाक करके उनका मन बहलाता रहे। मैं मसखरा भी नहीं हूँ, हँसी-मजाक भी नहीं जानता। इसीलिए मेरी आवश्यकता तुम्हारे बादशाह को नहीं है। बात रही मुलाकात की। तो मैं सांसारिक बादशाह से भेंट करना नहीं चाहता। जो संपूर्ण संसार का बादशाह है, उसी से मैं भेंट करना चाहता हूँ। मंत्री लौटकर चला गया और बादशाह सिकंदर से जाकर साधु की सारी बातें कहीं। सिकंदर भी बड़ा तेज था।

वह साधारण बुद्धि का नहीं था। वह बड़ा वीर और विवेकशील था। रहस्य समझ गया। उसने मन में सोचा, अगर कोई साधारण साधु होता, तो बादशाह का नाम सुनकर अवश्य आया होता। लेकिन बादशाह का नाम सुनकर भी उसकी हुकूमत-अदुली करनेवाले अवश्य ही कोई गंभीर वजन वाले संत हैं। वे सांसारिक प्रभाव से प्रभावित होनेवाले नहीं हैं। अतएव स्वयं जाना चाहिए। ऐसा विचारकर सिकंदर स्वयं उनके पास गया और प्रणाम करने के पश्चात् उसने उनसे प्रार्थना की–'आप हमारे देश को चलें।' उन्होंने कहा कि तुम्हारे देश जाने की मुझे क्या जरूरत पड़ी है। मुझे अपने देश में किसी चीज की कमी नहीं है, फिर तम्हारे देश क्यों जाऊँ? सिकंदर ने जब बहुत तरह से अनुनय-विनय किया, तो महात्मा जी स्पष्ट कह दिया–'अरे! तुम मुझे अपना देश क्या ले जाना चाहते हो? तुम स्वयं अपने देश पहुँचकर अपनी माँ से भेंट भी नहीं कर पाओगे।'

संत वचन मिथ्या नहीं होता। स्वदेश लौटते समय रास्ते में सिकंदर बीमार हो जाता है। उसकी बहुत तरह की चिकित्सा की गयी; लेकिन सब श्रम विफल हुआ। सिकंदर ने वैद्यों, हकीमों से कहा कि इस तरह की कोई दवाई दो, औषधि दो, जिससे मैं अपनी माँ से जरा भेंट कर सकूँ। वैद्यों ने कहा–अब तुम्हारे जीवन का अंत होने जा रहा है। सिकंदर ने कहा, मैं अपनी सारी संपत्ति दे दूँगा। मेरे श्वास में एक श्वास भी जोड़ दो। वैद्यों ने उत्तर दिया–तुम्हारे अवशेष श्वास में अब एक श्वास भी नहीं जोड़ा जा सकता, चाहे तुम अपनी सारी सम्पत्ति के साथ सारा राज्य क्यों न दे दो। सिकंदर ने कहा, अफसोस! अगर मैं जाना होता कि एक श्वास की इतनी कीमत है, तो इसका सदुपयोग करता, भगवद्‌भजन करता; किन्तु अब पश्चाताप के सिवा मेरे साथ क्या जा सकता है? फिर उसने अपने अधिकारियों और कर्मचारियों से कहा कि मेरे शरीर छूटने के बाद अर्थी पर मेरी लाश सजाकर दोनों हाथ को नीचे लटका देना, जिससे संसार के लोग सीख ले सकें विश्वविजय की आकांक्षा रखनेवाला सिकन्दर आज खाली हाथ संसार से जा रहा है। किसी कवि ने कहा भी है–

गये लेकर न वह भी कुछ कि जो दुनिया के माली थे।
सिकन्दर जब चला दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे॥

उन पंजाबी संत के समान जो महान होते हैं, उनके लिए तो कोई बात नहीं; लेकिन ये बेचारे तो जंगल में रहनेवाले सामान्य साधु ठहरे। इनको क्या पता कि जंगल में भी अमंगल हो सकता है। इन्हीं साधु को राजदरबार में लाने की घोषणा राजा की थी।

राजा के यहाँ एक वेश्या थी। वेश्या ने राजा से कहा–'मैं साधु को ला दूँगी।' राजा ने कहा–'क्या तू उस साधु को ले आएगी?' वेश्या ने कहा–'जी हाँ, अवश्य ले आऊँगी।' राजा ने कहा–'साधु को यहाँ लाने पर तुम जो माँगोगी, वही मुँहमाँगा वरदान तुमको मिलेगा।'

जैसे कोई राजा गुप्तचर को कहीं भेजते हैं, उसी तरह वेश्या ने अपनी बांदी को समझा-बुझाकर कहा–'सुनो, पहले जाकर बाबाजी की दिनचर्या देखो कि वे क्या-क्या करते हैं? दिनभर वहीं रहकर और उनकी सारी कार्य-तालिका लाकर शाम में मुझे देना।' बांदी ने वैसा ही किया। उसने साधु की दिनभर की चर्य्या देख ली और शाम में आकर सारी बातें बताती हुई बोली–'स्वामिनी! साधु बाबा तो बहुत बड़े त्यागी हैं। जंगल में जो पका हुआ फल नीचे गिरता है, केवल वही फल वे खाते हैं। फल तोड़कर भी नहीं खाते। उनका बड़ा संयममय जीवन है।' वेश्या ने कहा–'कोशिश करने से क्या फर्क पड़ता है?' किसी कवि ने कितना अच्छा कहा है–

कोशिश करने में क्या लज्जा,
यदि न सफलता आवै हाथ।
तो क्या करना तुम्हें चाहिए,
तो पुनः करो उद्योग॥

अतएव उद्योग करके देखना चाहिए। ऐसा विचार कर वेश्या एक सुन्दर थाल में बहुत अच्छी-अच्छी भोजन-सामग्रियाँ लेकर साधु बाबा के पास गई। उस समय साधु बाबा ध्यान में बैठे हुए थे। वह बेचारी उनकी प्रतीक्षा करती रही। जैसे ही साधु बाबा का ध्यान टूटता है, वैसे ही उनके सामने वह थाली रखकर प्रणाम करती है और कहती है– 'मैं बहुत दूर से आपके दर्शन के लिए आई हूँ। मुझे कोई सन्तान नहीं है। आपसे वरदान लेने आई हूँ और यह भोजन-थाल आपकी सेवा में लाई हूँ।' साधु बाबा ने अपनी आँखें बंद कर लीं। न उसकी ओर देखा, न उसकी थाली की ओर। वेश्या बहुत देर तक बैठी रही और फिर वह

उठकर घर चली गई। दूसरे दिन फिर वह साधु बाबा के पास उसी तरह अच्छी-अच्छी चीजें भोजन के लिए बनाकर ले गई। साधु बाबा उस समय भी ध्यान में बैठे हुए थे। उनके सामने थाली हाजिर कर वह चुपचाप बैठ गई। जब बाबा की आँखें खुलती हैं, तो वे देखते हैं कि सामने में भोजन की बहुत-सी चीजें रखी हुई हैं। वेश्या हाथ जोड़कर कहती है—'महात्मन्! मैं रोज ठाकुरजी की पूजा करती हूँ। मेरी श्रद्धा ठाकुरजी के प्रति अगाध है। मैं जो ठाकुरजी को भोग लगाती हूँ, वही आपके लिए ले आई हूँ। आप भी भोग लगाइए।' साधु बाबा ने कहा—'देखो! मैं तो ये सब चीजें खाता नहीं, जंगल में जो पका हुआ फल गिरता है, वही खाता हूँ।' वेश्या समझ गई, कल तो ये मुझसे बोले भी नहीं थे और न मेरी तरफ देखे ही थे। कम-से-कम आज इन्होंने मुझसे बोल तो लिया। खाना खाए, चाहे नहीं खाए, अठन्नी भर का काम मेरा हो गया। फिर वह अनुनय-विनय करने लगी कि बाबा! यह तो ठाकुरजी का प्रसाद है। गाछ में भी तो ठाकुरजी की ही कृपा से फल लगता है। इसलिए अधिक नहीं, थोड़ा-सा ही अंगुली में लगाकर चाट लीजिए, तो मैं अपना जीवन सफल समझूँगी। मैं एक सम्भ्रान्त परिवार की महिला हूँ। जरा आप मेरी ओर तो देखिए। मेरी प्रतिष्ठा को भी देखिए। भगवान् के प्रसाद का अनादर मत कीजिए। वह बोलने में बड़ी चतुर थी। साधु बाबा ने कहा—'तुम बहुत जिद्द कर रही हो।' वेश्या ने कहा—'बाबा इसमें जिद्द की क्या बात है, जरा अंगुली लगाकर देखिए तो।' महात्माजी ने अंगुली लगाकर जिभ्या पर रख लिया और प्रसन्नता के स्वर में कहा—'बहुत अच्छा।' वेश्या समझ गई—'अब मेरा बारह आना काम हो गया।' पश्चात् प्रणाम करके वह घर चली गई। तीन दिन तक बीच में गायब हो गई। चौथे दिन महात्मा के यहाँ वह फिर आई, उसी तरह थाल में सब सजाकर। साधु बाबा जो अंगुली लगाकर पहले खा चुके थे, तो पता चल गया था कि कैसा स्वाद है? आज तो वेश्या केवल थाल आगे में रखती है। बाबाजी ही पूछते हैं—'अरी! तीन दिनों तक तुम कहाँ थी?' उसने कहा—'बाबा! क्या बतलाऊँ?

गृह कारज नाना जंजाला।
ते अति दुर्गम शैल विशाला।।

गृह-जंजाल में फँस गई थी। आपकी याद तो मुझे दिन-रात बनी हुई थी। लेकिन क्या करूँ? अब थाल में जो कुछ आया है, कृपया आप भोग लगाइए।' स्वाद का पता तो पहले से था ही। बाबा लगे भोग लगाने और प्रेम से उन्होंने पूरा भोग लगा लिया। अब दो-चार दिनों तक लगातार थाली आती रही, बाबा भोग लगाते रहे। उसके बाद फिर एक दिन जब वह आई, तो अनुनय-विनय करती हुई बोली—'बाबा एक दिन आप मेरे घर को पवित्र कर देते तो मेरा उद्धार हो जाता। आप मेरे घर पर चलें।' साधु बाबा बोले—'मैं तो किसी के घर पर जाता नहीं हूँ। मैं तो जंगल में रहता हूँ।' वेश्या बोली—'बाबा! थोड़ी-सी कृपा कीजिए। अधम के उद्धार के लिए ही तो आपलोगों का अवतार हुआ है। मेरे घर पर केवल आपके चरण पड़ जाएँ और थोड़ा जूठन गिर जाय और कोई बात नहीं।' कई दिनों तक उसका स्वादिष्ट भोजन बाबा कर ही चुके थे। अन्न का प्रभाव मन पर पड़ता ही है। बेचारे एक दिन उसके साथ उसके घर चले गए। वेश्या ने वहाँ भी सादर भोजन कराया और उसकी प्रार्थना पर बाबा दो-चार दिन वहाँ रह भी गए। उसके बाद एक दिन वह कहती है कि बाबा! जरा चला जाय, बगल में ही हमारे राजा जी का महल है। उनको भी दर्शन दीजिए। वे बहुत दिनों से आपके दर्शन करना चाह रहे थे। एक बार वे आपके दर्शन करने के लिए कुटिया में भी गए थे; लेकिन आप ध्यानस्थ थे। दर्शन तो उनको आपके हो गए, परन्तु बातचीत कुछ नहीं हुई और न ही आशीर्वाद मिला। अगर आप उनके घर जाते तो उनका भी कल्याण हो जाता। ऐसी उनकी प्रार्थना और इच्छा थी।' अब बाबा बेचारे क्या करें। कहावत है कि 'खाता मुँह है, लजाती आँख है।' उसकी प्रार्थना स्वीकार कर बाबा दरबार में उपस्थित हो गए। राजा सिंहासन पर बैठे हुए थे। बाबा ने उनको आशीर्वाद दिया। राजा ने कहा—'मेरा अहोभाग्य है। उस दिन जब मैं आपके यहाँ गया, तो आप मुझसे कुछ बोले तक नहीं। आज आपने मेरे घर पर आकर मुझे दर्शन दिए हैं।' इसलिए विशेष धन्यवाद तो इस देवीजी को है, जिसने आपको यहाँ तक लाने का कष्ट उठाया है। बाबा की आँखें खुल गईं। रहस्य क्या है, वे समझ गए। तुरन्त अपनी कुटी में लौट गए और पश्चात्ताप करने लग गए कि हाय! केवल एक अवश

जिभ्या के कारण ही कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया। कहाँ तो मेरे दर्शन करने राजा आया था, कहाँ मुझे ही जहाँ-तहाँ जाना पड़ा, जहाँ नहीं जाना चाहिए। जिभ्या वश में नहीं होने के कारण ही मेरा यह पतन हुआ। उन्होंने फिर दृढ़ प्रतिज्ञा की कि अब मैं भूल से भी किसी इन्द्रिय के अधीन नहीं होऊँगा। किसी संत ने ठीक ही कहा है–

जिभ्या इन्द्री एके नाल। जो रोकै सो बाचे काल॥

संत कबीर साहब कहते हैं–

जाकी जिभ्या बंध नहीं, हिरदे नाहीं साँच ।
ताके संग न लागिये, घालै बटिया काँच ॥

संत कबीर साहब ने सीख दी है कि जिभ्या पर दो तरह के बंधन डालो। एक तो बहुत बोलो नहीं और जो बोलो, सत्य सुहाता बोलो। दूसरी बात जो भोजन लो, वह सात्त्विक और परिमित हो। देख लो कि यह भोजन तुम्हारे लायक है या नहीं? इसलिए हितभुक्, मितभुक् और ऋतभुक् के लिए संतों ने आदेश दिया है। ये तीनों चाहिए। तीनों में से किसी की कमी रही, तो हमारी मनोदशा अच्छी नहीं रह सकती। संत वचन है–

'जैसा खाय अन्न, वैसा होय मन।'

तथा– जैसा अन्न जल खाइए, वैसा ही मन होय ।
जैसा पानी पीजिए, वैसी वाणी होय ॥

इसलिए संतों ने जैसे-तैसे भोजन करने के ऊपर प्रतिबंध रखा है। हमारे परम पूज्य गुरुदेव जी महाराज के वचन में है–

खान-पान को प्रथम सम्हारो।
तब रस-रस अवगुण सब मारो।
मांस मछलिया भोजन त्यागो।
सतगुण खान पान में पागो॥

जो सतोगुणी भोज्य पदार्थ है, वही भोजन करो; लेकिन वह भी खूब ठूस-ठूस करके न खाओ। साधकों के हित में बड़ी ही उचित बात भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है–'युक्ताहारविहारस्य'। अर्थात् खाना-पीना, सोना-जागना और जग-व्यवहारादि कार्य का परिमाण संतुलित होना चाहिए। तभी भजन में मन लग सकता है। इसीलिए तो एक संत ने कहा–

आसन दृढ़ आहार दृढ़, भजन नेम दृढ़ होय ।
तौ प्राणी पावै कछुक, नहिं तो रहे विषय रस मोय ॥

आसन की दृढ़ता कैसे आएगी? हमलोग जो सत्संग में बैठते हैं, अगर ध्यान से सत्संग की बातों को सुनते हैं, तो उसमें भी आसन की दृढ़ता होती है। मन कहीं है, सत्संग-वचन सुन रहे हैं। कभी तो पलथी मारते हैं, तो कभी दाहिना पैर ऊपर, तो कभी बायाँ पैर ऊपर। कभी यह करवट बदलते हैं, तो कभी वह करवट। इससे आसन-सिद्धि नहीं होती। दृढ़ सत्संग के द्वारा आसन-सिद्धि होती है। मनोयोगपूर्वक सत्संग करने से ध्यान में भी सहायता मिलती है। दूसरी तरह से आसन की दृढ़ता कब होगी? जब आहार दृढ़ होगा। जब भोजन की दृढ़ता होगी, तो आसन में भी दृढ़ता आएगी। आप स्वयं प्रयोग करके देखिए। संभवतः आपने कभी अनुभव किया होगा–

जब आप निमंत्रण में कहीं बाहर जाते हैं, तो वहाँ कुछ अच्छी-अच्छी चीजें खाने को मिलती हैं, तो मन पर नियंत्रण नहीं रहने के कारण कुछ चढ़ा-बढ़ाकर खा लेते हैं। परिणामस्वरूप जैसे ही खाते हैं, वैसे ही मन में होता है, जरा तकिया मिल जाए, तो लेट जाएँ। क्या हुआ? अधिक खाते हैं, तो तुरत लेटने की इच्छा हो जाती है। घर में खाते हैं, तो तुरत लेटने की इच्छा नहीं होती; लेकिन बाहर जाने पर क्यों हो जाती है? इसलिए कि परिमाण में अधिक भोजन कर लेते हैं। अधिक खा लेने से अधिक देर तक सरलतापूर्वक फिर कैसे बैठेंगे?

आसन और आहार दोनों का बड़ा संग है। इसीलिए कहा है–'आसन दृढ़ आहार दृढ़'। आहार की दृढ़ता से आसन की दृढ़ता होगी और आसन की दृढ़ता में यानी तन के बैठते-बैठते भजन में शनैः शनैः मन भी बैठने लग जाएगा। भजन में भी नियमितता होनी चाहिए। अगर भजन की नियमितता नहीं है, तो फिर आगे प्रगति नहीं हो सकती।

संतों ने त्रिकाल संध्या करने को आदेश दिया है। ब्राह्ममुहूर्त में, दिन में स्नान के बाद और संध्या काल। इन तीनों समयों में हमलोगों की संध्या करने के लिए अवश्य बैठना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि ब्राह्ममुहूर्त में नींद नहीं टूटती है। मान लीजिए यदि एक बजे रात में ट्रेन पकड़नी हो, तो उस दिन क्या करते हैं? सब दिन चार बजे भोर में उठते हैं। उस दिन एक बजे रात के पहले ही उठना पड़ता हैं, उसी तरह जो समय भजन का है, उस समय प्रमाद छोड़कर हमलोग अवश्य भजन करें। जिस तरह ट्रेन को पकड़ना

आवश्यक समझते हैं, उसी तरह भजन करना आवश्यक समझें, तो नींद अवश्य टूट जाएगी। तभी कुछ या सब कुछ मिलेगा। अगर नहीं तो 'रहे विषय रस मोय' वाली बात चरितार्थ होगी।

हमारे परम पूज्य गुरुदेव जी महाराज कुछ दिन पूर्व कहते थे—एक बार एक अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् सज्जन बाबा देवी साहब के पास आये। उन्होंने जीवन में जितना पढ़ा था, सबमें वे फर्स्ट होते गये थे, कभी सेकेण्ड हुए नहीं। एक दिन बाबा साहब ने उनसे पूछने की कृपा की—'कहो, कैसा ध्यान बनता है?' उन्होंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, 'हुजूर! हनोज रोज अव्वल।' अर्थात् आज भी पहला ही दिन है। कितने दिन भजनाभ्यास उन्होंने किया था; लेकिन आज भी उसके लिए पहला दिन साबित हुआ। पुनः उन्होंने प्रार्थना की—'आज तक मैंने जितना पढ़ा, जितनी विद्या मैंने स्कूल-कॉलेजों में सीखी, कभी किसी में फेल नहीं हुआ। फेल इसी साधन-भजन में हो रहा हूँ, बाबा!'

सफलता के संबंध में तो यही बात है कि जो कोई मन लगाकर भजन करेगा, तो वह निश्चित रूप से पावेगा। इसमें संदेह नहीं कि आरंभ में मन नहीं लगता है; किन्तु लगाते-लगाते अवश्य लगने लगता है। संत कबीर साहब ने साधकों को कितना बड़ा ढाढ़स दिया है—

झुठ-मुठ खेलै सचमुच होय।
सचमुच खेलै बिरला कोय।
जो कोई खेलै मन चित लाय।
होयते होयते होइये जाय ॥

हमारे सद्गुरुदेव महाराज के वचन में है—

जहँ जहँ मन भगि जाइ, ताहि तहँ-तहँ से तत्छन ।
फेरि-फेरि ले आइ, लगाइय ध्येय में आपन ॥
ऐसेहि करि प्रतिहार, धारणा धारण करिके ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' औरो आगे बढ़िय,
चढ़िय धर धारा धरिके ॥

ध्यानाभ्यास करने के लिए जो बैठता है, तो सबसे पहले प्रत्याहार होता है। प्रत्याहार किसे कहते हैं? मन को साधना में लगाते हैं; लेकिन मन लगता नहीं है, भागता है। उसको समेटते हैं, फिर वह भागता है। मन में विविध बातें आती रहती हैं। इस प्रकार मन के भागने और उसको बारंबार लौटाकर लाने की क्रिया को प्रत्याहार कहते हैं। अब दूसरी तरह से समझें—प्रति+आहार=प्रत्याहार अर्थात् जो विचार आया, उसको आहार बना लिया, खा गये, निगल गये। अगर कहीं उस विचार में बहने लग गये, तब साधना में प्रगति नहीं हो सकती। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब हम ध्यानाभ्यास करने के लिए बैठते हैं, तब दूसरी-दूसरी बहुत-सी बातें मन में आती रहती है और उसी के पीछे मन बहने लग जाता है। कितनी देर बैठ गये, कुछ पता नहीं चलता। उस समय का गुनावन बड़ा मीठा लगता है। वह इतना सरस मालूम होता है कि छोड़ने की इच्छा नहीं होती। पीछे आसन से उठने पर मन में दुःख और ग्लानि होती है कि हमारा इतना समय व्यर्थ के संकल्प-विकल्प में चला गया। इसीलिए संतों ने कहा—जो गुनावन आवे, उसको खा जाओ, निगल जाओ, जीवित मत छोड़ो, नहीं तो तुमको ही वह निगल जाएगा।

जब बारंबार अधिक देर तक प्रत्याहार करेंगे, तब होगी धारणा अर्थात् अल्प टिकाव। जो मन पहले बहुत भागता था, अब वह थोड़ा टिकने लग गया, चाहे वह टिकाव एक सेकेंड का सौवाँ भाग ही क्यों न हो; उसका नाम हो जाएगा 'धारणा'। जब धारणा में गहराई आ जाएगी, तब उसकी संज्ञा हो जाएगी—ध्यान। और ध्यान की पूर्णता में हो जाएगी समाधि। योग का आठवाँ अंग है समाधि। इसलिए प्रारंभिक साधना—प्रत्याहार से कभी हारें नहीं, तो कभी-न-कभी हमारी जीत सुनिश्चित है।

हमारे गुरुदेव एक अच्छी उपमा देकर कहते हैं—देखो, तुमको प्यास लगी है। पानी पीने के लिए तुम कुएँ के पास चले गये। रस्सी में बाल्टी बँधी हुई है। उसको तुम कुएँ में डाल दिया। बाल्टी चली गयी कुएँ में और रस्सी भी चली गयी कुएँ में, मात्र रस्सी का एक छोटा-सा छोर तुम्हारे हाथ में बचा हुआ है। उस छोर को यदि तुम छोड़ दो, तो रस्सी भी गई और बाल्टी भी। पानी तुमको मिलेगा नहीं, प्यासे मरोगे। लेकिन यदि तुम रस्सी के छोर को नहीं छोड़ो, तो क्या होगा? वही छोर बाल्टी की ओर तक यानी इनारे के किनारे तक पहुँचाएगा। तात्पर्य यह कि उस छोर को पकड़े रहकर धीरे-धीरे रस्सी को खींचो, तो खींचते- खींचते सारी रस्सी तुम्हारे हाथ में आ जाएगी, बाल्टी आ जाएगी और पानी आ जाएगा। पानी पीकर तुम तृप्त हो जाओगे। उसी तरह भजन का जो छोर है,

उस छोर को छोड़ो नहीं। अर्थात् सत्संग और भजन करते रहो। पंच पापों से डरते रहो। साधना में बढ़ते-बढ़ते एक न एक दिन पर प्रभु को पाकर तुम भी परम तृप्त हो जाओगे। परम कल्याण होगा।

सत्संग नित अरु ध्यान नित,रहिये करत संलग्न हो।
व्यभिचार चोरी नशा हिंसा, झूठ तजना चाहिए॥

परमाराध्य गुरुदेवजी महाराज के उपदेशों का सार थोड़े शब्दों में आपलोगों से कहा।

स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर
दिनांक—१९.६.१९८३ ई०

६२. विहंगम वा पिपीलिका मार्ग

विश्व के सारे आस्तिक धर्मों में एक ईश्वर की मान्यता है; चाहे लोग भले ही स्वदेशानुकूल उन्हें विभिन्न नामों से अभिहित करें। जैसे यहूदी उसे जेहोवा, ईसाई (Christian) गॉड (GOD) वा स्वर्गस्थ पिता, मुसलमान अल्लाह, पारसी अहुरमज्द, चीनी तितीन और भारतीय आर्य्य ब्रह्म वा ईश्वर आदि नामों से संबोधित करते हैं।

निखिल विश्व के एक नियन्ता होने पर भी, इस जगतीतल पर भाँति-भाँति के धर्म प्रचलित है। जिसमें तीन प्रकार के (१) वैदिक, (२) ईसाई (Christian) और (३) इस्लाम धर्मावलम्बी विशेष संख्या में दृष्टिगोचर होते हैं। फिर, इनकी भी भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं।

वैदिक धर्म के लिए तो कहना ही कठिन है कि इसके अन्दर कितने प्रकार के और भी पंथ-सम्प्रदायादि समाहित हैं। किन्तु सभी वैदिक धर्माव-लम्बियों के लिए 'वेद' सर्वमान्य ग्रन्थ है, जिसके हम दो भाग पाते हैं—(अ) ज्ञानकाण्ड व उपासना कांड और (आ) कर्मकाण्ड। इनके अनुकूल एक श्रेयमार्गी हुए और दूसरे प्रेयमार्गी। ईसाई धर्म (Religion of Christian) में दो मत हुए, जिसमें एक को प्रोटेस्टेन्ट (Protestant) और दूसरे को रोमन कैथोलिक (Roman Catholic) कहते हैं। इसी तरह दीन इस्लाम में भी एक अपने को सरही और दूसरे अपने को सूफी कहते हैं। सापेक्ष जगत में हम कहीं भी एक की टेक नहीं देख पाते।

अस्तु, हम यहाँ कहना चाहेंगे कि वेदविहित ज्ञानकाण्ड वा उपासनाकाण्ड में योग की प्रधानता रही और यह योग भी उभय भागों में विभक्त हुआ। एतदर्थ योगियों के एक सम्प्रदाय ने प्राणस्पन्द निरोध वा प्राणायाम पर और दूसरे ने मनोनिरोध वा मनोनिग्रह पर जोर दिया। रेचक-पूरकादि द्वारा प्राणस्पन्दन निरोध वा प्राण का व्यायाम करनेवाले मत को हठयोग और केवल ध्यान-योग द्वारा मनोव्यापार निरुद्ध करनेवाले मत को राजयोग कहकर विख्यात किया गया, जिन्हें आगे चलकर क्रमशः पिपीलक मार्ग और विहंगम मार्ग के नाम से अभिहित किया गया। वैदिक काल के बाद जब हम उपनिषद् काल में आते हैं, तब यहाँ भी हम उन युगल योगों की ओर का संकेत पाते हैं। यथा—

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देव निर्मिते।
शुको विहंगमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका॥
—वाराहोपनिषद्

अर्थात् देवताओं ने शुक और वामदेव नाम के दो मार्गों का निर्माण किया, जिसमें शुकमार्ग विहंगम मार्ग के नाम से और वामदेव पिपीलिका मार्ग के नाम से प्रख्यात है। उपनिषद् काल के पश्चात् जब हम संत-युग में प्रवेश करते हैं तो हमें उन संतों की वाणियों में उन पूर्ववर्त्ती परम्परा की ही छाप लगी मिलती है। जैसे—

भजन में है युगल मारग विहंग और पपीलनं।
—संत पलटू साहब

किन्तु यदि हम वेद, उपनिषद् एवं संतवाणी पर थोड़ा भी विचार कर सकें—उनकी गहराई में पैठ सकें तो पाएँगे कि उन सबका विशेष ध्यान 'ध्यानयोग' की ओर ही है; क्योंकि उन सबों की वाणियों में प्राणायाम—हठयोग को कण्टकाकीर्ण और राजयोग—ध्यान योग को कण्टक-विहीन—सरल, सुखद एवं निरापद बताया है।

'गीता' गंगा में गम्भीर गोता लगाने से उसमें भी हम हठयोग—पिपीलिका मार्ग की गौणता और राजयोग—विहंगम मार्ग की प्रमुखता पाते हैं। इसका

सद्यः प्रमाण यह है कि गीता-ग्रन्थाभ्यान्तर प्राणायामयोग नाम का कोई एक खास अध्याय नहीं है; किन्तु राजविद्या राजगुह्ययोग और ध्यानयोग आदि नाम के भिन्न-भिन्न स्वतंत्र अध्याय अवश्य हैं। दूसरी बात यह भी है कि उक्त ग्रंथान्तर्गत ध्यानयोग (विहंगम मार्ग) का जिस प्रकार सविस्तार विश्लेषण लब्ध है, उस भाँति प्राणायाम योग (पिपीलिका मार्ग) का नहीं।

उपनिषद् एवं संतवाणी स्पष्ट शब्दों में पिपीलिका राह को कण्टकाच्छादित, संकटोत्पन्न-कारिणी और भयप्रदायिनी बताती है। यथा–

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्।।
–शाण्डिल्योपनिषद्

'प्राणायाम का शरीर पर प्रभाव के संबंध में स्वामी कुवलयानन्दजी कैवल्यधाम का कहना है–'प्राणायाम दुधारे खाँड़े के समान है। इससे लाभ-हानि दोनों हो सकते हैं, बल्कि इससे लाभ उठाने की अपेक्षा इसका दुरुपयोग करना सहज है।'

इसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि प्राणायाम योग वा हठयोग कोई करे ही नहीं। बल्कि इसमें स्पष्ट संकेत है कि जो कोई इस योग को करना चाहें, वे सतत संयम और सावधान-संयुत हो साधना करें। नहीं तो 'चौबे गए छब्बे कहाने और दूबे बनकर आये' वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी।

इतना ही नहीं, मान लिया कि 'चौबे छब्बे नहीं होकर दूबे' ही हुए, तो इसमें विशेष हानि नहीं, क्योंकि दूबे बनकर भी कम-से-कम जीवन तो रहा। यदि जिन्दगी रही तो जीवनकाल में उन्नति करते-करते क्रमशः 'दूबे से चौबे और फिर चौबे से छब्बे' हो जाएँ, संभव है। किन्तु जहाँ जीवन से ही हाथ धोने की नौबत हो–जैसे कि पूर्व वर्णन हो चुका है–वहाँ उन्नति होनी, शुष्क सिकता के मन्थन से तेल और तरल जल से मंथन से मक्खन की प्राप्ति की अभीप्सा करने के समान ही है।

संत पलटू साहब कहते हैं–'पिपीलिक मार्ग के माध्यम से साधना कर सिद्धि-लाभ कर 'सिद्ध' कहलाते हैं और विहंगम-मार्ग से साधना कर शांतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर 'संत' कहलाते हैं। 'सिद्ध' आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं और 'संत' संताप से मुक्त होते हैं। सिद्ध हरि से सुदूरतर और 'संत' प्रभु के निकटतम होते हैं। इस हेतु पिपीलकमार्गी 'सिद्ध' अहर्निश चिन्तायुक्त और विहंगममार्गी 'संत' सतत चिन्तामुक्त होते हैं। 'सिद्ध' अनेक जन्मों के पश्चात् जब 'संत' होते हैं, तब वे आवागमन से मुक्त होते हैं। यथा–

भजन में है युगल मारग विहंग और पपीलनं।
पपील मद्धे सिद्ध कहिये विहग संत कहावनं।।
अनेक जन्म जब सिद्ध होवे अंत संत कहावनं।
सिद्ध से जब संत होवे आवागमन मिटावनं।।
संत हरि के निकट रहते सिद्ध से हरि दूरिनं।
सिद्ध चिन्ता रहत निसदिन संत भजन अचिन्तनं।।
–पलटू साहब

पिपीलिक और विहंगम मार्ग पर थोड़ा और भी प्रकाश डालना आनुषंगिक ही होगा। पिपीलिक कहते हैं–चींटी को। जिस तरह जमीन पर रहनेवाली चींटी किसी पके फल वाले पेड़ पर धीरे-धीरे चढ़ती है और फलों के रस का कुछ देर तक मधुर-मधुर आस्वादन करके फिर जमीन पर उतर आती है, उसी प्रकार एक हठयोगी योग की कुछ क्रियाओं के द्वारा कुछ देर तक अपनी प्राणवायु का नियंत्रण करके अपनी चेतना को ब्रह्मज्योति में लीन कर देता है और आनन्द का आस्वादन करता है; किन्तु उन प्रक्रियाओं का अन्त होते-होते उसे अपनी उच्चतम भावभूमि अथवा मधुमती भूमिका को छोड़कर पुनः पूर्ववत् मर्त्यलोक और उसकी सामान्य भाव-भूमि पर उतर आना पड़ता है।

विहंगमयोग पिपीलिकयोग से भिन्न है। विहंगम कहते हैं–पक्षी को। जिस तरह एक पक्षी सदा सर्वदा पेड़ की ऊँचाई पर रहा करता है और वहीं से उड़-उड़कर अनन्त विस्तृत व्योम-वितान का सैर करता है तथा मनमाने मधुर फलों और उनके रसों का आस्वादन करता है, वह कभी उच्च भाव-भूमि से नीचे नहीं उतरता, उसी प्रकार विहंगमयोगी अथवा ध्यानयोगी अपनी साधना तथा समाधि के लिए किन्हीं विशेष शारीरिक निरोधों एवं यौगिक प्रक्रियाओं पर ही निर्भर नहीं रहता, वह तो ध्यान की सतत शाश्वत मादकता एवं ब्रह्म-मिलन के परमानन्द की अजस्त्र धारा में डूबता-उतराता रहता है और शून्य गगन में स्वच्छन्द विहार करता हुआ परमानन्द रूपी अमृत का छक-छककर पान करता रहता है।

विहंगम और पिपीलिक मार्ग के संबंध में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि पिपीलक मार्ग का जो अभीष्ट स्थान है, जो चरम लक्ष्य है, जिसके आगे उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है, वह है आज्ञाचक्र। इसके आगे पिपीलिक की गति नहीं हो सकती, क्योंकि चींटी किसी स्थूल वस्तु के सहारे ही आगे बढ़ सकती है। एतदर्थ स्थूल पिंडों के अवलम्ब से वह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत और विशुद्ध चक्र को क्रम-क्रम से पार करती हुई आज्ञाचक्र में पहुँचती है। स्थूल पिंड की यहाँ समाप्ति हो जाती है। इसके बाद रूप ब्रह्माण्ड वा सूक्ष्म गगन में प्रवेश करने की क्षमता बपुरी चींटी में कहाँ? वहाँ तो कोई गगन-विहारी ही विहार कर सकता है जो कि उड़ने की कला में कुशल हो। इसलिए संतों ने यहाँ से विहंगम-मार्ग द्वारा गगन-गमन का निर्देशन किया है।

जैसे शकुन प्रथम अपने दोनों परों को समेट पैर को पीछे की ओर कर पुनः उभय परों को सम करके उड़ जाता है, उसी तरह विहंगम योगी अपनी इन्द्रिय-गत चेतनधारों को समेटकर पंच चक्रों को पीछे छोड़कर दोनों दृष्टि की धारों को सम करके ब्रह्माण्ड जगत-सूक्ष्माकाश में विचरण करता है।

एक पखेरू अपने किसी निर्दिष्ट स्थान का लक्ष्य करके सम्मुख उड़ता है और आकाश ही आकाश चलता विविध दृश्यावलोकन करता हुआ वहाँ पहुँचता है। एक ध्यान करनेवाला गुरु निर्देशानुसार अपने अभिमुख ध्यान-तत्पर हो ध्यानाभ्यास द्वारा स्थूलाकाश से सूक्ष्माकाश, पुनः सूक्ष्माकाश से कारण-महाकारण आदि व्योमों में विचरण करता है, जहाँ उसे विविध ज्योतियों एवं नादों की अनुभूतियाँ होती हैं। और जिनके अवलम्ब से वह सारे मायिक आवरणों को अतिक्रमण कर परमानन्द में पहुँच उनका साक्षात्कार कर तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। अर्थात्

जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।

और 'सो तुम ताहि तोहि नहिं भेदा' की स्थिति को उपलब्ध कर लेता है। इस सरल साधन-विहंगम योग की चर्चा संतों की वाणियों में हम भरपूर पाते हैं और सबकी वाणियों में हमें आश्चर्यजनक साम्य मिलता है। संत यारी साहब इस साधन-कला के कलाविद हैं। वे इसकी युक्ति इस भाँति बताते हैं-

जोगी जुगति जोग कमाव।
सुखमना नर बैठि आसन, सहज ध्यान लगाव।।१।।
दृष्टि सम करि सुन्न सोवो, आपा मेटि उड़ाव।
प्रगट जोति अकार अनुभव, शब्द सोहं गाव।।२।।
छोड़ि मठ को चलहु जोगी, बिना पर उड़ि जाव।
यारी कहै यह मत विहंगम, अगम चढ़ि फल खाव।।३।।

संत सुन्दरदासजी चातक और चकोर की उपमा देकर बताते हैं। जिस तरह चातक खग बाह्याकाश के मँडराते हुए काले-काले बादलों को देखकर स्वाति बूँद की आशा से एकटक लगाकर निहारता रहता है। इसी तरह तुम अपने अन्तरस्थ स्थूलाकाश के अंधकार में गुरुनिर्देशित स्थान पर परमात्मा के अणोरणीयाम्-विन्दुरूप की प्राप्ति की अभीप्सा लिए आशाभरी दृष्टि से प्रतीक्षा करते रहो।

जैसे स्वाति बूँदहूँ कूँ चातक रटत पुनि।
ऐसेहि मनन करै कब बूँद लहिये।।

इसको गो० तुलसीदासजी ने रामचरितमानस के द्वितीय सोपान में इस भाँति वर्णन किया है-

लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाखे।।
निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी।
रूप बिन्दु लखि होइ सुखारी।।

पुनः सुन्दरदासजी कहते हैं-

राति में चकोर जैसे चन्द्रमा को धरै ध्यान,
ऐसे जानि निदिध्यास दृढ़ करि गहिये।।

अर्थात् जैसे चकोर रात्रि के समय चन्द्रमा की ओर देखते-देखते प्रभात करता है, उसी तरह तुम निदिध्यासन-ध्यान-साधना का ऐसा अभ्यास करो कि तुम्हारे अन्तराकाश में विधूदय हो और तुम उस शीतल शांतिप्रदायक शशि को निहारते अघाओ नहीं। अर्थात् उस ओर अपनी दृष्टि सतत लगाए रहो।

संत कबीर साहब से पूछने पर कि इस संबंध में आपकी कैसी राय बनी है? तो वे कहते हैं-अरे! एक मेरी राय क्या है? जितने संत हुए, उन सभी का एकमत है। इसीलिए तो मैं कहता हूँ-'मारग विहंग बतावै संत जन।' पुनः वे कहते हैं-किन्तु सावधान! यह भी समझ लो।

पंछी क खोज औ मीन के मारग ढूँढ़े ना कोई पाया हो।

इस वचन को सुनकर हृदय में एक ठेस-सी लगती है, मन में उदासीनता छा जाती है और लगी-लगाई सारी आशा-बल्लियों पर तुषारपात हो

जाता है। क्या, पक्षी का रास्ता और मीन का मार्ग ढूँढ़ने पर भी किसी को नहीं मिला? यदि वह सर्वथा अलभ्य ही है, तो उसके लिए पुरुषार्थ करना क्या गगन-पद्म-प्राप्त्यर्थ परिश्रम के समान नहीं होगा?

संत कबीर कहते हैं–घबड़ाओ नहीं, केवल एक ही 'कड़ी' को लेकर मत उड़ो। अरे! मैंने तो पहले ही कह दिया है–'बिनु गुरु ज्ञान नाम ना पैहों. ...। जो गुरु-विहीन–निगुरा है, उसके लिए यह कहा है कि–'पंछी क खोज औ मीन के मारग ढूँढ़े ना कोइ पाया हो।' और अंत में तो मैंने और भी स्पष्ट कह दिया है–'कहै कबीर सतगुरु मिले पूरा भूले को राह बताया हो।'

तुलसी साहब (हाथरस वाले) कहते हैं–तुम परिंद बनना चाहो तो अलल नीड़ोद्‌भवा बनो। अलल पक्षी अन्तरिक्ष में अनिल के अवलम्ब से अवस्थित रहता है और वहीं अण्डा देता है। नभ से नीचे आते-आते रास्ते में ही उस अण्डे का क्रमशः बड़ा होना, फूटना, शावक होना, पर होना, आँखें खुलनी आदि सारी प्रक्रियाएँ हो जाती हैं। जब वह बच्चा नीचे गिरते-गिरते पृथ्वी छूने-छूने पर होता है, तब उसे ज्ञान हो जाता है कि यह तुम्हारा निवास-स्थल नहीं। वह अविलम्ब ऊपर की ओर उड़ता हुआ अपने माता-पिता के पास पहुँच जाता है।

इसी तरह तुम भी उस अलल-शिशु-सदृश हो और ऊँचे-से-ऊँचे–त्रयवर्ग पर परम पद– अति दुर्लभ कैवल्य परम पद से भी परे परमात्म-पद से उतरते-उतरते इस स्थूलाकाश के तमिस्त्र मंडल में आ गए हो अर्थात् तुम जीव पीव से सुदूर हो गए।

तुम उतरि पड़्यो तम माहिं पीव निःशब्द में।
याहि ते पड़ि गयो दूरि, चलो निःशब्द में।।

तुम निज निकेतन को भूल कर माया-मोह में फँस जागतिक यंत्रणाओं से जीर्ण-शीर्ण हो जर्जरित हो रहे हो। अब उक्त पक्षी की भाँति उलटकर–बहिर्मुख से अन्तर्मुख होकर–विहंगम मार्ग से आकाश-ही-आकाश उड़ते हुए, पंचाकाश–आकाश, पराकाश, महाकाश और सूर्याकाश के परे परमाकाश–अकथनीय सर्वव्यापक और सर्वोत्तम आनंद परमात्म-पद में पहुँच वहाँ अवस्थित हो अघ-ओघ उत्तीर्ण हो सब दुःखों से मुक्त हो जाओ। महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज का भी कथन है–**विहंग मीनी मार्ग दोउ से चलो हे मन-मीत।** तथा–

विहंग मीनी चाल चलि ज्यों सरित सों सरित समाहिं।
त्यों नाद सों नादों में चलि प्रभु पास भक्तन जाहिं।।

अब आप स्वयं अपना निर्णय करें कि आप क्या बनना चाहते हैं–पक्षी या पिपीलिका?

शान्ति-सन्देश, जून, १९८४ ई०

६३. संत उदय संतत सुखकारी

आदरणीय सज्जनो तथा आदरणीया माताओ एवं बहनो!

यद्यपि सामान्यतः सब लोगों के लिए आज शुक्रवार है, तथापि हमलोगों के लिए गुरुवार है; क्योंकि हमलोगों के परमाराध्य गुरुदेव की आज जयंती (जन्मतिथि) है। वैशाख शुक्लपक्ष चतुर्दशी को हमारे प्रातःस्मरणीय परम पूज्य श्रीसद्‌गुरुदेवजी महाराज का अवतरण इस भारत की पावन भूमि पर हुआ था। इसीलिए आज हमलोगों के लिए यह बहुत मंगलमय दिवस है।

यों तो प्रतिदिन विश्व में असंख्य जीव जन्म लेते और मरते हैं; किन्तु हम उन सबकी जयंती नहीं मनाते। जो अपने युग में विशेष गुणसम्पन्न महापुरुष होते हैं, उन्हीं की जयंती मनाते हैं। यदि वैचारिक दृष्टि से देखा जाय, तो चैत और वैशाख–ये दो महीने बड़े विलक्षण प्रतीत होते हैं। इन्हीं दो महीनों को हम ऋतु वसन्त कहते हैं। इसमें संत और भगवन्त दोनों के अद्‌भुत अवतरण हुए हैं। गो० तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस में लिखा है।

सन्त उदय सन्तत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी।।

जिस तरह सूर्य और चन्द्र–इन दोनों का उदय संसार को सुख देने के लिए होता है, उसी तरह संतों का अवतार भी संसार के कल्याण के लिए होता है। विचारणीय है, उपमा के सभी अंग लिये नहीं जाते, उसका कोई-कोई अंग ही लिया जाता है। सूर्य का प्रकाश दिन में होता है और चन्द्र का रात में; लेकिन संतों का प्रकाश दिन और रात दोनों में होता है।

भगवान बुद्ध ने कहा है–

दिवा तपति आदिच्चो रतिं आभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति झायो तपति ब्राह्मणो।
अथ शब्दमहोरतिं बुद्धो तपति तेजसा।।

अर्थात् दिन में सूर्य तपता है, रात में चन्द्रमा प्रकाश करता है। आभूषणों से अलंकृत होने पर राजा तपता है, ध्यानी होने पर ब्राह्मण तपता है और बुद्ध दिन-रात अपने तेज से तपते हैं। हम देखते हैं सूर्य के प्रकाश से सभी सुखी नहीं होते। कुछ सुखी होते हैं, तो कुछ दुःखी भी देखे जाते हैं; किन्तु संतों के ज्ञान से सबको सुख-ही-सुख होता है, जो कोई उसका आचरण करते हैं।

जब सूर्य उदय होता है, तो कमल खिलता है; किन्तु कुमुद सकुचा जाता है और जब चन्द्र उदय होता है, तब कुमुद का मुख खिल उठता है, पर कमल का मुख बन्द हो जाता है। इस प्रकार कमल के लिए सूर्य हितकर है, तो कुमुदनी के लिए चन्द्र। इससे सिद्ध होता है कि पद्म के लिए चन्द्र और कुमुद लिए दिनकर अहितकर है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन दोनों में से किसी एक के उदय होने पर इन दोनों को ही एक समान लाभ नहीं होता। बल्कि यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि जिस पूषण के प्रताप से पद्म का विकास होता है, उसी सूर्य के प्रभाव से एक दिन कमल का विनाश भी होता है। सूर्य के प्रकाश से कमल तबतक खिलता है, जबतक उसके नीचे पानी रहता है। कमल के नीचे जल नहीं रहे, मात्र सूखी जमीन रहे, तो वह सूर्य जलज को जला देता है। तात्पर्य यह कि नीरज के नीचे में नीर चाहिए और सूर्य का प्रकाश चाहिए, तभी वह जीवित रहता है और विकास भी करता है। उसी तरह हमलोगों के ऊपर ईश्वर की कितनी ही कृपा क्यों न हो, गुरुदेव की कृपा वारि-वरदहस्त हमारे साथ नहीं हो, तो कमल के समान ही हम भी एक दिन सूख जाएँगे, जल जाएँगे, गल जाएँगे–नामोनिशान नहीं रहेगा। अतएव ईश्वरीय अनुकम्पा के साथ गुरु-कृपा की अनिवार्य आवश्यकता है। बल्कि गुरुभक्तिन सहजोबाई ने निर्भीक हो स्पष्ट शब्दों में कहा है–

हरि किरपा जौं होय तो, नाहीं होय तो नाहिं।
सहजो गुरु किरपा बिना, सकल बुद्धि बहि जाहिं।।
हरि रूठे तो कुछ नहीं, तू भी दे छुटकार।
गुरु को राखो सीस पर, पल-पल करै सम्हार।।

हाँ, यह भी कह देना आवश्यक है कि जैसे श्रीगंगाजी में जल की कमी नहीं है–अथाह जल है। कोई कितना भी जल क्यों न ले जाए, गंगाजी को उसकी परवाह नहीं होती; क्योंकि उसमें कमी आती नहीं। फिर भी कोई कितना जल ले जा सकता है–जितना छोटा या बड़ा पात्र उसके पास में होगा। उसी प्रकार हमारे कृपावन्त गुरु-प्रभु की कृपा को उतने ही अंश में प्राप्त कर सकते हैं, जितना छोटा या बड़ा श्रद्धा-पात्र हमारे पास होगा। इसलिए कृपावन्त गुरु की कृपा के लिए शिष्य को श्रद्धावन्त होना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता (४/३९-४०) में कहा है–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति।।

अर्थात् हे अर्जुन! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त कर तुरंत ही वह परम शांति को पाता है। तथा–

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।

अर्थात् जो अज्ञानी श्रद्धा-रहित तथा संशययुक्त है, वह विनाश को प्राप्त होता है यानी परमार्थ से भ्रष्ट होता है। उस संशययुक्त पुरुष के लिए न सुख है और न लोक वा परलोक ही है अर्थात् उभय लोक से वह भ्रष्ट हो जाता है।

'योग-संगीत' पुस्तिका में योगी श्रीपंचानन भट्टाचार्यजी का वचन है–

गुरु वाक्ये श्रद्धा न होले साधन होय ना कोनो काले।

आज उसी गुरु-कृपा को पाने के लिए, जयंती मनाने हमलोग यहाँ एकत्रित हुए हैं। 'जयंती' शब्द स्त्रीलिंग है, जिसका अर्थ होता है–'विजयिनी।' अतएव यदि हम अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके जयंती मनावें, तो कितना उत्तम हो! वस्तुतः यही असली जयंती होगी। जिज्ञासा हो सकती है, इन्द्रियों पर विजय कैसे हो? उत्तर में निवेदन है–हमारे परम दयालु सद्‌गुरुदेवजी महाराज ने जो श्रीद्‌भगवद्‌गीता की युक्ति हमें दी है, उसका यदि हम संयम-संयुत हो नितप्रति नियमित रूप से अभ्यास करते रहेंगे, तो एक-न-एक दिन विजय अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। यह निश्चित है, सुनिश्चित है। इसमें कोई दूसरी बात नहीं

हो सकती।

वस्तुतः परम पूज्य गुरु महाराज की विशुद्ध जयन्ती हम तब मना सकेंगे, जब हमारा मन परिशुद्ध होगा, उनके आदेश के अनुकूल हम ठीक-ठीक चल सकेंगे। अगर हम गुरु महाराज की आज्ञा के अनुकूल ठीक-ठीक नहीं चल रहे हैं, तो केवल बाहर के दिखावे की जयंती से कुछ होना-जाना नहीं है। प्रवचन में प्रवीण; किन्तु आचरण में हीन और मन के मलिन जन सदा दीन बने रहेंगे। हमारे गुरुदेव की शिक्षा का सार है–

श्रीसद्गुरु की सार शिक्षा, याद रखनी चाहिये।
अति अटल श्रद्धा प्रेम से, गुरु-भक्ति करनी चाहिये।।
सत्संग नित अरु ध्यान नित, रहिये करत संलग्न हो।
व्यभिचार चोरी नशा हिंसा, झूठ तजना चाहिये।।

बाहर दिखावे की भक्ति, भक्ति नहीं है। भक्ति तो अन्तर की होती है। अगर हम अन्तर से गुरु-भक्ति करते हैं, दूर भी हैं तो गुरुभक्त हैं। निकट ही हैं, अगर हम हृदय की नहीं, दिखावे की भक्ति करते हैं, तो हम भक्त नहीं, कपटी हैं। कपटी भक्त को संत वा भगवन्त कोई भी पसन्द नहीं करते। भगवान श्रीराम ने कहा है–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

–रामचरितमानस

संत कबीर साहब कहते हैं–

छिमा गहो हो भाई, धरु सतगुरु चरणी ध्यान रे।
मिथ्या कपट तजो चतुराई, तजो जाति अभिमान रे।।
दया दीनता समता धारो, हो जीवत मृतक समान रे।।

पुनः वे कहते हैं–

गुरु से करे कपट चतुराई। सो हंसा भव भरमे भाई।।

तथा–

कह कबीर देख मन करनी। तेरे अन्तर बीच कतरनी।।
कतरनी की गाँठि न छूटै। तब पकड़ि पकड़ि जम लूटै।।

बहुत वर्ष पूर्व अपने गुरुदेवजी के ही श्रीमुख से मैंने सुना था–

गुरु से कपट मित्र से चोरी। की होय निर्धन की होय कोढ़ी।।

और उनकी पदावली में हम पढ़ते हैं–

गुरु से कपट कछू नहिं राखो। उनके प्रेम अमिय को चाखो।।

गोस्वामीजी की यह मान्यता है कि दूसरे के सुख को देखकर जलना क्षयरोग और कपटी-कुटिल दुष्ट मन का होना कुष्ट रोग है।

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।।

–रामचरितमानस

अतएव हम अपने हृदय को पवित्र करें। जबतक हम अपना हृदय पवित्र नहीं करेंगे, तबतक परम प्रभु परमात्मा जो परम पवित्र हैं, उनको कैसे पा सकते हैं? नहीं पा सकते। गुरु नानकदेवजी महाराज की वाणी है–

सूचै भाँड़े साँचु समावै, विरले सूचाचारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ, नानक सरनि तुमारी।।

जो कोई अपने को गुरु महाराज के आदेश और उपदेश-रूपी चहारदीवारी में रख सकेंगे, वे ही एक-न-एक दिन परम प्रभु परमात्मा को पाकर परम कल्याण के भागी हो सकेंगे। ईश्वर-भक्ति के संबंध में संत कबीर साहब ने भ्रम को दूर करनेवाली एक बड़ी ही मर्म की बात कही है–

भक्ति प्राण ते होत है, मन दे कीजै भाव।
परमारथ परतीत में, यह तन जाव तो जाव।।

आत्मा से ईश्वर की भक्ति होती है। चेतन आत्मा ही परमात्मा से जाकर मिल सकती है और कोई दूसरा नहीं। वास्तविक भक्ति तो चेतन आत्मा से ही होती है; लेकिन मन के द्वारा भाव किया जाता है, प्रेम किया जाता है, लगन लगाया जाता है। लगन लगाते-लगाते ही मन भजन में मगन होता है। संत कबीर साहब कहते हैं–परमार्थ यानी सर्वोत्कृष्ट सत्य, विशुद्ध आत्मज्ञान, जीव-पीव-मिलन का ज्ञान, जीव और ब्रह्म-संबंधी ज्ञान। उस सत्य धर्म को जानने में, विश्वास करने में, परमार्थ को यथार्थ रूप में समझने में अगर एक जीवन चला भी जाए, तो कोई हानि नहीं। समझो कि वह सार्थक जीवन है।

अगर सत् धर्म को जाना नहीं, दिखावे के धर्म में लगे रहे, दिखावा करते रह गये, तो यह मनुष्य-जीवन व्यर्थ को गया। अहैतुकी कृपा करनेवाले करुणा-वरुणालय हमारे गुरुदेवजी महाराज ने हमलोगों को जो साधना की क्रिया बतलायी है, वह सरल साधना है–सहज साधना है। मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टि साधन और नादानुसंधान–ये चारो साधनाएँ इतनी सरल हैं कि स्त्रियाँ भी कर सकती हैं, पुरुष भी कर सकते हैं; विद्वान कर सकते हैं, अविद्वान भी कर सकते हैं; धनी कर सकते हैं, निर्धन भी कर सकते हैं; सभी जाति, सभी वर्ग और सभी देश के लोग कर

सकते हैं।

परम पूज्य गुरुदेव की जयंती मनाने के उल्लास में आपलोग यत्र-तत्र से यहाँ एकत्र हुए हैं। आपलोगों को मैं बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। उनके आदेशानुकूल सत्संग का कार्यक्रम समापन किया जाता है। अब आपलोग अपने-अपने निवास-स्थान के लिए प्रस्थान करें। साथ ही, उनके मानस-रूप को अपने मानस-पटल पर अटल कर घर जा सकें, तो अत्युत्तम। धन्यवाद! ❖

पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन दिनांक ०३.०५.१९८५ ई० को गुरु-जयंती के अवसर महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में गुरुदेव के आवास पर उनके आदेश से हुआ था।

(शान्ति-सन्देश, मई २०१२ ई०)

६४. प्रेम समान और नहिं आन

वर्णित प्रसंग पढ़ने के पश्चात् जिज्ञासा होती है कि–चन्द्र से जैसे चकोर को, बादल से जैसे मोर को और परधन से जैसे चोर को प्रेम होता है, कामी पुरुष को कामिनी से प्रेम से प्रेम होता है अथवा प्रदीप-प्रकाश से पतंग की, वंशीनाद से कुरंग की और त्वचा से जैसे मतंग की प्रीति होती है, इस प्रकार की एक के प्रति एक की अनुरक्ति अनेक में पायी जाती है। किन्तु क्या, कोई ऐसी भी चीज है, जिस एक की प्राप्ति की आकांक्षा रखनेवाले अनेक हों? हाँ, है और वह है–अनेक में एक स्वातिबूँद। अतएव अब हम सर्वप्रथम यह समझने की चेष्टा करें कि 'स्वातिबूँद' है क्या?

हमलोगों के यहाँ ज्योतिषशास्त्र के अनुकूल अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवणा, घनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद और रेवती–ये सत्ताईस नक्षत्र माने गये हैं। इस दृष्टि से इन नक्षत्रों में 'स्वाति' का पन्द्रहवाँ स्थान है। फलित ज्योतिष के अनुसार इस नक्षत्र को शुभ माना जाता है। इस नक्षत्र में बरसनेवाली जलविन्दु को 'स्वातिबूँद' कहते हैं। इनकी विशेषता यह है कि यह पात्र के अनुरूप और गुण धारण करती है। जैसे केले के वृक्ष में पड़ने से कर्पूर, बाँस में पड़ने से बंशलोचन, हस्ती में पड़ने से गजमुक्ता, सर्प में मणि, सीप में मोती आदि। इस संबंध में रहीम कवि ने की उक्ति सुप्रसिद्ध है–

कदली सीप भुजंग मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई फल कीन॥

इसमें सन्देह नहीं है कि लघु की लघु शक्ति में जब बड़ों की बड़ी शक्ति मिल जाती है, तो वह महत् रूप धारण कर लेती है। यही कारण है कि सीपी में स्वाति की बूँद गिरने से उसको वह मोती बना देती है। यद्यपि स्वातिबूँद से बहुतों को स्नेह देखा जाता है, फिर भी अन्य की अपेक्षा पपीहा की प्रीति-चर्चा बहुशः पायी जाती है। इस संदर्भ में संत कवि की कविता और विद्वान् कवि की विद्वत्ता में अद्भुत मेल मिल जाता है। ऐसा लगता है कि दोनों ने ही दिल खोलकर इस उपमा-उपमेय का प्रयोग किया है। दोनों ने ही अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में स्वातिबूँद और पपीहा का आलंबन लिया है। पपीहा के पर्यायवाची अनेक नाम हैं; यथा–पपहिया, पपीहरा, पपीहा, पपी, चातक, सारंग, नीलकंठक आदि। मैथिली भाषा के एक महान् गीतकार कवि विद्यापति जी कहते हैं–

पिय पिय रटय पपिहरा रे, हिय दुःख उपजाव।

रस कुसुमाकर की रचना में हम पाते हैं–

भेद मुक्ता के जेते, स्वाति ही में होते तेते।
रतनन हुँ कौ कहूँ भूलिहु न होत भ्रम॥

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी कहा है–

स्वाति बूँद चातक मुख परी।
सीप समुंद मोती बहुत करी।

हाथरस-निवासी संत तुलसी साहब ने प्रभु को पाने की प्यास का पटतर पपी की प्यास से किया है। उन्होंने एक पद्य में कहा है कि पपी स्वातिबूँद के लिए विह्वल होकर सारी रात पिउ-पिउ रटती हुई भोर करती है, नहीं पाने पर भी आशा छोड़ती नहीं है।

ज्यों पपी को प्यास पीव रात भर रटी।
अरी स्वाति बूँद बिना भोर भ्यान पौ फटी॥

पुनः वे कहते हैं–

पिउ पिउ रटी सुरति से पपिया प्यारे।

इसी भाँति संत कबीर साहब ने प्रियतम मिलन की आस की तुलना पपीहा की प्यास से की है–

नैनन तो झरि लाइया, रहट बहै निसु बास।
पपिहा ज्यों पिउ पिउ रटै, पिया मिलन की आस॥

गुरु नानकदेवजी महाराज साधक की उपमा सारंग से तथा भगवन्नाम की स्वातिबूँद से देते हैं–

सतगुरु अगम अगम है ठाकुर भरि सागर भगति करीजै।
किरपा किरपा करि दीन हम सारिंग एक बुंद नाम मुख दीजै।

भक्त सूरदासजी की वाणी में है–

जलसुत दुखी दुखी है मधुकर, है पंछी दुख पावत।
सूरदास सारंग केहि कारण, सारंग कुलहिं लजावत॥

गोस्वामीजी ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना मानस में चातक-चातकी और स्वातिबूँद की उपमा इस भाँति दी है–

जेहि चाहत न नरनारि सब, अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित, वृष्टि सरद रितु स्वाति॥
–अयोध्याकाण्ड

चातक रटत तृषा अति ओही।
जिमि मुख लहइ न संकर द्रोही॥
(किष्किंधाकांड)

श्रीनरहरिजी कहते हैं–यदि किसी कारणवश सिंह को पचास दिन का उपवास करना पड़े, तो भी वह कभी घास नहीं चरता। इसी प्रकार चातक और चातकी की अपनी एक टेक होती है, वे स्वाति जल को छोड़कर अन्य जलों की ओर नेक निहारते नहीं, चाहे कितनी ही वर्षा क्यों न हो जाए, किन्तु वे पीते नहीं, मात्र स्वातिबूँद पीकर जीते हैं। बात बिल्कुल सत्य है कि सरिता वा सरोवर का कितना ही निर्मल नीर क्यों न हो, चातक पीता नहीं, उसको अपनी मृत्यु स्वीकार है, पर दूसरा जल पीना अंगीकार नहीं।

सरवर नीर न पीवई, स्वाति-बूँद की आस।
केहरि कबहुँ न तृन चरै, ज्यों व्रत करै पचास॥
ज्यों व्रत करै पचास, विपुल गज जूह विदारै।
धन है गर्व न करै, निधन नहिं दीन उचारै॥
'नरहरि' कुल के भाय, मिटै नहिं जब लगि जीयै।
बरु चातक मरि जाय, नीर सरबर नहिं पीयै॥

पपीहा के प्रेम की प्रशंसा करते हुए संत कबीर साहब ने अपने एक पद्य में परिचर्चा की है कि वह प्रेम-निर्वाह हेतु प्राण छोड़ सकता है; परन्तु प्रण नहीं तोड़ सकता; क्योंकि उसकी दृष्टि में तन छूटे तो कोई हानि नहीं, किन्तु प्रण टूटे तो बहुत बड़ी ग्लानि है।

पपिया पन छोड़ै नहीं, पन छोड़ै केहि काज।
तन छूटै तो कछु नहीं, पन छूटै तो लाज॥
–संत कबीर साहब

संत दादू दयाल जी कहते हैं–सीपी सागर का खारा जल पान नहीं करती, वह तो स्वातिबूँद की तलाश में समुद्र की ऊपरी सतह पर तैरती रहती है। शरद् ऋतु में जैसे ही उसको वह बूँद मिल जाती है, वैसे ही वह अपना मुँह बंद करके समुद्र के अंतस्तल में चली जाती है और मोती बनाने के काम में संलग्न हो जाती है। परिणामतः प्रभु-कृपा से एक-न-एक दिन वह उसमें सफलता प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार प्रभु-पथ का प्रेमी–पथिक विषय-रस से विरत हो आंतरिक साधना में रत होता है। अंततोगत्वा गुरु-कृपा से सुधारस पान करता हुआ वह एक-न-एक दिन प्रभुरूप मोती को पा लेता है।

सीप सुधा-रस ले रहै, पिवै न खारा नीर।
माहैं मोती नीपजै, दादू बन्द शरीर॥

संत तुलसी साहब के अनुसार वास्तिक स्वाति बूँद तो अधर में साधक को मिलती है–

स्वातिबूँद अधर झरत, नीर आस लखि अकाश।
पिउ की प्यास अमी से बुझा रे॥

जिस प्रकार चातक पक्षी आकाश की ओर एकटक लगाकर देखता रहता है, वह अन्य जलों की उपेक्षा करता हुआ स्वातिबूँद की अपेक्षा रखता है और जब उसको वह बूँद मिल जाती है, तो सादर सम्मान करता हुआ उसका पान करता है। इसी प्रकार दृष्टियोग का साधक चारों ओर से अपनी वृत्तियों को मोड़कर, अपने अंतराकाश में गुरु-निर्देशित स्थान पर युगल दृष्टियों को मोड़कर एकटक उस ओर निहारता रहता है। सभी रूपों की अपेक्षा करता हुआ विन्दु-रूप की अपेक्षा रखता है।

कोउ रूप को न देखूँ, एकविन्दु सबमें पेखूँ।
रिद्धि सिद्धि को न लेखूँ, ऐसी सुरत सिमटा दो॥
–महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

फिर तो उस भक्त साधक के लिए संत कबीर साहब की वाणी 'लखत लखत लखि पड़ै, कटै

जमफंद है' चरितार्थ हो जाती है। अर्थात् देखते-देखते प्रभु का विन्दुरूप देखने में आ जाता है। गोस्वामीजी इस भाव की अभिव्यक्ति रामचरितमानस में इस भाँति की है–

लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाखे॥
निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी।
रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी॥
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक।
बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥

अर्थात् जो अपनी आँखों को चातक बनाकर दर्शन की अभिलाषा से मेघ में लगाये रखते हैं और भारी तालाब, नदी और समुद्र का निरादर करके विन्दुरूप जल से सुखी रहते हैं, हे रघुनायक! उनके सुख देनेवाले हृदय-मंदिर में आप भाई और सीताजी के सहित निवास कीजिए। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए हमारे परम पूज्य गुरुदेव की अनुभूत पूतवाणी का अनुशीलन कीजिए–"इन तीनों चौपाइयों में दृष्टि-साधन का भेद खोलकर बतलाया गया है। पपीहा स्वाति-जल के लिए बड़ी-बड़ी नदियों, तालाबों और समुद्रों का निरादर कर मेघ को एकटक से (टकटकी लगाकर) देखता रहता है और उसे (स्वाति-जल को) देख लेने पर परम प्रसन्नता से ग्रहण करता है। उसी तरह भक्तियोग का साधक अपने हृदयाकाश के अंधकाररूप बादल में एकटक से टकटकी लगाकर देखता रहता है अर्थात् दृष्टि-साधन करता रहता है और नदी आदि बड़े जलाशयरूपी बड़े-बड़े रूपों (दृश्यों) को निरादर करके नहीं देखता है, पर विन्दुरूप को देखकर परम प्रसन्नता से दृढ़तापूर्वक धारण करता है। ऐसे साधक का हृदय राम के लिए सुखदायक घर है। वाल्मीकि जी श्रीराम को इसी घर में रहने के लिए कहते हैं।

इस संदर्भ में लोगों की यह जिज्ञासा अप्रासंगिक नहीं कि संत कबीर साहब, गुरु नानक साहब, सूर प्रभृति संतों की वाणियों में चातक की चर्चा हम पाते हैं, क्या पूज्यपाद महर्षिजी ने भी अपनी रचना में कहीं चातक को स्थान दिया है? उत्तर में निवेदन है कि जिन्होंने 'सब संतन्ह की बड़ि बलिहारी' द्वारा सभी संतों का समादर किया है तथा उन संतों की वाणियों को संचयन कर समन्वय रूप दिया है, भला उनकी रचना 'चातक' शब्द से वंचित कैसे रह सकती है? मानस जप और मानस ध्यान के बाद दृष्टि-साधन की क्रिया आती है, उस प्रसंग में आपका संकेत है–

ध्यानाभ्यास करो सद सदही,
चातक दृष्टि बनाई हो।
लखत-लखत छवि बिन्दु प्रभु की,
ज्योति मंडल धँसि धाई हो॥

इस दृष्टि से यह स्वतःसिद्ध है कि लौकिक वा पारलौकिक–किसी भी कार्य की सिद्धि, सफलता वा सुनिष्पन्नता के लिए प्रेम की अनिवार्य आवश्यकता होती है। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि जड़ से जड़ की प्रतीति कभी की नहीं जा सकती। वह तो बालू की भीत की भाँति कभी भी ढह सकती है। जड़ से जड़ की वा क्षर से क्षर की प्रीति सच्ची नहीं हो सकती, कच्ची होती है; क्योंकि दोनों ही नाशवान हैं। इसलिए नाशवान का नाशवान से प्रेम विनाशवान ही तो होगा। वह सतत वा एकरस रहनेवाला नहीं होगा। संतों ने कहा–'तुम अविनाशी हो, परम प्रभु परमात्मा अविनाशी है। इसलिए अनाशी का अनाशी से प्रेम अविनाशी, सुखराशि और नित्य विलासी होगा। वस्तुतः प्रभु-प्रेम में ही प्रेम है। अन्य प्रेम तो मात्र नेम निभाने का है।

"हम प्रेम से बढ़कर सुख या आनंद की कल्पना नहीं कर सकते। पर इस प्रेम का अर्थ भिन्न है। इसका अर्थ संसार का साधारण स्वार्थमय प्रेम नहीं है। किसी संसारी प्रेम को प्रेम कहना अधर्म होगा। अपने बच्चों ओर स्त्री के प्रति हमारा जो प्रेम होता है, वह केवल पाशविक प्रेम है। जो प्रेम पूर्णतया निःस्वार्थ हो, वही प्रेम है और वह सचमुच ईश्वर का प्रेम है।" –स्वामी विवेकानंद

संत दादूदयालजी कहते हैं–"एकमात्र परमेश्वर ही शुद्ध प्रेम-स्वरूप है। अतः ईश्वरीय प्रेम ही सच्चा प्रेम है, जो कि ईश्वर की ही भाँति अगाध होता है। सच्चा प्रेमी इस ईश्वरीय प्रेम के अमृत को नित्य नयी प्यास के साथ आनंदमग्न हो सदा पीता रहता है। पर बाहर से कोई दिखावा नहीं करता।

प्रेमी अपने प्रियतम का गुलाम है। उनके दरवाजे का भिखारी है। लाख अपमान किये जाने पर भी वह अपने प्रियतम का दरवाजा नहीं छोड़ सकता। अपने प्रियतम की महानता और दयालुता की तुलना में

अपने प्रेम और सेवा को तुच्छ समझते हुए वह सदा सच्चा दीन बना रहता है। उसे स्वर्ग या किसी ऋद्धि-सिद्धि की कामना नहीं होती। उसे तो बस केवल अपने प्रियतम की ही चाह होती है।

सच्चा प्रेमी विरहाग्नि की प्रबल ज्वाला में जलता रहता है और अपने प्रियतम की एक झलक के लिए तरस-तरसकर अत्यन्त आर्त्तभाव से आँसू बहाता है। अपने प्रियतम के दर्शन के बिना उसका जीवन भार हो जाता है। उसकी अवस्था वैसी ही हो जाती है, जैसे जल के बिना मछली की, स्वाति-बूँद के बिना पपीहे की और माता के दूध के बिना बच्चे की होती है। दीपक पर जलनेवाले पतंग के समान या शिकारी के बाजे पर जान देनेवाले कस्तूरी मृग के समान वह अपने प्रियतम के प्रेम में किसी भी क्षण अपना प्राण न्योछावर करने को तैयार रहता है। ऐसे विरहीजन का ही अपने प्रियतम से मिलाप होता है। पुनः वे कहते हैं—अपने तन को प्रियतम के आगे वोटी-वोटी करके कुरवानी करे और बाँट दे। फिर भी वह मधुर प्रियतम यदि कडुवा न लगे, तब वह तुझे मिलेगा।

भोरे भोरे तन करै, बंडे करि कुरवाण।
मीठा कड़ुआ न लगे, दादू तोहू साण॥
—संत दादूदयालजी

इस प्रेम के विषय में परम पूज्य महर्षिजी की कैसी राय बनी है, यह भी पठनीय है—"ध्यान, उपासना, आरती, पूजन-भजन और भक्ति का प्राण प्रेम है। राम के प्रति प्रेम बिना ये निःसार और निरर्थक है। जिस महल में राम से मिलाप होता है, उसमें केवल राम के प्रेमी ही अपना शीश उतारकर अर्थात् अहंकार को संपूर्ण गँवाकर जा सकते हैं। प्रेमी जिससे प्रेम करता है, उसके बिना उसको रहा नहीं जाता। सच्चा प्रेमी जिससे प्रेम करता है, उसकी ओर एकटक देखता है और चाहता है कि वह भी उसको देखे। वह अपने प्रेमपात्र के पास चल पड़ता है और संपूर्ण विघ्न-बाधाओं को और संपूर्ण विपत्तियों को झेलते हुए कठिन-से-कठिन मार्ग को पार कर उससे जा मिलता है।" संत कबीर साहब प्रेम का कितना उत्तम वर्णन निम्नलिखित शब्दों में करते हैं—

प्रेम सखी तुम करो विचार।
बहुरि न आना यहि संसार॥१॥
जो तोहि प्रेम खेलनवा चाव।
सीस उतार महल में आव॥२॥
प्रेम खेलनवा यही विशेष।
मैं तोहि देखूँ तू मोहि देख॥३॥
प्रेम खेलनवा यही स्वभाव।
तू चलि आव कि मोहि बुलाव॥४॥
खेलत प्रेम बहुत पचिहारी।
जो खेलिहैं सो जग से न्यारी॥५॥
कहै कबीरा प्रेम समान।
प्रेम समान और नहिं आन॥६॥

(सितम्बर, १९८५)

६५. केहि न राजमद दीन्ह कलंकू

प्रायः देखा जाता है कि श्री-विहीन जन का मन दीन, हीन और खिन्न बना रहता है। वही जब श्री-श्रित हो जाता है, तो 'श्रीमत्' कहलाता है और जब उसकी बुद्धि को 'श्री' मथ डालती है, तब वह 'श्रीमथ' हो जाता है। फिर 'त' वर्ग का तृतीय वर्ण 'द' आ धमकता है और वह श्रीमद-मत्त हो जाता है। 'मद' शब्द के अनेक अर्थों में 'नशा' भी एक अर्थ है। नशेबाज दूसरे की आवाज नहीं सुनता, वह अपने में ही मस्त रहता है। इसी प्रकार किसी विशिष्ट पद पर आसीन व्यक्ति प्रभुता पाकर अन्यों की ओर से उदासीन हो जाता है। वह किसी का सद्विचार सुनना नहीं चाहता। वह सद्धर्म की और से वधिर हो जाता है। ऐसे लोगों की गति-मति सन्मार्ग-विचलित हो 'वक्र' हो जाती है। ऐसे ही लोगों की ओर रविकुल कमलदिवाकर भगवन्त श्रीराम के अनन्य भक्त कविकुलकैरवसुधाकर संत तुलसीदासजी का संकेत है।

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।

'प' और 'म' दोनों ही वर्ण 'प' वर्गीय हैं। दोनों की आकृतियाँ करीब-करीब मिलती-जुलती

दीखती हैं। उभय वर्णों में मात्र इतना ही अन्तर है कि 'प' की अपेक्षा 'म' का नितम्ब-भाग कुछ मोटा होता है। यदि 'प' के पिछले निम्न भाग को थोड़ा मोटा कर दिया जाए, तो वह सरलतापूर्वक 'म' बन जाएगा। यद्यपि यह भाषा-विनोद है, तथापि प्रकृत सत्य भी इसके अन्दर निहित है। तात्पर्य यह कि 'पद' पाने में जितनी भी देर क्यों न लग जाए, किन्तु 'मद' आने में देर नहीं लगती। यही हेतु है कि सत्ता पाने के पश्चात् ही सत्ताधारी सुराप के समान व्यवहार करने लगता है। ऐसा लगता है, मानों सत्ता पाने का अर्थ सुरापान ही हो। संतों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। संत कबीर ने 'मद' को विभिन्न रूपों में देखा है। उन अनेक में से कुछेक की चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है–

मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय ।
तनमद मनमद जातिमद, मायामद सब लोय ।।
विद्यामद और गुनहु मद, राजमद्द उनमद्द ।
इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद्द ।।

चूँकि शीर्षक की पंक्ति में कवि का संकेत 'राजमद' की ओर है, अतएव आइए, हम 'राजमद' पर ही थोड़ा विचार करें। कवि का कथन है कि 'राजमद' ने किसको कलंक नहीं दिया? अर्थात् राजपद पाकर मद में आकर सभी कलंकित हुए। इस विषय की पुष्टि के लिए उन्होंने श्रीलक्ष्मण जी की सूक्ति का आश्रय लेकर छः विशिष्ट व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण किया है–

शशि गुरुतियगामी नहुष, चढ़ेउ भूमिसुर जान ।
लोक वेद ते विमुख भा, अधम न बेन समान ।।
सहसबाहु सुरनाथ त्रिशंकू । केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ।।

चन्द्रमा ने अपनी गुरुपत्नी के साथ गमन किया। नहुष ने राज्यमद में आकर ब्राह्मणों से पालकी उठवायी। वेण के समान कौन अधम है, जो लोक और वेद से विमुख हुआ?

राजा वेण ने राजमद में मत्त होकर मुनियों एवं ब्राह्मणों को मूर्ख बताते हुए कहा–'खेद है, तुमलोगों ने अधर्म में ही धर्म-बुद्धि कर रखी है। जो लोग मूर्खतावश राजा-रूपी परमेश्वर का अनादर करते हैं, उन्हें न तो लोक सुख मिलता है, न परलोक में ही।' इस प्रकार वेण ने सारे देश को आदेश दिया कि उसे छोड़कर कोई अन्य ईश्वर की आराधना या उपासना नहीं करे। मुनियों और ब्राह्मणों ने उन्हें समझाने की बहुत चेष्टा की; किन्तु उन्होंने किन्हीं की बात न मानी। परिणाम यह हुआ कि मुनियों और ब्राह्मणों ने केवल हुँकार से ही उनका काम तमाम कर दिया।

सब देव, दनुज और मनुज पर विजयी दशभुज को पराजित कर सहस्त्रभुज का विजयोल्लास आकाश छूने चला था। अपने गर्व के सामने वह सबको खर्व समझता था। राजपद के नशे में चूर होकर एकबार वह महर्षि यमदग्नि के आश्रम गया। वहाँ उनकी कामधेनु को देखकर उसका मन लेने के लिए मचल उठा। राज्याभिमान में उसने महर्षि जी के मानापमान पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। बल्कि उनकी इच्छा के विरुद्ध उनकी गाय लेकर चलने लगा। श्री परशुराम जी से यह देखा नहीं गया। उन्होंने उस अहंकारी का अहंकार-सहित संहार कर डाला।

'सत्ता' स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता का सृजन करती है। सत्ताधारी सुरराज ने त्वष्टा का वध करके ब्रह्महत्या का पातक सिर पर लिया। साथ ही उन्होंने ऐसे-ऐसे काज किये, जिस कारण समाज को मुँह दिखाना दूभर हो गया। फलतः सुर-सिरताज होते हुए भी लाज के मारे राज छोड़कर वर्षों छिपे रहे।

राजा त्रिशंकु निःशंक होकर सशरीर स्वर्ग जाना चाहता था। इसके लिए उसने महर्षि वशिष्ठ से प्रार्थना की। वशिष्ठ जी ने अपनी सहायता या सम्मति नहीं दी। फिर भी विश्वामित्र का सहयोग पाकर यद्यपि उसने कुछ अंश में सफलता पाई भी; किन्तु इन्द्र ने सुरपुर से उसको नीचे ढकेल दिया। वह पतित होकर पृथ्वी की ओर आ रहा था कि विश्वामित्र ने नीचे आने से उसको रोक दिया। इस प्रकार वह न ऊपर रहा, न नीचे ही; बीच में ही अर्द्धमुख लटका रह गया। इस प्रकार राजाओं के प्रति प्रिय अनुज श्रीलक्ष्मण जी के कहे गए सरोष वचन को श्रीभगवान निज कान से श्रवण करते रहे। मात्र श्रवण ही नहीं, बल्कि वचन-समर्थन में उन्होंने अपनी स्वीकृति की मुहर भी लगाई है।

कही तात तुम नीति सुहाई । सब तें कठिन राजमद भाई ।।
जो अँचवत मातहि नृप तेई । नाहिन साधु सभा जिन सेई ।।

हे तात! तुमने अच्छी नीति कही है। राजमद सबसे कठिन होता है। जो कोई राज्यरूपी मदिरा का पान करते हैं, वे सभी नृप मत्त हो जाते हैं, जिन्होंने साधु-सभा का सेवन नहीं किया है।

अब इस प्रसंग को यदि हम दूसरी दृष्टि से अवलोकन करना चाहें तो प्रतीत होगा कि कविकुल-भूषण गोस्वामी जी ने 'केहि न राजमद दीन्ह कलूंक' कहकर प्रश्न चिह्न (?) लगा दिया है। तात्पर्य यह कि क्या ऐसे भी कोई हैं, जिनको 'राजमद' ने कलंकित नहीं किया, यदि वे हैं, तो कौन? इस सन्दर्भ में भी हम उन्हीं राघवेन्द्र के श्रीमुख से अपनी जिज्ञासा का समाधान कराना चाहेंगे। देखें, वे क्या कहना चाहते हैं?

जिस प्रकार व्याकरण के सभी शब्द नियम से बँधे होते हैं, किन्तु यदा-कदा अपवादस्वरूप कुछ ऐसे भी शब्द सामने आ खड़े होते हैं, जिनको परे करना, बुद्धि से परे की बात हो जाती है। अन्ततः उसको स्वीकार करना ही पड़ता है। इसी प्रकार शेषावतार की शुरू से शेष तक की सारी बातों का समर्थन यद्यपि प्रभु रमेश ने किया, फिर भी महेश को साक्षी देकर प्रियानुज भरत को सामने रखा। श्रीभरत जी के पवित्र चरित्र की प्रशंसा भूत-भावन शंकर के शब्दों में सुनिए–

अवधराज सुरराज सिहाई । दशरथ धन लखि धनद लजाई ।।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा ।चंचरीक जिमि चंपक बागा ।।
रमाविलास राम अनुरागी । तजत वमन इव जन बड़भागी ।।
(मानस, अयोध्याकाण्ड)

श्रीभरत जी की गुण-गथा गाते कवि अघाते नहीं। उनकी उक्ति कितनी युक्तियुक्त बैठती है! भक्त-हृदय को झकझोरे बिना छोड़ती नहीं।

भरत सरिस को राम-सनेही । जग जपु राम राम जपु जेही ।

श्रीभरत जी के समान श्रीरामचन्द्रजी का स्नेही अन्य कौन है? कि दुनिया तो राम को जपती है और राम 'भरत' जी को जपते हैं। इसीलिए तो उनके लिए यह वचन सार्थक है–

जौं न होत जग जन्म भरत को ।
सकल धर्म धुर धरणि धरत को ।।

यदि भरतजी का जन्म जगत में नहीं होता, तो सर्वधर्म की धुरी को पृथ्वी पर कौन धारण करता? जिस अवध राज्य की सराहना इन्द्र करते हैं, जिस दशरथजी के धनैश्वर्य को देखकर धन के धनी कुबेर लज्जित होते हैं, उस पुर में भरतजी बिना राग–वैराग्ययुक्त हो बसते हैं, जैसे चम्पे के बाग में भौंरा राग-रहित बसता है। हे पार्वती! राम-अनुरागी जन बड़भागी होते हैं। वे (रमा-विलास) धनादिक ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य को वमन के समान त्याग देते हैं।

यदि शंका हो कि जिस राज्य को पाकर प्रायः सभी राजा पथभ्रष्ट हुए, उसी राज्य को पाकर श्रीभरत जी सर्वश्रेष्ठ कैसे बने रहे? उत्तर में निवेदन है कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकार मायामुखी मन में उद्भूत होते हैं, ब्रह्ममुखी वा ब्रह्मभूत जन में नहीं। जो प्रभु के अनन्य भक्त होते हैं तथा सतत साधु-संतों की सभा का सेवन करते रहते हैं, उन पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता। उनको माया प्रभावित नहीं कर सकती। वे मायिक पदार्थों के आकर्षण में नहीं पड़ते। प्रभु की छत्रच्छाया में रहने के कारण माया उनसे डरती है। इसलिए उनपर अपनी कुछ प्रभुता कर नहीं सकती।

भगतिहिं सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ।।
रामभगति निरुपम निरुपाधी । बसइ जासु उर सदा अबाधी ।।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई ।करि न सकइ कछु निजप्रभुताई ।।

श्रीभरत जी साधु-संत-सेवी थे, भगवान के अनन्य भक्त थे। भगवदनुरागी होने के कारण स्वभावतः वे विषय-विरागी थे। चक्रवर्ती राजा दशरथ के राज्य वैभव को पाकर भी वे जल-कमलवत् रहते थे। जैसे हाथ में तेल लगाकर कटहल काटनेवाले को उसका लस्सा नहीं लगता, उसी प्रकार भगवद्भक्ति से हृदय को तर करके सांसारिक कार्य करनेवाले को संसारा-सक्ति नहीं होती। वस्तुतः सभी सद्गुणों से सम्पन्न श्रीभरत जी थे। इसीलिए उनके संबंध में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम स्पष्ट शब्दों में अत्यन्त दृढ़तापूर्वक चुनौती देते हुए कहते हैं–

सुनहु लखन भल भरत सरीसा ।
विधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ।।
भरतहिं होय न राजमद, विधि हरिहर पद पाय ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि, क्षीरसिन्धु बिनसाय ।।
तरुण तिमिर तरणिहिं सकु गिलई ।
गगन मग न मकु मेघहिं मिलई ।।

गोपद जल बूड़हिं घट जोनी ।
सहज क्षमा मकु छोड़हिं छोनी ।।
मसक फूँक बरु मेरु उड़ाई । होइ न नृपमद भरतहिं भाई ।।

अर्थात् भगवान श्रीराम कहते हैं–'हे लक्ष्मण! सुनो, भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्मा की सृष्टि में नहीं सुना गया, न देखा ही गया है। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का पद पाकर भी भरत को राज्य का मद नहीं होने का। क्या काँजी की बूँदों से क्षीर समुद्र नष्ट हो सकता है? अन्धकार चाहे तरुण (मध्याह्न) के सूर्य को निगल जाए। आकाश चाहे बादलों में समाकर मिल जाए। गौं के खुर इतने जल में अगस्त्यजी डूब जाएँ और पृथ्वी चाहे अपनी स्वाभाविक क्षमा (सहनशीलता) को छोड़ दे। मच्छर की फूँक से चाहे पहाड़ उड़ जाए; परन्तु हे भाई! भरत को राजमद कभी नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह कि अध्यात्म-विहीन राजनीति अपवित्र होती है तथा अध्यात्म-संयुक्त राजनीति पवित्र होती है। अतएव अपने जीवन को पावन बनाने के लिए हम अध्यात्म अपनावें।

(शान्ति-सन्देश, फरवरी १९८६)

६६. ज्योति और नाद क्या है?

ये ज्योति और नाद क्या हैं? इसके संबंध में शास्त्र का कहना है–

आसीद्‌बिन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्ति समुद्‌भवः ।
नाद रूपा महेशानि चिद्रूपा परमा कला ।।
(वायवीयसंहिता)

अर्थात् पहले विन्दु तब नाद और नाद से शक्ति उत्पन्न होती है। चैतन्य-रूपा परमाकला महेशानि (शिवा) नादरूपा है। तथा–

न नादेन बिना ज्ञानं न नादेन बिना शिवः ।
नाद रूपं परं ज्योतिर्नाद रूपी परो हरिः ।।

अर्थात् नाद के बिना ज्ञान नहीं हो सकता है, नाद के बिना कल्याण नहीं हो सकता है, नाद ही श्रेष्ठ ज्योति-स्वरूप है और नाद रूप ही हरि हैं।

नाद के संबंध में श्रुति का यह सिद्धांत है–

वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे वाच इत्सर्वममृतं मर्त्यं च ।

अर्थात् शब्द से ही विश्व विकसित हुआ। शब्द ही अमृत और मृत्युस्वरूप है। और भी,

वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति वागेवार्थं सन्निहितं संतनीति ।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ।।

अर्थात् शब्द के द्वारा ही अर्थ देखते हैं, शब्द को ही बोलते हैं, शब्द में ही मिले हुए अर्थ का विस्तार करते हैं, शब्द के द्वारा ही यह संसार नाना रूपों में बँटा हुआ है, उस बँटे हुए से एक भाग लेकर हम लोग उपभोग करते हैं।

यजुर्वेद में एक मंत्र आया है, जो बताता है कि विश्व की उत्पत्ति ईश्वर की वाणी (शब्द) से हुई है। यथा–

ताँ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमति विश्वजन्याम् ।
यामस्य कण्वोऽअदुत्प्रपीनाँ सहस्रधाराम्पयसामहींगाम् ।।

(अ० १७ मं० ७४ खण्ड १)

अर्थात् सबसे श्रेष्ठ सर्वोत्पादक परमेश्वर की अद्‌भुत (विश्वजन्या) विश्व को उत्पन्न करनेवाली (समुति) उत्तम ज्ञानवती (गाम्) वाणी को मैं (वृणे) सेवन करूँ। (याम् महीम् गाम्) जिस पूजनीय वाणी को सहस्त्रों धारावाली हृष्ट-पुष्ट गाय के समान (सहस्त्र धाराम् सहस्त्रों धारा धारण सामर्थ्य या व्यवस्था-नियमों वाली (कण्व अदुहत्) ज्ञानी पुरुष दोहन करता है, उससे ज्ञान प्राप्त करता है। इस विषय पर परमपूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज द्वारा टिप्पणी इस प्रकार है–'परमेश्वर की अद्‌भुत विश्व को उत्पन्न करने वाली वाणी का मैं सेवन करूँ।' इसी शब्द वा नाद को ध्यानाभ्यास-द्वारा भजने वा ग्रहण करने का आदेश संत लोग करते हैं।

साधो शब्द साधना कीजै ।
जेहि शब्द से प्रगट भये सब सोई शब्द गहि लीजै ।।

श्रीमदाद्य शंकराचार्य जी महाराज को भी यह मान्य है कि शब्द से सृष्टि हुई है, जो उसके अनुसार उपादान कारण है–

न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्म प्रभवत्वं बहुपादान कारण त्वभिप्रायेण ।

अर्थात् इस शब्द की उत्पत्ति का ब्रह्म की उत्पत्ति के समान उपादान कारण नहीं है।

और तो और, ईसाई धर्म की मूल पुस्तक जो बाइबिल है, उसमें ईसा के शिष्य जॉन ने भी इस विषय का प्रतिपादन किया है कि आरम्भ में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ही ईश्वर था। यथा–

In the beginning was the word, the word was with God, and the word was God.'

तथा ब्रह्मज्योति के संबंध में संत ल्यूक ने इस भाँति कहा है–

'The light of the body is the eye, therefore when thine eye is single, thy whole body also is full of light; But when thine eye is evil, thy body also is full of darkness.

Take heed therefore that the light which is in thee be not darkness.

If thy whole body therefore be full of light, having no part dark, the whole shall be full of light, as when the bright shining of a candle both give the light" St. Luke chapter 11/34-36.

शरीर का दीपक आँख है। इसलिए जब तेरी आँख एक हो, तो तेरा सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमय होगा, किन्तु जब तेरी आँख बुरी हो, तो तेरा शरीर भी अन्धकारमय होता है॥३४॥

इसलिए इसका ध्यान रख कि वह ज्योति (दीपक) जो तुम्हारे अन्दर है, अन्धकारमय न हो॥३५॥

इसलिए अगर तेरा सम्पूर्ण शरीर प्रकाश से पूरित हो, उसका कोई अंश भी अन्धकारमय न हो, तो जिस प्रकार तेज जलनेवाली मोमबत्ती तुझे प्रकाश देती है–सम्पूर्ण उजियारा हो जाएगा॥३६॥

संत कबीर साहब, गुरु नानक साहब, दादू दयालजी, राधास्वामी साहब आदि संतों ने भी सृष्टि के आरम्भ में शब्द का होना, एक स्वर से स्वीकार किया है। यथा–

साधो शब्द साधना कीजै ।
जेहि शब्द से प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै ।।
शब्दहिं गुरु शब्द सुनि शिष भे, शब्द सो विरला बूझै ।
सोई शिष्य सोइ गुरु महातम, जेहि अन्तर गति सूझै ।।
शब्दै वेद पुराण कहत हैं, शब्दै सब ठहरावै ।
शब्दै सुर मुनि संत कहत हैं, शब्द भेद नहिं पावै ।।
शब्दै सुनि-सुनि भेष धरत हैं, शब्द कहै अनुरागी ।
षट दरशन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहै वैरागी ।।
शब्दै माया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा ।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है, तवन भेद है न्यारा ।।

(कबीर साहब)

शब्द तत्त्व बीर्य संसार । शब्द निरालम अपर अपार ।।
शब्द बिचारि तरे बहुभेषा । नानक भेदु न शब्द अलेषा ।।
शब्दै सुरति भया परगासा । सभ को करै शब्द की आसा ।।
पंथी पंखी सिउ नितराता ।नानक शब्दै शब्द पछाता ।।
हाट बाट शब्द का खेलु । बिन शब्दै क्यों होवै मेलु ।।
सारी सृष्टि शब्द कै पाछे । नानक शब्द घटै घटि आछै ।।

(गुरुनानक देव)

शब्दैं बन्ध्या सब रहै, शब्दैं सब ही जाइ ।
शब्दैं ही सब ऊपजै, शब्दैं सबै समाइ ।।
एक शब्द सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोय ।
आगैं पीछैं तो करे, जे बलहीना होय ।।
पंच ऊपना शबद थै, शबद पंच सों होय ।
साईं मेरे सब किया, बूझे बिरला कोय ।।
शब्दैं ही सूषिम भया, शब्दैं सहज समान ।
शब्दैं ही निर्गुण मिलै, शब्दैं निर्मल ज्ञान ।।

(संत दादू दयालजी)

सब का आदि शब्द को जान ।अनत सभी का शब्द पिछान ।।
तीन लोक और चौथा लोक । शब्द रचे यह सब ही थोक ।।

(राधास्वामी साहब)

ज्योति और शब्द के विषय का उल्लेख हम छान्दोग्योपनिषद् अ० ३ के त्रयोदश खण्ड में इस भाँति पाते हैं–

अथ यदतः परो दिवोज्योतिर्दीप्यते विश्वतः सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नंतः पुरुषेज्योतिस्तस्यैषा दृष्टि॥ यत्रै तदस्मिञ्छ्रीरे सँ स्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोतितदेतदृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत् चक्षुस्यः श्रुतो भवति

य एवं वेद ।।

अर्थात् जो कि इससे परे स्वर्ग अथवा आकाश में ज्योति चमकती है एवं विश्व की पीठ पर, सबकी पीठ पर तथा उत्तम और अनुत्तम सब लोकों में चमकती है, यह वही है जो अन्तःपुरुष में ज्योति है। उसी की यह दृष्टि है, जो कि इस शरीर में छूने से गर्मी का ज्ञान करते हैं। उसी की यह श्रुति है जो कि इन कानों को बन्द करके ध्वनि के समान और जलती हुई आग के गर्जन के समान सुनते हैं। तो इस तरह उसे देखा भी और सुना भी, अतः चक्षुष्य और श्रुत दोनों से उसकी उपासना करनी चाहिए, जो इसे जानता है।

अतएव कहना पड़ता है कि ज्योति जगत का जीवन तत्त्व है और नाद जगत का आदितत्त्व। बिना नाद के जगत का अस्तितव नहीं और प्रकाशहीन का अर्थ तो प्राण-विहीन ही समझना चाहिए। यही कारण है कि जगत को नादात्मक कहते हैं। यदि विराट प्रकाशपुञ्ज–सूर्य पिण्ड को स्थूलाकाश से हटा दिया जाए, तो सौर जगत् को ठहरने का कहीं ठौर नहीं। अतएव स्वतः सिद्ध है कि ये उभय-ज्योति और शब्द, मानव मात्र के ही नहीं, वरन् प्राणिमात्र के प्राण हैं। जहाँ ज्योति और नाद नहीं, वहाँ जीव का जीवन नहीं–अस्तित्व नहीं। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि जिस सद्यःजात शिशु की आँख में तेज नहीं और भूमिष्ठ होते ही जो शिशु क्रन्दन प्रसारित कर हमें शब्द का बोध नहीं दिलाता, उस शिशु को शव जानकर सब त्याग देते हैं।

अन्य प्राणियों के प्रसंग का परित्याग कर हम अपनी ओर दृष्टिपात करें। जबतक हमारे शरीर में उष्णता वा गर्मी रहती है, तबतक शरीर का जीवन रहता है और उष्णता की इतिश्री में देह का भी अवसान हो जाता है। हमारी रुग्णावस्था में डॉक्टर वा वैद्य आते हैं। वे क्या देखते हैं? तापमापक यंत्र (Thermometer) हमारे शरीर के ताप की हो तो माप करते हैं और नाड़ी स्पर्श कर नाड़ी की गति, कम्पन वा स्पन्दन ही तो देखते हैं? साथ ही (Stethoscope) वक्ष-परीक्षण यंत्र द्वारा हमारे हृदय की धड़कन, ध्वनि वा शब्द ही को तो सुनते हैं?

जबतक नाड़ी की गति ठीक रही, हृदय का कम्पन ठीक रहा और शरीर में गर्मी रही, तबतक तो ठीक ही ठीक; अन्यथा इनके अभाव में शरीर के जीवन का भी तिरोभाव हो जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि ज्योति और शब्द क्या है तथा ये हमारे कितने काम की चीजें हैं? ज्योति प्रकाश है, उसमें उष्णता रहती है तथा नाद शब्द है, उसमें गति होती है। दूसरी भाँति से हम ऐसा भी कह सकते हैं–जहाँ कम्प है, वहाँ शब्द है, बिना कम्प के शब्द नहीं। संत दरिया साहब (बिहारी) कहते हैं–

संतो गति में अनहद बाजै ।
झंझकार और झनक-झनक है, यहि मंदिर में साजै ।।

किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं कि सृष्टि में जितने प्रकार के शब्द होते हैं, उन सभी शब्दों का ज्ञान सरलतापूर्वक स्वाभाविक रीति से हमें हो अर्थात् हम सभी शब्दों को सुन सकें; क्योंकि हमारी कर्णेन्द्रिय में जो शक्ति है, वह उतनी क्षमता नहीं रखती, जो समस्त शब्दों को ग्रहण कर सके। आज के भौतिक वैज्ञानिकों ने परीक्षण कर इसकी शक्तिसीमा को सीमित सिद्ध कर दिया है। अर्थात् उन्होंने बताया है कि प्रति सेकेण्ड न्यूनतम तीस और उच्चतम तीस हजार फ्रीक्वेन्सी–Frequency (आवृत्ति संख्या) शब्द को लोग सुन सकते हैं। कोई-कोई चालीस हजार Frequency शब्द को सुन सकते हैं। मानवीय डॉक्टर सम्पूर्णानन्द महोदय (भूतपूर्व राज्यपाल, राजस्थान) के कथनानुसार– 'हमारी नाड़ी संस्थान की बनावट ऐसी है कि यदि वस्तु का कम्पन लगभग सोलह बार प्रति सेकेण्ड से कम या लगभग पचास हजार प्रति सेकेण्ड से अधिक हो तो स्वन नहीं सुन पड़ता।'

–योग-दर्शन

यह कहना कोई अनर्गल बात नहीं होगी कि स्थूल भौतिक जगत् के शब्दों को ही हम Frequency में विभाजित कर सकते हैं, न कि सूक्ष्म वा कारणादि सृष्टि के अनहद वा अनाहत शब्दों को। क्योंकि इन आन्तरिक नादों के श्रवण के लिए न तो यह स्थूल कर्ण योग्य है और न कोई अन्य बाह्य उपकरण ही। श्रोत्र में स्वल्प शक्ति होने के कारण हम जिन

शब्दों को नहीं सुन सकें, उन शब्दों का अस्तित्व है ही नहीं, ऐसा कहना न्याय-संगत नहीं; क्योंकि आकाश में जब हम वायुयान को उड़ते देखते हैं, तो उस समय उसमें जोरों की आवाज सुनाई पड़ती है। किन्तु अत्यधिक दूर होने के कारण हमारी श्रवणेन्द्रिय उस शब्द को ग्रहण नहीं कर पाती। फिर ज्यों-ज्यों वह समीप आता है, त्यों-त्यों उसका शब्द अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है और अत्यन्त निकट आ जाने पर उसका घोर शब्द सुन पड़ता है। पुनः जबतक श्रवण-शक्ति की सीमा के अन्दर वायुयान उड़ता रहता है, हम शब्द सुनते रहते हैं और सीमोल्लंघन के पश्चात् उसी शब्द को नहीं सुन पाते। तो क्या, ऐसा कहना न्याय-संगत होगा कि वायुयान के सुदूर होने पर उसकी गति में शब्द नहीं होता? ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता।

स्थूल-सूक्ष्म भेद से दृष्टि के जितने स्तर हो सकते हैं, सबमें अनिवार्य रूप से शब्द होता है। चन्द्र, सूर्य, तारे प्रभृति जितने ग्रह एवं नक्षत्र हैं, सबमें अपनी-अपनी गति है और सबसे शब्द होते हैं। सम्प्रति जिस पृथ्वी पर हमलोग निवास करते हैं, इस पृथ्वी की गति में भी शब्द होता है, किन्तु क्या हम उसे सुन पाते हैं?

ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व इटली में पाइथागोरस (Pythagoras) नाम के महात्मा हुए थे। वे इस शब्द को सुनते थे। शब्दब्रह्म के वे इतने अच्छे अभ्यासी थे कि उनको सृष्टि के मण्डलों की गति का संगीत (Music of the Spheres) निरंतर सुनाई पड़ता था। ज्योति और नाद से हमारे जीवन का आश्चर्यजनक संबंध है। शब्द के द्वारा ही हम लौकिक तथा पारलौकिक ज्ञान पाते हैं। बिना शब्द के हमारा उभय लोक सूना-सूना रहता है। यदि हम थोड़ा भी विचार कर सकें, तो पाएँगे कि जिनके अन्दर शब्द का जितना बड़ा कोष है, वे उतने ही बड़े ज्ञानी हैं। परमार्थ तो परे की वस्तु है, प्रथम हम अपने जागतिक जीवन पर ही दृष्टिपात करें। क्या हम जगत-व्यवहार में, बिना प्रकाश व नाद के किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की पहचान कर सकते हैं? कभी नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि यदि प्रकाश नहीं, तो अन्धकार में टटोलने से आखिर मिल ही क्या सकता है? प्राप्य वस्तु भी तम के कारण आप्रप्य-सी हो जाती है।

मान लीजिए, दिन का समय हो, सहस्त्रों की संख्या में लोग उपस्थित हों, किन्तु उस समय यदि सूर्य का प्रकाश नहीं हो अथवा अन्य किसी प्रकार का प्रकाश नहीं हो, तो क्या उस प्रकाश के अभाव में कोई किन्हीं को देख सकते हैं? और बिना देखे कोई किन्हीं की पहचान कर सकते हैं। कदापि नहीं। तात्पर्य क्या हुआ? प्रकाश है, तो पहचान है; प्रकाश नहीं तो पहचान नहीं। हाँ, एक बात और है—प्रकाश के अभाव में भी पहचान वा परिचय प्राप्त करने का एक माध्यम है और वह है—शब्द।

मान लीजिए, सज्जनों की भरी सभा हो, किन्तु वहाँ घनघोर तम का साम्राज्य छाया हुआ हो और सभी चुपचाप—निःशब्द बैठे हों, तो ऐसी अवस्था में कुछ भी पता नहीं चल सकता कि कौन कहाँ बैठे हुए हैं? परन्तु यदि क्रम-क्रम से एक-एक सज्जन बोलना आरम्भ कर दें, तो उनकी वाणी सुनकर हम पूर्वपरिचित जन को सरलतापूर्वक पहचान लेंगे—तनिक भी व्यतिक्रम नहीं होगा। किन्तु स्मरण रहे, जिनसे हमारा पूर्व परिचय नहीं, उनकी वाणी सुनकर भी हम उनको नहीं पहचान सकते। आशय यह हुआ कि प्रथम प्रकाश की सहायता से हम जिनकी प्रत्यक्षता प्राप्त कर सकते हैं, प्रकाश के अभाव में भी मात्र शब्द की सहायता से उनकी हम पहचान कर सकते हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया कि किन्हीं के साक्षात्कार वा उनकी पहचान के लिए प्रकाश और शब्द आश्चर्य-जनक माध्यम है। ठीक इसी भाँति परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति के लिए संत तथा वेदानुमोदित अन्तःप्रकाश और अन्तर्नाद की साधना है।

कहने की आवश्यकता नहीं, अन्तःप्रकाश पाने के लिए दृष्टियोग (वैष्णवीमुद्रा—शाम्भवी मुद्रा) की और अन्तर्नाद की अनुभूति के लिए नादयोग वा नादानुसंधान की क्रिया अत्यन्त अपेक्षित है। हाँ, अब प्रश्न हो सकता है अथवा जिज्ञासा हो सकती है कि अन्तःप्रकाश और अन्तर्नाद पाने की यथानुक्रम साधना क्या है? इस विषय में सभी का मतैक्य नहीं, दो मत हैं। एक पक्ष का कथन है कि नादानुसंधान करते-करते अन्तःप्रकाश मिलता है और दूसरे पक्ष का कथन है

कि अन्तःप्रकाश पाने पर–कम-से-कम ज्योतिर्विन्दु ग्रहण के पश्चात् ही नादानुसंधान करना चाहिए। यद्यपि दोनों के वचन अपनी-अपनी जगह ठीक हैं, तथापि प्रथम पक्ष से द्वितीय पक्ष के विचार अधिक दृढ़ और प्रमाणभूत पाए जाते हैं; क्योंकि इनकी विचार-धारा के समर्थन में सद्ग्रन्थों से आप्तवचन पर्याप्त रूप में प्राप्त होते हैं। यथा–

विन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम् ।
(योगशिखोपनिषद्)

अर्थात् विन्दुपीठ का भेदन करके नादलिंग उपस्थित होता है।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ।।
(नादविन्दूपनिषद्)

अर्थात् सिद्धासन में स्थित होकर वैष्णवी मुद्रा का अभ्यास करते हुए योगी दाहिने कान से आन्तरिक नाद सर्वदा सुने।

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम् ।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ।।
(ध्यानविन्दूपनिषद्)

अर्थात् परम विन्दु ही बीजाक्षर है, उसके ऊपर नाद है। नाद अब अक्षर ब्रह्म में लय हो जाता है; तो निःशब्द परम पद है।

कबीर कमल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर ।
रैन अँधेरी मिटि गई, बाजे अनहद तूर ।।
(कबीर साहब)

सुखमन के घर राग सुन, सुन मण्डल लिव लाई ।
अकथ कथा बीचारिअै, मनसा मनहिं समाई ।।
(गुरु नानक देव)

बिन्दु में तहँ नाद बोलै, रैन-दिवस सुहावनं ।
(पलटू साहब)

गगन द्वार दीसै एक तारा। अनहद नाद सुनै झनकारा ।।
(तुलसी साहब, हाथरस)

आर्ष वचन विश्वास के योग्य तो होते ही हैं, साथ ही विचार-विमर्श करने पर निष्कर्ष भी यही निकलता है कि ब्रह्मज्योति पाने के लिए दृष्टियोग वा सुरत-शब्द-योग की क्रिया अत्यन्त वांछनीय है। इन उभय साधनाओं में आरम्भ होगा दृष्टियोग से और अंत होगा नादयोग में, जो सबके लिए सरल सुखद और सुगम साधन है। दृष्टिसाधन में सफलता प्राप्त किए बिना नादानुसन्धान करना वैसा ही है जैसे नेत्र-विहीन का ऊँचे वृक्ष से फल तोड़ना।

श्री भर्तृहरि जी ने–'इति कर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्द व्यपाश्रया। यां पूर्व हित संस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते।' के द्वारा सद्यःजात शिशु के क्रन्दन की उपमा देकर नाद की नित्यता बतलाई है। किन्तु इसके साथ इससे भिन्न दूसरी उपमा भी ली जा सकती है और वह यह कि, प्रथम हम शिशु को देखते हैं, पश्चात् शब्द सुनते हैं। जबतक शिशु देखा नहीं जाता, तबतक उसकी बोली सुनी नहीं जाती। इससे पहले देखने की क्रिया–दृष्टियोग और पीछे सुनने की क्रिया–नादानुसंधान का स्पष्ट संकेत मिलता है।

हम एक बात पर और भी जरा ध्यान दें, जो कि नित्य हमें प्रकृति देवी सिखलाती हैं। आकाश में काले-काले बादल मँड़राते हैं, बिजलियाँ चमकती हैं और तब ठनके की आवाज सुन पड़ती है, जबतक विद्युत नहीं चमकती, तबतक मेघ-गर्जन नहीं होता। अतएव यह भी उसी विषय की परिपुष्टि करता है कि पहले देखो, फिर सुनो।

ऐसा लगता है, मानो ऋग्वेद सू० ४१ मंत्र ९ के तृतीय मंत्र में ऋषि ने इसी ओर इंगति किया हो।

शृण्व वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।
चरन्ति विद्युतो दिवि ।।

अर्थात् आकाश में बिजलियाँ चमकती हैं और उस समय उस बलवान पाप शोधक का शब्द वृष्टि के शब्द के समान सुन पड़ता है। साधक के मूर्द्धा-स्थल में विद्युत की-सी कान्तियाँ व्यापती हैं वह अनाहत पटह के समान गर्जन अनायास सुनता है। वह स्वच्छ पवित्र आत्मा का ही शब्द होता है।

उपनिषदों तथा संतों की वाणियों में बिजली की चमक तथा मेघ-गर्जन के यत्र-तत्र विस्तृत वर्णन पाए जाते हैं, जिनकी प्रत्यक्षानुभूति अन्तस्साधना करते समय साधक पाते हैं।

आदौ जलधि जीमूत भेरी निर्झर संभव ः।
मध्ये मर्दल शब्दाभो घण्टा काहलजस्तथा ।।
(नादविन्दूपनिषद्)

अर्थात्–आरम्भ में नाद समुद्र, बालक, दुन्दुभि, जलप्रपात से निकले हुए मालूम होते हैं और मध्य में मर्दल, घण्टा और सिंघा जैसे।

योगशिखोपनिषद् में लिखा है–

आधारचक्रमहसा विद्युत्पुंज समप्रभा।
तदामुक्तिर्न सन्देहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः ॥

अर्थात् बिजली-पुंज के समान प्रभावाले आधारचक्र के ज्ञान-प्रकाश से मुक्ति हो जाती है, इसमें संदेह नहीं, जब कि गुरु प्रसन्न रहें।

गगन गराजै दामिनि दमकै अनहद नाद बजावै ॥
(कबीर साहब)

निसि दामिनि जिउ चमकि चंदाइणु देखै,
अहिनिसि जोति निरन्तर पेखै।
आनन्द रूप अनूपु सरूपा गुरु पूरे देखाइआ ॥
(गुरु नानक)

गगन गरज घन बरसहीं, बाजै दीरघ नाद।
अमरापुर आसन करै, जिन्हके मते अगाध ॥
(गरीबदास जी)

जैसे रवि के तेज से, देख पड़े रवि जात।
तैसे आतम तेज से, आतम रूप लखात ॥

सूर्य को देखने के लिए अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती–सूर्य के प्रकाश से ही सूर्य को देख सकते हैं। ठीक इसी भाँति आत्म-ज्योति से ही आत्म-साक्षात्कार होता है। इस विषय का समर्थन सामवेद का निम्न अवतरण भी करता है कि आत्मा से ही आत्मज्ञान और मोक्ष मिलता है तथा तेज के निवास परमात्मा को भी प्राप्त करता है।

अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः।
क्षयं पावक शोचिषः ॥२॥
(१५५७, अ० १५ सं० ३ सू० ९)

अब अन्त में प्रातःस्मरणीय परम पूज्य अनन्त श्री-विभूषित महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के शब्दों में 'शब्द-विज्ञान' का अनुशीलन कीजिए–'परम प्रभु सर्वेश्वर में सृष्टि की मौज वा कम्प हुए बिना सृष्टि नहीं होती। मौज वा कम्प शब्द-सहित अवश्य होता है; क्योंकि शब्द कम्प का सहचर है। कम्प शब्दमय होता है और शब्द कम्पमय होता है। कम्प और शब्द के बिना सृष्टि नहीं हो सकती। कम्प और शब्द सब सृष्टियों में अनिवार्य रूप से अवश्य ही व्यापक है। आदिशब्द सृष्टि का साराधार सर्वव्यापी और सत्य है। अव्यक्त से व्यक्त हुआ है अर्थात् सूक्ष्मता से स्थूलता हुई है। सूक्ष्म स्थूल में स्वाभाविक ही व्यापक होता है। अतएव आदिशब्द सर्वव्यापक है। इस शब्द में योगी जन रमते हुए परम प्रभु सर्वेश्वर तक पहुँचते हैं। अर्थात् इस शब्द के द्वारा परम प्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है।'

वस्तुतः सृष्टि-सर्जन हेतु सर्वेश्वर ने सर्वप्रथम शब्द का सर्जन किया। वह शब्द सृष्टि के कण-कण में वैसे ही व्यापक हुआ, जैसे एक गीली मिट्टी की गोली बनाने में अंग लियों का प्रकम्पन उसमें ओत-प्रोत व्यापक होता है। संतों ने स्थूल-सूक्ष्मादि भेद से सृष्टि के पाँच स्तर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य वा जड़-विहीन चेतन) बतलाए हैं। सूक्ष्म अपने से स्थूल में स्वाभाविक ही व्यापक होता है और ऊपर का शब्द नीचे दूर तक जाता है तथा सृष्टि-क्रम के निर्माण में पूर्व का पदार्थ पर की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। इन कारणों से वह आदिनाद सृष्टि के अन्तस्तल में अविच्छिन्न और अप्रतिहत रूप से सर्वत्र व्यापक है।

सृष्टि से सर्वेश्वर तक लगी हुई अक्षुण्ण धारा यदि कोई है, तो वह शब्द-धार ही है। अतएव इसी के माध्यम सर्वेश्वर तक पहुँचने का सीधा मार्ग संतों ने बताया। यदि कहा जाए कि ईश्वर-प्राप्ति का इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं हो सकता, तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यजुर्वेद का निम्न मंत्र अत्यन्त दृढ़ता के साथ घोषणा करता है कि दूसरा कोई मार्ग मोक्ष-प्राप्ति का नहीं है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

अर्थात् मैं उस बड़े भारी ब्रह्माण्ड भी में व्यापक पूर्ण परमेश्वर को सूर्य के समान तेजस्वी और अन्धकार के दूर विद्यमान जानता और साक्षात् करता हूँ। उसको जानकर मृत्यु को पार कर जाता है। अन्य कोई मार्ग अभीष्ट मोक्ष स्थान को प्राप्त करने के लिए नहीं है। साथ ही संतों ने यह भी बताया कि उस आदिनाद को कहाँ और कैसे पकड़ोगे?

आदिनाद की साधना आरम्भिक वा मध्य की

साधना नहीं, वरन् अन्त की है। प्रारम्भ की और मध्यवर्ती साधना किए बिना आदिनाद वा अन्तर्नाद की साधना 'भूमि पड़ा चह छुअन अकाशा' की भाँति वा आकाश-कुसुम को तोड़ने के सदृश है। अतएव आवश्यकता है प्रथम प्राथमिक साधनाओं से साधनारम्भ करने की। अर्थात् सर्वप्रथम मानस जप और मानस जप द्वारा मन को कुछ समेट में ला, पुनः गुरु-निर्देशित क्रिया-द्वारा दृष्टि-साधन कर एकविन्दुता प्राप्त करे। एकविन्दुता प्राप्त रहने की अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म मण्डल के संधि-विन्दु वा स्थूल मण्डल के केन्द्र-विन्दु से उत्थित नाद को ग्रहण करें; क्योंकि एकविन्दुता रहने के कारण उसकी स्थिति सूक्ष्म में हो जाएगी और तब वहाँ उसके लिए सूक्ष्म मण्डल के नाद का ग्रहण करना सरल और स्वाभाविक होगा। नाद में अपने उद्‌गम स्थान पर आकर्षण करने का गुण रहने के कारण वहाँ के नाद को ग्रहण कर शब्द से शब्द में खिंचती हुई सुरत क्रमानुसार सूक्ष्म, कारण और महाकारण मण्डलों को अतिक्रमण कर कैवल्य के केन्द्र पर पहुँचेगी। वहाँ उसको उस आदिनाद (रामनाम, सत्यशब्द, सारशब्द, ॐ, स्फोट, उद्‌गीथ आदि) की प्राप्ति होगी, जिसके सहारे वह परम प्रभु परमात्मा तक पहुँच जाएगी। यहाँ प्रभु की प्राप्ति होगी और काम समाप्त होगा।

(शान्ति-सन्देश, मार्च १९८६)

६७. स्वर्ग और नरक क्या है?

आपलोगों ने संत सद्‌गुरु तथा सत्संग के प्रसंग में बहुत-सी कहानियाँ सुनीं। कहानियों को सुनकर मेरे मन में भी हुआ कि मैं भी एक कहानी आपलोगों को सुनाऊँ। लेकिन यह कहानी पौराणिक कहानी नहीं है, न मेरी कहानी है, न किसी नानी की कहानी है। वह एक अजब और लासानी कहानी है। लेकिन वह कहानी अर्वाचीन नहीं, प्राचीन है। फिर भी वह चीन की कहानी नहीं, जापान की है।

जापान में एक संत आश्विन महीने में अपने आसन पर आसीन थे। उसी समय एक लेफ्टीनेंट वहाँ प्रजेंट होता है। बिल्कुल नया जवान था। जवानी का पानी भी उसपर चढ़ा हुआ था और वह ऐसा जवान था कि जिसकी जबान में लगाम नहीं थी। पद के कारण वह मद में तो था ही और जवानी के कारण किसी की सुनता नहीं था, न गुनता ही था। ऐसे लोग बड़ों के सामने जाकर झुकना नहीं जानते हैं, ऐंठना जानते हैं। बड़ों को वे प्रणाम नहीं करते। बड़ों को प्रणाम करना वे पाप समझते हैं, चाहे अपना बाप ही क्यों न हो। इस कारण उसने महात्माजी को प्रणाम तो नहीं किया, बल्कि मूँछ पर हाथ देकर कहा, 'महात्माजी! कुछ पूछूँ?' महात्माजी ने कहा, 'क्या पूछना चाहते हो? पहले यह तो बताओ कि तुम हो कौन?' उसने कहा, 'मैं अमुक रेजीमेंट का लेफ्टीनेंट हूँ।' महात्माजी ने आपादमस्तक देखा और कहा, 'तुम अपने को लेफ्टीनेंट कहते हो; लेकिन मैं तो समझता हूँ कि तुम उस लेफ्टीनेंट का असिस्टेंट का सर्वेण्ट भी होने योग्य नहीं हो। तेरा चेहरा तो चुहार जैसा है, तुम क्या लेफ्टीनेंट बनोगे।' जवान तो था ही; म्यान से अपनी तलवार निकाली और चाहा कि उनके सर को धड़ से उतारकर धरा पर धर दूँ। उसने उसपर तलवार का वार किया। लेकिन महात्माजी ने अपने कर से वार को सम्हाल लिया और कहा, 'अच्छा! तेरे पास तलवार भी है।' मुस्कुराते हुए कहा, 'अरे! तेरी तलवार एक तिनके को नहीं काट सकती, तो फिर मेरे तन की तो बात ही क्या है।' वह युवक पुनः आवेश में आया और प्रहार करना चाहा। उसकी तलवार को महात्मा ने एक बाल की तरह मोड़ दिया और कहा, 'वत्स! तेरे जैसे जवान का जवानी में आना कल्याण के लिए होता है; लेकिन तनिक-सी बात में तुनक जाने के लिए नहीं है। अरे! याद है तुमको! तुमने क्या पूछा था मुझसे।' उसने पूछा था, 'बाबा! स्वर्ग और नरक क्या है?' महात्मा ने कहा, "मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे रहा था। अभी तक तुम नरक के द्वार पर खड़े हो। अभी तुम तलवार से वार करने, हत्या करने के लिए तैयार हो, इसलिए तुम अभी नरक के द्वार पर खड़े हो।

"काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक कर पंथ।"
(गो० तुलसीदासजी)

जब कोई क्रोध में आ जाता है, तो वह अबोध हो जाता है। प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हो जाती है, वह इतना अबोध हो जाता है कि क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, निर्णय नहीं कर पाता। वह अपकर्म करने के लिए तुल जाता है और सारे ज्ञान को वह भूल जाता है, जिस भूल के कारण उसके हृदय में शूल होता है, जिसका निर्मूल करना मामूली बात नहीं।" महात्मा का यह कहना था कि, वह युवक पढ़ा-लिखा तो था ही, नतमस्तक हो गया, महात्मा के चरणों पर वह गिर गया और अपने अश्रुजल से उनके चरणों को धोने लगा। महात्माजी उनकी पीठ को सहलाते हुए कहते हैं, 'बेटा! अब तुम स्वर्ग के द्वार पर खड़े हो। जब जिसके हृदय में क्रूरता रहती है, तो वह नरक के द्वार पर रहता है। अब तुम्हारी क्रूरता दूर हो गयी। जो तुम्हारी हिंसा वृत्ति थी, वह अहिंसा में परिणत हो गयी। दयाभाव तुम्हारी आत्मा में आ गया। अब तुम स्वर्ग के द्वार पर हो। तुमने मुझसे पूछा था कि स्वर्ग और नरक क्या है? मैं यही बतलाने के लिए ही ऐसा कहा था।

यह तो विदेश की बात थी, अब स्वदेश की बात पर आइये। हमलोगों के यहाँ स्वर्ग और नरक के बाद भी स्थान बतलाया जाता है, जिसको अपवर्ग कहते हैं। उसे त्रयवर्गपर अपवर्ग कहा जाता है। वह अपवर्ग क्या है? अपवर्ग कहते हैं मोक्ष को। मोक्ष मिलता कैसे है? शास्त्र कहता है–ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति। ज्ञान से मोक्ष होता है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

"धर्म ते विरति जोग ते ज्ञाना।
ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना॥"

शास्त्र कहता है–ज्ञान से मोक्ष होता है। इसलिए उस ज्ञान के जो ज्ञाता होते हैं, वे गुरु कहलाते हैं। जिस गुरु में ज्ञान नहीं है, उसके लिए शास्त्र वचन है–'त्येजद्गुरुम्'। उसको छोड़ दो। सारी बातों का ज्ञान दे दें; लेकिन यदि वह मोक्ष का ज्ञान नहीं देता है, तो वे गुरु कहला सकते हैं, संत सद्गुरु नहीं हो सकते। जिनसे हम कुछ सीखते हैं, वे गुरु कहलाते हैं। वे संत सद्गुरु नहीं होते हैं। गुरु तो बहुत होते हैं। संत कबीर साहब ने कहा–

प्रथम गुरु है माता पिता।
रज बीरज का सोई दाता॥
दूसर गुरु है मन की धाई।
गिरह बास की बंध छुड़ाई॥
तीसर गुरु जिन धरिया नामा।
लै लै नाम पुकारै गामा॥
चौथे गुरु जिन शिक्षा दीन्हा।
जग व्यवहार सभै तब चीन्हा॥
पंचम गुरु जिन वैष्णव कीन्हा।
रामनाम का सुमिरन दीन्हा॥
छठे गुरु जिन भरम गढ़ तोड़ा।
दुविधा मेटि एक से जोड़ा॥
सातवँ गुरु जिन सतशब्द लखाया।
जहाँ का तत्त्व सो तहाँ समाया॥

"कबीर सात गुरू संसार में, सेवक सब संसार।
सतगुरु सोई जानिये, जो भवजल उतारे पार॥"

जो संसार-सागर से पार करनेवाले होते हैं, वे ही संत सद्गुरु होते हैं। और–

"गुरू नाम है ज्ञान का, शिष्य सीख ले सोय।
ज्ञान मरजाद जाने बिना, गुरु अरु शिष्य न कोय॥"

यह गुरु और शिष्य की जो परम्परा है, आदि काल से चली आ रही है। जबसे सृष्टि है, तबसे गुरु है। कोई सिखानेवाला है, तो कोई सीखनेवाला है। कोई माता के पेट से सीखकर नहीं आता है, यहाँ आकर ही सीखता है। लेकिन एक जागतिक गुरु होते हैं और दूसरे पारमार्थिक गुरु होते हैं। सांसारिक गुरु के द्वारा सांसारिक लाभ होता है। पारमार्थिक गुरु जो होते हैं, वे परम तत्त्व का ज्ञान देते हैं। यह जीव जाकर पीव को पावे, जीवात्मा परमात्मा में मिल जाए, यह ज्ञान संत सद्गुरु देते हैं। इसीलिए अन्य गुरुओं की अपेक्षा संत सद्गुरु का स्थान सर्वोपरि है। संत सद्गुरु से बढ़कर किसी दूसरे का दर्जा नहीं हो सकता।

लोग भगवान राम कहते हैं, भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने भी गुरु धारण किया। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गुरु धारण किया। मात्र गुरु ही धारण नहीं किया; बल्कि उनकी सेवा भी की। भगवान श्रीकृष्ण लकड़ी तोड़-तोड़कर गुरु के जलावन के लिए लाते थे। भगवान श्रीराम के लौकिक और पारलौकिक दो गुरु थे। लौकिक गुरु विश्वामित्र मुनि थे और पारलौकिक गुरु वशिष्ठजी

थे। लौकिक गुरु की भी उन्होंने कम सेवा नहीं की। रामायण में गो० तुलसीदासजी ने लिखा है—

"मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई।
लगे चरण चापन दोउ भाई॥"

लोग कहा करते हैं कि गो० तुलसीदासजी के इष्टदेव भगवान श्रीराम थे। लेकिन अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि गो० तुलसीदासजी ने गुरु को कितना विशेष स्थान दिया है। रामचरितमानस लिखते हैं तो आरंभ करते हैं—

"बन्दौं गुरुपद कंज, कृपासिन्धु नररूप हरि।
महामोह तमपुंज, जासु वचन रविकर निकर॥"

छोटी-सी पुस्तिका उनकी है—हनुमान-चालीसा। बहुत लोगों को वह कंठस्थ भी होगी समूची। वे उसमें आरंभ करते हैं—

"श्रीगुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुरु सुधारि।
बरनऊँ रघुवर विमल जसु, जो दायक फल चारि॥

वर्णन करते-करते आगे बढ़ते हैं तो कहते हैं—

"जय जय जय हनुमान गोसाईं।
कृपा करहु गुरुदेव की नाईं॥"

जिनके इष्ट भगवान राम हैं, वे कहते—

"जय जय जय हनुमान गोसाईं।
कृपा करहु रघुपति की नाईं॥"

वे हनुमानजी की प्रार्थना कर रहे हैं, हनुमान चालीसा लिख रहे हैं, लेकिन वे कहते हैं—

"बुद्धिहीन तनु जानिकै, सुमिरौं पवन-कुमार।
बल बुद्धि विद्या देहु मोहिं, हरहु कलेस विकार॥"

तुलसीदासजी वहीं पर यह कह सकते थे कि बल, बुद्धि तो मुझे है नहीं, इसलिए हे हनुमानजी! 'जय जय जय हनुमान गोसाईं। कृपा करहु जो तोहि सुहाईं॥'—सो भी नहीं कहते हैं। बल्कि वे कहते हैं—

"जय जय जय हनुमान गोसाईं।
कृपा करहु गुरुदेव की नाईं॥"

एक जगह लिखते हैं—

"राम नाम कलि कामतरु, रामभगति सुर धेनु।
सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु॥"

कलियुग में रामनाम क्या है—'कलि कामतरु'। कल्पवृक्ष के नीचे आप जाइये, जो कामना कीजिए, सारी पूरी हो जाएगी। तो रामनाम कलियुग में कल्पवृक्ष है और राम की जो भक्ति है, 'राम भगति सुर धेनु'। कामधेनु से खाने-पीने के लिए जो कुछ माँगिये, सब आपको मिल जाएँगे। यदि हमको कल्पवृक्ष मिल जाए या कामधेनु मिल जाय, तो फिर हमको किसी भी चीज की आवश्यकता ही क्या रह जाएगी? लेकिन गो० तुलसीदासजी की दृष्टि में बहुत कमी है। वे कहते हैं, 'कल्पवृक्ष और कामधेनु मिलने पर भी तुम्हारा सुमंगल नहीं होगा। मंगल होगा, मगर सुमंगल नहीं होगा। मौका पड़ने पर मंगल क्या, षड्मंगल ही हो जाएगा।' अभी आपलोगों ने सुनी थी कहानी विश्वामित्रजी की। विश्वामित्र गये थे शिकार करने के लिए। जब वे शिकार करके लौटते हैं, तो वशिष्ठजी के आश्रम पहुँचते हैं। विश्वामित्र के साथ में चतुरंगिनी सेना थी। विश्वामित्र से वशिष्ठजी ने कहा, 'भोजन का समय है, आप भोजन ग्रहण कीजिए।' विश्वामित्र ने कहा, 'मैं अकेला नहीं हूँ। इतनी फौज मेरे साथ हैं, मैं खा लूँ और वे लोग भूखे रहें, यह तो मुझसे नहीं होगा।' वशिष्ठजी ने कहा, 'सबकी सेवा हो जाएगी।' यह सुनकर विश्वामित्रजी चकित हो गये। देखता हूँ कि इनकी छोटी-सी झोंपड़ी और इतनी बड़ी फौज, इनकी सेवा कैसे करेंगे?

वशिष्ठजी के पास कामधेनु गाय की पुत्री थी—नन्दिनी। नन्दिनी से वशिष्ठजी ने कहा, 'मेरे यहाँ अतिथि आ गये हैं, सबका तुम सत्कार करो।' भोजन की इतनी सामग्री प्रस्ततुत की नन्दिनी ने कि सब खाते-खाते थक गये। यह देखकर आश्चर्यचकित हो गये। विश्वामित्र ने कहा, 'इतने को भोजन आपने कैसे करवाया?' उन्होंने कहा, 'मेरे पास है नन्दिनी—कामधेनु। उसी से सबके लिए इतने भोजन प्राप्त हुए।' विश्वामित्र ने कहा, 'साधु बाबाजी आपके पास यह गाय रहकर क्या करेगी? यह गाय तो मेरे पास रहनी चाहिए। मेरे यहाँ तो तरह-तरह के लोग आया करते हैं। यह मेरे यहाँ सेवा करेगी। यह आप मुझे दे दीजिए।' वशिष्ठजी तो संत थे। उन्होंने कहा, 'ले जाइये।' विश्वामित्रजी नन्दिनी को ले जाने लगे। वह जा नहीं रही थी। उसके साथ जबर्दस्ती की गयी। फिर भी गाय टस-से-मस नहीं हुई। अब उनकी फौज उसपर टूट पड़ी कि येन-केन-प्रकारेण ले चलेंगे। वशिष्ठजी की ओर नन्दिनी देखने लग गयी। वशिष्ठजी ने कहा, 'मेरी ओर क्या देखती है, अपना पराक्रम कर।' सो जो उसने अपना पराक्रम दिखलाया, तो सारी फौज परास्त हो गयी। विश्वामित्र लौट गये।

नन्दिनी को नहीं ले जा सके। अब द्वेष वशिष्ठजी के साथ बढ़ गया। उनके सौ पुत्रों का हनन करवा दिया। इस कहानी से क्या सार निकला? जिनके घर में कामधेनु हो, उनके सौ पुत्र मारे जाएँ! विधवा पतोहू नजर में आवे, यह क्या मंगल है? कामधेनु के रहते हुए भी षड़मंगल हो गया।

कल्पवृक्ष की भी कथा है–एक आदमी घूमते-फिरते एक ऐसे जंगल में पहुँचा, जहाँ कल्पवृक्ष था। वह जंगल में पथभ्रष्ट हो गया। रास्ता अपना भूल गया था। वह भूखा था। पिपासित था। संयोग से वह थका-माँदा कल्पवृक्ष के नीचे बैठ जाता है। वह सोचता है, अगर पानी मिल जाता तो अपनी पिपासा को शांत करता। देखता है कि पवित्र जल की कलकल धारा बह रही है। वह सोचता है कि इसी होकर तो अभी मैं आया था। यह धारा कहाँ से आ गयी? सोचा, शायद मैं दूसरी दिशा से यहाँ आया हूँ। उसने उसमें स्नान कर लिया, लोटा में जल भर लिया और सोचने लगा, अगर कुछ खाने को मिल जाता, तो कुछ खाकर ही पानी पीता। खाली पेट पानी पीना अच्छा नहीं। सोचना था कि एक सुन्दर थाल में भोजन की सारी सामग्री आ गयी। वह भोजन करके तृप्त हो गया। भोजन के बाद उसके मन में आया कि कुछ आराम कर लेता, बहुत थका-माँदा हूँ। फिर सोचा कि जमीन पर सोना ठीक नहीं, कीड़े-मकोड़े बहुत होंगे, यदि कोई बिछावन, खाट-पलंग होता, तो आराम से सोता। इतने में उसके सामने ही पलंग लग जाता है–सोने के लिए। फिर सोचता है कि यहाँ गाछ है, कहीं चिड़िया बीट न कर दे। जरा कपड़घर हो जाता, तो निश्चिन्त होकर सोता। कपड़घर भी बन गया। अब गया वह सोने के लिए। सिरहाने पर जब सिर रखता है, तब सोचता है कि यह तो जंगल है, निर्जन वन है, कहीं जंगल से बाघ आ जाए और गला मरोड़ दे, तो मेरी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी। इतने में बाघ आया और उसका गला मरोड़ दिया। वह वहीं मर गया। अब देखिये, कल्पवृक्ष के नीचे रहने पर भी यह हालत हो गयी। तो गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

"राम नाम कलि कामतरु, रामभगति सुर धेनु।"

लेकिन सकल सुमंगल इसमें नहीं है। अगर सकल सुमंगल चाहते हो, तो–

"सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु॥"

इसलिए गुरु का स्थान सर्वोपरि है। इनसे विशेष किन्हीं का स्थान नहीं हो सकता। हमलोग क्या गाते हैं–

'परम पुरुषहू तें अधिक, गावें सन्त सुजान।'

एक तो परम पुरुष परमात्मा ही क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष से परे है। लेकिन गुरु उनसे भी अधिक क्यों? गुरुदेव के वचन में आया है–

"हरदम प्रभु रहैं संग, कबहुँ भव दुख न टरै।
भव दुख गुरु दें टारि, सकल जय जयति करै॥"

त्रयतापों से जो हम संतप्त होते रहते हैं, उनसे मुक्त करनेवाले कौन हैं? एक गुरु के सिवा दूसरा कोई नहीं है। इसलिए तो सहजोबाई ने कहा–

"राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ।
गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥"

किसी ने पूछ दिया, ऐसी बात क्यों? तो सहजोबाई ने कहा–

"हरि ने जन्म दियो जग माहीं।
गुरु ने आवागमन छुटाहीं॥
हरि ने पाँच चोर दिये साथा।
गुरु ने लई छुटाय अनाथा॥
हरि ने कुटुँब जाल में गेरी।
गुरु ने काटी ममता बेरी॥
हरि ने रोग भोग उरझायौ।
गुरु जोगी कर सबै छुटायौ॥"

कहते-कहते वे अंत में कह देती हैं–

"चरणदास पर तन मन वारूँ।
गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ॥"

यह है गुरु पर निर्भरता। लेकिन गुरु पर निर्भरता है, गोरू पर नहीं। 'गुरु नाम है ज्ञान का'। जो ज्ञान जानता है, वह उसका आचरण भी करता है।

"कहता सो करता नहीं, मुख का बड़ा लबार।
आखिर धक्का खाएगा, साहिब के दरबार॥
एक कहै दूजी कहै, दो दो कहै बनाय।
ये दो मुख का बोलना, घना तमाचा खाय॥"

इसलिए गुरु का जो स्थान है, वह सभी संतों के यहाँ और सद्ग्रंथों में सर्वोपरि है। गुरु नानकदेवजी कहते हैं–

"गुरु की मूरति मन महिँ धियानु।
गुरु के शबदि मंत्र मनु मानु॥

गुरु के चरण रिदै लै धारउ।
गुरु पारब्रह्म सदा नमसकारऊ।"

संत कबीर साहब कहते हैं–

"मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सतभाव॥"

शिवनारायण स्वामी जी महाराज कहते हैं–

"निहारो यारो गुरु मूरति की ओर।
गुरु मूरति सूरति बीच निरखो, तब उर होत इंजोर॥"

यहाँ तो 'गुरु मूरति सूरति बीच निरखो' और गो० तुलसीदासजी की वाणी में आपलोगों ने अभी सुनी–

"श्री गुर पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिब्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू।
बड़े भाग उर आवइ जासू॥"

यह कैसे होता है? यह प्रकाश कैसे होता है? हमलोगों के यहाँ जो बिजली का प्रकाश होता है, वह कैसे होता है? दो धारें आती हैं, एक शीत धार, दूसरी उष्ण धार–निगेटिव और पोजिटिव। दोनों धारों को मिलाइये, बल्ब जल जाएगा। हमलोगों की जो दृष्टिधार है, वह एक निगेटिव है और दूसरी पोजिटिव है। इन दोनों धारों को मिलाइये, प्रकाश होगा। इन दोनों धारों को हम कैसे मिलावें? दृष्टि की जो दोनों धारें हैं, वे क्या हैं? समानान्तर रेखाएँ हैं। समानान्तर रेखाएँ कभी मिलती नहीं हैं। लेकिन जब किसी एक वस्तु को एक प्वाइंट पर देखते हैं, तो दृष्टि-धारा मिल जाती है। जैसे सूई के छिद्र में धागा पिरोते हैं, तो दृष्टि एक हो जाती है। लेकिन इसमें भी पूर्ण सिमटाव नहीं है। इस छिद्र से भी जब सूक्ष्म से सूक्ष्म होगा, तब कहीं एक प्वाइंट होगा।

हमलोग रेखागणित में पढ़ते हैं, जिसका स्थान है, लेकिन परिमाण नहीं, जिसमें लंबाई-चौड़ाई कुछ नहीं। इस तरह का विन्दु किसी ने देखा है? परिभाषा में हमलोग पढ़ते, विन्दु के समूह को रेखा कहते हैं। रेखा उसको कहते हैं, जिसमें लंबाई होती है, लेकिन चौड़ाई-मोटाई नहीं होती। इस तरह की रेखा किसी ने देखी है? बाहर की रेखा में कुछ-न-कुछ चौड़ाई हो जाएगी। विन्दु में कुछ-न-कुछ परिमाण हो जाएगा। बाहर में न विन्दु है, न रेखा है, यथार्थ में यौगिक दृष्टि से जो देखते हैं, तो उनको रेखा और विन्दु दीखते हैं। गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा–'एक दृसटि करि समसरि जानै, जोगी कहीअै सोई।' हमारे गुरु महाराज कहते हैं–

"युग दृष्टि की एक तीक्ष्ण नोक चीर तेजस विन्दु रे।
सुनो अंदर नाद ही लखो सूर्य तारे इन्दु रे॥"
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

जो ये क्रिया जानते हैं और करते हैं, तो अंतःप्रकाश होता है। जहाँ अंतःप्रकाश होता है, वहाँ अंतर्नाद की अनुभूति होती है। जहाँ अंतर्नाद की अनुभूति होती है, जहाँ उत्पत्ति होती है, उसका विलय वहीं होता है। उस नाद की उत्पत्ति परम प्रभु परमात्मा से है। उस शब्द को जो ग्रहण करता है, वह शब्द उसको परम प्रभु परमात्मा तक पहुँचाता है। संत सद्गुरु यह बतलाते हैं कि मानस जप करो, मानस ध्यान करो, दृष्टियोग की क्रिया करो। नादानुसंधान करो। बड़ा ही अच्छा गुरुदेव ने कहा–

"नाद सों नादों में चलि धरु प्रणव सत ध्वनि सार रे।
एक ओम् सत नाम ध्वनि धरि मेँहीँ हो भव पार रे॥"
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

इसलिए इस संसार से उद्धार पाने के लिए यही एक सच्चा मार्ग है, जो सद्गुरु महाराज हमलोगों को बता गये हैं, उनके ज्ञान में किसी प्रकार की कमी नहीं है। कमी हमलोगों के करने में है। जो कमी है, उसको हमलोग पूरा करें, इसके लिए उकताना नहीं है–

"धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ॠतु आये फल होय॥"

गुरु महाराज कभी-कभी कहा करते थे– 'Slow and steady wins the race.' अर्थात् धीरे-धीरे ही हो; लेकिन अनवरत होना चाहिए। चलते-चलते कभी-न-कभी अवश्य पहुँच जाएँगे। भगवान बुद्ध ने कहा–'बूँद-बूँद से घड़ा भर जाता है, उसी तरह थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करते-करते पूर्ण हो जाओगे। थोड़ा-थोड़ा अपने दोषों को छोड़ते हुए पूर्ण हो जाओगे। जैसे सुनार चाँदी की मैल को धीरे-धीरे जलाकर साफ कर देता है, उसी तरह मन में भी विकार रूपी मैल जो है, वह भी ध्यानाभ्यास करते-करते दूर हो जाती है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

"निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥"

इसलिए हमलोग ध्यान-सत्संग करते रहें, झूठ,

चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार–इन पंच पापों से बचकर रहें। स्वावलंबी जीवन-यापन करें। गुरुदेव का जो आदेश है, उसी परिवेश में रहें, तभी हमलोग जो अभी गुरु-पूर्णिमा का समारोह मना रहे हैं, यह सार्थक होगा। यही आपलोगों के सामने थोड़ा-सा कहा।

यह प्रवचन गुरु-पूजा पर आयोजित सत्संग के अवसर पर दिनांक–२१.७.१९८६, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में हुआ था।

(शान्ति-सन्देश, अगस्त १९८६)

६८.संतवाणी का गूढ़ार्थ सत्संग के द्वारा जानें

आज भारतीय संतों की अनमोल वाणियाँ सभी को उपलब्ध हैं, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है; किन्तु खेद है कि सभी उनकी वाणियों के अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझकर अर्थ का अनर्थ करने लगते हैं। कुछ वर्ष पहले की बात है, एक मासिक पत्रिका में संत कबीर साहब की वाणी 'सत्तपुरुष इक बसै पछिम दिसि तासों करौं निहोर' में के 'पछिम दिसि' का अर्थ एक विद्वान् महोदय ने किया था, जिसका आशय था–कबीर साहब मुसलमान खानदान में पाले-पोसे गये थे, इसीलिए 'पछिम' यानी पश्चिम कहकर 'मक्का' की ओर संकेत किया है। ऐसी परिस्थिति में प्रश्नोदय होता है कि उक्त स्थल पर संत कबीर साहब ने एक दिशा केवल 'पश्चिम' का वर्णन किया है, जिसका अर्थ मक्का हुआ; किन्तु जहाँ पर वे चारो दिशाओं का वर्णन करते हैं, वहाँ उन चारो दिशाओं के क्या-क्या अर्थ होंगे?

जानता कोइ ख्याल ऐसा, जानता कोइ ख्याल ।।टेक।।
पूरब सोधि पछिम दिसि लावै, अर्ध उर्ध के भेद बतावै,
सिला नाथि दक्खिन को धाओ, उत्तर दिसा को सुमरन चाखो,
चारो दिसा का हाल ।।

'खग जाने खग ही की भाषा' के अनुकूल संत-संतान ही संतवाणी के यथार्थ अर्थ करने में समर्थ हो सकते हैं। संत सद्गुरु से अध्यात्म-विद्या की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त किये बिना लोग स्वयं अंधकार में पड़े रहते हैं और अन्यों को भी भूलभुलैया में डाले रहते हैं। संत कबीर साहब ने ठीक ही कहा है–

बिन सतगुरु नर रहत भुलाना ।
खोजत फिरत राह नहिं जाना ।।

कुछ दिन पहले ट्रेन में एक सज्जन से भेंट हुई। बातचीत के सिलसिले में मुझे संतमतावलंबी जानकर उन्होंने पूछा, 'संतमत किसे कहते हैं?' मैंने एक ही वाक्य में कहा–'पक्षपात-रहित वेद-शास्त्रानुमोदित तथा सभी संतों के मत से सहमत को संतमत कहते हैं।' गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में–

इहाँ न पच्छपात कछु राखौं ।
वेद पुरान संतमत भाखौं ।।

पुनः उक्त सज्जन ने मुझसे संतमत का सिद्धांत पूछा। मैंने कहा–संतमत के सिद्धांत का सार है–"एक सर्वेश्वर पर ही अचल विश्वास, पूर्ण भरोसा तथा अपने अन्तर में ही उनकी प्राप्ति का दृढ़ निश्चय रखना, सद्गुरु की निष्कपट सेवा, सत्संग और दृढ़ ध्यानाभ्यास करना–ये तो पंच विधिकर्म हुए। अब निषिद्ध कर्म के लिए भी सुनिये–झूठ बोलना, नशा खाना, व्यभिचार करना, हिंसा करनी अर्थात् जीवों को दुःख देना वा मत्स्य-मांस को खाद्य पदार्थ समझना और चोरी करनी; इन पाँचों महापापों से मनुष्यों को अलग रहना।" उक्त सज्जन कुछ भिन्नाते हुए बोल उठे–वाह साहब! आप अपने मत को संतमत भी कहें और पापों से अलग रहने के लिए भी कहें, यह दुमुखी बात क्यों? मैंने पूछा, 'क्यों? किसी संत ने पाप करने के लिए भी कहा है क्या? उक्त सज्जन ने कहा–'हाँ, संत कबीर साहब ने ही तो कहा है–

पाँच पचीसो मारिया, पापी कहिये सोय ।
यह परमारथ जानि के, पाप करो सब कोय ।।

क्या लोगों को पाप करने के लिए उनकी ओर से यह स्पष्ट आदेश नहीं है? उक्त सज्जन की बात को सुनकर मैं मन-ही-मन मुस्कुराया और हँसते हुए कहा–'संत कबीर की वाणी के लिए

एक कहावत विख्यात है, शायद आप जानते हों, वह है–

कबीर का गाया गावै, तो गजब का धक्का खावै।
और कबीर की वाणी बूझै, तो तीनों लोक सूझै॥

विवेकीजन विचार सकते हैं कि जब सामान्य ज्ञान प्राप्त जन भी जानते और मानते हैं कि पापकर्म नहीं करना चाहिए, तब एक महान संत के मुखारविन्द से यह वाक्य प्रस्फुटित हो कि 'सब कोई पाप करो–महान आश्चर्य का विषय बन जाता है। यों तो कबीर साहब की उक्त वाणी योग्यजन की दृष्टि में अवश्य ही असंयत, विचित्र और बुरी मालूम होगी; किन्तु नहीं, संतों के कथन में उनकी अपनी एक अनूठी शैली, कला और मौज होती है। हो न हो इसमें कुछ रहस्य अवश्य छिपा हुआ है। अतएव आइए, इस रहस्यमयी वाणी पर कुछ विचार करें।

दादू जानै न कोई संतन की गति गोई॥

जिनकी गति गुप्त है, उन संतों के गुप्त रहस्यात्मक कथन को समझना कोई आसान काम नहीं, टेढ़ी खीर ही है। संत शिवनारायण स्वामी का वचन सुनिये–

मारत सेंध प्रीति अति आवै।
मगन रूप से ध्यान लगावै॥
द्वादश अंगुल सेंध परमाना।
पैठत सोइ जे चतुर सुजाना॥
मुर्दा मन ठहराइ ले, अन्ते मति कहि जाव।
अदग रूप देखि आपना, दिल चाहे सो खाव॥

संत कीनाराम जी महाराज कहते हैं–

मदिया मैं पियवौं बनाइ, मैं कलबारिन होयबौं॥
मन महुआ गुरुज्ञान जवर कर, तन को भठी बनइबौं।
ब्रह्म अग्नि को प्रगट कियो है, मदुए नाम चुएबौं॥
यह तन बोतल नीके साफ करि, निर्मल ज्ञान भरैबौं।
प्रेम प्याला ढारि ढारि पियबौं, तब हरि के दास कहैबौं॥
ये मद पियलें सुर नर माते, सन्त भये मतवाले।
शिव सनकादि आदि ब्रह्मा ले, पियते प्रेम पियाले॥
पियत पियत मन मगन भयो है, प्रगटे ज्ञान लखैबौं।
'किनाराम' गुरु के सत महिमा, फिर ना यह तन पैबौं॥

संत पलटू साहब प्रेम का प्याला पीकर मस्त हो जाते हैं और बेहोश होकर संसार को भूल जाते हैं।

पिया है प्रेम का पियाला। हुआ मन मस्त मतवाला॥
भया दिल होश से भाई। बेहोशी जगत बिसराई॥

किसी संत ने यह भी कह दिया है–

नदी किनारे घर किया, करजा करि करि खाय।
करजा दाता माँगन जब आये, घुसक नदी में जाय॥

इतना ही नहीं, संतों ने (जीवतमृतक) जीते-जी मर जाने का भी आदेश दिया है–

जीवन से मरना भला, जो मरि जानै कोय।
मरने से पहले जो मरै, तो अजर अरु अम्मर होय॥
'नानक जीवतिया मरि रहिऐ, ऐसा जोगु कमाईऐ॥'

संतों की उपर्युक्त वाणियों को पढ़कर, क्या कोई कह सकेंगे कि संतों ने सेंध मारने, चोरी करने, नशा का सेवन करने, स्वेच्छाचारी बनने, कर्ज लेकर बेईमानी करने और यहाँ तक कि आत्महत्या तक करने को कहा है? कभी नहीं। संतों की वाणी में यथार्थ अर्थ की बोधगम्यता के हेतु प्रमाणस्वरूप भगवान बुद्ध के एक वचन का यहाँ उल्लेख किया जाता है–

अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो वे उत्तम पोरिसो॥
–धम्मपद, गाथा ९७

इसका ऊपरी अर्थ होता है, जो श्रद्धाहीन, अकृतज्ञ, सेंध मारनेवाला, अवकाशहीन, निराश है, वही उत्तम पुरुष है। किन्तु इसका यथार्थ अर्थ है, जो अंधविश्वास-रहित है, अकृत निर्वाण का ज्ञानी है, पुनर्जन्म होना जिससे संभव नहीं है, जिसने सारी तृष्णा का नाश कर दिया है, वह उत्तम पुरुष है।

सम्प्रति संतों की वाणियों में जो गूढ़ आशय भरा हुआ है, उसके परिज्ञान के लिए सच्चरित्र, क्रिया वान, विद्वान गुरु की नितांत आवश्यकता है। हाँ, तो मैं कहना चाहूँगा कि वे पाँच और पचीस क्या है? जिन्हें केवल संत कबीर साहब ही नहीं, अपितु सभी संतों ने मारने वा वश करने के लिए कहा है। निम्नलिखित कुछ संतवचनों से परिचय प्राप्त कीजिए–

पाँच पचीस करै बस अपने, करि गुरु ज्ञान छड़ी।
अगल बगल के मारि उड़ाये, सन्मुख डगर धरी॥
'पाँच चोर बरजोर कुसंगति अति घने।
ये ठगियन जिव संग मुसत घर निसिदिने॥'
'मन पाँचो के वश पड़ा, मन के वश नहिं पाँच।
अपने-अपने स्वाद में, सबहिं नचावे नाच॥'
'काया कुंज करम की वाड़ी, करता बाग लगाया।

किनका तामें अजर समाना, जिन बेली फैलाया ॥
पाँच पचीस फूल तहँ फूले, मन अलि ताहि लुभाया ।
वोहि फूलन के विषै लपटि रस, रमता राम भुलाया ॥
मन भँवरा यह काल है, विषय लहरि लपटाय ।
ताहि संग रमता बहै, फिरि फिरि भटका खाय ॥
—संत कबीर साहब

इसीलिए कहा है—

पाप पुण्य के बीज दोउ, विज्ञान अग्नि में जारिये जी।
पाँचो चोर विवेक से वश करि, विचार नगर में मारिये जी॥
'धावतु पंच रहे घरु जाणिया, काम क्रोध विषु मारिआ।
पंच दूत तुधु वश कीते, काल कंटकु मारिआ॥'
'ज्ञान खड्ग लै मनु सिउँ लूझै।
मरम दशाँ पंचा का बूझे॥
पंच मारि घर बहै संतोषि।
हउ मैं दुविधा मेटै दोष॥
—गुरु नानकदेव

पाँचइ पाँच परस रस, शब्द गंध अरु रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिए, बहुरि पड़व भवकूप॥
—गोस्वामी तुलसीदासजी

"यार फक्कीर तू पड़ा किस ख्याल में ,
पाँच पच्चीस संग तीस नारी ।
एक तुम छोड़िया तीस तेरे संग में ,
होय अस ज्ञान नर्क भारी ॥
तीस के कारने भीख तुम माँगता ,
एक ने कवन तकसीर पारी ।
दास पलटू कहै खेल या न बदो ,
छुटै जब तीस तो छोड़ प्यारी ॥"

बुधवारी को फल घने, जो पै देवै बाड़ ।
रखवारी के किये बिन, पाँचो करै उजाड़ ॥
पाँचो करै उजाड़, पचीसो चरि चरि जाई ।
सावधान जो होय, सोई वाके फल खाई ॥
'कैसे छूटे खेद पंच कू जीते नाहीं ।
और पचीसो संग रहै उनके ही माहीं ॥
पाँचो इन्द्री वश करौ, मन जीतन की ठान ।
पवन रोक अनहद लगौ, पावौ पद निर्वाण ॥

आदि संत भगवान बुद्ध कहते हैं—

पंच छिन्दे पंच जहे पंच चुत्तरि भावये ।
पंच संगातिगो भिक्खु ओघतिण्णोति बुच्चति ॥
—धम्मपद, गाथा ३७०

उपर्युक्त संत-वचन से महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज के निम्नलिखित वचन में बिल्कुल साम्य है।

पाँचो अघ दैत्य साल, पाँच को कराल काल ।
पंच कोष दहन ज्वाल, प्रीतम हिय माला ॥

पाँच तत्त्व की पच्चीस प्रकृतियाँ हैं, जिनका वर्णन निम्न प्रकार है—

पृथ्वी—हाड़, मांस, नाड़ी, त्वचा, रोम।
जल—वीर्य, रक्त, मूत्र, लार, पसीना।
पावक—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, जँभाई।
वायु—चलना, बोलना, बल करना, परसना, सिकुड़ना।
आकाश—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंधकार।

पाँच तत्त्व (शरीर) को काबू करना, इन पाँच तत्त्वों के पच्चीस स्वभाव—काम, क्रोधादिक विकार—आलस्य, निद्रा, क्षुधा, पिपासादि को वश करना, वचन पर काबू करना, पंचेन्द्रिय को पंच विषयों की ओर से रोकना—यही रोकना, काबू करना, वश में करना, मारना है। इस प्रकार के मारने को यदि कोई हिंसा—पाप समझे तो यह अनिवार्य है। जिस प्रकार कृषकों के लिए कृषिकर्म, राजाओं के लिए युद्ध, रोगियों के लिए औषधि, प्राणिमात्र के लिए श्वास-प्रश्वास की क्रिया अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार मुमुक्षु जन के लिए पाँच-पचीसो को वश में करना या मारना अनिवार्य है; किन्तु यह दृढ़ निश्चय जानना चाहिए कि यह हिंसा कदापि नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों को दमित किये बिना कोई विषय-भोगों से नहीं बच सकता। विषय-भोगों में आसक्त होने के कारण ही पापकर्म होते हैं और विषयासक्ति से हटे बिना, पाप-रहित हुए बिना कोई परमात्मा की उपलब्धि नहीं कर सकता। कठोपनिषद् में लिखा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २४॥

जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान-द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है और ब्रह्मांडपुराणोत्तरगीता में तो भगवान श्रीकृष्ण में तो भगवान श्रीकृष्ण ने साफ कह दिया है कि ब्रह्मवत् परिशुद्ध हुए बिना कोई ब्रह्म को नहीं पाप्त कर सकता।

नवच्छिद्रान्विता देहाः स्नुवत्ते जालिका इव।

नैव ब्रह्म न शुद्धं स्यात् पुमान् ब्रह्म न विन्दति॥ ५४॥

अर्थात्—नवछिद्र विशिष्ट शरीर से ज्ञान-विज्ञानादि निरन्तर निःसृत होते रहते हैं। मानवगण इन्द्रिय-संयम करके देहाभिमान और रागादि-परित्याग पूर्वक साक्षात् ब्रह्मवत् परिशुद्ध न होकर किसी प्रकार ब्रह्म को लाभ नहीं कर सकते॥

गुरु नानकदेवजी कहते हैं—

सूचै भाँड़े साँचु समावे विरला सूचाचारी।
तंते कउ परम तंतु मिलाइआ, नानक सरणि तुमारी॥

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संतवाणी का सही अर्थ जानने के लिए हमें संतों का संग करके उनके पारिभाषिक और द्वि-अर्थक शब्द की अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। साथ ही संत-साधना की वास्तविक पद्धति को जानकर उसका नित्य अभ्यास करना चाहिए।

(शान्ति-सन्देश, सितम्बर १९८६ ई०)

६९. यह मन विषयों के पीछे दौड़ लगाता है

"ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुर-सरिता,
आस करत ओस कन की॥ १॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों,
तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि पुनि,
हानि होत लोचन की॥ २॥
ज्यों गच काँच विलोकि स्येन जड़,
छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस,
छति बिसारि आनन की॥ ३॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि,
जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख,
करहु लाज निज पन की॥ ४॥"

हमलोग देखते हैं कि चीनी बहुत साफ, बिल्कुल उज्ज्वल है, रंग उसका सफेद है। उसमें गंदगी नहीं है, मैल नहीं है। लेकिन जब उसी चीनी को कड़ाही में डालकर, पानी मिलाकर उसके नीचे अग्नि प्रज्वलित करते हैं, तो देखते हैं कि थोड़ी ही देर में कड़ाही में ऊपर-ऊपर काफी मैल आकर इकट्ठी हो जाती है; ऊपरी सतह पर मैल तैरने लगती है। जब उस चीनी के घोल को आँच के ऊपर नहीं चढ़ाया गया था, तब उस चीनी की मैल को हम नहीं देख पाते थे। चीनी से गंदगी हटाने के लिए, मैल हटाने के लिए उस कड़ाही में हम दूध के छींटे मारते हैं। कड़ाही के चीनी के घोल पर जब दूध का छींटा पड़ता है, तो मैल चीनी से अलग हो जाती है और साफ चीनी अलग हो जाती है।

हम ध्यान करने बैठते हैं, तो हम देखते हैं कि यद्यपि हम अत्यन्त ही पवित्र, साफ मन से ध्यान करने बैठे हैं; किन्तु मन की दशा देखते ही बनती है। पता नहीं, कहाँ-कहाँ से जमाने की बात, जिसके बारे में हाल में हमने कुछ सोचा भी नहीं होगा, आकर इक्टठी होने लगती है। जिस किसी से मेल नहीं था, मेल हो जाता है; जिससे बैर नहीं था, बैर हो जाता है। मन की ये बातें चलती रहती हैं; ध्यान ही नहीं रहता कि हम बैठे थे क्या करने और करने लगे क्या? होश होता है, तो समझ में आता है कि हम तो संकल्प-विकल्प के चक्कर में पड़ गये। ऐसी ही प्रथम दशा होती है साधक की। हम भजन करने बैठते हैं, पर मन भजन में नहीं लगता। क्यों, ऐसा क्यों होता है? सत्संग के द्वारा हमें यह ज्ञान होता है कि विषय में तृप्ति नहीं है, सुख नहीं, चैन नहीं, कल्याण नहीं है; फिर भी यह मन उन विषयों के पीछे ही क्यों दौड़ लगाता है? उनकी तरफ ही उन्मुख हो उन्हें ही भोगने में क्यों पड़ा रहता है? जिस बात को जानते हैं कि नहीं करना चाहिए, फिर भी करते हैं। ऐसा होता क्यों है?

एक गरीब किसान है। उसके यहाँ एक गाय है। बेचारा गरीब किसान उस गाय के लिए रूखी-सूखी घास किसी प्रकार जुटाता है और उस गाय को खिलाता है। रूखी-सूखी घास भी उस गाय को भरपेट नहीं मिल पाती है। किसी प्रकार काम चलता है, दिन व्यतीत होते हैं। वह बेचारी गाय करेगी भी तो क्या? एक दिन एक सेठ जी उस किसान के यहाँ आते हैं। देखते हैं कि गाय की नस्ल तो अच्छी है। इस

गाय को दूध भी अच्छा देना चाहिए और इससे जो बछड़े पैदा होंगे, वे भी अच्छी जाति के बैल बनेंगे। इसे खाने के लिए ठीक से नहीं मिलता है, इसीलिए यह इतनी दुबली-पतली है। सेठजी सोचते हैं कि यदि यह मेरे यहाँ चली जाए, तो इसे खाने के लिए हरी-हरी घास और बढ़िया दाना, खल्ली आदि मिला करेगा और यह वहीं सुखपूर्वक रह सकेगी। सेठजी उस किसान से उक्त गाय बेच देने को कहते हैं और आपस में सौदा तय हो जाता है तथा गाय को सेठजी अपने यहाँ ले जाते हैं। आखिर सेठजी ही ठहरे। गाय को हरी-हरी घास, दाना, खल्ली आदि खाने के लिए देते हैं तथा गाय के रहने के लिए घर भी होता है। किसान के यहाँ तो उस गाय के लिए रूखी-सूखी घास, रूखा-सूखा भोजन आधा पेट भी नहीं जुट पाता था, किन्तु सेठजी के यहाँ उसको भरपेट अच्छा दाना, खल्ली तथा हरी-हरी घास खाने के लिए बराबर मिलने लगी। संयोग से एक दिन उस गाय की रस्सी खुल जाती है, तो वह गाय क्या करती है? सीधे अपने पुराने गरीब मालिक के घर पर जाकर ठंढी साँस लेती है और वह गाय उस गरीब किसान के यहाँ रहने में सुख मानती है। वह गाय यह नहीं सोचती है कि मुझे इस किसान के यहाँ तो भरपेट सूखी घास भी नसीब नहीं होगी और उन सेठजी के यहाँ तो हरी-हरी घास, दाना, खल्ली आदि भरपेट खाने को मिलता था। सेठजी फिर उस किसान के यहाँ जाते हैं और गाय को खड़ी देखकर उसको पकड़ फिर अपने यहाँ लाकर मजबूत रस्सी से मजबूत खूँटे में बाँध देते हैं। अब वह विवश होकर सेठजी के यहाँ अच्छी खासी रसदार हरी-हरी घास, दाना, खल्ली खाने लगती है। अब जब वह गाय उन्हीं सेठजी के यहाँ रहते-रहते अभ्यस्त हो जाती है, तब उस गाय की रस्सी को यदि जानकर भी खोल दिया जाए, तो वह गाय वहाँ से हटकर न तो उस किसान के यहाँ ही जाएगी और न और किसी के यहाँ। अब वह उन सेठजी के यहाँ ही रहना पसंद करती है। यही हालत इस मन की है। जन्म-जन्मान्तर की परत इसपर पड़ी है। इस मन को विषय का रस मिल चुका है। अब ईश्वर-भजन में क्या सुख है, उस सुख का आनंद जब इस मन को मिलेगा, तब यह मन उस सुख की ओर मुड़ सकेगा। इसीलिए साधकरूपी सेठ मन को घुमा-घुमाकर लाता है, लक्ष्य की ओर लगाता है। सुषुम्ना रूपी मजबूत खूँटे में उसे बाँधता है; सुरत की डोर से बाँधता है। अब यह मन भजन करता है। भजन करते- करते जब इस मन को भजन का स्वाद आने लगता है, तब फिर यह मन उस भजन के स्वाद को भूलकर अन्यत्र कहीं नहीं जाता है। वही गोस्वामीजी कहते हैं–'ऐसी मूढ़ता या मन की।' क्या मूढ़ता है? क्या मूर्खता है? 'परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओस कन की।' गरमी पड़ रही है; प्यास लगी हुई है; उस प्यास को हम बुझाना चाहते हैं और उस प्यास को बुझाने के लिए हम घास पर पड़ी चंद ओस की बूँदों को चाटना चाहते हैं और चाहते हैं कि उस ओस कणों को चाट-चाटकर हम प्यास बुझा लें। कहीं ओस को चाटने से भी प्यास बुझती है? अगर प्यास ही बुझानी है, तो पानी लोटे में अथवा गिलास में लेकर पियें अथवा गंगाजी के किनारे जाकर दोनों हाथों की अंजलि बनाकर जितना मन हो, उतना पानी पियें और प्यास बुझाएँ। गंगाजी में जाकर डुबकी लगाकर स्नान करके शांति प्राप्त करें, गर्मी मिटाएँ और प्यास बुझाएँ। सो हम करना चाहें नहीं और चाहें कि ओस-कण के ऊपर उलट-पलट कर गर्मी शांत कर लें अथवा चाट-चाटकर प्यास बुझा लें, सो कब होने को है? अर्थात् नहीं होने को है। उसी के लिए गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज समझाकर कहते हैं कि यदि सुख प्राप्त करना चाहते हो, शांति चाहते हो, आनंद चाहते हो, तो ईश्वर की भक्ति करो। हम सुख चाहते हैं, शांति चाहते हैं, आनंद चाहते हैं विषयों से। उसी के लिए गोस्वामीजी कहते हैं कि यह मूर्खता है हमारी। यह मन की मूढ़ता है, जो ईश्वर-भक्तिरूपी गंगा की धारा को छोड़कर ओसरूपी विषय की बूँदों से अपनी इच्छा की पूर्ति करना चाहते है। उसी तरह से सुख-शांति विषयोपभोग में नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज लिखते हैं–'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते।' यदि अग्नि प्रज्वलित हो और उसे बुझाने के लिए हम चाहें कि उसमें घी की आहुति दें, तो क्या वह अग्नि बुझेगी? आग को बुझाना है, तो उसपर पानी डालो। हमारी कामाग्नि को विषय का भोग देकर शांत नहीं किया जा सकता। विषय-भोग से यह कामाग्नि शांत कभी नहीं होगी; बल्कि और ज्यादा लहकेगी, दहकेगी।

दूसरी उपमा गोस्वामीजी चातक पक्षी की देते हैं। चातक एक पक्षी होता है। वह समुद्र, तालाब, नदी आदि का जल नहीं पीता। आश्विन मास में जब स्वाति नक्षत्र आता है, तो वह एकटक लगाकर ऊपर मुँह करके बादल की ओर निहारता रहता है। स्वाति नक्षत्र के दिनों में जब बादल से बूँदें गिरती हैं, तो वह उन बूँदों को ग्रहण करता है। इसी चातक पक्षी की उपमा देते हुए गोस्वामीजी कहते हैं–

"धूम-समूह निरखि चातक ज्यों,
तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि पुनि,
हानि होत लोचन की॥"

धुएँ का बादल है। प्यासा पपीहा समझता है कि स्वाति की बूँद गिरनेवाली है। इसलिए वह एकटक लगाकर उस बूँद के गिरने की प्रतीक्षा में ऊपर देखता रहता है; परन्तु वहाँ न तो पानी है और न शीतलता ही। फिर भी वह आशा लगाकर ऊपर की ओर ही निहारता है। उसका वह परिश्रम व्यर्थ ही जाता है; क्योंकि वह धुआँ बादल-सा भासता है, वास्तव में बादल है नहीं। उसी तरह अज्ञजन को विषय-भोग में सुख भासता है; परन्तु वास्तव में वहाँ सुख है नहीं। विषय-भोग से क्या कभी किसी की तृप्ति हुई है? जीव विषयरूपी बादल से तृप्ति चाहता है। इसलिए अतृप्त जीवन ही बिताकर वह संसार से चलता बनता है। गोस्वामीजी तीसरी उपमा देकर समझाते हैं–

"ज्यों गच काँच विलोकि स्येन जड़,
छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस,
छति बिसारि आनन की॥"

एक बाज पक्षी है, जो आसमान में उड़ते हुए काँच के चबूतरे में अपनी छाया देखता है। वह समझता है कि नीचे एक पक्षी है। उस पक्षी को पकड़ने के लिए जोर से उस काँच के चबूतरे पर चोंच और पंजे से झपट्टा मारता है। वहाँ कोई चिड़िया है नहीं। काँच के चबूतरे की ठोकर से उसकी चोंच और पंजे में घाव हो जाता है। वह दुःखी होकर और ऊपर उड़ता है। फिर जैसे ही वह काँच के चबूतरे में अपनी परछाईं देखता है, तो वह समझता है कि वहाँ कोई चिड़िया है। वह सोचता है कि मेरा निशाना चूक गया। पुनः वह अपने मन से और सँभलकर झपट्टा मारता है। परिणामस्वरूप अपनी चोंच और पंजे को क्षत-विक्षत करता है। इस प्रकार बारम्बार वह बाज अपने ही शरीर में चोट खा-खाकर जब उड़ने लायक भी नहीं रह जाता है, तो वहीं पर अपना जीवन समाप्त करता है। इसी तरह विषयों को पाकर हम सुखी होना चाहते हैं; किन्तु विषयों में सुख है नहीं और हम अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके बलहीन होते हैं, शक्तिहीन होते हैं तथा अंत में अपनी जीवनलीला समाप्त करते हैं।

राजा ययाति ने अपने पुत्र से जवानी लेकर विषयों को भोगा; लेकिन तृप्त नहीं हो सके। अंत में पुत्र को जवानी वापस देते हुए कहा–'मैंने समझा था कि विषयों से तृप्ति मिलेगी; किन्तु विषयों में तृप्ति कहाँ? विषयों को मैं क्या भोगूँगा? विषयों ने ही मुझको भोग लिया। मैं समझ रहा था कि मेरी तृष्णा भोग भोगते-भोगते मंद पड़ जाएगी; किन्तु यह मेरी भूल थी। यह तृष्णा न तो मंद ही पड़ी, न थकी ही और न समाप्त ही हुई। तृष्णा तो क्या थकेगी, मैं स्वयं ही थक गया, बूढ़ा हो गया; किन्तु यह तृष्णा युवती-की-युवती ही बनी रही। श्रीमदाद्य शंकराचार्यजी महाराज ने कहा है–

अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातन्तुण्डम्।
कर धृत कम्पित शोभित दण्डं तदपि न मुंचत्याशा भाण्डम्॥

"पलित हो गये बाल शीश के गलित हुआ सब गात,
टूट गये त्यों ही क्रम-क्रम से मुँह के सारे दाँत।
पकड़ा हुआ हाथ में कँपता कैसा फबता दण्ड?
फिर भी नहीं छोड़ता आशा-भाण्ड अहो पाखण्ड॥"

अंत में गोस्वामी तुलसीदासजी प्रार्थना करते हैं। वे प्रार्थना क्या करेंगे? हमलोगों की सीख के लिए कहते हैं–

"कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि,
जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख,
करहु लाज निज पन की॥"

हे भगवान! यह तुम्हारा भक्त है, जिसके तुम भगवान हो। कैसी दुर्दशा है इसकी? तुम्हारा यह भक्त बहुत दुःखी है। अपने भक्त की लाज रखो–रक्षा करो, बचाओ इसको।

यदि कल्याण चाहते हैं, सुख चाहते हैं, शांति चाहते हैं, चैन चाहते हैं, आराम चाहते हैं, तो निर्विषय

की ओर चलें। वह निर्विषय तत्त्व है परमात्मा। यदि विषय से किसी को भी सुख मिला होता, तृप्ति हुई होती, तो इतिहास में कहीं तो चर्चा होती कि अमुक को विषय-भोग में शाश्वत सुख–सदा के लिए सुख मिला; लेकिन कहीं भी इसकी चर्चा नहीं है। इसीलिए हम सदा के सुख की प्राप्ति हेतु परमात्मा की ओर चलें। उनका भजन करें। संतों के बताये मार्ग पर उनके निर्देशानुकूल चलें, तभी पूर्ण संतोष, अमित तोष और परम कल्याण की प्राप्ति होगी।

यह प्रवचन स्थान : संतमत-सत्संग मंदिर, मुरलीपहाड़ी, बाराहाट-ईशीपुर, भागलपुर में दिनांक–२८.११. १९८६ को रात्रिकालीन सत्संग में हुआ था।

(शान्ति-संदेश, दिसम्बर १९९७)

७०. सा विद्या या विमुक्तये

ज्ञानसंकलिनी तंत्र में लिखा है–

"ब्रह्माण्डलक्षणं सर्व्वं देहमध्ये व्यवस्थितम्।
साकारश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥"

वह ज्ञान ही असल में ज्ञान है। वह ज्ञान इस जागतिक ज्ञान से बहुत विलक्षण है, अद्‌भुत है। संत जन आँख से ऊपर के ज्ञान में निष्णात होने के कारण समस्त पिंड-ब्रह्मांड के ज्ञान में पारंगत होते हैं। स्कूल और कॉलेज का जो नॉलेज है, वह ज्ञान आँख से नीचे का है। हम देखते हैं कि हमारे देश के कितने लोग विदेश की शिक्षा प्राप्त कर अपने देश लौट आते हैं। लेकिन क्या करते हैं? बोलते हैं फूस और लेते हैं घूस तथा करते हैं–अत्याचार, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार आदि न जाने कितने-कितने कदाचार। आज देश में घूस का इतना बोलवाला हो गया है कि क्या कहना! नीचे से ऊपर प्रायः सभी जगहों में घूस घुस चुका है। घूस को संस्कृत भाषा में 'उत्कोच' कहते हैं। 'उत्कोच' अर्थात् जो ऊपर से कोंच दिया जाए। आज यही यहाँ होता है। क्या यही विद्वानों की, ज्ञानवानों की, सुशिक्षितों की और सज्जनों की परिभाषा है? यह विद्या-प्राप्त-जन की परिभाषा नहीं है। 'सा विद्या या विमुक्तये'–विद्या वह है, जिससे मुक्ति मिलती है। जबतक हम आँख से नीचे की विद्या में रहेंगे, इसी हालत में रहेंगे।

यदि हम विद्वान बनना चाहते हैं, ज्ञानवान बनना चाहते हैं, अपने को मानवीय गुणों से सुसम्पन्न करना चाहते हैं, तो आँख से ऊपर का ज्ञान प्राप्त करें। इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि स्कूल-कॉलेज के ज्ञान को हम तिलांजलि दे दें। स्कूल-कॉलेज के ज्ञान के साथ-साथ अध्यात्म-ज्ञान को भी सम्मिलित कर दें, तो सोने में सुगंध हो जाएगा। विवेकानंदजी महाराज मात्र बी०ए० पढ़े हुए थे। आज भी हमारे घरों में बी०ए० और एम०ए० की डिग्री प्राप्त किये हुए कितनी ही बहु-बेटियाँ होंगी, लड़कों के लिए तो कहना ही क्या; किन्तु वह ओज, वह तेज, वह प्रभाव किसी में क्यों नहीं है? इसलिए कि स्वामी विवेकानंदजी महाराज को कॉलेज-शिक्षा के बाद आँख के ऊपर का भी नॉलेज था। संत कबीर साहब ने कहा है–

'त्रिकुटी महल में विद्या सारा।'

अमेरिका में विश्वधर्म-सम्मेलन के अवसर पर विभिन्न देशों के विद्वानों ने जब स्वामी विवेकानंदजी महाराज से प्रवचन सुना, तो उनलोगों ने दाँतों तले अंगुली दबायी और कहा–'He is learned beyond learning.' अर्थात् वह विद्या से बाहर का विद्वान है। आज हमें विद्वान बनना है, ज्ञानवान बनना है तो हमें आँख से ऊपर का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह आँख से ऊपर का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाता है? विन्दु-ध्यान और नाद ध्यान के अभ्यास से। विन्दु-ध्यान का दूर-दर्शन और नाद-ध्यान से दूर-श्रवण होता है। इस प्रकार विन्दु-ध्यान और नाद-ध्यान का अभ्यास कर, उसमें कुशलता प्राप्त करनेवाले किसी भी जगह बैठकर किसी भी जगह की, किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। पिंड वा ब्रह्मांड, बाह्य जगत वा अंतर्जगत् की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती। विन्दु-ध्यान की महिमा बतलाते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है–

"यथा सुअंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान ॥"

शब्द-साधना के द्वारा प्रथम 'शम' की प्राप्ति

होती है, फिर 'सम' की। फिर तो शब्द-ब्रह्म की ऐसी महिमा है कि वह पार-ब्रह्म परमात्मा तक पहुँचा देता है। यह ज्ञान हमको दूसरा कोई नहीं बतला सकता। यह ज्ञान तो हमें वे ही बतला सकते हैं, जिन्होंने संत-साधना के अनुकूल ध्यानाभ्यास किया है, सदाचार का पालन किया है और उस सत्य तत्त्व का साक्षात्कार किया है। पोथा-पोथी का थोथा ज्ञान अपनी वाचालता के कारण कोई भी भले ही कुछ बतला दे, यह दूसरी बात है; किन्तु उस ज्ञान से हमारा कल्याण नहीं होगा। अवश्य ही खद्योत-ज्ञान से हमारा मनोरंजन हो सकता है; किन्तु उससे तम का नाश नहीं हो सकता। वह हमारा भवदुःख भंजन का कारण नहीं हो सकता। भव-दुख-भंजक ज्ञान हेतु हमें संतों की शरण में जाना चाहिए, जो अहैतुकी कृपा कर हमको परम प्रभु तक पहुँचने का सेतु बता सकते हैं। उनसे ज्ञान प्राप्त कर उनके आदेशानुकूल हमें आचरण करना चाहिए।

"संत शरण जो पड़ा, ताहि का लगा ठिकाना।
और कहीं नहिं कुशल सकल वैराट चबाना॥"

'संत' की परिभाषा संत की भाषा में सुनिये—'शान्ति स्थिरता वा निश्चलता को कहते हैं। शान्ति को जो प्राप्त कर लेते हैं, सन्त कहलाते हैं।' और भी सुनिये संत कैसे होते हैं? वे अनीह अर्थात् इच्छा-रहित होते हैं। उनको कुछ नहीं चाहिए। वे मितभोगी होते हैं। संसार में रहना है, इसलिए सीमित आवश्यकता रखते हैं उनमें किसी प्रकार का व्यसन नहीं होता; किन्तु जागतिक जीवन-यापन के लिए कुछ अशन, वसन और शयन के लिए कुछ जगह तो चाहिए ही, फिर भी सबमें वे मितभोगी होकर रहते हैं। सत्य सार=सत्य के वे सारस्वरूप होते हैं। असत्य की ओर वे जाते नहीं। कवि होते हैं। पंडित होते हैं, योगी होते हैं।

योगी किसे कहते हैं? जो योग करते हैं, योगी कहलाते हैं। योग क्या है? योग का अर्थ है मिलाप। वे जीव को पीव से मिलाते हैं। वे महाधीर योगी, विषय-रस-वियोगी, हृदय अति अरोगी और परम शांति भोगी होते हैं।

योगी—जो अपने को संजोकर, इन्द्रियों को काबू कर और मन को अपने वश कर रखते हैं। ऐसे संत होते हैं। लेकिन जिनकी इन्द्रियाँ बे-लगाम हैं, मन बे-काबू है, जिभ्या पर नियंत्रण नहीं है, हृदय पवित्र नहीं है, ऐसे वेशधारी महात्मा से अलग रहने में ही मंगल है, अन्यथा पग-पग पर डर है। संत कबीर साहब ने बहुत पूर्व से चेतावनी दे रखी है—

"जाकी जिभ्या बन्ध नहीं, हिरदे नाहीं साँच।
ताके संग न चालिये, घालै बटिया काँच॥"

कब खायँ, क्या खायँ, खाने के लिए जियें अथवा जीने के लिए खायँ, उचित विचार नहीं, सत्य आचार नहीं, साँच-झूठ के बीच रेखा नहीं। ऐसे लोग क्या संत हो सकते हैं?

"कपड़े रंग कर जो न कपट का जाल बिछावै।
तन पर जो न विभूति, पेट के लिए लगावै॥
हमें चाहिये सच्चा दिल वाला वह साधू।
देश जाति जग हितकर जो निज जनम बनावै॥"

तथा—

"आँखों को खोल, भरम का परदा डालै।
जी का सारा मैल कान को फूँक निकालै॥
गुरू चाहिए हमें ठीक पारस के ऐसा।
जो लोहे कसर मिटा सोना कर डालै॥"

माननीय डॉ० सम्पूर्णानन्द की भाषा में—मैं तो इस (संत) शब्द को योगी के अर्थ में ही लेता हूँ।.. ....प्राचीन परम्परा को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति संत कहलाने का अधिकारी तब ही होगा, जब उसके लिए—'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥' यह उपनिषद्-वाक्य सार्थक हो चुका हो। इसके पहले वह कितना ही बड़ा भक्त या उपासक क्यों न हो, विद्वान, महात्मा, साधु, सज्जन या और चाहे जो कहलाये, पर संत नहीं कहला सकता।' गुरु नानकदेवजी महाराज ने योगी की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"जोगु न खिंथा जोग न डंडै, जोगु न भसम चड़ाईअै।
जोगु न मुंदी मूंड़ि मूंड़ाइअै, जोग न सिंजी वाईअै।
अंजन माहि निरंजनि रहीअै, जोग जुगति इव पाईअै॥
गली जोगु न होई।
एक द्रिसटि करि समसरि जाणै, जोगी कहीअै सोई॥
जोग न बाहरि मड़ी मसाणी, जोग न ताड़ी लाईअै।
जोगु न देसि दिसंतरि भविअै, जोग न तीरथि नाईअै।
अंजन माहि निरंजनि रहीअै, जोग जुगति इव पाईअै॥
सतिगुरु भेटै ता सहसा तूटै, धावतु वरजि रहाईअै।
निझरु झरै सहज धुनि लागै, घर ही परचा पाईअै।

अंजन माहि निरंजनि रहीऐ, जोग जुगति इव पाईऐ ॥
नानक जीवतिया मरि रहीऐ, ऐसा जोगु कमाईऐ ।
बाजे बाझहु सिंञी बाजे, तउ निरभउ पदु पाईऐ ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ, जोग जुगति इव पाईऐ ॥"

गुदड़ी पहन ली, इसलिए वह योगी है, ऐसी बात नहीं। कमंडल लेकर घूम रहा है, इसलिए वह योगी है; ऐसी बात भी नहीं। देह पर विभूति लगा ली है, लंबी दाढ़ी बढ़ा ली है, जटा बढ़ा ली है, कमर में मूँज की करधनी पहन ली है, इसलिए वह योगी है; बात भी सही नहीं। सिर के बाल मुँड़ा लेने से भी कोई योगी नहीं होता। संत कबीर साहब ने कहा–

"मुँड़ मुँड़ाये हरि मिलै, तो सब कोइ लेय मुँड़ाय ।
बार बार के मुँड़ते, भेंड़ बैकुण्ठ न जाय ॥"

वास्तव में बाहरी वेश-भूषा से कोई साधु या संत नहीं होता। जो लोग माया में रहकर माया-रहित होकर रहते हैं, वे साधु संत कहलाते हैं।

श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराज ने कहा था–'जल में नाव रहे, कोई हानि की बात नहीं; किन्तु नाव में जल नहीं आना चाहिए, नहीं तो वह नाव को डुबो देगा। उसी तरह भक्त संसार में रहे, कोई हानि की बात नहीं है; किन्तु भक्त में सांसारिकता नहीं आनी चाहिए, नहीं तो वह उसको डुबो देगी।

"जैसे जल महि कमलु निरालमु, मुरगाई नैसाणै ।
सुरति सबदि भवसागरु तरीऐ, नानक नामु बखाणै ॥"

गुरु नानकदेव जी महाराज कहते हैं–जल में कमलवत् रहो और सुरत-शब्द की साधना भी करो। सुरत-शब्द यानी नादानुसंधान। पुनः उन्होंने कहा–

'एक द्रिसटि करि समसरि जाणै ,
जोगी कहीऐ सोई ।'

जो अपनी दृष्टिधारों को मिलाकर एक करता है, वह योगी कहलाता है, चाहे वह गृहस्थ हो अथवा विरक्त। लेकिन जबतक अपनी दृष्टिधारों को मिलाकर एक नहीं कर पाता, तबतक योगी नहीं कहला सकता। वैसे जबसे हम विद्यालय जाना प्रारंभ करते हैं, तबसे विद्यार्थी कहलाने लगते हैं। जबतक एम०ए० पास नहीं कर लेते, विद्यार्थी ही कहलाते हैं। जब एम०ए० पास कर लेते हैं, तब मास्टर हो जाते हैं। एम०ए० यानी मास्टर ऑफ आर्ट्स। उसी तरह जबसे हम योग-साधना का आरंभ करते हैं, तबसे ही योगी की संज्ञा हो, यह बात अलग है; किन्तु योग की पूर्णता में पूर्ण योगी होते हैं। फिर भी, युग दृष्टिधारों को मिलाकर एक करने की क्षमता जिनमें हो, वे योगी कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। संत तुलसी साहब की वाणी घट-रामायण में है। उन्होंने लिखा है–

"तिल परमाने लगे कपाटा ।
मकर तार जहँ जीव का बाटा ॥
इतना भेद जाने जो कोई ।
तुलसीदास साध है सोई ॥"

तिल छोटा होता है और उसका रंग काला होता है। इसी प्रकार साधक को प्रथम छोटा-सा काला चिह्न दिखाई देता है। तिल का रंग उजला भी होता है। जब साधक उस काले तिल पर अपनी दृष्टि टिकाकर कुछ देर रख सकता है, तब उसे श्वेत विन्दु के दर्शन होते हैं। काले तिल को ही कपाट कहा गया है। संत वाणी में इसकी भरपूर चर्चा मिलती है–

'गुरु मिले ताके खुले कपाट,
बहुरि न आवै योनी बाट ॥'
'बन्द कर दृष्टि को फेरि अंदर करै,
घट का पाट गुरुदेव खोलै ।'
(संत कबीर साहब)

'बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी लाई ।'
(गुरु नानकदेवजी महाराज)

'खोलि कपाट महल के दीन्हे, थिर स्थान बताया।'
(संत दादू दयाल साहबजी)

"जानि ले जानि ले सत्त पहिचानि ले,
सुरति साँची बसै दीद दाना ।
खोलो कपाट यह बाट सहजै मिलै,
पलक परवीन दिव दृष्टि ताना ॥"
(संत दरिया साहब बिहारी)

हम अपने पूज्य गुरुदेव की वाणी में पाते हैं–

'वज्र कपाट खुलै तम टूटै, ब्रह्मज्योति झलकान ।'

अन्यान्य संतों ने जिसको पाट, कपाट या वज्र कपाट कहा है, संत शिवनारायण स्वामीजी महाराज ने उसको केवाड़ और 'ताला- कुंजी' की संज्ञा दी है। यथा–

"लागी है कुंजी केवाड़ी ताला ।
लखाई हंसा जाको गुरु मिला ॥"

वह कपाट तिल के समान है। तिल कहने का मतलब छोटे-से-छोटा। जो कोई उस तिल में पिल जाएँगे, वे कभी-न-कभी अवश्य ईश्वर से जाकर मिल जायेंगे।

हमारे गुरुदेव इसके साक्षी हैं। वे कहते हैं–

"स्थूल सूक्ष्म कारण महाकारण, कैवल्यहु के पार।
सुष्मन तिल हो पिल तन भीतर, होंगे सबसे न्यार॥
ब्रह्म-ज्योति ब्रह्म-ध्वनि को धरि-धरि, ले चेतन आधार।
तन में पिल पाँचो तन पारा, जा पाओ प्रभु सार॥"

यह छोटा-सा तिल क्या है? यही वज्र कपाट है। सोचकर देख लीजिए, यह कैसा वज्र कपाट है? आज भजन-भेद लिये हमें कितने दिन हो गये हैं। वह वज्र कपाट (तिल कपाट) आज तक टूटा है या नहीं? संत तुलसी साहब एक और बात कहते हैं, 'मकर तार जहँ जीव का बाटा।' मकर-तार यानी मकड़े का तार। यह कैसा होता है? वह बहुत पतला होता है, बारीक होता है, महीन होता है। उसी पतले तार के सहारे मकड़ा ऊपर से नीचे आता है और नीचे से ऊपर जाता है। उसी तरह यह जीवात्मा परमात्म-धाम से शब्द के सहारे इस शरीर और संसार में आया है। पुनः उसी शब्द-धार को पकड़कर वह संसार को पार करके परमात्म-धाम में पहुँचेगा। इस उपमा-उपमेय के द्वारा संत तुलसी साहब दृष्टियोग और शब्द योग–नादानुसंधान की क्रिया का संकेत करते हैं। जबतक उस तार का पता नहीं मिलेगा, तबतक कोई भव-पार नहीं हो सकता है, चाहे वह कितना कारबार कर ले या लोक-व्यवहार सीख ले।

हमलोग तुलसी साहब की आरती प्रतिदिन पढ़ते हैं, जिसमें एक कड़ी यह भी आती है, 'उलटि अलल तुलसी तन तीजै।' यह पंक्ति भी हमें अंतर्मुख होकर उलटने की ओर इंगित करती है। संतवाणी में तो 'अलल' शब्द का प्रयोग हुआ है; किन्तु वेद में 'अलज' शब्द आया है।

अलल एक पक्षी होता है। वह घोंसला नहीं बनाता, आकाश में ही रहता है। वहाँ–आकाश में ही नर-मादा का संयोग होता है। वहाँ से ही वह अंडा देती है। वह अंडा जैसे-जैसे नीचे की ओर आता है, वैसे-वैसे शनैः शनैः वह पुष्ट होता जाता है। और भी नीचे आने पर पूरा पुष्ट होकर अंडा फूट जाता है। उसमें से बच्चा निकलता है। नीचे आते-आते उसके डैने भी निकल आते हैं। और नीचे आने पर आँखें खुलती हैं, तो वह समझता है कि यहाँ उसका घर नहीं है। वहाँ से ही वह उलटकर अपने स्थान–आकाश में पहुँच जाता है। उसी तरह यह जीवात्मा जो परम प्रभु परमात्मा का अभिन्न अंश है, परम धाम के शब्द के आधार पर पिंड में आया हुआ है। अब वह उसी शब्द धार को पकड़े और उसी के सहारे जाते-जाते सर्वेश्वर सर्वाधार परम प्रभु परमात्मा से मिल जाए। किन्तु यह मिलन होगा कैसे? इसके लिए संत सद्गुरु की आवश्यकता पड़ती है। किसी शायर ने कहा है–

"जो बात दया से ना होती, वह बात दुआ से होती है।
मिल जाते जब पूरे मुर्शिद, तो बात खुदा से होती है॥"

हमारी बात खुदा से क्यों नहीं होती है? इसलिए कि हम खुदा से जुदा हो गये हैं। यह जीव पीव से अलग हो गया है। अब यह जीव पीव से कैसे मिले, इसी का यत्न सद्गुरु बतलाते हैं। यह रूह खुदा से अलग हो गयी है। यह रूह खुदा अर्थात् परमात्मा से कैसे मिले, इसी का यत्न संत सद्गुरु बतलाते हैं। सबसे पहले तो सवाल यह है कि आखिर यह खुदा से जुदा हुई तो कैसे? दोनों को पृथक-पृथक करनेवाला कौन है? इसके जवाब में शायर कहते हैं–

"खुदा जुदा की एक सूरत नुकता भेद बताता है।
नुकता ऊपर नुकता नीचे नुकता आता जाता है॥
नुकते के हेर फेर से तुमसे जुदा हुआ।
नुकता जो धरा सर पर खुद ही खुदा हुआ॥"

नुकता अर्थात् विन्दु। फारसी भाषा में 'जिम' और 'खे' का रूप करीब-करीब एक-सा होता है। अंतर इतना ही है–'जिम' के पेट में विन्दु (नुक्ता) रहता है और 'खे' के ऊपर। इसी नुक्ते के नीचे रहने से जुदा और ऊपर रहने से खुदा शब्द बनता है। इसी तरह जबतक हमारी वृत्ति नीचे है, तब हम जुदा हैं और जब हमारी वृत्ति ऊपर उठ जाएगी, जिससे ऊपर उठा नहीं जा सकता, तब हम खुद ही खुदा हो जाएँगे। लेकिन कब? इसका उत्तर शायर देता है, 'मिल जाते जब पूरे मुर्शिद।' अर्थात् जब पूरे गुरु मिल जाते हैं।

संत तुलसी साहब कहते हैं–

"मुर्शिदे कामिल से मिल, सिदक और सबूरी से तकी।
जो तुझे देगा फहम, शहरग के पाने के लिए॥"

शहरग अर्थात् सुषुम्ना। ध्यानाभ्यास करते-करते जिसका सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त हो जाता है, उसका अंदर का कान खुल जाता है और उसे आवाजेगैब सुनायी पड़ती है, जिसके सहारे क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते वह अल्लाह ताला को पा लेता है। संत तुलसी साहब

कहते हैं–

"गोश बातिन हो कुशादा, जो करे कुछ दिन अमल।
ला इलाह अल्लाह हो, अकबर पै जाने के लिए॥"

फकीर का फरमान है, अगर अल्लाह से मिलना चाहते हो, तो पहले 'नुक्ता' को पकड़ो यानी विन्दु को धारण करो। जो कोई विन्दु को धारण करता है, वही एक दिन भवसिन्धु को पार कर जाता है। जो कोई आंतरिक साधना सारधार–चेतनधार को धारण करता है, वही भव पार होता है और सर्वाधार परमात्मा को पाता है। इसलिए संतमत की साधना में विन्दु और नाद की उपासना बतायी जाती है।

(शान्ति-सन्देश, सितम्बर १९८८)

७१. तीन अवस्था तजहू भजहु भगवन्त

सामान्यतया लोग मोटी-मोटी भक्ति को ही ईश्वर की सर्वांगपूर्ण भक्ति समझते हैं। वे देव-विग्रह के समक्ष धूप, दीप, चंदन, नैवेद्य आदि अर्पण करके आरती उतार लेते हैं और समझते हैं कि भक्ति पूरी हो गयी। लेकिन बात ऐसी नहीं है। यह तो बच्चों के वर्णमाला सीखने जैसी बात है। भक्ति के संबंध में संत कबीर साहब ने कहा है–

"भक्ति प्राण ते होत है, मन दे कीजै भाव।
परमारथ परतीत में, यह तन जाव तो जाव॥"

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

"तीन अवस्था तजहु, भजहु भगवन्त।
मन क्रम वचन अगोचर, व्यापक व्याप्य अनंत॥"

और संत सुंदरदासजी महाराज की वाणी में हम पढ़ते हैं–

"श्रवण बिना धुनि सुनै, नयन बिनु रूप निहारै।
रसना बिनु उच्चरै, प्रशंसा बहु विस्तारै॥
नृत्य चरण बिनु करै, हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिलि संग, बहुत आनन्द बढ़ावै॥
बिनु शीश नवे जहँ सेव्य को, सेवक भाव लिये रहै।
मिलि परमातम सों आतमा, परा भक्ति सुन्दर कहै॥"

हमारे प्रातःस्मरणीय परम पूज्य श्रीगुरुदेव जी महाराज की वाणी में है–

"क्षेत्र क्षर अक्षर के पार में, परमालौकिक जेह।
मेँहीँ अन्तर वृत्ति करिके, भजहु निशि दिन तेह॥
युग दृष्टि की एक तीक्ष्ण नोक से, चीरि तेजस विन्दु।
सुनो अन्दर नाद ही, लखो सूर्य तारे इन्दु॥
विहंग मीनी चाल चलि ज्यों, सरित सों सरित समाहिं।
त्यों नाद सों नादों में चलि, प्रभु पास भक्तन जाहिं॥
सन्तों का मेँहीँ मार्ग यह, 'मेँहीँ' सुनो दे कान।
यहि परा भक्ति प्रसिद्ध मार्गहिं, धरु हिय धरि ध्यान॥"

यह पराभक्ति है, सर्वोत्कृष्ट भक्ति है। लेकिन भक्ति का आरंभ पराभक्ति से नहीं होता, वह तो अपरा भक्ति से होता है। जैसे जबतक कोई मोटे-मोटे अक्षरों को नहीं लिख लेता, तबतक महीन लिखने की योग्यता नहीं होती। जबतक सरलाक्षर नहीं सीख लेता, तबतक संयुक्ताक्षर लिखने की क्षमता उसमें नहीं आती। इसीलिए आवश्यकता है पहले मोटी भक्ति की। मोटी भक्ति के लिए कहा गया है कि पहले जप करो। लेकिन वह जप कैसा हो? जिसमें जप हो और जापक हो, उसके बीच में और कुछ नहीं हो। संत दूलनदासजी महाराज इसकी सही विधि इस प्रकार बतलाते हैं–

"कोइ बिरला यहि विधि नाम कहै॥
मंत्र अमोल नाम दुइ अच्छर, बिनु रसना रट लागि रहै॥
होठ न डोलै जीभ न बोलै, सुरति धरनी दिढ़ाइ गहै॥
दिन और राति रहै सुधि लागी, यहि माला यहि सुमिरन है॥
जन दूलन सतगुरन बतायो, ताकी नाव पार निबहै॥"

सुमिरण किस तरह करो तथा इससे क्या लाभ होता है? संत कबीर साहब ने कहा है–

"सुमिरन से सुख होत है, सुमिरन से दुख जाय।
कह कबीर सुमिरन किये, साईं माहिं समाय॥
सुमिरन सुरत लगाइके, मुख ते कछू न बोल।
बाहर का पट देइ कर, अन्तर का पट खोल॥"

पुनः कबीर साहब कहते हैं–

"भक्ति सब कोई करै, भरमना ना टरै।
भक्ति जंजाल दुख द्वन्द्व भारी॥"

लोग भक्ति करते हैं; लेकिन भ्रम मिटता नहीं। क्यों? इसलिए कि असली भक्ति जानते नहीं। शास्त्र में आया है–

"पूजा कोटि समं स्तोत्रं, स्तोत्र कोटि समं जपः।

जापः कोटि समं ध्यानं, कोटि समो लयः ॥"

यह सीढ़ी है। जैसे बाल वर्ग से विद्यालय में पढ़ना प्रारंभ करते हैं। फिर प्रथम वर्ग, द्वितीय वर्ग, तृतीय वर्ग, चतुर्थ वर्ग पास करते हुए अपर पास करते हैं। पश्चात् मिड्ल, मैट्रिक पास करते हैं। तत्पश्चात् आई०ए०, बी०ए०, एम०ए० पास करते हैं। जिस तरह विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम है, उसी तरह साधना के भी क्रम हैं। पूजा से स्तुति, स्तुति से जप, जप से ध्यान और ध्यान से लय विशेष है। पूजा में पूजा की विविध सामग्रियों में मन बिखरा रहता है। पूजा की अपेक्षा स्तुति में विशेष सिमटाव होता है; क्योंकि पूजा में पूजन की विविध साम्रगियों में मन बँटा रहता है। इसमें मन की स्थिरता नहीं होती, चंचलता रहती है। मन में चंचलता रहने पर भी पूजा की ओर मन लगा हुआ है, इष्टमूर्ति की ओर मन लगा हुआ है, भगवद्विग्रह की ओर मन लगा है। इसलिए अन्यान्य चिंतन की अपेक्षा इष्ट-विग्रह का पूजन अच्छा तो है ही।

स्तुति में बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। इस हेतु एकाग्रता में सरलता होती है और अपनी सुविधा के अनुकूल जहाँ भी कर सकते हैं। एक सत्संगी हैं बाबू रामप्रताप जी अग्रवाल। ये मुजफ्फरपुर के रहनेवाले रिटायर्ड इंजीनियर हैं। अच्छे सत्संग-प्रेमी हैं। उनका नियम है नित्यप्रति प्रातःकाल ईशादि स्तुति करने का। एक बार वे सपत्नीक ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। उनकी धर्मपत्नी भी वास्तव में धर्ममति की हैं। प्रातः का समय था। ट्रेन में ही दोनों दम्पति ने नियमानुसार स्तुति आरंभ की। ईश-स्तुति, संत-स्तुति और सद्गुरु-स्तुति की। नाम-संकीर्तन के पश्चात् संतमत-सिद्धांत और संतमत की परिभाषा का पाठ किया। इस प्रकार सारे-के सारे पाठ समाप्त कर दोनों ने आरती का पाठ किया। उसी कम्पार्टमेंट में उनकी सीट के सामने वाली सीट पर दो साधु बाबा बैठे हुए थे, जो अच्छे पढ़े-लिखे थे। श्रीअग्रवाल जी ने सविनय हाथ जोड़कर उन दोनों बाबा से आग्रह किया, 'बाबा! हमलोगों ने जो प्रातःकालिक नित्य नियम था, सो तो हमलोग कर चुके; अब आप अपने श्रीमुख से हमलोगों को कुछ ज्ञानोपदेश कीजिए।' दोनों साधु बाबा बड़े सज्जन थे। इंजीनियर साहब के सात्त्विक आचार और आस्तिक विचार से वे लोग बड़े प्रभावित हुए थे। उन्होंने कहा, 'भाई! आपने तो अपने पाठ-क्रम में सारे ज्ञान सुना दिये। अब मुझे कहने के लिए बाकी क्या रहा! झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार; इन पंच पापों से बचना चाहिए, एक ईश्वर पर विश्वास करना, उनकी प्राप्ति अपने अंदर में होगी, सत्संग करना, ध्यान करना, गुरु-सेवा करनी आदि सारी बातें सुना दीं। प्रभु पाने की साधना मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टि-साधन और शब्द-साधन, सब तो तुमने बतला दिये। अब मेरे बताने के लिए क्या बचा, जो तुमको बतलाऊँगा। तुम किनके शिष्य हो? ये सारी बातें कहाँ तुमने सीखी है।' रामप्रताप बाबू ने कहा, 'हमारे गुरुदेव का नाम है परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज और वे बिहार के रहनेवाले हैं तथा कुप्पाघाट भागलपुर में रहते हैं।' साधु बाबा ने कहा–'अभी तो मैं जल्दी में हूँ। जहाँ जा रहा हूँ, वहाँ से लौटूँगा, तो मैं उन संतजी का दर्शन अवश्य करूँगा।'

हाँ, तो मैं स्तुति के संबंध में कह रहा था। जो ट्रेन में हो, उसको वहाँ पूजा की सामग्रियाँ–धूप, दीप, नैवेद्य आदि के जुटाने में कितनी कठिनाई होगी, विचार सकते हैं। यदि किसी प्रकार पूजन-सामग्रियाँ इकट्ठी करके पूजा भी की जाए, तो शास्त्र कहता है, 'करोड़ों पूजा के समान एक स्तुति होती है। 'पूजा कोटि समं स्तोत्रं।' और करोड़ों स्तुति के समान एक जप होता है। क्यों? इसलिए कि स्तुति में अनेक शब्द होते हैं। अतएव उसमें भी पूर्ण सिमटाव नहीं हो पाता। अब उससे आगे बढ़ी। पुनः शास्त्रोक्ति है, 'स्तोत्र कोटि समं जपः।' यानी करोड़ों स्तुति के समान एक जप है। जप में बहुत-से शब्द नहीं होते। एक ही शब्द की पुनरावृत्ति होती रहती है। जपों में मानस जप श्रेष्ठ है। जप की महिमा गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज बतलाते हैं–

"मंत्र परम लघु जासु वश, विधि हरिहर सुर सर्व ।
महामत्त गजराज कहँ, वश कर अंकुश खर्व ॥"

परम लघु शब्द पर ध्यान दीजिए। एक तो 'लघु' शब्द होता है, जिसका अर्थ होता है–छोटा।

किन्तु गोस्वामीजी के विचार में जप का शब्द परम लघु यानी अत्यन्त छोटा होना चाहिए। परम लघु मंत्र के जपने से उसके परिणाम और फल को लघु मत समझो। लघु की विशेषता मानस में है—

"रवि मंडल देखत लघु लागा।
उदय तासु त्रिभुवन तम भागा॥"

परम लघु मंत्र का जप यदि एकाग्रतापूर्वक किया जाए, तो उसका महान फल होता है। जैसे अंकुश बहुत छोटा होता है; लेकिन वह महामत्त गजराज को काबू में लाता है। उसी तरह मानस जप मदमत्त मनरूप गजराज को वश में करता है, उससे सिद्धि मिलती है।

इसी पंडाल में कहीं बैठे होंगे एक सत्संगी सज्जन, जो अच्छे साधक भी हैं। रहते तो वे सादे वेश में हैं; किन्तु वास्तव में साधु हैं। उनका पूर्व नाम बाबू रामनंदन प्रसादजी वर्मा तथा वर्तमान नाम रामानंद स्वामीजी है। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम—श्रीकृष्ण कुमार। वह एम०एससी० तक पढ़ा हुआ है। वह मेरा पुत्रवत् प्रिय है। जिस समय वह आई०एससी० में पढ़ रहा था, परम पूज्य गुरुदेव से उसने दीक्षा ली थी। उनकी अनुकम्पा से उसको जप में सिद्धि मिल गयी। शास्त्र में लिखा है, 'जपात् सिद्धिः।' उसको वह मिल गया था। जो कोई कुछ प्रश्न करते तो उसका उत्तर वह मुँह से नहीं देकर इस प्रकार देता था। वह लकड़ी के कोयले को पीसकर उसकी पुड़िया बनाकर अपने पास रखता था। जैसे ही जो कोई प्रश्न उससे करता थे, तो वह उस कोयले के चूर्ण को अपनी बायीं बाँह में पोत लेता था। प्रश्न का सही उत्तर नागरी लिपि में वहाँ आ जाता था। वह अक्षर परम पूज्य गुरुदेव के हस्तलेखन अक्षर-सा होता था।

मेरे कहने का मतलब यह कि कोई मंत्र जप एकाग्रतापूर्वक कर लेता है, तो उसको सिद्धि मिल जाती है। पांडवों की माता कुन्ती देवी को भी मंत्र सिद्ध था। वह जिस देवता का जब आह्वान करती थी, उसी समय वे देव उनके सामने उपस्थित हो जाते थे।

यह तो जप-सिद्धि की बात हुई; लेकिन जप के आरंभिक काल में क्या होता है, सो भी सुनिये—

आरंभ में जप करने के लिए बैठते हैं, तो मन में विविध बातें आती हैं। उनमें कितनी ऐसी बातें हैं, जो सबके सामने रखने योग्य नहीं होतीं। गुरुदेव से दीक्षित एक वाइस-प्रिंसिपल साहब थे। गुरुदेव उस समय सिकलीगढ़ धरहरा में थे। उनके दर्शन करने के लिये वे आये थे। गुरुदेव ने पूछने की कृपा की—"भजन-ध्यान किया करते हैं?" उन्होंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"गुरुदेव! दीक्षा लेने के बाद कुछ दिनों तक तो किया था; किन्तु अब छोड़ दिया है।" गुरुदेव ने पुनः पूछने की कृपा की—"क्यों?" उन्होंने कहा—"गुरुदेव! क्या बतलाऊँ, जब ऑफिस के कामों में लगा रहता हूँ अथवा लड़कों को पढ़ाता हूँ, तब तो मन ठीक रहता है, लेकिन जब पूजा करने के लिये बैठता हूँ तो ऐसी गंदी-गंदी बातें आती हैं, जिनके विषय में तो मैंने कभी सोचा भी नहीं था। मैंने विचार किया कि जब ध्यान करने से ही गंदी-गंदी बातें सामने आती हैं, तो ध्यान करना ही नहीं चाहिये। इसलिये मैंने ध्यानाभ्यास करना छोड़ दिया।" परमाराध्यदेव ने उनको ध्यानाभ्यास की उपयोगिता समझाने की कृपा की। उनकी समझ में बात आ गयी।

शाम का समय था। मैं टहलने जा रहा था। वाइस-प्रिंसिपल साहब ने मुझसे पूछा—"आप कहाँ जा रहे हैं?" मैंने कहा—"टहलने जा रहा हूँ।" प्रिंसिपल साहब ने पूछा—"मैं भी साथ चलूँ?" मैंने कहा—"चलिये।" दोनों एक साथ चल पड़े। वहाँ सत्संग-मन्दिर के पीछे आम का बगीचा है। जब हमलोग वहाँ आये तो मैंने उनका नाम लेकर पूछा—"फलाँने बाबू! गुरु महाराज जी के पूछने पर आपने जो उत्तर दिया, वह सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। आप तो कितने जानवर को आदमी बनाते हैं; कितने बन्दर को सुन्दर बनाते हैं, फिर आपने कैसे कह दिया कि ध्यानाभ्यास नहीं करते हैं।" उन्होंने बड़े ही सरल और सहज शब्दों में उत्तर दिया—"क्या बताऊँ? झूठ तो कभी भी किसी से भी बोलना नहीं चाहिये, किन्तु हमलोग कभी-कभी, कहीं-कहीं झूठ बोल भी देते हैं। लेकिन जहाँ स्वयं गुरुदेव जी महाराज ही पूछ रहे हैं, तो उनके सामने झूठ कैसे बोलता! जो बात सच्ची थी, मैंने निवेदन कर दिया।"

मैंने उनसे कहा—"एक बात आप बतलाइये,

आप कभी कपड़ा भी धोते हैं?" उन्होंने कहा–"हाँ, कपड़ा प्रायः धोना ही पड़ता है।" मैंने पूछा–"आप कपड़ा क्यों धोते हैं?" उन्होंने कहा, "मैल साफ करने के लिये।" मैंने पूछा–"आप जब कपड़ों में साबुन लगाते हैं, तो उससे क्या निकलता है?" उन्होंने कहा–"मैल निकलती है।" मैंने कहा, यह कैसी उल्टी बात हो गयी? कपड़ा साफ होने के बजाय उससे मैल निकलने लगी। उन्होंने कहा–"मैल नहीं निकलेगी, तो कपड़ा साफ कैसे होगा?" मैंने कहा–"प्रिन्सिपल साहब! उसी तरह जब आप जप-ध्यान करने के लिए बैठते हैं, तो जन्म-जन्मांतर की जो मैल मन में बैठी हुई है, वह निकलती है, फिर आप घबड़ाते क्यों हैं? जबतक मन की मैल नहीं निकलेगी, मन साफ कैसे होगा?" मेरी बात सुनकर वाइस-प्रिन्सिपल साहब बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रतिज्ञा की–"बाबा! आज से मैं नित्य नियमित रूप से अवश्य त्रयकाल संध्या करूँगा।" (श्रोतागण द्वारा श्री सद्गुरु महाराज की जय का नारा) (शान्ति-सन्देश, नवम्बर १९८८)

७२. जाप कोटि समं ध्यानं

एक दिन चीनी अपनी सहेली से बोली, 'बहन! मुझसे बढ़कर अधिक और साफ कौन है?' सहेली ने उत्तर दिया, 'सुनो बहन! अपनी गंदगी अपने को दिखती नहीं है। अपने को तो दूसरे की गंदगी सूझती है। लोग अपने को बराबर पाक-साफ समझते हैं और दूसरे को ऊँगली उठाते हैं। संत तुलसीदासजी महाराज ने कहा है–

"देखिके पर दोष रज सम, कहत गिरि सम सोय रे ।
दोष अपने मेरु सम, तिन्हें राखत गोय रे ॥"

एक जापानी कहानी सुनाता हूँ–जापान में एक लड़की की शादी हुई। जब वह अपनी ससुराल जाने लगी, तो उसकी माँ ने उससे कहा, 'बेटी! मेरी एक बात याद रखना। जब कोई तुम्हारी निंदा करे तुम पर ऊँगली उठाये, तो देख लेना कि उसकी ऊँगली तुम्हारे ऊपर ठीक बैठती है या नहीं? यानी ठीक बैठती है यानी सचमुच ही तुममें दुर्गुण है, दोष है, तो तुम अपने को सँभाल लेना, सुधार लेना; यदि नहीं तो यह समझ लेना कि वह तुमसे तीन गुणा अधिक अपने को दोषी साबित करता है; क्योंकि जब कोई किसी की ओर ऊँगली करता है, तो उसकी एक ऊँगली दूसरे की ओर और तीन ऊँगलियाँ अपने ओर इंगित करती है। इसीलिए तुम किसी की बुराई मत करना। और एक बात समझो। दूसरों की दिखाई जानेवाली ऊँगली टेढ़ी-मेढ़ी भी हो सकती है; किन्तु उसकी अपनी तरफ की ऊँगुलियाँ तो टस-से-मस नहीं कर सकतीं; क्योंकि उन ऊँगलियों को दृढ़ता के साथ अँगूठा पकड़े रहता है।' हाँ, तो वह चीनी कह रही थी कि देखो, मैं कितनी साफ हूँ! सहेली ने कहा, 'मैं अभी दिखला देती हूँ कि तुम कितनी साफ हो?' उसने क्या किया? चीनी को पानी में घोल दिया और चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे से आँच देना शुरू किया। जैसे-जैसे पानी गर्म होने लगा, बर्तन के ऊपरी हिस्से पर मैल तैरने लगी। सहेली ने कहा, 'अब बताओ बहन! तुम तो कहती थी कि तुममें मैल नहीं है, तुम बहुत साफ हो। अब कहो, सही बात क्या है?' चीनी ने कहा, 'हाँ बहन! मुझे तो यह मालूम ही नहीं था। अब इस मैल को निकाल दो।' सहेली ने क्या किया, दूध का छींटा दिया और मैल को छाँटकर अलग निकाल दिया। उसी तरह जब हम जप करने के लिए बैठते हैं, तो हमारे भीतर जो मैल जमी रहती है, वह बाहर आने लगती है। लेकिन यदि हम जप करने में जोर लगा दें और दृढ़ता के साथ जप करते रहें, तो वह दूध के छींटे की तरह काम करेगा। मैल कट-कटकर बाहर निकल जाएगी। तो यह जप की बात है। (मानस) जप के बाद आती है बारी (मानस) ध्यान की। जप से करोड़ गुणा ध्यान को बतलाया है–'जाप कोटि समं ध्यानं।'

ध्यान की सुप्रसिद्ध परिभाषा है–'ध्यानं निर्विषयं मनः।' किन्तु यह ध्यान आरंभिक नहीं है। पहले स्थूल ध्यान होता है, फिर सूक्ष्म ध्यान। पहले सगुण ध्यान किया जाता है, फिर निर्गुण ध्यान होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, अध्याय १४, श्लोक ४२-४३ में कहा है–

"इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।

बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥ ४२॥"

अर्थात् बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर उस मन को बुद्धि-रूपी सारथी की सहायता से सर्वांग-युक्त मुझमें ही लगा दे ॥४२॥

"तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ ४३॥"

अर्थात् सब ओर से फैले हुए चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करे और फिर अन्य अंगों का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुस्कान-युक्त मुख का ही ध्यान करे॥४३॥

संतों के स्थूल ध्यान में अपने इष्ट की मूर्ति का ध्यान बतलाया गया है। संत कबीर साहब कहते हैं–

"मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सतभाव॥"

गुरु नानकदेवजी महाराज के वचन में भी हम गुरुरूप का ध्यान पाते हैं। यथा–

"गुर की मूरति मन महि धिआनु।
गुर कै शबदि मंत्र मनु मानु॥
गुरु के चरन रिदै लै धारउ।
गुरु पारब्रह्म सदा नमसकारउ॥"

तथा संत शिवनारायण स्वामीजी की दृष्टि भी गुरु मूर्ति की ओर ही है–

"निहारो यारो गुरु मूरति की ओर।
गुरु मूरति सूरति बिच निरखो, तब उर होत इंजोर॥"

जब हम अपने परम पूज्य गुरुदेवजी के अनुपम साहित्य का अध्ययन-मनन करते हैं, तो उन संतों की वाणियों से इनकी वाणी में अभिन्नता पाते हैं। इनके कथनानुसार प्रथम मानस जप करना चाहिए, पश्चात् मानस ध्यान। इस प्रकार की साधना से शीघ्रतापूर्वक सुरत का शुद्धिकरण होता है।

"गुरु जाप मानस ध्यान मानस, कीजिए दृढ़ साधकर।
इनका प्रथम अभ्यास कर, स्रुत शुद्ध करना चाहिए॥"
(महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज)

स्थूल सगुण साकार के ध्यानाभ्यास से मन का इतना सिमटाव होता है कि वह सूक्ष्म सगुण साकार ध्यान करने के योग्य हो जाता है। सूक्ष्म सगुण साकार ध्यान विन्दुध्यान है। विन्दु उसको कहते हैं, जिसका स्थान होता है, परिमाण नहीं। इसलिए यह मन से बनाया नहीं जाता, देखने के कौशल से देखा जाता है। गुरु निर्देशित स्थान पर युगल नेत्रों की धाराएँ जुड़कर जब एक होती हैं, तब वहाँ स्वतः तेजोमय विन्दूदय होता है। तेजोविन्दूपनिषद् में लिखा है–'तेजोविन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम्।'

संतों ने इस विषय को अपनी-अपनी भाषा में विभिन्न भाँति से समझाने की चेष्टा की है। संत कबीर साहब ने कहते हैं–

"गगन मंडल के बीच में तहँवा झलके नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुँचेगा गुरु पूर॥
बाँका परदा खोलि के, सन्मुख ले दीदार।
बाल सनेही साइंयाँ, आदि अन्त का यार॥"

गुरु नानकदेवजी महाराज की वाणी में है–

"तारा चड़िआ लंमा किउ नदरि निहालिआ राम।
सेवक पूर करंमा सतिगुर सबदि दिखालिआ राम॥
गुर सबदि दिखालिआ सचु समालिआ
अहिनिसि देखि विचारिआ।
धावतु पंच रहे घरु जाणिआ कामु क्रोध विषु मारिआ॥
अंतरि जोति भई गुरु साखी चीने राम करंमा।
नानक हउमै मारि पतीणे तारा चड़िया लंमा॥"

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा कि यह एक गुप्त मत है, जिसका उपदेश भगवान श्रीराम ने अपनी प्रजा को त्रेतायुग में दिया था। यथा–

"औरउ एक गुप्त मत, सबहिं कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि॥"

हाथरस निवासी संत तुलसी साहब ने घटरामायण में लिखा है कि दृष्टि साधन क्रिया के द्वारा जो अपने अंतराकाश में तारा को पाता है, वह 'अनहद झनकारा' को भी सुनता है। अर्थात् जो अंतर्ज्योति का दर्शन करता है, वह अंतर्नाद का श्रवण करता है।

"गगन द्वार दीसै एक तारा।
अनहद नाद सुनै झनकारा॥"

जब हम अपने गुरुदेव की वाणी पढ़ते हैं, तो उसमें बड़े स्पष्ट रूप से साधना संबंधी बातें पाते हैं। वे दृष्टि-साधना की क्रिया के बाद नादानुसंधान की विधि बताते हैं। उनका कथन है कि दोनों दृष्टियों की धारों को गुरु के बताये लक्ष्य स्थान पर स्थिर करने

की कोशिश करो। जैसे जिसको कभी लिखने की आदत नहीं है, वह जब कुछ लिखना प्रारंभ करता है, तो उसका हाथ काँपता है। धीरे-धीरे लिखते-लिखते जब वह अभ्यस्त हो जाता है, तो फिर हाथ काँपता नहीं, स्थिर हो जाता है। उसी प्रकार दृष्टियोग के अभ्यास में पहले दृष्टि काँपती है; किन्तु नित्य नियमित रूप से साधना करते रहने से आप-ही-आप कम्पन छूट जाता है, दृष्टि स्थिर हो जाती है और आगे का रास्ता खुल जाता है।

"दृष्टि योग अभ्यास अतिहि, करतहि करत।
कँपनी सहजहि छुटै, प्रौढ़ होवै सुरत॥
तिल दरवाजा टुटै, नजर के जोर से।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' लगे टकटकी खूब,
जोर बरजोर से॥"

मानस जप, मानस ध्यान और दृष्टि-साधन काल में केवल मुँह और आँखें बंद करनी चाहिए। नादानुसंधान करते समय दोनों आँखों, दोनों कानों और मुँह को बंद करना चाहिए। दृष्टि-साधन की क्रिया-द्वारा जब एकविन्दुता प्राप्त होती है, तो आंतरिक नाद की अनुभूति होने लगती है। उस समय सुरत को शब्द में लगाना चाहिए। शब्द-साधना करनेवाले को मालूम होता है कि जितने भी शब्द सुनने में आते हैं, वे सभी ऊपर की ओर से आ रहे हैं। शुद्धाचारी संत सद्गुरु से शब्द-साधना की दीक्षा पाकर केन्द्रीय शब्द को पकड़ना चाहिए। अपने अंदर स्थूल-सूक्ष्मादि भेद से पाँच मंडलों के पाँच केन्द्र हैं। शब्द में यह गुण होता है कि वह सुननेवाले को अपने केन्द्र की ओर आकर्षित करता है। प्रत्येक ऊपर के केन्द्रीय शब्द का संबंध उसके नीचे के केन्द्र से रहता है। जो स्थूल मंडल के केन्द्रीय शब्द को पकड़ेगा, वह उसके आकर्षण से आकर्षित हो सूक्ष्म के केन्द्र पर पहुँच जाएगा। इस प्रकार शनैः शनैः क्रम-क्रम से एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में चलते हुए वह जड़ावरण को पार कर जाएगा। कैवल्य के केन्द्र में पहुँचकर वहाँ सारशब्द को ग्रहण कर परमप्रभु परमात्मा तक पहुँच जाएगा। परम प्रभु परमात्मा को प्राप्त कर वह त्रयतापों से मुक्त हो जाएगा, आवागमन के चक्र से छूट जाएगा। इसलिए सभी संतों और सद्ग्रंथों ने नादानुसंधान की प्रशंसा मुक्त कंठ से की है।

संत कबीर साहब कहते हैं–

'शब्द गह्यो जीव संशय नाहीं, साहब भयो तेरो संग।'

तथा–

"साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि शब्द से प्रकट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै॥"

गुरु नानकदेवजी महाराज की वाणी में है–जिनको संत सद्गुरु मिल जाते हैं, उनका कार्य सिद्ध होता है। आंतरिक पाँच केन्द्रों पाँच केन्द्रीय नादों की अनुभूति होती है। ॐकार का ध्यान होता है, प्रभु की प्राप्ति होती है। 'पंच मिले पावे प्रभु सोय, नानक गुरु मिल्ये कार्यसिद्ध होय। पंच मिलहिं परिवार सिधार मूल ध्यान धर ओ ओंकार सतिगुरु मिले भउ भजन गाइय नानक अनहद शब्द समाये।'

भगवान शंकराचार्य ने मन के लय को सर्वोत्तम साधन नादानुसंधान अपने 'योगतारावलि' ग्रंथ में नीचे के श्लोकों में बताया है–

"सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधनानि वसन्ति लोके।
नादानुसंधानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्।
नादानुसंधान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णु पदे मनो मे॥"

"सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥"

"योग-शास्त्र के प्रवर्त्तक भगवान शिवजी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाए हैं, उन सबमें नादानुसंधान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानु-सन्धान! आपको नमस्कार है, आप परमपद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राण-वायु और मन, ये दोनों विष्णु के परम पद में लय हो जाएँगे। योग-साम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो, तो सब चिन्ताओं को छोड़कर सावधान हो एकाग्र मन से अनहद नादों को सुनो।"

नादानुसंधान के द्वारा किस प्रकार सर्वेश्वर की प्राप्ति होती है और आवागमन के चक्र से छूटा जाता है, हमारे पूज्य गुरुदेव की अनुभूत पूत वाणी इस प्रकार है–

"आगे शून्य समाधि, नाद ही नाद की।
लहै सन्त का दास, जाहि सुधि आदि की॥

मीठी मुरली सुनै सुरत के कान से।
अरे हाँ रे 'मैंहीं' बड़ा कौतुहल होइ,
ध्वनिन के ध्यान से ॥
सद्गुरु भेदी मिलै सैन, ध्वनि ध्यान बतावै।
अनुपम बदले नाहिं, शब्द सो सार कहावै ॥
सोहू ध्वनि हो लीन, अध्वनि में जाइके।
अरे हाँ रे 'मैंहीं' अध्वनि अशब्द अनाम,
सन्त कहैं गाइ के ॥
सार शब्द ध्वनि संग, सुरत हो अकह में लीनी।
अध्वनि अशब्द अनाम, परम पद गति की भीनी ॥
द्वैत द्वन्द्व सों रहित, सो प्रभु पद पाइके।
अरे हाँ रे 'मैंहीं' सुरत न लौटइ,
बहुरि न जन्मइ आइके ॥"

(शान्ति-सन्देश, दिसम्बर १९८८ ई०)

७३. संतमत का सत्संग

जिस फाटक से हमलोग प्रवेश करते हैं, वहाँ पर लिखा हुआ है कि यह संतमत का सत्संग है। संतमत के संबंध में गत कल संध्याकाल कह चुका हूँ। आज अभी संतमत के संबंध में सुनिए। सत्संग में दो शब्द है–सत् और संग। सत् क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीगीता में बतलाया है–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात् जो असत् है, उसका अस्तित्व नहीं है और सत् है, उसका कभी अभाव नहीं होता। जिज्ञासा होती है–यह सत् और असत् क्या है? जिसको सत् कहते हैं–वह था, है और रहेगा अर्थात् त्रयकाल-अबाधित तत्त्व को सत् कहते हैं। जो असत् है, वह हमलोगों को इन्द्रियगोचर है, वस्तुतः उसकी स्थिति नहीं है। जो कुछ भी दीख पड़ता है, सभी भासमान है, नाशवान है। जो कुछ इन्द्रियग्राह्य है, सभी चीजें विनाशशील हैं। संत कबीर साहब के शब्दों में हम कह सकेंगे–

अखण्ड साहिब का नाम, और सब खण्ड है।
खण्डित मेरु सुमेरु, खण्ड ब्रह्मण्ड है ॥

वह परम प्रभु परमात्मा और उसका नाम ही अखण्ड है, अनाशी है, अविनाशी है। उनके अतिरिक्त और जितने जो कुछ पिण्ड-ब्रह्मादि है, सब-के-सब नाशवान हैं, विनाशी हैं। जो संसार हम बाहर देख रहे हैं, उसी का छोटा रूप यह शरीर है। जितने तत्त्वों से यह संसार बना हुआ है, उतने ही तत्त्वों से यह शरीर बना हुआ है अर्थात् पाँच तत्त्व इस संसार में हैं, उसी तरह इस शरीर में भी वे ही पाँच तत्त्व हैं। (क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर) बाह्य संसार में तीन गुण काम कर रहे हैं, इस शरीर में भी तीन गुण काम करते हैं। तीन गुण–रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण अर्थात् उत्पादक शक्ति, पालक शक्ति और विनाशक शक्ति। संसार के जितने स्तर हैं, इस शरीर के भी उतने ही स्तर हैं। शरीर के जिस स्तर पर जब हम रहते हैं, संसार के भी उसी स्तर पर हम रहते हैं। शरीर के जिस स्तर को जब हम छोड़ते हैं, संसार के भी उसी स्तर को तब हम छोड़ते हैं। इस दृष्टि से यदि हम शरीर के सब स्तरों को पार कर जाएँ, तो संसार के भी सभी स्तरों को पार कर जाएँगे।

विचारणीय विषय यह है कि शरीर नाशवान है, लेकिन इस शरीर में रहनेवाला जीवात्मा अजर, अमर, अविनाशी है। जिस तरह इस शरीर का शरीर पर के वस्त्र से संबंध है, उसी तरह शरीरस्थ जीवात्मा का इस शरीर से संबंध है। जबसे हमलोगों ने जन्म धारण किया अर्थात् जबसे यह शरीर हमें मिला है, अबतक हमारी जितनी उम्र हो गयी, अबतक कितने कपड़े पहने हैं, कितने कपड़े फटे हैं, याद है किसी को? किसी को याद नहीं। अब भी शरीर का जीवन काल जितना बाकी है, उसमें भी कितने कपड़े पहनेंगे, कितने कपड़े फटेंगे, ठिकाना नहीं। उसी तरह एक जीव के जीवनकाल में कितने शरीर होते हैं और नष्ट होते चले जाते हैं, ठिकाना नहीं। जबसे सृष्टि है, जबसे सृष्टि में हम हैं अर्थात् जीवात्मा है, इसने कितने शरीरों को पहना है, कितने शरीरों को छोड़ा है, किसी को याद है? किसी को याद नहीं। अब भी जबतक यह जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त न कर ले, न मालूम कितने शरीरों को धारण करेगा और छोड़ेगा। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता,

अ० २, श्लोक २२ में कहते हैं–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय
जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।

जरा सोचकर देखिए। अभी हमारे शरीर पर जो वस्त्र हैं, वे कैसे हैं? हमारी जैसी कमाई है यानी कमाई के अनुरूप हमारे शरीर पर वस्त्र है। यदि भविष्य में कमाई अच्छी होगी, तो इससे भी अच्छे वस्त्र हम पहन सकते हैं। अगर घाटे की ओर चले गये, तो इससे कम कीमत के कपड़े पहनेंगे। उसी तरह चौरासी लाख योनियों में घूमते-घूमते, भटकते-भटकते यह सुन्दर मानव-शरीर मिला है यानी यह सुन्दर कपड़ा मिला है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने अपनी प्रजा को उपदेश दिया था–

आकर चारि लाख चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जीव अविनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

अकारण ही स्नेह करनेवाले ईश्वर ने हमको मनुष्य का शरीर दे दिया है। आज तो कृपा करके प्रभु ने हमको मनुष्य का शरीर दे दिया है। अगर हमारी अच्छी कमाई रही अर्थात् हमने भगवद्-भजन किया, तब तो इससे भी अच्छा शरीर हमको मिलेगा। अगर हमारी कमाई अच्छी नहीं रही अर्थात् भगवद् भजन नहीं किया, तो फिर संत कबीर साहब की वाणी चरितार्थ होगी–

कहै कबीर चेत अजहू नहिं, फिर चौरासी जाई।
पाय जनम कूकर सूकर को, भोगेगा दुख भाई॥

वह कूकर-सूकर शरीर भी मिलने को तैयार है। जैसे एक शरीर पर विविध कपड़े पहनते हैं और फटते हैं। उसी तरह एक जीव के जीवनकाल में विविध शरीर होते और नष्ट होते हैं। लेकिन हम स्वयं–'ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥' है। हम मरनेवाले नहीं हैं। हम तो अजर, अमर, अविनाशी स्वयं हैं। जिसका अंश अजर, अमर, अविनाशी है, उसका अंश कैसा होगा? वह भी तो अजर, अमर, अविनाशी होगा। उसका भी कभी विनाश नहीं होता है। उस अविनाशी परमात्मा से इस अविनाशी जीवात्मा का संग करा दीजिए। यह भी सत् है, वह भी सत् है। इस सत् का उस सत् से मिला दीजिए, यह असली सत्संग हो जाएगा। (श्रोतागण की ओर से श्रीसद्गुरु महाराज की जय-ध्वनि) हाथरस के संत तुलसी साहब ने लिखा है–

सत सुरत समझि सिहार साधौ,
निरखि नित नैनन रहौ।

इस सत् का उस सत् से संग होना सर्वोच्च श्रेणी का सत्संग है। लेकिन लोग जो पढ़ते हैं–प्रथम श्रेणी, दूसरी श्रेणी, तृतीय श्रेणी–क्रम-क्रम से बढ़ते जाते हैं। उसी तरह से वह तो सर्वोच्च श्रेणी है, पर उससे निम्न श्रेणी पहले और उसके बाद भी पहले निम्न श्रेणी चाहिए, तब क्रम-क्रम से उठेंगे। तो वह प्रथम श्रेणी का (सर्वोच्च श्रेणी का) सत्संग है, वह कैसे होगा? किन्तु यह 'सत्संग' सर्वप्रथम सुलभ नहीं है। सुलभ क्या है? जिन्होंने अपने जीवात्मा को परमात्मा से मिलाया है, वे सत् जन हैं–सज्जन हैं। ऐसे सज्जन का संग करें, यह द्वितीय श्रेणी का सत्संग है। यह द्वितीय श्रेणी का सत्संग सुलभ नहीं है; क्योंकि संतों की पहचान बहुत कठिन है। आज हम जिनकी बड़ाई सुनते हैं, आगे चलकर कल उनकी ही कुछ और सुनने लग जाते हैं। कुछ दिन पहले एक अखबार निकला था, उसमें आजकल के बहुत-से भगवानों के चित्र बने थे और नीचे लिखा हुआ था–हे भगवान्! कितने भगवान्?

आज जिनको हम संत-महात्मा कहकर उनके चरणों में सिर टेकते हैं, कल सुनने में आता है कि उनमें यह गंदगी है, तो हमारा विश्वास डगमगा जाता है। फिर वैसे संतों की खोज हम कहाँ करें? संसार में ऐसे संत नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है; लेकिन हमारे पास कोई मीटर नहीं है कि हम जाँच करके देख लें, ये ठीक संत हैं या नहीं? कोई मैट्रिक पास एम.ए. पास का इंटरव्यू लेगा, क्या यह संभव है? एम.ए. पास मैट्रिक पास का इंटरव्यू ले सकता

है; लेकिन मैट्रिक पास एम.ए. पास का इंटरव्यू नहीं ले सकता। उसी तरह हमारी जो अध्ययन-मनन की शक्ति है और जिन्होंने साधना की है, उनकी जो अनुभूति शक्ति है, हम कैसे जान सकते हैं? उनकी साधना-शक्ति के माप-दंड को हम कैसे नाप सकते हैं? इस ताल-तलैया में जिस लग्गी से हम नाव खेते हैं, उसी लग्गी से समुद्र के जहाज को खेना क्या संभव है? कभी नहीं हो सकता।

साधु-सन्तों की पहचान सामान्य बात नहीं है। और तो और, हम अपने संगी-साथी की पहचान नहीं कर सकते, जिनके साथ २४ घंटे रहते हैं। वर्षों से जो नौकर हमारे पास रह रहा है, उसकी पहचान हम नहीं कर सकते हैं। चाबी दे देते हैं, कहते हैं—इतने रुपये ले आओ, गिनकर इतने रुपये तिजोरी में रख दो। एक दिन वही नौकर रुपये लेकर चम्पत हो जाता है। तब हम कहते हैं—इतना विश्वासी नौकर था, हम तो कभी विश्वास नहीं कर सकते थे कि हमारे साथ वह ऐसा कर सकता है। जब एक नौकर को हम नहीं पहचान सकते हैं, जो हमारे अधीन २४ घंटे रहता है, तब जो एक संत हैं, महात्मा हैं, वे कहाँ तक पहुँचे हैं, उनकी गति कहाँ तक है, उनकी पहचान हम कैसे कर सकते हैं! ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक प्रश्नोदय होता है, सच्चे संत की पहचान कैसे की जाए? यदि उनकी पहचान नहीं हो, तो उनके अभाव में सत्संग कैसे हो? उत्तर में निवेदन है—जिन संतों पर आजतक किसी ने ऊँगली नहीं उठाई है, जो सर्वमान्य है अर्थात् जिनको संतों की दृष्टि से पूर्व से अबतक सभी देखते चले आ रहे हैं, भले ही वे संत आज इस जगती-तल पर नहीं हो; किन्तु उन संतों की वाणियाँ तो हैं, वे सत् वाणी हैं। उन संतों की वाणियों का संग करें, यह भी सत्संग है। यह तीसरी श्रेणी का सत्संग है। अगर सच्चे संत मिल जाएँ, तब तो कहना ही क्या, हमारा अहोभाग्य है। महोपनिषद् में लिखा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

अर्थात् उस परे-से-परे (ब्रह्म) को देख लेने पर हृदय की ग्रंथि (गिरह-गाँठ) टूट जाती है, सभी संशय छिन्न हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। इन विभूतियों से विभूषित होते हैं—संत (ऋषि)। उपनिषद् में आया—जिनके हृदय की ग्रंथि विच्छिन्न हो गयी हो। यह हृदय की ग्रंथि कौन-सी है? इस संदर्भ में गो० तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस में कहा है—

जड़ चेतनहिं ग्रंथि पड़ि गई।
यद्यपि मृषा छूटत कठिनई॥

इस जड़-चेतन की ग्रंथि को जिन्होंने खोल डाला है। जड़ और चेतन की ग्रंथि को खोलने से क्या मिलता है? यदि किन्हीं ने खोल ही डाला, तो उनको क्या मिला? हमलोग जब गाँठ देते हैं, तो गाँठ में कुछ रखते हैं। जब गाँठ को खोलते हैं, उसमें जो कुछ माल रहता है, वह मिलता है। क्या माल मिलता है? संत कबीर साहब ने कहा है—

लाल लाल जो सब कोइ कहै, सबकी गाँठी लाल।
गाँठी खोलि के परखै नाहीं, तासों भये कंगाल॥

वह कौन-सा लाल है? परमात्मारूपी लाल है। उस लाल को जो कोई पा लेता है, वह मालोमाल हो जाता है, तब वह कंगाल नहीं रहता है। उसका जीवन निहाल हो जाता है और काल की दाल उसपर नहीं गलती। परमात्मा को प्राप्त किये हुए परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं। गोस्वामीजी के शब्दों में—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥

उस ब्रह्म को प्राप्त करनेवाले ब्रह्म ही हो जाते हैं। ऐसे संतों का जो संग है, वही द्वितीय श्रेणी का सत्संग कहलाता है। इस दृष्टि से सबसे ऊँचे दर्जे का सत्संग हुआ—जीव और पीव का मिलन। दूसरे दर्जे का सत्संग हुआ—संतों का संग और तीसरे दर्जे का सत्संग हुआ—संतवाणी का संग। अभी जिस सत्संग के नाम पर हमलोग यहाँ एकत्र हुए हैं, यह कौन-सा सत्संग है? ईश्वर का संग तो है नहीं। वैसे पहुँचे हुए सच्चे संत भी यहाँ उपस्थित नहीं हैं। तब संतों की जो सत् वाणी है, उसको सुनने के लिए हमलोग यत्र-तत्र से यहाँ एकत्र हुए हैं। इसकी भी बड़ी महिमा है। संत वाणी का संग करके जो उसे आचरण में उतारते हैं, उनका कल्याण होता है। अकल्याण कभी होता नहीं, क्यों? सुनिए—

संत वचन वह सुधा देव भी जिसके सदा भिखारी।
संत वचन वह धन जिसका है नर प्रधान अधिकारी॥

मर्त्य अमर बन जाता जिससे वह संजीवन रज है ।
संत वचन सब भव रोगों का रामवाण भेषज है ।।
वेद शास्त्र अनुभूति तपस्या का जिसमें संचय है ।
संतों का वर वरद वचन यह मंगलमय निर्भय है ।।
क्यों बैठा कर्तव्यमूढ़ नर बन चिन्ता का वाहन।
संत वचन के सुधा सिन्धु में कर सन्तत अवगाहन।।

यदि संतवचन में अवगाहन करोगे, तो परिणाम क्या होगा?

दूर असत से कर सतपथ की ओर लगाने वाला।
और मृत्यु से हटा अमरता तक पहुँचाने वाला।।
तम से परे ज्योति के जग में होता जो जगमग है।
सच्चिन्मय उस परम धाम का संत वचन शुचि मग है।।
कौन बताये संतों की वाणी में कितना बल है।
दासी सुत देवर्षि बन गया जीवन हुआ सफल है।।
उसी संत के प्रवचन ने यह चमत्कार दिखलाया।
दैत्यवंश में देवोपम प्रह्लाद प्रगट हो आया।।
अगणित बार संतवाणी ने निज प्रभाव प्रगटाया।
मान उसे बालक ध्रुव ने हरि का पद पाया।।
एक लुटेरा था जो मन से मान संत की वाणी।
वाल्मीकि बन गया आदि कवि भुवन विदित विज्ञानी।।

यह संतवाणी का ओज है। संतों का संग, संत-वाणी का संग कुसंग को हटाता है, सत्संग का संग कराता है। आप जानते हैं कि जब रेलगाड़ी चलते-चलते, उसका इंजन लौह-लीक से नीचे उतर जाता है, तब सैकड़ों आदमी मिलकर भी उसको उठाकर लौह-लीक पर नहीं रख सकते। लेकिन एक क्रेन आता है, उस इंजन को उठाकर लौह-लीक पर रख देता है, पुनः पूर्ववत् गाड़ी चलने लग जाती है। इसी तरह कोई पतित-से-पतित आदमी क्यों न हो, यदि वह संतों का संग करता है, संत वाणी का संग करता है, तो वह ठीक लीक पर यानी सही राह पर चला आता है। जबतक संतों का संग नहीं करता, तबतक लीक पर आने की संभावना नहीं। संत जन सन्मार्ग पर चलने के लिए सिखलाते हैं, संत-वाणी सन्मार्ग दिखलाती है। इसीलिए संत वाणी की, सत्संग की आवश्यकता है। यह सत्संग है क्या? गो० तुलसीदासजी महाराज विनय-पत्रिका में लिखते हैं—

देहि सत्संग निज अंग श्रीरंग,
भवभंग कारण शरण शोकहारी ।।

अर्थात् सत्संग प्रभु श्रीरंग का निज अंग है, भव-भंग का कारण तथा शरण-शोकहारी है।

एक लघु कथा सुनिए—सीता-हरण हो चुका था। भगवान् श्रीराम ससैन्य समुद्र किनारे पहुँच चुके थे। पुल बनवा रहे थे। नल-नील मुख्य कारीगर थे। बंदर, भालूगण वृक्ष, पत्थर, पहाड़ आदि ला-लाकर उनको देते थे और वे (नल-नील) अपने हाथ में लेते और पानी पर रख देते थे। जैसे ही वे पानी पर रखते थे, वह पत्थर, पहाड़ वा वृक्ष पानी पर ज्यों-का-त्यों ठहर जाता था, नीचे डूबता नहीं था। बंदर-भालुओं को यह देखकर बड़ कौतुहल हुआ। वे दौड़कर भगवान् श्रीराम के पास गये और हाथ जोड़कर बोले—भगवन्! बड़ा आश्चर्य है! हमलोग बड़े-बड़े पहाड़ ला-लाकर नल-नील को देते हैं, वे पानी पर रखते हैं, पहाड़ नीचे डूबता नहीं है, पानी पर ही रह जाता है। भगवान् भी तो बड़े कौतुहली होते हैं! वे भक्तों के कौतुहल को बढ़ाने के लिए अनजान-से पूछते हैं—क्या यह बात सच है? कपियों ने कहा—हाँ, भगवन्! बिल्कुल सच है। चलिये न, हमलोग दिखलाते हैं। भक्तों की बात मान भगवान् चलते हैं। वहाँ पहुँचकर देखते हैं कि बंदर-भालू नल-नील को पहाड़ आदि देते हैं, वे हाथ में लेकर पानी पर रख देते हैं। वृक्ष, पहाड़ आदि पानी पर तैरने लगते हैं, ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं, डूबते नहीं। भगवान् ने पूछा—नल-नील! इतने वजन के पहाड़ आदि तुम पानी पर रखते हो, फिर भी पानी पर तैरते हैं, किस कारण से डूबते नहीं? उन्होंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—भगवन्! यह तो आपकी महिमा है। आपकी महिमा से ही पत्थर पानी पर तैरते हैं, नहीं तो कहीं पानी पर पत्थर तैरता! भगवान् ने कहा—यदि मेरी ही महिमा से पानी पर पत्थर तैरता है, तो मैं जिस पत्थर को पानी पर रखूँगा, उसको नहीं डूबना चाहिए? नल-नील ने कहा—भगवन्! हाथ कंगन को आरसी क्या? एक पत्थर रखकर देख लिया जाए। एक कपि ने पत्थर का एक टुकड़ा भगवान के हाथ में दिया। उन्होंने उस टुकड़े को पानी पर छोड़ा, तो वह गड़-गड़ाकर पानी के नीचे चला गया। भगवान ने कहा—नल-नील! तुमलोग कह रहे थे—मेरी महिमा से पानी पर पत्थर तैरता है, तो मेरे हाथ का छोड़ा हुआ पत्थर पाताल कैसे

चला गया? नल-नील ने हाथ जोड़कर कहा—भगवन्! यह तो जड़ पत्थर है। आपके हाथ से यदि ब्रह्मा भी छूट जाए, तो किस रसातल को चला जाए, ठिकाना नहीं। (श्रोतागण की ओर से जयकार की ध्वनि)

इसलिए सत्संग जो कि भगवान् का निज अंग है, उसको छोड़कर जो रहेगा, अलग होकर रहेगा, उसकी क्या दुर्दशा होगी, ठिकाना नहीं।

बहुत वर्षों की बात है। हमारे गुरुदेव सत्संग प्रचार के लिए यात्रा कर रहे थे। देहात से आते-आते बाराहाट रलेवे स्टेशन जो कि भागलपुर (अब बाँका) जिले में पड़ता है, पहुँचे। गाड़ी आने में देर थी। स्टेशन पर बहुत-से लोग बैठे हुए थे। ट्रेन आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ श्रद्धालु सज्जन हमारे गुरुदेव को देखकर नजदीक आकर प्रणाम करके बैठ गये। इन लोगों ने गुरुदेव से कहा—महाराज! सुनते हैं आप सत्संग-प्रचार करते हैं। सत्संग से क्या लाभ होता है, हमलोग सुनना चाहते हैं। यदि कुछ प्रकाश डाला जाए, तो बड़ी कृपा होती। हमारे गुरुदेव बड़े सीधे सरल शब्दों में बात करते थे। उन्होंने पूछने की कृपा की—आपलोग क्या चाहते हैं? कहिए। उनलोगों ने कहा—हमलोग तो घर-गृहस्थी वाले आदमी हैं, चाहना का ठिकाना नहीं? कितनी चाहनाएँ हमलोगों को है, क्या कहा जाए। गुरुदेवजी बोले—आपलोग पढ़े-लिखे सज्जन हैं, चाहनाओं को समेटकर समास रूप में बतलाइए। परमाराध्यदेव की वाणी सुनकर वे लोग चुप हो गये। अहैतुकी अनुकम्पा करनेवाले हमारे गुरुदेव बोले—अच्छा, यदि आपलोग कुछ नहीं बोलते हैं, तो मुझसे ही सुनिए और जो पूछता हूँ, उसका अपने विचारानुकूल उत्तर दीजिए।

'आप सुबुद्धि चाहते हैं या कुबुद्धि?' उनलोगों ने एक स्वर से कहा—सुबुद्धि चाहते हैं। गुरुदेव—जबतक आप संसार में जीवित रहें, खायें-पियें, ऐश आराम करें, मौज से रहें और शरीर छूटने के बाद आप शुभगति चाहते हैं या दुर्गति? उनलोगों ने कहा—शुभगति चाहते हैं। 'संसार में आपलोग ऐश्वर्यवान होकर रहना चाहते हैं या दीन-हीन, कंगाल होकर?' उनलोगों ने कहा—ऐश्वर्यवान होकर रहना चाहते हैं। गुरुदेव ने पुनः पूछने की कृपा की—संसार में आप अपनी भलाई चाहते हैं या बुराई? उनलोगों ने कहा—भलाई। गुरुदेव बोले—देखिए, गो० तुलसीदासजी महाराज ने पहले ही लिख दिये हैं—

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ॥

अगर ये पाँचों चीजें मिल जाएँ, तो और छठी क्या चीज चाहिए? उनलोगों ने कहा—महाराज! तब तो सब पूरा हो गया। गुरुदेव बोले—तो समझिए, सत्संग से अच्छी-अच्छी चीजें मिलती हैं। इसलिए सबको सत्संग करना चाहिए। गो० तुलसीदासजी महाराज ने लिखा है—

सठ सुधरहिं सत्संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥

यह सत्संग क्या है? सत्संग ही संतों के दर्शन कराता है। संतों के दर्शन हो जाने पर वे ही सत्यस्वरूप सर्वेश्वर यानी परम प्रभु परमात्मा के दर्शन कराते हैं। यह माध्यम है। चाहे कितना भी हम पढ़ लें, कितने ही बड़े विद्वान हो जाएँ; लेकिन चरित्रवान होना एक दूसरी बात है।

एक अच्छे विद्वान् थे। शायद आपलोगों ने सुना होगा, उनका नाम था—भिक्षु जगदीश काश्यप। वे बौद्ध जगत् के एक सुप्रतिष्ठित महात्मा थे। हमलोगों के भूतपूर्व प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरूजी जब बौद्ध देशों में जाते थे, तो वे उनको साथ ले जाते थे। काश्यपजी ने जब गुरु महाराजजी की शरण ग्रहण कर दीक्षा ली, तो एक दिन गुरुदेव के निकट बैठे थे। विद्वान् और चरित्रवान के संदर्भ में चर्चा चल रही थी। हमारे गुरुदेव बोले—

पढ़ना गुनना चातुरी, यह तो बात सहल।
काम दहन मन वश करन, गगन चढ़न मुश्कल ॥

यह सुनकर वे जैसे चौंक उठे और उन्होंने जिज्ञासा की—किनकी वाणी है महाराज! गुरुदेव ने कहा—संत कबीर साहब की। काश्यपजी ने उस साखी को पुनः दुहराने की प्रार्थना की। हमारे गुरुदेव ने उन पंक्तियों को दुहराने की कृपा की। काश्यपजी ने कहा—महाराज! अक्षरशः सत्य है। वास्तव में काम दहन, मन वशकरण और अंतर्गगन आरोहण आसान काम नहीं है। एक कथा है—

श्रीव्यासदेवजी श्रीमद्भागवत लिखते थे और उनके शिष्य जैमिनी जी उसको देखते जाते थे। ये बड़े विद्वान् थे। मीमांसा के आचार्य थे। श्रीमद्भागवत में व्यासेदवजी ने लिखा था—'बलवान इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।' अर्थात् इन्द्रियाँ इतनी बलवती होती हैं कि वह विद्वानों को भी आकर्षित कर लेती हैं। यह पढ़कर जैमिनीजी ने कहा—गुरुदेव! यह पंक्ति ठीक नहीं जँचती है। इसको ठीक से पुनः देख लिया जाए। यहाँ तो ऐसा होना चाहिए—'बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसनापि कर्षति।' अर्थात् इन्द्रियग्राम विद्वानों को आकर्षित नहीं कर सकता।

वेदव्यासजी ने मन में सोचा, केवल वचन द्वारा समझाने पर मेरी बात स्वीकार नहीं करेंगे। इसलिए उन्होंने एक लीला की। कहा—अच्छा, मैं थोड़ा घूमकर आता हूँ। तुम यहाँ बैठो। इतना कहकर व्यासदेवजी चले गये। वेदव्यासजी ने माया रची। जोरों की आँधी-तूफान ले आये। होता क्या है—एक षोडशी, जो कि देखने में बहुत सुंदर थी, वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर, वर्षा-पानी में भींगती हुई वहाँ आती है। जैमिनीजी ने कहा—तुम यहाँ क्यों भींग रही हो! भीतर चली आओ। उसने कहा—पुरुषों पर मुझे विश्वास नहीं होता। जैमिनीजी ने कहा—मेरे जैसे पुरुष पर भी! जानती हो, मैं कितना बड़ा विद्वान् हूँ। मीमांसा का आचार्य हूँ। श्रीवेदव्यासजी के लिखे महापुराणों को पढ़-पढ़कर ठीक कर रहा हूँ। चली आओ। वह भीतर चली आती है।

काम ने किसको बदनाम नहीं किया। उस युवती के सौंदर्य को देखकर इन्द्रियाँ बलवती हो उठीं, इन्होंने अपनी दुर्बलता उसके सामने रखी। उस युवती ने कहा—अवश्य ही मेरी अभी शादी नहीं हुई है, मैं आपसे शादी कर लूँगी। मेरा अहोभाग्य है! आप जैसे विद्वान्, इतने बड़े तपस्वी के साथ मेरा विवाह होगा। लेकिन मेरे कुल की एक रीति है, यदि आप उसका पालन कीजिए, तो मैं आपसे शादी करने के लिए तैयार हूँ। जैमिनीजी ने जिज्ञासा की—तुम्हारे कुल की क्या रीति है? युवती बोली—हमारे कुल की रीति यह है कि जिस लड़के के साथ लड़की का विवाह होता है, उसको घोड़ा बनना पड़ता है और लड़की उसके मुँह में लगाम लगाकर उस घोड़े पर सवार होती है। इसी तरह से दोनों ही देव-मंदिर जाकर देवता को प्रणाम करते हैं। इस प्रकार शादी होती है। आप घोड़ा बनिए। मैं लगाम लगाऊँगी। आपके ऊपर चढ़कर देवमंदिर जाऊँगी, देवी को प्रणाम करके लौटूँगी, फिर शादी हो जाएगी। जैमिनीजी ने देखा, यहाँ कोई नहीं है। सोचा, थोड़ी देर के लिए घोड़ा बन ही जाऊँ, तो क्या हर्ज है! शादी तो हो जाएगी। इधर-उधर देखकर वे घोड़ा की तरह बन गये। वह लड़की लगाम लगाकर उसकी पीठ पर बैठ गयी और चली देव-मंदिर दर्शन करने के लिए। वहाँ पहुँचने पर देखते हैं कि पहले से ही उस बरामदे पर वेदव्यासजी बैठे हुए हैं। व्यासदेवजी ने पूछा—कहो जैमिनी! कहाँ जा रहे हो? तुम्हारी बात ठीक है या मेरी बात? लज्जा के मारे जैमिनीजी सिर झुका लिये और दबी जबान में कहते हैं—गुरुदेव! आपही का वचन ठीक है। इस कथा का तात्पर्य क्या हुआ? कोई कितना बड़ा विद्वान् क्यों न हो जाए; लेकिन उसके पास कोई हथियार नहीं है कि वह विकार को काटकर निकल सके। विकार को काटने के लिए साधना है। जबतक कोई अंतस्साधना नहीं करेगा, आत्मस्वरूप की पहचान नहीं होगी, स्वरूप-ज्ञान विहीन मन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता और मन पर विजय प्राप्त किये बिना वह षट् विकारों का शिकार होता रहेगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीगीता २/५९ में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

अर्थात् यद्यपि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परन्तु राग नहीं निवृत्त होता और इस पुरुष का तो राग भी परमात्मा को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है। किसी सुभाषितकार ने कितना अच्छा कहा है—

पढ़े छहो शास्त्र और अठारहो पुराण पढ़े,
वेद उपवेद आदि अन्त कोउ छाना है।
गीता रामायण श्रुति स्मृति पढ़े,
सांख्य योग न्याय आदि दर्शन भी जाना है।
जाना है बनाना छन्द सोरठा चौपाई को,
जाना है ध्रुपद राग भैरवी का गाना है।
इतना जो जाना सब खाक धूर छाना है,

जाना है सोई जिन आतम पिछाना है।।

जबतक कोई आत्मा की पहचान नहीं कर ले, उस ओर अग्रसर नहीं हो, तबतक उसको आत्मबल कहाँ से मिलेगा? उसकी आत्मा बलवती कैसे हो सकती है? जैसे जबतक कोई व्यायाम नहीं करे, उसका शरीर बलवान कैसे हो सकता है? दूध-दही, हलुआ, पूड़ी, टिकड़ी, बर्फी, पिस्ता, अखरोट आदि पौष्टिक भोजन कोई कर ले, तो बलवान हो जाएगा? अरे, उसको पचाने के लिए तो कुछ करना ही पड़ेगा। दंड-बैठक कीजिए, व्यायाम कीजिए या अन्य किसी प्रकार का शारीरिक श्रम कीजिए, तब शरीर में बल आएगा। उसी तरह साधना है। मन की गति कहाँ-कहाँ है, यह कहाँ-कहाँ जाता है, कोई ठिकाना नहीं। इस मन को रोकने के लिए आपके पास क्या कोई उपाय है? कैसे रोकिएगा इसको?

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ् स्वाम्॥
—कठोपनिषद्

यह आत्मा वेदाध्ययन-द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणा-शक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। भगवान श्रीराम ने श्रीहनुमानजी से कहा था—

उपविश्योपविश्यैकां चिन्तकेन मुहुर्मुहुः।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्॥
—मुक्तिकोपनिषद्

अर्थात् पुनः पुनः एकान्त में बैठने पर भी बिना सत् युक्ति के कोई भी मनोजय करने में समर्थ नहीं हो सकता। मैं नहीं कहता, उपनिषद् कहती है—एकांत में तुम घंटों बैठे रहो, दिन-रात बैठे रहो। लेकिन जबतक तुम्हारे पास संतों की सद्युक्ति नहीं है, मन को किसी प्रकार काबू नहीं कर सकते। वह युक्ति क्या है? मन जीतने की युक्ति भगवान् श्रीराम ने हनुमानजी को बतलाई थी। इस संदर्भ में मुझे एक प्रसंग स्मरण हो आया है। सुनिए, जब समुद्र के किनारे सीताजी की खोज में बंदर-भालू सब इकट्ठे हुए, तो सबके सामने एक समस्या पैदा हो गयी कि जबतक कोई सौ योजन समुद्र लंघन नहीं करेगा, सीता की खोज नहीं हो सकती। अतएव सब कोई अपना-अपना बल बतलावें कि वे कितना लाँघ सकते हैं? इसपर सब कोई अपना-अपना बल-पराक्रम बतलाने लगे। क्रम-क्रम से १०, २०, ५०, ९५ योजन तक बोल गये; लेकिन सौ योजन सागर पार करनेवाले कोई नहीं हो सके। तब अंगद ने कहा—'मैं सागर के उस पार तो जा सकता हूँ; लेकिन उधर से लौटने में सन्देह है।' अंगद ने संशयात्मक बात क्यों कही, यह विचारणीय विषय है। एक तो अंगद के पिता बालि से रावण की मैत्री थी। मैत्री होने के नाते रावण उसके पितातुल्य थे। इसलिए शिष्टाचार के नाते रावण के समक्ष अंगद अपना विचार रख सकता था, न कि दबाव डाल सकता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति होने की संभावना नहीं देखकर भी वह जाना नहीं चाहता था। दूसरी बात यह कि—एक मुनि ने अंगद को शाप दिया था कि जिस जल का वह एक बार उल्लंघन करेगा, पुनः दूसरी बार नहीं कर सकता। तीसरी बात—गुरुकुल में पढ़ते समय एक दिन अंगद ने अकारण ही अक्षय कुमार को बहुत पीटा था। आचार्य ने शाप दिया कि तुमने निर्दोष को दुःख दिया है, इसलिए उसके एक घूँसे से तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। चौथी बात यह कि लंकापुरी त्रैलोक्य सुन्दरी की नगरी थी। अंगद नवयुवक था, युवराज था—कामदहन, मन वशकरण और अंतराकाश-गमन की युक्ति नहीं जानता था। इसलिए लंका जाकर वहाँ से आने में संदेह था। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने निर्मल मन सेवक पवनसुत को यह सद्युक्ति बतलायी थी, जिससे निर्भीक होकर वह लंका गया और राम-काम संपादन कर सकुशल लौट गया। वह युक्ति क्या थी—

एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः॥

अर्थात् हे हनुमान्! जबतक मन नहीं जीता गया हो, तबतक एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास करो, तन-मन वश में होगा। जिस प्रकार हेमन्तकाल में कमल गलकर समाप्त हो जाता है, उसी तरह एक तत्त्व के दृढ़ाभ्यास करने से भोग-वासना समाप्त हो जाती है।

भगवान श्रीराम ने हनुमान्‌जी को मनोजय करने का जो यत्न बतलाया था, वही युक्ति हमारे गुरुदेव ने हमलोगों को बतलायी है। हम साधना करें वा न करें, यह दूसरी बात है। अरे! हमें डकैत का,

चोर का, बदमाश का डर होता है, तो हम राज्य सरकार से पिस्तौल लेकर अपने घर में रखते हैं। जब हमारे घर में चोर-डकैत आवे, उस समय हम पिस्तौल का प्रयोग न करें, तो इसमें सरकार का क्या दोष? चोर-बदमाश हमें सताते रहेंगे। इसी भाँति संत सद्गुरु से हमने युक्ति तो ले ली; किन्तु साधना नहीं की। परिणाम क्या होगा? काम-क्रोध आदिक विकार हमें सतायेंगे ही। एक तत्त्व क्या है? विन्दु है। ज्योतिर्मय विन्दु का ध्यान परम ध्यान है। तेजोविन्दूपनिषद् में लिखा है–

तेजोविन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम्।

आज के दिन कुछ लोग दीपक जलाकर उसकी ज्योति का ध्यान करते हैं। कोई-कोई मोमबत्ती जलाकर उसका ध्यान करते हैं। कोई आँखों को जोर से दबाने पर जो ज्योति मालूम पड़ती है, उसका ध्यान करते हैं। कोई कल्पना करते हैं कि उनके गुरु से या इष्ट से ज्योति आ रही है, उस ज्योति का ध्यान करते हैं। लेकिन ये सारे के सारे काल्पनिक ज्योति-ध्यान हैं, वास्तविक ज्योति आपके अंदर है, उस ज्योति को जगाइए। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय......' को रटते-रटते जीभ मोटी हो जाए; लेकिन कभी उस चोटी पर नहीं पहुँचेंगे, जहाँ पर ज्योति के दर्शन होते हैं। जरा हृदय पर हथेली रखकर सोचिए–आजतक बहुत-से मंत्रों का पाठ किया, किन्तु क्या कभी ज्योति के दर्शन हुए? ज्योति-दर्शन कैसे होते हैं, इसका सही भेद जानिए। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने लिखा है कि भगवान् श्रीराम ने अपनी प्रजा को स्वर्गसुख की स्वल्पता, नरतन की दुर्लभता, क्षणभंगुरता तथा उपादेयता का उपदेश करते हुए अंत में कहा था–

औरउ एक गुपुत मत, सबहिं कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि॥

एक बहुत बड़े रामायणी पंडितजी भागलपुर शहर में आये थे। वे घूमते-घूमते कुप्पाघाट आश्रम आ गये। अपना परिचय देते हुए उन्होंने बतलाया कि वे रामायण बाँचने के लिए वहाँ आये थे। मैंने कहा–'बड़ी कृपा की महाराज, आपने दर्शन देने की। कहिए, आपकी क्या सेवा की जाए?' उन्होंने कहा–'नहीं, ऐसे ही देखने के लिए आ गया।' मैंने पूछा–'आप तो रामायण-पारायण करते-करते उसमें पारंगत हो गये होंगे?' उन्होंने गर्व से उत्तर दिया–'हाँ, आप रामायण में जहाँ से जो कुछ पूछना चाहें, पूछ सकते हैं।' मैंने पूछा–'भगवान श्रीराम ने अपनी प्रजा को 'गुप्त मत' बतलाया था, वह क्या था?' उन्होंने उत्तर दिया–'हाँ-हाँ, यह तो रामचरितमानस के उत्तरकांड में है–'औरउ एक गुपुत मत'। मैंने कहा–'पंडितजी! यदि आप इसका अर्थ भी बतला देते, तो बड़ा अच्छा होता।' उन्होंने कहा–'हाँ, सुनिए, भगवान् श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम थे। सबकी मर्यादा रखते थे। इसीलिए नम्रतापूर्वक प्रजा के सामने उन्होंने हाथ जोड़कर कहा है–मैं एक गुप्त बतला रहा हूँ कि शंकर-भजन किये बिना कोई भी मेरी भक्ति नहीं पा सकता।' मैंने कहा–पंडितजी! तब तो इसका अर्थ यह है कि जो शंकर के भक्त नहीं होंगे, वे राम के भक्त नहीं हो सकते?' उन्होंने कहा–'हाँ, राम-भक्त बनने के लिए शंकर-भक्त तो बनना ही पड़ेगा।' मैंने कहा–'आप श्रीलक्ष्मणजी, बालिपुत्र अंगदजी, श्रीहनुमानजी को राम के भक्त मानते हैं? पंडितजी ने कहा–हाँ, क्यों नहीं, ये सब के सब राम के भक्त थे।' मैंने कहा–'इन लोगों ने तो लंका में जाकर रावण और मेघनाद को शंकर की चुनौती दी। यथा–

संकर सहस विस्नु अज तोही।
सकहिं ना राखि राम कर द्रोही॥
जौं सत संकर करै सहाई।
तौ तोहि मारउँ राम दोहाई॥

इस प्रकार भगवान शंकर को चुनौती देनेवाले भगवान श्रीराम के भक्त कैसे हो गये? और तो और, भगवान श्रीराम ने स्वयं शंकर को चुनौती दी है, यह कैसी बात हुई? यथा–

सुनु सुग्रीव मारिहऊँ, बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत, गएँ न उबरिहिं प्रान॥

यह सुनकर पंडितजी का माथा चकराया। उन्होंने कहा–'हाँ, यह तो समझने की बात है।' मैंने कहा–'समझा दीजिए मुझको।' उन्होंने कहा–'इस पर मैंने मनन नहीं किया है। आपही प्रकाश डालने की कृपा करें।' मैंने कहा–'भगवान शंकर की बाह्य पूजा संसार में विदित है; लेकिन गुप्त मत क्या है? भगवान श्रीराम ने जो 'कर जोरि' शब्द का प्रयोग

किया है, यहाँ 'कर' का अर्थ 'हाथ' नहीं, 'किरण' है। रामचरितमानस के आरंभ में गुरु-वंदना करते हुए गो० तुलसीदासजी ने 'कर' शब्द का व्यवहार 'किरण' के लिए ही किया है। यथा–'बन्दौं गुरुपद पंकज सेवा.......कर निकर।' तथा विनय-पत्रिका में भी 'रविकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप ता माहीं...।' इस प्रकार भगवान श्रीराम ने 'कर' शब्द का प्रयोग करके दृष्टि की युगल किरणों के मिलन का संकेत किया है। युगल नेत्रों की धाराओं के मिलन से तीसरी आँख खुलती है। भगवान शंकर ने यह भजन किया था। इसलिए भी इसको 'शंकर-भजन' कहा गया है। दूसरी बात–गोस्वामी तुसलीदास जी ने रामचरितमानस में तालव्य 'श' और दन्त्य 'स' में अंतर नहीं रखा है। यदि दन्त्य 'स' के ऊपर अनुस्वार देकर 'संकर' लिखते हैं, तो संकर शब्द का अर्थ क्या होता है–दो जातियों के मेल से जो संतान उत्पन्न होती है, उसको वर्णसंकर कहते हैं। यहाँ दो जातियों का मेल क्या है? दोनों तो एक ही जाति मानव हैं। स्त्री भी मानव जाति और पुरुष भी मानव जाति। लेकिन वर्णभेद के अनुसार जाति में अंतर है। इसी तरह संकर-भजन में दो जातियों का वर्णभेद है। एक बंगाली महात्माजी का वचन सुनिए–

बायें इड़ा नाड़ी दक्षिणे पिंगला
रजस्तमोगुणे करिते छे खेला।
मध्य सत्त्वगुणे सुषुम्ना विमला,
धरऽ धरऽ ताँर सादरे ॥

इन दोनों इड़ा-पिंगला को मिलाओ। यद्यपि ये दोनों ही चेतन-धाराएँ हैं, फिर भी एक रजोगुणी और दूसरी तमोगुणी धारा है। एक निगेटिव है और दूसरी पोजिटिव। एक शीत धार है, दूसरी उष्ण धार। गुरु नानकदेवजी महाराज की वाणी में हम कह सकेंगे–

दिन महि रैणि रैणि महि दीनी
अरु उसन सीत विधि सोई॥

इन शीत और उष्ण धार को मिलाओ, यह शंकर-भजन है। शीत और उष्ण धार दोनों के मिलन से क्या होगा? बल्ब जलेगा? अंतःप्रकाश होगा, विमल ज्ञान का विकास होगा और विषय-वासना का विनाश होगा। इसी दिशा की ओर इंगित करते हुए गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में लिखा है–

तब सिव तीसर नयन उघारा।
चितवत काम भयेउ जरि छारा॥

तीन आँखें हमें भी हैं और तीन आँखें शिवजी को भी। अंतर इतना ही है कि शिवजी ने उसका प्रथम उद्घाटन किया था, इसलिए उसका नाम पड़ा 'शिवनेत्र'। हमलोग भी शिवजी की संतान हैं। हमलोग भी उसका उद्घाटन करें। जब यह तीसरी आँखें खुलती हैं, तभी 'चितवत काम भयेउ जरि छारा' होता है। आँख की निस्बत प्रभु ईसामसीह ने बाइबिल में कहा है–यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सारा शरीर उजियाला होगा। दोनों आँखों की धारों को मिलाना ज्योति जलाने की कला है। जबतक अंतः प्रकाश की प्राप्ति नहीं होगी, स्वप्न में भी सुख नहीं मिलेगा। चाहे कितना भी ऊँचे-से-ऊँचा पद पा लो, कितनी भी प्रतिष्ठा पा लो; किन्तु शान्ति नहीं मिलेगी, सुख नहीं मिलेगा।

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास
अरु विषय आस मन माहीं।
तुलसिदास जब लगि जग जोनि,
भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं ॥

यह प्रकाश कहाँ मिलेगा और इसके प्राप्त होने से अन्य क्या लाभ है, गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में सुनिए–

जब ते राम प्रताप खगेसा।
उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका।
बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका ॥
जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी।
प्रथम अबिद्या निसा नसानी ॥
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने।
काम क्रोध कैरव सकुचाने ॥
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ।
ए चकोर सुख लहहिं न काऊ ॥
मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥
धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना।
ए पंकज बिकसे बिधि नाना ॥
सुख सन्तोष बिराग बिबेका।
बिगत सोक ए कोक अनेका ॥
यह प्रताप रबि जाकें, उर जब करइ प्रकास।

पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास ॥

जैसे दीपक के प्रकाश में फतिंगे जा-जाकर जलकर मर जाते हैं, उसी तरह अंदर के प्रकाश में सभी विकार जल-जलकर विनाश हो जाएँगे। आवश्यकता है अपने अंतःप्रकाश को पाने की। प्रकाश करने का यत्न क्या है, गुरु से जानो। नहीं तो भटकते रहोगे।

बिन दया संतन की मैंहीं जानना इस राह को ।
हुआ नहीं होता नहीं वो होनहारा है नहीं ॥
(महर्षि मैंहीं-पदावली)

एक तो अंतर्ज्योति की बात जानो और दूसरी अंतर्नाद की। संत चरणदासजी महाराज अंतर्नाद की महिमा इस भाँति गाते हैं–

जब से अनहद घोर सुनी।
इन्द्रिय थकित गलित मन हूआ आशा सकल भुनी ॥

अंतर्नाद की साधना से इन्द्रियाँ थक जाएँगी, मन गल जाएगा। विचारणीय विषय है कि इन्द्रियाँ विषयों में कैसे जाती हैं? मन की प्रेरणा से। जब नाद साधना से मन गल जाएगा, तब इन्द्रियों की विषयों में प्रेरित कौन करेगा? इस प्रकार अंतर्नाद की साधना से मन वशीभूत होता है और इन्द्रियों की चपलता छूटती है। नादविन्दूपनिषद् में लिखा है–

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशितांकुशः॥ ४४॥

अर्थ–नाद मदान्ध हाथी-रूप चित्त को, जो विषयों की आनन्द-वाटिका में विचरण करता है, रोकने के लिए तीव्र अंकुश का काम करता है।

जो अंतर्ज्योति और अंतर्नाद की साधना करते हैं, उनके सारे विकार समूल नष्ट हो जाते हैं। लेकिन यह आरंभ की साधना में नहीं, सुनिष्पन्न अवस्था में होने की बात है। साधना-आरंभ-काल में मन की जो दशा होती है, उसका गोस्वामी तुलसीदासजी ने बड़ा ही अच्छा चित्रण किया है, उन्होंने रामचरितमानस में लिखा है–

विषयी साधक सिद्ध सयाने।
त्रिविध जीव जग बेद बखाने ॥

एक तो विषयी, दूसरे साधक और तीसरे सिद्ध होते हैं। जो विषयी होते हैं, उसकी उपमा दी गई है गुबरैले मक्खी से। गुबरैला मक्खी वह होती है, जो पाखाने की गोलियाँ बनाकर उनको इधर से उधर, उधर से इधर उलटाती-पुलटाती रहती है। निकट में ही फुलवाड़ी है, जिसमें सुंदर-सुंदर फूल खिले हैं, जो अपने सौरभ से आस-पास को सुरभित कर रहा है; लेकिन वह मक्खी उस बगीचे में नहीं जाएगी। उसी तरह निकट में ही सत्संग होता है; लेकिन विषयी आदमी वहाँ नहीं जाएगा। साधक की उपमा हमलोगों के घरों की मक्खियों से दी गई है। वह कभी मिठाइयों पर बैठकर उनका स्वाद लेती है, तो कभी विष्ठा पर बैठकर उसका भी। इसी प्रकार की स्थिति साधक की होती है। वह कभी भगवान का भजन करता है, तो कभी विषयों की ओर दौड़ता है। यह बहुत डाँवाडोल स्थिति है। तीसरे होते हैं सिद्ध। सिद्ध की उपमा मधुमक्खी से दी गयी है। वह जब बैठेगी, तो फूल का पराग ही लेगी। जिस तरह मधुमक्खी को फूल के पराग से अनुराग होता है, उसी तरह सिद्ध को भगवान के पद-पद्म-पराग में अनुराग रहता है। जो कोई नादानुसंधान की क्रिया करते हैं, उनका मन उनके वश में हो जाता है। संतमत-साधना के माध्यम से जो कोई चलेंगे, तो चलते-चलते एक दिन वे प्रभु को प्राप्त करेंगे, यह सुनिश्चित है। अभी आदरणीय डॉ० रामजी बाबू ने कहा–संतमत की जो क्रिया है, संतमत की जो साधना है, संतमत का जो आचार-विचार है, उस आचार-विचार को यदि कोई व्यवहार में लावे, तो यह अनाचार-दुराचार, व्यभिचार कैसे होगा? हो ही नहीं सकता है। ये बातें उन्होंने बड़ी अच्छी और बिल्कुल सही कही है। वास्तव में एक पाप से भी वर्जित हो, तो कल्याण हो जाएगा। जैसे–संतमत में झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार का वर्जन है, तो इन पंच पापों में से यदि कोई झूठ नहीं बोले, तो कल्याण हो जाएगा। चोरी नहीं करे, तो कल्याण हो जाएगा। नशा नहीं ले, तो शरीर की बर्बादी नहीं होगी, जीवन की बर्बादी नहीं होगी। संत जन यह नहीं कहते कि नशा-सेवन नहीं करो, तो उससे जो पैसे बचे, वे हमको दो। पैसे बचेंगे, तो तुम्हारे पास रहेंगे। तुम उसको अपने पास रखो, अच्छे कार्य में लगाओ। हिंसा नहीं करो। आज क्या है–हिंसा प्रवृत्ति फैली हुई है। क्यों? इसलिए कि खान-पान का संयम नहीं है। आहार-विहार की नियमितता नहीं है। हमारे

परम पूज्य गुरुदेव का अमोघ वचन है–

खान पान को प्रथम सम्हारो।
तब रस-रस सब अवगुण मारो॥

महात्मा गाँधीजी ने लिखा है–ब्रह्मचर्य-पालन करना कोई कठिन काम नहीं है; लेकिन कठिन हम उसको इसलिए बना देते हैं कि अन्य सब इन्द्रियों को तो खुली छोड़ देते हैं और एक इन्द्रिय जननेन्द्रिय को बाँधना चाहते हैं। मात्र शुक्र की रक्षा को ही वे ब्रह्मचर्य नहीं कहते थे। उन्होंने कहा है–ब्रह्मचर्य प्राप्ति के लिए जितने आवश्यक आचरणीय नियम हैं, उन सबका पालन ब्रह्मचर्य है। गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी हो सकते हो। परिवार में रहकर–स्त्री-पुरुष पुत्र-पौत्र आदि के साथ रहकर भी ब्रह्मचारी बन सकते हैं। महात्मा गाँधीजी ने यह भी कहा–पशु चारागाह से भरपेट भोजन करके लौटना जानता है; लेकिन मनुष्य अपने पेट का अंदाजा नहीं जानता। यही कारण है कि मानव-जननेन्द्रिय से पशु जननेन्द्रिय अधिक संयमित होती है। जिसकी जिभ्या इन्द्रिय वश में नहीं है, उसकी जननेन्द्रिय कभी भी वश में नहीं हो सकती है। संत-वचन है–

जिभ्या इन्द्री एकै नाल।
जो रोकै सो बाचै काल॥

संत कबीर साहब ने कहा है–

खट्टा मीठा चरपरा, जिभ्या सब रस लेय।
चारों कुतिया मिल गयी, पहरा किसका देय॥

और भी–

घास पात जो खात है, ताहि सतावै काम।
हलुआ पूड़ी खाय जो, ताकी जानै राम॥

जो कोई संयमित जीवन बिताते हैं, आचरणीय नियमों का पालन करते हैं, वे ही साधना में आगे बढ़ते हैं और उनको ही साधनानुभूति का रस मिलता है। एक बंगाली महात्मा ने कहा है–

आनन्दे आनन्द बाढ़े प्रतिक्षण,
दशेन्द्रिय थाके शून्येते बन्धन।
रिपुचय पराजय सकलि आनंदमय,
अनुभव मात्र रय आर पाय सब लय।
जेमन जीवने जीवन थाके ना॥

इस स्थिति को प्राप्त करो। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है–

ब्रह्म पियूष मधुर शीतल, जो पै मन सो रस पावै।
तो कत मृग जल रूप, विषय कारन निसिवासर धावै॥

जिसको ब्रह्म-पीयूष मिल जाएगा, ब्रह्म अमृत मिल जाएगा, वह विषय-विष-पान करने क्यों जाएगा! अरे! जो लाखपति बन जाएगा, वह खाक छानने क्यों जाएगा? जो करोड़पति बन जाएगा, वह कौड़ी चुनने क्यों जाएगा अर्थात् ब्रह्म-रस पानेवाला विषय-रस की ओर नहीं जाएगा।

संतमत पंच पापों से विरत और एक ईश्वर-चरण में अनुरक्त रहने के लिए बतलाता है, सत्संग करने और सदाचार का पालन करने के लिए बतलाता है। साथ ही संतमत की शिक्षा है–परमुखापेक्षी मत बनो और जीवन-यापन के लिए पवित्र कमाई अवश्य करो। यह संतमत की थोड़ी-सी शिक्षा आपलोगों से कही।

(भागलपुर विश्वविद्यालय पुस्तकालय के प्रांगण, दिनांक १.१.१९८९ ई० प्रातःकालीन सत्संग)

७४. ईश्वर स्वरूप इन्द्रियातीत है

सृष्टि की ओर दृष्टि करने से इस विषय की परिपुष्टि हो जाती है कि सृष्टि-विकास-क्रम सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर हुआ है। पूर्व का पदार्थ पश्चात् के पदार्थ से सूक्ष्म होता है और सूक्ष्म अपने से स्थूल में व्यापक होकर अपना मंडल ऊपर रखता है। उदाहरणार्थ हम स्थूल जगत के पाँच तत्त्वों–गगन, पवन, अनल, जल और स्थल पर विचार करें।

इन पाँच तत्त्वों में सबसे पूर्व का आकाश तत्त्व मानना अनिवार्य होता है; क्योंकि अवकाश के बिना किसी वस्तु का रहना असंभव है। यही हेतु है कि आकाश अपने बाद के चार तत्त्वों–अनिल, अनल, जल और स्थल में व्यापक होकर इन सबसे ऊपर अवस्थित है। इसी भाँति अनिल तीन तत्त्वों–अनल, जल और स्थल में, अनल दो तत्त्वों–जल और स्थल में तथा जल मात्र स्थल में व्यापक होकर अपना मंडल ऊपर रखता है।

इस विषय को अति सरलतापूर्वक हम इस प्रकार समझ सकते हैं। थोड़ी-सी मिट्टी को पानी में घोलकर एक शीशे के गिलास में रख दें। कुछ घंटों के बाद हम देख पाएँगे कि मिट्टी का अंश गिलास के पेंदे में जमा है और उसके ऊपर वारि विराजित है। इसका मतलब यह नहीं कि अहि में अप नहीं है, बल्कि क्षिति में अप व्यापक होकर अपना अस्तित्व ऊपर भी रखता है।

इस दृष्टि से आकाश से पूर्व पदार्थ का उसमें व्यापक होकर उससे ऊपर रहना अस्वाभाविक नहीं।

अब हमें देखना है कि व्योम के पूर्व का क्या-क्या पदार्थ है तथा वह कैसा-कैसा है?

संत सुन्दरदासजी ने इसकी क्रमिक अभिव्यंजना बड़ी उत्तमता से की है; यथा–

भूमि पर अप आपहू के, परे पावक है।
पावक के परे पुनि, वायुहू बहत है।।
वायु के परे व्योम, व्योमहू के परे इन्द्री दश।
इन्द्रिन के परे, अन्तःकरण रहत है।।
अन्तःकरण पर, तीनों गुण अहंकार।
अहंकार पर, महतत्त्व कूँ लहत है।।
महतत्त्व पर मूल माया, माया पर ब्रह्म।
ताहितें परातपर, सुन्दर कहत है।।

यह संत-वचन सोचने के लिए बाध्य करता है कि परमात्म-स्वरूप कैसा होगा–स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर वा उसके भी परे सूक्ष्मतम होगा?

सद्ग्रंथों में परमात्म-स्वरूप की उपमा कहीं गगन से, तो कहीं पवन से दी गई है; यथा–मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् के चतुर्थ ब्राह्मण में पाँच आकाशों की चर्चा करते हुए ऋषि ने पंचम आकाश की ओर संकेत किया है। संत कबीर साहब इससे पूरे सहमत हैं, वे कहते हैं–

नौबत घरत है रैन दिन सुन्न में, कहै कबीर पिउ गगन गाजै।

गुरु नानकदेवजी कृत प्राण संगली भाग-१ में हम इस प्रकार पाते हैं–

गगनंतरि गगन गवन करि फिरै। जाय त्रिवेणी मंजनु करै।।
सहज निरंतर धरै धिआनु। नानक ऐसा ब्रह्म गिआनु।।

महर्षि मेँहीँ-पदावली में है–

प्रभु वरनन में आवै नाहीं।
अकथ अनामी अहैं सब माहीं।।
प्रति परमाणु अणु लघु दीर्घ सर्व तनु।
प्रभु जी व्यापक जनु गगन रहाहीं।।

कठोपनिषद्, अध्याय २, वल्ली-५, श्लोक १० में यम ने नचिकेता को उपदेश दिया है–

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

अर्थात् जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ पवन प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

हम देखते हैं–फुटबॉल में हवा का रूप गोलाकार, गाड़ी के चक्के में चक्राकार और लम्बे बैलून में लम्बाकार होता है। तो प्रश्न होता है–हवा का रूप गोलाकार है, चक्राकार है अथवा लम्बाकार? वास्तव में हवा का रूप इन सब रूपों से भिन्न अरूप है।

इसी भाँति परम प्रभु परमात्मा सब रूपों में व्यापक रहकर सबसे भिन्न अरूप है, अव्यक्त है। इस विषय में संतों की भरपूर वाणियाँ हैं। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ वाणियाँ उपस्थित की जाती हैं–

है सबमें सब ही तें न्यारा।
जीव जन्तु जल थल सब ही में, शब्द वियापत बोलनहारा।।
–संत कबीर साहब

एक महि सरब सरब महि एका, एह सतगुर देखि दिखाई।
जिनि कीए खंड मण्डल ब्रह्मण्डा, सो प्रभु लखनु न जाई।।

तथा–

बाहरि भीतरि एको जानहु, इहु गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई।।
–गुरु नानक देवजी

प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी।
ब्रह्म निरीह विरज अविनासी।।
–गो० तुलसीदासजी

फूलि रह्यो सब ठाँव तो धरनि अकास में।
सो त्रिभुवन पतिनाथ निरखि लियो आप में।।
–संत केशवदासजी

फूल माहिं ज्यों वास काठ में अगिन छिपानी।
खोदै बिनु नहिं मिलै अहै धरती में पानी।।
दूध मँहै घृत रहै छिपी मिंहदी में लाली।
ऐसे पूरण ब्रह्म कहूँ तिल भर नहिं खाली।।
–संत पलटू साहब

हम इन आँखों से फूल को देखते हैं; किन्तु उसमें व्यापक वास को नहीं। काठ को देखते हैं,

किन्तु उसमें व्यापक आग को नहीं। पृथ्वी को देखते हैं; किन्तु उसमें अन्तर्निहित पानी को नहीं। मेंहदी को देखते हैं; किन्तु उसके अन्दर छिपी लाली को नहीं।

इसी भाँति बाह्य जगत की वस्तुओं को हम देखते हैं; किन्तु उसमें व्यापक ब्रह्म को नहीं। हमारी नेत्र-शक्ति इतनी क्षीण है कि जागतिक सभी वस्तुओं को भी कहाँ देख पाते हैं? क्या गगन और पवन को इस नयन से हम निहार सकते हैं? यदि नहीं तो विश्व में व्यापक ब्रह्म को इन नेत्रों से ग्रहण करने की भावना कितनी भ्रामक है!

हमारा सुप्रसिद्ध ग्रंथ सामवेद स्पष्ट कहता है–

ओ३म् स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमिते न गावः।
परीणसं कृणुते तिग्म शृंगो दिवा हरिर्दृशे नक्तमृज्रः।।

अर्थात् इस मंत्र के द्वारा वेद भगवान उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो! हाथ, पैर, गुदा, लिंग, रसना, कान, त्वचा, आँखें, नाक और मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करनी, झूठ ही एक खेल करना है; क्योंकि इनसे वह नहीं जाना जा सकता, वह तो इन्द्रियातीत है।

(शान्ति-सन्देश, जनवरी, १९८९ ई०)

७५. भक्ति निसेनी मुक्ति की संत चढ़े सब धाय

भक्ति क्या है? संत कबीर साहब ने कहा–

"भक्ति निसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन-जिन मन आलस किया, जनम जनम पछताय ।।
लख चौरासी भटकि के, पौ पर अटके आय।
अबहूँ पासा ना पड़ै, फिर चौरासी जाय ।।"

चौपड़ एक खेल होता है, जिसमें चौरासी कोठे होते हैं। चार गोटियाँ होती हैं। कौड़ियाँ भाँज-भाँज कर उलटाते हैं। जितनी कौड़ियाँ चित होती हैं, एक-एक गोटी उसी क्रम से उतने घर चलती है। चलते-चलते ८३ घर पार करके जब ८४वें कोठे में वह गोटी आती है, उस घर का नाम है–पौ। अब यदि कहीं एक कौड़ी चित हो जाए, तो गोटी लाल हो जाती है। उसको कहते हैं–पौ बारह। कहीं एक कौड़ी चित नहीं हुई, दो, तीन वा चार कौड़ियाँ चित हो गयीं, तो वह गोटी आगे नहीं बढ़ सकती, बल्कि क्रमशः २-३-४ कोठे पीछे उलटते हुए, उसको पुनः उलटते हुए उसको पुनः चौरासी कोठे तय करने होते हैं। इस प्रकार घूमते-घूमते जब कभी ८४वें घर में वह गोटी जाएगी और एक कौड़ी चित होगी, तभी वह गोटी लाल होगी। कहने का मतलब यह कि संत कबीर साहब कहते हैं–८४ लाख योनियों में भटकते-भटकते, घूमते-घूमते मनुष्य-शरीर रूप पौ पर तुम आ गये हो। जिस तरह एक कौड़ी चित होती है, तो गोटी लाल हो जाती है, उसी तरह तेरा चित एक हो, प्रभु में लग जाए, तो तेरा मानव-जीवन सार्थक हो जाएगा। (श्रोतागण की ओर से जय-जयकार की ध्वनि।)

कहीं तुम्हारा एक चित नहीं हुआ, तब तो बात विचित्र हो जाएगी। फिर चौरासी लाख योनियों में घूमना पड़ेगा। इस प्रकार घूमते-घूमते फिर जब कभी मनुष्य-शरीर में आ पाओगे, एक चित कर पाओगे, ईश्वर की भक्ति करोगे, ईश्वर को पाओगे। अपना परम कल्याण बना सकोगे।

सामान्यतया लोग जिसको भक्ति की संज्ञा देते हैं, वास्तव में वह भक्ति नहीं है। संत कबीर साहब कहते हैं–'भक्ति सतोगुर आनी।'

संत सद्गुरु की बताई हुई भक्ति की जो विधि होती है, युक्ति होती है, वह भिन्न ही है। तुम अपने मन से जो कर रहे हो, वह तो उससे सर्वथा भिन्न ही है। वास्तविकता वहाँ है, जो संत सद्गुरु बतलाते हैं। 'भक्ति सतोगुरु आनी' क्या है? उत्तर में वे कहते हैं–

"नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझो पंडित ज्ञानी।
पाहन फोड़ गंग एक निकसी, चहुँ दिशि पानी-पानी।
तेहि पानी दोउ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी ।।
उड़ि माखी तरुवर के लागे, बोलै एकै बानी।
उस माखी के माखा नाहीं, गरभ रहा बिन पानी ।।
नारी सकल पुरुष वा खाया, तातें रहा अकेला।
कहे कबीर जो अबकी समझे, वही गुरु हम चेला।।"

यह कौन-सी नारी है? जड़ात्मिका मूल प्रकृति-रूपा नारी है, जिसने ब्रह्म और जीवरूप दो पुरुषों को उत्पन्न किया और यह 'पाहन' क्या है? पहाड़ क्या है? पत्थर क्या है? आँखें बंद करके देख लो, काला पहाड़ तुम्हारे सामने है। इसी को तुलसी साहब ने कहा है–

"सम सील लील अपील पेलै,

खेल खुलि-खुलि लखि पड़ै।"

जो शम की साधना करेगा, वह उस नील पर्वत को काटकर निकल जाएगा। इसी विषय को हमारे गुरुदेव ने इस भाँति कहा है।

'बज्र कपाट खुलै तम टूटै, ब्रह्म ज्योति झलकान।'

और गुरु नानकदेवजी ने कहा–

'बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी लाई।'

यह अंधकार वज्र कपाट है, पहाड़ है। इसको जो कोई छेदता है, तो स्थूल जड़ता को पार कर जाता है। वहाँ वह क्या देखता है? 'चहुँ दिशि पानी-पानी' अर्थात् प्रकाश-ही-प्रकाश को देखता है।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' हो जाता है। पश्चात् नादानुसंधान की साधना कर शुद्ध निर्मल सुरत जड़ के सूक्ष्म, कारण और महाकारण को पार कर चेतन-सिन्धु में समा जाती है, जहाँ चेतन-ही-चेतन है, जिसके परे चेतन को भी सचेतन रखनेवाला परम प्रभु परमात्मा है। यह भक्ति का भेद है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा–ईश्वर का भजन तुम करना चाहते हो, तो 'तीन अवस्था तजहु भजहु भगवन्त' अर्थात् तीन अवस्था यानी जाग्रत की, स्वप्न की और सुषुप्ति की। इन अवस्थाओं का त्याग करो, चौथी में जाओ। यह तुरीय अवस्था है। भक्ति का आरम्भ यहाँ से होता है। संत कबीर साहब ने कहा है–

"भक्ती का मारग झीना रे ।।टेक।।
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे ।।"

गुरु नानक साहब के वचन में आया है–

"भगता की चाल निराली।
चाल निराली भगताह केरी, विखम मारगि चलणा ।।
लबु लोभु अहंकारु तजि त्रिसना, बहुतु नाहीं बोलणा ।।"

बहुत बोलता कौन है? अरे, घड़ा तबतक भक्-भक् बोलता है, जबतक भरता नहीं है। जब घड़ा भर जाता है, तब वह चुप हो जाता है। इसी तरह जबतक कोई ज्ञान में पूर्ण नहीं हुआ है, तबतक वह बक-बक करता है। जब ज्ञान में पूर्ण हो जाता है, तब चुप हो जाता है। परम पूज्य गुरुदेव के वचन में हम पाते हैं–

"मैंहीं मैंहीं भेद यह, सन्तमता कर गाइ।
सबको दिया सुनाय कर, अब तू रहे चुपाइ ।।"

'चुप' यानी 'निशब्दं परमं पदम्' हो जाता है। जिन्होंने साधना की, उनकी यह बात है। साधना की अनुभूति है, पढ़ी-सुनी बात नहीं। सूक्ष्म ध्यान–सूक्ष्ममार्ग के संदर्भ में गुरु नानक साहब की वाणी में हम कह सकेंगे–

'खंनिअहु तीखी बालहु नीकी एतु मारगि जाणा।'

इसी विषय में यमराज ने नचिकेता से कहा था, जो कठोपनिषद् में लिखा है–

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।।"

अरे अविद्याग्रस्त लोगो ! उठो, (अज्ञान-निद्रा से) जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार क्षुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं। कोई कहता है–ईश्वर के पास जाने के अनेक रास्ते हैं। जैसे भागलपुर एक स्थान पर है। चारो तरफ से वहाँ तक पहुँचने के रास्ते हैं; लेकिन परमात्मा उस तरह नहीं हैं। परमात्मा किस तरह हैं? संतों ने कहा–वह तुम्हारे अंदर भी है और बाहर भी है। कहाँ से आओ और कहाँ जाओ? कहाँ वह नहीं है! वह सर्वत्र है। कोई भी दिशा ऐसी नहीं है, जहाँ वह नहीं है। लेकिन हमारे लिए संत कबीर साहब वाली उक्ति चरितार्थ होती है।

"पानी बीच मीन प्यासी,
मोहि सुनि-सुनि आवत हाँसी।"

जिस तरह मछली के चारो ओर पानी-ही-पानी है, उसी तरह हमारे चारो ओर भगवान-ही-भगवान है, परमात्मा-ही-परमात्मा है। समस्या यह है मछली के चारो ओर पानी रहने पर भी वह जबतक उलटती नहीं, पानी नहीं पी सकती। उसी भाँति जीव जबतक अंतर्मुखी नहीं हो जाता, पीव को नहीं पा सकता। इसलिए बहिर्मुख से अंतर्मुख होने का यत्न संतों से जानिये। अवश्य ही भागलपुर स्टेशन तक पहुँचने के लिए सब दिशाओं से विविध सवारियों से जा सकते हैं। चाहे बैलगाड़ी से जाइये, चाहे रिक्शे से जाइये, चाहे टमटम से जाइये, किसी भी सवारी से जाइये। लेकिन वहाँ पर जो आपको तिनसुकिया मेल गाड़ी मिलेगी, वह सीधे आपको दिल्ली पहुँचा देगी। उसी तरह आज्ञाचक्र तक पहुँचने के लिए आप शिव की उपासना कीजिए, शक्ति की उपासना कीजिए, गणेश की उपासना कीजिए, गुरु की उपासना कीजिए। जिस किसी इष्ट की भी उपासना कीजिए, इन

उपासनाओं के माध्यम से आप वहाँ पर जाएँगे, जहाँ आपको योग्यता मिलेगी दृष्टियोग के द्वारा आज्ञाचक्र में प्रवेश करने की। आज्ञाचक्र से जो रास्ता मिलेगा, उस रास्ते से आप सीधे प्रभु के पास चले जाइएगा। अरे! शेरशाह जब बादशाह बना तो उसने कलकत्ता से लेकर दिल्ली तक जी०टी० रोड बना दी। तो दिल्ली के बादशाह ने यहाँ से वहाँ तक ग्रैंडट्रंक रोड बना दी और जो दिल-दिल में बसनेवाले संपूर्ण संसार के बादशाह हैं, उन्होंने भक्तों को अपने पास आने के लिए क्या कोई रास्ता नहीं बनाया? अवश्य बनाया। उनके पास जाने के लिए भी सड़क बनी हुई है। दुनिया की सड़क तो टूट-फूटकर जहाँ-तहाँ खतम भी हो जाती है; लेकिन वह सड़क तो जबसे बनी है, तबसे है ही और जबतक सृष्टि रहेगी, तबतक रहेगी। वह सड़क सबके अंदर-अंदर है। संत कबीर साहब ने कहा है–

"तेरो को है रोकनहार, मगन से आव चली ।।टेक।।
पाँच पचीस करे बस अपने, करि गुरु ज्ञान छड़ी।
अगल बगल के मारि उड़ाये, सनमुख डगर धरी ।।"

वास्तव में आज्ञाचक्र से परम प्रभु परमात्मा के पाने का पथ आरंभ है। कोई भगवती की उपासना करते हैं, तो कोई देवी की। कोई राम की, तो कोई कृष्ण आदि की। इस प्रकार अनेक इष्ट-उपासी होने के कारण लोग ईश्वर पाने के बहुत रास्ते कहते हैं। लेकिन ये बहुत-से रास्ते नहीं हैं, बल्कि रास्ते को पकड़ने के साधन हैं।

पहले सामान्य जोड़, घटाव, गुणा, भाग सीखो, फिर मिश्र जोड़, घटाव, गुणा, भाग सीखो। फिर भिन्न का जोड़, घटाव, गुणा, भाग सीखो, फिर दशमलव का जोड़, घटाव, गुणा, भाग सीखो और तब अलजबरा सीखो। अगर जीवन भर सामान्य जोड़, घटाव, गुणा, भाग सीखते रहोगे, तो फिर अलजेबरा कब सीखोगे, कॉलेज कब जाओगे, फिर आगे का नॉलेज कब होगा? इसीलिए संतों ने पहले स्थूल भक्ति बतायी है। जैसे वर्णमाला के विद्यार्थी को चित्र के द्वारा अक्षर का ज्ञान कराया जाता है–'अ' से अनार, वैसे ही अध्यात्म-ज्ञान के लिए आरंभ में स्थूल नामरूप का अवलंब दिया जाता है। पश्चात् उस अक्षर का ज्ञान कराया जाता है, जिसके लिए शास्त्र में कहा गया है–'न क्षरति इति अक्षरः।' संत राधास्वामी साहब ने कहा है–

"मोटे बन्धन जक्त के, गुरु भक्ति से काट।
झीने बन्धन चित्त के, कटें नाम परताप ।।
मोटे जब लग जायँ नहिं, झीने कैसे जायँ।
ताते सबको चाहिये, नित गुरु भक्ती कमायँ ।।"

और–

"सुरत शब्द एक अंग कर, देखो विमल बहार।
मध्य सुखमना तिल बसे, तिल में ज्योति अपार ।।"

इस तिल को पकड़ो। जो कोई ज्योतिर्मय उस तिल को पकड़ता है, वह उस बिल में प्रवेश कर जाता है, जिस होकर चलते-चलते एक दिन परम प्रभु से मिल जाता है। उस छेद को जानो। उस छेद के भेद को संत सद्गुरु से जानो। संत कबीर साहब ने कहा है–

"गुरुदेव के भेद को जीव जानै नहीं,
जीव तो आपनी बुद्धि ठानै।
गुरुदेव तो जीव को काढ़ि भव सिन्धु तें,
फेरि लै सुक्ख के सिन्धु आनै ।।
बंद कर दृष्टि को फेरि अन्दर करै,
घट का पाट गुरुदेव खोलै।
कहै कबीर तू देख संसार में,
गुरुदेव समान कोइ नाहिं तोलै ।।"

ऐसे संत सद्गुरु की शरण में जाओ, जो तुमको इसका भेद बतलावे। उस भेद को जो कोई पा लेता है, वह अंधकार को छेद देता है।

इसके देखने के लिए तीन दृष्टियाँ बतायी गयी हैं–अमादृष्टि, प्रतिपदा दृष्टि और पूर्णिमा दृष्टि। पूर्णिमा दृष्टि और प्रतिपदा दृष्टि में आँखों में कष्ट होता है। लेकिन अभ्यास करते-करते लोग अभ्यस्त हो जाते हैं, तो सरल हो जाता है। सबसे सुगम, सरल और आपदाहीन है अमादृष्टि। भगवान बुद्ध की ध्यानकालिक मूर्ति को आप देखेंगे, तो पायेंगे कि वे आँखें बंद करके ध्यान करते हैं। यह अमादृष्टि है। शिवजी के ध्यानावस्थित चित्र को आप देखेंगे, तो उनकी आधी आँखें खुली पाएँगे। यह प्रतिपदा दृष्टि है। इसको शांभवी मुद्रा कहते हैं। विष्णु भगवान तो निर्निमेष हैं। उनकी पूरी आँखें खुली होती है। इसलिए पूरी आँखें खोलकर ध्यान करने को वैष्णवी मुद्रा कहते हैं। पूरी आँखें खोलकर या आधी आँखें खोलकर साधना करने से मस्तिष्क पर और आँखों पर भी

अधिक बल पड़ता है। आँखें बंद करके तो हम सोते ही हैं। इसमें कोई बल नहीं पड़ता। व्यासदेवजी की मूर्ति को देखिये, आँखें बंद करके वे ध्यान करते हैं। शमीक मुनि का चित्र देखिये, जिनके गले में राजा परीक्षित ने मरा हुआ साँप डाला था, वे भी आँखें बंद करके ध्यान करते थे। आँखें बंद करके ध्यान करने में एक लाभ यह भी होता है कि आँखें खोलकर ध्यान करने से जो दृश्य हमारे सामने आते हैं, उनका नया संस्कार जो हमारे ऊपर पड़ता है, आँख बंद करके ध्यान करने पर नया संस्कार नहीं पड़ता। इसलिए आँखें बंद करके ध्यान करने की प्रक्रिया ही अधिक स्वाभाविक और समीचीन जान पड़ती है। यही हमलोगों को बतलायी भी गयी है। आँखें बंद करके पहले मानस जप कीजिए, पश्चात् मानस ध्यान कीजिए। तत्पश्चात् दृष्टि साधन कीजिए। यदि संत सद्गुरु का आदेश प्राप्त हो, तो तदुपरान्त नादानुसंधान कीजिए। संत कबीर साहब के वचन में है–

"बंद कर दृष्टि को फेरि अंदर करै,
घट का पाट गुरुदेव खोलै।"

हमारा काम आँखें बंद करके चित्तवृत्ति का निरोध करना और अपने को लक्ष्य पर ठहराना है। घट का पाट खोलना गुरुदेव का काम है। जैसे सात्विक भोजन करना यह हमारा काम है; लेकिन मल-मूत्र आदि गंदगियों के निकालने का काम हमारा नहीं, किसी और का है। उसी तरह सद्गुणों को धारण करना हमारा काम है और हमारे दुर्गुणों को दूर करने का काम हमारे संत-सद्गुरु का है। वास्तविक बात तो यह है कि यदि हम अपने को सद्गुणों से भरते जाएँगे, तो दुर्गुण रहेंगे कहाँ? अतएव अपने को सद्गुणों से भरते चलिए, दुर्गुण निकलते जाएँगे।

हाँ, तो मैं दृष्टियोग के संबंध में कह रहा था। दृष्टियोग की क्रिया में पूर्णता प्राप्त कर लेने पर नादानुसंधान की क्रिया की जाती है। जबतक दृष्टि-साधन की क्रिया पूर्ण नहीं हो, तो नादानुसंधान की क्रिया में सफलता मिलनी कठिन होती है।

यह प्रवचन प्रातःकालीन सत्संग के अवसर पर दिनांक–१२.३.१९८९ ई०, स्थान : मिर्जापुर, जिला-भागलपुर में हुआ था। (शान्ति-सन्देश, मई १८८९)

७६. जीवत ही मुक्त हो जाइये

आप जब किसी अस्पताल में जाकर देखें कि वहाँ लोगों की भीड़ अधिक है, तो आप यह समझें कि उस क्षेत्र के लोगों के शारीरिक स्वास्थ्य का पतन हो चुका है। यदि आप कचहरी में लोगों की भीड़ देखें, तो आप यह समझें कि उस क्षेत्र के लोगों का नैतिक पतन हो चुका है। यदि आप सिनेमाघरों में लोगों की अधिक भीड़ देखें, तो आप यह समझें कि उस क्षेत्र के लोगों का चारित्रिक पतन हो चुका है। लेकिन सत्संग के नाम पर इस तरह की उमड़ती भीड़ आप देखें, तो यह समझें कि उस क्षेत्र के लोगों की आध्यात्मिक उन्नति हो रही है। तो मैं आपलोगों की आध्यात्मिक उन्नति देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। और मैं आपलोगों को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ तथा परम प्रभु परमात्मा से आपलोगों की शुभ उन्नति के लिए प्रार्थना करता हूँ। (श्रोतागण की ओर से जय-जयकार का नारा)।

अभी आपलोग शाही स्वामीजी के प्रवचन सुन रहे थे। मैं समझता हूँ कि शाही स्वामीजी के शाही फरमान से आपलोगों की अरमान पूरी हो गयी होगी, फिर भी आपलोगों का ध्यान मेरी ओर है, इसलिए कुछ व्याख्यान देना या आख्यान सुनाना मैं आवश्यक नहीं समझता हूँ। अभी बहुत-सी कथाओं को सुनते-सुनते मेरे मन में भी कथा कहने की इच्छा जाग्रत हुई; लेकिन सोचा ऐसी कथा, जिससे भव-व्यथा दूर न हो, कहानी वृथा है। सोचा, कुछ इतिहास ही आपलोगों को सुनाऊँ; लेकिन वह इतिहास जिससे किसी का परिहास या उपहास हो, कहना भी उचित नहीं है। तो मैंने मन में निर्णय किया कि आपलोगों को मैं एक घटना ही सुनाऊँ; लेकिन वह घटना बिहार की राजधानी पटना की नहीं है। स्वदेश की नहीं, बात विदेश की है। और अर्वाचीन नहीं, प्राचीन है। लेकिन चीन की नहीं, जापान की है।

जापान में एक महात्मा अपने आसन पर आसीन थे। एकाएक उनके पास एक नवयुवक आता है, जिसके चेहरे पर जवानी का पानी चढ़ा हुआ था। वास्तव में चेहरा भी बहुत लासानी था। आसानी से

वह साधु के पास पहुँच गया। जवान तो वह जरूर था; लेकिन उसकी जबान में लगाम नहीं था। हाँ, जिसको आजकल लोग 'हीरो' कहा करते हैं। 'हीरो' कहने का मतलब—जो अध्यात्म में बिल्कुल जीरो हो। बस, वैसा ही वह था। ऐसे लोग प्रणम्य जन को भी प्रणाम नहीं करते; क्योंकि प्रणाम करने में वे पाप समझते हैं, चाहे उनका बाप ही क्यों न हो! वह आते ही मूँछ पर हाथ देकर वह पूछ बैठा, 'महात्मन्! स्वर्ग और नरक क्या है?' महात्माजी ने उस नवयुवक को ऊपर-नीचे और नीचे-ऊपर तक देखकर पूछा, 'पहले बताओ, तुम हो कौन?' नवयुवक ने कहा, 'मैं फौज का लेफ्टिनेंट हूँ।' महात्माजी ने पुनः उसे आपादमस्तक देखा और कहा, 'तुम अपने को फौज का लेफ्टिनेंट बतलाते हो; लेकिन मेरे विचार में तो लेफ्टिनेंट के असिस्टेंट के सर्भेंट होने योग्य भी नहीं हो। फिर क्या था उस नवजवान की क्रोधाग्नि भड़क उठी और उसने म्यान से तलवार निकालकर महात्माजी के सर को धड़ से अलग कर धरा पर धर देना चाहा। लेकिन तलवार के वार को महात्माजी ने सँभाल कर कहा, 'अच्छा! तेरे पास तलवार भी है। लेकिन तेरी तलवार तो एक तिनके को भी नहीं काट सकती, फिर मेरे तन की तो बात ही क्या है!' जैसे आग में घी डाला जाए, उसी तरह महात्माजी का वचन उसकी क्रोध अग्नि में घी के रूप में पड़ गया। पुनः उस नवयुवक ने क्रोधित होकर दुबारा वार करना चाहा। महात्माजी ने पुनः उसकी तलवार को पकड़कर प्रेम से कहा, 'वत्स! मैं तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे रहा था। तुम देश के भावी युवक हो, तनिक-सी बात में तुनक जाना तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं। तुमने मुझसे पूछा था—नरक और स्वर्ग क्या है? अभी तुम नरक के द्वार पर हो; क्योंकि जब जिसके हृदय से दया निकल जाती है, काम-क्रोधादिक किसी विकार का जब शिकार हो जाता है, दम्भ, दर्प, अभिमान, निष्ठुरता एवं अहंता से घिर जाता है, तब वह नरक के द्वार पर खड़ा होता है। गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में लिखा है—'काम क्रोध मद लोभ ये नाथ नरक के पंथ।' तथा श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण के ये वाक्य हैं—

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥"
गीता, १६/२१

पढ़ा-लिखा तो वह था ही, संत-वचन सुनते ही वह महात्माजी के श्रीचरणों में अपना सिर रख दिया और अपने अश्रुजल से उनके चरणों को धोने लगा। पहले हृदय में क्रोध की आग लगी थी न! अब वह पश्चाताप के कारण वाष्प, फिर जल बनकर महात्माजी के युगल चरण-कमल का प्रक्षालन करने लग गयी। महात्माजी ने उनकी विनयशीलता देखकर उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा, 'वत्स! अब तुम स्वर्ग के द्वार पर हो। तुम्हारे हृदय की क्रूरता चली गयी, निष्ठुरता चली गयी, अहंता चली गयी। कर्तव्याकर्तव्य को, जो तुम भूल गये थे, समझने लगे। तुम्हारी तमोगुणी वृत्ति सतोगुणी वृत्ति में परिणत हो गयी। अब तुम स्वर्ग के द्वार पर हो। इस प्रकार नरक और स्वर्ग का ज्ञान महात्माजी ने उस युवक को दिया। यह बात तो विदेश की हुई। अब आप स्वदेश की बात सुनिये, गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

"नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी।
ज्ञान विराग भगति सुख देनी॥"

अर्थात् इस शरीर में स्वर्ग, नरक और मोक्ष में जाने की सीढ़ी लगी हुई है। मानव-शरीर ज्ञान, विराग और भक्ति—सुख देनेवाला है। तात्पर्य यह कि इसमें नरक जाने की निसेनी, स्वर्ग जाने की सीढ़ी और नजात में जाने का जीना लगा हुआ है। अब अपने लिए हम निर्णय करें कि जाना कहाँ है—नरक में, स्वर्ग में या मोक्ष में? जिस तरह ईंटों के भट्ठे से चाहे हम देव-मंदिर बना लें, अपने रहने का मकान बना लें अथवा शौचालय बना लें, उसी तरह यह शरीर हमलोगों को मिला हुआ है। जिस तरफ हम जाना चाहें, जा सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' कहकर कर्म करने की स्वतंत्रता दे दी है। मान लीजिए, एक पिस्तौल हमारे पास है। चाहे तो उस पिस्तौल से हम अपनी आत्म-रक्षा कर लें अथवा आत्म-हत्या कर लें। एक टॉर्च हमारे पास है। उस टॉर्च से रात में चाहे तो हम चोरी करने चले जाएँ, चाहे सत्संग करने के लिए चले जाएँ। कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं; लेकिन फल लेने में स्वतंत्र नहीं हैं।

वास्तविक बात यह है कि जैसा हम कर्म करेंगे, वैसा ही फल हमको मिलेगा। जैसे जो बीज हम बोते हैं, तदनुकूल ही फल हमको मिलता है। जिस

खेत में गेहूँ बोते हैं, उस खेत से गेहूँ काटते हैं। जिस खेत में चना बोते हैं, उस खेत से चना ही काटते हैं अथवा जहाँ हम आम का बिरवा लगाये हैं, उस पेड़ में आम के ही फल लगेंगे और उसी का उपभोग हम करेंगे। गोस्वामी जी का कथन है, 'यह शरीर खेत है। मन, वचन और कर्म किसान हैं। पाप और पुण्य; ये दोनों बीज हैं। जो जैसा बोते हैं, वे वैसा काटते हैं यानी फल पाते हैं।

"तुलसी यह तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप पुण्य दुइ बीज है, बुवै सो लुनै निदान॥"

जैसा हम कर्म करेंगे, वैसा फल हमको मिलेगा। हम कर्म करनेवाले हैं और फल देनेवाले प्रभु हैं। हम क्या चाहते हैं? नरक जाना चाहते हैं या स्वर्ग चाहते हैं—नहीं, नहीं। नरक जाना कोई नहीं चाहता; क्योंकि वह दुःखालय है। कुछ लोग कहते हैं—स्वर्ग जाना अच्छा है। लेकिन स्वर्ग के लिए संतों ने जैसा कहा है, सद्ग्रंथों में भी वैसा ही लिखा मिलता है—'स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई।' तथा—

"नर तन दुर्लभ देव को, सब कोइ कहत पुकार॥
सब कोइ कहत पुकार, देव देही नहिं पावै।
ऐसे मूरख लोग, स्वर्ग की आस लगावै॥
पुन्य छीन सोइ देव, स्वर्ग से नरक में आवै।
भरमै चारिउ खानि, पुन्य कहि ताहि रिझावै॥
तुलसी सत मत तत गहे, स्वर्ग पर करे खखार।
नर तन दुर्लभ देव को, सब कोइ कहत पुकार॥"

स्वर्ग में सुख थोड़े ही दिनों के लिए मिलता है। स्वर्ग में जाने पर भी वहाँ कोई पूर्ण सुखी नहीं होता। यहाँ की तरह इन्द्रियों का सुख ही वहाँ पर भी मिलता है। जिस तरह छोटे-बड़े का हिसाब यहाँ—इस संसार में है, स्वर्ग में भी छोटे-बड़े का हिसाब है। जिस तरह यहाँ पर एक-दूसरे की उन्नति को देखकर जलते हैं, उसी तरह वहाँ भी एक-दूसरे की उन्नति देखकर राग-द्वेष आदि में जलते हैं; क्योंकि सब कोई एक-से पुण्य करके नहीं जाते। जो जिस तरह के न्यूनाधिक पुण्य करके जाते हैं, उनके लिए वैसा ही निम्न और उच्च स्थान वहाँ मिलता है। इसलिए अपने से दूसरे को विशेष देखकर वहाँ भी क्लेश होता रहता है। दूसरी बात यह है कि जो कोई स्वर्ग जाते हैं, उनके गले में एक माला पहनाई जाती है। जितने दिनों तक उनको वहाँ पर रहना है, उतने फूलों की माला होती है। जैसे-जैसे रहने के दिन बीतते जाते हैं, वैसे-वैसे उस माला के फूल सूखते जाते हैं। वह फूल क्या सूखता है! चिन्ता के कारण उसका भीतर—हृदय सूखता जाता है। इतने दिन तो हमारे बीते। अब ये बीते। अब ये बीते। अब इतने दिन ही हमारे रहने के बाकी रहे। इसी की चिंता के अनल में वे दिन-रात जलते रहते हैं, दुःखी होते रहते हैं। इसीलिए संतों ने कहा, 'यदि नरक को तुम लोहे की जंजीर समझते हो, तो स्वर्ग को सोने की जंजीर समझो, पर दोनों ही बंधन हैं। इसलिए इन दोनों से अपने को ऊपर उठाओ अर्थात् अपने को नजात यानी मोक्ष में ले जाओ। संतों ने मोक्ष का रास्ता बताया है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा है—

"संत पंथ अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, श्रुति पुरान सद्ग्रंथ॥"

यह मोक्ष कहाँ, कैसे और कब मिलता है, इनकी अभिव्यंजना संतों ने विविध भाँति से की है। संत पलटू साहब के उद्गार सुनिये—

"मुक्ति मुक्ति सब खोजत है,
मुक्ति कहो कहँ पाइये जी।
मुक्ति को हाथ औ पाँव नहीं,
किस भाँति सेति दिखलाइये जी॥
ज्ञान ध्यान की बात बूझिये,
या मन को खूब समझाइये जी।
पलटू मुए पर किन्ह देखा,
जीवत ही मुक्त हो जाइये जी॥"

शिवगीता में लिखा है—

"मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामन्तरेव वा।
अज्ञान हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥"

अर्थात् मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं कि जो किसी एक स्थान में रखी हो अथवा यह भी नहीं कि उसको प्राप्ति के लिए किसी दूसरे गाँव या प्रदेश को जाना पड़े। वास्तव में हृदय की अज्ञान ग्रंथि के नाश हो जाने को मोक्ष कहते हैं।

अब हम अपने परम पूज्य गुरुदेव की भाषा में कहना चाहेंगे कि इस संदर्भ में उनकी कैसी राय है—"शुद्ध आत्मा का स्वरूप अनन्त है। अनन्त के बाहर कुछ अवकाश हो, सम्भव नहीं है; अतएव उसका कहीं से आना और कहीं जाना, माना नहीं जा

सकता है। चेतन-मण्डल सान्त है, उसके बाहर अवकाश है; इसलिए उसके धार-रूप का होना और उस धार में आने-जाने का गुण होना निश्चित है। अनन्त के अंश पर के प्रकृति के आवरणों का मिट जाना, उस अंश-रूप का मोक्ष कहलाता है। स्थूल शरीर जड़ात्मक प्रकृति से बना एक आवरण है। इसमें चेतन-धार के रहने तक यह स्थित रहता है, नहीं तो मिट जाता है। इस नमूने से यह निश्चित है कि जड़ात्मक प्रकृति के अन्य तीनों आवरण भी मिट जाएँगे, यदि उन तीनों में चेतन-धार वा सुरत न रहे। अन्तर में नादानुसंधान से सुरत जड़ात्मक सब आवरणों से पार हो जाएगी, उनमें नहीं रहेगी और अंत में स्वयं भी आदिनाद के आकर्षण से आकर्षित हो, अपने केन्द्र में केन्द्रित होकर उसमें विलीन हो जाएगी। इस तरह सब आवरणों का मिटाना होगा। उस चेतन-धार के कारण एक पिंड बनने योग्य प्रकृति के जितने अंश की स्थिति (कैवल्य, महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल रूपों में) सम्भव है, वह मिट जाएगी और उसके मिटने से शुद्धात्मा का जो अंश आवरणहीन हो जायगा, वह मुक्त हुआ कहा जायगा।" गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा–

"जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥"
(रामचरितमानस)

जिस तरह थल को छोड़कर जल अलग नहीं रह सकता, उसी तरह से भक्ति को छोड़कर मुक्ति अलग नहीं रहती। इसलिए यदि हम मुक्ति चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि भक्ति की सही युक्ति जानकर आज से ही मनोयोगपूर्वक साधना का आरंभ कर दें। यह प्रवचन अपराह्णकालीन सत्संग के अवसर पर दिनांक–१२.३.१९८९ ई०, स्थान : मिर्जापुर, जिला-भागलपुर में हुआ था। (शान्ति-सन्देश, जून १८८९)

७७.समुँद समाना बूँद में बूझै बिरला कोय

ईश्वर अद्भुत है। उनकी सृष्टि भी अद्भुत है। उनकी सृष्टि में जिस ओर दृष्टि कीजिए, उनकी अनन्तता की ही परिपुष्टि मालूम होगी। छोटी-से-छोटी चीज अथवा बड़ी-से-बड़ी चीज लीजिए, उसके अंदर प्रभु की महानता भरी हुई होती है। आवश्यकता है उस महान् प्रभु को देखने के लिए उस दृष्टि को हम अपना सकें। प्रभु रचना में यह मानव-शरीर सर्वोत्कृष्ट है।

एक सज्जन आयेंगे, वे आपकी हस्तरेखा को देखकर उस आधार पर आपकी भाग्यरेखा के संदर्भ में बतलायेंगे। एक ज्योतिषी जी आपकी जन्म-टिप्पणी को देखकर उस आधार पर आपके लिए कुछ भविष्यवाणी कह देंगे। एक वैद्य आयेंगे, वे वैद्यक दृष्टि से आपको देखेंगे और वे कुछ उसी तरह की बात बतला देंगे। डॉ० साहब आयेंगे, तो अपनी दृष्टि से देखेंगे, फिर वे भी कुछ बतला देंगे। ये सारी-की सारी बाह्य दृष्टियाँ हैं। संतों ने इस शरीर को आंतरिक दृष्टि से देखा और देखकर कहा–

कबीर काया समुँद है, अंत न पावै कोय।
मिरतक होय के जो रहै, माणिक लावै सोय॥

संत कबीर साहब ने इस शरीर को समुद्र बतलाया और कहा कि इस शरीर के अंदर जो मरजीवा होकर रहेगा, वह माणिक यानी मालिक (परब्रह्म-परमात्मा) को पावेगा। पुनः उन्होंने कहा–

बूँद समानी समुँद में, यह जानै सब कोय।
समुँद समाना बूँद में, बूझै बिरला कोय॥

समुद्र में बूँद गिर गयी, उसमें समा गयी, यह बात सब कोई जानते हैं; लेकिन बूँद में समुद्र समाया हुआ है, यह बिरले जन ही जानते हैं।

एक वृक्ष है, उसमें फल लदे हुए हैं। वृक्ष में फल लदे हुए हैं, इसको हम देखते हैं; लेकिन उस वृक्ष का जो बीज है, उस बीज में समूचा वृक्ष समाया हुआ है, उसको तत्त्ववेत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं देखता।

मान लीजिए, हमारे सामने आम का एक बहुत विशाल वृक्ष है। उस विशाल वृक्ष को हम देखते हैं; लेकिन उस वृक्ष का आरंभ गुठली में है, उसको कोई नहीं देखते हैं। इसी भाँति इस संसार में हमारा यह शरीर है, यह हम देखते हैं; लेकिन इस शरीर में

समस्त संसार समाया हआ है, यह नहीं देख पाते। इसी विषय को गुरु नानकदेवजी ने इस तरह कहा है–

सागर महि बूँद, बूँद महि सागरु,
कवणु बुझै विधि जाणै।
उतभुज चलत चापि करि चीणै,
आपे ततु पिछाणै॥
ऐसा गिआन बिचारै कोई,
तिसते मुकति परमगति होई॥

सागर में बूँद और बूँद में सागर है अर्थात् ब्रह्मांड में पिंड और पिंड में ब्रह्मांड है, इसको कौन समझता है? जबतक कोई इस आंतरिक साधना विधि को जानता नहीं, देखने और सुनने की विधि को जानकर अभ्यास करता नहीं है, तबतक तत्त्वत: जानता नहीं है। जानता वही है, जो साधना की सही विधि जानकर अभ्यास करते-करते सफलता प्राप्त करता है। जैसे एक पैथोलॉजिस्ट (Pathologist) डॉक्टर हमारे शरीर से रक्त लेते हैं। वे एक शीशे के छोटे-से टुकड़े पर उसको रख लेते हैं। हमारी नजर में मात्र रक्त है; लेकिन वे डॉक्टर साहब जब यंत्र लगाकर देखते हैं, तो कहते हैं कि रक्त में अमुक रोग का कीड़ा है। हम सामान्य जन तो रक्त की एक बूँद देखते हैं; लेकिन डॉक्टर साहब रक्त में रोग के कीटाणुओं को देखते हैं, क्यों? इसलिए कि हम रक्त देखने की सही विधि नहीं जानते हैं और वे देखने की विधि जानते हैं। उसी तरह सारा संसार इस शरीर में है, इसको हम नहीं जानते हैं; क्योंकि हम देखने की विधि नहीं जानते हैं। संतों ने अंतस्साधना करके दिव्यदृष्टि और आत्मदृष्टि प्राप्त कर अपनी अनुभूति की बात कही है।

सबकी दृष्टि पड़ै अविनासी, बिरले संत पिछानै।
कहै कबीर यह भरम किवाड़ी, जो खोलै सो जानै॥

वस्तुत: हम देखकर भी नहीं देख पाते। मान लीजिए, रूस की भाषा हम नहीं जानते हैं और उस भाषा की किताब हमारे सामने रखी हुई है। उसके पन्ने उलटाकर देख लेने पर भी उसमें क्या लिखा हुआ है, हम पढ़ सकते हैं? कदापि नहीं, क्यों? इसलिए कि यह दृष्टि हमको प्राप्त नहीं है। हमारी दृष्टि में अक्षर तो है, लेकिन क्या है? नहीं जानते हैं। उसी तरह ईश्वर सर्वत्र हैं। हममें भी हैं; किन्तु हम देख नहीं पाते। जो सर्वव्यापक और सर्वव्यापकता के भी परे हैं, वे कहाँ नहीं है? क्या वे हमारी दृष्टि में नहीं हैं? वे हमारी दृष्टि में भी हैं; लेकिन हम पहचान नहीं रहे हैं। यह शरीर क्या है? अथाह समुद्र है।

यह शरीर सागर अवगाहा।
यहि कर नहिं कोइ पावत थाहा॥
अन्तर उलटि निरेखै जोई।
आवागमन मिटावै सोई॥

जबतक हम बहिर्मुख रहेंगे, तबतक पता नहीं चलेगा। जब हम अंतर्मुख होंगे, तभी पता चलेगा। इस छोटे-से शरीर में प्रभु ने गुप्त रूप से क्या-क्या वस्तु रखी है। गुरु नानक देव ने कहा है–

इस काइया अन्दरि बसतु असंखा।
सतगुरु खोजि मिलै ता वेखा॥

असंख्य वस्तुएँ इसमें भरी पड़ी हैं, लेकिन जिनको सच्चे गुरु मिलते हैं, उनसे सद्युक्ति मिलती है। सदाचार का पालन करते हुए संत-साधना करते हैं, तो वे उसको जानते हैं। पाँच तत्त्वों–क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर तथा तीनों गुण–सत्, रज, तम से निर्मित यह शरीर है। इस शरीर के अंदर पाँच कर्मेन्द्रियाँ–हाथ, पैर, मुख, गुदा, उपस्थ; पाँच ज्ञाने-न्द्रियाँ–नेत्र, कर्ण, नासिका, जिभ्या, त्वचा–ये दस इन्द्रियाँ बाहर की हैं और भीतर की चार इन्द्रियाँ– मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; ये कुल चौदह इन्द्रियाँ हैं। मन चौदहों इन्द्रियों के द्वारा हम जग-व्यवहार करते हैं। एक-एक इन्द्रिय के एक-एक देवता नियुक्त हैं। यथा–

मन के देव चन्द्र बुद्धि ब्रह्मा, वासुदेव चित्त केरे।
अहंकार शिव दिशा करन के, नयन भानु सिर हेरे॥
रसना वरुण त्वचा के मारुत, नासा अश्विनी जानो।
सुख के अग्नि इन्द्र हाथन के, देव गुदा यम मानो॥
लिंग के देव प्रजापति सिरजत, चरणन विष्णु विराजै।
चौदह देव वसत यहि तन संग, नित निर्भय ह्वै गाजै॥

ये इन्द्रिय-सुर हमें बहिर्मुख करते हैं–विषय-मुख करते रहते हैं; क्योंकि इनको आत्मज्ञान सुहाता नहीं है। देवताओं के चरित्र का चित्रण किया है गो० तुलसीदासजी महाराज ने रामचरितमानस में–

इन्द्रिय सुरन्ह न ज्ञान सुहाई।
विषय भोग पर प्रीति सदाई॥
इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना।
तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषय बयारी।
ते हठि देहि कपाट उघारी॥

जब सो प्रभंजन उर गृह जाई।
तबहिं दीप विज्ञान बुझाई।।

ये इन्द्रियों के जो देव हैं, ये क्या करते हैं? जब विषय-बयार आती है, तो ये बंद पट को खोल-उघार देते हैं। विषय-रूप हवा भीतर प्रवेश कर ज्ञानी की बुद्धि को भी विकल कर देती है। परिणामस्वरूप वह काम-कांचन के फेर में पड़ जाता है। गोस्वामी जी लिखते हैं–

सोउ मुनि ज्ञान-निधान, मृगनयनी विधुमुख निरखि।
बिबस होइ हरि जान, नारि विष्णु माया प्रगट।।

वे ज्ञान के भंडार मुनि (वाचक ज्ञानी) भी मृगनयनी (युवती स्त्री) के चन्द्रमुख को देखकर विवश (उसके अधीन) हो जाते हैं। कागभुशुण्डिजी जो कहते हैं–हे गरुड़जी! साक्षात् भगवान विष्णु की माया ही स्त्री रूप से प्रकट है।

श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराज ने कहा है–जैसे गिद्ध और चील आकाश की बहुत ऊँचाई पर उड़ते हैं; लेकिन उनकी नजर नीचे पृथ्वी पर पड़ी लाशों पर मँड़राती है, उसी प्रकार वाचक ज्ञानी बातें तो बहुत लंबी-चौड़ी करते हैं; किन्तु उनका मन काम और कांचन पर घूमता रहता है। जबतक कोई अंतः साधना द्वारा मन पर काबू नहीं पा लेता है, तबतक वह मदमस्त गजराज की भाँति विषय-वाटिका में विचरण करता रहता है। बाहर की दसो इन्द्रियाँ मन के द्वारा संचालित होती हैं। प्रभु ने एक-एक इन्द्रिय को एक-एक काम सौंपा है। साथ ही पाँचो कर्मेन्द्रियों का विलक्षण संबंध बाँधा है। यथा–

"मुख ते श्रवण कहत एक सुनई।
त्वचा पाणि स्पर्शइ गुनई।।
रसन उपस्थ भोग दोउ चाहै।
गुदा नासिका नेह निवाहै।।
नयन चरण ते प्रीति रहावै।
नैन फँसे पद ले पहुँचावै।।"

मुख कर्मेन्द्रिय है और कान ज्ञानेन्द्रिय है। मुँह का कान से संबंध है। हम कान से जो सुनते हैं, मुँह से वही बोलते हैं। जैसे जो बच्चा कान से A B C D ... सुनता है, तो वह मुँह से A B C D... बोलता है। कान से जो बच्चा अलिफ वे पे ते... सुनता है, तो मुख से वही बोलता है–अलिफ वे पे ते....। जो बच्चा कान से क ख ग घ सुनता है, तो मुँह से क ख ग घ ... का उच्चारण करता है। जो कान नहीं सुनता है, वह मुँह से नहीं बोलता है। वह प्रायः देखने में भी आता है कि जो बहरा होता है, वह गूँगा भी होता है।

जो शब्द हमारा कर्णप्रिय होगा, वही हमारा वाक्प्रिय भी। कान से सुनने में जो शब्द हमको अच्छा लगता है, मुँह से बोलने में भी हमको वही अच्छा लगता है। कैसे? उत्तर में निवेदन है कि अगर हमारे कान को भगवद्भजन, कीर्तन, भगवत्-यश, संतवचन आदि सुनने में अच्छा लगता है, तो हमारे मुँह से भी भगवत्-भजन-कीर्तन, भगवत्-यश, संत-वचन ही निकलेंगे।

अगर हमारा कान सिनेमा का गाना पसंद करता है, तो हमारा मुँह सिनेमा का गाना गावे, स्वाभाविक है। जिसका कान सिनेमा का गाना पसंद नहीं करता, उनके मुँह से आप कभी भी सिनेमा का गाना नहीं सुनेंगे। ठीक इसी प्रकार जिसका कान भगवत्-भजन सुनना नहीं चाहता, उसके मुँह से कभी भगवत्-भजन नहीं निकल सकता। इसीलिए कहा–

'मुख ते श्रवण कहत एक सुनई।'

अगर हम अपने कान को वश में कर सकते हैं, तो हम अपने मुख को वश में कर सकते हैं। यानी जिनका कान पर अधिकार है, उसका मुँह पर अधिकार होना अस्वाभाविक नहीं।

'त्वचा पाणि स्पर्शइ गुनई।'

त्वचा कहते हैं चमड़े को, यह ज्ञानेन्द्रिय है और हाथ है कर्मेन्द्रिय। इन दोनों का परस्पर संबंध है। त्वचा को जितना कठोर वा मुलायम पसंद होगा, हाथ को वैसा ही स्वीकार होगा। त्वचा जितना शीत वा गर्म सह सकती है, हाथ को वह सहज ही बर्दाश्त होगा।

'रसन उपस्थ भोग दोउ चाहै।'

रसन कहते हैं–जिभ्या को और उपस्थ कहते हैं लिंगेन्द्रिय को। जिभ्या ज्ञानेन्द्रिय है और लिंग कर्मेन्द्रिय है। इन दोनों का संबंध है। एक संत ने कहा है–

जिभ्या इन्द्री एके नाल। जो रोके सो बाचै काल।।

जिसकी जिभ्या अपने अधिकार में नहीं है, वह अपनी लिंग इन्द्रिय पर कभी अधिकार नहीं पा सकता है। महात्मा गाँधी ने लिखा है–

पशु चारागाह से भरपेट भोजन करके घर लौटना जानता है, लेकिन मनुष्य अपने पेट का अंदाजा

नहीं जानता। यही कारण है कि मनुष्य जननेन्द्रिय से पशु जननेन्द्रिय अधिक संयमित होती है। पशु-जननेन्द्रिय के लिए समय निश्चित है; लेकिन मनुष्य के लिए कोई समय निश्चित नहीं है। किसी भी जानवर का हरी-हरी घास चरते-चरते जब पेट भर जाता है, तो वह खेत में बैठकर जुगाली करने लगता है। लेकिन मनुष्य में यह संयम नहीं है।

'गुदा नासिका नेह निभाहै।'

गुदा कर्मेन्द्रिय है और नासिका ज्ञानेन्द्रिय है। जो प्राणवायु को काबू में कर सकते हैं, वे अपान वायु को भी काबू में कर सकते हैं। जिनकी प्राणवायु काबू में नहीं है, वे अपनी अपानवायु को काबू में नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि जिनका प्राण पर अधिकार है, उन्हीं का अपान पर अधिकार हो सकता है। एक इन्द्रिय गंध त्यागनेवाली है और दूसरी इन्द्रिय है गंध ग्रहण करनेवाली।

नैन चरण ते प्रीति रहावै।
नैन फँसे पद ले पहुँचावै॥

आँख ज्ञानेन्द्रिय है और पैर कर्मेन्द्रिय। जिस रूप में आँख फँस जाएगी, पैर वहाँ पहुँच जाएगा। जैसे हमलोग बाजार घूमने के लिए जाते हैं। वहाँ चौराहे पर देखते हैं कि सिनेमा का बहुत बढ़िया चित्र लगा हुआ है। जिस चित्र को बढ़िया कहकर नेत्र पसंद कर लिया, उसको देखने के लिए पैर सिनेमा-हॉल में अवश्य पहुँचाएगा। जिसको उस चौराहे का चित्र पसंद नहीं होगा, वह सिनेमा हॉल में क्यों जाएगा? इसलिए कहा–'नैन फँसे पद ले पहुँचावै।'

प्रभु ने एक-एक इन्द्रिय को एक-एक काम सौंप दिया है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का काम नहीं कर सकती। जैसे आँख का काम रूप देखने का है, वह रूप देखेगी; लेकिन सुनेगी नहीं, रसास्वादन करेगी नहीं, गंध ग्रहण करेगी नहीं, स्पर्श करेगी नहीं। नासिका का काम गंध ग्रहण करने का है, वह मात्र गंध ग्रहण करेगी, न देखेगी, न सुनेगी, न रसास्वादन करेगी और न स्पर्श करेगी। जिभ्या का काम स्वाद का ज्ञान करने का है। वह रसास्वादन करेगी, न देखेगी, न सुनेगी, न गंध ग्रहण करेगी और न स्पर्श ही करेगी। इसी प्रकार त्वचा है। इससे हम स्पर्श का ज्ञान करेंगे; लेकिन यह देखेगी नहीं, सुनेगी नहीं, रसास्वादन करेगी नहीं और न गंध ही ग्रहण करेगी।

बाहर की जो पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, इनके भी अपने-अपने भिन्न-भिन्न कार्य हैं। जैसे हाथ से ग्रहण करना, पैर से चलना, मुँह से भोजन करना उपस्थ से लघुशंका करना और गुदा से मल-विसर्जन करना। उसी तरह भीतर की चार इन्द्रियाँ हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन का काम है–संकल्प-विकल्प करना। बुद्धि का काम है विचार करना। अमुक काम को करना है या नहीं, इसका निर्णय देना। बुद्धि में भी अगर तामसी वृत्ति रही, तो वह अनाप-शनाप विचार देगी। रजोवृत्ति चंचलता पैदा करेगी। सात्त्विकी वृत्ति रहने पर वह उत्तम विचार देगी। चित्त का काम है स्पंदित करना और अहंकार का काम है 'मैंपन' का बोध दिलाना। इस भाँति प्रभु ने इन चौदहों इन्द्रियों को चौदह कार्यों के हेतु नियुक्त किये हैं अर्थात् एक-एक इन्द्रिय का एक-एक काम है। लेकिन ये चौदहो इन्द्रियाँ किनकी हैं? हमारी हैं। और हम किनके हैं? प्रभु के। तो हमारे लिए भी तो कुछ काम होना चाहिए या नहीं? हमारे लिए क्या काम है? इस जीव के लिए प्रभु ने कौन-सा काम सौंपा है? इस जीव का काम है, उस पीव से मिलना। संत कबीर साहब की वाणी है–

'जाके संग बीछुड़ा, ताही के संग लाग।'

परम प्रभु से मिलन, आत्मज्ञान, आत्मसुख वा आत्म-साक्षात्कार कैसे होता है? बहुत पढ़-लिख लेने से, बहुत-से शास्त्रों के अध्ययन-मनन से, बहुत लंबा-चौड़ा व्याख्यान देने से अथवा बहुत बड़ा मेधावी बनने से? नहीं! कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय में लिखा है, यम ने नचिकेता से कहा था–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ् स्वाम्॥

अर्थात् यह आत्मा वेदाध्ययन-द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणा-शक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह (साधक) जिस (आत्मा) का वरण करता है, उस (आत्मा) से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय में एक कथा आयी है कि नारद ऋषि सनत्कुमार अर्थात् स्कन्द के यहाँ जाकर कहने लगे, 'मुझे आत्मज्ञान बतलाओ।' तब सनत्कुमार बोले, 'पहले बतलाओ, तुमने

क्या सीखा है है, फिर मैं बतलाऊँगा।' इस प्रकार नारद ने कहा–'मैंने इतिहास, पुराणरूपी पाँचवें वेद-सहित ऋग्वेद प्रभृति समग्र वेद, व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, कालशास्त्र, नीतिशास्त्र, सभी वेदांग, धर्म शास्त्र, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, क्षत्रविद्या आदि सर्पदेवजन विद्या प्रभृति सब कुछ पढ़ा है; परन्तु जब इससे आत्मज्ञान नहीं हुआ, तब अब आपके यहाँ आया हूँ।' इसको सुनकर सनत्कुमार ने यह उत्तर दिया–'तूने जो कुछ सीखा है, वह तो सारा नाम-रूपात्मक है। सच्चा ब्रह्म इस नाम-ब्रह्म से बहुत आगे है।' और फिर नारद को क्रमशः इस प्रकार पहचान करा दी कि इस नामरूप से अर्थात् सांख्यों की अव्यक्त प्रकृति से अथवा वाणी, आशा, संकल्प मन-बुद्धि और प्राण से भी परे एवं इनसे बढ़-चढ़कर जो है, वही परमात्मरूपी अमृत तत्त्व है। गुरु भक्तिन सहजोबाई ने कहा है–

ना सुख विद्या के पढ़े, ना सुख वाद विवाद।
साध सुखी सहजो कहै, लागै सुन्न समाध॥

और किसी सुभाषितकार की सुभाषित वाणी है–

पढ़े छहो शास्त्र वो अठारहो पुराण पढ़े।
वेद उपवेद आदि अन्त कोई छाना है॥
गीता रामायण और श्रुति स्मृति पढ़े।
सांख्ययोग न्याय आदि दर्शन भी जाना है॥
जाना है बनाना छन्द सोरठा चौपाई को।
जाना है ध्रुपद राग भैरवी का गाना है॥
इतना जो जाना सब खाक धूर छाना है।
जाना है वही जो स्वरूप पहिचाना है॥

यह प्रवचन साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर दिनांक–१.९.१९९१ ई०, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में हुआ था।

(शान्ति-संदेश, अक्टूबर १९९१ ई०)

७८. जीवन बिताओ स्वावलंबी

हाथरस में एक परम विरक्त संत हो गए हैं, जिनका नाम था तुलसी साहब। उनका इस अवनितल पर आविर्भूत होना कब और कहाँ हुआ, अज्ञात है; किन्तु सर्वसाधारण को इतना ज्ञात अवश्य है कि वे हाथरस के किले की खाई में रहा करते थे और स्थानीय शहर से मधुकरी वृत्ति करके अपना काल-क्षेपण किया करते थे। उनकी मधुकरी वृत्ति भी विचित्र थी। सप्ताह में छह दिन तो वे रोटी के लिए भिक्षाटन करते और सातवें दिन मट्ठे के लिए। ऐसा वे इसलिए करते कि छह दिनों की बची-खुची रोटियों के टुकड़े जो भोजनोपरान्त बच जाते, उन्हें वे एकत्र करके रखते और सातवें दिन उन्हीं में मट्ठा मिलाकर भोजन कर लिया करते और निश्चिन्त होकर दिन-रात परमात्म-चिन्तन में लीन रहा करते। संत कबीर ने बड़े मजे में कहा है–

पाँचो कुतिया राम की, करत भजन में भंग।
इनको टुकड़ा डारि के, भजन करो निःशंक॥
चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिये, सोई शाहंशाह॥

'न ऊधो का लेना, न माधो को देना' की भाँति उनको किन्हीं से कुछ लेना-देना नहीं था। एतदर्थ उनको अन्य किसी से विशेष सम्पर्क नहीं था। संयोगवश एक दिन एक धर्मनिष्ठ मुंशीजी को उनके दर्शन हुए। वर्षा के कारण जब खंदक में पानी हो गया, तो उक्त मुंशीजी ने बहुत अनुनय-विनय करके उनको अपने घर ले जाकर यथायोग्य उनकी सेवा की। वर्षावास के पश्चात् वे पुनः स्वस्थान को लौट आए।

मुंशीजी के सुपुत्र का नाम था–मुंशी महेश्वरी लालजी। उन्हें कोई सन्तान न थी। सन्तप्रवर तुलसी साहबजी महाराज के आशीर्वाद से उनको एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, जिनका नाम देवी प्रसाद पड़ा। जब इनकी अवस्था चार वर्ष की हुई, तब संत तुलसी साहब ने इनके मस्तक पर अपना वरद हस्त रखकर शुभाशिष दिया। फलस्वरूप, आगे चलकर ये ही बाबा देवी साहब के नाम से एक प्रसिद्ध महात्मा हुए। आपके सिद्धांत का सार था–मानवमात्र परमात्म-भजन करें, सदाचारी बनें तथा स्वावलम्बी जीवन-यापन करें अर्थात् स्वोपार्जन से जीवन व्यतीत करें। आपका कहना था कि जो बिना परिश्रम किए दूसरे के पसीने की कमाई खाता है, वह दूसरे का खून खाता है; वह वैष्णव नहीं

है। आप स्वावलम्बी बनने पर बहुत जोर दिया करते थे और घूम-घूमकर लोगों में सद्ज्ञान की शिक्षा-दीक्षा का प्रचार किया करते थे।

१९०९ ई० में आपके एक प्रमुख शिष्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज हुए, जो आज पूर्ण शरदिन्दु के सदृश अपने ज्ञानालोक से भारत ही नहीं, अपितु अखिल विश्व को आलोकित कर रहे हैं। आपने साम्प्रदायिक मत-मतांतर के झगड़ों को मिटाया और बताया कि विभिन्न मत, पंथ, धर्म, सम्प्रदाय और मजहब आदि कहकर जो अपने को भिन्न-भिन्न घोषित करते हैं, यथार्थ में वे सभी अभिन्न–एक हैं। जैसे भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रंगों एवं विभिन्न आकारों की गायें होती हैं, किन्तु सभी गायों के दूध का रंग अभिन्न-उज्ज्वल होता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न देशों एवं भिन्न-भिन्न जातियों में संतों के अवतीर्ण होने पर भी सबका ईश्वर-ज्ञान एक है। सबका ईश्वर एक है, चाहे उसे गॉड **(God),** अल्लाह वा ब्रह्म जो कहो, भिन्नता केवल बाह्य प्रदर्शन में है। 'भिन्न-भिन्न काल तथा देशों में संतों के प्रकट होने के कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामों पर इनके अनुयायियों द्वारा संतमत के भिन्न-भिन्न नामकरण होने के कारण संतों के मत में पृथक्त्व ज्ञात होता है; परन्तु यदि मोटी एवं बाहरी बातों को तथा पंथाई भावों को हटाकर विचारा जाए और संतों के मूल एवं सार विचारों को ग्रहण किया जाए, तो यही सिद्ध होगा कि सब संतों का एक ही मत है।'

आपने संतों की एक स्तुति बनाई–'सब संतन्ह की बड़ि बलिहारी।' इस संपूर्ण स्तुति के द्वारा सभी मतों के साधु-संतों के पंथाई एवं साम्प्रदायिक पारस्परिक वैमनस्य भाव मिटाकर सामंजस्य की प्रस्थापना होती है।

आप भगवान बुद्ध की नाईं मनुष्य मात्र को पंचशील-पालन अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से विरत रहने की सीख देकर परमात्म-भक्ति की ओर उन्मुख करते रहे। साथ ही, स्वयं स्वावलम्बी जीवन-यापन करते हुए अन्यों को स्वावलम्बी बनाने की अविराम प्रेरणा करते रहे। आपके गृहस्थ और विरक्त दोनों प्रकार के शिष्य हैं, जो अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार जीविका करके जीवन-यापन करते हैं। आपकी सर्वसाधारण जन के लिए यही शिक्षा है कि सदाचार-समन्वित हो परमात्म-भक्ति करो, परभाग्योपजीवी मत बनो, स्वयं श्रम करके जो उपार्जन कर सको, उससे अपना एवं अपने परिवार का पालन-पोषण करो और अपनी शक्ति के अनुसार तन, मन और धन से दूसरों की सहायता करो। तुम सिंह की तरह पुरुषार्थ करके स्वावलम्बी जीवन बिताओ, लँगड़ी लोमड़ी की तरह प्रमादी और परमुखापेक्षी मत बनो।

साध सिंह का एक मत, जीवत ही को खाय ।
भावहीन मृतक दशा, ताके निकट न जाय ।।

एक लघु कथा है–एक सेठ ने अपने वयस्क पुत्र को प्रमादी देखकर उसे वाणिज्य-व्यापार के लिए थोड़ी पूँजी दी। सेठ-पुत्र ने अल्प दिन में विशेष धनवान होने की आकांक्षा से नेपाल राज्य की यात्रा की। मार्ग में अनेक जंगलों, गिरियों एवं सरिताओं को पार करते हुए वह एक घनघोर कानन में जा पहुँचा, जहाँ मानव के श्वास मात्र की भी गति नहीं थी। वह दुस्साहस करके आगे बढ़ ही रहा था कि बड़ी तीव्रता से दहाड़ते हुए एक सिंह को कानन-कुंज के एक भाग से दूसरे भाग में प्रविष्ट होते देखा। देखते ही उसका दिमाग शून्य हो गया। वदन पसीने-पसीने हो गया और डर से थर-थर काँपने लगा; फिर भी अपने प्राण-रक्षार्थ येन-केन प्रकारेण वह एक पेड़ पर जा चढ़ा। इतने में वह मृगेन्द्र एक मृग का मृगया करके उसे घसीटता हुआ एक माँद के समीप लाया और इच्छापूर्वक भोजन करके उसने अपना रास्ता लिया। पश्चात् वहीं से एक लँगड़ी लोमड़ी निकली और केहरी के उच्छिष्ट को खाकर वहीं एक झाड़ी में छिपकर बैठ गई।

सेठ-पुत्र यह सारा तमाशा देख रहा था। उसने सोचा, जब परमात्मा एक लँगड़ी लोमड़ी पर्यन्त को भरपेट भोजन देता है, तो क्या वह मुझे नहीं देगा, जो मैं अपना घर-वार छोड़कर अपनी जान हथेली में ले जंगल-पहाड़ की खाक छानने चला! ऐसा विचारकर उसने निज घर की राह ली और घर पहुँच अपने पूज्य पिता के श्रीचरणों का अभिवादन करके मार्ग की घटना कह सुनाई। पिता ने कहा–'प्रिय वत्स! तुम परमपिता परमात्मा के निर्देशन को यथार्थतः हृदयंगम न कर सका, तुमने अर्थ को अनर्थ समझ लिया। बेटा! परमात्मा ने तुम्हें लँगड़ी लोमड़ी बनने की नहीं, वरन् केहरिवत् कर्मठ कर्मयोगी बनने की सीख दी।

स्वयं कमाओ, खाओ और बचे हुए को लँगड़े-लूलों के लिए छोड़ दो।'

संतमत की भी यही शिक्षा है। हमें इस बात की अभिज्ञता होनी चाहिए कि संत कबीर साहब ने कभी भिक्षावृत्ति नहीं अपनाई और न गुरु नानक साहब ने ही। संत कबीर साहब स्वयं ताना-बाना करते और उससे जो कुछ भी उन्हें मिल जाता, उसी में वे संतुष्ट हो प्रसन्नतापूर्वक रहते। उन्होंने अपने लिए जो दृढ़ सिद्धांत रखा था कि 'मर जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तन के काज' इसका अक्षरशः पालन किया तथा अन्यों के लिए उनकी सलाह थी–

माँगन मरन समान है, मत कोइ माँगो भीख।
माँगन ते मरना भला, यह सत्गुरु की सीख।।

संत कबीर साहब बहुत संतोषी थे अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि वे संतोष के स्वरूप ही थे। अपनी सच्ची कमाई से उन्हें जो कुछ मिल जाता, उसी में जीवन-निर्वाह कर लिया करते थे। वे कहते–

खुश खाना है खीचड़ी, माँहिं पड़ा टुक लोन।
मांस पराया खाय कर, गला कटावे कौन।।
रूखा सूखा खाय कर, ठंढा पानी पीव।
देख बिरानी चूपड़ी, मत ललचावे जीव।।
कबीर साईं मुज्झ को, रूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, (कहुँ) रूखी छीनि न लेय।।

महान संत दादू दयालजी महाराज स्वयं जंगल जाकर लकड़ी चुन लाते थे और 'कर गुजरान गरीबी में, मन लागो यार राम फकीरी में' को चरितार्थ करते थे। ऐसी ही गाथा हम संत रविदास, संत सजनदास आदि महात्माओं की पाते हैं कि उनलोगों ने भी स्वोपार्जन करके ही 'रूखा फीका गम का टुकड़ा, बासी और अलोना क्या रे' की कुछ भी चिन्ता न करके प्रसन्नतापूर्वक जीवन-यापन किया। अवश्य ही भगवान बुद्ध और भगवान शंकर ने भिक्षाटन करके उदर-भर अन्न और तन-भर वस्त्र लिया, किन्तु यह कोई असंगत बात नहीं। संत कबीर साहब कहते हैं–

उदर समाता अन्न ले, तनहिं समाता चीर।
अधिका संग्रह ना करे, ताका नाम फकीर।।

उस स्वल्प परिमाण की वस्तु को लेकर उसके बदले में उन महान अवतार ने संसार के हित-हेतु जिस सत्य ज्ञान की अमूल्य निधि प्रदान की, उसका मूल्यांकन कौन कर सकता है? भगवान बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा–

न तेन भिक्खु (सो) होति यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता।।

(धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो)

अर्थात् दूसरों के पास जाकर भिक्षा माँगने मात्र से भिक्षु नहीं होता। जो सारे (बुरे) धर्मों (कर्मों) को ग्रहण करता है, (वह) भिक्षु नहीं होता। और भी देखिए–

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो।।३।।

(धम्मपद, निरयवग्गो)

अर्थात् असंयमी दुराचारी हो राष्ट्र का पिण्ड (देश का अन्न) खाने की अपेक्षा अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है। साथ ही, उन्होंने यह भी बतलाया कि भिक्षु किसे कहते हैं–

सब्बसो नामरूपस्मिं यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति स वे भिक्खूति वुच्चति।।८।।

(धम्मपद, भिक्खुवग्गो)

अर्थात् जिसकी नामरूप (जगत) में बिल्कुल ही ममता नहीं और नहीं होने पर जो शोक नहीं करता है, वही भिक्षु कहा जाता है।

साथ ही, भिक्षुओं के कर्त्तव्य निश्चित करके उसपर चलने की सतत प्रेरणा भगवान बुद्ध देते रहते। उन्होंने कहा–

तत्रायमादि भवति इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठी पातिमोक्खे च संवरो।
मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते।।

(धम्मपद, गाथा ३७५)

अर्थात् इस धर्म में ज्ञानी भिक्षु का इसी से प्रारम्भ होता है–इन्द्रिय-संयम, संतोष और प्रतिमोक्ष नियमों का पालन। शुद्ध जीविकावाले, निरालस तथा सच्चे मित्रों का संग करे।

अप्पलाभोपि चे भिक्खू सलाभं नातिमञ्ञेति।
तं वे देवा पसंसन्ति सुद्धाजीविं अतन्दितं।।

(धम्मपद, गाथा ३६६)

अर्थात् चाहे अल्प ही हो, भिक्षु अपने लाभ की अवहेलना न करे। उसकी देवता प्रशंसा करते हैं, जो शुद्ध जीविकावाला और आलस्य-रहित है।

इस संबंध में महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज का कथन है–'साधक को स्वावलम्बी होना चाहिए। अपने पसीने की कमाई से उसका अपना निर्वाह

करना चाहिए। थोड़ी-सी वस्तुओं को पाकर ही अपने को संतुष्ट रखने की आदत लगानी उसके लिए परमोचित है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से खूब बचते रहना चाहिए और दया, शील, संतोष, क्षमा, नम्रता आदि मन के उत्तम और सात्त्विक गुणों को धारण करते रहना साधक के पक्ष में अत्यन्त हितकर है।'

अतएव दृढ़ता से जानना चाहिए कि संतमत लोगों को प्रमादी नहीं बनता, बल्कि कर्मठ कर्मयोगी बनने की अविराम प्रेरणा देता है और दुंदुभि-नादों से निनादित करता है–

जीवन बिताओ स्वावलम्बी, भरम भाँड़े फोड़िकर।
सन्तों की आज्ञा हैं ये 'मेँहीँ', माथ धर छल छोड़िकर।।

(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

(शान्ति-सन्देश, मार्च १९९१ ई०)

७९. किसी वेश में रहो, भजन करो

अखिल विश्व के समस्त देशों के समक्ष हमारा देश भारतवर्ष अति प्राचीन काल से अध्यात्मवाद के लिए प्रसिद्ध होता चला आ रहा है। जिस प्रकार जलाशय में काल पाकर विभिन्न प्रकार के पद्म उत्फुल्ल होकर अपने सौन्दर्य एवं सौरभ से उस सरोवर को शोभायमान एवं सुरभित करते हैं, उसी भाँति इस भारत-भूमि पर ऋषि, मुनि, योगी, ज्ञानी, भक्त, संतजन एवं अवतारी पुरुष अवतीर्ण होकर अपने पावन पादपद्मों से इसे पवित्र कर योग, ज्ञान, ध्यान, भक्ति, मुक्ति तथा सच्चरित्रता प्रभृति की सीख दे अमरत्व होने का संदेश देते रहे हैं। किन्तु इन साधु-संत की पहचान सर्वसाधारण के लिए अति दुर्विज्ञेय है; क्योंकि सभी संतों ने लौकिक दृष्टि से बाहर में अपने को एक ही ढंग में नहीं रखा। किसी ने अपने को साधारण सांसारिक जन की नाईं गृहस्थाश्रम को अपनाकर तथा उसी में अवस्थित होकर जीवन-यापन किया, तो किसी ने गृहस्थ जीवन से अपने को सुदूर रखकर। किसी ने अपने को साधु-संन्यासियों के वेश में रखा, तो किसी ने अपने को शुद्ध गृहस्थ का बाना पहनाकर।

जैसे भगवान बुद्ध, महायोगी गोरखनाथजी महाराज तथा श्रीमदाद्य शंकराचार्यजी महाराज आदि संतों ने अपने को संन्यासी के वेश में रखा, तो संत कबीर साहब, गुरु नानकदेवजी तथा संत तुकारामजी प्रभृति संतों ने गृहस्थाश्रमी वेश-भूषा में अपना जीवन बिताया। प्राचीन एवं प्रसिद्ध राजर्षि जनकजी गृहस्थाश्रम में स्वर्ग का निर्माण करते हुए विदेह कहलाए। बाबा गुरु नानकदेवजी ने राजसी ठाट में रहते गृहस्थ का जीवन-यापन करते हुए जीवन्मुक्ति की दशा प्राप्त की। इसीलिए तो आज भी 'जनक विदेही नानका' की गूँज घर-घर में व्यापक है। संत तुकारामजी महाराज साधारण गृहस्थ परिवार में रहकर परमपद के अधिकारी हुए। संतों की ऐसी अनेक जीवनगाथाएँ हैं। एक दिन के सत्संग-प्रवचन में कहते हुए पूज्यपाद गुरुदेव (महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज) ने कहा–'संतों में कितनों ने तो गृहस्थ जीवन के राजशाही वेश में रहकर परमात्मा को प्राप्त किया और कितने ऐसे भी हुए, जिन्होंने गृहस्थ-जीवन से दूर–संन्यासी वेश में रहकर उस पद को प्राप्त किया। संतों में से किसी ने भी किसी वेश विशेष की प्रधानता नहीं दी है, वहाँ तो दृढ़ ध्यानाभ्यास करने की ही प्रधानता दी गई है, जिसके माध्यम से सभी संतजन परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष-पदाधिकारी हुए।

यथार्थ बात तो यह है कि असंयमित मन के साथ गृहस्थ अथवा विरक्त किसी भी आश्रम वा किसी भी वेश में रहने से न तो परमात्म-भजन ठीक-ठीक होता है और न परमात्मा की प्राप्ति ही। किन्तु संयमित मन के साथ गृहस्थ अथवा विरक्त किसी आश्रम वा वेश में रहने से, परमात्म-भजन ठीक-ठीक होगा और परमात्मा की प्राप्ति भी होगी। इसलिए किसी वेश में रहो, किन्तु दृढ़ ध्यानाभ्यास करो–संतों का यही संदेश है।

संतों ने किसी खास वेश पर जोर नहीं दिया कि तुम अमुक वेश में ही रहो, बल्कि उन्होंने किसी वेश का पक्षपात करनेवाले–किसी एक वेश पर ही जोर देनेवालों की भर्त्सना की है। जैसे किसी सम्प्रदाय

या मत वाले ने काषाय वस्त्र धारण करनेवालों को बढ़ाने पर जोर दिया, तो किसी ने काषाय वस्त्र पहन कर मुण्डित रहने पर और किसी ने श्वेताम्बर धारण कर जटा या बाल बढ़ाने पर जोर दिया, तो किसी ने दिगम्बर रहकर बाल मुँड़ाने पर। किसी ने लाल चन्दन पर जोर दिया, तो किसी ने श्वेत चन्दन पर और किसी ने भस्म लगाने पर जोर लगाया, तो किसी ने कण्ठी-माला पहनने और फेरने पर। संतों ने इन बखेड़ों को मिटाने के लिए कहा–

मन न रंगाये रंगाये जोगी कपड़ा।
दढ़िया बढ़ाय जोगी होइ गेलै बकरा।।

संत कबीर साहब ने मुण्डित रहने पर जोर देनेवालों के लिए कहा–

केसन कहा बिगाड़िया, जो मूंड़ो सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूड़िये, जामें विषय विकार।।
मुड़ मुड़ाये हरि मिलै, तो सब कोइ लेय मुड़ाय।
बार बार के मूड़ते, भेंड़ बैकुण्ठ न जाय।।

तिलक तथा कण्ठी-माला पर जोर देनेवालों के लिए कहा–

'कबीर माला मनहिं की, और संसारी भेख।
माला फेरै हरि मिलै, तो गले रहट के देख।।
माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुँह माहिँ।
मनुवाँ तो दह दिशि फिरै, यह तो सुमिरण नाहिं।।'
'काह भये नर जटा बढ़ाये, का गुदरी के सिये।
का रे भये कंठी के बाँधे, काह तिलक के दिये।।'
–संत कबीर साहब

गुरु नानकदेवजी ने कहा है, गुदड़ी पहनने से, दण्ड-कमण्डल रखने से, भस्म लगाने से, शिर मुँड़ा लेने से, व्याख्यान की झड़ी लगा देने से, श्मशान में रहने से, देश-देशान्तर में भ्रमण करने से और तीर्थ-स्थान करने से योग-साधन नहीं होता और न परमात्मा की पहचान ही होती है।

जोगु न खिंथा जोग न डंडै, जोगु न भसम चड़ाईऐ।
जोगु न मुंदी मूंड़ि मूंडाइऐ, जोग न सिंञी वाईऐ।।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ, जोग जुगति इव पाईऐ।
गली जोगु न होई।
एक द्रिसटि करि समसरि जाणै, जोगी कहीऐ सोई।।
जोग न बाहरि मड़ी मसाणी, जोग न ताड़ी लाईऐ।
जोगु न देसि दिसंतरि भविऐ, जोग न तीरथि नाईऐ।।
–गुरु नानकदेव

भगवान बुद्ध ने कहा–

न नग्गचरिया न जटा न पंका नाना सका थण्डिल सायिका वा।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं सोधेन्ति मच्चं अवितिण्ण कंखं।।
–धम्मपद, गाथा १४१

अर्थात् जिस पुरुष की आकांक्षाएँ समाप्त नहीं हो गई हैं, उस मनुष्य की शुद्धि न नंगे रहने से, न जटा से, न पंक (लपटने) से, न फाका (उपवास) करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल लपेटने से और न ऊकड़ू बैठने से होती है। बल्कि उन्होंने ही कहा–

अलंकतो चेपि समंचरेय्य संतो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू।।
–धम्मपद, गाथा १४२

अर्थात् अलंकृत रहते भी यदि वह शान्त, दान्त, नियम-तत्पर, ब्रह्मचारी तथा सारे प्राणियों के प्रति दण्डत्यागी है तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण (संन्यासी), वही भिक्षु है।

संत दादू दयालजी के शिष्य श्रीरज्जबजी ने ब्रह्मचारी और वैरागी होते हुए दुल्हे के वेश में रहकर अपना जीवन-यापन किया और संयम एवं साधना के बल पर उस पद को प्राप्त किया, जिस पद के अधिकारी अन्य सभी संत हुए। इसलिए संतों ने किसी एक ही वेश पर विशेष जोर नहीं दिया। बल्कि किसी भी प्रकार का वेश धारण करने की उन्होंने स्वतन्त्रता दी और कहा कि तुम किसी वेश में (बाल बढ़ाकर या मुण्डित रहकर) रहो; किन्तु चाहिए–परमात्मा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम।

प्रेम भाव एक चाहिये, भेष अनेक बनाय।
भावै लम्बे केस रख, भावै घूंट मुड़ाय।।
–संत कबीर साहब

संत-दरबार में कुवेश-सुवेश किसी से भी घृणा नहीं। बल्कि वहाँ तो–

किये कुबेष साधु सनमानू।
जिमि जग जामबन्त हनुमानू।।
और– लखि सुबेष जग बंचक जेऊ।
वेष प्रताप पूजियत तेऊ।।
उघरे अन्त न होहिं निबाहू।
कालनेमि जिमि रावण राहू।।
–गो० तुलसीदासजी महाराज

ऐसी बात है। परम संत बाबा देवी साहब का वचन है–'हिन्दू, मुसलमान, ईसाई कुछ भी बने रहो,

परन्तु दुनिया में दुःख-सुख भोगते हुए अन्तर में बिना अभ्यास किए एक दिन भी मत रहो।'

आशय यह कि आप किसी भी धर्म के माननेवाले क्यों न हों, सच्चे सद्गुरु से परमात्म-भजन की सद्युक्ति जानकर नित्य नियमित रूप से अवश्य भजन कीजिए। आप हाफ पेंट, कोट-बूट-सूट, जाकिट पहने हों या लुंगी अथवा पाजामा पहने हों या धोती ही पहने हों; नियन्त्रित मन से परमात्म-भजन अवश्य कीजिए और जबतक लक्ष्य की प्राप्ति न हो, उद्योग में शिथिलता नहीं आने दीजिए। आप जिस अवस्था में हों, ऐश्वर्यवान बनकर अथवा धनहीन होकर परमात्मा की मौज में, उनकी कृपा में संतुष्ट रहिए और सदाचार- समन्वित होकर भजन कीजिए। गरीब, अमीर और गृहस्थ-विरक्त की कोई बात नहीं है; सभी परमात्म- भजन के समान अधिकारी हैं।

राज महि राजा योग महिं योगी ।
तप में तपीसुर गृहस्थ माहिं भोगी ।।
—गुरु नानकदेव

भगवत्-भजन में ऊँच-नीच जाति के अनुकूल अधिकार वा अनधिकार नहीं है। वहाँ तो—

जाति पाँति पूछे नहिँ कोई ।
हरि को भजै सो हरि का होई ।।

तथा— साहब के दरबार में केवल भक्ति पियार ।
केवल भक्ति प्यार गुरु भक्ति में राजी ।
तजा सकल पकवान खाये दासी सुत भाजी ।।
जप तप नेम आचार करे बहुतेरा कोई ।
खाये शबरी के बेर मुए सब ऋषि मुनि रोई ।।
राजा युधिष्ठिर यज्ञ बटोरा जोड़ा सकल समाजा ।
मरदा सबका मान श्वपच बिन घण्ट न बाजा ।।
पलटू ऊँची जाति का मत कोउ कर हंकार ।
साहब के दरबार में केवल भक्ति पियार ।।

और भी,

क्या द्विजाति क्या शुद्र ईश को वेश्या भी भज सकती है ।
भक्ति भाव में श्वपचों को भी शुचिता कब तज सकती है ।।

संतों का यही मत है। इसलिए धनी-निर्धन, सुजाति-कुजाति, गृहस्थ-विरक्त कोई भी हों और किसी भी वेश में हों, परमात्म-भजन कीजिए।

(शान्ति-सन्देश, अप्रैल १९९१)

८०. सतगुरु की महिमा अनन्त

आदरणीय सज्जनवृन्द तथा आदरणीया माताओ एवं भक्तिमती बहनो!

आज गुरु-पूर्णिमा के अवसर पर गुरु-पूजा हेतु आपलोगों की आध्यात्मिक उन्नति जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है और इसके लिए आपलोगों को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। इस चिलचिलाती धूप में ग्रीष्म-वर्षा की चिन्ता नहीं कर यत्र-तत्र से आपलोग यहाँ एकत्र हुए हैं, यह इस बात का द्योतक है कि आपलोगों को गुरुदेव के प्रति कितनी अधिक आस्था है। यहाँ आपलोगों के निवास, भोजन आदि किसी की भी समुचित व्यवस्था नहीं है, फिर भी आपलोग प्रसन्न मन से सत्संग में संलग्न हैं।

आज आषाढ़ पूर्णिमा है। आज की तिथि को ही पराशर मुनि के पुत्र व्यासदेवजी का जन्म हुआ था, इसलिए इसको व्यास-पूर्णिमा भी कहते हैं। वास्तव में इनका नाम कृष्णद्वैपायन था। ये कृष्ण वर्ण के थे और द्वीप में इनका अवतरण हुआ था। वेद को चार भागों में विभक्त करने के कारण इनकी संज्ञा 'वेद व्यास' पड़ी। ये बहुत बड़े विद्वान थे। इन्होंने अठारहो पुराणों की रचना की। शास्त्रार्थ के लिए बुलाने पर ये ईरान गये थे। वहाँ उनकी विजय हुई और जगत्-गुरु की उपाधि मिली। तबसे व्यास-पूजा को लोग गुरु-पूजा के नाम से अभिहित करने लगे। उस तिथि को गुरु-श्रद्धालु भक्तगण अपने-अपने गुरु की पूजा करते हैं।

अवश्य ही जो 'गुरु' हैं, उनकी पूजा होनी चाहिए। संत सद्गुरु की पूजा में सबकी पूजा हो जाती है। जैसे वृक्ष की जड़ में पानी डालने से संपूर्ण वृक्ष हरा-भरा रहता है, इसी प्रकार एक गुरु-पूजा से समस्त देवी-देव प्रसन्न हो जाते हैं। क्यों? इसलिए कि—

देवी देव समस्त पूरण ब्रह्म परम प्रभू ।
गुरु में करैं निवास कहत हैं संत सभू ।।

(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

जैसे हाथी के पद-चिह्न में सभी प्राणियों के पद-चिह्न समा जाते हैं, वैसे ही गुरु-पूजा हो जाने पर और कोई पूजा बाकी नहीं रह जाती, सबकी हो जाती है। संत-सद्गुरु की महिमा अनन्त है। वे अपने शिष्य के अनन्त लोचन का उन्मेष कराकर अनन्तस्वरूपी सर्वेश्वर का साक्षात्कार करा अनन्त उपकार करते हैं। इसलिये तो संत कबीर साहब ने कहा था–

सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त दिखावनहार॥

सच्छास्त्रों में गुरु की तुलना कहीं देव से, तो कहीं त्रिदेव से कही गयी है। कहीं ईश्वर से, तो कहीं ईश्वर से बढ़कर की गयी है। योगशिखोपनिषद् में कहा गया है, यथा–

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।'

अर्थात् जिसकी देव में अत्यन्त भक्ति है (उसकी गुरु में भी, वैसी ही होनी चाहिए), गुरु और देव समान हैं। इसी योगशिखोपनिषद् के पंचम अध्याय में त्रिदेव से तुलना करते हुए इस प्रकार कहा गया है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूज्येत्परया भक्त्या तस्य ज्ञान फलं भवेत॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥

अर्थात् गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव हैं। तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर कोई नहीं है। दिव्य ज्ञान के उपदेश देनेवाले उपस्थित प्रत्यक्ष परमेश्वर की भक्ति के साथ उपासना करे, तब वह शिष्य ज्ञान का फल प्राप्त करेगा। जैसे गुरु हैं, वैसे ही ईश हैं; जैसे ईश हैं, वैसे ही गुरु हैं। इन दोनों में भेद नहीं है, इस भावना से पूजा करे। संत चरणदासजी महाराज कहते हैं–

"गुरु ही शेष महेश, तोहि चेतन करैं।
गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु होय खाली भरैं॥"

गो० तुलसीदासजी महाराज गुरु और हरि की समानता इस भाँति बतलाते हैं–

श्रीहरि गुरु पद कमल भजहिं, मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि, सुख निधान भगवान॥

संत कबीर साहब गुरु को परमात्म-रूप में देखते हैं। वे कहते हैं–

परमातम गुरु निकट विराजैं, जागु जागु मन मेरे।

हमलोग प्रतिदिन प्रातःकालीन गुरु-स्तुति में परम पुरुष से गुरु विशेष हैं, का पाठ करते हैं–

"नमो नमो सतगुरु नमो, जा सम कोउ न आन।
परम पुरुष हू तें अधिक, गावैं संत सुजान॥"

संत चरणदासजी महाराज की शिष्या गुरु भक्तिन सहजोबाई ने हरि से गुरु की विशेषता के कारण का विश्लेषण बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है–

"राम तजूँ पै गुरु न विसारूँ।
गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं।
गुरु ने आवागमन छुटाहीं॥
हरि ने पाँच चोर दिये साथा।
गुरु ने लई छुटाय अनाथा॥
हरि ने कुटुँब जाल में गेरी।
गुरु ने काटी ममता बेरी॥
हरि ने रोग भोग उरझायौ।
गुरु जोगी कर सबै छुटायौ॥
हरि ने कर्म भर्म भरमायौ।
गुरु ने आतम रूप लखायौ॥
हरि ने मो सूँ आप छिपायौ।
गुरु दीपक दे ताहि दिखायौ॥
फिर हरि बंधमुक्ति गति लाये।
गुरु ने सबही भर्म मिटाये॥
चरणदास पर तन मन वारूँ।
गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ॥"

जबसे हम इस संसार में आये हैं–शरीर में आये हैं, हमारे प्रभु हरदम, हरपल हमारे साथ रहे हैं; किन्तु उन्होंने कभी भी मुझसे नहीं कहा कि मैं तुम्हारे साथ ही हूँ, दर्शन कर लो, कल्याण हो जाएगा; भव दुःख मिट जाएगा, आवागमन का चक्र छूट जाएगा। हमारे प्रभु सतत हमारे अंग-संग रहते हम दुःखी हैं। इसीलिए तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा था–

"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥"

अपने गुरुदेव की वाणी में भी हम पढ़ते हैं कि प्रभु से गुरु विशेष हैं; क्योंकि बिना गुरु के प्रभु नहीं मिलते, यद्यपि वे हमारे उरपुर में भरपूर हैं–

प्रभु हू से गुरु अधिक जगत विख्यात अहै।
बिनु गुरु प्रभु नहिं मिलैं, यदपि घट माहिं रहै॥

उर माँही प्रभु गुप्त अन्धेरा छाइ रहै।
गुरु गुर करत प्रकाश प्रभु को प्रत्यक्ष लहै॥
हरदम प्रभु रहें संग कबहुँ भव दुख न टरै।
भव दुख गुरु दें टारि सकल जय जयति करैं॥

इस संदर्भ में अब संत सुंदरदासजी सुंदर उक्ति उनकी ही सुंदर वाणी में सुनिये–

गोविन्द के किये जीव, जात है रसातल को।
गुरु उपदेशै सो तो, छूटै यम फन्द तैं॥
गोविन्द के किये जीव, वश परे कर्मन के।
गुरु के निवारे सूँ, फिरत है स्वछंद तैं॥
गोविन्द के किये जीव, डूबत भवसागर में।
सुन्दर कहत गुरु, काढ़ै दुख द्वन्द्व तें॥
औरहू कहाँ लौं कछु, मुख तें कहूँ बनाय।
गुरु की तौ महिमा, अधिक है गोविन्द तें॥

गुरु की जितनी महिमा गायी जाए, थोड़ी होगी। संत कबीर साहब कहते हैं–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय॥
सब धरती कागद करूँ, लेखनी सब बनराय।
सात समुँद की मसि करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय॥

विद्या-वरदा वीणापाणि जैसी वक्ता और गणपति जैसे लेखनकर्ता द्वारा भी गुरु-गुण बखान कर उनकी महिमा का अवसान नहीं किया जा सकता। चतुर्मुख ब्रह्मा, पंचमुख शिव, षण्मुख कार्तिकेय और सहस्त्रमुख शेष भी जिनके यशगान कर निःशेष नहीं कर सकते, फिर मुझ जैसा गोबर गणेश कुछ विशेष कैसे कह सकता है? इसी हेतु हमारे गुरुदेव ने कहा था–

"गुरुगुण अमित अमित को जाना।
संक्षेपहिं सब करत बखाना॥"

किसी ने कितना अच्छा कहा है–क्या, कल्पतरु को किसी अन्य पुष्प द्वारा सजाया जा सकता है? क्या चंदन पर कोई लेप लगाया जा सकता है? क्या आकाश को कोई उबटन लगा सकता है? अथवा उसको और अधिक ऊपर उठाया जा सकता है? क्या कर्पूर की सुगंधि को बढ़ाने के लिए उसमें कुछ मिश्रित करने की आवश्यकता है? यदि नहीं, तो इसी प्रकार संत सद्गुरु का गुण-गान कर उसका समापन नहीं किया जा सकता। जैसे सूर्य के प्रकाश से समस्त जगत् प्रकाशित होता है, फिर भी श्रद्धालु भक्त उनको प्रदीप दिखाते हैं। इसी भाँति संत सद्गुरु के ज्ञानालोक से विश्व आलोकित होता है, तथापि श्रद्धालु शिष्य अपने गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा सुमन चढ़ाकर संतुष्ट होते हैं। सद्गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए संत दादू दयालजी महाराज कहते हैं–

"सतगुरु पशु मानस करैं, मानस थैं सिध सोय।
दादू सिध थैं देवता, देव निरंजन होय॥"

संत सद्गुरु क्या नहीं कर सकते। वे पतित को पावन करनेवाले और नीचे को ऊपर उठानेवाले हैं, वे शिष्यों की पाशविक वृत्ति को दूर करनेवाले होते हैं। दानवता को दूर कर मानवता प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, देवताओं का देवत्व और प्रभु का प्रभुत्व उनमें ला देते हैं। वे सर्वेश्वर दाता होते हैं। वे क्या नहीं दे सकते! क्या नहीं कर सकते! वे सर्वसमर्थ होते हैं। जो प्रभु नहीं दे सकते, वे गुरु दे सकते हैं–

गुरु देवैं तासौं अधिक, राम सकै नहिं देय।
मूर्ख बिगाड़े आपने, गुरु तजि रामहिं सेय॥
गुरु रुचि स्वीकृत राम को, जानहु बारंबार।
जो गुरु रुचि देवन नहीं, कभी न दे करतार॥

इसका अर्थ यह नहीं है कि जैसे-तैसे को गुरु धारण कर लिया जाए। इस संबंध में बहुत सोच-समझ की आवश्यकता है। हमारे यहाँ यह कहावत तो सुप्रसिद्ध है ही–

'गुरु कीजिये जान, पानी पीजिये छान।'

'गुरु' कहते किनको हैं? संत कबीर साहब कहते हैं–

गुरु नाम है ज्ञान का, शिष्य सीख ले सोय।
ज्ञान मर्याद जाने बिना, गुरु अरु शिष्य न कोय॥

इस विषय में शास्त्र की सम्मति इस प्रकार है–

गु शब्दस्तवन्धकारः स्याद् रु शब्दस्तन्निवारकः।
अंधकार निरोधीत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥

इस प्रकार 'गुरु' शब्द का अर्थ अंधकार का निवारक होता है। तात्पर्य यह कि जो अज्ञानांधकार को दूरीभूत कर प्रकाशपुंज में प्रतिष्ठित करें, वे गुरु हैं। गो० तुलसीदासजी के विचार में–'जो अज्ञानपद से ऊपर उठकर ज्ञान का कथन करते हों, अंधकारहीन होकर प्रकाश का वर्णन करते हों और त्रयगुण से परे निर्गुण में प्रतिष्ठित होकर अगुण का गुणगान करते हों, वे गुरु हैं। संत पलटू साहब कहते हैं–

धुन आनै जो गगन की सो मेरा गुरुदेव॥
सो मेरा गुरुदेव सेवा मैं करिहौं वाकी।

शब्द में है गलतान अवस्था ऐसी जाकी ॥
निस दिन दसा अरूढ़ लगै ना भूख पियासा।
ज्ञान भूमि के बीच चलत है उलटी स्वासा ॥
तुरिया सेति अतीत सोधि फिरि सहज समाधी।
भजन तेल की धार साधना निर्मल साधी ॥
पलटू तन मन वारिये मिलै जो ऐसा कोउ।
धुन आनै जो गगन की सो मेरा गुरुदेव ॥

एक धनी दूसरे धनी को अपना धन देकर धनवान बना सकता है। एक विद्वान अपनी विद्या का दान देकर दूसरे को विद्वान बना सकता है, तब एक संत सद्गुरु अपने योगबल से शिष्य के योगबल को बढ़ावे, इसमें संशय कहाँ है? पारस पत्थर अपने स्पर्श से लोहे को सोना बना सकता है। चंदन वृक्ष अपनी सुगंध से अन्य वृक्षों को चंदन बना सकता है। तब यदि कोई योग्य गुरु अपने श्रद्धालु शिष्य में अपनी यौगिक शक्ति का संचार कर उसको योग्य बना दे, तो इसमें विस्मय की बात ही क्या है?

पूरे और सच्चे सद्गुरु को धारण करने का फल तो अपार है ही; परन्तु ऐसे गुरु का मिलना अति दुर्लभ है। उनकी पहचान भी आसान नहीं है। फिर भी जो ज्ञान-नेत्रधारी हैं, वे तो कुछ-कुछ जान भी सकते हैं; लेकिन अनजान के लिए तो कहना ही क्या? सूर्य को सब कोई देख सकते हैं; किन्तु उल्लू नहीं देख पाता।

फूटी आँख विवेक की, लखे न संत असंत।
जाके संग दस बीस है, ताका नाम महंत ॥

महंत और महंत-संतान बनने से कल्याण नहीं होगा। उद्धार तो तभी होगा, जब हम संत वा संत-संतान बन सकेंगे। हमारे गुरुदेव का अनमोल वाक्य है–

संतमता बिनु गति नहीं, सुनो सकल दे कान।
जौं चाहो उद्धार को, बनो संत संतान ॥

आज गुरु-पूजा का दिन है। पूजा किनकी हो? इसकी विशद व्याख्या संत पलटू साहब ने की है। उन्होंने कहा–'बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया विचार।' बड़ा कौन? ताड़ वृक्ष बड़ा होता है; लेकिन उसकी पूजा कोई नहीं करता, करता है तुलसी बिरवा की, जिसकी ऊँचाई बहुत थोड़ी होती है। हिमालय पहाड़ बहुत बड़ा और उसकी ऊँचाई गगनचुम्बी है। लोग उसकी पूजा नहीं कर छोटे-से पत्थर शालिग्राम–शिवलिंग की पूजा करते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि वेश-विशेष के कारण नहीं, बल्कि गुण-विशेष के कारण पूजा होती है। जो गुरु के गुण से गुणान्वित हों, उनकी पूजा अवश्य होनी चाहिए। अब पलटू साहब की पूरी वाणी सुनिये–

बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया विचार ॥
संतन किया विचार, ज्ञान का दीपक लीन्हा।
देवता तैंतिस कोटि, नजर में सबको चीन्हा ॥
सबका खंडन किया, खोजि के तीनि निकारा।
तीनों में दुइ सही, मुक्ति का एकै द्वारा ॥
हरि को लिया निकारि, बहुरि तिन मंत्र विचारा।
हरि हैं गुण के बीच, संत हैं गुण तें न्यारा ॥
पलटू प्रथमै संत जन, दूजे हैं करतार।
बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया विचार ॥

वैदिक संस्कृति में तैंतीस करोड़ देवी-देवता बताये गये हैं। कोई भी उपासक एक-एक करके इतने देवी-देवताओं की पूजा वा उपासना नहीं कर सकते। मान लिया–किसी ने किसी प्रकार से एक करोड़ की पूजा करके उनको प्रसन्न कर भी लिया, तो फिर भी बत्तीस करोड़ देवी-देवता तो उससे अप्रसन्न ही रहेंगे। ऐसी अवस्था में क्या उपाय है कि उन सबको प्रसन्न किया जाय? संत पलटू साहब ने उन तैंतीस करोड़ों का मनन-चिन्तन कर त्रिदेव का चयन किया। पुनः तीनों में उन्होंने हरि को चुनकर देखा, तो उनको त्रिगुण में और संत को निर्गुण के भी परे पाया।

सगुण की सेवा करो, निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सगुण के परे, तहाँ हमारा ध्यान ॥
(संत कबीर साहब)

"निरगुन सरगुन त्रयगुण ते दूरि।
रहा अलिप्त नानक भरपूरि ॥"
(गुरु नानकदेवजी)

हम अपने गुरुदेव के वचन में पाते हैं–

सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर औरु अक्षर पार में।
निर्गुण सगुण के पार में सत असत हू के पार में ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी भी इस विचार से सहमत हैं। संत कैसे होते हैं, इस विषय में वे अपना विचार व्यक्त करते हैं–

"शांत निरपेच्छ निर्मम निरामय
अगुण शब्द ब्रह्मैक पर ब्रह्म ज्ञानी।"

इन्हीं संतों में से कोई एक हमारे सद्गुरु होते हैं। संतों का ज्ञानोपदेश सामूहिक होता है; किन्तु वो

हमारे गुरुदेव होते हैं, वे व्यक्तिगत रूप से हमें शिक्षा-दीक्षा देते हैं। सभी संतों का समान रूप से सम्मान हो, किन्हीं का भी अपमान नहीं हो। इसलिये "सब सन्तह की बड़ि बलिहारी" कहकर उन सबकी हम स्तुति करते हैं। तथा–

एकहि साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो गहि सेवै मूल को, फूले फलै अघाय॥

जैसे तरुवर की जड़ में जल देने से सम्पूर्ण वृक्ष हरा-भरा होकर फल-फूल से भर जाता है, वैसे ही एक सन्त सद्गुरु के भजन-पूजन में सबके भजन-पूजन सम्पन्न हो जाते हैं। जैसे वेसन में नमक डाल देने से छोटी-बड़ी सभी प्रकार की पकौड़ियों में समान रूप से लवण हो जाता है। उसी तरह एक गुरुदेव की उपासना में छोटे-बड़े सभी देवियों और देवों की उपासना हो जाती है। स्वयं भगवान् श्रीराम संत-सद्गुरु का गुणगान करते हैं। श्री शबरीजी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए कहते हैं–

'प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा।'

तथा–"सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें अधिक संत करि लेखा॥"

कहा है। तीसरी भक्ति में मान-रहित होकर "गुरुपद पंकज सेवा" का आदेश दिया है। वनवास-काल में जब भगवान् श्रीराम वाल्मीकि मुनिजी के आश्रम में जाते हैं और उनसे अपने निवास के लिए स्थान पूछते हैं, वाल्मीकिजी क्या उत्तर देते हैं, रामचरितमानस में पढ़िये–

तुम्हतें अधिक गुरुहिं जिय जानी।
सकल भाव सेवहिं सनमानी॥

अर्थात् हे राम! जो कोई अपने मन में तुमसे बढ़कर अपने गुरु को जानता हो और सब तरह से सम्मान कर सेवा करता हो, उसके हृदय में निवास करो। जब सुरारि रावण पर असुरारि श्रीराम विजय प्राप्त कर अयोध्या आये, तो माता कौशल्याजी प्यार-पूर्वक पूछती हैं–बेटा! कहाँ तुम्हारा सुकोमल शरीर और कहाँ दुर्जय दानव रावण, जिसने देव, दानव, मानव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नरादि सब पर आधिपत्य कर रखा था, उसको ससैन्य तुमने कैसे मारा? भगवान श्रीराम कहते हैं–माँ! "गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे। तिनकी कृपा दनुज रण मारे॥"

अब तुलसीकृत हनुमान चालीसा की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। यहाँ आप सर्वप्रथम गुरु का स्थान पायँगे, द्वितीय में श्रीराम का और तृतीय स्थान हनुमानजी का। यथा–

श्रीगुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुर सुधार।
वरनौं रघुवर विमल यश, जो दायक फल चार॥
बद्धिहीन तनु जानिकै, सुमिरौं पवन कुमार।
बल बुधि विद्या देहु मोहि, हरहु कलेश विकार॥

और तो और, आगे चलकर देखिये, वे और क्या कहते हैं–

"जय जय जय हनुमान गोसाईं।
कृपा करो गुरुदेव की नाईं॥"

गुरुदेव की कृपा के आकांक्षी हैं। गोस्वामीजी, न कि श्रीरामजी वा हनुमानजी की। क्यों? इसलिये कि गुरुदेव की कृपा अन्यों की अपेक्षा अपना विशेष स्थान रखती है।

रामनाम कलि कामतरु, राम भगति सुरधेनु।
सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु॥

कहने का तात्पर्य यह कि कल्पवृक्ष और कामधेनु को पाकर आंशिक मंगल होगा, सकल सुमंगल नहीं। अतएव यदि हम सकल सुमंगल चाहते हैं–उभयलोक में कल्याण चाहते हैं, तो वह है–'गुरु पद पंकज रेनु' अर्थात् गुरु-पद पद्म-पराग में अविचल अनुराग। गुरु-पूजा का यही हेतु है। सूर्य दिन में, चन्द्र रात्रि में और दीपक भवन के भीतर उजाला करता है; किन्तु सन्त-सद्गुरु अपने ज्ञानालोक से शिष्य के अन्तर्जगत् को अहर्निश आलोकित करते रहते हैं।

पूरे गुरु की पूजा के लिए यह गुरु-पूर्णिमा पर्व मनाया जाता है। हमारे गुरुदेव पूर्ण थे, त्रिकालज्ञ थे। भूत, भविष्य, वर्त्तमान सबके वे ज्ञाता थे। इस सन्दर्भ में जितना सुनाया जाए, थोड़ा होगा। फिर भी, एक घटना सुना रहा हूँ–

परम पूज्य गुरुदेव के पार्थिव तन परित्याग के कुछ वर्ष पूर्व की बात है, वे कटिहार से कार-द्वारा पटना के लिये प्रस्थान किये थे। मेरे सहित तीन-चार सेवक और भी उसी गाड़ी में थे। गाड़ी कटिहार शहर से बाहर निकलने पर एक अपरिचित सज्जन की जीप भी उसी के पीछे-पीछे चली, जिस पर कई सज्जन बैठे थे। पुरैनियाँ पहुँचने पर गुरुदेव ने अपनी गाड़ी रुकवा दी। जीप आगे बढ़ गयी। गाड़ी रुकी रही। हमलोग अपनी अदूरदर्शिता के कारण समझ रहे थे

कि यहाँ व्यर्थ समय बर्बाद हो रहा है। इतनी देर में गाड़ी कितनी अधिक दूर चली गयी होती। आत्मदृष्टि-प्राप्त हमारे गुरुदेव जानते थे, भविष्य में क्या होने वाला है।

लगभग आधे घण्टे के बाद गाड़ी चलाने का आदेश गुरुदेव देते हैं। गाड़ी चली। गेड़ाबाड़ी से आगे पहुँचने पर हमलोगों ने देखा, एक वृक्ष के गिर जाने के कारण वह जीप चूर-चूर हो गयी है और उसपर बैठे सज्जनों की लाशें सड़क पर बिछी हैं। ऐसे महिमा-मण्डित थे हमारे गुरुदेव। उन पहुँचे हुए सन्त-सद्गुरु की पूजा-हेतु ही हमलोग आज यहाँ समवेत हुए हैं। उन्होंने हमलोगों को ईश्वर-प्राप्ति का सरल और सीधा मार्ग बताया है, जिसपर चलने के अधिकारी सभी नर-नारियाँ हैं। उनका उद्घोष है–

जितने मनुष तन धारि हैं,
प्रभु-भक्ति कर सकते सभी।
अन्तर व बाहर भक्ति कर,
घट-पट हटाना चाहिए॥

आपके उपदेशों का सार है–एक ईश्वर पर अचल विश्वास, पूर्ण भरोसा तथा अपने अन्दर में उनकी प्राप्ति का दृढ़ निश्चय रखना, सत्संग करना, नित्य नियमित रूप से ध्यानाभ्यास करना और सद्गुरु की निष्कपट सेवा करनी–इन पंच विधि कर्मों के परिपालन के साथ पंच निषिद्ध कर्मों के परित्याग का भी आपने प्रबल आदेश दिया है, वे हैं–झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार। उनके ही शब्दों में हम कह सकेंगे–

सत्संग नित अरु ध्यान नित, रहिये संलग्न हो।
व्यभिचार चोरी नशा हिंसा, झूठ तजना चाहिये॥

आपने साथ ही, जीवन-यापन के लिए पवित्र कमाई करने की शिक्षा दी। आपके आदेश और उपदेश के परिवेश में यदि हम अपने को रख सकेंगे, तो हमारा भव-क्लेश निःशेष होगा, यह सुनश्चित है। यह महर्षि मेँहीँ आश्रम पावन तपोभूमि है। परम पूज्य गुरुदेव ने यहाँ तपस्या की थी तथा साधना कर सिद्धि-लाभ किया था। इसको हम अपवित्र नहीं बनावें। प्रत्येक सत्संगी सज्जन का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वे इसकी मर्यादा की रक्षा कर पुण्य के भागी बनें।

इन्हीं कतिपय शब्दों के साथ सद्गुरु देव के पाद-पद्मों में अनन्त प्रणाम निवेदित करते हुए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और आपलोगों को अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ! ❒

यह प्रवचन महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में दिनांक २६.७.१९९१ ई० को साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था। (शां०सं०जुलाई २०१५ ई०)

८१. संतों की दृष्टि पैनी होती है

प्रायः देखा जाता है कि श्री-विहीन जन का मन दीन, हीन और खिन्न बना रहता है। वही जब श्री-श्रित हो जाता है, तो 'श्रीमत्' कहलाता है और जब उसकी बुद्धि को 'श्री' मथ डालती है, तब वह 'श्रीमथ' हो जाता है। फिर 'त' वर्ग का तृतीय वर्ण 'द' आ धमकता है और वह श्रीमद-मत्त हो जाता है। 'मद' शब्द के अनेक अर्थों में 'नशा' भी एक अर्थ है। नशेबाज दूसरे की आवाज नहीं सुनता, वह अपने में ही मस्त रहता है। इसी प्रकार किसी विशिष्ट पद पर आसीन व्यक्ति प्रभुता पाकर अन्यों की ओर से उदासीन हो जाता है। वह किसी का सद्विचार सुनना नहीं चाहता। वह सद्धर्म की और से वधिर हो जाता है। ऐसे लोगों की गति-मति सन्मार्ग-विचलित हो 'वक्र' हो जाती है। ऐसे ही लोगों की ओर रविकुलकमलदिवाकर भगवन्त श्रीराम के अनन्य भक्त कविकुलकैरवसुधाकर संत तुलसीदासजी का संकेत है।

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।

'प' और 'म' दोनों ही वर्ण 'प' वर्गीय हैं। दोनों की आकृतियाँ करीब-करीब मिलती-जुलती दीखती हैं। उभय वर्णों में मात्र इतना ही अन्तर है कि 'प' की अपेक्षा 'म' का नितम्ब-भाग कुछ मोटा होता है। यदि 'प' के पिछले निम्न भाग को थोड़ा मोटा कर दिया जाए, तो वह सरलतापूर्वक 'म' बन जाएगा। यद्यपि यह भाषा-विनोद है, तथापि प्रकृत सत्य भी इसके अन्दर निहित है। तात्पर्य यह कि 'पद'

पाने में जितनी भी देर क्यों न लग जाए, किन्तु 'मद' आने में देर नहीं लगती। यही हेतु है कि सत्ता पाने के पश्चात् ही सत्ताधारी सुराप के समान व्यवहार करने लगता है। ऐसा लगता है, मानों सत्ता पाने का अर्थ सुरापान ही हो।

संतों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। संत कबीर ने 'मद' को विभिन्न रूपों में देखा है। उन अनेक में सके कुछेक की चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है–

मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय ।
तनमद मनमद जातिमद, मायामद सब लोय ।।
विद्यामद और गुनहु मद, राजमद्द उनमद्द ।
इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद्द ।।

चूँकि शीर्षक की पंक्ति में कवि का संकेत 'राजमद' की ओर है, अतएव आइए, हम 'राजमद' पर ही थोड़ा विचार करें। कवि का कथन है कि 'राजमद' ने किसको कलंक नहीं दिया? अर्थात् राजपद पाकर मद में आकर सभी कलंकित हुए। इस विषय की पुष्टि के लिए उन्होंने श्रीलक्ष्मण जी की सूक्ति का आश्रय लेकर छः विशिष्ट व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण किया है–

शशि गुरुतिगामी नहुष, चढ़ेउ भूमिसुर जान ।
लोक वेद ते विमुख भा, अधम न बेन समान ।।
सहसबाहु सुरनाथ त्रिशंकू । केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ।।

चन्द्रमा ने अपनी गुरुपत्नी के साथ गमन किया। नहुष ने राज्यमद में आकर ब्राह्मणों से पालकी उठवायी। वेण के समान कौन अधम है, जो लोक और वेद से विमुख हुआ? राजा वेण ने राजमद में मत्त होकर मुनियों एवं ब्राह्मणों को मूर्ख बताते हुए कहा–'खेद है, तुमलोगों ने अधर्म में ही धर्म-बुद्धि कर रखी है। जो लोग मूर्खतावश राजा-रूपी परमेश्वर का अनादर करते हैं, उन्हें न तो लोक सुख मिलता है, न परलोक में ही।' इस प्रकार वेण ने सारे देश को आदेश दिया कि उसे छोड़कर कोई अन्य ईश्वर की आराधना या उपासना नहीं करे। मुनियों और ब्राह्मणों ने उन्हें समझाने की बहुत चेष्टा की; किन्तु उन्होंने किन्हीं की बात न मानी। परिणाम यह हुआ कि मुनियों और ब्राह्मणों ने केवल हुँकार से ही उनका काम तमाम कर दिया।

सब देव, दनुज और मनुज पर विजयी दशभुज को पराजित कर सहस्त्रभुज का विजयोल्लास आकाश छूने चला था। अपने गर्व के सामने वह सबको खर्व समझता था। राजपद के नशे में चूर होकर एकबार वह महर्षि यमदग्नि के आश्रम गया। वहाँ उनकी कामधेनु को देखकर उसका मन लेने के लिए मचल उठा। राज्याभिमान में उसने महर्षि जी के मानापमान पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। बल्कि उनकी इच्छा के विरुद्ध उनकी गाय लेकर चलने लगा। श्री परशुराम जी से यह देखा नहीं गया। उन्होंने उस अहंकारी का अहंकार-सहित संहार कर डाला।

'सत्ता' स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता का सृजन करती है। सत्ताधारी सुरराज ने त्वष्टा का वध करके ब्रह्महत्या का पातक सिर पर लिया। साथ ही उन्होंने ऐसे-ऐसे काज किए, जिस कारण समाज के मुँह दिखाना दूभर हो गया। फलतः सुर-सिरताज होते हुए भी लाज के मारे राज छोड़कर वर्षों छिपे रहे।

राजा त्रिशंकु निःशंक होकर सशरीर स्वर्ग जाना चाहता था। इसके लिए उसने महर्षि वशिष्ठ से प्रार्थना की। वशिष्ठ जी ने अपनी सहायता या सम्मति नहीं दी। फिर भी विश्वामित्र का सहयोग पाकर यद्यपि उसने कुछ अंश में सफलता पाई भी; किन्तु इन्द्र ने सुरपुर से उसको नीचे ढकेल दिया। वह पतित होकर पृथ्वी की ओर आ रहा था कि विश्वामित्र ने नीचे आने से उसको रोक दिया। इस प्रकार वह न ऊपर रहा, न नीचे ही; बीच में ही अर्द्धमुख लटका रह गया। इस प्रकार राजाओं के प्रति प्रिय अनुज श्रीलक्ष्मण जी के कहे गए सरोष वचन को श्रीभगवान निज कान से श्रवण करते रहे। मात्र श्रवण ही नहीं, बल्कि वचन-समर्थन में उन्होंने अपनी स्वीकृति की मुहर भी लगाई है।

कही तात तुम नीति सुहाई ।
सब तें कठिन राजमद भाई ।।
जो अँचवत मातहि नृप तेई ।
नाहिन साधु सभा जिन सेई ।।

हे तात! तुमने अच्छी नीति कही है। राजमद सबसे कठिन होता है। जो कोई राज्यरूपी मदिरा का पान करते हैं, वे सभी नृप मत्त हो जाते हैं, जिन्होंने साधु-सभा का सेवन नहीं किया है।

अब इस प्रसंग को यदि हम दूसरी दृष्टि से अवलोकन करना चाहें तो प्रतीत होगा कि कविकुलभूषण गोस्वामी जी ने 'केहि न राजमद दीन्ह कलूंक' कहकर प्रश्न चिह्न (?) लगा दिया है।

तात्पर्य यह कि क्या ऐसे भी कोई हैं, जिनको 'राजमद' ने कलंकित नहीं किया, यदि वे हैं तो कौन?

इस सन्दर्भ में भी हम उन्हीं राघवेन्द्र के श्रीमुख से अपनी जिज्ञासा का समाधान कराना चाहेंगे। देखें, वे क्या कहना चाहते हैं? जिस प्रकार व्याकरण के सभी शब्द नियम से बँधे होते हैं, किन्तु यदा-कदा अपवादस्वरूप कुछ ऐसे भी शब्द सामने आ खड़े होते हैं, जिनको परे करना, बुद्धि से परे की बात हो जाती है। अन्ततः उसको स्वीकार करना ही पड़ता है। इसी प्रकार शेषावतार की शुरू से शेष तक की सारी बातों का समर्थन यद्यपि प्रभु रमेश ने किया, फिर भी महेश को साक्षी देकर प्रियानुज भरत को सामने रखा। श्रीभरतजी के पवित्र चरित्र की प्रशंसा भूत-भावन शंकर के शब्दों में सुनिए–

अवधराज सुरराज सिहाई ।
दशरथ धन लखि धनद लजाई ।।
तेहि पुर बसत भरत बिनुरागा ।
चंचरीक जिमि चंपक बागा ।।
रमाविलास राम अनुरागी ।
तजत वमन इव जन बड़भागी ।।
(मानस, अयोध्याकाण्ड)

श्रीभरत जी की गुण-गथा गाते कवि अघाते नहीं। उनकी उक्ति कितनी युक्तियुक्त बैठती है! भक्त-हृदय को झकझोरे बिना छोड़ती नहीं।

भरत सरिस को राम-सनेही । जग जपु राम राम जपु जेही ।

श्रीभरत जी के समान श्रीरामचन्द्रजी का स्नेही अन्य कौन है? कि दुनिया तो राम को जपती है और राम 'भरत' जी को जपते हैं। इसीलिए तो उनके लिए यह वचन सार्थक है–

जौं न होत जग जन्म भरत को ।
सकल धर्म धुर धरणि धरत को ।।

यदि भरतजी का जन्म जगत में नहीं होता, तो सर्वधर्म की धुरी को पृथ्वी पर कौन धारण करता?

जिस अवध राज्य की सराहना इन्द्र करते हैं, जिस दशरथजी के धनैश्वर्य को देखकर धन के धनी कुबेर लज्जित होते हैं, उस पुर में भरतजी बिना राग–वैराग्ययुक्त हो बसते हैं, जैसे चम्पे के बाग में भौंरा राग-रहित बसता है। हे पार्वती! राम-अनुरागी जन बड़भागी होते हैं। वे (रमा-विलास) धनादिक ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य को वमन के समान त्याग देते हैं।

यदि शंका हो कि जिस राज्य को पाकर प्रायः सभी राजा पथभ्रष्ट हुए, उसी राज्य को पाकर श्रीभरत जी सर्वश्रेष्ठ कैसे बने रहे? उत्तर में निवेदन है कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकार मायामुखी मन में उद्भूत होते हैं, ब्रह्ममुखी वा ब्रह्मभूत जन में नहीं। जो प्रभु के अनन्य भक्त होते हैं तथा सतत साधु-संतों की सभा का सेवन करते रहते हैं, उन पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता। उनको माया प्रभावित नहीं कर सकती। वे मायिक पदार्थों के आकर्षण में नहीं पड़ते। प्रभु की छत्रच्छाया में रहने के कारण माया उनसे डरती है। इसलिए उनपर अपनी कुछ प्रभुता कर नहीं सकती।

भगतिहिं सानुकूल रघुराया ।
ताते तेहि डरपति अति माया ।।
रामभगति निरुपम निरुपाधी ।
बसइ जासु उर सदा अबाधी ।।
तेहि विलोकि माया सकुचाई ।
करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।।

श्रीभरतजी साधु-संत-सेवी थे। भगवान के अनन्य भक्त थे। भगवदनुरागी होने के कारण स्वभावतः वे विषय-विरागी थे। चक्रवर्ती राजा दशरथ के राज्य वैभव को पाकर भी वे जल-कमलवत् रहते थे। जैसे हाथ में तेल लगाकर कटहल काटनेवाले को उसका लस्सा नहीं लगता, उसी प्रकार भगवद्भक्ति से हृदय को तर करके सांसारिक कार्य करनेवाले को संसारासक्ति नहीं होती। वस्तुतः सभी सद्गुणों से सम्पन्न श्रीभरतजी थे। इसीलिए उनके संबंध में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम स्पष्ट शब्दों में अत्यन्त दृढ़तापूर्वक चुनौती देते हुए कहते हैं–

सुनहु लखन भल भरत सरीसा ।
विधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ।।
भरतहिं होय न राजमद, विधि हरिहर पद पाय ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि, क्षीरसिन्धु बिनसाय ।।
तरुण तिमिर तरणिहिं सकु गिलई ।
गगन मग न मकु मेघहिं मिलई ।।
गोपद जल बूड़हिं घट जोनी ।
सहज क्षमा मकु छोड़हिं छोनी ।।
मसक फूँक बरु मेरु उड़ाई । होइ न नृपमद भरतहिं भाई ।।

अर्थात् भगवान श्रीराम कहते हैं–'हे लक्ष्मण! सुनो, भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्मा की सृष्टि में

नहीं सुना गया; न देखा ही गया है। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का पद पाकर भी भरत को राज्य का मद नहीं होने का। क्या काँजी की बूँदों से क्षीर समुद्र नष्ट हो सकता है? अन्धकार चाहे तरुण (मध्याह्न) के सूर्य को निगल जाए। आकाश चाहे बादलों में समाकर मिल जाए। गौं के खुर इतने जल में अगस्त्य जी डूब जाएँ और पृथ्वी चाहे अपनी स्वाभाविक क्षमा (सहनशीलता) को छोड़ दे। मच्छर की फूँक से चाहे पहाड़ उड़ जाए, परन्तु हे भाई! भरत को राजमद कभी नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह कि अध्यात्म-विहीन राजनीति अपवित्र होती है तथा अध्यात्म-संयुक्त राजनीति पवित्र होती है। अतएव अपने जीवन को पावन बनाने के लिए हम अध्यात्म अपनावें।

(शान्ति-संदेश, जुलाई १९९१)

८२.दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय

अभी आपलोग भगवान् श्रीराम का राज्याभिषेक, उनका जंगल जाना, सीता-हरण, लक्ष्मणजी का मूर्च्छित होना आदि के संबंध में कथा सुन रहे थे। कथित प्रसंग बतलाता है कि वास्तव में यह संसार दुःखालय है।

दुःख + आलय = दुःखालय अर्थात् दुःख का घर। सबसे भारी दुःख का कारण तो हमलोगों का शरीर है। जो कोई शरीर में आते हैं, तो वे संसार में आते हैं। शरीर में रहने के कारण ही दैहिक, दैविक, भौतिक—इन त्रितापों से संतप्त होते रहते हैं। संतों ने कहा है कि ऐसा उपाय करो, जिससे शरीर में आना न हो। जब शरीर में हम आयेंगे ही नहीं, तो फिर दुःख पायेगा कौन? जिससे शरीर में हम नहीं आवें, इसका यत्न यह है कि ईश्वर की भक्ति करें। संसार में जो कोई आयेंगे, चाहे वे बहुत बड़े पद पर हों धनवान हों, बलवान हों, विद्वान हों, गुणवान आदि कोई हों, दुःख निश्चित रूप से होगा ही। जैसे न सदा दिन रहता है और न सदा रात रहती है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होता रहता है। उसी तरह दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख चक्के की तरह घूमता रहता है। न सदा पूर्णमासी रहती है, न सदा अमावस्या ही। अमावस्या भी होती है और पूर्णमासी भी। उसी तरह जीवन में दुःख भी देखने में आते हैं और सुख भी। आज से कुछ महीने पूर्व जिस नदी में बालू उड़ रहा था, उसमें आज पानी उमड़ रहा है। इस तरह चलते-चलते यह बाढ़ भी समाप्त हो जायगी, फिर धूल उड़ने लग जायगी। समस्त जीवन में इसी तरह उलट-फेर का चक्र चलता रहता है। संतों ने इससे बचने का उपाय बतलाया है—ईश्वर का भजन करो। भक्तप्रवर संत सूरदासजी महाराज ने उपर्युक्त विषय की सम्पुष्टि में कहा—

"ताते सेइये यदुराई।
सम्पति विपति विपति सौं सम्पति, देह धरे को यहै सुभाई ॥
तरुवर फूलै फलै परिहरै, अपने कालहिं पाई।
सरवर नीर भरै पुनि उमड़ै, सूखे खेह उड़ाई ॥
द्वितीय चन्द्र बाढ़त ही बाढ़े, घटत घटत घटि जाई।
सूरदास सम्पदा आपदा, जिनि कोऊ पतिआई ॥"

वनवास-काल में रात्रि के समय भगवान श्रीराम भगवती सीताजी के साथ जब पत्ते की शय्या पर विश्राम कर रहे थे, थोड़ी दूर पर लक्ष्मण जगकर पहरा दे रहे थे। उनके निकट गुह-निषाद आते हैं और भगवान् श्रीराम और भगवती सीताजी को इस विषम परिस्थिति में देखकर बड़े दुःखी होते हैं। निषाद के मन में विषाद होता है और वे लक्ष्मणजी से कहने लग जाते हैं कि कैकेयी ने यह अच्छा नहीं किया। राजराजेश्वर श्रीराम और राजरानी सीता को वनवास दे दिया। लक्ष्मणजी ने कहा—

"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता ॥"

हे भाई! आप कैकेयी को व्यर्थ क्यों दोष देते हैं? कोई किसी को सुख या दुःख देनेवाला नहीं है। सब कोई अपने-अपने किये हुए कर्मों का फल भोगते हैं। जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अपने कर्म का फल जंगल में भोग रहे हैं।

इसी प्रकार सीताजी भी अपने कर्म का फल भोग रही हैं। कथा है कि सीताजी ने एक सुग्गी पाल

रखी थी। राजपुत्री होने के नाते सुग्गी को सोने के पिंजरे में रखती थीं और उसको दूध-भात खिलाती थीं। सुग्गी ने शाप दे दिया सीताजी को–'सीते! तुमने मुझे पति से वियोग करवाया है। तुमको भी पति-वियोग होगा। पति के वियोग में पत्नी की क्या हालत होती है, उसका अनुभव तुमको नहीं है, वह हो जायगा। इसी कारण रावण ने सीता का हरण किया और सोने की लंका में जाकर रखा। सीताजी सुग्गी को दूध-भात खिलाती थी। सीता जी के भोजन के लिए इन्द्र ने खीर की व्यवस्था कर दी थी। वास्तव में कर्म का फल अमिट होता है। जैसे जिस खेत में हम जो बीज बोते हैं, समय पूरा होने पर उस खेत से हम वही फसल काटकर घर लाते हैं। जिस खेत में हम गेहूँ बोते हैं, उस खेत से हम चना नहीं ला सकते, गेहूँ ही काटकर लाते हैं। जिस खेत में हम कटहल के पेड़ लगाते हैं, उस पेड़ में आम खोजेंगे, तो नहीं मिलेगा। जिस खेत में आम का पेड़ लगाते हैं, उसमें कटहल खोजें, तो वह भी नहीं मिलेगा। गो० तुलसीदासजी कहते हैं–

"तुलसी यह तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप पुण्य दुइ बीज है, बुवै सो लुणै निदान॥"

हमलोगों का यह शरीर खेत-जैसा है। इसमें मन, वचन और कर्म किसान हैं। जैसे किसान खेत में बीज बोते हैं, वैसे ही कुछ कर्म हम मन से, कुछ कर्म वचन से और कुछ कर्म तन से करते हैं। इस तनरूपी खेत में हम पाप-पुण्य के बीज डालते हैं। पाप के बीज का फल होता है–दुःख और पुण्य के बीज का फल होता है–सुख। किसी ने कितना अच्छा कहा है–

"कर भला होवै भला करके भलाई देख ले।
कर बुरा होवै बुरा करके बुराई देख ले॥"

विचारणीय विषय है कि जिस खेत में जितना हम बीज बोते हैं, काटने के समय उतना ही नहीं काटते हैं। एक मन बीज के बदले कई मन अनाज हमें मिलता है। एक आम की गुठली हम लगाते हैं। जब उस आम की गुठली लगाई जाती है, तो उससे अंकुर निकलता है, वही पेड़ हो जाता है। लगाया तो एक ही आम; लेकिन प्रतिवर्ष कितने आम मिलते हैं? उसी तरह हम कर्म थोड़ा ही क्यों न करें; लेकिन कर्म का फल बहुत बनकर आता है। चाहे बुरा कर्म हो या अच्छा–दोनों के फल अलग-अलग होंगे। खेत में जो अनाज बोते हैं, उसमें तो कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बाढ़ आयी, तो फसल खतम। लेकिन कर्म-बीज ऐसा होता है कि उसका नाश नहीं होता है। सामान्य जन की तो बात क्या, पुराण यह प्रमाणित करता है कि त्रेतायुग के किये कर्मों का फल भगवान् श्रीराम ने द्वापर युग के श्री कृष्ण-शरीर में भोगा है। कथा-प्रसंग इस प्रकार है–

भगवान् श्रीराम की मैत्री जब सुग्रीव से हुई तो उन्होंने सुग्रीव से पूछा–कहो मित्र! तुमको क्या कष्ट है? मेरे मित्र होने के नाते तुम्हारा सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है अर्थात् तुम्हारे सुख से सुखी और तुम्हारे दुःख से दुःखी होना मेरा धर्म है; क्योंकि–

"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि विलोकत पातक भारी॥"

सुग्रीव ने उत्तर दिया–दूसरे से मुझे कोई कष्ट नहीं, अपने ही भाई से मुझे कष्ट है। उस भाई ने हमारा धन-दौलत, राज-पाट तो लिया ही, हमारे पत्नी को भी ले लिया है। यह सुनकर भगवान राम ने कहा–मित्र! अब वह तुम्हारा दुश्मन भाई मेरा दुश्मन हुआ।' अतएव सुनो–

"सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं, बालिहिं एकहिं बाण।
ब्रह्म रुद्र शरणागतहूँ, गये न उबरहिं प्राण॥"

बालि को वरदान था कि जो कोई उसके सामने आकर युद्ध करेगा, उसका आधा बल इसमें आ जायगा। अगर भगवान् श्रीराम भी उसके सम्मुख युद्ध करने के लिये आते, तो उनका आधा बल इसमें आ जाता। इसलिए युद्ध-हेतु भगवान् श्रीराम बालि के सामने नहीं जाकर वृक्ष की आड़ लेकर उसको बाण मारते हैं, जिस तरह कोई व्याधा कोई आड़ लेकर शिकार खेलता है। भगवान् श्रीराम के बाण से जब बालि गिर जाता है, तब वे उसके पास जाते हैं, जिस तरह कोई व्याधा शिकार पर बाण मारता है और वह गिर जाता है, तो उसको उठाने के लिये उसके निकट जाता है। बालि बड़ा बलशाली और निर्भीक था। बालि कहता है–"भगवान! आपका अवतार धर्म-रक्षा और धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु हुआ है; किन्तु मेरे साथ जो व्यवहार किया, वह साधु का नहीं, व्याधा का है। अर्थात् जैसे व्याधा छिपकर मारता है, आपने भी मुझे छिपकर मारा है।

अब देखिये, अन्तिम परिणाम क्या होता है?

त्रेतायुग के भगवान् श्रीराम द्वापर में श्री कृष्ण होते हैं। वही बालि व्याधा होता है। भगवान श्रीकृष्ण के जीवन-काल में ही सम्पूर्ण यदुवंशियों का नाश हो जाता है। वे उदास हो जंगल की एक झाड़ी में पैर फैलाकर बैठ जाते हैं। उसी जंगल में वह व्याधा आता है शिकार खेलने के लिए। भगवान का सम्पूर्ण शरीर तो झाड़ी की ओट में छिपा था; किन्तु उनके कमल-से कोमल चरण का तलवा लाल-लाल झलक रहा था। व्याध ने सोचा—हिरण दौड़कर कहीं से आया है और श्रान्त-क्लान्त हो अपनी जीभ निकाल रहा है। अब क्या था, वह वहाँ से ही तीर मारता है। वह तीर भगवान के पाद-पद्म को चीरकर बाहर निकल आता है। दौड़ता है वह व्याधा हिरण जानकर उठाने के लिये। किन्तु वहाँ तो साक्षात् भगवान् हैं, देखकर वह अवाक् रह गया। दुःख-सन्ताप एवं पश्चात्ताप के अनल में वह जलने लगा। भगवान् ने उसको सान्त्वना दी।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जिस भगवान के शरीर में महाभारत के युद्धकाल में अनगिनत तीर लगे; लेकिन वे सारे तीर उनके शरीर में वैसे ही विलीन होते गये, जैसे समुद्र में गिरकर बिजली। किन्तु अफसोस! आज का एक तीर उनके शरीर त्यागने का कारण बन जाता है। क्यों? इसलिए कि भगवान ने अपने पूर्वजन्म में छिपकर बालि का वध किया था। यद्यपि भगवान सुख-दुःख, हानि-लाभ सबसे परे हैं, फिर भी वे नर-लीला करके दिखलाते हैं कि हम भगवान होकर भी अपने कर्म के फल को भोगते हैं, तो तुम किस खेत के मूली हो! तुमको भी अपने शुभाशुभ कर्मों का फल सुख-दुःख भोगना ही पड़ेगा। निष्कर्ष यह कि जो कुछ हम सुख या दुःख पाते हैं, सब अपने किये हुए कर्मों का फल है। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि एक जमाना था, जब यह बात लागू होती थी; लेकिन अबके जमाने में यह बात नहीं है। आजकल तो यही देखा जाता है कि जो बुरे कर्म करते हैं, वे अच्छी-से-अच्छी तरह रहते हैं; खाते-पीते हैं, ऐश-मौज करते हैं और जो अच्छे-अच्छे कर्मों को करते हैं, वे दुःखी देखे जाते हैं। हमारे पड़ोसी प्रान्त—बंगाल में भी कुछ लोग ऐसा ही कहा करते हैं—

"जे करे पाप, सेई सात छेलेर बाप।
जे करे पुन्न, ताँर काये लागे घुन॥"

लेकिन यह बात सही नहीं है। यह केवल कहावत है। संतों और सद्ग्रंथों ने कर्मफल को अमिट बताया है। इस संदर्भ में अपने गुरुदेव के मुख से कथित एक घटना मैंने सुनी थी, जो आज भी स्मृति पटल पर अटल है। बात नयी नहीं, वर्षों की पुरानी है, जो कि गंगा उत्तर पार एक परिवार की कहानी है। उस समय भारत स्वतंत्र नहीं था, अंग्रेजों के अधीन था। पुरैनियाँ जिले में एक अच्छे सुसम्पन्न सज्जन थे। जमीन जायदाद अच्छी थी। गाँव के लोगों में उनकी प्रतिष्ठा थी। आज्ञाकारी गुणवान पुत्र, लक्ष्मी रूपा सुशीला पुत्र-वधू, तीन-चार पौत्र-पौत्रियाँ; इस प्रकार सुखी, सुन्दर और सराहनीय घर था।

लगभग साठ वर्ष की उम्र में गृहपति की पत्नी परलोक सिधार गयी। ये बेचारे अति विकल हो उठे। पत्नी के अभाव में स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। भरा-पूरा गृह श्मशान-सा लगने लगा। हरा-भरा उद्यान वीरान प्रतीत होने लगा। मन की शांति भंग हो गयी। दुनियावी हरियाली के लिए मित्रों के बीच अपने पुनर्विवाह का मन्तव्य प्रकट किया। किसी मित्र ने मजाक किया, किसी ने समझाने की चेष्टा की, किसी ने अपनी राय दी—'साठ वर्ष की उम्र हो जाने के कारण तुम्हारी बुद्धि सठिया गयी, शादी हरगिज न करना। अब शादी क्या होगी, बरबादी होगी।' लेकिन उनके मन ने नहीं माना, पुनर्विवाह कर लिया। परिणामस्वरूप इष्ट-मित्र, कुटुम्ब, गाँव-घर आदि के समस्त लोगों की दृष्टि से वे नीचे गिर गये। पिता-पुत्र में भी वैमनस्य हो गया। उनकी दृष्टि में उनके नये साले साहब हितचिंतक होने के कारण सलाहकार बने। फलतः अपने वाग्जाल में फँसाकर उन (जीजा जी) की सारी जमीन अपने नाम लिखवा ली। अभी रजिष्ट्री नहीं हुई थी। लड़के को अपने मामा का षड्यंत्र मालूम हुआ। उसने रजिष्ट्रार साहब से मिलकर सारी बातें सही-सही बता दीं और जमीन रजिष्ट्री नहीं करने के लिए निवेदन किया। रजिष्ट्रार साहब ने उसकी परिस्थिति को अच्छी तरह समझा और सोचकर कहा—'देखिये, मेरे सामने कागज आएगा, तो उसको मैं अस्वीकार कैसे कर सकता हूँ? फिर भी, मैं आपको एक सप्ताह का समय देता हूँ। यदि आप अपने पिताजी को राजी कर सकें, आपकी बात मान जाएँ, तो रजिष्ट्री नहीं होगी।' लड़के ने अपने पिताजी और मामाजी के पास जाकर बहुत प्रकार से अनुनय-

विनय की; किन्तु सब व्यर्थ। लड़के ने पुनः अपने मामाजी के पैर पकड़ लिए और फूट-फूटकर रोते हुए कहा–'मामाजी! मेरे ऊपर मेहर कीजिए। जरा मेरे भविष्य के ऊपर नजर कीजिए।' उसके मामाजी ने उसकी एक न सुनी, बल्कि झटका देकर उसको दूर हटा दिया और कड़कती आवाज में बोले–'रजिष्ट्री होगी, रजिष्ट्री होगी, इसको कोई शक्ति नहीं टाल सकती।' दुःख से आकुल और अधीर हो आह भरता हुआ उस लड़के ने कहा–'मामाजी! आपने मुझे अपनी पैतृक संपत्ति से वंचित कर मेरी भविष्य आशावेलि पर तुषारापात किया है। अगर भगवान सत्य और मेरा हक सत्य है, तो आपके ऊपर वज्रपात होगा।

रोता हुआ लड़का अपने में कमरे में चला गया और उसका मामाजी पाट (जूट) तैयारी करवाने के लिए खेत पर गये। मजदूर पानी में बैठकर पाट तैयार कर रहा था। थोड़ी दूर पर किनारे में बैठकर निगरानी कर रहे थे।

प्रभु की लीला अद्भुत है। उनके विधान में व्यवधान कौन डाल सकता है? अनंतस्वरूपी सर्वेश्वर की अनंत शक्ति का सामान्यजन को क्या पता, वह तो थोड़े ही धनैश्वर्य को पाकर छोटी नदी की तरह अपने को बहुत बड़ा समझकर इठलाता फिरता है। पता नहीं, कहाँ से बादल उमड़-घुमड़कर आये, बिजली चमकी और हृदय विदीर्ण करनेवाली कड़ाके की आवाज के साथ उनके शरीर पर वज्रपात हुआ, वे वहाँ ही धराशायी हो गये। लौटकर घर नहीं आ सके। खेत पर ही उनका रामनाम सत्य हो गया। जमीन ज्यों-की-त्यों पड़ी रह गयी, रजिष्ट्री नहीं हो सकी।

यह घटना अन्यान्य शिक्षाओं के साथ यह बतलाती है कि दुर्बल को सताओ नहीं, दूसरे का हक अपनाओ नहीं, अन्यथा परिणाम भयंकर होगा। संत कबीर साहब ने कहा है–

"दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुए खाल की साँस से, लोह भसम हो जाय॥"

किसी शायर ने कितना अच्छा कहा है–

"गरीब को मत सताओ, वह रो देगा।
कहीं उसका मालिक सुन लेगा,
तो जड़ मूल से तुमको खो देगा॥"

संतों ने कहा, बुरे कर्म का फल दुःख तो भोगना चाहता है नहीं, इसलिए बुरे कर्म करो ही नहीं और अच्छे कर्म का फल यद्यपि सुख होता है, तथापि वह सुख भी सदा रहता नहीं है। पुण्यकर्म के कारण स्वर्ग भले ही चले जाएँ; लेकिन वहाँ भी सबको समान रूप से सुख उपलब्ध नहीं होता। सब दिन स्वर्ग में रह भी नहीं सकते; क्योंकि कोई कम पुण्य करके और कोई अधिक पुण्य करके वहाँ जाते हैं। जो कम पुण्य किये हैं, उनके लिए कम व्यवस्था है और जो अधिक पुण्य किये हैं, उनके लिए अधिक व्यवस्था है। उससे भी जो अधिक पुण्य किये हैं, उनके लिए और भी अधिक व्यवस्था है। इसलिए एक दूसरे के सुख को देखकर दुःखी होते रहते हैं। वहाँ भी राग-रोष और ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्गुण सताते रहते हैं। दूसरे की उन्नति देखकर जैसे यहाँ जलते हैं, वैसे वहाँ भी जलते हैं। संतों ने कहा है कि स्वर्ग और नरक के परे चले जाओ। नरक-स्वर्ग के झमेले से परे जो है, वही मोक्ष है।

"भक्ति निसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम जनम पछताय॥"

भक्ति से मुक्ति होती है–

"जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भक्ति बिहाई॥"

जिस तरह थल के बिना जल नहीं रह सकता, उसी तरह भक्ति को छोड़कर मुक्ति अलग नहीं रह सकती। इसीलिए भक्ति करो, सारे क्लेशों से छूट जाओगे। दैहिक, दैविक, भौतिक–इन त्रय तापों से जो संतप्त हो रहे हो, इनसे सदा के लिए मुक्त हो जाओगे। इसका यत्न संत सद्गुरु से सीखो। भगवान श्रीराम ने अपनी प्रजा से कहा था–

"सरल सुखद मारग यह भाई।
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥"

यह भक्ति का मार्ग कठिन नहीं है, सरल है और सुखद है। सब कोई कर सकते हैं–क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, क्या शूद्र, क्या धनी, क्या निर्धन, क्या विद्वान, क्या अविद्वान, क्या वैदिक, क्या अवैदिक, क्या नर-नारी। गुरु नानकदेव ने कहा–

"चहुँ वरणा को दे उपदेश।
ता पंडित को सदा अदेश॥"

और हमारे गुरुदेव का उद्घोष है–

"जितने मनुष तन धारि हैं, प्रभु-भक्ति कर सकते सभी।
अन्तर व बाहर भक्ति कर, घट-पट हटाना चाहिए॥"

मनुष्य का शरीर होना चाहिए। सदाचार का पालन होना चाहिए; सद्युक्ति मिलनी चाहिए, सत् साधना करनी चाहिए।

"सत्संग नित अरु ध्यान नित, रहिये करत संलग्न हो।
व्यभिचार चोरी नशा हिंसा, झूठ तजना चाहिए॥"

पंच पापों से वर्जित रहेंगे, ध्यान-सत्संग हम नित्य करते रहेंगे, तो भगवान श्रीकृष्ण का आश्वासन है–

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥"
–गीता अ० २/४०

अर्थात् इस योग के आरंभ का नाश नहीं होता, उलटा परिणाम नहीं होता। इसका थोड़ा-सा अभ्यास भी महाभय से बचाता है और गीता के छठे अध्याय में है–'जो सदा अभ्यास करता है, उस अभ्यास के बल से शरीर छूटने पर उसको विशाल स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है। स्वर्ग-सुख भोग करने के बाद संसार में फिर आता है। उसका जन्म किसी श्रीमान् के घर में अथवा योगी-कुल में होता है। पुनः पूर्वजन्म के संस्कार से प्रेरित होकर वह योगाभ्यास करने लग जाता है, करते-करते कई जन्मों में नित्य विराजनेवाली शांति को वह प्राप्त कर लेता है। आवागमन के चक्र से छूट जाता है। सदा के लिए मुक्त हो जाता है। संतों के आदेश और उपदेश के परिवेश में जो कोई अपने को रखेंगे, उनका भव-क्लेश अवश्य निशेष होगा।

"भक्ति बीज बिनसै नहीं, जौं जुग जाय अनन्त।
ऊँच नीच घर जनम लै, तऊ सन्त को सन्त॥
भक्ति बीज पलटै नहिं, आय परे जो चोल।
कंचन जौं विष्ठा पड़ै, घटै न ताको मोल॥"
–संत कबीर साहब

यह प्रवचन महावीर मंडल के निवास-स्थान पर आयोजित सत्संग के अवसर पर दिनांक–१२.८.१९९१, स्थान : तिलकामाँझी, भागलपुर में हुआ था। (शान्ति-संदेश, सितम्बर १९९१)

८३. गुरु-पद पंकज रेनु

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

एक लड़की का विवाह हुआ। वह ससुराल गई। अड़ोस-पड़ोस के लोग उसको देखने आये। क्रम-क्रम से लोग देखकर लौटते थे। थोड़ी दूर पर एक बूढ़े बाबा बैठे थे। नववधू को देखकर जो लौटते, बूढ़े बाबा उनसे पूछते–'कहो, कैसी वधू आयी है; देखने में कैसी है?' छोटी बच्ची देखकर लौटती, वह कहती कि मेरी ही जैसी है। किशोरी देखकर लौटती, तो उससे पूछने पर वह कहती–मेरी ही जैसी है। युवती देखकर लौटती, तो वह कहती–मेरी जैसी है। कोई बूढ़ी देखकर लौटती, तो उससे पूछने पर वह कहती कि मुझको न देखा, उसको देखा। सबकी बातों को सुनकर बूढ़े बाबा हैरान हो गये। वे सोचने लगे–नववधू आयी है। वह बच्ची होगी, युवती होगी वा बूढ़ी होगी; लेकिन बात क्या है कि जिससे पूछता हूँ, वह अपनी जैसी बताती है। बूढ़े बाबा स्वयं देखने गये। उन्होंने देखा–वास्तव में वह नववधू अतीव सुन्दरी है, उसके चेहरे से आईने सदृश चमक निकलती थी, तो जो कोई देखने जाते थे, वे उस आईने में अपना ही रूप देखते थे। इसलिए बच्ची कहती–मेरी जैसी, किशोरी कहती–मेरी जैसी और बूढ़ी कहती–मुझको न देखा, उसको देखा। उसी तरह आपलोगों ने जो मेरा अभिनन्दन किया, उसमें जितने सद्गुणों के वर्णन आये, वे सभी सद्गुण आपलोगों के हैं। आपलोगों ने अपने-अपने ही सद्गुणों को देखा है मुझमें। वे सद्गुण मुझमें कहाँ?

स्वामी विवेकानन्दजी महाराज विश्व-धर्म सम्मेलन में गये हुए थे अमेरिका के शिकागो शहर में। विभिन्न देशों के धर्मप्रेमी वहाँ आये हुए थे। सभी धर्मों की पुस्तकें वहाँ सजायी गयी थीं–ऊपर-नीचे क्रम से। पाश्चात्य देशों के लोग यह समझते थे कि भारत

अध्यात्म-ज्ञान से हीन है। भारतवासियों को वे लोग हेय दृष्टि से देखते थे। इसलिए उन्होंने जो पुस्तकें सजायी थीं, उसमें वेद को सबसे नीचे रखा था ऊपर में अन्य धर्मग्रंथों को। सबसे ऊपर में उन्होंने बाइबिल को रखा था। स्वामी विवेकानन्दजी महाराज जब उस मंच पर पहुँचे और उन्होंने पुस्तक की सजावट देखी, तो बात उनकी समझ में आ गयी कि किस दृष्टि से धर्मग्रंथों को इस तरह रखा गया है। चूँकि ये लोग वेद को हेय दृष्टि से देख रहे हैं, इसीलिए इसको सबसे नीचे रखा है।

उनलोगों की भावना इनकी परख में आ गयी; लेकिन उन्होंने कहा–धर्मग्रंथों की सजावट देखकर मुझे प्रसन्नता हो रही है। जिस तरह सजावट होनी चाहिए, उसी तरह से सजायी गयी है। ग्रंथों की सजावट यह बतलाती है कि सभी धर्मग्रंथों का मूल वेद है; क्योंकि वेद पर ही ये सारे धर्मग्रंथ टिके हुए हैं। अगर वेद को नीचे से खिसका लें, तो जितने धर्म ग्रंथ हैं, सभी ढनमनाकर नीचे गिर जायेंगे।

उसी तरह आपलोग तो नीचे बैठे हैं और मुझे ऊपर बिठाया है, आपलोगों के आधार पर मैं बैठा हूँ। अगर आपलोग हाथ हटा लेंगे, तो मैं ढनमनाकर नीचे गिर जाऊँगा। ऊपर बैठने से कोई बड़ा नहीं हो जाता। बड़े तो आपलोग हैं, जो मुझे आश्रय दिये हुए हैं बैठने के लिए।

यह संतमत का सत्संग है। इस संतमत के द्वारा ईश्वर की भक्ति का प्रचार होता है। वह ईश्वर है क्या? इन्द्रियातीत। संतमत बतलाता है कि बिना उस ईश्वर का भजन किये जीवों का कल्याण नहीं है। प्राणियों का कल्याण ईश्वर-भजन में है। ईश्वर की प्राप्ति अपने अन्दर होगी। जैसे आईने के माध्यम से हम अपने चेहरे को देखते हैं, उसी प्रकार अन्तर्ज्योति का सहारा लेकर परमात्मा को देखा जाता है। इसलिए संतमत की ईश्वर-भक्ति में दिव्य ज्योति और दिव्य नाद को प्राप्त करने का आग्रह है, जिनके माध्यम से परम प्रभु की प्राप्ति होती है। मतलब यह कि परमात्मा का अस्तित्व है। वे परम प्रभु परमात्मा थे और रहेंगे। वे होते नहीं हैं, रहते ही हैं। जो होता है, वह बिगड़ता है; लेकिन परम प्रभु परमात्मा सतत रहते ही हैं। उनका साक्षात्कार अपने अन्दर में होगा। इसके लिए अन्तः साधना की आवश्यकता है। वह अन्तस्साधना मानस-जप है, मानस-ध्यान है, दृष्टि-साधन है और नादानुसंधान है। इन चार साधनाओं के द्वारा हम प्रभु परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु इसके बतलानेवाले सुयोग्य गुरु की आवश्यकता है, जो क्रियावान एवं शुद्धाचरणी हों। बिना क्रियावान एवं शुद्धाचरणी गुरु के उस प्रभु को हम नहीं प्राप्त कर सकते हैं। संतमत में गुरु का सर्वोपरि स्थान है। हम सद्ग्रंथों का अध्ययन-मनन एवं अवलोकन करते हैं, तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

खास देवघर में देवघर जिला संतमत-सत्संग का वार्षिक अधिवेशन था। पटना के एक अच्छे विद्वान आये हुए थे उसका उद्घाटन करने के लिए। उनको हनुमानजी में बड़ी आस्था थी। अपने उद्घाटन-भाषण में उन्होंने हनुमानजी की बड़ी महिमा गायी और कहा कि हम नित्यप्रति हनुमान चालीसा पढ़ते हैं। आपलोग भी जो पढ़ना चाहें, वे हाथ उठायें। मैं हनुमान चालीसा की एक-एक प्रति दूँगा। कुछ प्रतियाँ वे अपने साथ वहाँ लेकर आये थे। कुछ लोगों ने हाथ उठाया और उन्होंने उनलोगों को एक-एक प्रति हनुमान चालीसा दी।

उनका प्रवचन समाप्त हुआ, फिर हमारे साथी लोगों का प्रवचन हुआ। अंत में मेरी बारी आयी, तो मैंने कहा–लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी भगवान श्रीराम के अनन्य भक्त थे। उन्होंने हनुमानजी के अतिरिक्त अन्य देवों की भी स्तुतियाँ की हैं। जिस तरह एक साध्वी महिला जिस परिवार में रहती है, उसके सभी सदस्यों का यथोचित आदर-सत्कार, सेवा-सम्मान आदि वह करती है; किन्तु उसका एकनिष्ठ सूत्र अपने पति से लगा रहता है। उसी तरह गोस्वामीजी मर्यादा सबको देते हैं; लेकिन अपना एक इष्ट बनाये रहते हैं। चूँकि वे पढ़े-लिखे विद्वान थे, इसलिए उनके कहने की जो कला है, वह अद्भुत है। वे हनुमान चालीसा का आरम्भ कहाँ से करते हैं?

श्रीगुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुर सुधार।

बरनौं रघुबर विमल जस, जो दायक फल चार ।।

दूसरी पंक्ति में लिखते हैं–

बरनौं रघुबर विमल जस, जो दायक फल चार ।

और तीसरी पंक्ति में लिखते हैं–

बुद्धिहीन तनु जानि के, सुमिरौं पवन कुमार ।

अब समझिए, प्रथम स्थान किनका है, दूसरे में कौन हैं और तीसरे में कौन हैं? गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के लिए कहा जाता है कि वे राम के भक्त थे; लेकिन वैचारिक दृष्टि से एकनिष्ठ भक्त वे गुरु के थे। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने मर्यादा दी है सबको। श्रीरामचरितमानस के आरम्भ में है–

बन्दौं गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि ।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर ।।

हनुमान चालीसा में ही देखिये–

जय जय जय हनुमान गोसाईं।
कृपा करो गुरुदेव की नाईं।।

अगर उनके इष्ट राम होते, तो वे कहे होते–

जय जय जय हनुमान गोसाईं।
कृपा करो रघुवर की नाईं।।

किन्तु ऐसा वे नहीं कहते हैं। वे हनुमानजी की स्तुति करते हैं और यह कहते हैं–

बुद्धिहीन तनु जानि के सुमिरौं पवन कुमार।

मैं बुद्धिहीन हूँ, आपका स्मरण करता हूँ। बल दीजिए, बुद्धि दीजिए, विवेक दीजिए। विचारणीय विषय है कि जब हमको बल, बुद्धि, विवेक कुछ नहीं है, तो हमारा कल्याण किसमें है, तो यह भी हम नहीं जानते हैं। ऐसी परिस्थिति में तो ऐसा कहना चाहिए था–

जय जय जय हनुमान गोसाईं।
कृपा करो जो तुम्हहि सोहाई।।

न तो यह भगवान राम की दुहाई देते हैं और न हनुमानजी की, बल्कि वे कहते हैं–'कृपा करो गुरुदेव की नाईं।'

गुरुदेव की कृपा कैसी होती है? गोस्वामीजी की दृष्टि किस ओर है, सो देखिए। इन बातों को सुनने के पश्चात् उस विद्वान सज्जन ने कहा–'हनुमान चालीसा तो मैं रोज पढ़ता हूँ, मुझे हनुमान चालीसा कंठस्थ भी है; लेकिन इस पंक्ति पर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया था।' गोस्वामी तुलसीदासजी स्वयं दोहावली में लिखते हैं–

राम नाम कलि काम तरु, राम भगति सुर धेनु ।
सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद पंकज रेनु ।।

कलिकाल में रामनाम कल्पवृक्ष के समान है और राम की जो भक्ति है, वह कामधेनु के समान। लोग समझते हैं, कल्पवृक्ष मिल गया, कामधेनु मिल गयी, अब क्या चाहिए! लेकिन गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं– कल्पवृक्ष और कामधेनु को पाकर आंशिक मंगल होगा; लेकिन सकल सुमंगल नहीं होगा। अगर सकल सुमंगल चाहते हो, तो–'गुरु पद पंकज रेनु।' देखिए, गोस्वामी तुलसीदासजी की दृष्टि किधर है। भगवान राम जब लंका पर विजय प्राप्त कर रावण-कुम्भकर्ण को मारकर विभीषण को लंका का राज्य देकर और सीताजी का उद्धार करके अयोध्या लौटे, तो कौशल्या माताजी भगवान राम को अपनी गोद में बैठाकर प्यार से पूछती हैं–'बेटा! तुम्हारा शरीर तो कमल से भी अधिक सुकोमल है, रावण-कुम्भकर्ण आदि दुर्दान्त राक्षसों का वध तुमने कैसे किया?' इसके उत्तर में भगवान श्रीराम कहते हैं–

गुरु बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे।
इन्ह की कृपा दनुज रन मारे।।

माँ! मेरा कोई पराक्रम नहीं है। मैंने अपने बल से रावण आदि का वध नहीं किया है। गुरु की कृपा से ऐसा हुआ है। गुरु की कृपा कैसी होती है? संत कबीर साहब कहते हैं–

गुरुदेव के भेद को जीव जानै नहीं,
जीव तो आपनी बुद्धि ठानै।
गुरुदेव तो जीव को काढि भव सिन्धु तें,
फेरि लै सुक्ख के सिन्धु आनै।।
बंद कर दृष्टि को फेरि अन्दर करै,
घट का पाट गुरुदेव खोलै।
कहै कबीर तू देख संसार में,
गुरुदेव समान कोइ नाहिं तोलै।।

गुरु का स्थान कितना ऊँचा मानते हैं और कितना आदर देते हैं! गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–

गुरु की मूरति मन महि धिआनु ।

गुर के शबदि मंत्र मनु मानु ।।
गुरु के चरण रिदै लै धारउ।
गुरु पारब्रह्म सदा नमसकारउ ।।

अज्ञ जीव जानता नहीं है कि गुरुदेव की कृपा कब और कैसे–किस प्रकार होती है!

एक कामिल फकीर थे। उनका एक शिष्य नवाब थे, जो दूर शहर में रहते थे। फकीर ने अपने निकटवर्ती शिष्य को एक अनार देकर कहा कि जाकर यह अनार नवाब को देना और कहना कि इस अनार को वह खायगा। शिष्य अनार लेकर पहुँचता है उस नवाब के पास। नवाब के साथ बहुत लोग बैठे हुए थे। उक्त शिष्य ने नवाब को अनार देते हुए कहा कि तुम्हारे मुर्शिद ने यह संदेश भेजा है तुम्हारे खाने के लिए। लो, खाओ। नवाब सोचते हैं कि गुरु महाराज का भेजा हुआ प्रसाद–अनार है। उसको तुरत तोड़कर उसके पाँच दाने उन्होंने अपने मुँह में डाले, तो अनार इतना खट्टा था कि नवाब साहब को न तो थूकते बनता था और न निगलते ही। अगर थूकते हैं, तो गुरु की प्रतिष्ठा में हीनता होती है। गुरु-प्रसाद की मर्यादा रखने के लिए किसी तरह निगल गये। जो शिष्य अनार लेकर गया था, उसने कहा–'और खाओ।' पाँच दाने खाने में ही तो बेचारे का दम घुटने लगा था, यह कहता है–'और खाओ।' नवाब सोचते हैं कि ये गुरु महाराज के प्रधान शिष्य हैं। इनकी बात कैसे नहीं मानी जाय! तो पाँच दाने और मुँह में डालकर निगल गये और कहा–'अच्छा, पीछे खा लूँगा।' इसपर उसने कहा–बस! अरे, और खाओ। उतने लोग बैठे थे। अब कैसे कहे कि नहीं खाऊँगा। उनकी प्रतिष्ठा की हीनता होती, तो जबरदस्ती चार दाने और निगल गये और कहा–अच्छा, पीछे खा लूँगा।

वह शिष्य लौटकर चला आया गुरु महाराज के पास। गुरु महाराज ने पूछा–अनार नवाब को दिया? शिष्य ने उत्तर दिया–जी हाँ! मुर्शिद ने पूछा–समूचा अनार खाया? शिष्य ने उत्तर दिया–'समूचा तो नहीं; किन्तु पाँच-पाँच और चार कुल चौदह दाने खाये।' फकीर ने कहा–'मैं क्या करूँ! मैंने तो समूचा अनार भेजा था। अगर उसने समूचा अनार खाया होता, तो जिन्दगी भर उसकी नवाबी रहती, अब मात्र चौदह वर्ष उसकी नवाबी रहेगी। संत सद्गुरु तो चाहते हैं कि जीव को सुखसिन्धु में ले जाने के लिए; लेकिन शिष्य ही अपनी अल्पबुद्धि को विशेष मानकर चूक कर बैठता है। कबीर साहब ने कहा है–

गुरु बेचारा क्या करे, जो शिष्य माहीं चूक।
भावे जो परबोधिए, बाँस बजाई फूँक।।

संतमत में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। हमारे गुरुदेव जो थे, वे बड़े ऊँचे और महान् संत थे। उन्होंने जिस ज्ञान का प्रचार किया, उन्होंने जो शिक्षा-दीक्षा दी, वह बहुत ऊँची थी। उनको आत्मदृष्टि प्राप्त थी। आत्मदृष्टि से देखकर ही उन्होंने भजन-भेद बताने की आज्ञा कुछ सज्जनों को दी। उनके पास मीटर था, जिस मीटर से जाँचकर उन्होंने दीक्षा देने का आदेश दिया और आज वही संतमत है कि कितने तो अपने मन से दीक्षा देने लग गये हैं। कितने को किन्हीं से अधिकार मिला है दीक्षा देने का; लेकिन यह तरीका गलत है। गुरु महाराज ने जिन लोगों को आदेश दिया था दीक्षा देने का, वे ही सब ठीक हैं। इनके बाद जो कोई दीक्षा देते हैं या देने का आदेश देते हैं, बिल्कुल गलत है। (श्रोताओं की ओर से 'गुरु महाराज की जय' की ध्वनि।)

कटिहार कॉलेज के एक प्रोफेसर महेश्वर बाबू हैं। उन्होंने जिज्ञासा की गुरु महाराज से कि हुजूर! जितने व्यक्तियों को आपने भजन-भेद देने का आदेश दिया है, क्या वे सभी भजन-भेद देने के योग्य हैं? गुरु महाराज बोले–'मैंने जिन लोगों को भजन-भेद देने का आदेश दिया है, लोग उनसे भजन-भेद लेंगे। देखिये, जैसे पढ़ाई शुरू होती है, लोअर प्राइमरी से लेकर मैट्रिक, I.A., B.A., M.A. तक की पढ़ाई होती है। प्राइमरी से लेकर M.A. तक जितने शिक्षक होते हैं, सब-के-सब शिक्षक ही होते हैं; लेकिन क्या सबकी योग्यता एक-सी होती है? जिस योग्यता के जो होंगे, वे उस गुरु के पास जाएँगे।'

जो कोई सज्जन अन्य दूसरे सत्संगी से भजन-भेद देने का मौखिक या लिखित आदेश देते हैं, वे अनुचित करते हैं और इस आधार पर जो दूसरे को भजन-भेद

देते हैं, वे भी अनुचित करते हैं; क्योंकि यह अधिकार सिर्फ उन्हीं को होगा, जो परम पूज्य गुरुदेव के उत्तराधिकारी होंगे।

परम पूज्य गुरु महाराज का आदेश जिनको है, केवल वे भजन-भेद दें। अगर गुरु महाराज का आदेश नहीं है, तब यदि वे भजन-भेद देते हैं, तो गलती करते हैं। जिन सज्जनों को गुरु महाराज ने अन्यों को भजन-भेद देने की आज्ञा दी थी, तो भजन-भेद बताने का आदेश देने के साथ ही गुरु महाराजजी ने यह कहने की कृपा की थी—मैं सभी जगह नहीं जा सकता हूँ। मेरा शरीर कमजोर हो गया है। इसलिए मैं भजन-भेद देने का आदेश देता हूँ कि ये लोग भजन-भेद देंगे। भजन-भेद देने का आदेश है। अगर भजन-भेद देने को कोई व्यापार या रोजगार बना लेंगे, तो सीधे नरक में जायेंगे। जिनको गुरु महाराज ने आदेश दिया है, उनके लिए तो यह बात है और जिन्होंने अपने मन से व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया है, उनकी क्या हालत होगी? उनको तो खुद समझना चाहिए कि यदि हम गुरु महाराज के आदेश का पालन करते हैं, तो हम गुरुमुख हैं। अगर गुरु महाराज की अवहेलना करते हैं, तो गुरुमुख नहीं, मनमुख हैं।

संतमत पवित्र मत है, शुद्धमत है। अगर हम शुद्ध आचरण से रहेंगे, सदाचार का हम पालन करते रहेंगे, तो हमारा कल्याण होगा। अगर हम गुरु के आदेश का पालन नहीं करते हैं, मनमाना करते हैं, तो हमारा अकल्याण होगा। अवश्य ही संसार में हम कुछ पैसे कमा लेंगे। हमारी कुछ प्रतिष्ठा हो जाएगी। यह बात दूसरी है; लेकिन परलोक में उनके लिए कोई स्थान नहीं है। हम सभी सत्संगियों को समझ-बूझकर इसपर चलना चाहिए। समय अधिक हो गया है।

स्वामी श्रीरामानन्दजी ने यह सत्संग-मंदिर बनवाया है, बहुत अच्छा काम किया है इन्होंने। लोगों को इससे लाभ मिलेगा।

सत्संग का आयोजन जिन महानुभावों ने किया है, उन सबों को मेरा शुभाशीर्वाद है। गुरु महाराज से उनलोगों के लिए शुभ उन्नतियाँ चाहता हूँ। ❒

यह प्रवचन सहरसा जिले में महर्षि मेँहीँ योगाश्रम, सहरसा में दिनांक २२.०३.१९९३ ई० को प्रातःकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।

८४. कमठ दृष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

अभी आपलोग पूर्व वक्ता से सुन रहे थे—

कमठ दृष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान।

संतमत जग में जीने की कला बतलाता है। एक गृहस्थ ने एक साधु बाबा के पास जाकर कहा कि हमलोग ध्यान करते हैं, तो ध्यान में मन नहीं लगता है और आप भी तो ध्यान करते हैं। ध्यान करते-करते इतने महान कैसे हो गये? साधु बाबा ने कहा—कल सबेरे आना, तब मैं तुमको बतला दूँगा। दूसरे दिन ठीक आठ बजे गृहस्थ बाबा की कुटिया में पहुँचा, तो देखा कि साधु बाबा नहीं हैं। किसी ने पूछा कि साधु बाबा कहाँ गये, तो उत्तर मिला कि वे बाड़ी में हैं। गृहस्थ बाड़ी में उनके पास जाकर बोला—बाबा! आपने आज आठ बजे का समय मुझे दिया था, इसलिए मैं आया हूँ। उपदेश दिया जाय कि कैसे भजन में मन लगेगा। उस समय वे साधु बाबा बाड़ी में धान के पौधों को उखाड़-उखाड़कर एक खेत से दूसरे खेत में लगा रहे थे। स्वावलम्बी जीवन था उनका। वे भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन नहीं करते थे। गृहस्थ ने पुनः प्रार्थना की—बाबा! उपदेश दीजिए। साधु बाबा ने कहा—उपदेश तो तुमको दे ही रहा हूँ जी। गृहस्थ ने कहा—बाबा! मैं तो देख रहा हूँ कि आप इधर से पौधे उखाड़कर उधर रोप रहे हैं। इसमें उपदेश क्या हुआ? साधु बाबा ने कहा—अरे भाई! तुम समझ नहीं रहे हो। यही तो उपदेश है कि जिस दुनियादारी में तुम्हारा मन गड़ा हुआ है, वहाँ से उखाड़ो और परमात्मा में लगाओ। तुम्हारा मन संसार में गड़ा हुआ है। संसार से मन को उखाड़ो और परमार्थ-चिन्तन में रोपो। कमठ-दृष्टि अर्थात् कछुवी की दृष्टि

कैसी होती है, तो संत पलटू दासजी कहते हैं—

आप रहे जल माहिं, सूखे में अंडा देवै।

कछुवी अंडा देती है सूखी जमीन में; लेकिन स्वयं पानी में रहती है। चिड़िया भी अंडा देती है। उसको वह उसपर बैठकर सेती है; लेकिन कछुवी अंडे पर बैठकर सेती नहीं है। वह जल में रहती है और अपनी सुरत से अंडों को वह सेती है। उसी में वह अंडा बढ़ता जाता है, पुष्ट होता है और फूटता है। फिर बच्चा बनकर निकल आता है। कहते हैं—जो कछुवी अंडा देती है, उस कछुवी को यदि कोई मार दे, तो वह अंडा बढ़ता नहीं, सड़ जाता है। अब समझिए। कछुवी कहाँ और अंडा कहाँ। वह जल में आहार करती है, विहार करती है, सब व्यवहार करती है; लेकिन उसकी सुरत उन अंडों पर लगी रहती है। उसी की उपमा देकर संत पलटू साहब कहते हैं—हमलोग संसार में रहें और सभी कार्य-कलापों को करते हुए अपना ख्याल अपने इष्ट पर लगाए रखें।

जो गुरु बसै बनारसी, शिष्य समुन्दर तीर।
एक पलक बिसरे नहीं, जो गुण होय शरीर।।

कछुवी का दृष्टान्त हम अपने गुरु महाराज के भी वचन में पाते हैं—

गुरु हरि चरण में प्रीति हो, युग काल क्या करे।
कछुवी की दृष्टि दृष्टि हो, जंजाल क्या करे।।

अगर हमारी कछुवी-सी दृष्टि हो जाय, प्रभु पर ख्याल लगा हुआ रहे, तो फिर जग-जंजाल कुछ नहीं कर सकता है। हम कामों को करते रहें—तन काम में; परन्तु मन राम में रहे।

कर ते कर्म करो विधि नाना।
सुरत राख जहाँ कृपा निधाना।।

लौकिक और पारलौकिक दोनों जगत् में जीने की यह कला संतमत बतलाता है। भगवान कृष्ण कहते हैं—तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

मेरा स्मरण भी करो और युद्ध भी करो। वह युद्ध का मैदान कैसा था? आजकल का युद्ध का मैदान नहीं था। उस समय का युद्ध था—उधर से तीर आ रहा है। उस तीर से अपनी रक्षा करना और अपने तीर से उसके शरीर को बेधकर उसका नाश करना। जरा-सी भी चूक न होने पाये। उस विषम समय में भी भगवान कह रहे हैं—मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। कोई कहे कि इस तरह क्या हो सकता है? उत्तर में निवेदन है—हो सकता है। किस तरह? जब कोई विशेष कार्य-भार हमारे ऊपर आ जाता है, उस समय किसी भी कार्य को करते हुए सतत वह कार्य हमारे दिमाग में घूमता रहता है। खा रहे हैं, पी रहे हैं, वह बात मस्तिष्क में घूमती रहती है।

हमारे सामने चार तरह के कार्य आते हैं—एक अत्यावश्यक, दूसरा आवश्यक, तीसरा साधारण और चौथा गौण। अत्यावश्यक कार्य को हम प्राथमिकता देते हैं, आवश्यक को दूसरा स्थान देते हैं, साधारण को तीसरा स्थान और गौण को चौथा स्थान देते हैं। जिस दिन भगवद्भजन को प्राथमिकता दे देंगे, अत्यावश्यक को संज्ञा देंगे, उस दिन भूलेंगे नहीं। अभी हमलोग भगवद्भजन को गौण बनाये हुए हैं। इसलिए मौन बैठे हुए हैं। ऐसा अभ्यास हो कि कार्यरत रहते हुए मन से मंत्रावृत्ति होती रहे। अभी हम बैठते हैं, मंत्र-जाप करने के लिए; लेकिन जप करने की जगह गप करने लग जाते हैं। क्यों? ऐसा होता क्यों है? इसलिए कि जिस समय हम कार्यों को करते हैं, उस समय उन कार्यों में ही संलग्न हो जाते हैं। यदि उन कार्यों के साथ हमारा जप चलता रहे, तब यदि हम केवल जप के लिए बैठेंगे, तो वह कार्य याद नहीं आएगा; लेकिन कार्य के समय हम कार्यरत हो जाते हैं और जप-ध्यान करने के लिए बैठते हैं, तो वह कार्य दिमाग में चक्कर काटने लगता है। यदि हमारा मन कार्य करते हुए उस प्रभु की ओर लगा रहे, जप में लगा रहे, तो केवल जप-ध्यान करने के लिए बैठेंगे, तो वह कार्य याद नहीं आएगा। हम भजन को प्राथमिकता नहीं देते हैं। यही संत पलटू साहब कहते हैं—

कमठ दृष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान।।
सो ध्यानी परमान सुरत से अंडा सेवै।
आप रहै जल माहिं सूखे में अंडा देवै।।
जस पनिहारी कलस भरे मारग में आवै।
कर छोड़े मुख वचन चित कलसा में लावै।।
फनि मनि धरै उतारि आपु चरने को जावै।
वह गाफिल ना पड़ै सुरति मनि माहि रहावै।।
पलटू सब कारज करै, सुरति रहै अलगान।
कमठ दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान।।

एक उपमा तो ये कछुवी की देते हैं। दूसरी उपमा देते हैं—पनिहारिन की।

जस पनिहारी कलस भरे मारग में आवै।

कर छोड़े मुख वचन चित्त कलसा में लावै।।

अर्थात् जैसे पनिहारिन पानी भरने के लिए जाती है। आजकल की पनिहारिन नहीं कि नल दबाया, घड़ा भरा और चल दिये। उस जमाने की पनिहारिन की बात है–स्त्रियाँ कुएँ पर जाती थीं पानी भरने के लिए। एक हाथ में रस्सी-बाल्टी रहती थी, जिससे कुएँ से पानी निकालती थी। पानी से घड़ों के भर जाने पर एक घड़ा उसके सिर पर रहता था, दूसरा घड़ा उसकी काँख में। काँख के घड़े को तो वह बायें हाथ से पकड़े रहती और जिस बाल्टी से पानी निकालती है, वह बाल्टी-रस्सी दायें हाथ में है।

विचारणीय विषय है कि सिर पर जो घड़ा है, उसको किससे–कैसे पकड़ा है? साथ ही फिर सखी-सहेली से बातचीत भी करती जाती है। सिर पर का घड़ा हाथ से पकड़ा हुआ नहीं है, सुरत की पकड़ में है। और बातचीत करती हुई चली जा रही है। तीसरी उपमा देते हैं–

फनि मणि धरै उतारि, आपु चरने को जावै।
वह गाफिल ना पड़ै, सुरति मनि माहिं रहावै।।

जिस सर्प में मणि होती है, वह घनघोर जंगल में रहता है। जब बहुत रात बीत जाती है, तब वह अपने बिल से निकलता है। मणि को मुँह से उगल देता है। उस मणि से जो प्रकाश निःसृत होता है, उसमें कीड़े-मकोड़े आते हैं उस प्रकाश को देखकर। उन कीड़े-मकोड़े को वह खा लेता है। पेट उसका भर जाता है, फिर उस मणि को मुँह में लेकर बिल में प्रवेश कर जाता है। ये तीन तरह की उपमाएँ दी गयी हैं। ये तीनों उपमाएँ क्या बतलाती हैं?

पहली उपमा बतलाती है कि मानस जप करो। दूसरी उपमा बतलाती है कि मानस ध्यान करो। तीसरी उपमा बतलाती है कि दृष्टियोग करो। मतलब कछुवी कहीं है, अंडा कहीं है। उसी तरह जिस इष्ट का हम मंत्र-जप करते हैं, वे इष्ट तो कहीं हैं और हम कहीं हैं। दोनों में दूरी है। जैसे कछुवी का ख्याल सतत अंडे पर रहता है, वैसे हम जप निरंतर करते रहें।

यह पहली उपमा मानस जप के लिए है। दूसरी उपमा है मानस ध्यान के लिए। मानस ध्यान क्या है? मानस ध्यान जब हम करते हैं, तो रूप को हम सामने लाते हैं। वह कहीं दूर नहीं है। जिस तरह पनिहारिन के सिर पर ही घड़ा है, उसके अंग-संग ही है। उसी तरह मानस-ध्यान अंग-संग होता है। जिस इष्ट का हम ध्यान करते हैं, उसी की मानस मूर्ति के ऊपर हमारी वृत्ति रहनी चाहिए। लक्ष्य हमारा उसी पर रहना चाहिए। मनोभावना हमारी उच्च कोटि की होनी चाहिए। तीसरी उपमा है मणिवाले साँप कीं मतलब यह कि जिस तरह प्रकाश में साँप विचरण करता है, उसी तरह साधक जब दृष्टि-साधन की क्रिया करता है, तब वह अपने को प्रकाश में पाता है। उस प्रकाश में ही वह विचरण करता है। प्रकाशीय वृत्ति उसमें रहती है और तदनुकूल जग-व्यवहार करता है, आचरण करता है। यह दृष्टि-साधन की क्रिया है। तो ये तीनों क्रियाएँ–मानस जप, मानस ध्यान और दृष्टि-साधन की क्रिया संत पलटू साहबजी एक साथ बतला देते हैं, यह एक साथ करो। जब इन क्रियाओं में कुशल हो जाआगे, तब वह चौथी क्रिया आएगी–'धुन आनै जो गगन की सो मेरा गुरुदेव' तो वह धुन की बात तो पीछे की है।

धुन की बात तो तब है, जब सुरत शून्य में चली जाती है। जबतक सुरत शून्य में नहीं जाएगी, तबतक क्या सुनेंगे! इन क्रियाओं को करते हुए संसार में रहो। श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवजी कहते हैं–संसार में तुम रहो, तो किस तरह रहो? कटहल काटने की उपमा देते हुए वे कहते हैं–देखो, कटहल काटते हो सब्जी-तरकारी बनाने के लिए। तो कटहल काटने के पहले हाथ में तेल लगा लेते हो। अगर हाथ में तेल नहीं लगाआगे, तो हाथ में लस्सा लग जाएगा। उसी तरह अपने हृदय को भगवद्‌भक्ति से तर कर लो–भींगा लो। फिर संसार का काम करो, सांसारिकता नहीं आएगी। उन्होंने दूसरी उपमा दी, कहा–पानी में नाव रहे, कोई हानि की बात नहीं है; लेकिन नाव में पानी नहीं आना चाहिए, नहीं तो वह नाव को डुबो देगा। उसी तरह भक्त संसार में रहे, कोई हर्ज की बात नहीं; लेकिन भक्त में सांसारिकता नहीं आनी चाहिए, नहीं तो उसको डुबा देगी।

तीसरी उपमा उन्होंने दी है–कोई गाय का रखवाला है, गौ की सेवा करता है। नौकर है। वह ठीक समय पर गाय को खिलाता है, पानी पिलाता है। जाड़े में समय में धूप में रखता है। गोबर फेंकता है। गोंत फेंकता है। सारी सेवा-शुश्रूषा वह करता है; लेकिन अगर कोई गाय बियाती है, तो वह गोपालक

क्या कहता है—मालिक की गाय बियायी है। वह यह नहीं समझ रहा है कि हमारी गाय है। वह समझ रहा है कि मालिक की गाय है। उसी तरह तुम परिवार में रहो, सारी सेवाएँ करो; लेकिन मन से जान रखो कि यह तुम्हारा नहीं, तुम्हारे मालिक का है। आमदनी है तो मालिक की और खर्च है तो मालिक का। यह भावना रखो। सहजोबाई कहती हैं—

सहजो जग में यों रहो, ज्यों जिभ्या मुँह मांहि।
घीउ घना भोजन करै, तौ भी चिकनी नाहिं।।

घी लगा दीजिए देह पर, चिकनी हो जाएगी। जिभ्या रहती है मुँह में, जिभ्या पर घृत लगाने से चिकनापन नहीं आता। उसी तरह संसार में रहो; लेकिन संसार का चिकनापन नहीं आना चाहिए, लेप नहीं लगना चाहिए। यह संतमत बतलाता है।

चीन में एक महात्मा हुए। उन्होंने देखा कि अब मेरा अंतिम समय है, तो उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"देखो, कल जैसे सूर्योदय होगा, तो मेरे जीवन का अस्त होगा। तुमलोग सूर्योदय से पहले आकर भेंट कर लेना। एक उपदेश दूँगा तुमलोगों को।" बहुत बूढ़े हो गये थे। शिष्य सब नियत समय पर पहुँच गये। महात्माजी बोले—"अंतिम समय में उपदेश देता हूँ।—यह कहकर उन्होंने अपना मुँह खोलकर दिखला दिया और पूछा—"देखा?" शिष्यों ने कहा—"जी हाँ, देखा।" साधु बाबा ने पूछा—"क्या समझा?" शिष्यों ने कहा—"नहीं समझा।" साधु बाबा ने पूछा—"मेरे मुँह में दाँत है?" शिष्यों ने कहा—"जी नहीं।" आपके मुँह में एक भी दाँत नहीं है। साधु बाबा ने कहा—"यही उपदेश दिया, समझा?" शिष्यों ने कहा—"नहीं समझा।" साधु बाबा ने कहा—"अरे, दाँत नहीं है मेरे मुँह में, जिभ्या तो है?" शिष्यों ने कहा—"जी हाँ।" साधु बाबा ने कहा—"यही तुमलोगों को उपदेश दिया, समझा?" शिष्यों ने कहा—"जी नहीं समझा।"

साधु बाबा ने पूछा—"पहले जिभ्या आयी थी या पहले दाँत आया था।" शिष्यों ने कहा—"जिभ्या तो जन्म से ही साथ रहती है और दाँत तो बीच में आया और बीच में ही चला गया।" साधु बाबा ने कहा—"यही उपदेश दिया, समझा?" शिष्यों ने कहा—"हमलोग नहीं समझे।" साधु बाबा ने कहा—"अरे! देखो, दाँत होता है कड़ा और जिभ्या होती है मुलायम। जो कड़ा, सो झड़ा और जो मुलायम रहती है, उसी की स्थिति रहती है। इसलिए दुनिया में जीना चाहो, तो मुलायम बनकर रहो।" बोलिए श्रीसद्गुरु महाराज की जय! ●

यह प्रवचन महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में दिनांक ०२.०५.१९९३ ई० को साप्ताहिक-सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।

८५. भारत में संतों की खोज

विद्वज्जन का कथन है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। आवश्यकता आविष्कार की जननी कहलाती है। आज हमलोग इस समय यहाँ यत्र-तत्र से जो एकत्र हुए हैं, इसका भी कोई कारण होगा। अकारण ही हमलोग यहाँ समवेत नहीं हुए हैं। इसका कारण है—हमलोग गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की जयन्ती मनाने के लिये यहाँ उपस्थित हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सन्त थे, कवि थे। गोस्वामीजी महाराज के ही शब्दों में हम कह सकते हैं—

"सन्त उदय सन्तत सुखकारी।
बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥"

जिस तरह चन्द्र और सूर्य का उदय जगन्मंगल के लिये हुआ करता है, उसी तरह सन्तों का अवतरण विश्व-कल्याण के लिये हुआ करता है। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने 'विनय-पत्रिका में लिखा है—

"विस्व उपकार हित व्यग्र चित सर्वदा,
त्यक्त मद मन्यु कृत पुण्य रासी।
जत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि,
सहित गच्छन्ति छीराब्धि वासी॥"

विश्व-कल्याण के लिए जिनका अवतरण होता है, विश्व-कल्याण के लिए जो व्यग्र रहते हैं, जो मद-मन्यु का परित्याग किये हुए होते हैं, ब्रह्म में जिनकी वृत्ति प्रतिष्ठित रहती है, ऐसे सन्तजन जहाँ रहते हैं, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश के सहित सभी देवता उपस्थित रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज

सन्त तो थे ही, बहुत बड़े विद्वान् भी थे। उन्होंने बहुत-सी पुस्तकों की रचना की। उन रचनाओं में रामचरितमानस का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। यह उत्तम ग्रन्थ मात्र स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी प्रवेश कर चुका है। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ है कि ऐसा कौन भारतवासी होगा, जिसको रामचरितमानस की एक भी चौपाई या दोहा याद नहीं हो। कितने जन तो सम्पूर्ण रामचरितमानस को कण्ठस्थ कर लिये हैं।

रामचरितमानस इसकी संज्ञा इसलिये पड़ी कि भगवान शंकर ने भगवान श्रीराम के चरित्र की रचना करके अपने मानस पटल पर अटल करके रखा था। समय पाकर उन्होंने शिवा से कहा–

"रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमय सिवा सन भाखा॥"

रामचरितमानस एक अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश है। गो० तुलसीदासजी महाराज रामचरितमानस के सन्दर्भ में लिखते हैं–

"रामचरित मानस यहि नामा।
सुनत स्रवन पाइय विश्रामा॥
यहि मानस मानस चक्षु चाही।
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही॥"

इस रामचरितमानस को हम सामान्य दृष्टि से नहीं देख सकते। "यही मानस मानस चक्षु चाही।" मानस चक्षु अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि चाहिये। लगे हाथ किसी ने गोस्वामीजी से जिज्ञासा की कि यह मानस चक्षु वा दिव्य दृष्टि कैसे मिलती है, जिसके बिना हम रामचरितमानस का अवलोकन सही रूप से नहीं कर सकते? गोस्वामीजी इस जिज्ञासा का समाधान इस भाँति करते हैं–

"श्री गुर पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू।
बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक।
गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥"
"जथा सु अंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान॥"

आज हमलोग गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की जयन्ती मनाने के लिये उपस्थित हुए हैं, बड़ी प्रसन्नता की बात है; किन्तु जयन्ती सही रूप में हम तभी मना सकते हैं, जब हम गोस्वामीजी के कथन के अनुकूल अपना आचरण बना सकेंगे। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज के विचार में ईश्वर-भक्ति में जीव का कल्याण है। इसलिए वे नवधा भक्ति का वर्णन करते हैं। उसका प्रसंग इस प्रकार है–मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम जब शबरीजी के आश्रम में पधारते हैं, तो वे उनसे नौ प्रकार की भक्तियाँ बतलाते हैं। उन नवो प्रकार की भक्तियों में पहली भक्ति उन्होंने सन्तों की संगति बतलायी–'प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा।' नवधा भक्ति का क्रम-क्रम से वर्णन करते हुए सातवीं भक्ति में भगवान कहते हैं–

"सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें अधिक सन्त करि लेखा॥"

भगवन्त ने सन्त की मर्यादा अपने से अधिक दी; अपने से विशेष सन्त को बतलाया। सन्तों में ऐसी कौन-सी विशेषता होती है। आइये, इसपर विचार करें। भगवन्त के अवतरण से साधु-सन्तों का संरक्षण और दुष्टों का संहार नहीं होता; अपितु वे दुष्टों को सत्संग का आधार देकर उनका सुधार करते हैं और अन्तस्साधना के द्वारा उनका उद्धार करते हैं।

सन्तों की संगति मात्र गोस्वामीजी ने ही बतलायी है, ऐसी बात नहीं है; अन्य संतों की वाणी में भी हम सन्त-संग–सत्संग का बहुत ऊँचा स्थान पाते हैं। संत कबीर साहब कहते हैं–

"कबीर संगति साध की, ज्यों गंधी का बास।
जो कुछ गंधी दे नहीं, तौभी बास सुवास॥"

हम गन्धी की दुकान पर जायँ, वहाँ हम इत्र मोल नहीं लें, मात्र खड़े रहें। इत्र बेचनेवाला भी हमको इत्र नहीं दे, फिर भी स्वाभाविक ही उसकी दुकान से सुगन्धि आती है। वह सुगन्धि हमें लगती है। उसी तरह से संतों के सन्निकट जाकर हम बैठें, संत कुछ नहीं भी बोलें, बिल्कुल मौन ही क्यों न रहें, फिर भी उनकी जो नैसर्गिक आभा है, वह हममें प्रवेश करेगी और हममें परिवर्त्तन लायेगी।

पाश्चात्य देश की कथा है कि एक बहुत बड़े विद्वान थे, जिनका नाम था–अरस्तू। उन्हीं के समय में एक महात्मा हुए थे, जिनका नाम था–सुकरात। अरस्तू के मन में बहुत सारी जिज्ञासाएँ थीं। वे सुकरात

के पास जाकर अपनी जिज्ञासा का समधान कराना चाहते थे। किन्तु मानवों में कुछ मानसिक कमजोरियाँ भी हुआ करती हैं। आजकल-आजकल कहकर वे सोच रहे थे—जायँगे-जायँगे। बहुत दिन बीत गये। जा नहीं पाये। कुछ संयोग ऐसा हुआ कि सुकरात पर मिथ्या दोषारोपण करके उनको कारागार में बन्द कर दिया गया। उनको अवधि दी गयी कि अगर चालीस दिनों के अन्दर आप अपने विचार में परिवर्त्तन ला सकें, तो आप कारागार से मुक्त हो सकते हैं, अन्यथा आपको प्राणदण्ड दिया जायेगा। सुकरात-जैसे महात्मा अपने विचार में परिवर्तन क्योंकर लाते। यह बात अरस्तू को ज्ञात हुई। अरस्तू ने सोचा, महात्मा सुकरात-जैसे महान व्यक्ति अपने विचार में परिवर्त्तन नहीं ला सकते। वे अपने विचार में दृढ़ रहेंगे। भले ही प्राणदण्ड स्वीकार कर लें। यही अवसर है कि हम अपनी जिज्ञासाओं का समाधान उनसे करावें। अरस्तू चलते हैं सुकरात से मिलने के लिए, जहाँ वे कारागार में बन्द थे। जैसे-जैसे वे सुकरात की ओर आगे बढ़ते हैं और जाते-जाते उनकी समीपता प्राप्त करते हैं, तो उनकी सारी जिज्ञासाओं का समाधान हो जाता है। सुकरात से उनकी भेंट होती है। सुकरात पूछते हैं—"कहिये, आपके आने का क्या कारण है?" अरस्तू कहते हैं—"मेरे मन में बहुत सारी जिज्ञासाएँ थीं। उन्हीं जिज्ञासाओं के समाधानार्थ आज मैं आपके पास आया था; किन्तु जैसे-जैसे मैं आपके पास आता गया, हमारी जिज्ञासाओं का समाधान होता गया। अब मात्र एक जिज्ञासा बच गयी है और वह यह कि ऐसा हुआ तो कैसे? सुकरात ने उत्तर दिया—"प्रत्येक व्यक्ति के शरीर से नैसर्गिक आभा निःसृत होती रहती है। उस आभा का एक क्षेत्र होता है। उस क्षेत्र से जब आप बाहर थे, तो आपके अन्दर बहुत सारी जिज्ञासाएँ थीं और जैसे-जैसे आप उस आभा में प्रवेश करते गये, आपकी जिज्ञासा का समाधान होता गया और यहाँ आते-आते सारी जिज्ञासाओं का समाधान हो गया।"

हमारे गुरुदेव थे। उनकी भी तपस्या बहुत ऊँची थी। साधना के शिखर तक पहुँचकर उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया था। एक बार का प्रसंग है—मुंगेर कॉलेज में एक प्रोफेसर थे। अब तो वे रिटायर्ड (अवकाश-प्राप्त) हो चुके होंगे। उनका नाम है शिवचन्द्र बाबू। ये अपने कॉलेज के कार्य-विशेष से भागलपुर यूनिवर्सिटी (विश्वविद्यालय) आये हुए थे। जिस कार्य के लिए आये हुए थे, वह पूरा हो गया, तो उनकी इच्छा हुई कि नजदीक में ही महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज विराजते हैं। क्यों न वहाँ जाकर उनके दर्शन किये जायँ। उन्होंने अपनी जेब में हाथ डालकर देखा, तो उतने पैसे उनके पास नहीं थे, जिससे कुप्पाघाट जाकर पुनः मुंगेर लौट सकें। उनके मन में हुआ कि इच्छा थी महर्षिजी के दर्शन करने की, किन्तु लाचारी है। देखिये, होता क्या है? उस समय यहाँ भागलपुर यूनिवर्सिटी में भी०सी० (उपकुलपति) थे—राष्ट्र कवि श्री दिनकरजी। दिनकर जी के मन में प्रेरणा होती है। दिनकरजी कहते हैं—"शिवचन्द्र बाबू! सुनने में आया है कि कुप्पाघाट में एक महात्माजी रहते हैं, उनके दर्शन के लिये चला जाय।" इनके मन में तो प्रबल इच्छा थी ही। कहते हैं—"हाँ-हाँ, चला जाय, बहुत अच्छे संत हैं। श्रीदिनकर जी श्रीशिवचन्द्र बाबू से पूछते हैं—"अच्छा एक बात बतलाइये कि हमलोग वहाँ जायेंगे, उनसे मैं कुछ पूछना चाहूँगा, तो उसका वे उत्तर देंगे न?" शिवचन्द्र बाबू बोले—"हाँ, क्यों नहीं, वे बहुत बड़े पहुँचे हुए महात्मा हैं, अवश्य उत्तर देंगे।" श्री दिनकरजी ने कागज पर क्रम से सात प्रश्न लिखे। सातो प्रश्नों को लिखकर उन्होंने अपनी जेब में उस कागज के टुकड़े को रख लिया। श्री दिनकरजी और शिवचन्द्र बाबू दोनों ही गाड़ी पर बैठकर कुप्पाघाट पहुँचे। गुरु महाराज बैठे हुए थे। दोनों ने उनके श्रीचरणों में प्रणाम निवेदन करते हुए एक-दूसरे का परिचय दिया। गुरुदेव का संकेत पाकर दोनों सज्जन बैठ गये। कुशल-समाचार के क्रम में ही दिनकरजी के प्रश्नों के उत्तर क्रमानुसार गुरुदेव देने लग गये। जैसे ही पहले प्रश्न का उत्तर गुरुदेव देते हैं, वैसे ही दिनकरजी शिवचन्द्र बाबू की जाँघ को थपथपाते हुए संकेत करते हैं। प्रश्न तो जेब में है और महर्षिजी के मुखारविन्द से उत्तर मिल रहा है। क्रम-क्रम से सातो प्रश्नों के उत्तर गुरुदेव ने दिये। दिनकरजी आश्चर्य-चकित हो अवाक् हो गये। सन्तों की अन्तर्यामिता के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव जी महाराज ने कहा है—सर्वसाधारण का हृदय सन्तों की दृष्टि में काँच की आलमारी की तरह होता है। काँच की आलमारी में

आप कुछ भी रखिये, वह बाहर से दीखती है। उसी तरह सन्तों की दृष्टि इतनी पैनी होती है कि भीतर का भेदन कर आन्तरिक रहस्यों को जान लेती है। सन्तों के शरीर की आभा सतत निःसृत होती रहती है। संतों का संग करनेवाले में वह नैसर्गिक आभा प्रवेश कर उसको पवित्र करती है। इसलिये शबरी को उपदेश देते हुए भगवान् श्रीराम ने "प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा।" कहा।

हमारी जो तामसी वृत्ति है, सन्तों की संगति करते-करते वह तामसी वृत्ति राजसी और राजसी से सात्त्विकी वृत्ति में परिवर्तित हो जाती है। सन्त कबीर साहब कहते हैं–

"कबीर संगति साध की, ज्यों गंधी का बास।
जो कुछ गन्धी दे नहीं, तौ भी बास सुबास॥"

इंग्लैण्ड के रहनेवाले एक विद्वान् सज्जन, जिनका नाम पाल ब्रण्टन था, भारत में संतों की खोज करने के लिए आये हुए थे। बहुत घूमने-फिरने के बाद जब उनको संत-दर्शन नहीं हुए, तो वे यह सोचकर कि भारत-देश संत से विहीन है, शून्य है, निराश होकर स्वदेश लौट रहे थे। जहाज में वे बैठ भी चुके थे। एकाएक उनको अन्तःप्रेरणा मिलती है और वे जहाज से उतरकर महर्षि रमण के आश्रम में जाते हैं और उनके दर्शन करते हैं। महर्षि रमण भी अद्भुत संत थे। उन्होंने उनकी ओर देखा भी नहीं, वे आँखें बन्द करके बैठे हुए थे। पाल ब्रण्टन कई दिनों तक उनके निकट रहे; लेकिन कुछ प्रश्नोत्तर नहीं हुआ। लगातार कई महीने तक उनके आश्रम में निवास करके महर्षिजी से जो वे प्रभावित और लाभान्वित हुए, उनकी चर्चा उन्होंने 'गुप्त भारत की खोज' नाम की पुस्तक में की। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत कबीर साहब की यह वाणी–"जो कुछ गन्धी दे नहीं, तौभी बास सुबास" अक्षरशः सत्य है। इस विषय की एक घटना मुझे स्मरण हो आयी।

एक सन्त चरणदासजी महाराज थे। उनकी शिष्या थीं सहजोबाई। बड़े ऊँचे दर्जे की साधिका थीं। बड़ी गुरु-भक्तिन थीं। साधना में भी अच्छी ऊँची गति थी। मीराबाई का नाम आपलोगों ने सुना होगा। उन्हीं की तरह की वे भी थीं। एक बार का प्रसंग है–सहजोबाई अपने गुरु के निकट गयीं और उनके श्रीचरणों में प्रणाम निवेदित करके बैठ गयीं। सहजोबाई को देखते ही एकाएक संत चरणदासजी महाराज अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। हमलोग अगर अपने गुरु महाराज के पास जायँ, उनको प्रणाम करके बैठें और वे आँखें बन्द कर लें, तो हमलोग यही समझेंगे कि हमारे गुरुदेव हमसे रुष्ट हैं, हमारी ओर देखना तक नहीं चाहते। बोलना तो दूर रहा, कुछ कहने की बात तो और दूर रही। लेकिन सहजोबाई क्या समझती है, अपनी भावना व्यक्त करती है–

"सहजो गुरु परसन्न ह्वै, मूँद लियो दोउ नैन।
फिर मोसूँ ऐसो कही, समझि लेहु यह सैन॥"

आँखें बन्द करने का अर्थ बहिर्मुख से अन्तर्मुख होने का संकेत है। इसीलिये कहा–"समझि लेहु यह सैन।" हाँ, तो मैं सन्तों की संगति के विषय में कह रहा था। सन्तों की संगति की विशेषता के सम्बन्ध में सन्त सुन्दरदासजी महाराज की वाणी में सुनिये–

"तात मिलै पुनि मात मिलै,
सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई॥
राज मिलै गज बाज मिलै,
सब साज मिलै मन वांछित पाई॥
लोक मिलै सुर लोक मिलै,
विधि लोक मिलै बैकुंठ ही जाई॥
'सुन्दर' और मिलै सब ही सुख,
संत समागम दुर्लभ भाई॥"

सुन्दरदासजी महाराज के संबंध की एक अत्यन्त रुचिकर–मनोहर कथा है। ये अपने पूर्वजन्म में भी संत दादू दयालजी महाराज के शिष्य थे। संत दादू दयालजी महाराज बड़े उच्चकोटि के फकीर थे। उनके शिष्य थे जग्गाजी, गुरु के अनन्य भक्त। मधुकरी वृत्ति से गुरु-शिष्य जीवन-यापन करते थे। उन दिनों घर-घर चरखा चलता था, सूत माँगकर बुनकर को देते थे। वह बुनकर कपड़ा बनाकर देता था। इसी क्रम में एक दिन जग्गा जी चले सूत माँगने के लिए। वे घर-घर घूमते हुए कहते, 'दे माई सूत, दे माई सूता।' थोड़ा-थोड़ा सूत माताएँ देती जातीं और ये झोले में रखते जाते। एक माई ने कुछ अधिक सूत देकर कहा, 'लो बाबा सूत।' इनके मुँह से निकल गया, 'लो माई पूत।' एक संत के मुँह से 'लो माई पूत' सुनकर उसका हृदय गद्गद हो गया, उसने और अधिक सूत लाकर झोले में डाल दिया। जग्गाजी सूत लेकर पहुँचे दादू दयालजी महाराज के पास। संत दादू दयालजी महाराज अंतर्यामी और दूरदर्शी थे। संतों

की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। योगशिखोपनिषद् में लिखा है–

'विन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात् ।'

जो साधना-द्वारा विन्दु को प्राप्त कर लेते हैं, उसमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं, वे जहाँ कहीं भी देखना चाहें, एक स्थान पर बैठकर देख सकते हैं। उनकी दृष्टि दूरबीन का काम करती है। हमारे परम पूज्य गुरुदेव के वचन में भी आया है–

"एकविन्दुता दूर्बीन हो, दुर्बीन क्या करे ।
पिण्ड में ब्रह्माण्ड दरस हो, बाहर में क्या फिरे ॥"

संत दादू दयालजी महाराज जहाँ बैठे थे, वहीं से सब कुछ देख रहे थे। उनकी दृष्टि से कुछ भी ओझल नहीं था। फिर भी लोक-व्यवहार-निर्वहण हेतु उन्होंने पूछा, 'इतनी थोड़ी ही देर में इतने अधिक सूत तुम कहाँ से ले आये?' जग्गा जी ने उत्तर में निवेदित किया, "गुरुदेव! सूत माँगने के लिए मैं कई घरों में गया। उन स्थानों से थोड़ा-थोड़ा सूत मिला। इसी क्रम में जब मैं एक अन्य गृह में गया, तो उस गृह से एक कन्या मेरे सामने आयी। मैंने कहा, 'दो माई सूत।' उसने कुछ अधिक सूत मेरे झोले में डालकर कहा, 'लो बाबा सूत।' एकाएक मेरे मुँह से निकल गया, 'लो माई पूत।' तो उसने और अधिक सूत लाकर मुझे दे दिया।" संत दादू दयालजी महाराज ने कहा, "अरे! वह तो बन्ध्या है। उसको तुमने कैसे कह दिया, 'लो माई पुत!" जग्गाजी बोले, 'गुरुदेव! मुझसे भूल हो गयी। क्षमा करें।' संत दादू दयालजी ने कहा, 'वत्स! साधु का वचन मिथ्या नहीं होता। तुमको ही उसके गर्भ में जाना होगा।' जग्गाजी ने प्रार्थना की, 'गुरुदेव! इस जीवन की भाँति अगले जन्म में भी आप ही मेरे गुरुदेव हों, ऐसा आशीर्वचन देने का अनुग्रह करें।' दादूदयालजी महाराज ने कहा, 'एवमस्तु! (ऐसा ही होगा)। मैं तेरा गुरु होऊँगा। अच्छा, तुम एक काम करो। उस लड़की के माता-पिता से कह दो कि उसका जहाँ विवाह हो, उनके पति से कह दें कि जो पुत्र होगा, ग्यारह वर्ष की अवस्था में वैराग्य धारण कर लेगा।' जग्गाजी ने आदेश का पालन किया।

कुछ दिनों के बाद उस कन्या का विवाह होता है। वह ससुराल जाती है। समय पाकर जग्गाजी का शरीर छूटता है और वह माई गर्भवती होती है। उसके गर्भ से बालक का जन्म होता है। वह देखने में बड़ा सुन्दर था। जब उसकी उम्र छह वर्ष की हुई, संत दादूदयालजी महाराज घूमते-घूमते वहाँ गये, जहाँ कन्या का विवाह हुआ था। उस कन्या के पति ने उस बालक को उनके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया। दादू दयालजी उस बालक के सिर पर हाथ रखते हुए बोले, 'यह बालक बड़ा सुन्दर है।' कहते हैं कि तबसे उनका नाम 'सुन्दरदास' पड़ गया। वे बढ़े और पढ़-लिखकर बहुत बड़े विद्वान संत हुए। उनकी बहुत अच्छी-अच्छी रचनाएँ हैं। उन्हीं सुंदरदासजी महाराज की वाणी आपलोगों ने सुनी। संसार में सब कुछ मिल जाय, सुलभ है; लेकिन संतों का संग बड़ा दुर्लभ है–'संत समागम दुर्लभ भाई।' भगवान शंकर पार्वतीजी से कहते हैं–

"गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो, गावहिं वेद पुरान ॥"

'हे पार्वती! संतों के समागम के समान दूसरा कोई लाभ नहीं है।' यह लाभ कैसे मिलता है? तो कहते हैं, 'बिनु हरि कृपा न होइ सो।' जबतक प्रभु की कृपा नहीं होती, संतों का समागम नहीं होता। गो० तुलसीदासजी महाराज का वचन है–

"जब द्रवहिं दीनदयाल राघव, साधु संगति पाइये ।
जेहि दरस परस समागमादिक, पाप रासि नसाइये ॥"
(विनय-पत्रिका)

गोस्वामीजी महाराज रामचरितमानस में लिखते हैं–

"सरदातप निसि ससि अपहरई ।
सन्त दरस जिमि पातक टरई ॥"

आश्विन और कार्तिक महीनों को शरद् ऋतु कहते हैं। शरद् ऋतु में दिन के समय गर्मी पड़ती है और रात में ठंढ हो जाती है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि शरद् काल में दिन की गर्मी को रात में चन्द्रमा अपनी शीतलता प्रदान कर दूर कर देता है। उसी तरह संतों के दर्शन से पातक टल जाते हैं। गोस्वामीजी के कहने की कला कितनी अच्छी है! दिन की गर्मी रात में नहीं रहती, लेकिन दिन होने पर तो फिर गर्मी आयेगी ही। इसी प्रकार संतों के दर्शन से पातक टल जाते हैं। सड़ जाते हैं, गल जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं, ऐसा वे नहीं कहते। उनका कथन है, 'संत दरस जिमि पातक टरई।' अर्थात् पातक टल गया, समाप्त नहीं हुआ। जैसे मान लीजिए, एक सरोवर है। उसमें जल लबालब भरा हुआ है। उस जल

के ऊपर सेंवार छायी है। जब हमें जल की आवश्यकता पड़ती है, तो हम सेंवार को हाथ से हटा देते हैं, जल ले लेते हैं। लेकिन कुछ क्षण के बाद फिर वह सेंवार उसी स्थान पर आ जाती है। इस भाँति संतों के दर्शन से पातक तो टल जाता है; किन्तु संत-दर्शन से जब हम दूर हो जायेंगे, तो पातक फिर आ जाएगा। वह पातक पुनः नहीं आए, इसके लिए क्या उपाय है? उसी का यत्न गोस्वामी जी बतलाते हैं–

"जब द्रवहिं दीनदयाल राघव, साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक, पाप रासि नसाइये॥"

अर्थात् जब परम प्रभु की अनुकम्पा होती है, तब साधु-संतों की संगति मिलती है। जिनके दर्शन, स्पर्शन और समागम आदि से पाप-राशि नष्ट होती है। गोस्वामी जी ने 'समागम' शब्द के आगे 'आदिक' शब्द जोड़कर एक मार्मिक दिशा की ओर इंगित किया है। वह क्या है, इसको भी समझ लेना आवश्यक है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि संतों के दर्शन, स्पर्शन, समागम मात्र से समस्त पापों का विनाश नहीं होता। समस्त पापों को विनष्ट करने के लिए वे कुछ साधना–जप-ध्यानादि करने के लिए बतलायेंगे। वह करना होगा। सामवेद में लिखा है–

"यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥"

अर्थ–यदि पहाड़ के समान कई योजन तक फैला हुआ पाप हो, तो वह ध्यानयोग से नष्ट हो जाता है; इसके समान पापों का नष्ट करनेवाला कभी कुछ नहीं हुआ है। वेद कहता है, 'न अन्यो भेदः।' और कोई दूसरा उपाय नहीं है, यही एक उपाय है।

दिनांक–१४.८.१९९४, स्थान : रामजानकी मंदिर, भागलपुर (शान्ति-सन्देश, नवम्बर, १९९४)

८६.भाग्यहीन को ना मिले, भली वस्तु की भोग

"सन्त पंथ अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, स्त्रुति पुरान सद्ग्रन्थ॥"

सन्तों का जो रास्ता है, वह अपवर्ग का है अर्थात् अपवर्ग पर परमपद का है। अन्धकार, प्रकाश और शब्द के परे का है; अर्थ, धर्म, काम–इन तीनों के परे मोक्ष धर्म का है। उस धर्म पर चलने के लिये रास्ता बाहर संसार में नहीं है। वह रास्ता अपने अन्दर है। एक फकीर ने बड़ा ही अच्छा कहा है–

"बेहोशिये इन्सान से यह ख्याल जुदा है।
जाहिर में है मुहम्मद, वातिन में खुदा है॥"

अगर खुदा को हासिल करना चाहते हो, परमात्मा को पाना चाहते हो, तो वातिन में खुदा है यानी अन्दर में परम प्रभु है। अन्दर में उसकी प्राप्ति होगी। इसलिये–

"अद्भुत अन्तर की डगरिया, जा पर चलकर प्रभु मिलते॥
दाता सतगुरु धन्य धन्य जो, राह लखा देते।
चलत पंथ सुख होत महा है, जहाँ अझर झरते॥
अमृत ध्वनि की नौबत झहरत, बड़भागी सुनते।
सुनत लखत सुख लहत अद्भुती,'मेँहीँ' प्रभु मिलते॥"

(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

वह अंदर का डगर है। बाहर की डगरिया नहीं है, बाहर का रास्ता नहीं है। आंतरिक रास्ता है। अंतर-अंतर चलना है। जिज्ञासा होती है–अंतर-अंतर कैसे चलें? इसका भेद कौन बतावेगा? तो उत्तर मिलता है–'दाता सतगुरु धन्य धन्य जो, राह लखा देते।' संत सद्गुरु के बिना और कोई इसको बता नहीं सकता। किताब पढ़-पढ़कर, थककर मर जायेंगे; लेकिन वह राह नहीं मिलेगी। स्वामी विवेकानंदजी ने कहा–'हम बहुत अध्ययन करते हैं। बहुत अध्ययन करने से हमारा बौद्धिक विकास होता है; लेकिन आत्म-विकास नहीं होता। एक पाण्डित्य का घमण्ड हमारे दिमाग में आ जाता है कि हमने इतना अध्ययन किया है, हम बहुत जानते हैं।' संतों का मार्ग आंतरिक मार्ग-सूक्ष्म मार्ग है, जागतिक स्थूल मार्ग नहीं है।

'चलत पंथ सुख होत महा है, जहाँ अझर झरते।'

उस रास्ते से चलने में कठिनाई नहीं, बल्कि सुख मिलता है। आप विचार की दृष्टि से देखिये। जब आप जाग्रत अवस्था में बहिर्मुख होते हैं और जब आप स्वप्नावस्था में अंतर्मुख होते हैं, दोनों की तुलना करके देखिये। जिस समय आप जगे हुए होते हैं, आपके मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की चिन्ताएँ रहती हैं। उस दिन एक सज्जन कह रहे थे कि ऐसा कोई घर

नहीं, जिस घर में कोई चिन्ता नहीं। मैंने उनसे कहा–ऐसा कोई सर नहीं, जिस सर में कोई चिन्ता नहीं। वस्तुतः किसी न-किसी प्रकार की चिन्ता हर सर में है। एक ही चिंता नहीं, अनेक चिन्ताएँ हैं। लोग दुःखी हैं, पीड़ित हैं, आकुल हैं, व्याकुल हैं, छटपटा रहे हैं, चिंता के कारण नींद नहीं आ रही है, लड़की की शादी करनी है, लड़के को पढ़ाना है, व्यापार में घाटा है, अपने रुग्न हैं, पत्नी अनुकूल नहीं है, किसी को लड़का नहीं है, उसकी चिंता है। किसी को कई लड़के हैं, वे आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। किसी को अमुक के साथ मुकदमा लगा हुआ है, किसी को नौकरी नहीं मिल रही है, तो किसी की नौकरी छूट गयी है आदि। कितनी बातें दिमाग में है, जिसका ठिकाना नहीं। इन सब चिंताओं से हम तबतक ग्रसित रहते हैं, जबतक हम जगे हुए होते हैं। जैसे ही हम धीरे-धीरे जाग्रत से स्वप्न की ओर जाते हैं, उस समय क्या होता है? जाग्रत-स्वप्न के बीच में एक अवस्था होती है, जिसको तन्द्रा कहते हैं। उस तन्द्रा अवस्था में यह मालूम पड़ता है कि हमारी शक्तियाँ भीतर की ओर खिंच रही हैं। बाहर की चीजों को हम भूल रहे हैं। हमारी शक्तियाँ सिमट रही हैं। बल्कि हम अखबार लेकर पढ़ते रहते हैं, किताब लेकर पढ़ते रहते हैं, तो हाथ से अखबार छूट जाता है, किताब नीचे गिर जाती है। हम कहाँ चले गये, पता नहीं। हाथ में किताब थी, कैसे गिर गयी। हाथ तो है, अंगुलियाँ तो हैं ही, उनमें जो शक्ति थी, वह सिमटी है। बाहर से भीतर की ओर हो गयी। इसलिए हाथ कमजोर पड़ गया। बेचारी आँखें कुछ देख नहीं पातीं। स्वप्नावस्था में आँखें तो बंद रहती हैं; लेकिन दोनों कानें खुली ही रहती हैं। फिर भी कान कुछ काम करते नहीं हैं। हमारे नजदीक में ही बैठकर कोई हमारी या किसी को निन्दा अथवा प्रशंसा करते हैं, तो न तो हम निन्दा सुन सकते हैं और न प्रशंसा ही। हमारे निकट में ही कोई इत्र बेचनेवाला आ जाय या हमारा नन्हा-मुन्ना बच्चा पाखाना कर दे, उस समय हमको न तो दुर्गंधि लगती है और न सुगंधि ही। नासिका भी तो खुली ही रहती है, क्या हो गया? बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो रहे हैं। देहाती भाषा में तन्द्रा को अधनिनियाँ कहते हैं। उस समय अगर कोई जगा देता है, तो बहुत दुःख होता है। हम सो रहे थे, नींद की ओर हम जा रहे थे, हमको जगा दिया, क्यों जगा दिया? आप भीतर की ओर जा रहे थे। दुःखों को भूलते जा रहे थे। आपके ऊपर दुःख का पहाड़ पड़ा हुआ हो; लेकिन जब आप नींद की ओर जा रहे होते हैं, तो वह पहाड़ हट जाता है। आप तन्द्रा से चले गये सुषुप्ति में यानी गहरी नींद में। वहाँ कोई दुःख नहीं। आपके शरीर में पीड़ा है, कष्ट है, रोग नहीं, पीड़ा नहीं, छटपटाहट नहीं, किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं। परमात्मा की ओर से यह प्रतिदिन की प्राकृतिक देन है। इस नमूने से जाना जाता है कि जो कोई भीतर की ओर जाते हैं यानी अन्तर्मुख होते हैं, वे दुःखों से छूटते हैं। लेकिन यह तो थोड़ी देर के लिए, मात्र कुछ घंटों के लिए होता है, जितनी देर हम गहरी नींद में रहते हैं। उसमें भी कुछ घंटे भी सभी लोगों को गहरी नींद नहीं आती है। बहुत कम समय लोग गहरी नींद में रह पाते हैं। नहीं तो स्वप्न में ही घूमते-घूमते सवेरा हो जाता है। अगर गहरी नींद में अधिक देर तक रहा जाय, तो बहुत प्रकार के रोगों का निवारण हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्मुख जाने से सुख की ओर जाते हैं। लेकिन यह एक साधारण-सा नमूना है। जब हम स्वप्नावस्था में जाते हैं, तो आँख में नीचे की ओर उतरते हैं। लेकिन जो साधक हैं, साधना करते हैं, तो साधना में जो एकाग्रता होती है, उस एकाग्रता के कारण जो पूर्ण सिमटाव होता है, उस पूर्ण सिमटाव में ऊर्ध्वगति होती है। ऊर्ध्वगति में आवरण-भेदन होता है और वह अन्धकार से प्रकाश में चला जाता है। उसके सुख और आनन्द का क्या कहना! वहाँ उसको दिव्यानन्द की अनुभूति होती है। कल्पना कीजिये, रात का समय है। आप अँधेरे कमरे में बैठे हुए हैं, उस समय आप कैसा दुःख का अनुभव करते हैं! एकाएक बिजली आ गयी, तब आप कितना सुख का अनुभव करने लग जाते हैं। उसी तरह हम जन्म-जन्मान्तर से अँधेरी कोठरी में बैठे हुए दुःखों का अनुभव कर रहे हैं। साधना के द्वारा जब अन्तःप्रकाश मिलता है, तो अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। वह प्रकाश अद्‌भुत है, आनन्द अद्‌भुत है; क्योंकि वह आन्तरिक डगर भी तो अद्‌भुत ही है। वहाँ उसको अद्‌भुत दृश्यों के दर्शन होते हैं। सतत आनन्द-ही-आनन्द है। क्षण-प्रतिक्षण आनन्द की वृद्धि होती रहती है। एक बंगाली महात्मा योगी श्री पंचानन भट्‌टाचार्य ने

कितना ही अच्छा कहा है–

"आनन्दे आनन्द बाढ़े प्रति क्षण।
दशेन्द्रिय थाके शून्य ते बन्धन॥
रिपुचय पराजय सकलि आनन्दमय।
अनुभव मात्र रय आर सब पाय लय॥
जे मन जीवने जीवन थाके ना॥"

सन्त कबीर साहब ने कहा है–

"भजन में होत आनन्द आनन्द।
बरसत विसद अमी के बादर, भींजत है कोइ सन्त।"

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की वाणी में ही पाते हैं–

'चलत पंथ सुख होत महा है, जहाँ अझर झरते।'

वहाँ ज्योति झरती है। जहाँ महर्षि मेँहीँ जी की वाणी में हम 'अझर' शब्द का प्रयोग पाते हैं, वहाँ गुरु नानकदेवजी महाराज 'नीझर' शब्द का व्यवहार करते हैं–

"निझरु झरै सहज धुनि लागै, घर ही परचा पाईअै।
अंजन माहिं निरंजनि रहीअै, जोग जुगति इव पाईअै॥"

नीझर = निर्झर = झरना। झरना झर रहा है, विविध प्रकार के प्रकाश हो रहे हैं अपने अन्दर में। विविध प्रकार के शब्द अपने अन्दर हो रहे हैं। जो उस ज्योति में स्नान करते हैं, डुबकी लगाते हैं, उसको अपने अन्दर का शब्द मिलता है। 'सहज धुनि लागै।' सहज ध्वनि यानी स्वाभाविक ध्वनि मिलती है। स्वाभाविक ध्वनि आदिनाद है। जिसको आदिनाद मिलता है, सारशब्द मिलता है, उसको प्रभु की पहचान हो जाती है। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–'घर ही परचा पाईअै' अर्थात् अपने घर में परम प्रभु का परिचय मिल जाता है। इसी से मिलती-जुलती बात सन्त कबीर साहब कहते हैं। उनका कहना है कि अनहद शब्द की झनकार होती है और अझर झरता है, तब ब्रह्मज्ञान होता है। ध्यान की अवस्था में सर्वव्यापी परमात्मा की प्रत्यक्षता भी अपने अन्दर होती है, कहीं बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं।

"अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
आवगति अन्तरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान॥"

गुरु नानकदेव जी महाराज कहते हैं–'अंजन माहिं निरंजनि रहीअै।' अंजन = माया। निरंजन = निर्माया। मायिक संसार में रहिये; लेकिन निर्मायिक होकर रहिये।

"अनासक्त जग में रहो भाई।
दमन करो इन्द्रिन दुखदाई॥"
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

संसार में अनासक्त होकर रहो, यह संसार में रहने की कला है। श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराज ने कहा–"पानी में नाव रहे, कोई हानि नहीं; लेकिन नाव में पानी नहीं आना चाहिये। नहीं तो उसको वह डुबा देगा। उसी तरह भक्त संसार में रहे, कोई हानि की बात नहीं है; किन्तु भक्त में सांसारिकता नहीं आनी चाहिये, नहीं तो उसको वह डुबा देगी।" हमारे गुरुदेवजी कहते हैं–अपने अन्दर चलो। "अमृत ध्वनि की नौबत झहरत, बड़ भागी सुनते।" अपने अन्दर स्थूल-सूक्ष्मादि भेद से पाँच नौबत हैं। पाँचों के पाँच केन्द्र हैं, जहाँ से ध्वनि होती है। जो भाग्यवान है, उसी को वह ध्वनि मिलती है–

"भाग्यहीन को ना मिले, भली वस्तु का भोग।
दाख पके मुख काग को, होत पाक को रोग॥"

जो भाग्यहीन है, उसको भली चीज का भोग नहीं मिलता है। हमारे गुरु महाराज कहा करते थे–"लोग दुःख को तो सह लेते हैं; परन्तु सुख बर्दाश्त नहीं कर सकते।" ऐंठ जाते हैं, उसमें अकड़ आ जाती है। उसके भाग्य में भली वस्तु का भोग लिखा ही नहीं है, भोगेगा क्या? जिस समय अंगूर फलता है और वह पकने लग जाता है, उस समय कौए के मुँह में घाव हो जाता है। पका अंगूर वह खा नहीं सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है कि भगवान् श्रीराम ने कहा था–"बड़े भाग मानुष तनु पावा।" वह बड़भागी है, जिसको मनुष्य-शरीर मिला है और भी विशेष बड़भागी हम तब होते हैं, जब हमको सत्संग मिल जाता है। "बड़े भाग पाइये सत्संगा।" उससे भी अधिक बड़भागी हम तब हो जाते हैं, जब हमको सच्चे गुरु के दर्शन हो जाते हैं। उनसे सद् शिक्षा-दीक्षा मिल जाती है और जब अन्तस्साधना करके परम प्रभु परमात्मा का अनुभव कर सन्त बन जाते हैं, तब तो भाग्य के लिये कहना ही क्या!

संत पलटूदासजी महाराज ने कहा है–ऐसे महान पुरुष की जन्मदात्री माताजी भी धन्य हो जाती हैं–

'धनि जननी जिन जाया है, सुत सन्त सखी री।'

वह कुल धन्य हो जाता है, जिस कुल में सन्त का अवतार होता है। गोस्वामीजी कहते हैं–भगवान् शंकर ने पार्वतीजी से कहा था–

'सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।'
(रामचरितमानस)

'अमृत ध्वनि की नौबत झहरत, बड़भागी सुनते।'

अमृत–जिसको प्राप्त करके अमरता मिलती है। वह क्या है? वह दो रूपों में है–(१) ज्योति-रूप में और (२) शब्दरूप में। जबतक हमारे शरीर में ज्योति और शब्द है, तबतक यह शरीर अमर है। इस शरीर से ज्योति और शब्द दोनों निकल जायँ, तो यह शरीर मर जाएगा। जबतक शरीर में गर्मी है, तबतक यह शरीर जीवित है। जबतक हृदय में गति है, नाड़ी में गति है, तबतक यह जीवित है। किसी शरीर से जब गर्मी निकलती है, तो शरीर ठंडा पड़ने लग जाता है और नाड़ी की गति धीमी पड़ने लग जाती है। धीरे-धीरे श्वास की गति बन्द हो जाती है, तब क्या कहते हैं? मर गया, रामनाम सत्त हो गया। हमलोगों के शरीर में ज्योति और शब्द है। आन्तरिक ज्योति और आन्तरिक शब्द की साधना द्वारा ही परम प्रभु परमात्मा से मिला जाता है। ज्योति रूप-ब्रह्माण्ड तक रहती है। उसके आगे शब्द की गति होती है, जो अरूप-ब्रह्माण्ड कहलाता है; वहाँ केवल नाद-ही-नाद है, उस नाद के सहारे चलते हैं। जैसे नदी का जल समुद्र में जाकर मिल जाता है, वैसे ही नाद से नादों में चलते हुए अन्त में प्रणव ध्वनि मिलती है। प्रणव ध्वनि को ही ओऽम्, स्फोट, उद्गीथ आदि शब्दों से अभिहित करते हैं। उस शब्द-धार को पकड़कर सर्वाधार तक पहुँचा जाता है। प्रातःस्मरणीय परम पूज्य अनन्त श्रीविभूषित महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की वाणी में हम पाते हैं–

नाद सों नादों में चलि धरु, प्रणव सतध्वनि सार रे।
एक ओऽम् सतनाम ध्वनि धरि,'मेँहीँ हो भव पार रे॥

इस तरह जो अन्तस्साधना करते हैं, अपने अन्तर चलते हैं। अन्धकार से प्रकाश में, प्रकाश से शब्द में और शब्द से निशब्द परमं पदम्' में पहुँचकर प्रभु से मिल एक हो जाते हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। जैसे नदी का जल समुद्र में मिल जाने पर उसकी संज्ञा समुद्र की हो जाती है, उसी तरह जो जीव जाकर परम प्रभु परमात्मा से मिल जाता है, उसकी संज्ञा भी परमात्मा हो जाती है, जीव की संज्ञा मिट जाती है। तब 'वह तुम्हीं तुम वही 'मेँहीँ', प्रश्न पुनि रहते नहीं' चरितार्थ हो जाता है। फिर वहाँ द्वैत भाव नहीं रहता है। जीव-पीव मिलकर एक हो जाते हैं। आवागमन का चक्र छूट जाता है। अंधकार से प्रकाश में, प्रकाश से शब्द में और शब्द से निःशब्द में। परम प्रभु परमात्मा के पास जाने का यही श्रेष्ठ रास्ता है और दूसरा, तीसरा, चौथा, अन्य कोई रास्ता नहीं है। यही अन्तर का रास्ता है। सरल रास्ता है, सहज रास्ता है, सुगम रास्ता है। जो कोई चलते हैं, प्रभु की ओर से उनको मदद भी मिलती है प्रभु-कृपा मिलती है। प्रभु की कृपा के सहारे प्रभु से मिलकर एकमेक हो जाते हैं। यह सहज साधना, सरल साधना सबको जानकर करना चाहिये और अपने मानव-जीवन को कल्याण बनाना चाहिये।
(शान्ति-सन्देश, अक्टूबर १९९४ ई०)

८७.श्रवण-मनन से ध्यानाभ्यास का ज्ञान विशेष

अभी आपलोगों ने दो मिनट का प्रवचन सुना। ये प्रवचनकर्ता हैं–अमेरिका के रहनेवाले मिस्टर डॉन होवार्ड। ये अंग्रेजी भाषा के अच्छे विद्वान हैं। इनका जीवन बड़ा पवित्र है। यों तो अमेरिका बड़ा धनी देश है; आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न देश है; भोग-विलासों से भरा देश है; लेकिन आध्यात्मिकता का वहाँ अभाव है। ये अपने देश अमेरिका से यहाँ (भारत) उसी अध्यात्म-ज्ञान की खोज में आये थे। जिज्ञासोपरान्त इन्होंने मुझसे दीक्षा ली है। ये साधना भी करते हैं। इनकी बड़ी निष्ठा है साधना में। इनका जीवन इतना पवित्र है कि अमेरिका के रहनेवाले होते हुए भी बाहर बाजार की बनायी हुई चीज नहीं खाते। होटलों में जो शाकाहारी भोजन बनता है, वे भी ये नहीं खाते। मैं जब दिल्ली जाता हूँ और ये मुझसे भेंट करने के लिए आते हैं, तो हमलोग जो भात-रोटी खाते हैं, इनको खिला देते हैं। ये प्रेम से खा लते हैं। दिल्ली के एक होटल में मात्र पाँच-सात घंटे रात में ठहरने एवं सोने के लिए जाते हैं। उसका शुल्क प्रति रात्रि पाँच हजार रुपये ये देते हैं। फल वगैरह बाजार में ले लेते हैं, सो खाते हैं। ये स्वयं कभी-कभी कहा करते हैं–'मेरा शरीर तो अमेरिका है; लेकिन मेरी आत्मा भारत की है।' (श्रोताओं की ओर से श्रीसद्गुरु महाराज की

जय का नारा) इनकी जो धर्मपत्नी है, उनका नाम है—वीणा। ये मुरादाबाद के बाबू श्रीलेखराज गगनेजा की सुपुत्री है। मेरे पास ये बचपन से आती है। मैं इनको बेटी के समान प्यार करता हूँ। ये भी बड़ी धर्मशीला हैं और इनका भी जीवन इतना पवित्र है कि ये भी बाहर की बनी बनायी चीज नहीं खातीं। कुछ वर्ष पूर्व जापान में कोई सम्मेलन था, जिसमें इनकी बुलाहट हुई थी। उसमें ये गयी थीं। वहाँ सब अतिथियों के लिए सामिष भोजन बना था यानी मांस, मछली आदि की व्यवस्था की गयी थी। इन्होंने अपने को शाकाहारी बताया। इनके लिए थाली में सेब लाया गया; लेकिन सेब के ऊपर कुछ अंडे रखे हुए थे। वहाँ के लोग अंडे को शाकाहारी की श्रेणी में लेते हैं। इनके सामने जैसे ही वह थाली आयी, इन्होंने कहा, 'मैं नहीं खाऊँगी। अंडा इसके ऊपर है।' वहाँ के लोगों ने कहा, 'अंडा हटा देते हैं, खाओ।' इन्होंने कहा, 'अंडा इसपर रखा गया है, इसलिए नहीं खाऊँगी।' बेचारी दिनभर भूखी रहीं। ये मेरी बेटी की तरह हैं न! इसलिए मुझसे मन की बातें बतलाती हैं। जब समूचा दिन बीत गया, सन्ध्या हुई और रात होने चली, तो भूख से इनका भीतर व्याकुल होने लगा। अपनी मनःपीड़ा बेचारी कहे तो किससे? अब गुरु महाराज की देखिये क्या दया होती है! कोई साधु आते हैं और वे इनको दो सेब देते हैं खाने के लिए। (श्रोताओं की ओर से श्रीसद्गुरु महाराज की जय का नारा)

ये उन दोनों सेबों को खाकर समय बिताती हैं। सम्मेलन-समापन के पश्चात् ये जापान से अमेरिका गयीं। अमेरिका में इनके भाई और उनके परिवार हैं। वे वहीं पर बस गये हैं। वीणाजी ने वहाँ से ही पीएच०डी० की उपाधि प्राप्त की है। मि० डॉन और वीणा दोनों का दाम्पत्य जीवन बड़ा पवित्र है। अमेरिका में रहते हुए भी वीणाजी अपनी भारतीय संस्कृति भूली नहीं है। इनको अब एक पुत्री हुई है। उस पुत्री का नाम इन्होंने रखा है—मीरा। रहती हैं अमेरिका में; लेकिन पुत्री का अमेरिकन नाम नहीं रखकर, भारतीय नाम रखे हुई है—मीरा। हमलोगों के यहाँ भारत में आज अपने बच्चों को माता-पिता की जगह मम्मी और पापा सिखाकर अभिभावक लोग गौरव का अनुभव करते हैं। लेकिन वीणाजी सिखाती हैं अपनी बच्ची को मम्मी और पापा की जगह माताजी और पिताजी। वीणाजी विदुषी हैं। एम०ए० द्वय हैं। पीएच०डी० किये हुई हैं। मिस्टर डॉन होवार्ड और वीणाजी; दोनों का बहुत अच्छा संयोग है। दोनों प्रेम से रहते हैं और अपने-अपने दैनन्दिन कार्यों की सँभाल के साथ-साथ सत्संग-ध्यान भी किया करते हैं। मैंने तो वीणाजी को आदेश भी दे दिया है कि ये अमेरिका में संतमत का प्रचार करें। ये जाती हैं सभाओं में और प्रवचन करती हैं। इनके प्रवचन से लोग बड़े प्रभावित होते हैं। कितने लोग इनके पास आते हैं समझने के लिए, बूझने के लिए कि संतमत क्या है? ध्यान क्या है? वहाँ के लोगों को इसका पता नहीं है। साधारणतः लोग आध्यात्मिक पिपासा लेकर उन बाबाजी लोगों के पास जाते हैं, जो इधर से वहाँ जाते हैं। कहावत है कि जहाँ पर कोई घना वृक्ष नहीं है, वहाँ अरण्ड का पेड़ ही बहुत मूल्यवान समझा जाता है। उसी तरह इधर-उधर से जो कोई साधु वहाँ जाते हैं, उधर के लोग तो भूखे होते हैं अध्यात्म-ज्ञान के; जो कुछ बता देते हैं, वे करने लग जाते हैं। लेकिन जब वीणाजी का प्रवचन होता है और लोग सुनते हैं, तो बड़े प्रभावित होते हैं। इनसे दीक्षा की याचना करते हैं। कितने ही दिनों तक तो इन्होंने मात्र शिक्षा दी। अब मेरी आज्ञा से कुछ लोगों को इन्होंने दीक्षा भी दी है। हजारों मील की दूरी तय करके ये दोनों (मिस्टर होवार्ड और वीणाजी) मेरे पास आये हुए हैं। दोनों में आध्यात्मिक की अच्छी अभिरुचि है। दोनों में संतमत और गुरुदेव के प्रति भी अच्छी श्रद्धा-भक्ति है। मैं इन दोनों को बहुत-बहुत आशीर्वाद देता हूँ, प्यार करता हूँ और धन्यवाद भी देता हूँ।

दोनों का हृदय का बड़ा विशाल है, उदार है, खुला हुआ है। मैंने कहा है कि 'काम तो कम कीजिए और ध्यान बेशी कीजिए।' इन्होंने कहा, 'कोशिश करूँगा।' इनको किसी तरह की कमी नहीं है। अपना हवाई जहाज इनको है। बड़े ही सरल स्वभाव के हैं। ऐश्वर्यवान होते हुए भी इनमें तनिक भी अभिमान नहीं है। ध्यान के संस्कार अपने-अपने जन्मों के होते हैं। उस संस्कार से भी ये संस्कृत हैं। कितने जन्मों के संस्कार इनमें आये हुए हैं, जिससे इस ओर इतनी उन्मुखता है। दोनों ही नित्य नियमित रूप से ध्यानाभ्यास किया करते हैं। वास्तव में कोई कितना ही जागतिक वैभव प्राप्त कर ले, उससे संतुष्टि नहीं होती; शांति

नहीं मिलती; कल्याण नहीं होता और न परम सुख की प्राप्ति होती है। किसी सुभाषितकार ने बड़ा ही अच्छा कहा है–

"असन के लिए नाना प्रकार के अन्न, फल, मेवा, मिष्टान्न, दुग्ध-घृत आदि से भरा भंडार हो; वसन के लिए जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि ऋतुओं के अनुकूल ऊनी, सूती, रेशमी, मलमल, मखमल सभी आदि सभी प्रकार के कपड़ों का आगार हो, शयन के लिए गगनचुम्बी अट्टालिका खिड़कीदार और हवादार हो; मन वहार के लिए वातानुकूलित अत्याधुनिक कार हो; परिसर के प्रांगण में खिले-अधखिले रंग-बिरंगे खिले-अधखिले फूलों की कतारें हजारों-हजार हों; परिवार में परस्पर दम्पति का प्यार हो; कामिनी के कंचन किंकिणी, नुपूर एवं पायल की झनकार हो, प्रांगण में नन्हें-मुन्ने की किलकार हो; सोने, चाँदी, हीरा, मोती, जवाहिरात आदि की टंकार हो, पद-प्रतिष्ठा और पैसे के कारण संसार में जय-जयकार हो; लेकिन यदि पालन सदाचार न हो तो सारा जीवन हाहाकार हो।"

हम अंधकार से प्रकाश में कैसे जाएँ, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कैसे हो, हम दुःख से निकलकर सुख में कैसे जाएँ; आदि का ज्ञान संतमत देता है। अभी आपलोगों ने जो रामचरितमानस का पाठ सुना है, उसमें क्या सुना? कागभुशुण्डिजी गरुड़जी से कहते हैं–

"निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।
बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥"

जागतिक ऐश्वर्य चाहे कितना भी क्यों न हो, लेकिन जबतक ईश्वर का भजन नहीं करेंगे, तबतक दुःख दूर नहीं होगा। जैसे जबतक सूर्य का उदय नहीं होता, रात का अंत नहीं होता। सूर्य उदय हुआ कि रात का अंत हुआ। उसी तरह ईश्वर की भक्ति करके जो कोई ईश्वर को प्राप्त कर लेते हैं, तो उनके सारे दुःख दूर हो जाते हैं। इसलिए संतमत बतलाता है कि ईश्वर का भजन करो।

कागभुशुण्डिजी निज अनुभव की बात कहते हैं। 'अनुभव' किसको कहते हैं? 'अनु' शब्द का अर्थ 'पीछे' और 'भव' शब्द का अर्थ 'उत्पन्न' होता है। जो ज्ञान सबसे पीछे उत्पन्न हो, उसको अनुभव ज्ञान कहते हैं। अनुभव ज्ञान के बाद और कोई ज्ञान नहीं होता। पहले होता है श्रवण ज्ञान, उसके बाद होता है मनन ज्ञान, तत्पश्चात् होता है निदिध्यासन ज्ञान और अंत में होता है अनुभव ज्ञान। श्रवण ज्ञान के लिए बतलाया गया है कि वह साधारण अग्नि के समान है, जो साधारण जल से बुझ जाती है। हमलोगों का जो अध्ययन वा श्रवण ज्ञान है, वह सामान्य अग्नि के समान है, उसके बुझने में देर नहीं, मिटने में देर नहीं मान लीजिए रामायण की कोई एक चौपाई है। हम जो उसका अर्थ समझ रहे हैं, उसी को यदि कोई दूसरी तरह से हमको समझा देता है, तो हम समझ जाते हैं कि यही ठीक कह रहा है। श्रवण ज्ञान यहीं पर समाप्त हो जाता है। मनन ज्ञान वह है कि जैसा हम सुनते हैं, उसपर विचार करते हैं, सोचते हैं, कुछ गहराई में पैठने की चेष्टा करते हैं। यह मनन ज्ञान बिजली के समान है। यानी आकाश में बिजली चमकती है, साधारण जल से उसे बुझा नहीं सकता। लेकिन वह अधिक टिकाऊ नहीं होती, स्थिर नहीं रहती। चमकी और चली गयी। उसी तरह मनन ज्ञान है; विचार में तो आया है; लेकिन यदि हमसे कहीं कोई अधिक विचारवान है, तो उनके विचार से प्रभावित होकर हम अपने विचार को बदल सकते हैं।

एक बहुत-बड़ी सभा लगी थी, जिसमें अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैती, त्रैत आदि कई 'वाद' के विद्वान एकत्रित थे। सबने अपने-अपने प्रवचन किये। उन प्रवचनों में दो विद्वानों–एक अद्वैतवादी और दूसरे द्वैतवादी के प्रवचन बड़े प्रभावशाली हुए। अद्वैतवादी के प्रवचन को सुनकर द्वैतवादी के मन में ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने समझा–वास्तव में अद्वैतवाद ही ठीक है। मेरा द्वैतवाद ठीक नहीं हैं तो जो द्वैतवादी थे, उन्होंने अद्वैतवाद को स्वीकार कर लिया। और द्वैतवादी ने जो अपना तर्क अद्वैतवाद के खंडन में दिया था, इससे प्रभावित होकर अद्वैतवादी ने समझ लिया कि द्वैतवाद ही सही है, हमारा अद्वैतवाद गलत है। फलतः जो अद्वैतवादी थे, वे द्वैतवादी बन गये। तो श्रवण और मनन ज्ञान की मर्यादा इतनी ही है, बुझ जाने में देर नहीं है। श्रवण अथवा अध्ययन किये हुए पर मनन करने के पश्चात् उसकी प्राप्ति के लिए जब हम साधनाभ्यास करते हैं, उससे निदिध्यासन ज्ञान होता है। श्रवण से और मनन से साधन-अभ्यास का ज्ञान विशेष होता

है, जैसे समुद्र में बड़वानल होता है। बड़वानल समुद्र के जल को मर्यादित रखता है; लेकिन समस्त जल का शोषण नहीं कर सकता। उसी तरह साधक जबतक निदिध्यासन ज्ञान में रहता है, तो वह संसार में मर्यादित ढंग से रहता है; लेकिन उसकी संपूर्ण माया नष्ट हो गयी हो, सारी माया समाप्त हो गयी हो, ऐसा नहीं होता; क्योंकि सारी माया को नष्ट करने के लिए निदिध्यासन ज्ञान पर्याप्त नहीं है। निदिध्यासन करते-करते जब अनुभव ज्ञान होता है, जब साधक प्रभु का साक्षात्कार कर लेता है, तब समस्त माया समाप्त हो जाता है। अर्थात् ईश्वर के संबंध में जैसा हमने सुना, उसपर विचार किया, तदनुसार ईश्वर को प्राप्त करने की साधना की और साधना करते-करते परिपूर्णता आ गयी, ईश्वर का साक्षात्कार हो गया; यह अनुभव ज्ञान कहलाता है। यह अनुभव ज्ञान महाप्रलय की अग्नि के समान है, जो द्वैत-प्रपंच को जलाकर भस्मीभूत कर देता है।

कागभुशुण्डिजी ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके अनुभवज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसी अनुभव ज्ञान के आधार पर वे कहते हैं, 'बिना हरि-भजन के दुःख का नाश नहीं होगा, क्लेश निःशेष नहीं होगा। इसलिए भगवद्भजन करो। जिज्ञासा होती है—स्वयं कागभुशुण्डिजी ने कौन-सा भजन किया था, जिससे उनको अनुभव ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसका समाधान भगवान शंकर इस भाँति करते हैं—

"पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप यज्ञ पाकरि तर करई॥
आम छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥
बट तर कह हरि कथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥"

अर्थात् वे जप करते थे यानी मानस पूजा करते थे। 'आम छाँह कर मानस पूजा।' वे मानस ध्यान भी करते थे। 'पीपर तरु तर ध्यान सो धरई'। और ध्यान भी करते थे। वह कौन-सा ध्यान? वह दृष्टियोग की क्रिया करते थे और नादानुसंधान भी करते थे। 'विन्दु-ध्यान-विधि नाद-ध्यान विधि सरल-सरल जग में परचारी।' इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कागभुशुण्डिजी आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के सत्संग करते थे। कहने का तात्पर्य यह कि काग भुशुण्डिजी मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टि साधन और नादानुसंधान; ये चारो क्रियाएँ करते थे। इन चारो क्रियाओं को करके उन्होंने अनुभव ज्ञान प्राप्त किया था, परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण किया था।

हमलोगों के भी गुरुदेवजी महाराज ने हमलोगों को मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टिसाधन और नादानुसंधान की क्रिया बतलाने की कृपा की है। हमलोगों को निष्ठापूर्वक यह अंतस्साधना करनी चाहिए और बाहर में सत्संग भी करना चाहिए। इन दोनों का एक-दूसरे के साथ संबंध जुड़ा रहेगा, तो साधना में प्रगति होगी, आत्मोन्नति होगी। यत्र-तत्र से आकर आपलोगों ने घर-बार, कारबार, रोजगार सब छोड़कर यहाँ एक महीने तक रहकर साधना की। कितने साधक मेरे पास गये और उन्होंने अपनी साधनानुभूति की बातें कहीं। सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इतने दिनों तक साधना करके उसमें जिन्होंने जहाँ तक सफलता प्राप्त की, उनकी उतनी दूर की राह तय हो गयी। और भी जो बाकी है, मनोयोगपूर्वक साधना करेंगे, तो आगे बढ़ जायेंगे। यहाँ साधना करने की आदत डाली गयी है। यह आदत एक महीने तक की रही। इस आदत को छोड़ें नहीं, लगाये रहें। अपने घर में जाकर करते रहें। मानलिया कि गृह-कार्य-सँभाल के कारण वहाँ पाँच समय नहीं कर सकेंगे, तो जितना ही बन सके, जो समय मिले, उस समय के अनुकूल कम-से-कम त्रिकाल संध्या निश्चित रूप से करें, साथ ही सत्संग भी करें। परम पूज्य गुरुदेवजी महाराज के आदेश को हम भूलें नहीं, सतत याद रखें—

"सत्संग नित अरु ध्यान नित, रहिये करत संलग्न हो।
व्यभिचार चोरी नशा हिंसा, झूठ तजना चाहिए॥"

इन बातों के अतिरिक्त हमलोगों को संसार में जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य करनी चाहिए। आपलोगों को मैं बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ! इस तरह के कठोर जाड़े में आप यहाँ रहे, जबकि यहाँ आपलोगों के रहने की सुव्यवस्था नहीं, सोने की समुचित व्यवस्था नहीं, खाने-पीने के लिए भी जैसा-तैसा, रूखा-फीका। आपलोग अपने-अपने घर में मनोऽनुकूल भोजन करते और आराम से रहते होंगे; किन्तु यहाँ आकर आपलोगों ने तपस्या की है। तपस्या का बीज आपलोगों के भीतर पड़ गया है। समय पाकर वह बीज अंकुरित होगा, पल्लवित होगा,

पुष्पित होगा और एक दिन इसके बाद फल लगेगा। (श्रोताओं की ओर से बोलिये 'श्रीसद्गुरु महाराज की जय' का नारा।)

आपलोगों के लिए मेरी शुभकामना है। जो मुझसे अधिक बूढ़े-बुजूर्ग लोग हैं, मेरे प्रणम्य हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ। जो मुझसे आशीर्वाद के योग्य हैं, उनको आशीर्वाद करता हूँ और बाकी लोगों को मैं धन्यवाद-ज्ञापन करता हूँ।

यह प्रवचन मास-ध्यान-साधना के अवसर पर दिनांक–नवम्बर ११९४ स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में हुआ था। (शान्ति-संदेश, नवम्बर १९९५)

८८. मनुवाँ रामनाम रस पीजै

संत जन ध्यान करने के लिए बतलाते हैं, वह ध्यान करो। ध्यान में भी सगुण और निर्गुण का भेद है। योगतत्त्वोपनिषद् में आया है–

"सगुण ध्यानमेततस्यादणिमादि गुणप्रदम्।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्॥"

सगुण ध्यान में भी स्थूल-सूक्ष्मादिक भेद है। सगुण ध्यान से अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है और निर्गुण ध्यान से युक्त को समाधि मिलती है। ज्ञातव्य है कि समाधि योग का आठवाँ अंग है; यथा–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। रामचरितमानस में आया है–

"तब सिब सहज स्वरूप सँभारा।
लागि समाधि अखण्ड अपारा॥"

जो समाधि को प्राप्त करते हैं, वे कर्ममंडल को पार कर जाते हैं। कर्ममंडल को पार कर जाने के कारण वे पाप-पुण्य-दोनों से ऊपर उठ जाते हैं। फिर उनको पाप का फल नहीं लगता और न पुण्य का ही फल लगता है। पाप से नरक होता है और पुण्य से स्वर्ग होता है। समाधि-प्राप्त जन नरक-स्वर्ग–दोनों से परे मोक्षदशा को प्राप्त कर लेते हैं। यही रास्ता संत जन बतलाते हैं। गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में लिखा है–

"सन्त पंथ अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं सन्त कवि कोविद, स्रुति पुरान सद्ग्रंथ॥"

सन्त का जो रास्ता होता है, वह अपवर्ग का होता है अर्थात् त्रयवर्ग पर का होता है यानी अन्ध कार, प्रकाश और शब्द–इन तीनों के परे है–निःशब्द। यह सन्तों का परम ध्येय है–'निःशब्दं परमं पदम्।' ध्यानविन्दूपनिषद् में लिखा है–

"बीजाक्षरं परं विन्दु नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे झीणे निःशब्दं परमं पदम्॥"

त्रयवर्ग के परे चौथा पद मोक्ष कहलाता है। अर्थ धर्म, काम; इन तीनों के परे मोक्ष है। जिसको मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, वह आवागमन के चक्र से छूट जाता है। दैहिक, दैविक और भौतिक–इन त्रय तापों से मानव-सन्तप्त होते रहता है, उससे वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। सन्तों का रास्ता मोक्ष का है। सभी सन्तों ने यही राह बतलायी है। 'जैसा संग वैसा रंग' यह कहावत अक्षरशः सत्य है। सन्त वचन है–

"कदली सीप भुजंग मुख, स्वाति एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई फल दीन्ह॥"

स्वाति की बूँद होती है। वह स्वाति-बूँद जब केले के वृक्ष पर पड़ती है, तो कपूर में परिणत हो जाती है। बाँस पर गिरती है, तो वंशलोचन कहलाती है। सीपी में गिरने से उसका रूप मोती का हो जाता है। हाथी पर गिरने से गजमुक्ता हो जाती है। साँप के मुँह में गिरने से वह मणि हो जाती है। स्वाति-बूँद एक है; लेकिन स्थान-भेद से रूप और गुण में भेद हो जाता है। मकरध्वज एक दवाई होता है। तुलसी के रस में लेने से जो गुण होता है। शहद के साथ लेने से वह गुण नहीं, उसका दूसरा गुण हो जाता है। मिसरी के साथ लेने से तीसरा गुण और घृत के साथ लेने से चौथा गुण होता है। दवाई मकरध्वज एक ही है; लेकिन अनुपान-भेद से गुण-भेद हो जाता है। उसी तरह हमलोगों का मन एक है। जैसा संग करते हैं, वैसा रंग चढ़ जाता है। इसीलिए परम भक्तिन मीराबाई ने कहा था–

"मनुवाँ रामनाम रस पीजै।
तजि कुसंग सत्संग बैठ नित, हरि चरचा सुनि लीजै॥"

सन्तों का संग करेंगे, तो क्या होगा? हरि-चर्चा सुनने को मिलेगी। कुसंग करेंगे, तो वहाँ कुचर्चा होगी और मन पर कुरंग चढ़ेगा। सत्संग करेंगे, तो मन

पर सत्संग का सुरंग चढ़ेगा, जिससे प्रभु के पास जाने की सुरंग मिलेगी। इसीलिए 'तजि कुसंग सत्संग बैठ नित'—परम भक्तिन मीराबाई ने कहा। हमलोगों का मन जल के समान तरल है। इसको नीचे ढरक जाने में देर नहीं लगती। समुद्र से वाष्प उठता है, पहाड़ की चोटी पर जाकर बरस जाता है; लेकिन वह जल वहाँ टिकता नहीं, नीचे की ओर आता है; पहाड़ से नीचे गिर जाता है। वह पानी नाले का संग करके छोटी नदी में चला जाता है। उसके संग से वह बड़ी नदी गंगाजी का संग करता है। गंगा भी उसको समुद्र से जाकर मिला देती है। वर्षा तो हुई पहाड़ की चोटी पर; लेकिन वह पानी वहाँ टिकता नहीं, बहुत जल्दी नीचे भाग आता है। अब जो पानी नीचे पाताल में है, उसको अगर पहाड़ पर चढ़ाना चाहें, तब बिजली चाहिये, नल चाहिये। बिना नल और बिजली के हम उस पानी को पहाड़ पर चढ़ा नहीं सकते। पहाड़ पर से पानी गिरने में कोई देर नहीं लगती; लेकिन पहाड़ पर पानी चढ़ाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसी तरह मन को नीचे गिर जाने में देर नहीं लगती; लेकिन उसको ऊँचे चढ़ाने में कठिनाई होती है। चाहिये इंजीनियर, नल और विद्युत शक्ति; तभी ऊपर चढ़ेगा। इसी तरह पतित मन के ऊर्ध्वगमन-हेतु चाहिये सत्संग, सन्त सद्गुरु का संग और उनकी सद्युक्ति। सन्त जन ही पतित को पावन करनेवाले हैं। इसीलिए सन्त तुलसी साहब ने कहा—

"सन्त शरण जो पड़ा, ताहि का लगा ठिकाना।
और कहीं नहिं कुशल, सकल वैराट चबाना॥"

इसीलिये सन्तों का संग सबसे पहली भक्ति भगवान श्रीराम ने बताया—'प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा। रामचरितमानस का एक प्रसंग सुनाऊँ। सीताजी का हरण हो चुका था। पता चला कि लंका की अशोक वाटिका में सीताजी हैं। हनुमानजी के आग्रह करने पर भी रावण ने सीता को वापस नहीं किया। संग्राम होना अवश्यम्भावी हो गया था। लंका में रावण से युद्ध करने के लिए सेना उस पार कैसे जायेगी? इसलिए पुल बन रहा था। बन्दर, भालू सब बड़े-बड़े पहाड़, वृक्ष आदि ला-लाकर देते थे। नल-नील मुख्य कारीगर थे। वे रखते जाते थे पानी पर। वे पहाड़ वृक्ष आदि सभी जैसे-के-तैसे पानी पर स्थिर रह जाते थे, डूबते नहीं थे। यह दृश्य देखकर बन्दर, भालुओं के मन में बड़ा कौतूहल हुआ। वे दौड़े चले गये भगवान श्रीराम के पास और उनसे कहा—"भगवन्! बड़ा आश्चर्य है। हमलोग बड़े-बड़े पहाड़ों और वृक्षों को नल-नील के हाथों में ला-लाकर देते हैं। ये दोनों उन वृक्षों और पहाड़ों को जैसे ही पानी पर रखते हैं, वे सभी वैसी ही टिके रह जाते हैं, पानी में डूबते नहीं।" भगवान तो नर-शरीर में लीला करने के लिए आये ही थे। उन्होंने अपनी लीला और बढ़ा दी। पूछा—"क्या यह बात सत्य है?" बन्दरों और भालुओं ने कहा—"भगवन्! हमने अपनी आँखों देखी बात कही है। आप भी चलकर देखिये।" भगवान राम वहाँ से चलकर समुद्र तट पर आते हैं। देखते हैं—ठीक ही नल-नील के द्वारा जो पहाड़-वृक्षादि जैसे रखे जाते हैं, वैसे-के-वैसे वे पानी पर स्थिर रहते जाते हैं। भगवान श्रीराम ने नल-नील से पूछा—"क्या बात है कि इतने बड़े-बड़े पहाड़ और वृक्षादि को तुम पानी पर रखते हो और वे सब-के-सब पानी के ऊपर ही रह जाते हैं। एक भी डूबता नहीं।" नल-नील ने हाथ जोड़कर कहा, 'भगवान यह सब आपकी महिमा है।' भगवान श्रीराम ने कहा, 'यह हमारी महिमा है?' नल-नील ने उत्तर दिया—"भगवन्! हाथ कंगन को आरसी क्या? एक पत्थर पानी पर रखा जाय।" एक बन्दर ने पत्थर का एक छोटा-सा टुकड़ा भगवान के हाथ में दिया। भगवान उस पत्थर को लेकर जैसे ही पानी पर रखते हैं, वह गड़ागड़ाकर नीचे चला गया। भगवान श्रीराम कहते हैं—"नल-नील! तुमलोग कहते थे कि मेरी महिमा से ये सभी पत्थर-वृक्षादि पानी पर तैर रहे हैं, तो मेरे हाथ का रखा हुआ छोटा-सा पत्थर का टुकड़ा पाताल कैसे चला गया?" श्लेष भाषा में नल-नील ने उत्तर दिया—"भगवन्! यह तो जड़ पत्थर है। आपके हाथ से चेतन ब्रह्म भी छूट जाय, तो न मालूम किस पाताल में चला जाय!" गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं—

"देहि सत्संग निज अंग श्रीरंग।
भव भंग कारण शरण शोकहारी॥"

हे श्रीरंग! यह जो आपका निज अंग है सत्संग, जो इसकी शरण में आता है, उसका भव-भंग हो जाता है। यह सत्संग भगवान का निज अंग है। जो सत्संग को छोड़ दे, वह किस रसातल को जायेगा, कोई ठिकाना नहीं! इसलिये सभी सन्तों और भगवन्तों

ने सत्संग करने की आज्ञा दी। भगवान बुद्ध ने कहा—

"अभिवादनसीलिस्स निच्चं बद्धापचायिनो ।
चत्तारो धम्मा बड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलम् ॥"

अर्थात् जो बड़े को नमस्कार करते हैं, प्रणाम करते हैं, उनकी चार चीजें बढ़ती हैं—आयु, वर्ण, सुख और बल। अब प्रश्न होता है कि बड़े कौन? हमारे गुरुदेव कहा करते थे कि वृद्ध चार तरह के होते हैं। एक होते हैं—वयोवृद्ध, दूसरे होते हैं—सम्बन्ध वृद्ध। सम्बन्ध में हमारे चाचा लगते हैं; लेकिन उम्र में हमसे वे छोटे हैं। उम्र में छोटे होने पर भी सम्बन्ध में बड़े हैं, इसलिए हम उनको प्रणाम करेंगे। तीसरे होते हैं—पदवृद्ध। हमारी उम्र पचास साल की है, हमारे हाकिम बाबू की उम्र तीस साल की है, फिर भी वे हमको प्रणाम नहीं करेंगे, हम उनको प्रणाम करेंगे। चौथे होते हैं ज्ञानवृद्ध। ज्ञान में वे विशेष होते हैं, चाहे उम्र में वे कम ही हैं। संत ज्ञानेश्वर की उम्र चौदह साल की थी। उन्हीं के समय में एक बहुत बड़े हठयोगी थे। उनका नाम था चाँगदेव जी। उनकी उम्र थी चौदह सौ साल की। वे यात्रा करते थे, तो उनकी सवारी होती थी सिंह की। सिंह की सवारी पर जिस रास्ते से वे चलते थे, झुण्ड-के-झुण्ड लोग देखने के लिए आ जाते थे। चाँगदेव जी को मालूम हुआ कि सन्त ज्ञानेश्वर नाम के एक बहुत बड़े पहुँचे हुए महात्मा हैं। उनसे भेंट करने की इच्छा हुई। इन्होंने एक पत्र लिखा संत ज्ञानेश्वरजी को। पत्र-लिखने का ढंग उनका निराला था। हमलोग अपने से बड़े को प्रणाम लिखते हैं और छोटे रहते हैं, तो आशीर्वाद लिखते हैं। लेकिन उन्होंने जो पत्र लिखा, उसमें उन्होंने न तो प्रणाम लिखा और न आशीर्वाद ही। केवल कार्यक्रम लिखा कि हम फलॉने समय आपसे भेंट करने के लिए आ रहे हैं। यह इसलिए कि उनके मन में हुआ कि हम तो चौदह सौ साल के हैं और वे चौदह साल के हैं, तो हम प्रणाम कैसे लिखें और फिर यह भी उन्होंने सुन रखा था कि वे बहुत बड़े ज्ञानी हैं, आशीर्वाद भी कैसे लिखें। एक सज्जन पत्र लेकर आये और सन्त श्री ज्ञानेश्वरजी को दिया। एक मकान बन रहा था, जिसकी दीवाल अभी थोड़ी-सी ऊपर उठी थी। उसी पर सन्त ज्ञानेश्वरजी बैठे हुए थे। उनकी बहन मुक्ताबाई भी बगल में बैठी हुई थी। पत्र-वाहक द्वारा पत्र पाकर संत ज्ञानेश्वरजी महाराज ने स्वयं पढ़ा और उस पत्र को उन्होंने बढ़ा दिया मुक्ताबाई की तरफ। पत्र पढ़कर मुक्ताबाई कहती है—"भैया! जिस तरह का पत्र आया है, इसका उत्तर भी उसी तरह का होना चाहिये।" सन्त ज्ञानेश्वरजी ने कहा—"ठीक है।" जिस दीवाल पर ये बैठे हुए थे, उस दीवाल से कहा—'चलो, महात्मा चाँगदेव जी से मिलने के लिए।" दीवाल चल पड़ी। इधर से दीवाल की सवारी पर ये जा हैं, उधर से वे सिंह पर आ रहे हैं। सन्त ज्ञानेश्वरजी बेजान दीवाल पर सवार थे और महात्मा चाँगदेव जानदार सिंह पर। एक तरफ से दीवाल जा रही है, दूसरी तरफ से सिंह-सवारी आ रही है। रास्ते में एक-दूसरे से भेंट हुई। सन्त ज्ञानेश्वरजी को दीवाल की सवारी पर देखकर महात्मा चाँगदेव अपनी सिंह की सवारी से नीचे उत्तर गये और उनके श्रीचरणों में प्रणाम निवेदित कर उनको गुरु धारण करते हैं। चौदह वर्ष की उम्रवाले को गुरु धारण करते हैं, चौदह सौ वर्ष की उम्रवाले। (श्रोताओं की ओर से 'सद्गुरु महाराज की जय, का नारा) ये ज्ञानवृद्ध होते हैं। ज्ञानवृद्ध सबसे विशेष होते हैं।

महर्षि व्यासपुत्र श्री शुकदेवजी कम उम्र के थे, लेकिन जिस सभा में वे जाते थे, उस सभा के लोग उनके स्वागत में खड़े हो जाते थे। सन्त की महिमा गाते हुए सन्त पलटूदासजी ने लिखा—

"सबसे बड़े हैं संत दूसरा नाम है।
तीजै दस अवतार तिन्हें परनाम है ॥
ब्रह्मा विष्णु महेश सकल अवतार हैं।
अरे हाँ रे पलटू सबके ऊपर
संत मुकुट सरदार हैं ॥"

और भी स्पष्ट करते हुए पुनः उन्होंने कहा—

"बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया बिचार ॥
संतन किया बिचार, ज्ञान का दीपक लीन्हा।
देवता तेंतीस कोट, नजर में सबको चीन्हा ॥
सबका खंडन किया, खोजि के तीनि निकारा।
तीनों में दुइ सही, मुक्ति का एकै द्वारा ॥
हरि को लिया निकारि, बहुरि तिन मंत्र बिचारा।
हरि हैं गुण के बीच, संत हैं गुण से न्यारा ॥
पलटू प्रथमै संत जन, दूजे हैं करतार।
बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया बिचार ॥"

इसीलिए भी शबरी जी को नवधा भक्ति का उपदेश करते हुए भगवान श्रीराम ने कहा था—

"सातवँ सम मोहिमय जग देखा।
मोते संत अधिक करि लेखा॥"

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज उसी तरह उच्च कोटि के पहुँचे हुए सन्त थे। उनकी जयन्ती मनाने के लिये हमलोग यहाँ एकत्र हुए हैं। उनका जो ज्ञान है, उनके महान ज्ञान को हम धारण करें, जिससे जीवन कल्याणमय होगा। उन्होंने अमुक जगह जन्म लिया, अमुक उनके पिता थे, अमुक उनकी माता थी। लालन-पालन इस तरह हुआ। यह तो एक साधारण जीवनी है। असली जीवनी तो उनकी यह है कि उन्होंने क्या किया?

जिस समय यह देश परतंत्रता की बेड़ी में बेतरह जकड़ा था और आपस में फुट के कारण विदेशी यहाँ के धन-जनादि को लूट रहे थे। यहाँ तक कि सही धार्मिक भावना भी लुप्तप्राय होती जा रही थी। आत्मज्ञान छोड़कर लोग बहुदेव-उपासना में लगे थे। शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य आदि–ये सब अपने-अपने इष्ट को बड़ा और दूसरे के इष्ट को छोटा बताकर आपस में लड़-झगड़ रहे थे, उसी समय समन्वयवादी संत गोस्वामी तुलसीदासजी का अवतरण इस अवनितल पर हुआ था। उन्होंने रामचरितमानस में कथानक के माध्यम से सिद्ध करके दिखलाया कि जो गाणपत्य श्रीगणेशजी को बड़ा बताकर अन्यों को छोटा बताते हैं, उनको जानना चाहिए कि गणेशजी से बड़े शिवजी हैं; क्योंकि शिवजी गणेश के पिता हैं। जो शैव शिवजी को बड़ा बताकर गणेशजी को छोटा बताते थे, उनके लिए उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि शिवजी के विवाह के पूर्व से ही गणेशजी की पूजा चली आ रही है। भवानी और शंकर दोनों ने उनकी पूजा की है; यथा–

"मुनि अनुसासन गनपतिहि, पूजे सम्भु भवानी।
सुनि आचरज करहि जनि, सुर अनादि जिय जानि॥"

जो वैष्णव विष्णु को बड़ा मानकर शिवजी को घृणा की दृष्टि से देखते थे, उनके लिए उन्होंने बताया कि देखो, भगवान श्रीराम विष्णु के अवतार थे। लंका पर चढ़ाई करने के लिए समुद्र पर जो सेतु निर्मित हुआ था, वहाँ श्रीशंकरजी की आराधना–पूजा करने के पश्चात् ही श्रीराम ने लंका पर चढ़ाई करके लंकापति रावण पर विजय प्राप्त की थी। जो कोई शैव शिवजी को बड़ा मानकर भगवान विष्णु का तिरस्कार करते थे, उनके लिए उन्होंने बताया–देखो, श्री शिवजी श्रीराम को अपना इष्ट मानते थे और श्री सीताजी को मातृवत्। यही हेतु है कि जब सती ने श्रीसीताजी का रूप धारण कर श्रीराम की परीक्षा ली थी कि सही में ये भगवान हैं या नहीं और जब शिवजी ध्यानस्थ होकर सतीजी के इस कार्य-कलाप से अभिज्ञ हुए, तो उन्होंने सती-जैसी पत्नी का भी परित्याग कर दिया।

इसी प्रकार इष्टों में किसी को छोटा और किसी को बड़ा बताने के भेद-भाव को मिटाकर गोस्वामीजी ने सामंजस्य स्थापित किया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि जाति विशेष होने से ही कोई विशेष नहीं होता, जिसमें भगवद्भक्ति विराजती है, वह विशेष होता है। जाति-पाँति, धन-बल, जन-बल, ऐश्वर्यादि को निस्सार बताते हुए उन्होंने ईश्वर-भक्ति को सार बताया; यथा–

"जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भक्ति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल वारिद देखिय जैसा॥"

परमात्म-भक्ति को सर्वोपरि बताकर गोस्वामीजी ने भीलनी शबरी को उस सर्वोच्च पद पर आसीन किया, जो राजा दशरथजी के लिए भी अलभ्य रहा। कलियुग के वेशधारी बनावटी साधु, जिसको जगत् से विराग नहीं, प्रभु-पद में अनुराग नहीं, की भर्त्सना करते हुए गोस्वामीजी ने कहा–

"बहु दाम सँवारहिं धाम जती।
विषया हरि लीन्ह न रहि विरती॥"

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामजी को भगवान का अवतार बताकर गोस्वामीजी ने लोक-व्यवहार में उन्हें एक आदर्श पुरुष के रूप में रखा। पिता के साथ पुत्र का संबंध कैसा होना चाहिए? जैसे राजा दशरथ जी के साथ श्रीराम का। भाई-भाई का संबंध कैसा होना चाहिए? जैसे भरत और श्रीराम का। पति-पत्नी का संबंध कैसा होना चाहिए? जैसे श्रीसीताजी के साथ श्रीराम का। प्रजा के साथ राजा का संबंध कैसा होना चाहिए? जैसे श्रीराम का। प्रजा की सारी लौकिक सुख-सुविधाओं के साथ पारलौकिक कल्याण की शिक्षा-दीक्षा भगवान श्रीराम ने उनको दी, आदि।

हमलोगों को भी उसी तरह ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए, जिस तरह भक्ति गोस्वामी तुलसीदासजी

महाराज ने की। भगवान श्रीराम के वे अनन्य भक्त थे। भगवान श्रीराम की भक्ति करके उन्होंने मुक्ति पायी। उसी तरह हमलोगों को भी चाहिए कि ईश्वर की भक्ति करके इस मानव-जीवन को कल्याणमय बनावें। गोस्वामीजी संत कवि थे। उन्होंने जागतिक जन को लौकिक और पारलौकिक–उभय प्रकार की शिक्षा दी।

मैं आपलोगों की श्रद्धा-भक्ति की प्रशंसा करता हूँ और आपलोगों की शुभ उन्नति के लिए शुभकामना करता हूँ। इस जयन्ती के माध्यम से आपलोगों के दर्शन से मुझे प्रसन्नता होती है। आप सभी को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ!

(शान्ति-सन्देश, दिसम्बर १९९४)

८९. सुरति साँची बसै दीद दाना

अपने शरीर के अंदर पाँच केन्द्र हैं। पाँचो केन्द्रों के शब्द ही पाँच नौबत कहलाते हैं। प्रथम केन्द्र के शब्द के सहारे अर्थात् उसके आकर्षण से आकर्षित होकर सुरत द्वितीय केन्द्र में पहुँचेगी; क्योंकि ऊपर के केन्द्र का शब्द नीचे के केन्द्र पर आता है। इस प्रकार नादानुसंधान की साधना से क्रमशः सुरत पाँचवें केन्द्र पर पहुँचती है। जहाँ जड़ के सारे आवरण झड़ जाते हैं। जहाँ जड़विहीन चेतनावस्था में परमात्मा की प्राप्ति होती है; किन्तु वहाँ द्वैत भाव रहता है। वहाँ सारशब्द को ग्रहण कर सुरत परम प्रभु परमात्मा से जा-मिलकर एक हो जाती है; आवागमन का चक्र छूट जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए गुरु-कृपा अत्यंत अपेक्षित है–

"निज तन में खोज सज्जन, बाहर न खोजना।
अपने ही घट में हरि हैं, अपने में खोजना॥
दोउ नैन नजर जोड़ि के, एक नोक बना के।
अन्तर में देख सुन-सुन, अन्तर में खोजना॥
तिल द्वार तक के सीधे, सुरत को खैंच ला।
अनहद धुनों को सुन-सुन, चढ़-चढ़ के खोजना॥
बजती हैं पाँच नौबतें, सुनि एक-एक को।
प्रति एक पै चढ़ि जाय के, निज नाह खोजना॥
पंचम बजै धुर घर से, जहाँ आप विराजैं।
गुरु की कृपा से 'मेँहीँ', तहँ पहुँचि खोजना॥"

जिन्होंने प्रभु की खोज की, उनको वे कहाँ मिले? संत प्रवर सूरदासजी महाराज कहते हैं–

'अपुनपो आपुन ही में पायो।'

कैसे–

'शब्दहिं शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो।'

इसका भेद सद्गुरु ने बतलाया। अपने अंदर प्रकाश हुआ। प्रकाश में शब्द मिला। शब्द के सहारे 'निःशब्दं परमं पदम्' में परमात्मा के दर्शन हुए, मिलन हुआ। तो यह निश्चित हो गया कि परमात्मा हमारे अंदर हैं। उनको खोजनेवाला जीवात्मा है। यह चेतन आत्मा ही परमात्मा को प्राप्त करने में सक्षम है। परमात्मा तो हमारे अंदर हैं और जीवात्मा कहाँ है? क्या कोई कह सकते हैं कि यह शरीर में नहीं है, शरीर के बाहर है? सब कोई कहते हैं कि हम अपने अंदर में हैं। आप कहाँ पर हैं? आँख में हैं, नाक में हैं, कान में हैं, मुँह में हैं, हाथ में हैं, पैर में हैं, पेट में हैं, पीठ में हैं, सिर में हैं, कहाँ हैं? कहते हैं, अपने अंदर में हैं; लेकिन कहाँ हैं? इसका ही पता नहीं है। हैं लेकिन अंदर में ही। संत कबीर साहब ने प्रश्न किया था–

"इस तन में मन कहाँ बसै, निकसि जाय केहि ठौर।
गुरु गम है तो परखि ले, नातर कर गुरु और॥"

अगर तुमको यह पता है कि इस शरीर अंदर मन कहाँ है, तब तो ठीक है। अगर तुमको इसका पता नहीं है, तो वैसा गुरु करो, जो तुमको बतला दे। उत्तर में संत कबीर साहब ने बतलाया–

"नैनों माहिं मन बसै, निकसि जाय नौ ठौर।
गुरु गम भेद बताइया, सब सन्तन सिरमौर॥

जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः।
नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥"

जीव का वासा जाग्रत् अवस्था जीव आँख में, स्वप्न अवस्था कण्ठ में, सुषुप्ति अवस्था हृदय में चला आता है। जब साधना करके तुरीय अवस्था को प्राप्त करते हैं, उस समय मूर्द्धा में बासा होता है।

ऐसा लगता है, जैसे इसी का भाषानुवाद संत चरणदासजी महाराज ने किया हो। वे कहते हैं–

"जाग्रत वासा नैन में, स्वप्न कण्ठ स्थान।
जान सुषुप्ति हृदय में, नाभि तुरीय मन तान॥"

संत दरिया साहब बिहारी ने लिखा है–

"जानि ले जानि ले सत्त पहिचानि ले,
सुरति साँची बसै दीद दाना।
खोलो कपाट यह बाट सहजै मिलै,
पलक परवीन दिव दृष्टि ताना॥
ऐन के भवन में बैन बोला करै,
चैन चंगा हुआ जीति दाना।
मनी माथे बरै छत्र फीरा करै,
जागता जिन्द है देखु ध्याना॥"

वह जागता जिन्द तुम्हारे अंदर है, ध्यान करके देखो। जो कभी मरता नहीं, सदा जीवित रहता है, इसलिए उसका नाम है जीव। हाथरस निवासी संत तुलसी साहब ने कहा है–

'सत सुरति सिहार साधौ, निरखि नित नैनन रहो।'

इन्होंने भी बतलाया है कि जीव आँख में रहता है। इस भाँति संतों की वाणियों से तथा अन्य सद्ग्रंथों के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि जीव का वासा जाग्रत काल में आँख में होता है।

यद्यपि परमात्मा सर्वत्र हैं; लेकिन सर्वत्र हम उनके दर्शन नहीं कर सकते। जिस तरह आँख पर पट्टी बँधी रहने के कारण निकट की चीज को भी हम नहीं देख सकते अथवा हमारी आँख पर रंगीन चश्मा लगा हो, तो नजदीक की चीज को देखते हुए भी उसका सही रूप मालूम नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ अगर चश्मे में हरा शीशा लगा हुआ है, तो जिस चीज को देखेंगे, वह हरी मालूम पड़ेगी। लाल शीशा लगा हुआ है, तो वह चीज लाल मालूम पड़ेगी। पीला शीशा लगा हुआ है, तो चीज पीली मालूम पड़ेगी–सही मालूम नहीं पड़ेगी। उसी तरह से जीवात्मा के ऊपर शरीररूपी पट्टी और इन्द्रियरूपी चश्मा लगा हुआ है। इसलिए शरीर-रूपी पट्टी के कारण कुछ सूझता नहीं है और इन्द्रियरूपी चश्मे से अगर कुछ सूझता भी है, तो वह सही नहीं सूझता। इसलिए शरीर-रूपी पट्टी और इन्द्रियरूपी चश्मे को हम अपने ऊपर से उतारें। जब ये दोनों हट जायेंगे, जहाँ पर हट जाएँगे, वहीं पर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाएगा।

अतएव हम वहाँ चलें, जहाँ जाने पर शरीर और इन्द्रिय से छूटना हो। जिज्ञासा होती है–हम चलें तो कहाँ से, कैसे चलें? उत्तर में निवेदन है–चलता कोई कहाँ से है? जो जहाँ से बैठा रहता है, चलता वहीं से है। हमलोग दूर-दूर से आकर इस हॉल में बैठे हुए हैं। अपने घर से आकर इस हॉल में बैठ गये हैं। अब अगर हम इस हॉल से अपना घर जाना चाहेंगे, तो कहाँ से चलेंगे? जो जहाँ बैठे हुए हैं, वहीं से चलेंगे। एक की जगह से दूसरे कोई नहीं चल सकते। जो जहाँ बैठे हैं, वहीं से चलेंगे। उसी तरह शरीर में हम जहाँ बैठे हुए हैं अर्थात् आँख में बैठे हुए हैं, तो यहीं से यानी आँख से चलेंगे क्योंकि जो कुछ काम करना होगा, जाग्रत अवस्था से ही हम शुरू कर सकते हैं, स्वप्न में तो कुछ कर ही नहीं सकते, सुषुप्ति में तो और कहाँ से क्या कुछ कर सकते हैं। जाग्रत से ही हमारा कार्य आरंभ होगा। साधना का आरंभ जाग्रत से ही होगा और जाग्रत अवस्था में हम आँख में हैं। इसलिए आँख से चलें। चलें कैसे? इसकी युक्ति संत सद्गुरु से जान लें।

किसी चीज का जब सिमटाव होता है, तो उसकी ऊर्ध्वगति होती है। जो जितना सूक्ष्म होता है, उसका उतना ही अधिक सिमटाव होता है और उसकी ऊर्ध्वगति भी उतनी ही अधिक होती है। जैसे एक किलो बर्फ लीजिए। एक किलो बर्फ की ऊँचाई उस ढेले की ऊँचाई के बराबर होगी; लेकिन एक किलो अगर आप पानी लीजिए और उसको पतले नल में प्रवेश कराइये, तो जितनी दूर तक वह बर्फ गयी थी, उससे बहुत अधिक दूर तक वह पानी चला जाएगा; क्योंकि बर्फ से पानी तरल है, सूक्ष्म है। उसी एक किलो पानी को आप उबालकर वाष्प बना दीजिए, तो जल से महीन होने के कारण उसका सिमटाव जल से अधिक हो जाएगा और जल की अपेक्षा वाष्प की अधिक ऊर्ध्वगति हो जाएगी। उस वाष्प को यदि हम विद्युत में परिवर्तित कर दें, तो वाष्प से विद्युत सूक्ष्म होने के कारण उसी ऊर्ध्वगति और अधिक हो जाएगी। विद्युत-गति के लिए आज के वैज्ञानिकों ने बताया है कि एक लाख छियासी हजार सात सौ सड़सठ मील एक सेकेण्ड में होती है। विचारणीय विषय है कि बिजली की गति एक सेकेण्ड में इतनी होती है, तो बिजली का तो स्पर्श हमारे शरीर में होता है। लेकिन हमारा मन कितना सूक्ष्म है, जिसका स्पर्श नहीं होता है। उस मन का

अगर सिमटाव करेंगे, तो उसकी गति एक सेकेण्ड में कितनी होगी? इस मन का सिमटाव करो। मन का सिमटाव कैसे करें? मन हमारा कहाँ फँसा हुआ है? इस जगत् में। इस जगत् को नाम-रूपात्मक कहते हैं और वह परमात्मा—नाम-रूपविहीन है। तजोविन्दूपनिषद् में लिखा है—

"नामरूपविहीनात्मा परसंवित्सुखात्मकः।
तुरीयातीतरूपात्मा शुभाशुभविवर्जितः॥"

नाम और रूप में हमारा मन फैला हुआ है, तो नाम और रूप के द्वारा ही हम अपने मन को समेटें। इसके लिए हम कोई एक नाम लें, जो ईश्वरवाचक हो और जिसमें हमारी श्रद्धा हो। संतों के यहाँ संकीर्णता नहीं है। जिसमें आपकी श्रद्धा है, जिसमें आपकी रुचि है, उस नाम को लीजिए। ईश्वर-वाचक किसी नाम में कोई फर्क नहीं पड़ता। संत दादू दयालजी महाराज ने कहा है—

"दादू सिरजनहार के, केते नाँव अनन्त।
चित आवै सो लीजिए, यौं साधू सुमिरै संत॥"

जिस इष्ट का नाम हम लें, उनके रूप का हम ध्यान भी करें; क्योंकि हम जो नाम रूप लेते हैं, तदनुरूप रूप हमारे सामने आता है। नाम कहते हैं शब्द को। शब्द से हम पुकारते हैं। जिनको हम पुकारते हैं, उनका रूप हमारे सामने आवे, यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं। जैसे हमारे चार लड़के हैं। उन चारो लड़कों में जिस लड़के का नाम लेकर पुकारेंगे, उस लड़के का रूप हमारे सामने आएगा, अन्य तीन लड़कों के नहीं। हमारी दो लड़कियाँ हैं। उन दो लड़कियों में जिस लड़की का नाम लेकर हम पुकारेंगे, उस लड़की का रूप हमारे ख्याल में आएगा। आम का नाम लेंगे, तो आम का रूप हमारे सामने आएगा। केले का नाम लेंगे, तो केले का रूप हमारे सामने आएगा। निष्कर्ष यह निकला कि जिस शब्द का हम उच्चारण करेंगे, उससे संबंधित रूप हमारे सामने आएगा। उसी तरह जिस इष्ट का नाम लेकर हम जप करेंगे, उस इष्ट का रूप भी हमारे सामने आना चाहिए। फिर उसका हम ध्यान करें। जब हम संतवाणी का अध्ययन करते हैं, तो संतवाणी में पाते हैं कि गुरु का स्थान सर्वोपरि है। गुरु से बढ़कर अन्य किसी का स्थान नहीं है। जैसा कि संत कबीर साहब, गुरु नानकदेवजी और अन्य संत कहते हैं—गुरु नाम के जप से और गुरु-रूप के ध्यान से उपासना का आरंभ करो।

संत कबीर साहब के वचन में आया है—

"मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सतभाव॥"

गुरु नानकदेवजी महाराज क्या कहते हैं—

"अन्तरि गुरु आराधणा जिहवा जपि गुर नाउ।
नेत्री सतिगुरु पेखणा स्रवणी सुनणा गुर नाउ॥"

गुरु की मूरति मन महिँ धिआनु।
गुरु के शबदि मंत्र मनु मानु॥
गुरु के चरण रिदै लै धारउ।
गुरु पारब्रह्म सदा नमसकारऊ॥

वेद में हम पाते हैं—

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः महेश्वरः।'

स्थूल नाम के जप और स्थूल रूप के ध्यान से इस स्थूल नाम-रूपात्मक जगत में हमारा कुछ सिमटाव होता है। पूर्ण सिमटाव के लिए गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं—

"भगता की चाल निराली।
चाल निराली भगताह केरी, विखम मारगि चलणा॥
लबु लोभु अहंकारु तजि त्रिसना, बहुतु नाहीं बोलणा॥
खंनिअहु तीखी बालहु नीकी, एतु मारगि जाणा॥"

इस सूक्ष्म रास्ते पर चलना है। मानस जप और मानस ध्यान; यह स्थूल सगुण साकार उपासना है। इसके पश्चात् सूक्ष्म सगुण साकार उपासना का आरंभ होता है।

'खंनिअहु तीखी बालहु नीकी, एतु मारगि जाणा।'

इस रास्ते से चलना है। इसी विषय को संत कबीर साहब ने इस भाँति कहा—

'भक्ति का मारग झीना रे।'

भक्ति का रास्ता महीन है। इसी को बाइबिल में लिखा है, 'सकेत फाटक से प्रवेश करो; क्योंकि चौड़ा है वह मार्ग, जो मृत्यु को पहुँचाता है और संकीर्ण है वह मार्ग, जो जीवन को पहुँचाता है।' इस संदर्भ में एक शायर ने कहा है—

"जिगर वो हुस्न एक सूई का मंजर याद है अबतक।
निगाहों का सिमटना वो हूजू में नूर हो जाना॥"

निगाहों का सिमटना कैसे होगा, उसकी कला जानिये। इसी कला को भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के छठे अध्याय में बतलाया है—

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥"

अर्थात् शरीर, गर्दन और मस्तक को सीधा करके बैठो। इससे मेरुदण्ड सीधा रहेगा। मेरुदंड सीधा रहने से श्वास-प्रश्वास की गति धीमी पड़ेगी। श्वास-प्रश्वास की गति धीमी पड़ने से मन की चंचलता दूर होती है। जब मन की चंचलता दूर होती है, तो भगवद्भजन में मन लगता है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण के निर्देशानुकूल बैठने की आदत डालो। शरीर को अचल ओर स्थिर करके बैठने के बाद क्या करो? 'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं' अर्थात् नासिका अग्र में देखो। साथ ही शर्त है 'दिशश्चानवलोकयन्' यानी किसी दिशा को नहीं देखते हुए देखो। जिस समय हमारी आँखें खुली होती हैं, हम दसो दिशाओं को देखते हैं; लेकिन जिस समय आँखें बंद करते हैं, तो उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम और चारो कोणों का ज्ञान तो नहीं रहता; किन्तु ऊपर और नीचे का ज्ञान तो रहता ही है। कितने लोग नासिकाग्र का अर्थ बतलाते हैं—नाक की नोक का निचला भाग; कोई कहते हैं 'भ्रुवोर्मध्य' यानी ऊपर का भाग। इस प्रकार हम नीचे का भाग करें, चाहे ऊपर भाग का, तो दस दिशाओं में से एक दिशा हो ही जाएगी। भगवान कहते हैं, किसी दिशा को नहीं देखते हुए नासिकाग्र में देखो। तब क्या करना होगा? इसी का यत्न संत सद्गुरु से सीखना पड़ता है। एक लघु कथा है—

एक बूढ़े सेठजी थे। उन्होंने अपने पुत्र से कहा, 'बेटा! घर में निठल्ले बैठकर क्या करोगे, जाओ कुछ काम-धंधा करो। कुछ पैसे कमाओ।' सेठपुत्र चला गया विदेश कमाने के लिए। बूढ़े बीमार हुए। खबर दी कि मेरा अंतिम समय है, आकर भेंट करो। दूर होने के कारण आने में देर हो गयी। सेठजी का शरीर छूट गया। घर आने पर उसने तिजौरी में पूर्व संचित सम्पत्ति की खोज की। वहाँ धन नहीं था। उसको चिंता हुई। किसी से पूछने पर भी पता नहीं चला। उसके मन में आया कि अगर पिताजी किसी को दिये होंगे, तो रोकड़-बही में जमा-खर्च होता ही होगा, उसमें वह लड़का रोकड़ खाते के पन्ने उलटाने लगा, उसमें उसने लिखा पाया—आज अमुक महीना, तिथि अमुक, बारह बजे दिन में मैंने अपनी सारी सम्पत्ति दरवाजे पर स्थित शिवालय के त्रिशूल पर रख दी है। वह जाता है बाहर दरवाजे पर; देखता है, शिवालय है, त्रिशूल भी है; लेकिन इतनी सम्पत्ति त्रिशूल पर रहे तो कैसे? त्रिशूल पर तो कुछ नहीं है। तो क्या हमारे पिताजी झूठी बात लिखकर चले गये? नहीं। इसमें कोई राज है, जो हम नहीं समझ रहे हैं। वे चले गये मुनीमजी के यहाँ। वहाँ उनसे पूछा, 'आपको पता होगा, पिताजी ने सम्पत्ति क्या की?' मुनीमजी ने उत्तर दिया, 'हाँ, मुझे मालूम है। लेकिन वह महीना आने दो, वह तिथि आने दो, मुझे खबर करना। मैं जाऊँगा और बारह बजे दिन जैसे होगा, वैसे मैं तुमको पता बतला दूँगा।' वह महीना आया, वह तिथि आयी, सेठपुत्र गया मुनीमजी के यहाँ। मुनीमजी को बुलाकर लाया और कहा, अब बतलाइये। मुनीमजी ने कहा, 'बैठो।' जब बारह बजने में एक-दो मिनट की देर रही, तो मुनीमजी ने कहा, 'चलो, अब बतलाता हूँ।' गये; ठीक बारह बजे दिन में शिवालय के त्रिशूल की छाया जहाँ पर पड़ती थी, मुनीमजी ने कहा, 'खोदो यहाँ पर।' जमीन खोदी गयी, सारी सम्पत्ति मिल गयी। यह एक रहस्य की बात है। इसी तरह शास्त्रों में नासाग्र, नासिकाग्र, भ्रुवोर्मध्य आदि बातें लिखी हुई हैं; लेकिन जबतक संत सद्गुरु रूप मुनीम से भेंट नहीं होगी, राज नहीं खुलेगा। खोजते रह जाइये त्रिशूल पर, कभी सम्पत्ति नहीं मिलेगी। वह त्रिशूल है क्या, वह शिवालय है क्या? योग- शिखोपनिषद् में आया है—

"विन्दुनाद महालिंगं शिवशक्तिनिकेतनम्।
देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ॥"

हमलोगों का जो यह शरीर है, यह शिवालय है। शिवालय के ऊपर त्रिशूल क्या है? आप देखे होंगे, कितने लोग तिलक लगाते हैं—तीन धारियाँ लगाते हैं। दोनों बगलवाले तिलक उजले होते हैं और बीचवाला लाल होता है। ये अगल-बगलवाले क्या हैं। इड़ा-पिंगला हैं और बीचवाला जो है गोदुम आकार का, वह सुषुम्ना है। यही त्रिशूल है। यह एक संकेत है। सुषुम्ना में जाकर खोजो, मिलेगा। सुषुम्ना में कैसे जाओ, इसका यत्न गुरु से जानो। योगिवर पंचानन

भट्टाचार्यजी ने लिखा है–

"बामे इड़ा नाड़ी दक्षिणे पिंगला रजस् तमोगुणे करिते छे खेला।
मध्ये सत्वगुणे सुषुम्ना विमला धरऽ धरऽ ताँरे सादरे॥
आर केन मन भ्रमिछ बाहिरे, चलन आपन अन्तरे।
बाहिरे जार तत्व कर अविरत सेत आज्ञाचक्रे बिहरे॥"

मीराबाई के लिए लोग कहते है–वह तो मात्र गिरिधर गोपाल को जानती थी और कुछ नहीं जानती थी। लेकिन परम भक्तिन मीराबाई क्या कहती है–

'सेज सुखमना मीरा सोवे, शुभ है आज घड़ी।'

सुषुम्ना की शय्या पर सोती थी मीराबाई। संत कबीर साहब कहते हैं–

"गागर ऊपर गागरी, चोले ऊपर द्वार।
सूली ऊपर साँथरा, जहाँ बुलावे यार॥"

और मीराबाई कहती है–

"सूली ऊपर सेज पिया की,
किस विधि मिलना होय।"

वह शूली क्या है? वह शूली है चेतनधार। जिसको शूली की सजा होती थी, छेद देती थी शूली उसके शरीर को नीचे से ऊपर तक–गुदा मार्ग से मस्तक तक। उसी तरह एक सार धार चेतन-धार है, जो समूचे शरीर को बेधे हुए है अर्थात् ब्रह्मांड-पर से पिण्ड पर्यन्त परिव्याप्त है। उस सारशब्द को जो कोई पार करते हैं, उनको 'सूली ऊपर सेज पिया की' मिल जाती है; पिया से मिलन हो जाता है; परमात्मा से भेंट हो जाती है–साक्षात्कार हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि दृष्टि-साधन की क्रिया करने से पूर्ण सिमटाव होता है। पूर्ण सिमटाव में ऊर्ध्वगति होती है, आवरण भेदन होता है, फलतः सुरत अंधकार से प्रकाश में चली जाती है। वहाँ उसको शब्द की अनुभूति होती है। उस शब्द को पकड़कर वह आगे बढ़ती है। वहाँ पहले अनेक शब्द मिलते हैं। अनेक शब्द होने के कारण उनकी संज्ञा हो गयी अनहद शब्द की। संत चरणदासजी महाराज ने कहा है–

"अनहद शब्द अपार दूर सूँ दूर है।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है॥"

और,

"रिमझिमि बरसै अंम्रित धारा।
मनु पीवै सुनि शबदु विचारा॥
अनद विनोद करै दिन राती।
सदा सदा हरि केला जीउ॥"

गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा–जीव और पीव के मिलन में वहाँ सतत ही आनंद होता रहता है। कबीर साहब ने भी कहा है–

"भजन में होत आनंद आनंद।
बरसत विशद अमी के बादर, भींजत है कोइ संत॥"

योगिवर पंचानन भट्टाचार्य जी अपनी अनुभूति की बातें कितने स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

"आनन्दे आनन्द बाड़े प्रतिक्षण।
दशेन्द्रिय थाके शून्य ते बन्धन॥
रिपुचय पराजय सकलि आनन्दमय।
अनुभव मात्र रय आर सब पाय लय॥
जेमन जीवने जीवन थाके ना॥"

इस तरह जो कोई आंतरिक साधना में अग्रसर होते हैं, तो क्रमशः अंधकार से प्रकाश में चले जाते हैं, वहाँ उनको शब्द की अनुभूति होती है। उस शब्द को पकड़कर वे आगे की ओर बढ़ते हैं यानी स्थूल के केन्द्र से सूक्ष्म के केन्द्र पर, सूक्ष्म के केन्द्र से कारण के केन्द्र पर, कारण के केन्द्र से महाकारण के केन्द्र पर और महाकारण के केन्द्र से भी आगे बढ़कर कैवल्य के केन्द्र पर पहुँच जाते हैं। वहाँ उनको परमात्म-दर्शन होते हैं। उससे भी आगे जाकर परम प्रभु परमात्मा से मिलकर एकमेक हो जाते हैं और उसमें विराजनेवाली शांति को वे प्राप्त करते हैं।

यह संतों का ज्ञान है। यह संतमत की ज्ञान है। इसके लिए आवश्यकता है पंच पापों–झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से बचने की। अगर इन पंच पापों से हम बचते हैं, तो एक नये समाज का निर्माण हो जाएगा।, जहाँ कहीं राग नहीं, द्वेष नहीं, कलह और क्लेश नहीं, जहाँ आपस में प्रेमपूरित सद्भावना से रहेंगे, वहाँ लड़ाई-झगड़े नहीं होंगे, शांति से रहेंगे। तो हम पंच पापों से बचें। नित्य सत्संग करें, अंतर-साधना करें और अपने जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य करें। इस तरह हमारा मानव-जीवन सफल होगा, सार्थक होगा।

(शान्ति-संदेश, जुलाई १९९५ ई०)

९०. यहाँ मैं सीखने के लिए आता हूँ

आदरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीय माताओ तथा बहनो!

यह स्थान हमारे गुरुदेव के भी गुरुदेव का स्थान है। यहाँ तो मैं सीखने के लिए आता हूँ। जहाँ से सम्पूर्ण भारत में ही नहीं, विदेश में भी संतमत का प्रचार-प्रसार हुआ है, वहाँ के लोगों को मैं क्या उपदेश-वाक्य कहूँ? जिस वृक्ष के मूल में जल सींचा जाता है, समय पाकर वह फल-फूलों से भर देता है। मैं उसी मूल की पूजा के लिए यहाँ आता हूँ। ऐसा भी होता है कि विद्यार्थी पढ़ता कहीं है और परीक्षा देने के लिए जाता कहीं दूसरी जगह है। यहाँ से मुझे भी पत्र जाता है, तो मैं समय-समय पर परीक्षा देने के लिए आ जाता हूँ। श्रीचुन्नालाल साहब तो यहाँ के बहुत पुराने सत्संगी हैं, बाबा देवी साहब के आपको दर्शन प्राप्त हुए हैं। बाबा देवी साहब का वरदहस्त जिनके ऊपर पड़ा हो, उनको किस बात की कमी? उनको ज्ञान कौन सिखावेगा? उनसे तो ज्ञान सीखना चाहिए।

आपलोग सत्संग करने के लिए यत्र-तत्र से यहाँ एकत्र हुए हैं। सत्संग क्या है? सत्संग एक तीर्थ है। तीर्थ ही नहीं, बल्कि महान् तीर्थ है। तीर्थ कहते हैं–पवित्र जल को। हमलोग प्रयाग, हरिद्वार, काशी आदि तीर्थों में जाते हैं। वहाँ स्नान करते हैं, वहाँ के पवित्र जल में। इलाहाबाद के प्रयागराज में त्रिवेणी-संगम है। इस त्रिवेणी-संगम में स्नान करने से तन शुद्ध होता है। सत्संग-रूपी त्रिवेणी में स्नान करने से मन शुद्ध होता है और अपने अन्दर चेतन-धार में स्नान करने से आत्मा पवित्र होती है।

बहुत वर्ष पहले मैं इलाहाबाद त्रिवेणी-संगम पर गया था। मैंने वहाँ पण्डाजी से पूछा–"यहाँ तो द्विवेणी-संगम है, त्रिवेणी तो नहीं है। एक तो गंगाजी की धारा देखते हैं और दूसरी यमुना जी की धारा देखते हैं, तीसरी धारा तो दीखती नहीं।" पण्डाजी ने उत्तर दिया–"तीसरी धारा सरस्वतीजी की है, वह अन्तःसलिला है; भीतर-ही-भीतर बहती है।"

सज्जनो! जिनके पास पैसे हैं, स्वास्थ्य उत्तम है और समय है, वे इलाहाबाद जाकर प्रयागराज की त्रिवेणी में स्नान करके अपने तन को पवित्र कर सकते हैं; लेकिन जिनके पास पैसे, स्वास्थ्य और समय का अभाव हो, वे क्या करें? गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ने विचारा कि कोई ऐसा भी त्रिवेणी-संगम हो, जहाँ बिना विशेष खर्च किए भी डुबकी लगायी जा सके, तो उन्होंने बताया कि वह सत्संग-रूपी त्रिवेणी है। जैसे प्रयागराज में तीन वेणियाँ हैं, वैसे ही सत्संग में भी तीन वेणियाँ होती हैं। किसी ने लगे हाथ पूछ लिया–महाराज! हम तो सत्संग में एक धार भी बहती नहीं देखते हैं; फिर आप त्रिवेणी कैसे कहते हैं? गोस्वामी श्री तुलसीदासजी उत्तर देते हैं–

राम भगति जहँ सुरसरि धारा।
सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा॥
विधि निषेधमय कलिमल हरनी।
करमकथा रविनन्दिनि बरनी॥

सत्संग में तीन धाराएँ होती हैं। स्थूल सगुण साकार भगवान् की चर्चा होती है। चाहे राम कहिये, कृष्ण कहिये, देवी कहिये अथवा कोई भी देव वा देवी कहिये, कुछ फर्क नहीं पढ़ता। यह गंगा की धारा है। दूसरी यमुना चाहिये, वह क्या है? विधि और निषेध यानी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्म क्या है, इसकी सत्संग में चर्चा होती है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के निर्णय के बिना अकर्त्तव्य कर्म भी हमसे होंगे और उसका परिणाम उत्तम नहीं होगा। इसलिए सत्संग में दोनों प्रकार की बातें बताई जाती हैं–क्या विधि कर्म है और क्या निषेध कर्म है।

एक ईश्वर में विश्वास करना, ईश्वर की प्राप्ति अपने अन्दर होगी–इसका दृढ़ निश्चय करना (रखना), सत्संग करना, ध्यान करना और गुरु की सेवा करनी–ये पाँच विधिकर्म हैं, कर्त्तव्य कर्म हैं। झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करनी, किसी प्रकार का नशा सेवन नहीं करना, हिंसा नहीं करनी यानी जीवों को दुःख नहीं देना; मांस, मछली, अंडे आदि का सेवन नहीं करना और व्यभिचार नहीं करना अर्थात् परस्त्री और परपुरुष-गमन नहीं करना ये–पाँच निषेध कर्म हैं, अकर्त्तव्य कर्म हैं। यही विधि-निषेध यमुना की धारा है।

सरस्वती की धारा के सम्बन्ध में बताया गया– वह ब्रह्मज्ञान है। आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है? परमात्मा की प्राप्ति कैसे होगी? इसके लिए साधन क्या है? इसके लिए संयम क्या है? ब्रह्म क्या है? जीव क्या है? बन्ध क्या है? मोक्ष क्या है? इन सब बातों को जो समझाया जाता है, यह सरस्वती की धारा है। जिस तरह बाहर संसार में सरस्वती की धारा अन्तः सलिला है, उसी तरह यह ब्रह्मज्ञान भी अन्तःसलिला है। बाहर में यह ज्ञान नहीं मिलता। इसका ज्ञान, इसका साक्षात्कार साधना करनेवाले को अपने अन्दर में होता है। ब्रह्मज्ञान की अनुभूति साधक को अपने भीतर होती है, यह अनुभवगम्य है।

इस तरह इस सत्संगरूपी त्रिवेणी में भी गंगा, यमुना और सरस्वती की तीनों धाराएँ हैं। हमारे सन्तों ने, ऋषियों ने और मुनियों ने देखा कि तन की पवित्रता तो प्रयागराज की त्रिवेणी में हो जाती है, मन की पवित्रता इस सत्संगरूपी त्रिवेणी में हो जाती है; लेकिन एक ऐसी भी त्रिवेणी होनी चाहिये, जिसमें चेतन आत्मा पवित्र हो। चेतन आत्मा की पवित्रता कैसे होगी? तो कहा–

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥११॥
त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते॥१२॥
–ज्ञानसंकलिनी तंत्र

हमारे शरीर में ७२ करोड़ नाड़ियाँ हैं। इनमें १०१ नाड़ियाँ मुख्य हैं। इन १०१ में ९ (नौ) नाड़ियाँ मुख्य हैं तथा इन नौ में तीन नाड़ियाँ मुख्य हैं और इन तीनों में भी एक नाड़ी मुख्य है और वह सुषुम्ना नाड़ी है। तीन नाड़ियाँ क्रमशः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना हैं।

इडा तिष्ठति वामेन पिंगला दक्षिणेन तु।
तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तद्वेद स वेदवित्॥
(योगशिखोपनिषद्, अ० ६)

यही परम स्थान सुषुम्ना है। इसी को सरस्वती भी कहते हैं। एक बंगाली महात्मा कहते हैं–

बामे इड़ा नाड़ी दक्षिणे पिंगला,
रजस्तमो गुणे करिते छे खेला।
मध्ये सत्वगुणे सुषुम्ना विमला,
धरऽ धरऽ ताँरे सादरे॥
(योगी पंचानन भट्टाचार्य)

दृष्टि की जो दो धारें हैं, इनमें बायीं को इड़ा कहते हैं, जो तमोगुणी है। दायीं धार को पिंगला कहते हैं, जो रजोगुणी है और मध्य में सुषुम्ना है, जो सतोगुणी है। ध्यानाभ्यास करने के लिए जब हम बैठते हैं और जप, ध्यान-पूजा आदि करने लगते हैं, उस समय आलस्य आने लगता है और हम सो जाते हैं; यह तमोगुण की प्रधानता के कारण होता है। आलस्य, निद्रा, जँभाई आदि तमोगुण के लक्षण हैं।

बैठते हैं हम जप करने के लिए और करने लग जाते हैं गप्प। बैठते हैं हम जाप करने के लिए और करने लग जाते हैं पाप। उस समय न जानें हम क्या-क्या बातें सोचने लग जाते हैं, जिनका ठिकाना नहीं। थोड़ी देर के बाद जब होश होता है, तब सोचते हैं, यह क्या हुआ? हम क्या करने बैठे थे, क्या करने लग गए। जिससे कभी सम्बन्ध नहीं, उससे भी सम्बन्ध जोड़ने लग जाते हैं। जिससे कभी कोई बात नहीं, उससे भी बात करने लग जाते हैं। इसी तरह समय बीतता चला जाता है और हम समझ भी नहीं पाते हैं। यह रजोगुण की प्रधानता के कारण होता है। जब रजोगुण की धार में हमारी वृत्ति रहती है, तब चंचलता रहती है। तमोगुण की धारा में मूढ़ता उत्पन्न होती है। जब मध्यधारा–सुषुम्ना में हमारी वृत्ति रहेगी, तब हमारा मन सतोगुणी और शान्त रहेगा। उस समय ध्यान-भजन ठीक से होगा। इसीलिए तो सन्त दादूदयालजी महाराज ने कहा था–

सुरति सदा स्यावित रहै, तिनके मोटे भाग।
दादू पीवै रामरस, रहै निरंजन लाग॥

जिनकी सुरत सम्मुख होकर रहती है यानी सुषुम्ना में रहती है, उनका अहोभाग्य है। वह रामरस पीता है; ब्रह्म-पीयूष पान करता है तथा निरंजन= निः+अंजन अर्थात् अंजन-रहित, माया-रहित ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। मेरे कहने का तात्पर्य–तीन तरह की त्रिवेणियाँ हैं। एक प्रयागराज की त्रिवेणी, दूसरी सत्संगरूपी त्रिवेणी और तीसरी अपने अन्दर की त्रिवेणी। इस तीसरी प्रकार की त्रिवेणी–अपने अन्दर की त्रिवेणी के लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं है।

संत राधास्वामी साहब ने कहा है–

बैठे ने रास्ता काटा।
चलते ने बाट न पाई॥
है कुछ रहनि गहनि की बाता।
बैठा रहै चला पुनि जाता॥
कहे को तात्पर्य है ऐसा।
जस पंथी बोहित चढ़ि बैसा॥

जिसकी वृत्ति सुषुम्ना में स्थिर हो जायेगी, उसका रास्ता कट जायेगा; वृत्ति आगे बढ़ जायेगी, अंधकार से प्रकाश में चली जायगी और जबतक हमारी वृत्ति बहिर्मुखी रहती है, गुरु नानक साहब ने कहा–

नउ दरि ठाके धावतु रहाए।
दसवै निज धरि वासा पाए।
उथै अनहद सबद बजहि दिन राती,
गुरमति सबदु सुणावणिआ॥

दसवें द्वार यानी सुषुम्ना में जो कोई अपने को प्रतिष्ठित कर पाता है, उसका रास्ता कटता है। जबतक नव द्वारों में ठहरे हुए रहते हैं, विषयों में दौड़ते रहते हैं। इसीलिए कहा–'चलते ने बाट न पाई।' यदि हम अपने घर जाना चाहते हैं, प्रभु को पाना चाहते हैं, तो अपने को दसवें द्वार में ठहराना होगा। इसलिए कहा–

बैठे ने रास्ता काटा।
चलते ने बाट न पाई॥
है कछु रहनि गहनि की बाता।
बैठा रहै चला पुनि जाता॥

यदि जिज्ञासा हो कि बैठे रहनेवाले का रास्ता कैसे तय हो सकता है, तो उत्तर में निवेदन है–

आप नाव पर बैठ जाइये। अब आपको चलना नहीं है, चलेगी नाव। इसी तरह साधक अपने अन्दर की नाव पर बैठ जायगा, तो फिर उसको चलना नहीं पड़ेगा और अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच भी जायेगा। अपने अन्दर की वह कौन-सी नाव है? इसका उत्तर हमारे गुरुदेव के वचन में आया है–विन्दु और नाद।

बिन्दु नाद अगुआइ, तुमहिं ले जायेंगे।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' ज्योति मण्डल सह नाद,
की सैर दिखायेंगे॥
ज्योति मण्डल की सैर, झकाझक झाँकिये।
तिल ढिग जुगनू जोति, टकाटक ताकिये॥
होत बिज्जु उजियार, नजर थिर ना रहै।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' सुरत काँपती रहै,
ज्योति दृढ़ क्यों गहै॥
दृष्टियोग अभ्यास अतिहि, करतहि करत।
कँपनी सहजहि छुटै, प्रौढ़ होवै सुरत॥
तिल दरवाजा टुटै, नजर के जोर से।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' लगे टकटकी खूब,
जोर बरजोर से॥

इस यात्रा में सत् की ओर जाना होता है। सत् क्या है? सत् तो वही एक अचल, अलख पुरुष परमपिता परमात्मा है और उसका अभिन्न अंश जीवात्मा भी सत् है। इस जीवात्मा-रूपी सत् को उस परमात्मा-रूपी सत् से मिला देना असली सत्संग है। पहले हम बाहरी सत्संग करें। जबतक बाहर का सत्संग नहीं करेंगे, तबतक अन्दर प्रविष्ट होने का ज्ञान अथवा मार्ग हमें नहीं मिल पाएगा। इसीलिए कहा गया है–

नित सतसंगति करो बनाई।
अन्तर बाहर द्वै विधि भाई॥
धर्म कथा बाहर सत्संगा।
अन्तर सत्संग ध्यान अभँगा॥

इतने अधिक लोग एकत्र होकर जो सत्संग अभी हमलोग कर रहे हैं, यह बाहर का सत्संग है। हाथरस-निवासी संत तुलसी साहब ने कहा है–

सत्संग करना मन तोड़ शरण संतन की।
अन्दर अभिलाषा लगी रहै चरनन की॥

'मन तोड़' कहने का मतलब–संसार की तरफ से मन को तोड़ लो और सत्संग में जोड़ दो। संसार की तरफ से तोड़ेंगे नहीं, तो सत्संग में जोड़ कैसे पायेंगे? नहीं जोड़ पायेंगे। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

भवसागर कहँ नाव शुद्ध संतन्ह के चरन।
तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन॥

संतों की चरण-शरण से भव-दुःख-हरण होता है। उससे जन्म-मरण छूटता है। इसलिए साधु संग–सत्संग करना अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् शंकर ने पार्वतीजी को सत्संग की महत्ता बताते हुए कहा था–

गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो, गावहिं वेद पुरान॥

अर्थात् हे पार्वती! संतों के समागम के समान अन्य कोई दूसरा लाभ नहीं है; लेकिन जबतक प्रभु की कृपा नहीं होगी, तबतक संतों का समागम नहीं मिलेगा। एक बंगाली महात्मा कहते हैं–

करऽ साधू समागम, पवित्र हइबे मन।
घुचिबे मोह अन्धकार रे॥

संतों का समागम करो, मन पवित्र होगा। भगवान् श्रीराम कहते हैं–

निर्मल मन जन सो मोहि भावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(तुलसीकृत रामायण)

तात्पर्य यह कि भगवान् कहते हैं–जिसका मन पवित्र होगा, वही प्रभु को पा सकता है। पवित्र मन, शुद्ध मन, साफ मन होने से ही प्रभु के दर्शन संभव हैं। इसको समझने के लिए इस तरह से भी हम समझ सकते हैं। अभी वर्षा का समय है। गंगाजी का जल गँदला है। गंगाजल को देखेंगे, तो उसमें स्नान करने में हिचकिचाहट होगी, उसका पान करना तो दूर की बात है। थोड़े दिनों के बाद कार्त्तिक-अगहन महीने में जल साफ हो जाएगा। मिट्टी नीचे बैठ जाएगी, तब गंगाजी के जल में हम अपनी परछाईं देख सकते हैं। इसी तरह जब हमारा मन गँदला रहेगा, तो प्रभु की परिछाहीं हम नहीं देख सकेंगे। मन शुद्ध होगा, साफ होगा, निर्मल होगा, तभी हम प्रभु के दर्शन कर सकेंगे। संत कबीर साहब ने भी कहा है–

जब दरसन देखा चाहिये, तो दर्पन माँजत रहिये।
जब दर्पन लागी काई, तो दरस कहाँ ते पाई॥

अतः प्रभु-दर्शन के लिए मन को साफ, शुद्ध, निर्मल करना होगा और यह मन पवित्र होगा निरन्तर सत्संग करते रहने से, संतों का संग करने से, साधु-संग करने से। सत्संग करने से मन पवित्र होगा, शुद्ध होगा, साफ होगा। तब क्या होगा? मोह-अंधकार का विनाश होगा अर्थात् अविद्या-रूपी रात्रि, अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश हो जाएगा। संतों का समागम कितना उत्कृष्ट होता है, इस सन्दर्भ में संत सुन्दरदासजी महाराज ने इस भाँति कहा है–

तात मिलै पुनि मात मिलै,
सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई।
राज मिलै गज बाजि मिलै,
साज मिलै मन बांछित पाई॥
लोक मिलै सुरलोक मिलै,
विधि लोक मिलै बैकुंठहु जाई।
सुन्दर और मिलै सबही सुख,
संत का समागम दुर्लभ भाई॥

संतों का समागम, संतों का दर्शन बड़ा दुर्लभ है। पहले बाहरी सत्संग करें। बाहरी सत्संग करते-करते आन्तरिक सत्संग करने की प्रेरणा मिलेगी। बाहरी सत्संग नहीं करेंगे, तो आन्तरिक सत्संग की प्रेरणा कैसे मिलेगी, कहाँ से मिलेगी अर्थात् नहीं मिलेगी। जब प्रेरणा ही नहीं मिलेगी, तो उस ओर हम चल भी कैसे सकेंगे!

हमारे यहाँ भागलपुर, कुप्पाघाट आश्रम में गुरुदेव के दर्शनार्थ एक वाइस-प्रिन्सिपल साहब आया करते थे। अब तो वे रिटायर्ड हो गये हैं। उनके इष्ट-मित्र उनसे कहा करते थे–आप बार-बार कुप्पाघाट क्यों जाया करते हैं? महर्षिजी ने आपको जो क्रिया बता दी है, अपने घर में बैठकर किया करें। यह क्या बार-बार कुप्पाघाट जाते रहते हैं! प्रिंसिपल साहब ने कहा–"आपलोग समझते नहीं हैं। महर्षिजी हैं पावर हाउस। वहाँ जाकर हम अपनी बैटरी चार्ज कराकर आते हैं। आपलोगों के बीच रहते-रहते जब वह डिस्चार्ज हो जाती है, तो पुनः हम वहाँ जाते हैं और चार्ज कराकर आपलोगों के बीच में आ जाते हैं।" फुलवाड़ी में जाने पर फूलों से सुगन्ध माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती, स्वतः सुगन्ध मिलती है। इसी प्रकार सन्तों के पास जाने पर उनसे कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं। हमारी आवश्यकता की वस्तु वे स्वयं देते हैं। इसलिए नित्य नियमित रूप से सत्संग करना अति आवश्यक है। ☸(शांति-सन्देश, सितम्बर २०१२)

पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन प्रातःस्मरणीय परमपूज्य सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के पवित्र गुरुद्वारा कानून गोय अताई मुहल्ला–मुरादाबाद (यू०पी०) में दिनांक १६.०९.१९९५ ई० को प्रातःकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।

९१. तीनों बंद लगाय कर सुन अनहद टंकोर

आदरणीय साधकवृन्द, समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

संतमत की सर्वश्रेष्ठ साधना नादानुसंधान है। नादानुसंधान के पूर्व एकविन्दुता प्राप्त करने के लिए दृष्टियोग या दृष्टिसाधन की क्रिया की जाती है। दृष्टिसाधन की क्रिया सूक्ष्म है। जबतक कोई मोटे-मोटे अक्षरों को नहीं लिख लेता, महीन अक्षर लिखने की योग्यता नहीं होती। इसलिए सूक्ष्म उपासना, सूक्ष्मतर उपासना अथवा सूक्ष्मतम उपासना करने के लिए पहले स्थूल उपासना करने की आवश्यकता होती है। इसीलिए मानस जप और मानस ध्यान—ये दोनों क्रियाएँ आरम्भ में होती हैं। मानस जप के द्वारा मन का कुछ अंश में सिमटाव होता है और मानस ध्यान के द्वारा उससे कुछ अधिक सिमटाव होता है; किन्तु पूर्ण सिमटाव नहीं होता। पूर्ण सिमटाव के लिए विन्दु-ध्यान है। विन्दु-ध्यान में पूर्ण सिमटाव होता है। उसमें ऊर्ध्वगति होती है; आवरण-भेदन होता है; सुरत अंधकार से प्रकाश में प्रवेश कर जाती है और वहाँ अनहद नाद को ग्रहण कर आगे बढ़कर वह अनाहत शब्द को ग्रहण करती है। वही शब्द परम प्रभु परमात्मा से जा मिलाता है। वास्तव में विन्दु-ध्यान और नाद-ध्यान का सरल-सरल प्रचार सभी संतों ने किया है।

विन्दु-ध्यान से क्या होता है और नाद-ध्यान से क्या होता है? इस विषय का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हूँ। किसी भी रूप का निर्माण तबतक नहीं हो सकता, जबतक विन्दु न हो। विन्दु से ही रेखा बनती है और वह रेखा सरल और वक्र होती है। उसी सरल और वक्र रेखा से रूप बनता है। रूप-जगत् का आरम्भ विन्दु से होता है और उस मण्डल का अन्त भी विन्दु पर ही होता है। किसी भी चित्र को बनाने के लिए जैसे ही हम कलम रखते हैं, कलम की नोक जहाँ पड़ती है, उस छोटे-से-छोटा चिह्न को हम विन्दु कहते हैं; किन्तु वास्तव में वह यथार्थ विन्दु नहीं है, कल्पित विन्दु है। विशुद्ध विन्दु बाह्य संसार में हम देख नहीं सकते। उसको कोई बना नहीं सकता। वह तो दृष्टि की युगल धाराओं के मिलने से अपने अन्तर में उत्पन्न होता है। जैसे बाह्य जगत् में दो रेखाओं का मिलन एक विन्दु पर होता है, वैसे ही अपने अन्दर में दृष्टि की दोनों धाराएँ जहाँ मिलती हैं, वहाँ एक विन्दु उत्पन्न होता है। हमारी लेखनी में जैसी स्याही होती है, तदनुरूप ही विन्दु उत्पन्न होता है। अगर लेखनी में काली स्याही है, तो काला विन्दु उत्पन्न होता है। जिस किसी भी रंग की स्याही रहती है लेखनी में, वैसे ही रंग का छोटे-से-छोटा चिह्न उत्पन्न होता है। हमारी दृष्टि की लेखनी में कौन-सी स्याही है? हमारी दृष्टि प्रकाशमयी है। इसलिए दृष्टि की दोनों धाराएँ जहाँ जाकर मिलती हैं, वहाँ जो विन्दु उत्पन्न होता है, वह प्रकाशमय विन्दु होता है। साथ ही,

विन्दु में तहँ नाद बोले, रैन दिवस सुहावनं।
(संत पलटू साहब)

गगनद्वार दीसै एक तारा।
अनहद नाद सुनै झनकारा।।
(संत तुलसी साहब)

विन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम्।
(योगशिखोपनिषद्)

जो अपने को विन्दु पर प्रतिष्ठित करता है, उसको नाद की अनुभूति स्वतः होने लगती है। जबतक कोई अपने को विन्दु पर स्थिर नहीं कर पाता है, तबतक जो नाद-साधना करते हैं, वे कानों को बन्द करके सुनते हैं। जिनकी दृष्टि-साधन की क्रिया परिपक्व हो जाती है, उनको कान बंद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। वह तो—

मीठी मुरली सुनै सुरत के कान से।
अरे हाँ रे 'मेँहीं' बड़ा कौतुहल होइ,
ध्वनिन के ध्यान से।।

जबतक एकविन्दुता की प्राप्ति नहीं होती है, जबतक स्थूल से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश नहीं होता है, तबतक उसको आँख, कान और मुँह—ये तीनों बन्द करने पड़ते हैं। गुरु नानकदेवजी महाराज के वचन में है—

तीनों बन्द लगाय कर, सुन अनहद टंकोर।
नानक सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहिं भोर।।

संत कबीर साहब भी यही बात कहते हैं—

आँख कान मुख बन्द कराओ।

अनहद झींगा शब्द सुनाओ।।
दोनों तिल एक तार मिलाओ।
तब देखो गुलजारा है।।

अपने गुरुदेव की वाणी में हम पाते हैं–

तीनों बन्द लगाइ, देखि सुनि धरि ध्वनि धारा।
चलिय शब्द में खिंचत, बजत जो विविध प्रकारा।।

अन्त:प्रकाश मिलने पर जिस अन्तर्नाद की अनुभूति होती है, वह केन्द्रीय शब्द होता है और वह सीधा शब्द, सरल शब्द, डाइरेक्ट (Direct) शब्द है। जब केन्द्र में सुरत पहुँचती है, तब वहाँ केन्द्रीय शब्द मिलता है। जबतक केन्द्र में हमारी सुरत नहीं पहुँचती है, तबतक कान बन्द करके जो शब्द सुनते हैं, वह इनडाइरेक्ट (Indirect) शब्द है। सारशब्द वही है; लेकिन इनडाइरेक्ट (Indirect) और डाइरेक्ट (Direct) का भेद है। स्थूल के केन्द्र पर जब वृत्ति पहुँचती है, दृष्टि टिकती है, तब वहाँ जो शब्द मिलता है, वह स्वत: खींचकर सूक्ष्म के केन्द्र पर ले जाता है। इसलिए गुरु महाराज के वचन में आया है कि नादानुसंधान करने के लिए कम-से-कम एकविन्दुता की प्राप्ति अवश्य होनी चाहिए। जो कोई एकविन्दुता प्राप्त किए बिना ही नादानुसंधान करते हैं, वह ऐसा है, जैसे एक वृक्ष में फल लगा हुआ है। एक नेत्रधारी उस फल को तोड़ना चाहता है और दूसरा एक नेत्रहीन है, वह भी उस फल को तोड़ना चाहता है। दोनों ही ढेले फेंक रहे हैं। उस फल को कौन तोड़ेगा? जो नेत्रधारी है, वह देखता है कि अमुक स्थान पर फल लगा हुआ है। निशाना करता है, ढेला मारता है, फल तोड़ लेता है। जो नेत्रहीन है, वह बेचारा उस फल को तो देखता ही है। अन्दाज से वह ढेला फेंकता है। उसका ढेला कभी पेड़ में लगेगा, कभी टहनी में लगेगा, कभी पत्ते में लगेगा। अगर वह निरन्तर ढेला फेंकता ही रह जाय, तो सम्भव है, कभी उस फल में भी लग जाय; लेकिन उसके लिए कोई गारण्टी नहीं दी जा सकती कि वह फल तोड़ ही लेगा; लेकिन जो नेत्रधारी है, वह तो फल तोड़ ही लेगा, इसमें तो संदेह का, संशय का कोई स्थान ही नहीं है। इसी प्रकार जो कोई दृष्टि-साधन की क्रिया करते हैं, उनकी दिव्य दृष्टि खुल जाती है। दिव्य नेत्र खुल जाने के कारण वह दिव्य नाद को सरलतापूर्वक पकड़ लेता है। इसलिए अभी आपलोगों ने जो संत कबीर साहब की वाणी सुनी, उसमें यही बात आयी–

जो कोइ निरगुन दरसन पावै।।
प्रथमे सुरति जमावै तिल पर, मूल मंत्र गहि लावै।
गगन गराजै दामिनि दमकै, अनहद नाद बजावै।।

अगर उस निर्गुण ब्रह्म का दर्शन करना चाहते हैं, तो पहले जो ब्रह्म का सूक्ष्म रूप यानी विन्दु है, उसकी हम आराधना करें। अपनी दृष्टि को उसपर जमावें। संत राधास्वामी साहब भी कहते हैं–

सुरत शब्द एक अंग कर, देखो विमल बहार।
मध्य सुखमना तिल बसे, तिल में जोति अकार।।

सुषुम्ना में अपनी वृत्ति को ले जाओ। वहाँ उस केन्द्रीय शब्द को पकड़ो।

बायें इड़ा नाड़ी दक्खिने पिंगला,
रजस्तमोगुणे करिते छे खेला।
मध्य सत्त्व गुणे सुषुम्ना विमला,
धरऽ धरऽ तारे सादरे।।

गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–

सुखमन कै घरि राग सुन, सुन मण्डल लिव लाइ।
अकथ कथा बीचारऔ, मनसा मनहि समाइ।।

अगर राग सुनना चाहते हो, ब्रह्मनाद सुनना चाहते हो, तो 'सुखमन कै घर राग सुन'–अपने को सुषुम्ना में ले जाओ। इसी सुषुम्ना की साधना मीराबाई भी करती थीं, वे कहती हैं–'सेज सुखमना मीरा सोवै, शुभ है आज घड़ी।'

जो सुखमना की शय्या पर सोता है, उसका अहोभाग्य है। आवश्यकता है सच्चे सद्गुरु की शरण को ग्रहण कर सदाचार-समन्वित हो तन्मयतापूर्वक साधना करने की। संत तुलसी साहब कहते हैं–

मुर्शिदे कामिल से मिल, सिद्क और सबूरी से तकी।
जो तुझे देगा फहम, शहरग के पाने के लिए।।

जो पहुँचे हुए गुरु हैं, उनके पास जाओ। सच्चाई से जाओ। कच्चा हृदय लेकर नहीं जाओ। सच्चा हृदय लेकर जाओ, संतोष धारण करके जाओ; वे तुम्हें मार्ग-दर्शन देंगे कि किस तरह सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है।

क्यों भटकता फिर रहा, तू ऐ तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है, दिलवर पै जाने के लिए।।

उस प्रभु के पास जाने का रास्ता सुखमना में है। वहाँ से चलना है। वहीं से रास्ते का आरम्भ होता है। इसीलिए दृढ़तापूर्वक दृष्टियोग की क्रिया करनी

चाहिए। दृष्टियोग की क्रिया से दिव्य दृष्टि खुलेगी, दिव्य नेत्र मिलेगा और दिव्य शब्द की अनुभूति होगी। वह शब्द एक ही तरह का नहीं है, अनेक तरह के शब्द हैं। इसलिए उसकी संज्ञा अनहद की दी गई है। जब कोई दृष्टियोग की क्रिया करते हैं; दृष्टियोग की क्रिया से जब वे प्रकाश-मण्डल में पहुँचते हैं, तो प्रकाश भी एक ही तरह का नहीं है। प्रकाश भी विभिन्न तरह के हैं। हमारे गुरुदेव के वचन में आया है–

छट-छट छट-छट बिजली छटकै,
भोर का तार दिखाता है।
चन्दा उगत उदय हो रविहू,
धूर शब्द मिल जाता है।।

कभी बिजली की चमक है, कभी चन्द्र का प्रकाश है, तो कहीं सूर्य का प्रकाश है।

पीली नीली लाल सफेदी स्याही सन्मुख आता है।

ये सब भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग अपने अन्दर में दीखते हैं; लेकिन इन सब रंगों को तबतक हम देखते रहते हैं, जबतक हमारा मन शब्द में नहीं लग जाता है। जैसे कोई मण्डप सुन्दर ढंग से सजा हुआ हो, विविध रंगों के प्रकाश से वह मण्डप सजा हुआ हो, बहुत चीजें बहुत तरह से सजायी गई हों, तो दर्शक जब वहाँ जाते हैं, तो वे उस मण्डप की सजावट को देखते हैं। उन्हीं विविध रूपों को देखने में उनका मन लगता है; लेकिन जब उसी मण्डप पर शब्द-गायन होने लग जाता है, तो लोगों का मन उस शब्द-गायन में फँस जाता है। वहाँ का जो दृश्य पहले दीखता था, वह गौण पड़ जाता है, शब्द की प्रधानता हो जाती है। उसी तरह जो कोई अन्तस्साधना करते हैं, यद्यपि आश्चर्यजनक प्रकाश मिलता है, जिस प्रकाश से जीवन में कभी भेंट नहीं हुई थी, उस तरह के प्रकाश की अनुभूति होती है। मन उसमें लग जाता है, गड़ जाता है, आकर्षित हो जाता है; लेकिन जब अन्तर्नाद की अनुभूति होने लगती है, तब वे विविध प्रकाश गौण पड़ जाते हैं। जब आकर्षण दूसरी ओर हो जाता है, तब पहला आकर्षण शिथिल पड़ जाता है। अपने अन्दर के प्रकाश में देखते-देखते उस ओर से हमारे मन में शिथिलता आती है और अन्तर्नाद की प्रबलता हो जाती है। पहले मोटे-मोटे शब्दों को सुनते हैं, फिर उससे महीन शब्दों को सुनते हैं, फिर उससे भी महीन शब्दों को सुनते हैं। इस तरह क्रम-क्रम से आगे बढ़ते जाते हैं।

मुरली बीन शंख शहनाई, बंकनाल की बाट।

संत तुलसी साहब ने लिखा है। संत कबीर साहब कहते हैं–

विमल विमल अनहद धुनि बाजै,
सुनत बने जाको ध्यान लगे।

जिस तरह के शब्द हम सुनते हैं, हमारे मन पर उसी तरह की छाप पड़ती है। जैसे कोई दुःखी होकर रो रहा होता है, तो उस व्यक्ति की दुःखदायिनी ध्वनि को सुनकर हृदय में दुःख हो जाता है। कोई हमको कटु वचन कहता है या गाली देता है, तो उस कटु वचन को सुनकर हमारे मन में दुःख होता है। कोई प्रसन्नता से आकर हमसे मिलता है अथवा हँसते हुए हमसे बोलता है, तो उसकी प्रसन्नता- भरी वाणी से हमको भी प्रसन्नता हो जाती है। जिस तरह के शब्द हम सुनते हैं, हमारा मन उस तरह का हो जाता है, तो जो शब्द परम प्रभु परमात्मा की ओर से आया हुआ है, उस शब्द को यदि हम सुनेंगे, तो हमारा मन कैसा होगा? बाहर के जो बाजे-गाजे होते हैं, उन बाजे-गाजों को सुनकर, सुरीले स्वर को सुनकर भी हमारा आकर्षण उस ओर हो जाता है। जो हमारे हाथ का बनाया हुआ बाजा है, जो हमारे गले का गाया हुआ गाना है, उस बाजे और गाने को सुनकर तो हम उस ओर आकर्षित हो जाते हैं; लेकिन जो बाजा परम प्रभु परमात्मा का ही बनाया हुआ है और परम प्रभु परमात्मा की आवाज है, उसको यदि हम सुनेंगे, तो हमारा मन कैसा होगा? इसलिए हम उस ध्वनि को सुनें। वह ध्वनि सतत हो रही है।

है आ रही धुर से सदा, तेरे बुलाने के लिए।

संत तुलसी साहब ने कहा है–उस प्रभु का शब्द हमको बुलाने के लिए आ रहा है; लेकिन हम उस शब्द को नहीं सुन रहे हैं। जैसे कोई बच्चा बच्चों के साथ खेल रहा हो और उसके विद्यालय जाने का समय हो गया हो, उसकी माँ पुकार रही हो कि तुम्हारे विद्यालय जाने का समय हो गया है, जाओ; लेकिन खेलने की धुन में मस्त होने के कारण वह बच्चा उस आवाज को नहीं सुन रहा हो। कोई दूसरा सुनता है, वह उस बच्चे से कहता है कि तुम्हारी माँ तुमको पुकार रही है। तुम्हारे स्कूल जाने का समय हो गया है, तो वह उस तरफ से हटता है; माँ की

आवाज सुनकर वह माँ के पास जाता है। पश्चात् पढ़ने के लिए विद्यालय जाता है, पढ़ता है और वह विद्वान होता है। उसी तरह हम रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द–इन पंच विषयों में खेल रहे हैं। उन्हीं की धुन में हम लगे हुए हैं। इसलिए हमारे अन्दर जो आवाज हो रही है प्रभु की ओर से हमको बुलाने की, उसको हम नहीं सुन रहे हैं। जो संत सद्‌गुरु होते हैं, वे कहते हैं कि अरे! किधर तुम भटक रहे हो? प्रभु तुमको पुकार रहे हैं। अभी से नहीं, सदा से पुकार रहे हैं–

है आ रही सदा से सदा यार देखना।

सुनोगे कैसे?

गोश बातिन हो कुशादा, जो करै कुछ दिन अमल।
ला-इला अल्लाह हो अकबर पै जाने के लिए।।

जब तुम दृष्टियोग की क्रिया करोगे, दिव्य दृष्टि खुलेगी, तब उस दिव्य नाद को तुम सुनोगे और वह नाद ले जाएगा तुम्हें वहाँ, जहाँ से वह आता है; क्योंकि प्रत्येक नाद में अपनी ओर आकर्षण करने का गुण होता है। बाहर का जो नाद है, वह बाहर की ओर खींचता है। जो भीतर का नाद है, वह भीतर की ओर खींचता है। जो परम प्रभु परमात्मा की ओर से आया हुआ नाद है, वह परमात्मा की ओर खींचता है। मान लीजिए, अँधेरी रात हो, हाथ को हाथ नहीं सूझता हो और तू-तू करके हम कुत्ते को पुकारते हैं, तो कुत्ता हमारे पास आ जाता है। लाउडस्पीकर यहाँ लगा हुआ है। यहाँ से आवाज जहाँ तक जाती है, अँधेरी रात क्यों न हो, उस आवाज को सुनते-सुनते लोग यहाँ आ जायेंगे। जिस आवाज को जो सुनता है, सुननेवाला उस आवाज को सुनते-सुनते वहाँ तक पहुँचता है, तो जो आवाज परम प्रभु परमात्मा की ओर से आती है, उस आवाज को यदि हम सुनेंगे, तो कहाँ जाएँगे? उस परम प्रभु परमात्मा तक पहुँच जायेंगे। इसीलिए संतमत की साधना में ज्योति और नाद की मुख्यता है। रूप ब्रह्माण्ड को हम दृष्टियोग की क्रिया से पार करेंगे और वहाँ जो शब्द मिलेगा, उस शब्द को पकड़कर हम आगे अरूप ब्रह्माण्ड में जायेंगे, जहाँ पर–

आगे शून्य समाधि, नाद ही नाद की।
लहै संत का दास, जाहि सुधि आद की।।

आगे चलकर ज्योति छूट जाती है। शब्द रह जाता है। उसी शब्द के सहारे साधक आगे बढ़ते हैं। एक-एक केन्द्र को क्रम-क्रम से पार करते हुए सभी केन्द्रों को पार कर जाते हैं।

बजती हैं पाँच नौबतें, सुनि एक-एक को।
प्रति एक पै चढ़ि जाय के, निज नाह खोजना।।

साधक प्रथम स्थूल मण्डल के केन्द्रीय शब्द को ग्रहण करता है, उसके सहारे वह सूक्ष्म के केन्द्र पर पहुँच जाता है। सूक्ष्म के केन्द्र पर के शब्द को जो सुनते हैं, वह शब्द खींचकर उसको कारण के केन्द्र पर ले जाता है। कारण के केन्द्रीय शब्द को पकड़कर वह महाकारण के केन्द्र पर पहुँचता है और महाकारण के केन्द्रीय शब्द को पकड़कर कैवल्य के केन्द्र पर वह पहुँच जाता है। इस तरह जड़-कैवल्य के सारे आवरण झड़ जाते हैं। चेतन अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसी स्थिति में परम प्रभु परमात्मा के दर्शन होते हैं। दर्शन तो होते हैं; लेकिन स्पर्शन नहीं होता। वह कैवल्य का पर्दा जब चेतन पर से हट जाता है, तब जीव और पीव मिलकर एक हो जाता है। संतमत की साधना श्रृंखलाबद्ध है, क्रमबद्ध है। पहले स्थूल सगुण साकार की उपासना, फिर सूक्ष्म सगुण साकार की उपासना, पश्चात् सूक्ष्मतर सगुण निराकार की उपासना और अंत में सूक्ष्मतम निर्गुण निराकार की उपासना है। यहाँ उपासना की इति हो जाती है। प्रभु मिल गए, काम समाप्त हुआ।

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पहले मानस जप और मानस ध्यान–इन दो क्रियाओं को करना चाहिए। इन दो क्रियाओं को करने से योग्यता आती है दृष्टियोग करने की। दृष्टियोग में एक विन्दु का अवलम्ब रहता है। उस विन्दु-ध्यान को करके फिर नाद-ध्यान की क्रिया होती है। परम पूज्य गुरुदेव की वाणी में हम कह सकेंगे–

नाद से नादों में चलि धरु, प्रणव सत् ध्वनि सार रे।
एक ओ३म् सत्नाम ध्वनि धरि, 'मैँहीँ' हो भव पार रे।।

इस तरह सारशब्द को पकड़कर उस सार-धार का आधार लेकर सर्वाधार को पाकर भव-पार हो जायेंगे, आवागमन का चक्र छूट जाएगा, फिर कभी भी दुःख का मुख नहीं देखना पड़ेगा। यही संतमत की साधना का सार थोड़े-से शब्दों में कहा। ❐

यह प्रवचन पक्ष-ध्यान-साधना के शुभ अवसर पर महर्षि मैँहीँ ध्यान-योग-आश्रम, डेहरी-ऑन-सोन में दिनांक ०५.१२.१९९५ ई० को प्रातःकालीन सत्संग में हुआ था। (शांति-संदेश, नवबर, २०११)

९२. मम माया संभव संसारा

आपलोगों को ज्ञात कराया गया है कि यहाँ संतमत का सत्संग होगा। संतमत कोई नया मत, नया धर्म, नया मजहब, नया सम्प्रदाय नया रिलिजन नहीं है। यह परम पुरातन सनातन वैदिक मत है। वैदिक मत होते हुए भी यह किसी अवैदिक मत से राग-रोष, घृणा-द्वेष आदि नहीं करता। यह सर्वधर्मसमन्वय मत है। सन्तमत अर्थात् संतों का मत।

शान्ति स्थिरता वा निश्चलता को कहते हैं। शान्ति को जो कोई प्राप्त कर लेते हैं, वे सन्त कहलाते हैं। चाहे वे किसी भी देश के, किसी भी वेश के, किसी भी जाति-पाँति के, किसी भी धर्म मजहब, सम्प्रदाय, रिलिजन आदि के क्यों न हों; सभी सन्त समान हैं। संतमत-सत्संग में सभी सन्तों की समान रूप से मान्यता है। कोई छोटे और कोई बड़े नहीं। इसलिए सन्तमत को समुद्रमत कहते हैं। जिस तरह समुद्र में विभिन्न नदियाँ आकर मिलती हैं, उसी तरह सन्तमत-सत्संग में विभिन्न संतों की वाणियाँ आपलोगों को सुनने को मिलेंगी। जहाँ आप वेद और पुराण की बात सुनेंगे, वहाँ आप बाइबिल और कुरान की बात सुन पायेंगे। बौद्ध, जैन, सिक्ख, ईसाई, इस्लाम– सभी धर्म इसमें समाहित हैं। अभी आपलोगों ने रामचरितमानस का पाठ सुना।

भगवान् श्रीराम जब विजय प्राप्त कर, सीताजी का उद्धार कर अयोध्या पधारे, तो उन्होंने अपने राज्य का निरीक्षण किया। उन्होंने देखा कि भरतजी ने राज-काज अच्छी तरह सँभाला है। प्रजा सब प्रकार से सुखी है; किसी प्रकार किसी को कष्ट नहीं है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम यह विचार कर कि हमारी प्रजा इस संसार में सुखी है; किन्तु सदा यह यहाँ नहीं रहेगी। एक-न-एक दिन सबका शरीर छूटेगा, तो शरीर छूटने के बाद यह जहाँ जायगी, वहाँ भी यह सुख से रहे, इसलिए उन्होंने एक बहुत बड़ी सभा की। उसमें गुरुजन, पुरजन, सज्जन–सब-के-सब एकत्र हुए। बहुत-से ऋषि-मुनि उपस्थित थे। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के पूज्य गुरुदेव श्रीवशिष्ठजी भी समुपस्थित थे। भगवान श्रीराम कहते हैं–

"सुनहु सकल पुरजन मम वानी।
कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई।
सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥"
(रामचरितामानस)

भगवान् श्रीराम प्रजा से कहते हैं कि हे प्रजागण! सुनो! मैं कुछ ममता-ग्रस्त होकर नहीं कह रहा हूँ। मैं आपलोगों से जो कुछ कहता हूँ, आपलोग ध्यान देकर सुनें। मेरी बात आपलोगों को उचित लगे, तो ग्रहण करें; उचित नहीं लगे, तो आप मुझे कह दीजिये कि आपने जो बात कही, वह सही नहीं है। भय की कोई बात नहीं है।

"जौ अनीति कछु भाषौं भाई।
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥"

यों तो मैं जो कुछ कहना चाहूँगा, बिल्कुल नीति की बात, न्यायसंगत बात कहूँगा। अगर कहीं मेरे मुँह से अनीति की बात निकल गई, तो आप निर्भय होकर वर्जन कर दीजियेगा। कह दीजियेगा कि यह बात जो आप कर रहे हैं, अनीति है, नीतिपूर्ण नहीं है, न्यायसंगत नहीं है। विचारणीय विषय है कि भगवान् श्रीराम राजाधिराज है, फिर भी वे अपनी प्रजा को बोलने की छूट दे रहे हैं, स्वतंत्रता दे रहे हैं। कह रहे हैं कि अन्याय के विपक्ष में आप निर्भय होकर बोल सकते हैं।

सज्जनो! एक-न-एक दिन सबका शरीर छूटेगा। जन्म लेने का अर्थ ही मृत्यु होता है। जो जन्म लेंगे, वे मरेंगे, सुनिश्चित है। भले ही जितने मरेंगे, सब-के-सब जन्म ले लें, यह बात नहीं है; लेकिन जितने-के-जितने जन्म लेंगे, उतने-के-उतने मरेंगे, यह बात निश्चित है। अन्य किसी बात में सन्देह हो सकता है; जैसे हम व्यापार करेंगे, हमारा व्यापार चलेगा या नहीं, इसमें सन्देह है। हम पढ़-लिखकर विद्वान होना चाहते हैं, हम विद्वान् हो सकेंगे या नहीं हो सकेंगे, इसमें सन्देह है। हम खेती करते हैं, सफलता मिलेगी या नहीं, इसमें सन्देह है। हम I.A.S. की परीक्षा दे रहे हैं, उत्तीर्ण होकर उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकेंगे वा नहीं,

इसमें सन्देह है। इन सारी बातों में सन्देह है; लेकिन इस बात में संदेह नहीं हैं कि हम मरेंगे। जितने जो कोई संसार में आये हैं, सब-के-सब मरेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भोजन करने के लिये हम बैठे हैं, भरपेट भोजन हम कर पाएँगे या नहीं, इसमें भी सन्देह है। एक लघु कथा है–

एक कृषक था। उसको एक पुत्र था। दोनों ने मिलकर खेती की। लड़का कहता है कि पिताजी! हमलोगों ने बहुत मेहनत से खेती की है। फसल खूब अच्छी होगी। पिता ने कहा कि हाँ, बेटा! मेहनत करो। मेहनत की गई। फसल अच्छी उग आई। पुत्र ने कहा कि पिताजी, देखिये! फसल कितनी अच्छी लहलहा रही है! अनाज होगा, हमलोग खूब खायेंगे। पिता ने कहा कि बेटा! अभी तो पौधे ही निकले हैं। जब दानें लगेंगे, तब न। जब दानें निकल आये, तो पुत्र ने कहा कि पिताजी! अब तो खायेंगे न, देखिये दानें निकल आये हैं? पिता ने कहा–'बेटा! अभी दानें कच्चे हैं, पकेंगे तब न।' जब फसल पककर तैयार हो गयी, तब पुत्र ने कहा–'देखिये, पिताजी! अब तो फसल पककर तैयार है, अब तो खायेंगे न?' पिता बोला–बेटा! अभी तो खेत में फसल है, दरवाजे पर फसल आयेगी तब तो।' कबीर साहब ने कहा है–"पाकी खेती देखकर गरवे कहा किसान। अबहुँ झमेला बहुत है, घर आये पै जान ॥" जब फसल काटकर घर पर ले आया, तो पुत्र ने कहा–'देखिये, पिताजी! अब तो फसल घर पर आ गई, अब तो खायेंगे न?' पिता ने कहा–'बेटा, अभी देर है। अभी तो फसल तैयार हुई है, आटा कहाँ बना है? गेहूँ पीसा जायेगा, आटा तैयार होगा, रोटी बनेगी, तब न खायेंगे, अभी कैसे खायेंगे?' गेहूँ पीसा गया। रोटी बनी, थाली में आ गयी। पुत्र ने कहा–'पिताजी! अब कहिये, अब तो रोटी बनकर थाली में आ गयी, अब क्या सन्देह है?' पिता ने कहा–'बेटा! अभी क्या अभी तो थाली में है, मुँह में रोटी जायेगी तब न।' बेटे ने कहा–'अब क्या सन्देह है?' जब उसके पिता ने रोटी का टुकड़ा मुँह में डाला, तो पुत्र ने कहा–'पिता जी! अब क्या, अब तो मुँह में गया?' पिता बोला–'बेटा!' अभी क्या, अभी तो मुँह में ही है, पेट में जायेगा, तब तो।' इतना सुनकर पुत्र का मन क्रोध से भर आया। उसने जोर से एक मुक्का पिता की गर्दन पर मारा। मुक्का लगते ही बूढ़े का प्राणान्त हो गया। उसकी मुँह की रोटी मुँह में ही रह गयी। राम-नाम सत्य हो गया। (श्रोताओं की ओर से 'श्री सद्गुरु महाराज की जय' का नारा) मेरे कहने का तात्पर्य यह कि अन्य सब कामों के होने में सन्देह हो सकता है; यही बात भगवान् श्रीराम के मन में आयी कि एक-न-एक दिन हमारी प्रजा का शरीर छूटेगा। जब हमारी प्रजा का शरीर छूटेगा, तब हमारी प्रजा जहाँ जायेगी, वहाँ भी वह सुख से रहे, इसलिए उन्होंने सबको बुलाकर उपदेश दिया–

"जौं परलोक इहाँ सुख चहहू।
सुनि मम वचन हृदय दृढ़ गहहू॥"

हे प्रजागण! यदि इस लोक में और परलोक में, दोनों जगह सुख चाहते हो, तो मैं जो कहता हूँ, वह ध्यान देकर सुनो और मनोयोगपूर्वक करो। क्या करने के लिए वे कहते हैं? ईश्वर की भक्ति, जो सरल और सुखद है। "सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥" मेरी भक्ति यानी ईश्वर की भक्ति करो। ईश्वर की भक्ति करने का अधिकारी कौन? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, विद्वान-अविद्वान्, धनी-निर्धन, नर-नारी कौन? 'जितने मनुष तनधारि हैं, प्रभु भक्ति कर सकते सभी।' भगवान् श्रीराम इसी दृष्टि को अपनाकर कहते हैं– 'बड़े भाग मानुष तनु पावा।'

मनुष्य-शरीर तुमको मिला है, यह तुम्हारा बड़ा भाग्य है। वे यह नहीं कहते हैं कि तुम उच्च कुल में जन्म लिये हो, इसलिए तुम्हारा बड़ा भाग्य है। यह नहीं कहते हैं कि तुम धनी घर में जन्म लिये हो, इसलिए तुम्हारा बड़ा भाग्य है। तुम बड़े विद्वान् हो, इसलिए तुम्हारा बड़ा भाग्य है, यह भी नहीं कहते हैं; बल्कि मानव मात्र के लिए वे कहते हैं कि उनका बड़ा भाग्य है, जिनको मनुष्य का शरीर मिला है। जिज्ञासा होती है कि मनुष्य-शरीर की विशेषता क्या है? उत्तर में निवेदन है; भगवान् कहते हैं–

"मम माया संभव संसारा।
जीव चराचर विविध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सबते अधिक मनुज मोहि माये॥"

भगवान् कहते हैं–वह सारा विश्व मेरा बनाया हुआ है। सब मेरे प्रिय हैं; लेकिन समस्त चराचर

प्राणियों में सबसे अधिक प्रिय मुझे मानव है। पुनः कहते हैं—

"एक पिता के विपुल कुमारा।
होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पण्डित कोउ तापस ज्ञाता।
कोउ धनवन्त सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्वज्ञ धर्मरत कोई।
सब पर पितहि प्रीति सम होई॥"

एक ही पिता के अनेक पुत्र होते हैं। कोई ज्ञानवान् होता है, कोई विद्वान होता है, कोई धनवान् होता है, कोई धर्मवान् होता है। भिन्न-भिन्न गुणसम्पन्न भिन्न-भिन्न पुत्र क्यों न हो; लेकिन पिता का प्रेम सब पर सम होता है। जड़-चेतन जितनी भी सृष्टि है—सबमें मनुष्य-शरीर को श्रेष्ठ बतलाया गया है। मनुष्य-शरीर की विशेषता यह है कि इन शरीरों में न्यूनाधिकता नहीं होती है। मनुष्येतर जितने भी प्राणी हैं, उनके शरीरों में न्यूनाधिकता रहती है। चाहे जलचर हों, चाहे थलचर हों, चाहे नभचर हों—सबमें न्यूनाधिकता होती है; लेकिन जितने मनुष्य हैं, सबकी लम्बाई एक-सी होती है, उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती। जन्म से लेकर बाल, यौवन, जरा, मृत्यु पर्यन्त उसकी लम्बाई में कोई अंतर नहीं पड़ता।

आप देखेंगे कि कोई गाय छोटी होती है, कोई बड़ी होती है। कोई भैंस छोटी होती है, कोई बड़ी होती है। सब एक ही माप की नहीं है; लेकिन मनुष्य जितने है, सबकी माप एक ही है। आप कहेंगे—कोई आदमी लम्बा होता है, कोई नाटा होता है। कोई चार हाथ का होता है, तो कोई पाँच हाथ का भी होता है। ऐसी स्थिति में सभी मनुष्य बराबर कैसे हो सकते हैं? उत्तर में निवेदन है—

मनुष्य जन्म लेता है, बढ़ता है, युवा होता है, बूढ़ा होता है और मर जाता है; लेकिन वह उतना ही बड़ा रहता है, जितना बड़ा वह जन्म लेता है। आप कहेंगे कि जिस समय मनुष्य जन्म लेता है, एक हाथ का रहता है और बढ़ते-बढ़ते दो हाथ, तीन हाथ, साढ़े तीन हाथ और उससे भी अधिक हाथ का हो जाता है। बराबर कैसे रहता है? उत्तर में पुनः निवेदन है—मेरे कथन पर मनन करने का कष्ट करें। जिस समय बच्चा जन्म लेता है, अपने हाथ से वह साढ़े तीन हाथ का होता है। युवा होने पर भी वह साढ़े तीन हाथ का रहता है और जब बूढ़ा होता है, तब भी वह अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का ही रहता है। मृत्यु की गोद में जाने पर भी वह साढ़े तीन हाथ का रहता है। उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। साढ़े तीन हाथ का जन्म लिया है और मरणपर्यन्त वह साढ़े तीन हाथ का ही रहता है। इस साढ़े तीन हाथ की विशेषता क्या है?

८४ लाख प्रकार की योनियों में मात्र मनुष्य शरीर ही ऐसा होता है, जो ८४ अंगुल का होता है। जितने मनुष्य हैं, सब अपने-अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ के होते हैं। साढ़े तीन हाथ का मतलब है—सात वित्ते। एक बित्ते में बारह अंगुलियाँ, तो सात बित्ते में (१२ X ७ = ८४ अंगुलियाँ। इस प्रकार समस्त मानव अपनी-अपनी माप से ८४ अंगुलियों के होते हैं। परमात्मा की ओर से ८४ अंगुल का शरीर इसलिए मिला है कि मानव ८४ लाख योनियों से छूट जाय। मानवेतर अन्य किसी शरीर में वह क्षमता नहीं है कि ८४ लाख योनियों से वह छूट जाय। यह मनुष्य-शरीर की विशेषता है। इसी के लिए परमात्मा ने मनुष्य का शरीर दिया है।

"लख चौरासी भरमि के, पौ पे अटके आप।
अबकी पासा ना पड़े, फिर चौरासी जाय॥"
(संत कबीर साहब)

चौपड़ एक खेल होता है, जिसमें ८४ कोठे होते हैं। चार गोटियाँ होती हैं और छह कौड़ियाँ होती हैं। कौड़ियाँ भाँजकर गिराते हैं। जितनी कौड़ियाँ चित होती हैं, उसी क्रम से वे गोटियाँ चलती हैं। चलते-चलते जब ८४वें कोठे पर गोटी आ जाती है, अब फिर कौड़ियाँ भाँजने पर जब एक कौड़ी चित होती है, तो गोटी लाल हो जाती है। ८४वें कोठे को 'पौ' कहते हैं। उसी के लिए कहा—'पौ पे अटके आय।' जैसे गोटी 'पौ' पर आकर अटकी हुई है और एक कौड़ी चित हुई, तो गोटी लाल हो जाती है, उसी तरह से ८४वें कोठे पर जीव आया हुआ है, अगर यह परम प्रभु परमात्मा में एक चित्त लगा दे, तो गोटी लाल है, पौ-बारह है। यदि कौड़ियाँ कहीं दो-तीन-चार चित हो गयीं, तो फिर ८४ कोठों में उस पौ पर आई हुई गोटी को घूमना पड़ता है। उसी तरह से हमारा चित्त भी कहीं दो-तीन-चार में फँस गया, तो फिर ८४ लाख योनियों में घूमना पड़ेगा, इसलिए चित्त को

एक करना है। एक चित्त करने के लिए एक इष्ट पर अपने को लगाओ। बहुदेवों की उपासना में चित्त की एकाग्रता नहीं होगी।

मैं दिल्ली गया हुआ था ऑल इण्डिया मेडिकल इन्स्टिच्यूट ऑफ साइन्स अस्पताल में कान दिखलाने के लिए। डॉक्टर को कान दिखला दिया। मुझको साधु-वेश में देखकर डॉक्टर साहब ने पूछा–'बाबा! आप किनकी उपासना करते हैं?' मैंने कहा–'मैं एक ईश्वर की उपासना करता हूँ।' डॉक्टर साहब ने कहा–'बाबा! मैं भी पूजा करता हूँ।' मैंने पूछा–'आप किनकी पूजा करते हैं?' डॉक्टर साहब ने उत्तर दिया–'बाबा! मैं हनुमानजी की पूजा करता हूँ। गणेशजी की पूजा करता हूँ। शिवजी की करता हूँ। दुर्गाजी की करता हूँ।' इस प्रकार आठ-दस देवताओं के नाम उन्होंने बता दिये और पूछा–'बाबा! ठीक करता हूँ न?' मैंने कहा–'पूजा करते हैं यह तो ठीक करते हैं; लेकिन आप बहुदेव-उपासी बने हुए हैं, यह ठीक नहीं है। किसी एक को पकड़िये। डॉक्टर साहब ने कहा–'बाबा! एक की पूजा करूँगा और सबकी पूजा नहीं करूँगा, बाकी नाराज हो जाएँगे तब?' मैंने कहा–'देखिये। कितने देवताओं को खुश कीजियेगा? हमारे यहाँ ३३ करोड़ देवता हैं। मान लिया कि आपने समय निकालकर १ करोड़ देवताओं की पूजा कर ली, बाकी ३२ करोड़ देवता आपसे नाराज हो जाएँगे। आजकल वोट का जमाना है, एक करोड़ वोट आपको पड़ेंगे और ३२ करोड़ दूसरे को, तब आपका क्या हाल होगा?' डॉक्टर साहब ने कहा–'कहते तो आप ठीक हैं; किन्तु थोड़ी-थोड़ी सबकी पूजा अच्छी होती है।' मैंने देखा कि अभी भी इनके मन ने नहीं माना है। मैंने कहा–'पहले आप MBBS डॉक्टर थे, उस समय किस-किस रोग की चिकित्सा आप करते थे और आजकल किस-किस रोग की चिकित्सा करते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया–'जब मैं MBBS था, तब सब रोगों का इलाज करता था; लेकिन आजकल तो केवल कान का इलाज करता हूँ।' मैंने पूछा–'जिस समय आप MBBS. थे, उस समय आप बड़े डॉक्टर थे या आज बड़े डॉक्टर हैं?' उन्होंने कहा–'उस समय तो साधारण MBBS. डॉक्टर था, बड़ा डॉक्टर तो अब हूँ।' मैंने कहा–'डॉक्टर साहब! जबतक बहुदेव उपासक रहियेगा, तबतक साधारण MBBS बने रहियेगा और जब एक ईश्वर की उपासना कीजिएगा, तो बहुत बड़े डॉक्टर बन जाएँगे। (श्रोतागण द्वारा 'श्रीसद्गुरु महाराज की जय' का नारा)

अतः एक को पकड़िये। एक इष्ट के उपासक सच्चे होते हैं और बहुदेव-उपासक कच्चे होते हैं।

"एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।
जो गहि सेवै मूल को, फूले फले अघाय॥"

वृक्ष लगाना हो, तो उसकी जड़ में पानी दीजिए। जड़ में पानी दीजिएगा, तो समूचा वृक्ष हरा-भरा हो जाएगा। वह पल्लवित होगा और फलित होगा। पत्ते-पत्ते पर पानी दीजियेगा, तो गाछ ही सूख जाएगा। एक को पकड़िये। अभी एक सज्जन से मेरी बात हुई। उन्होंने बतलाया–'हनुमानजी की पूजा करता हूँ, शंकरजी की पूजा करता हूँ, गणेशजी की पूजा करता हूँ। कई देवताओं के नाम उन्होंने बता दिए।' मैंने कहा–'हनुमानजी की पूजा करते हैं, तो हनुमान चालीसा पढ़ते हैं?' उन्होंने कहा–'हाँ, पढ़ता तो हूँ।' मैंने पूछा–'श्रीहनुमान चालीसा के आरंभ में गोस्वामीजी ने क्या लिखा है?' उन्होंने उत्तर दिया–

"श्रीगुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुरु सुधारि।
बरनऊँ रघुवर विमल जसु, जो दायक फल चारि॥
बुद्धिहीन तुन जानिकै, सुमिरौं पवन-कुमार।
बल बुद्धि विद्या देहु मोहिं, हरहु कलेस विकार॥"

मैंने पूछा–'श्रीगोस्वामीजी ने पहला स्थान किनको दिया?' उन्होंने उत्तर दिया–'गुरु को।' मैंने पूछा–'दूसरा स्थान किसको दिया?' उन्होंने कहा–'राम को।' मैंने पूछा–'तीसरा स्थान?' उन्होंने कहा–'पवन कुमार श्रीहनुमानजी को।' मैंने पूछा–'देखिये, सन्तों ने जिनको जो स्थान दिया है, हमको भी उनको वही स्थान देना चाहिए। अर्थात् गुरु को पहला स्थान दीजिए। सन्त सद्गुरु से बढ़कर और कोई नहीं हो सकते। एक गुरु को पकड़िए।'

"देवी देव समस्त पूरण ब्रह्म परम प्रभू।
गुरु में करैं निवास कहत हैं संत संभू॥"

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा–

"पात पात के सींचवो, बरी बरी के लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहके कहु को न॥"

वृक्ष लगाना चाहते हैं और उसमें बुद्धिमानी क्या करते हैं, पत्ते-पत्ते पर पानी देते हैं। हमलोगों के यहाँ की माताएँ पकौड़ी बनाती हैं; लेकिन उनमें जो

अपने को बहुत बुद्धिमती समझती हैं, वे पकौड़ी किस तरह से बनाती हैं? पकौड़ी बना-बनाकर ऊपर से उनमें अलग-अलग से नमक डालती हैं। वे समझती हैं कि हम बड़ी बुद्धिमती हैं। उसका क्या परिणाम होगा? किसी में कम नमक होगा, तो किसी में बेशी नमक होगा और किसी पकौड़ी में नमक छूट ही जाएगा। यह बुद्धिमत्ता नहीं है, बुद्धिमत्ता तो यह है कि वेसन ही में नमक डाल दें। चाहे छोटी पकौड़ी बनाओ, चाहे बड़ी पकौड़ी बनाओ, सबमें समान रूप से नमक चला जाएगा। उसी तरह एक ईश्वर की उपासना में सबकी उपासना हो जाती है। उसी के लिए यह मनुष्य का शरीर मिला है। इसलिए भगवान राम कहते हैं–

'बड़े भाग मानुष तनु पावा।'

मनुष्य का शरीर मिला हुआ; लेकिन इसकी सार्थकता कब होगी? जब 'बड़े भाग पाइये सत्संगा।' होगा। मनुष्य का शरीर मिला हुआ है और सत्संग नहीं करते हैं, तो भाग्य आपका जगा नहीं। भाग्यवान तो आप हैं; लेकिन आपका भाग्य सोया हुआ है। जगेगा तब, जब आप सत्संग करेंगे। अगर सत्संग नहीं कर रहे हैं, मनुष्य-जन्म पाकर भी यदि सत्संग नहीं, तो गोस्वामी जी कहते हैं–

"ते नर नरक रूप जीवत जग,
भव भंजन पद विमुख अभागी।"

वह बड़भागी नहीं, वह अभागी है। जो सत्संग करते हैं, वे बड़भागी हैं। उनको ईश्वर-भक्ति करने की प्रेरणा मिलती हैं। ईश्वर की भक्ति में ही जीवों का कल्याण है, बाह्य संसार के किसी पद को पाकर, किसी भी प्रतिष्ठा को पाकर, कितनी भी सम्पत्ति को पाकर कोई भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। शान्ति नाम की चीज, सुख नाम की चीज, चिर-कल्याण नाम की चीज बाहर संसार में नहीं है, अपने अन्दर है। जबतक कोई अपने अन्दर प्रवेश नहीं करेंगे, कल्याण नहीं, शान्ति नहीं, शाश्वत सुख नहीं। इसलिए ईश्वर की भक्ति करें। भक्ति करें, तो कैसे करें–सीखना पड़ेगा। सीखने के लिए उनके पास हमें जाना होगा, जिन्होंने ईश्वर की भक्ति की है।

अगर हमको आर्ट्स सीखना है, तो आर्ट्स-प्रोफेसर के पास जाएँगे। कॉमर्स सीखना है, तो कॉमर्स-प्रोफेसर के पास जाएँगे और साइन्स सीखना है, तो साइन्स-प्रोफेसर के पास जाएँगे। उसी तरह अगर हमें आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा-दीक्षा लेनी है, तो आध्यात्मिक ज्ञान के जो गुरु हैं, उनके पास जाएँगे। इसलिए गोस्वामीजी ने लिखा–

"जो गुरु पद अम्बुज अनुरागी।
ते लोकहु बेदहु बड़भागी॥"

एक तो मनुष्य का शरीर मिला, यह बड़ा भाग्य हुआ। सत्संग किया, भाग्य आपका जगमगाया। अब गुरु की शरण में आप चले गए। गुरु के चरणाम्बुज में अनुरक्ति आपकी हो गयी, तब 'लोकहु बेदहु बड़भागी' हो गए। किन्तु सन्त कबीर साहब की यह साखी भी याद रखिए–

"गुरु गुरु में भेद है, गुरु गुरु में भाव।
सोई गुरु नित बन्दिए, (जो) शब्द बताये दाव॥"

जिस शब्द से प्रभु की प्राप्ति होती है, उस शब्द के जो ज्ञाता हैं, उस शब्द के जो दाता हैं, उस शब्द के जो विधाता हैं, ऐसे गुरु के पास आप जाइए। सन्त राधास्वामी साहब ने कहा–

"गुरु सोइ जो शब्द सनेही।
शब्द बिना दूसर नहीं सेई॥
शब्द कमाये सो गुरु पूरा।
उनके चरणों की हो जो धूरा॥"

उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया–

'शब्द मारगी गुरु न होवे। तो झूठी गुरुआई लेवे॥'

जो गुरु शब्द-मार्ग का ज्ञाता नहीं है, वह यदि गुरु बना हुआ है, तो झूठी बड़ाई ले रहा है। भगवान श्रीराम कहते हैं शबरी से–

'गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।'

गुरु के पद-पंकज की सेवा करो मान-रहित होकर। गुरु का चरण कमल के समान रहना चाहिए। अर्थात् जिस तरह जल में कमल रहता है, उसी तरह गुरु जग में जलकमलवत् रहते हैं। जल कितना क्यों न बढ़ जाय, कमल जल से ऊपर उठकर रहता है, उसी तरह संत सद्गुरु संसार में रहकर संसार से ऊपर उठकर रहते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवजी महाराज ने कहा–

'नाव पानी में रहे, कोई हानि की बात नहीं; लेकिन नाव में पानी नहीं आना चहिए, नहीं तो नाव को वह डुबा देगा। उसी तरह भक्त संसार में रहे, कोई हानि की बात नहीं; किन्तु भक्त में सांसारिकता

नहीं आनी चाहिए, नहीं तो वह भक्त को डुबा देगी।'

जो गुरु स्वयं संसार में डूबे हुए हैं, वे अपने शिष्य को उद्धार कैसे कर सकते हैं? जिन्होंने अपना उद्धार कर लिया है, वे ही दूसरे का उद्धार कर सकते हैं। जो स्वयं विद्वान् हैं, वे ही दूसरे को भी विद्वान् बना सकते हैं। जो स्वयं विद्वान् नहीं, वे दूसरे को विद्वान् कैसे बना सकते हैं? संत कबीर साहब ने कहा–

"बन्धा का बन्धा मिले, छूटे कौन उपाय।
कर सेवा निरबन्ध की, पल में लेय छुड़ाय॥"

आपका भी हाथ बँधा हुआ हो और दूसरे का भी हाथ बँधा हुआ हो, तो कौन किसको कैसे छुड़ावेगा? उसी तरह स्वयं माया के जाल में जकड़ा हुआ व्यक्ति दूसरे को बन्धन से मुक्त कैसे करा सकता है? अर्थात् जो बन्धनमुक्त गुरु होंगे, वे ही शिष्य को बन्धनमुक्त करा सकते हैं। जो बन्धनयुक्त हैं, वे बन्धनमुक्त कैसे कर सकते हैं?

एक मकान बनाते हैं, मकान की नींव देते हैं। नींव बहुत अच्छी है। बहुत मजबूत नींव देते हैं। लेकिन जबतक इसपर दीवार खड़ी नहीं हुई है और जबतक छत नहीं दी गई है, तबतक जाड़े, गरमी, बरसात से हम बच नहीं सकते हैं। मान लिया कि नींव दी और दीवाल भी उसपर खड़ी कर दी और छत नहीं है उसपर, तब भी जाड़े, गरमी, बरसात से नहीं बच सकते हैं। नींव मजबूत हो, दीवाल खड़ी हो, छत उसपर डाल दीजिए, फिर जाड़े, गरमी, बरसात से आप बच जायेंगे।

भारत आस्तिक देश है। जन्म लेते ही बच्चे को सिखाया जाता है–ओ३म्-ओ३म्, शिव-शिव, वाह गुरु। राम का नाम बच्चे को सिखाया जाता है। तो भगवान का नाम हम लेते हैं, भगवान में आस्था रखते हैं–नींव हमने दे दी। लेकिन सत्संग करते ही नहीं हैं, तब दीवाल खड़ी नहीं है; केवल नींव आपकी पड़ी है। और भगवान में आस्था है; सत्संग आप करते हैं, तब नींव के ऊपर दीवाल आपकी खड़ी हो गई; लेकिन गुरु नहीं हैं, सच्चे सद्गुरु नहीं हैं, तो छत नहीं है; जाड़े, गरमी, बरसात से आप नहीं बच सकेंगे। दैहिक, दैहिक और भौतिक–इन त्रय तापों से संतप्त आप होंगे ही। यदि छत हो जाय अर्थात् सन्त सद्गुरु की शरण आप चले जायँ, तब आराम-ही-आराम है; दैहिक, दैविक और भौतिक–त्रितापों से आप बच सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने कहा–

"रवि पंचक जाके नहीं, ताहिं चतुर्थी नाहिं।
तेहि सप्तक घेरे रहै, कबहुँ तृतीया नाहिं॥"

गोस्वामीजी कहते हैं कि जिसको रवि पंचक नहीं है, यानी–रवि, सोम, मंगल, बुध और गुरु; जिनको गुरु नहीं है। रवि पंचक का अर्थ होता है गुरु; क्योंकि रवि का पाँचवाँ दिन होता है–बृहस्पति। बृहस्पति ही गुरु कहलाता है। जिनको गुरु नहीं है, उनके जीवन में कभी चतुर्थी नहीं आयेगी। चतुर्थी किसको कहते हैं? रवि सोम, मंगल, बुध। उसको सद्बुद्धि नहीं मिलेगी। परिणाम क्या होगा? 'तेहि सप्तक घेरे रहै।' सप्तक क्या होता है–रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि। अर्थात् उसको शनि घेरकर रखेगा। परिणाम क्या होगा–'कबहुँ तृतीया नाहिं।' तृतीया क्या होती है? रवि, सोम, मंगल। उसके जीवन में मंगल कभी नहीं होगा। इसलिए यदि मंगल चाहते हैं, तो संत सद्गुरु की शरण जाइए। इसलिए जिनकी गुरु में श्रद्धा है, भक्ति है, प्रेम है, तो उनके लोक-परलोक–दोनों बन जाते हैं।

हमने गुरु से दीक्षा ली। कुछ क्रिया उन्होंने बतला दी। हम साधना करने लगे, साधना करते समय इष्ट का रूप हमारे सामने आ जाता है, तब क्या होता है? संत तुलसी साहब कहते हैं–

"दरसन उनके उर माहिं करैं बड़ भागी।
तिनके तरने की नाव किनारे लागी॥"

यदि इष्ट के दर्शन अपने अन्तर में हो रहे हैं, तो नैया किनारे लग गयी। वे बड़भागी होते हैं; लेकिन अभी तो स्थूल-सगुण-साकार के ही दर्शन हुए हैं और भी आगे बढ़ना होगा। अब क्या होगा? सूक्ष्म में जायेंगे। वह क्या है? गोस्वामीजी के शब्दों में–

"श्री गुर पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू।
बड़े भाग उर आवइ जासू॥"

अन्तःप्रकाश जिनको मिल गया, अब भाग्य उनका और चमक गया। क्रमबद्धता देखिये कितनी अच्छी है। प्रकाश तक पहुँच गये; लेकिन प्रकाश तक पहुँचने से ही काम पूरा नहीं होता और आगे चलना होगा। कहाँ जाना होगा? परम पूज्य गुरुदेव की वाणी में हम पाते हैं–

"अमृत ध्वनि की नौबत झहरत, बड़भागी सुनते ।
सुनत लखत सुख लहत अद्‌भुती, 'मेँहीँ' प्रभु मिलते ।।"

आपके अन्दर में अमृत ध्वनि हो रही है, नाद हो रहा है। ब्रह्मनाद हो रहा है। अन्तर्ज्योति प्राप्त करने के बाद जो अंतर्नाद श्रवण करते हैं, वे बड़भागी होते हैं। उनके भाग्य के लिए क्या कहना! परम प्रभु परमात्मा मिल जाते हैं और अद्‌भुत सुख की अनुभूति होती है। इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं।

भगवान सबसे पहली बात कहते हैं–मनुष्य-शरीर तुम्हें मिला, यह तुम्हारा पहला बड़ा भाग्य है। सत्संग करते हो, तुम्हारा भाग्य जग गया। गुरु की शरण में चले गये, लोक-परलोक तुम्हारे बन जाएँगे। दीक्षा ग्रहण कर अन्तस्साधना करते समय उनके दर्शन अन्दर में करने लग गये हो, मानो तुम्हारी नाव किनारे लग गई है। तुम उस पार चले जाओगे। जब तुम सूक्ष्म ध्यान करने लग जाओगे और अन्तर्ज्योति में प्रवेश करोगे, तो तुम्हारा भाग्य और चमक जाएगा और तुम अन्तर्नाद की साधना करने लग गये, तब तो कहना ही क्या! प्रभु से मिलकर एकमेक हो जाओगे। इससे विशेष भाग्य और क्या हो सकता है? तुम्हारा जीवन तो उज्ज्वल होगा ही, तुम अन्य कितने के भाग्य समुज्ज्वल करोगे।

यह जब कभी भी होगा, तो मनुष्य-शरीर में ही होगा। दूसरे शरीर में नहीं। इसीलिए भगवान श्रीराम कहते हैं–'बड़े भाग मानुष तनु पावा।'

सुरदुर्लभ–देवताओं को भी दुर्लभ है। अब समझने की बात है–भगवान श्रीराम अपने श्रीमुख से यह कह रहे हैं कि यह मनुष्य का शरीर देवताओं को दुर्लभ है। विचारणीय विषय है–जो शरीर देवताओं को दुर्लभ है, वह शरीर हमको सुलभ हो गया है, फिर भी यदि देवपूजन में ही अपने जीवन को ला रहे हैं, आगे की ओर नहीं बढ़ रहे हैं, तो हम नीचे की ओर जा रहे हैं या ऊँचे की ओर जा रहे हैं? हम उन्नति की ओर जा रहे हैं या अवनति की ओर?

जो भक्त होता है, जिसको सच्चे सद्‌गुरु मिले हुए हैं, जो सदाचार-समन्वित होकर साधना करता हैं, वह साहब का लाल कभी कंगाल नहीं हो सकता है। संत पलटू साहब कहते हैं–

"जो साहब का लाल है, सो पावेगा लाल ।।
सो पावेगा लाल, जाय कर गोता मारै ।
मरजीवा होइ रहै, लाल को तुरत निकारै ।।
निसि दिन मारै मौज, मिली जब वस्तु अमानी ।
रिद्धि सिद्धि और मुक्ति, भरत है तिन घर पानी ।।
वे शाहन के शाह, आस उनको नहिं दूजा ।
ब्रह्मा विष्णु महेश, करत है तिनकी पूजा ।।
पलटू गुरु भक्ती बिना, भेष भया कंगाल ।
जो साहब का लाल है, सो पावेगा लाल ।।"

बैठकर केवल मंत्रजप कर रहे हैं, उसी में काम पूरा नहीं होगा। 'जाय कर गोता मारै'–डुबकी मारे अपने शरीर में। किस तरह डुबकी मारे? "मरजीवा होइ रहै, लाल को तुरत निकारै।" मरजीवा–पानी में गोता लगानेवाला। पानी का गोताखोर होता है, जो पानी में डुबकर रहता है। यह शरीर क्या है? समुद्र है। संत कबीर साहब ने कहा है–

"कबीर काया समुँद है, अन्त न पावै कोय ।
मिरतक होइ के जो रहै, मानिक लावै सोय ।।"

इस शरीर में जो डूबता है, वही पाता है। अपने अन्दर डूबो। डूबने की कला जानो। फिर अपने अन्दर डूबो। जो डूबता है, तो क्या होता है? 'मरजीवा होइ रहै, लाल को तुरत निकारै।'

"लाल लाल जो सब कोइ कहै, सबकी गाँठी लाल ।
गाँठी खोलिके परखै नाहीं, तासे भयो कंगाल ।।"

जबतक परमात्मा-रूपी लाल नहीं मिलेगा, तबतक कितना भी माल जमा कर लो, कंगाल ही बने रहोगे। जो उस परमात्मा-रूपी लाल को पाता है, वह मालोमाल हो जाता है। उसपर तो काल की दाल भी नहीं गलती।

'मरजीवा होइ रहै, लाल को तुरत निकारै ।'

लाल मिल गया तब?

"निसि दिन मारै मौज, मिली जब वस्तु अमानी ।
रिद्धि सिद्धि और मुक्ति, भरत है तिन घर पानी ।।"

ऋद्धि-सिद्धि उस घर में पानी भरती है।

"वे शाहन के शाह, आस उनको नहिं दूजा ।
ब्रह्मा विष्णु महेश, करत है तिनकी पूजा ।।"

ब्रह्मा विष्णु, महेश जिसकी पूजा करें, ऐसा मनुष्य का शरीर हमलोगों को मिला है, और वह मनुष्य-शरीर पाकर दूसरे की पूजा करता है, वह देवता की पूजा करता है, तो कहाँ जा रहा है? कौन गुरु मिला है उसको? किस तरफ जा रहा है वह?

"पलटू गुरु भक्ती बिना, भेष भया कंगाल ।

जो साहब का लाल है, सो पावेगा लाल ॥"

गुरु तो वह है जिसको ज्ञान है।

"ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्ज्ञानं परात्परम् ।
यतो यो ज्ञानदानेहि न क्षमस्तंत्यजेद् गुरुम् ॥"
(बृहत्तंत्रसार)

जिन गुरु के सम्पर्क में आने से, जिनको गुरु धारण करने से मोक्ष मिलता है, मुक्ति मिलती है। छुटकारा मिलता है, आवागमन से मुक्ति मिलती है। दैहिक, दैविक और भौतिक—इन त्रय तापों से संतप्त प्राणी को सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है, गुरु तो उनको कहते हैं। जब हम बन्धन में ही पड़े हैं, तो बृहत्तंत्रसार कहता है कि 'तंत्यजेद् गुरुम्' जो ज्ञानदान में समर्थ नहीं हो, ऐसे गुरु को छोड़ देने में ही शिष्य की भलाई है।

"गुरु मिला सब जानिए, मेटे मोह संताप।
हर्ष शोक व्यापे नहीं, तव गुरु आपे आप ॥"

दिनांक—१८.८.१९९६, स्थान : कोलकाता में हुआ था। (शान्ति-सन्देश, मई १९९७ ई०)

९३. साँस-साँस में नाम सुमिरि ले

"सुकिरत करि ले, नाम सुमिरि ले, को जानै कल की।
जगत में खबर नहीं पल की ॥
झूठ कपट करि माया जोरिन, बात करैं छल की।
पाप की पोट धरे सिर ऊपर, किस बिधि ह्वै हलकी ॥
यह मन तो है हस्ती मस्ती, काया मिट्टी की।
साँस-साँस में नाम सुमिरि ले, अवधि घटै तन की ॥
काया अंदर हंसा बोलै, खुशियाँ कर दिल की।
जब यह हंसा निकरि जाहिंगे, मिट्टी जंगल की ॥
काम क्रोध मद लोभ निवारो, याही बात असल की।
ज्ञान बैराग दया उर राखो, कहै कबीरा दिल की ॥"

भगवान श्रीकृष्ण का महावाक्य है—'यह शरीर क्षेत्र है। इस शरीर को जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है।' क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संग हो गया है। क्षेत्र अर्थात् शरीर नाशवान है। क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीरी अविनाशी है। विनाशी और अविनाशी; इन दोनों का संग हो गया है। विनाशी असत् है, अविनाशी सत् है। सत् और असत् का मेल अधिक दिनों तक टिकता नहीं है। संत कबीर साहब ने कहा—

"साँचा को साँचा मिलै, अधिका जुड़ै सनेह।
साँचा को झूठा मिलै, तड़ दै टूटै नेह ॥"

शरीर और शरीरी—दोनों का संबंध अधिक दिनों तक नहीं रहता है। शरीर और शरीरी का मिलना-बिछुड़ना कितनी बार हुआ है, इसकी गणना नहीं है। संत कबीर साहब की वाणी में आया है—

"कहत प्राण सुनु काया बौरी, मोर तोर संग न होई।
तोहि अस मित्र बहुत हम त्यागा, संग न लीन्हा कोई ॥"

जीव अनेक शरीर को धारण करता और छोड़ता है। इस दृष्टि से शरीर और शरीरी का अलग-अलग विभाग हुआ। शरीर इस लोक के लिए है। इस लोक में इसका जन्म हुआ है। कुछ दिनों तक रहेगा, फिर नहीं रहेगा; लेकिन जीव कभी मरता नहीं है। जीव उसको कहते हैं, जो सदा जीवित रहता है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥"
(श्रीमद्भगवद्गीता, अ० २/२३)

अर्थात् इस आत्मा को कोई अस्त्र-शस्त्र काट नहीं सकता, आग जला नहीं सकती, जल भिंगा नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। यह अजर, अमर, अविनाशी है। गो० तुलसीदासजी महाराज की वाणी में हम कह सकते हैं—

"ईस्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी ॥"

अर्थात् आत्मा नित्य है, चेतन है, निर्मल है और सुख की राशि है। वह इस अनित्य शरीर में है। एक-न-एक दिन यह शरीर छूटेगा। हमारा शरीर छूटेगा; लेकिन हम रहेंगे। प्रश्नोदय होता है कि हम रहेंगे, तो कहाँ रहेंगे, कैसे रहेंगे? उत्तर में निवेदन है कि हमलोगों के जो कर्म होते हैं, वे हमारे साथ रहते हैं। उनके फल हमको भोगने पड़ते हैं। उन कर्मों के अनुसार उन लोकों में हम जाकर रहेंगे और तदनुकूल फलों के भोगों को भोगेंगे। संत कबीर साहब चेतावनी देते हैं—बुरे कर्म तो करो ही नहीं; क्योंकि उसका फल दुःख होता है। अच्छे कर्मों को करो—'सुकिरत कर

ले'। जो शुभ कर्मों को करते हैं, उनकी कीर्ति फैलती है, यश फैलता है। भगवान बुद्ध ने कहा है–जो सदाचारी होते हैं, उनको पाँच चीजें मिलती हैं। संसार में उनकी कीर्ति फैलती है। उनके पैसों का सदुपयोग होता है, दुरुपयोग नहीं होता। जिस किसी सभा में उनका प्रवचन होता है या वे जो बोलते हैं, उससे लोग प्रभावित होते हैं। जब उनका शरीर छूटता है, तो सुख से शरीर से छूटता है और शरीर छूटने के बाद वे सुखमय लोक में निवास करते हैं।

इसके विपरीत जो आचरणहीन हैं, दुराचारी हैं, उनको भी पाँच चीजें मिलती हैं। वे पाँच चीजें क्या हैं? जहाँ सदाचारी की कीर्ति फैलती है, सुयश फैलता है, वहाँ आचरणहीन का, दुराचारी का अपयश फैलता है, अपकीर्ति फैलती है। जहाँ सदाचारी के धन का सदुपयोग होता है, वहाँ दुराचारी के पैसे का अपव्यय होता है। जहाँ सदाचारी के प्रवचन का प्रभाव होता है, वहाँ दुराचारी के प्रवचन का प्रभाव नहीं पड़ता। यद्यपि लोग सुनने के समय उनका प्रवचन सुन लेते हैं; किन्तु पीछे उनकी निंदा करते हैं। जहाँ सदाचारी का शरीर सुख से छूटता है, वहाँ दुराचारी का शरीर दुःख से छूटता है। सदाचारी के शरीर छूटने पर वे सुखमय लोक में जाते हैं और वहाँ सुखपूर्वक रहते हैं। दुराचारी दुःखमय लोक में जाता है और वहाँ दुःखमय जीवन जीता है। इसीलिए संत कबीर साहब कहते हैं–'सुकिरत करि ले।' शुभ कर्मों को करो, इससे यह लोक कल्याणमय होगा, मंगलमय होगा। इस लोक में सदा तुम रहोगे नहीं, एक-न-एक दिन शरीर छूटेगा, परलोक जाओगे। वहाँ के लिए संवल चाहिए। गुरु नानक साहब ने कहा–

"जा मारग के गणै जाय न कोसा।
तहाँ हरि को नाम सदा संगि तोषा॥"

रास्ता इतना लम्बा है, जिसकी माप नहीं हो सकती। वहाँ के लिए पाथेय क्या होगा, बटखर्चा क्या चाहिए? संवल क्या चाहिए, तो गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–उस मार्ग के लिए प्रभु का नाम-भगवन्नाम पाथेय है। उसी के संबंध में संत कबीर साहब कहते हैं– 'नाम सुमिरि ले।' जागतिक जीवन सुखमय हो, कल्याणमय हो। कल्याणमय हो–इसके लिए नाम का सुमिरन करो, नाम का स्मरण करो। 'स्मरण' शब्द का अपभ्रंश 'सुमिरन' है। महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण का श्रीमद्भगवद्गीता में वाक्य है–

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।'

अर्थात् जागतिक कार्य-संतुलन के साथ सब समय मेरा स्मरण करो। 'स्मरण' यानी 'याद'। 'याद' शब्द को उलटने से 'दया' शब्द बनता है। जो कोई प्रभु को याद करते हैं, तो वह प्रभु के दरबार तक पहुँचती है और वहाँ से उलटने पर 'दया' बनकर आती है। परिणामस्वरूप जिस पर प्रभु की दया हो जाए, उसको किस बात की कमी रहेगी। उसकी प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल परिस्थिति में परिवर्तित हो जाए–कौन-सी असंभव की बात है? नाम के स्मरण से क्या लाभ होता है? इसके उत्तर में संत कबीर साहब कहते हैं–

"सुमिरन से सुख होत है, सुमिरन से दुख जाय।
कह कबीर सुमिरन किये, साईं माहिं समाय॥"

अर्थात् प्रभु के स्मरण से सुख मिलेगा, दुःख मिटेगा यानी दुःख से छुटकारा मिलेगा और परम प्रभु परमात्मा में जा मिलोगे। पुनः संत कबीर साहब कहते हैं–प्रभु का स्मरण राजा, रंक, नर-नारी आदि सभी कोई करते हैं, सभी अच्छे हैं; किन्तु सबके स्मरण करने में अंतर है अर्थात् कोई सकाम स्मरण करते हैं और कोई निष्काम स्मरण करते हैं। सकाम स्मरण के फल से निष्काम स्मरण का फल भिन्न होता है। सकाम भक्त उत्तम ठाम पाते हैं और निष्काम भक्त प्रभु का अविचल धाम पाते हैं–

"राजा राना राव रंक, बड़ा जो सुमिरै नाम।
कह कबीर बड्डो बड़ा, जो सुमिरै निष्काम॥
नर नारी सब नरक है, जब लगि देह सकाम।
कह कबीर सोइ पीव को, जो सुमिरै निष्काम॥
सहकामी सुमिरन करै, पावै उत्तम ठाम।
निःकामी सुमिरन करै, पावै अविचल धाम॥"

संत कबीर साहब की ही भाँति गुरु नानकदेव जी कहते हैं–प्रभु के स्मरण से सुख मिलता है; कलि क्लेश का निःशेष होता है। प्रभु का स्मरण से गर्भवास नहीं होता, प्रभु के धाम में निवास होता है और यम-त्रास मिटता है।

"सिमरउ सिमिरि सिमिरि सुख पावउ।
कलि कलेश तन माहिं मिटावउ॥
सिमरउ जासु विसंभर एके।

नाम जप जपनत अनेके ॥
प्रभु के सिमरन गरभ न वसै ।
प्रभु के सिमरन यम दुख नसै ॥"

यह कौन-सा सुमिरन है, किस प्रकार का सुमिरन है? संत कबीर साहब ने कहते हैं–

"जप तप संयम साधना, सब सुमिरन के माहिं ।
कबीर जानै भक्त जन, सुमिरन सम कछु नाहिं ॥"

'सुमिरन' के अंदर ही जप, तप, संयम और सारी साधनाएँ आ जाती हैं। लोग विविध प्रकार से जप करते हैं; जैसे वाचिक, उपांशु, श्वास और मानस; ये जप के चार प्रकार हैं। इन चार प्रकार के अतिरिक्त पाँचवें प्रकार का भी जप होता है, जिसको अजपा जप कहते हैं। ये क्रमशः एक-से-एक विशेष हैं। वाचिक जप से उपांशु जप विशेष है। उपांशु जप से श्वास जप विशेष है और श्वास जप से मानस जप विशेष है। मानस जप सब जपों में श्रेष्ठ है। कुछ लोग श्वास जप को ही 'अजपा जप' कहते हैं; किन्तु संतों को यह मान्य नहीं है। वे आंतरिक अनहद नाद को 'अजपा जप' कहते हैं। जैसा कि परमहंस लक्ष्मीपतिजी महाराज के वचन से स्पष्ट हो जाता है–

"अनहद अपने साथ है, अजपा ताको नाम ।
अमल करो अपनाय के, अमर नाम घर ठाम ॥"

और संत कबीर साहब कहते हैं–

"जाप अजपा हो सहज धुन परख गुरु गम धारिये ।
होत धुनि रसना बिना कर माल बिनु निरवारिये ॥"
"अजपा सुमिरन घट विषे, दीन्हा सिरजनहार ।
ताही सूँ मन लग रहा, कहै कबीर विचार ॥
जाप मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय ।
सुरत समानी शब्द में, ताको काल न खाय ॥"

तप तीन प्रकार के होते हैं–कायिक तप, वाचिक तप और मानसिक तप। इस संदर्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में इस प्रकार कहा है–

"देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥"

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा–यह शरीर संबंधी तप कहा जाता है।

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥"

अर्थात् सत्य, प्रिय, हितकारी और उद्वेग पैदा नहीं करनेवाली वाणी बोलना और स्वाध्याय का अभ्यास करना–यह वाणी का तप कहा जाता है।

"मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहाः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥"

अर्थात् मन की प्रसन्नता, शांतभाव, भगवच्चिंतन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अंतःकरण के भावों को भली भाँति पवित्रता–इस प्रकार यह मन संबंधी तप कहा जाता है।

"श्रद्धया परया तप्तं तपस्तस्त्रिविधं नरै ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥"

अर्थात् फल को न चाहनेवाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को सात्त्विक तप कहते हैं।

"सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥"

अर्थात् जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए भी स्वभाव से या पाखंड से किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है।

"मूढ ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥"

अर्थात् जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

संयम में इन्द्रियों का संयमन और मन का संयमन, ये सारी बातें सुमिरन के अंदर हो जाती हैं। इन्द्रियों का संयम दृष्टियोग-क्रिया से और मन का संयम नादानुसंधान की क्रिया से होता है। पुनः संत कबीर साहब कहते हैं–

"सुमिरन सुरत लगाइ कर, मुख ते कछु न बोल ।
बाहर के पट देय कर, अंतर के पट खोल ॥"

जहाँ संत कबीर साहब के वचन में हम पाते हैं–'बाहर के पट देय कर, अंतर के पट खोल ।' वहाँ हम अपने परम पूज्य गुरुदेव की वाणी में पाते हैं–
'बाहर के पट बंद करो हो, अंतर पट खोलो भाई ।'

उभय संतों की वाणियों में कितना साम्य है, विलक्षण ऐक्य है। ये 'बाहर के पट' क्या हैं, जिनको बंद करना है। संत कबीरसाहब कहते हैं–

"आँख कान मुख बंद कराओ,
अनहद झिंगा शब्द सुनाओ।
दोनों तिल एक तार मिलाओ,
तब देखो गुलजारा है ॥"

इसी से मिलती-जुलती बात हम गुरु नानकदेव जी महाराज की वाणी में पाते हैं–

"तीन बंद लगाय कर, सुन अनहद टंकोर।
नानक सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहिं भोर ॥"

संत कबीर साहब और गुरु नानकदेवजी की वाणी से हमारे पूज्य गुरुदेव की वाणी में कितना सामंजस्य है, देखिये–

"तीनों बन्द लगाइ, देखि सुनि धरि ध्वनि धारा।
चलिय शब्द में खिंचत, बजत जो विविध प्रकारा ॥"

"झिंगुर का झनकार, भँवर गुंजार हो।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ', घंट शंख शहनाइ,
आदि ध्वनि धार हो ॥११॥
तारा सह ध्वनि धार, टेम दीपक बरे।
खुले अजब आकाश, अजब चाँदनी भरे ॥
पूर अचरजी चन्द, सहित ध्वनि कस लगे।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ', जानै सोई धीर,
वीर साधन पगे ॥१२॥
साधन में पगि जाइ, अतिहि गंभीर हो।
या तन सुधि नहिं रहे, धीर वर वीर सो ॥
साँझ भोर दिन रैन, कछू जानै नहीं।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ', बाहर जड़वत् रहै,
माहिं चेतन सही ॥१३॥"

यदि जिज्ञासा हो कि संतों ने बाहर के पटों को बंद कर अंतर के पटों को खोलने की आज्ञा दी है। बाहरी पट के तो वर्णन हो चुके, बातें समझ में आ गयीं, किन्तु अंतर के पट कौन-से हैं, उन पटों का अनावरण किस प्रकार किया जाता है तथा उनके खुलने से क्या लाभ होता है? तो इसका उत्तर हमारे परम पूज्य गुरुदेव की वाणी में सुनिये–

"घट तम प्रकाश व शब्द पट त्रय, जीव पर हैं छा रहे।
कर दृष्टि अरु ध्वनि योग साधन, ये हटाना चाहिये ॥
इनके हटे माया हटेगी, प्रभु से होगी एकता।
फिर द्वैतता नहिं कुछ रहेगी, अस मनन दृढ़ चाहिये ॥"

अर्थात् अपने अंदर अंधकार, प्रकाश और शब्द; ये त्रयपट हैं। दृष्टियोग और नादानुसंधान द्वारा ये पट खुलते हैं। इन परदों के खुलने से मायिक सभी आवरण हट जाते हैं, प्रभु की प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, द्वैत भाव मिटकर अद्वैतावस्था हो जाती है।

"साधो सुमिरन भजन करो।
मन महँ दुविधा आनहु नाहीं, सहजहिं ध्यान धरो ॥
धीरज धरि संसय नहिं राखहु, नाम भरोसे रहो।
जगजीवन सतगुरु को भेंटो, भवजल पार तरो ॥"

संत जगजीवन साहब कहते हैं–हे साधो, हे साधक! सुमिरन और भजन करो। मन में दुविधा नहीं लाओ और सहज में ही ध्यान करो। यहाँ पर तीन बातें बतायी गयी हैं–सुमिरन, भजन और ध्यान। पहली बात है–सुमिरन यानी जप। हम मानस जप करें। दूसरी बात है–ध्यान यानी स्थूल ध्यान और सूक्ष्म ध्यान अर्थात् मानस ध्यान और दृष्टियोग। यहाँ दोनों प्रकार के ध्यान के लिए संकेत है। तीसरी बात है–भजन यानी नाम-भजन अर्थात् अंतर-नाद की उपासना। नाम-भजन अर्थात् नादानुसंधान। संत कबीर साहब के वचन में आपलोगों ने सुना–'नाम सुमिरि ले' यानी नाम का सुमिरन करो। नाम कहते हैं शब्द को और जिस शब्द के द्वारा किसी व्यक्ति या वस्तु की पहचान होती है, वह उसका नाम कहलाता है। जिस शब्द के द्वारा प्रभु की पहचान हो, वह प्रभु का नाम कहलाता है। उस नाम को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, जिनको हम वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक कह सकते हैं। गुरु नानकदेव जी इसी ओर इंगित करते हैं–

'हरि जपि नाम धियाय तू, जम डरपै दुखु भाग।'

वर्णात्मक नाम का जप होता है और ध्वन्यात्मक नाम का ध्यान होता है। जो दोनों तरह के नामों का भजन करते हैं, तो गुरु नानकदेवजी कहते हैं–उनसे यम डरता है और दुःख भाग जाता है। नाम नामी से मिलाता है। सगुण नाम से सगुण भगवान के दर्शन होते हैं; उनकी पहचान होती है। निर्गुण नाम से निर्गुण परमात्मा की पहचान होती है।

संत कबीर साहब की वाणी आपलोगों ने सुनी–'सुकिरत करि ले, नाम सुमिरि ले, को जानै कल की। जगत में खबर नहीं पल की ॥' इस वचन में उन्होंने नर-तन को नाशवान बताते हुए नाम-भजन करने के लिए कहा है। वस्तुतः मनुष्य-शरीर जितना ही सुंदर है, उतना ही वह क्षणभंगुर भी है। ठिकाना नहीं

है, यह शरीर कब छूट जाएगा! संत कबीर साहब चेतावनी देते हैं–'खबर नहिं पल की।' हम पल गिराते हैं, उतनी देर भी हमारे जीवित रहने की आशा नहीं की जा सकती। हमारे गुरुदेव कहते हैं–

"छन छन पल पल समय सिरावै।
नर तन दुर्लभ फिर नहिं पावै॥"

समय क्षण-क्षण, पल-पल बीत रहा है। काल के गाल में हमारा जीवन चला जा रहा है। आयु समाप्त होते चली जा रही है। ठिकाना नहीं, कब जीवन-लीला समाप्त हो जाए।

"पाव पलक की गम नहिं, करै काल की साज।
काल अचानक मारसी, ज्यों तीतर को बाज॥"

बेचारी तीतर चिड़िया घूमती-फिरती है, दाना चुगती है, मस्त है। बेचारी को क्या पता कि ऊपर बाज मँडरा रहा है? अचानक बाज आता है, झपट्टा मारता है और उसको लेकर चल देता है। इसी प्रकार संसार में हम दाना चुगते हैं यानी नाना भोग भोगते हैं, घूमते-फिरते हैं। पता नहीं, कब काल का झपट्टा लग जाएगा और वह हमें लेकर चला जाएगा। इसलिए संत कबीर साहब शुभ कर्मों को करने के लिए, अच्छे कर्मों को करने के लिए प्रेरणा देते हैं और कहते हैं–'को जानै कल की।' कल की कौन जानता है? इसलिए

"काल करै सो आज कर, आज करै से अब्ब।
पल में परलै होयगा, बहुरि करैगा कब्ब॥"

इसलिए हम शीघ्रातिशीघ्र भगवद्भजन करें; जागतिक कार्यों की सँभाल करते हुए शुभ कर्मों को भी करें। अगर इस तरह हम नहीं करते हैं और झूठ बोलते हैं, कपट करते हैं, छल करते हैं, दूसरे को ठगते हैं, बोलते कुछ हैं और करते कुछ और हैं, येन-केन प्रकारेण माया-संग्रह करते हैं, तो परिणाम क्या होगा? हम पाप की गठरी सिर पर लेते हैं। इस गठरी को हलका करनेवाला कोई नहीं है। छल-कपट किसके लिए हम करते हैं, क्यों करते हैं? जरा हम सोचें कि अपने साथ में क्या लेकर हम संसार में आये थे और क्या लेकर जाएँगे? न तो कुछ लेकर हम संसार में आये थे और न कुछ लेकर संसार से जाएँगे। येन-केन-प्रकारेण हम जो कुछ संग्रह करेंगे, सब-के-सब यहीं रह जाएँगे। इसलिए ऐसा नहीं करो।

"यह मन तो है हस्ती मस्ती, काया मिट्टी की।
साँस-साँस में नाम सुमिरि ले, अवधि घटै तन की॥"

यह मन मस्त गजराज के समान है। कब क्या कर डालेगा, कोई ठिकाना नहीं। इसपर अंकुश लगाकर रखो। संत कबीर साहब कहते हैं–

"मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधु कोइ एक॥"

मन जैसा-जैसा कहे, वैसा-वैसा मत करो; सोच-समझकर करो।

"सोच समझ बंदे मन में, क्या करना क्या करता है।
गुण के भागी आपुहिं बनता, दोष राम पर धरता है॥"

मन को सँभालकर रखो। संयमित मन सुखकर होता है। असंयमित मन दुःखकर होता है। सुख और दुःख देनेवाला हमारा मन ही है। हमारा मन ही हमारा शत्रु और हमारा मन ही हमारा मित्र है। अच्छे मार्ग पर लगा हुआ हमारा मन मित्र है और यह इतनी भलाई करता है, जितनी भलाई हमारे माता-पिता या मित्र वा गुरु जन कोई नहीं कर सकते। इसी प्रकार कुमार्ग पर लगा हुआ हमारा मन हमारी इतनी बुराई करता है–कर सकता है, जितनी बुराई हमारे दुश्मन भी नहीं कर सकते। इसलिए इस मन पर अंकुश लगाकर रखना चाहिए।

"यह मन तो है हस्ती मस्ती, काया मिट्टी की।
साँस-साँस में नाम सुमिरि ले, अवधि घटै तन की॥"

यह मन मस्त गजराज है और यह काया मिट्टी की है। कच्ची मिट्टी का घड़ा है, इसमें पानी कब तक टिकेगा? गलते देर नहीं लगेगी, समाप्त हो जाएगी। इसलिए करो क्या? तो वे कहते हैं–'साँस-साँस में नाम सुमिरि ले,' श्वास आता है और जाता है। यह जीवन जबतक है, प्रति श्वास में भजन करो।

"काया अंदर हंसा बोले, खुशियाँ कर दिल की।
जब यह हंसा निकरी जाएँगे, मिट्टी जंगल की॥"

जबतक इस काया के अंदर हंसा बोल रहा है, पक्षी बोल रहा है, तबतक इसकी कीमत है। जब यह पक्षी बोलना बंद कर देगा, तब मिट्टी-की-मिट्टी पड़ी रह जाएगी, चाहे कोई कितना ही बड़े-से-बड़ा वैभवशाली व्यक्ति क्यों न हो।

एक लड़की थी। अपने चिकित्सा कराने के

लिए भेलोर गयी। वहाँ उसके हृदय का ऑपरेशन हुआ। डॉक्टर ने कोई यंत्र लगा दिया। वह यंत्र धीरे-धीरे आवाज करता था। उस लड़की ने डॉक्टर से कहा, 'डॉक्टर साहब! भीतर में कुछ बोलता है।' डॉक्टर साहब ने कहा, 'जबतक वह बोलता है, तबतक तू बोलेगी। जब यह चुप हो जाएगा, तब तू भी चुप हो जाएगी। जबतक शरीर में प्राण है तबतक इसकी पूछ है। जिस दिन प्राण पखेरू उड़ जाएगा, कोई पूछनेवाला नहीं होगा। अभी जो इस घर के मालिक बने हुए हैं, उनका आदर होता है, सत्कार होता है, सब तरह की पूछ है। जब इस शरीर से जीव निकल जाएगा, लोग घृणा करने लग जाएँगे। संत सूरदासजी महाराज के शब्दों में –

'घर के कहत सबेरो काढ़ो, भूत होय घर खइहैं।'

जो घर का मालिक बना हुआ था, वहीं अब भूत बनकर घर को खाएगा। लोगों की दृष्टि देखिये, जीवित काल में जिस शरीर को छूकर, स्पर्श करके प्रणाम करते थे, अब वही शरीर है; किन्तु मृतक हो गया है। अब क्या होगा? घर में जबतक रहेगा, कोई खाएगा नहीं, कोई पियेगा नहीं, कोई छुएगा नहीं। क्यों? इसलिए कि वह अपवित्र हो गया। उसको यदि कोई छुएगा, तो बिना स्नान किये खाएगा नहीं। क्या हो गया, क्या था उसमें, जिससे पवित्रता थी और क्या निकल गया, जिससे अपवित्रता आ गयी? जबतक हंस है, चेतन है, तबतक पवित्र है और वह निकल गया, तो अपवित्र हो गया।

"काम क्रोध मद लोभ निवारो, याही बात असल की।
ज्ञान बैराग दया मन राखो, कहै कबीरा दिल की॥"

हमारे अंदर षट् विकार भरे पड़े हैं। इन षट् विकारों के शिकार मत होओ; इनका परिहार करो। 'काम' का अर्थ केवल अनंग ही नहीं है, 'काम' की बड़ी व्यापकता है। संत कबीर साहब ने इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है–

"काम काम सब कोइ कहै, काम न चीन्है कोय।
जेती मन की कल्पना, काम कहावै सोय॥"

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है–'कामात् क्रोधोऽभिजायते।' अर्थात् काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है। जबतक कामना पूरी होती रहती है, तबतक क्रोध नहीं आता। जैसे ही कामना में बाधा उत्पन्न हुई, पूरी नहीं हुई, अनुकूलता नहीं हुई, प्रतिकूलता हुई, वैसे क्रोध उत्पन्न हो जाता है। तो कहते हैं–काम से बचो, क्रोध से बचो, लोभ से बचो, अहंकार से बचो। लोग पद पाकर मद में आ जाते हैं। यह भी एक प्रकार का नशा है। रामचरितमानस में लिखा है–

"काम क्रोध मद लोभ ये, नाथ नरक कर पंथ।
सब परिहरि रघुवीर ही, भजहु भजहिं जेहि संत॥"

संत कबीर साहब ने तो कहा–

"मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय।
तन मद मन मद जातिमद, मायामद सब लोय॥
विद्यामद और गुनहु मद, राजमद्द उन्मद्द।
इतने मद को रद्द करै, तब पावै अनहद्द॥"

इसलिए हृदय में ज्ञान, वैराग्य और दया को धारण करो। ज्ञान में रहो; अज्ञान से बचकर रहो, हटकर रहो। ज्ञान-सम्मत काम करो; ज्ञान-सम्मत व्यवहार करो। संसार से विराग और प्रभु से अनुराग रखो। अगर संसारासक्ति रही, तो प्रभु-भक्ति नहीं होगी। जब संसार से अनासक्ति होगी, तब प्रभु में अनुरक्ति होगी और तभी शक्ति मिलेगी, जिससे भव-बंधन से मुक्ति मिलेगी। यदि हृदय में दया भाव नहीं है और कोरे ज्ञान बखान करते हो, तो परिणाम क्या होगा? सोचो। कबीर साहब कहते हैं–

"दया भाव हृदय नहीं, ज्ञान कथे बेहद।
ते नर नरकहिं जाहिंगे, पढ़ि सुनि साखी शब्द॥"

इस प्रकार अपनी वाणी द्वारा संत कबीर साहब जागतिक जन को जगत में सुखमय जीवन जीने की कला सिखाते हैं और संसार से जाने के बाद जहाँ जाएँगे, वहाँ सुख से जीवन बीते–वह भी बताते हैं। तात्पर्य यह कि हमलोगों को चाहिए कि इस जग-व्यवहार में दया, क्षमा, संतोष धारण कर सच्चाई का व्यवहार करें और झूठ, कपट, छल-चतुराई आदि दुर्गुणों से दूर रहें। साथ ही अपने जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य करें। इस भाँति भगवद्भजन करते हुए हमारा यह लोक भी कल्याणमय होगा और परलोक भी। इतना कहकर अपने प्रवचन में विराम देता हूँ।

यह प्रवचन मास-ध्यान-साधना के अवसर पर दिनांक–१६.११.१९९७, स्थान : डेहरी-ऑन-सोन में रात्रिकालीन सत्संग हुआ था।

(शान्ति-संदेश, मार्च १९९८ ई०)

९४. आप मेरे स्वामी हैं, मैं आपका सेवक

परमात्मा ने सृष्टि की है। सृष्टि विषमता में होती है; समता में नहीं। जब रज, सत् और तम; ये तीनों गुण सम रहते हैं, तब सृष्टि नहीं होती। इनमें जब विषमता होती है यानी न्यूनाधिकता होती है, तब सृष्टि होती है। इसलिए सृष्टि सदा एक-सी नहीं रहती, बदलती रहती है। संसार बदलता रहता है। संसार में हमारा शरीर भी एक समान नहीं रहता। बचपन में कैसा था, किशोरावस्था में कैसा हुआ, युवावस्था में कैसा रहता है और बुढ़ापे में कैसा हो जाता है। परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन विनाश की ओर ले जाता है। एक दिन यह शरीर विनष्ट हो जाता है।

किसी चीज को देखिये; जो चीज बनी है, एक-न-एक दिन वह बिगड़ती है। पूर्व काल में बड़े-बड़े राजा महाराज आदि हुए, आज उनका नामोनिशान नहीं है। किसी दिन जो गगनचुंबी अट्टालिका थी, आज उसका खंडहर है। किसी का वह भी नहीं है, मिट्टी बन गया है। वस्तुतः यह संसार परिवर्तनशील और विनाशी है।

संसार में हम देखते हैं कि दिन रहता है, रात भी होती है। सदा रात-ही-रात नहीं रहती, दिन भी होता है। सदा दिन-ही-दिन नहीं रहता, रात भी होती है। जिस तरह सदा दिन-ही-दिन नहीं रहता, उसी तरह सदा रात-ही-रात नहीं रहती। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होता है। जिस तरह यह परिवर्तन होता रहता है, उसी तरह सुख और दुःख में भी परिवर्तन होता रहता है। जब हमारे सामने इतिहास आते हैं अथवा पौराणिक कथाएँ आती हैं, तो पता चलता है कि सदा सबका जीवन एक-सा नहीं बीता अथवा किसी एक का भी जीवन एकरस नहीं रहा।

राजा हरिश्चन्द्र बहुत बड़े सत्यवादी थे। सत्यवादी होने के कारण आज भी उनका नाम अमर है। एक रात उन्होंने स्वप्न देखा है कि मेरे यहाँ विश्वामित्र मुनिजी आए हुए हैं और उनको मैंने अपना राज-पाट, धन-दौलत–सब कुछ दान में दे दिया है। नींद टूटने पर दूसरे दिन वे श्रीविश्वामित्र मुनि को प्रत्यक्ष अपने दरबार में देखते हैं। विश्वामित्रजी कहते हैं–'तुमने अपना राज-पाट, धन-दौलत–सब कुछ मुझे दान दे दिया है। यह धन-दौलत, राज-पाट सब मेरा है।' राजा हरिश्चन्द्र सत्यवादी थे। उन्होंने मुनिजी की बात सहज स्वीकार करते हुए कहा, 'महाराज! राज-पाट, धन-दौलत स्वीकार कीजिए।' विश्वामित्रजी ने कहा, 'कोई भी दान बिना दक्षिणा के फलीभूत नहीं होता। राजपाट, धन-दौलत तो तुमने दान में दे दी; किन्तु बिना दक्षिणा के दान किस काम का!' राजा हरिश्चन्द्र ने कहा, 'ठीक है महाराज! आपकी दक्षिणा खजाने से द्रव्य निकालकर चुका देता हूँ।' विश्वामित्र मुनि ने कहा, 'राजपाट, धन-दौलत–सब मेरा हो गया, तो खजाना तुम्हारा कैसे रह गया? सब मेरा है।' हरिश्चन्द्र कहते हैं, 'मेरे पास तो अब कुछ भी बाकी नहीं है, जो आपको दक्षिणा के रूप में दे सकूँ।' विश्वामित्र मुनिजी ने कहा, 'दक्षिणा-विहीन दान में स्वीकार नहीं करता। तुम अपनी धन-दौलत, राज-पाट सब रखो; मैं चला। इतना कहकर वे चलने लगते हैं।' बेचारे हरिश्चन्द्र क्या करते! उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, 'मुनिवर! आप दान स्वीकार करें। मैं अपने शरीर को बेचकर आपकी दक्षिणा चुका दूँगा।' हरिश्चन्द्र स्वयं, उनकी पत्नी और उसके पुत्र–ये तीनों राजपाट छोड़कर निकल जाते हैं और काशी में जाकर कहते हैं, 'कोई हमको मोल ले लो।' लेकिन उनको मोल लेनेवाला वहाँ कोई नहीं। इतने में एक डोम और एक ब्राह्मण वहाँ आते हैं। हरिश्चन्द्र ब्राह्मण के हाथ अपनी पत्नी और पुत्र को बेच देते हैं और स्वयं डोम के हाथ बिककर विश्वामित्र मुनिजी की दक्षिणा चुकाते हैं।

प्रभु की लीला विचित्र है। हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता का परीक्षण हो रहा है कि कहाँ तक ये अपने सत्य धर्म पर दृढ़ रहते हैं। हरिश्चन्द्र की पत्नी को ब्राह्मण ने पूजा के लिए फूल तोड़कर लाने का काम दिया था। हरिश्चन्द्र की पत्नी का नाम शैव्या और पुत्र का नाम रोहिताश्व था। शैव्या ने रोहिताश्व से कहा, 'बेटा! जाओ, ब्राह्मण पूजा करेंगे, फुलवाड़ी से कुछ फूल तोड़कर ले आओ।' माता की आज्ञा शिरोधार्य कर रोहिताश्व फूल तोड़ने के लिए फुलवाड़ी

जाता है। वहाँ उसको साँप डँस लेता है, वह वहीं मर जाता है। शैव्या रोहिताश्व के आने की प्रतीक्षा करती है। देर होने पर सोचती है कि अभी तक लड़का क्यों नहीं आया? बहुत देर हो रही है। उसकी खोज में वह स्वयं फुलवाड़ी जाती है। वहाँ वह देखती है कि उसका पुत्र मृत होकर पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।

विचारणीय विषय है कि जिसका राजपाट, धन-दौलत–सब कुछ चला गया हो, जिसको पति का वियोग हो–पति कहाँ हैं, पता नहीं और पुत्र की मृत्यु हो गयी हो, उस नारी बेचारी की क्या हालत हुई होगी! जिस किसी के साथ घटना घटती है, उसकी मनःस्थिति का पता उसी को चलता है। कहावत है–'विपत्ति अकेले नहीं आती, साथ में औरों को भी लाती है। विधि के विधान में व्यवधान कौन डाल सकता है! कैसी विडम्बना है! राज्यहीन, पति-वियोग और पुत्र-शोक। विपत्ति पर विपत्ति आती गयी। मानो विपत्ति का पहाड़ ही उसपर टूट पड़ा। बेचारी क्या कर सकती थी? अपने हृदय को पत्थर बना मृत पुत्र को गोद में लेकर श्मशान घाट जाती है उसकी अन्त्येष्टि क्रिया हेतु।

जिस डोम के हाथ राजा हरिश्चन्द्र बिके थे, उसने उसको काम दिया था कि श्मशानघाट पर तुम जाओ, वहीं तुम रहना, जो मुर्दा जलाने के लिए आवे, उनसे कर (Tax) लेना। बिना कर लिए लाश जलाने नहीं देना। जब शैव्या अपने मृत पुत्र को लेकर श्मशान घाट जाती है, तो देखती है कि उसके पति ही श्मशान घाट की चौकीदारी कर रहे हैं। शैव्या अपने मृत पुत्र की दाह क्रिया वहाँ करना चाहती है। हरिश्चन्द्र कहते हैं, 'लाश जलाने के लिए कर रूप में पैसे दो।' शैव्या कहती है, 'आप मुझे पहचानते नहीं, आप मेरे स्वामी हैं, मैं आपकी पत्नी हूँ और यह आपका मृत पुत्र रोहिताश्व है। आपने ही मुझे रोहिताश्व के साथ बेच दिया था। पुत्र-सहित मेरी बिक्री करके जो पैसे आपको मिले थे, उन्हें आपने विश्वामित्र मुनि को दक्षिणा के रूप में दिया था। मेरे पास अब है ही क्या, जो कर रूप में आपको दूँ। कर के पैसे कहाँ से लाऊँ?' शैव्या की बातों पर अन्यमनस्क हो हरिश्चन्द्र ध्यान नहीं देते हैं और कहते हैं, 'मेरे स्वामी का आदेश है कि बिना कर लिये लाश जलाने नहीं देना। इसलिए जबतक कर के पैसे तुम नहीं दोगी, मैं लाश जलाने नहीं दूँगा। यदि तुम्हारे पास पैसे नहीं हैं, तो कर के रूप में कफन के कपड़े ही दे दो।' शैव्या कहती है, 'मेरे पास कफन का कपड़ा भी नहीं है।' हरिश्चन्द्र कहते हैं, 'तब तुम यहाँ लाश नहीं जला सकती।' बेचारी शैव्या क्या करती, कर चुकाने के लिए अपनी साड़ी का आँचल फाड़ती है। जब साड़ी फाड़कर वह हरिश्चन्द्र को देना चाहती है, तो भगवान प्रकट हो जाते हैं और कहते हैं, 'हरिश्चन्द्र! मैं तुम्हारी सत्य की परीक्षा ले रहा था। तुमने सत्य का पालन करके परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की।' भगवान आशीर्वाद देकर रोहिताश्व को जीवित कर देते हैं और कहते हैं, 'हरिश्चन्द्र! तुम्हारा राजपाट, धन-दौलत, खजाना, सब कुछ सुरक्षित है, जाओ राज्य का सुखोपभोग करो। शरीर छूटने के बाद स्वर्ग-सुख का उपभोग करना।'

यह घटना बताती है कि इतने प्रतापी और सत्यवादी राजा को भी वह दिन देखना पड़ा, जिसकी कल्पना उन्होंने स्वप्न में भी नहीं की होगी। यह तो सत्ययुग की बात हुई, त्रेतायुग की बात सुनिये।

भगवान श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते थे। वे जब इस संसार में नररूप में आये, तो उन्होंने नर-लीला करके दिखलाया कि संसार दुःखालय है। राजा दशरथ भगवान श्रीराम को युवराजपद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे; किन्तु कैकई के कारण उनको सीता और लक्ष्मण-सहित वनगमन करना पड़ा। अयोध्या में राजा दशरथ का मरण होता है और जंगल में लंकापति रावण के द्वारा सीताजी का हरण होता है। रावण श्रीसीताजी को ले जाकर लंका की अशोक वाटिका में रखता है। वहाँ उनका कोई सहायक नहीं है। वे राजकुमारी जनकदुलारी मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम की प्राणप्यारी थी। पति-वियोग से वे दुःखी थीं। उसपर भी रावण प्रतिदिन उनको विविध भाँति के त्रास दिखलाता था। वहाँ वे अकेली थीं। कहाँ भारत और कहाँ लंका। वहाँ वे रात-दिन रोती-बिलखती हुई जीवन व्यतीत करती थीं। फिर भी अपने पातिव्रत्य धर्म पर दृढ़ रहीं। अंत में भगवान श्रीराम दुष्ट रावण का संहार कर सीताजी का उद्धार करते हैं। पश्चात् वे ही सीताजी भगवान श्रीराम के साथ पुष्पक विमान पर विचरण करती हैं। लंका से अयोध्या आने पर भगवान श्रीराम का राज्याभिषेक

होता है। सीताजी उनकी बायीं ओर विराजती हैं और राज्य-सुखोपभोग करती हैं। विधि का विधान में व्यवधान कौन डाल सकता? गर्भवती सीताजी का वनवास होता है। वहाँ उनके दुःख और क्रन्दन का क्या ठिकाना? प्रथम बार के वनवास में तो उनके पति और देवर लक्ष्मण साथ थे। इस बार कोई नहीं। वे ही देवर लक्ष्मण उनको घनघोर जंगल में पहुँचाते हैं, जहाँ उनको कोई देखनेवाला नहीं। वहाँ निराश्रिता सीताजी को महर्षि वाल्मीकि अपने आश्रम में आश्रय देते हैं। वहीं लव-कुश का जन्म होता है।

अब द्वापर युग की बात सुनिये। महाराज युधिष्ठिर को भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन होते थे। इतना ही नहीं, भगवान श्रीकृष्ण उनके सतत सत्सहायक भी थे। यदि भगवान श्रीकृष्ण नहीं होते, तो पाण्डव किस रसातल को कब चले गये होते, ठिकाना नहीं। फिर भी उन भगवान की देख-रेख में ही उनका राजपाट, धन-दौलत—सब कुछ छिन गया। यहाँ तक कि युधिष्ठिर महाराज अपनी पत्नी द्रौपदी को भी जुआ में हारकर दर-दर के भिखारी बन गये। वन-वन की उन्होंने खाक छानी। जो इतने बड़े महाराजा थे, जिनके सामने सैकड़ों नौकर-चाकर, दास-दासियाँ, सेवक आदि सेवा में हाथ जोड़े खड़े रहते थे, वे ही महाराजा युधिष्ठिर दूसरे राजा के यहाँ वेश बदलकर बेचारे बनकर जाते हैं और पराधीनता स्वीकार करके रहते हैं। जिस रानी द्रौपदी के पीछे कितनी ही दासियाँ सेवारत रहती थीं, उसी द्रौपदी को राजा विराट के अंतःपुर में दासी बनकर रहना पड़ा। सदा दुःख का समय नहीं रहता। भगवान श्रीकृष्ण की अनुकम्पा से महाराजा युधिष्ठिर को पुनः राज्य मिला और द्रौपदी महारानी हुई।

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर की घटना तो आपने सुन ली। कलियुग के लिए तो कहना ही क्या, जिसके राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था, उनको निरस्त्र ने परास्त कर दिया और उनका सूर्य अस्त हो गया। भारत की स्वतंत्रता के लिए कितने बड़े-बड़े व्यक्तियों को किस तरह के दुःख उठाने पड़े! स्वतंत्रता मिलने के बाद जब भारत का विभाजन हुआ, उस समय लोगों को कैसे-कैसे दिन देखने पड़े, कहने की आवश्यकता नहीं। जगत का ताण्डव नृत्य देखते हुए मानव-कल्याणार्थ संत सूरदासजी महाराज ने कहा—

"ताते सेइये यदुराई ।
सम्पति विपति विपति सौं सम्पति, देह धरे को यहै सुभाई ॥
तरुवर फूलै फलै परिहरै, अपने कालहिं पाई ।
सरवर नीर भरै पुनि उमड़ै, सूखे खेह उड़ाई ॥
द्वितिय चन्द्र बाढ़त ही बाढ़े, घटत घटत घटि जाई ।
सूरदास सम्पदा आपदा, जिनि कोऊ पतिआई ॥"

संत सूरदासजी महाराज ने अपनी वाणी में उपमान प्रमाण द्वारा इस विषय का प्रतिपादन किया है कि जागतिक जीवन एकरस नहीं रहता, उसमें विषमता आती है। इसलिए जागतिक किसी चीज पर विश्वास नहीं करो कि वह सदा एकरस रहेगी। देखो, जैसे सम्पत्ति आती है, वैसे ही विपत्ति भी आती है। सम्पत्ति सदा रहती नहीं, चली जाती है; वैसे ही विपत्ति भी आती है, सदा रहती नहीं, चली जाती है। इस प्रकार परिवर्तन होता रहता है। जैसे समय पाकर वृक्ष फूलता और फलता है, वह फल-फूल से लदा वृक्ष देखने में बहुत सुन्दर लगता है। उससे दूसरों को उपकार भी होता है; लेकिन फल-फूल से लदा वह सुन्दर वृक्ष सदा एक-सा रहता नहीं; पतझड़ हो जाता है। पहले फूल झड़ जाते हैं, फल रहते हैं; किन्तु पीछे वे फल भी झड़ जाते हैं। समय आता है, नव पल्लव निकलते हैं, फिर फूल लगते हैं और फल भी लगते हैं। इस प्रकार वृक्ष के जीवन में फल-फूल लगते और झड़ते रहते हैं। इसी प्रकार मानव-जीवन में सम्पत्ति और विपत्ति आती-जाती रहती है। इसलिए इसकी चिंता नहीं करो, प्रभु की भक्ति करो। पुनः कहते हैं कि जब श्रावण-भादो के महीने आते हैं, तो छोटी नदी भी जल भरकर उमड़कर इठलाती हुई चलती है। जब वैशाख और जेठ के महीने आते हैं, तो उसी नदी में धूल उड़ने लग जाती है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा में पूरा हो जाता है। सारी रात प्रकाशपूर्ण रहती है; लेकिन वह पूर्णमासी का चन्द्रमा सदा नहीं रहता। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से शनैः शनैः घटना आरंभ होता है और घटते-घटते एक दिन अमावस्या की रात आ जाती है और सारी रात अंधकारमय हो जाती है। इस प्रकार देखा जाता है कि जहाँ पूर्णिमा की रात में सारी रात प्रकाश-ही-प्रकाश रहता है, वहाँ अमावस्या की रात में अंधकार-ही-अंधकार हो जाता है।

इसी भाँति मानव-जीवन में अंधकार और प्रकाश, सुख और दुःख, हानि और लाभ आते-जाते ही रहते हैं। जिस तरह सुख और दुःख आते-जाते रहते हैं, उसी तरह सम्पत्ति और विपत्ति आती-जाती रहती है, इसका विश्वास नहीं करो। सम्पत्ति आने पर विलासी मत बनो और विपत्ति आने पर उदासी मत लाओ। प्रभु-विश्वासी बनकर रहो। जागतिक पद, पैसे, प्रतिष्ठा, वस्तु, व्यक्ति आदि सभी आने-जानेवाले हैं। एक परम प्रभु परमात्मा ही हैं, जो न कभी आता है, न जाता है, सतत एकरस रहता है, उसका भजन करो। उस परम प्रभु परमात्मा की प्राप्ति में दुःख तो होता ही नहीं, सुख-ही-सुख होता है और निरंतर बना रहता है। एक बार मिलने के बाद फिर कभी बिछुड़न नहीं होती। जागतिक जितने संबंध हैं, सब मिलने और बिछुड़नेवाले हैं। जो जुड़ता है, वह टूटता है. जो मिलता है, वह बिछुड़ता है। प्रभु से एक बार मेल हो जाने के बाद फिर कभी बेमेल होने का प्रश्न नहीं उठता। एक बार उनसे योग हो जाने के बाद फिर उनसे कभी वियोग होने की संभावना ही नहीं रहती अर्थात् वियोग होता ही नहीं।

उस प्रभु की भक्ति करने के लिए घर-वार, रोजगार, परिवार, छोड़ने की जरूरत नहीं। घर, वार, रोजगार और परिवार में रहिये और भजन कीजिये। जैसे अपने दैनन्दिन कार्य समय बाँट-बाँटकर करते हैं, उसी तरह दैनन्दिन कार्यों में भगवद्भजन को भी जोड़ दीजिये और समय-समय पर कीजिए। संत चरणदासजी के वचन में आया है–

"दिन को हरि सुमिरन करो, रैनि जागि कर ध्यान।
भूख राखि भोजन करो, तजि सोवन को बान॥
चारि पहर नहिं जगि सकै, आधि रात सूँ जाग।
ध्यान करो जप हीं करो, भजन करन कूँ लाग॥
जो नहिं सरधा दोपहर, पिछले पहरे चेत।
उठ बैठो रटना रटो, प्रभु सूँ लावहु हेत॥
जागै ना पिछले पहर, करै न गुरु मत जाप।
मुँह फारे सोवत रहै, ताकूँ लागै पाप॥"

संत चरणदासजी महाराज कहते हैं–दिन में काम-धंधे में लगे रहते हुए मन से प्रभु का नाम लेते रहो तथा रात में जगकर ध्यान करो। लेकिन रात में जगकर ध्यान कौन कर सकते हैं? खूब ठूँस-ठूँसकर भोजन करने से पड़े रहने का मन करेगा, इसलिए संत चरणदासजी महाराज कहते हैं–'भूख राखि भोजन करो' पुनः उन संत के मन में होता है कि दिन-भर कार्य करने के कारण थके रहने से लोग चार पहर जग नहीं सकेंगे, तब कहते हैं–'आधी रात सूँ जाग।' फिर मन में सोचते हैं–आदमी सारा दिन तो जागता ही है और रात का एक पहर खाने-पीने में ही बीत जाता है। फिर एक पहर ही बचता है, उसमें पूरा आराम नहीं ले सकेगा। तो कहते हैं–

'जो नहिं सरधा दोपहर, पिछले पहरे चेत।'

संत कितने दयालु होते हैं, वे कहते हैं–चार पहर नहीं जग सको, तो दो पहर जगो। दो पहर भी नहीं जग सकते हो, तो चौथे पहर में जगो। उस चौथे पहर को कहते हैं–ब्रह्ममुहूर्त अर्थात् ब्रह्मचिंतन का समय। इस समय मस्तिष्क शांत रहता है। चतुर्दिक वातावरण शांत रहता है। दिन भर की जो थकावट होती है, वह सो जाने पर दूर हो जाती है। शरीर स्वस्थ एवं हलका मालूम होता है। यदि उस समय शौचादि की आदत हो, तो उनसे निवृत्त होकर कुल्ली कर लो; हाथ-पैर-मुँह धो लो। आँख धो लो। आलस्य छूट जाएगा। उस समय बैठकर गुरु की बतायी विधि से ध्यानाभ्यास करो। प्रभु का नाम लो। प्रभु का स्मरण करो। पहले मानस जप करो, फिर मानस ध्यान करो। तत्पश्चात् सूक्ष्म ध्यान में दृष्टियोग और नादानुसंधान करो। जिसको जैसी जानकारी है, उनके अनुकूल करो। इसके पश्चात् संत चरणदासजी महाराज कहते हैं–

"जागै ना पिछले पहर, करै न गुरु मत जाप।
मुँह फारे सोवत रहै, ताकूँ लागै पाप॥"

ये रात्रि के चौथे पहर जगकर भगवद्भजन करने का आदेश देते हैं। अगर इसमें जाकर भजन नहीं करते हैं, तो पाप लगेगा। पाप का फल दुःखमय होता है। दुःख में कोई जाना व रहना चाहता नहीं। सब-के-सब सुख चाहते हैं। इसलिए चाहिए कि पाप नहीं करें। बैठकर भजन करें। प्रभु-चिंतन करें। हमारे यहाँ वैदिक धर्म में त्रिकाल संध्या है। ब्रह्ममुहूर्त में करें, दिन में स्नान के बाद करें और सायं काल करें।

यही त्रिकाल संध्या है। इससे हमारा यह लोक बनेगा और परलोक भी बनेगा। दुनियादारी का काम जीवन-यापन के लिए है, वह भी करना है और शरीर छूटने के बाद भी हमारा जीवन सुखमय हो, इसके लिए भगवद्भजन करना है। इस तरह यह लोक भी बनेगा और परलोक भी बनेगा। दोनों जगह हमारा जीवन सुखमय होगा।

यह प्रवचन दिनांक–२.१.१९९८ ई० स्थान : रानेश्वर दुमका में अपराह्णकालीन सत्संग में हुआ था। (शान्ति-संदेश, मार्च २००३ ई०)

९५. निर्वाण दिवस की वेला

समादरणीय साधकवृन्द, सत्संगियो, माताओ एवं देवियो

यह कोई उल्लास की वेला नहीं है, यह तो निराशा की वेला है। १९८६ ई० में ८ जून को गुरु महाराज ने अपने पावन शरीर का त्याग किया था। इसी की स्मृति में प्रत्येक वर्ष परिनिर्वाण-दिवस का कार्यक्रम रखा जाता है।

हमलोगों ने देखा है कि जहाँ शुक्लपक्ष का चंद्रोदय होता है, वहीं शुक्लपक्ष के सूर्य का अस्त होता है। गुरु महाराज हमलोगों को कृष्णपक्ष में नहीं छोड़ गए, शुक्लपक्ष में छोड़ गए। गुरुदेव चले गए, तो चले ही नहीं गए, आश्वासन देकर गए हैं कि वे आएँगे भी।

पूर्व की बात है। गुरुदेव अस्वस्थ थे। भागलपुर शहर के एक बड़े अच्छे डॉक्टर रामबदन बाबू महीने में एक बार उन्हें आकर इंजेक्शन लगा जाते थे। डॉक्टर साहब परमपूज्य गुरुदेव के प्रति बहुत श्रद्धावान थे और संतमत में भी आस्था रखते थे। जब समय हो जाता, तो वे अपने पैसे से इंजेक्शन खरीदकर स्वयं चले आते और इंजेक्शन लगा जाते थे। नि:शुल्क सेवा करते थे। एक दिन गुरुदेव कुछ कह रहे थे और श्रद्धालुजन उनकी बातों को सुन रहे थे। मैं गुरुदेव के पास में बैठा हुआ था। बातचीत के क्रम में उन्होंने कहा कि 'इस बार रामबदन बाबू मुझको इंजेक्शन नहीं लगा सकेंगे।' मैंने कहा कि वे तो बड़े पक्के डॉक्टर हैं, वचन के भी बड़े पक्के हैं, बिना कहे-सुने समय पर आकर स्वयं इंजेक्शन लगा देते हैं। इस बार क्यों नहीं दे सकेंगे? गुरुदेव ने कहने की कृपा की–'देखिये! आप और मैं दोनों एक ही जगह रहते हैं। मुझको इस बात की जानकारी है कि वे नहीं आएँगे; लेकिन आपको इस बात की जानकारी नहीं है।' मैंने कहा कि गुरुदेव! आपने इतनी बड़ी साधना की है, तपस्या की है, हुजूर नहीं जानेंगे तो मैं जानूँगा? इसपर परमाराध्य ने कहा–'हाँ, मेरी जैसी साधना तो आपने नहीं की है; लेकिन आपने मेरी बड़ी सेवा की है। मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ, वरदान देता हूँ कि जहाँ कहीं मैं रहूँगा, आप वहाँ रहेंगे।' (श्रोताओं द्वारा सद्गुरु महाराज का जय-घोष) मैंने कहा–'गुरुदेव यह कैसे संभव है? एक-न-एक दिन तो शरीर का त्याग होना ही है। जबतक हमलोग इस शरीर में हैं, तबतक तो गुरुदेव अपने पास रखेंगे ही; लेकिन जब मेरा शरीर छूटेगा या गुरुदेव का शरीर छूटेगा, तो फिर हमदोनों के एक साथ कैसे रहेंगे?' गुरुदेव ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया–'मैं जाऊँगा, तो फिर आऊँगा और आपको साथ में लेकर जाऊँगा।' (सद्गुरु महाराज का जय-घोष)

हमलोगों के बीच एक बड़े अच्छे महात्मा थे श्रीधर बाबा। एक बार वे बीमार हो गए। उन्होंने एलोपैथिक, होम्योपैथिक, आयुर्वेदिक, प्राकृतिक सभी तरह की चिकित्साएँ करवायीं; लेकिन वे रोग से मुक्त नहीं हुए। भागलपुर आकर कुछ दिन रहे और पुन: इलाज करवाने के लिए पटना जाना चाह रहे थे। मैं उनको बहुत आदर देता था। वे भी मुझे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। पटना जाने की बात गुरु महाराज से स्वयं नहीं कही। उन्होंने मुझसे कहा कि आप मेरी ओर से गुरु महाराज से निवेदन कीजिए कि मुझे उनका आशीर्वाद मिले और मैं पटना से इलाज के बाद रोग मुक्त होकर लौटूँ। मैंने सोचा, मेरा काम है प्रार्थना करना, आशीर्वाद देना या न देना उनका काम है। मैं गुरु महाराज के पास गया और उनके श्रीचरणों में प्रणाम किया। गुरु महाराज ने पूछा–'की बात छियै?' (क्या बात है?) मैंने कहा–'हुजूर! श्रीधर बाबा के मऽन खराब छै। सब तरहक इलाज करा कऽ

थकि गेलाह, स्वस्थ नहि भेलाह। आब इलाज करेबाक वास्ते पटना जाइ छथि। आपनऽ सँ आशीर्वाद चाहैत छथि जे ओतय सँ रोगमुक्त भै कऽ आबी।' (हुजूर! श्रीधर बाबा की तबीयत खराब है। सब तरह का इलाज करवाकर थक गए, पर स्वस्थ नहीं हुए। अब इलाज कराने के लिए पटना जाना चाहते हैं। आपसे आशीर्वाद चाहते हैं कि वहाँ से रोगमुक्त होकर आवें)

गुरु महाराज उत्तर देते हैं–'पटना जाअथ से हम आशीर्वाद दैत छियैन। लेकिन रोगमुक्त होयब, ई आशीर्वाद नहिं दैत छियैन। (पटना जाएँ, इसके लिए आशीर्वाद देता हूँ, पर रोगमुक्त होइयेगा, यह आशीर्वाद नहीं देता हूँ।)

यह सुन श्रीधर बाबा के मन में थोड़ी तकलीफ हुई, कष्ट हुआ कि आशा लेकर आए थे, गुरु महाराज से आशीर्वाद मिलेगा, पर निराशा ही हाथ लगी। वे रोने लगे। मैंने श्रीधर बाबा से कहा कि इसमें निराश होने की कोई बात नहीं है। गुरु महाराज जो कुछ करते हैं, हमलोगों की भलाई के लिए ही करते हैं। बाबा! जो रोग होता है, वह तो दवाई से ही समाप्त हो जाता है, पर जो भोग होता है, दवाई से नहीं छूटता। भोग को तो भोग करके ही छोड़ना पड़ता है। गुरु महाराज ने यह सोचकर कि आशीर्वाद देने से भोग टल जाएगा, तो फिर अगला जन्म में भोगना ही पड़ेगा, आपको आशीर्वाद नहीं दिया। गुरु महाराज इसी जन्म में भोग को भोगकर समाप्त कर देना चाहते हैं, ताकि हमलोगों को अगले जन्म में नीरोगी शरीर मिले। गुरु महाराज जाएँगे तो फिर आएँगे ही और हमलोग निरोगी सेवक बनकर उनकी सेवा करेंगे।' इन बातों से उन्हें थोड़ी तसल्ली हुई।

गुरु महाराज ने जो हमलोगों को ज्ञान दिया है उस ज्ञान का सम्मान करें, सम्मान करने का मतलब है कि इस ज्ञान को हमलोग अपने में उतारें। हम सब का कल्याण होगा।●

यह प्रवचन महर्षि मँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट भागलपुर में महर्षि मँहीँ- महापरिनिर्वाण-दिवस के अवसर पर दिनांक १६.०६. १९९९ ई० को हुआ था।

९६. पारगमन ही सार भगति है

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द आदरणीया माताओ एवं भक्तिमती बहनो!

अभी आपलोग जेल की कथा सुन रहे थे। हमलोग भी जेल में हैं। वह जेल क्या है? जेल का बहुत बड़ा अहाता होता है। उस अहाते के अन्दर बहुत-से कमरे होते हैं। एक-एक कमरे में एक-एक कैदी रहता है। उसी तरह यह विश्व ब्रह्माण्ड एक कारागार है और हमलोगों का एक-एक शरीर एक-एक कमरा है। उस एक-एक कमरे में एक-एक जीव कैदी की तरह रह रहा है। जब कैदी कैद में हो, तो वह सुखानुभव कैसे कर सकता है? परतंत्रता में दुःख तो स्वाभाविक है। जो कथा आपने सुनी, उसमें तो कैदी की अवधि पूरी हो गई थी; लेकिन हमलोगों के जेल की अवधि कब पूरी होगी, कोई ठिकाना नहीं है! जबतक साधना नहीं करेंगे, तबतक पूर्ण होनेवाली भी नहीं है। इसीलिए हमारे गुरुदेव के वचन में आया है–

आओ वीरो मर्द बनो अब, जेल तुम्हें तजना होगा।
मन निग्रह के समर क्षेत्र में, सन्मुख थिर डटना होगा।।

इस शरीररूप जेल को छोड़ो, कारागार से निकलो। इस कारागार से निकलने के लिए क्या करना होगा? आप जितने साधकगण एकत्र हुए हैं, मन-निग्रह के समर क्षेत्र में साधना करने के लिए उपस्थित हुए हैं। अब हटना नहीं होगा, डटना होगा।

हमलोग साधना में सफलता चाहते हैं। एक कृषक खेती में सफलता चाहता है, व्यापारी व्यापार में सफलता चाहता है, विद्यार्थी पढ़ाई में सफलता चाहता है, युद्ध के मैदान में डटा हुआ एक फौजी एवं सिपाही भी सफलता चाहता है। जो कोई भी कुछ काम करते हैं, उसमें वे सफलता चाहते हैं। लेकिन यह सफलता मिलेगी कब? भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि इसके लिए पाँच चीजों की आवश्यकता होती है–(१) कर्ता, (२) क्षेत्र, (३) साधना, (४) कार्यान्वयन और (५) अज्ञात।

कर्ता सुयोग्य हो, क्षेत्र अनुकूल हो, तब तो ठीक है। अगर कर्ता अयोग्य हो और क्षेत्र अनुकूल हो, तो सफलता नहीं मिलेगी। कर्ता योग्य हो और क्षेत्र अनुकूल नहीं हो, तो सफलता नहीं मिलेगी। कर्ता योग्य हो और क्षेत्र अनुकूल हो, पर उसके पास साध

न ही नहीं हो, तो भी सफलता नहीं मिलेगी। अगर वह साधना सम्पन्न भी हो; लेकिन समुचित ढंग से कार्यान्वयन नहीं कर रहा हो, तब भी सफलता नहीं मिलेगी। कर्ता सुयोग्य हो, क्षेत्र अनुकूल हो, साधन सम्पन्न हो और कौशल से कार्यान्वयन कर रहा हो; ये चार चीजें जब एकत्रित हो जाती हैं, तो पाँचवीं चीज है–अज्ञात अर्थात् प्रभु-कृपा, वह मिल जाती है। गोस्वामीजी ने कहा–

जो तेहि पंथ चलइ मन लाई ।
तो हरि काहे न होहि सहाई ।।

जैसे दूध को हमलोग औंटते हैं, तो औंटते-औंटते हम उसका खोआ भले ही बना लें, पर दही नहीं बना सकते। दही तभी बना सकते हैं, जब दूध में थोड़ा जामन पड़ेगा। उसी तरह हम कितना भी कुछ कर लें, जबतक गुरु-कृपा-रूप जामन उसमें नहीं आएगा, तबतक दही नहीं जमेगा, साधना में सफलता नहीं मिलेगी। आप साधकगण घर-वार, परिवार, रोजगार–सब छोड़कर यहाँ आए हैं। आपलोगों को सारा समय इसमें ही लगाना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि कहीं दूसरी जगह मन का योग न हो। मन भागता है, समेटिए।

जहँ जहँ मन भगि जाय, ताहि तहँ-तहँ से तत्क्षण ।
फेरि फेरि ले आइ, लगाइय ध्येय में आपन ।।

–महर्षि मेँहीँ-पदावली

साधना में सफलता के लिए श्रम और धैर्य की भी आवश्यकता होती है। किसी पत्थर को टुकड़ा करना है। हम उस पत्थर पर चोट दे रहे हैं, पर नहीं टूट रहा है। वह पत्थर तब टूटेगा, जब उसमें १०० चोट लगेगी। २-४-१०-२० चोट देते हैं, नहीं टूटता है। देते-देते ८०-९० चोट देते हैं, सोचते हैं कि कहाँ टूट रहा है? आप ९९ चोट दे चुके, तब भी नहीं टूट रहा है। अब निराशा होती है कि यह हमसे नहीं टूटेगा। लेकिन अब वह केवल एक चोट खोज रहा है। जैसे ही हम एक चोट और मारते हैं कि फट से पत्थर दो टुकड़ा हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि आपने जो ९९ चोट दी, वह व्यर्थ गया। अगर ९९ चोट नहीं देते, तो सौवीं चोट लगती कैसे? इसलिए वह ९९ चोट भी ठीक ही पड़ी। इसी तरह साधना करते रहिए, तिल दरवाजा टूटेगा और हम प्रकाश में जाएँगे। गुरु महाराज कहते हैं–

तिल दरवाजा टुटै, नजर के जोर से।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' लगै टकटकी खूब जोर बरजोर से ।।

जबतक जोर और बरजोर नहीं करेंगे, तिल दरवाजा कैसे टूटेगा? ईसा मसीह ने कहा है–'खटखटाओ खुलेगा, माँगो मिलेगा।' उसी दरवाजा को खटखटाना है। खटखटाते रहने से कभी-न-कभी खुलेगा अवश्य।

हमारे ध्यानाभ्यास में आलस्य और गुणावन–ये दो बड़े विघ्न हैं। सबसे पहली बात है कि हम बैठने के लिए सीखें। जबतक हम ठीक तरह से बैठने के लिए नहीं सीखेंगे, हमारी आगे की प्रगति नहीं हो सकती है। रामचरितमानस में लिखा है–

गिरि सुमेरु उत्तर दिशि दूरी ।
नील सैल एक सुन्दर भूरी ।।
तहँ बसि हरिहिं भजहिं जिमि कागा ।
सो सुनु उमा सहित अनुरागा ।।

सुमेरु पर्वत के उत्तर नीलगिरि पर्वत पर कागभुशुण्डिजी रहते थे। वह सुमेरु कहाँ है? आपकी पीठ की रीढ़ जो है, वही है सुमेरु। इसी के उत्तर यानी ऊपर में आँख बंद करके देखिए, अंधकार है। इस नीलगिरि में हमारा मन कागभुशुण्डि–कौआ बना हुआ है। गोस्वामीजी ने लिखा है–

वायस पालिअहि अति अनुरागा ।
होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ।।

जिस तरह सुग्गे को लोग पिंजड़े में पालते हैं, उसी तरह कौआ को पिंजड़ा में पालिए और बढ़िया-बढ़िया भोजन, खीर-मिठाई खिलाइए; लेकिन जब उसे पिंजड़ा से निकाल दीजिए, तो वह कौआ खराब चीजों पर ही चोंच लगाएगा। उसी तरह हमारा मन इस शरीर-रूप पिंजड़ा में बंद तो है; लेकिन जब उड़ता है, तो खराब चीजों पर ही बैठता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कहा–'जबतक हम साधना नहीं करेंगे, हमारा मन पवित्र नहीं होगा।' बोलने के लिए हम लंबा-लंबा लेक्चर, बड़ा-बड़ा व्याख्यान दे सकते हैं; लेकिन हमारा मन बार-बार कहाँ जाता है? परमहंसजी ने कहा कि आप देखते हैं, गिद्ध और चील आकाश में सबसे ऊपर उड़ता है; लेकिन उतनी ऊँचाई पर उड़ने पर भी उसकी नजर लाश पर रहती है। जहाँ कहीं लाश देख लिया, चील और गिद्ध आकर बैठ जाते हैं। उसी तरह लंबी-लंबी

बातें हम कितनी भी क्यों न कहें; लेकिन अगर साधना से हमारा मन परिमार्जित नहीं है, तो वह विषय-रूपी लाश पर ही जाएगा। उस ओर से हम अपने मन को हटाएँ, तभी भगवद्-भजन बनेगा। संत कबीर साहब की वाणी है–

पहले यह मन काग था, करता जीवन घात ।
अब तो हंसा हुआ, मोती चुगि चुगि खात ।।

कागभुशुण्डि ने कौन-सी साधना की कि काग से हंस बन गए–इतने बड़े संत हो गए? परम पूज्य गुरुदेव ने जो साधना आपलोगों को बतलाई है, वही साधना वे भी करते थे। मनोयोगपूर्वक करते थे; करते-करते इतने बड़े हो गए कि भगवान शंकर भी उनके सत्संग में जाते थे।

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई ।
जाप यज्ञ पाकरि तर करई ।।
आम छाँह कर मानस पूजा ।
तजि हरि भजन काज नहिं दूजा ।।
बटतर कह हरि कथा प्रसंगा ।
आवहिं सुनहिं अनेक विहंगा ।।

कागभुशुण्डि पाकड़ वृक्ष के नीचे जप-रूपी यज्ञ करते थे। आपलोग भी मानस जप करते हैं। जप अगर ठीक-ठीक हो, तो शास्त्र कहता है–'जपात् सिद्धिः।' जप में भी सिद्धि हो जाती है। कागभुशुण्डिजी कहते थे–'आम छाँह कर मानस पूजा।' मानस जाप के बाद आपलोग भी मानस ध्यान करते हैं; लेकिन एकाग्रतापूर्वक कीजिए। जबतक एकाग्रतापूर्वक जाप नहीं हो जाता, तो मानस ध्यान क्या होगा? जाप ऐसा चाहिए कि जाप और आपके बीच कुछ नहीं रहे। इतने दिनों से हमलोग मानस जाप, मानस ध्यान और दृष्टियोग कर रहे हैं। विचार करें कि कहाँ तक पहुँचे हैं? अगर प्रगति नहीं हुई, तो क्यों? हमारी नींव मजबूत नहीं है। पहले हमलोग नींव को मजबूत करें। पहले इतना जप करें, उसी में इतना समय लगावें कि नींव मजबूत हो जाए, तब आगे बढ़ें। ऐसा नहीं होना चाहिए कि इतनी देर मानस जप, इतनी देर मानस ध्यान और इतनी देर दृष्टियोग करना है।

गुरु जाप मानस ध्यान मानस, कीजिए दृढ़ साधकर ।
इनका प्रथम अभ्यास कर, स्रुत शुद्ध करना चाहिए ।।

आजकल वर्षा के कारण गंगा का पानी बहुत गंदा हो गया है। अपनी परछाईं उसमें दिखलाई नहीं पड़ती है। जब पानी साफ हो जाएगा, तो उसमें हम अपनी परछाईं देख सकेंगे। उसी तरह जबतक हमारा मन अपवित्र है, जबतक गुरु का शुद्ध रूप हमारे अंदर नहीं आ रहा है; हमारा मानस ध्यान ठीक-ठीक नहीं बन रहा है। शुद्ध मन में ही प्रभु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिए जाप ठीक-ठीक होने पर जब मानस ध्यान करेंगे, तो सुरत निर्मल हो जाएगी और तब विन्दु का ज्ञान होगा। महर्षि मेँहीँ-पदावली में आप पढ़ते होंगे–

प्रथमहि धारो गुरु को ध्यान ।
हो स्रुति निर्मल हो विन्दु ज्ञान ।।

जब हमारा मानस जाप ठीक नहीं हुआ, मानस ध्यान ठीक नहीं हुआ, फिर हमारा दृष्टियोग कैसे बनेगा? जबतक मोटे-मोटे अक्षरों को लिखने का अभ्यास हम नहीं करें, तबतक महीन अक्षरों को लिखने की योग्यता कैसे होगी? मोटे-मोटे अक्षरों को जब लिखने में अभ्यस्त हो जाएँगे, तब महीन अक्षर भी लिख सकेंगे। उसी तरह मानस जप और मानस ध्यान के ठीक अभ्यास के बाद ही विन्दु-ध्यान संभव है। यह विन्दु-ज्ञान कैसे होगा?

दोउ नैना बिच सन्मुख देख ।
इक विन्दु मिलै दृष्टि दोउ रेख ।।

दृष्टि की दोनों धारें–दोनों रेखाएँ जहाँ मिलेंगी, वहाँ विन्दु उत्पन्न होगा। जब विन्दु उत्पन्न होगा, तो मन का पूर्ण सिमटाव होगा।

शरीर और संसार में बड़ा संबंध है। शरीर के जितने तल हैं, संसार के भी उतने ही तल हैं। शरीर के जिस तल पर जब हम रहते हैं, संसार के भी उसी तल पर तब हम रहते हैं। शरीर के जिस तल को जब हम छोड़ते हैं, संसार के भी उसी तल को तब हम छोड़ते हैं। स्थूल-सूक्ष्म की संधि पर स्थित विन्दु पर जब कोई पूर्ण सिमटाव करके बैठ जाता है, तो यह पिण्ड छूट जाता है। पिण्डदान करने से बड़ा पुण्य होता है। लोग पिण्डदान करने के लिए तीर्थ में जाते हैं, पर वास्तविक पिण्ड दान तो यह है। शरीर को पिण्ड कहते हैं और दृष्टि साधन करके उस विन्दु से जाकर जुड़ गए, तो पिण्ड का ज्ञान नहीं रहता है, यही पिण्डदान हो गया। इस पूर्ण सिमटाव में ऊर्ध्वगति होती है। पिण्ड से लोग ब्रह्मांड में जाते हैं। स्थूल शरीर का भान नहीं रहता, स्थूल संसार का भी भान नहीं रहता। स्थूल शरीर से

हम छूट गए, स्थूल संसार से भी छूट गए। स्थूल से सूक्ष्म में जाने पर वहाँ विविध शब्द होते हैं, उनको अनहद शब्द कहते हैं यानी जिसकी गणना की हद या सीमा नहीं है। फिर–

अनहद में धुन सत लौ लाय ।
भव जल तरिबो यही उपाय ।।

अनहद ध्वनि में अनेक प्रकार के शब्द हैं। उन शब्दों में सत्शब्द को पकड़ना है। हमारे गुरुदेव के वचन में आया है–

सत शब्द धर कर चल मिलन आवरण सारे पार में ।

वह सत्शब्द सबसे पीछे मिलता है। पहले अनहद ध्वनि मिलती है। उसको पकड़कर आगे बढ़ते हैं, तो कारण शरीर छूट जाता है, कारण संसार छूट जाता है। फिर महाकारण शरीर छूट जाता है, महाकारण संसार छूट जाता है। जो सत्ध्वनि को पकड़ लेते हैं, तो स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण; ये चारो जड़ावरण छूट जाते हैं। तब 'चेतन चोला बना अमोला'–उस चेतन चोला में प्रवेश कर जाते हैं। जड़मंडल से चेतनमंडल में प्रवेश कर जाते हैं। वह शब्द कहाँ से आया है? वह परम प्रभु परमात्मा से आया हुआ शब्द है। शब्द में अपने केन्द्र की ओर खींचने का गुण होता है। उस आदिशब्द को पकड़ेंगे, तो परम प्रभु परमात्मा तक जाएँगे। "स्थूल सूक्ष्म कारण महाकारण कैवल्यहु के पार"; इन सबको पार करके जीव पीव मिलकर एक हो जाएगा। तब–'पार गमन ही सार भक्ति है, लो यहि हिय में धार।' यही तो असली भक्ति है। इसी के लिए गुरु महाराज का उपदेश है–

मन निग्रह के समर क्षेत्र में, सन्मुख थिर डटना होगा।।
वक्त नहीं है ऐ वीरो अब, गाफिल होकर सोने का ।
विन्दु राह से निकल बहादुर, तम मंडल टपना होगा।।

रास्ता वही है, छेद वही है; लेकिन उस छेद का भेद गुरु ही बतलाएँगे। जब उनकी कृपा होगी, तभी उस भेद को जानकर हम साधना के द्वारा स्थूल शरीर और संसार से बाहर निकल सकते हैं, उस पार जा सकते हैं। जब स्थूल से पार हो जाएँगे, तब–

दामिनि दमकै चंदा चमकै, सूर्य तपै जोति मंडल ।
इस मंडल से आगे वीरो, और तुम्हें बढ़ना होगा ।।
शब्द मंडल में सार शब्द ध्वनि, गुरुगम होकर धर लेना ।
जगत जेल को इसी युक्ति से, सुन 'मेँहीँ' तजना होगा ।।

संसार-रूपी जो जेल है, कारागार है, वह तभी छूटेगा, जब सारशब्द को पकड़ लेंगे।

इसी के लिए आप साधकगण यत्र-तत्र से एकत्र हुए हैं, घर-द्वार छोड़कर यहाँ आए हैं। यहाँ आकर भी अगर वही बातें करते हैं, तो दुनियादारी छूटी कहाँ? 'आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास।' इसलिए मन को चंचल नहीं कीजिए। मनोयोगपूर्वक साधना कीजिए। किसी से बातें कीजिए, तो ज्ञान-ध्यान की ही बातें कीजिए। अपने को इस तरह के वातावरण में रखिएगा, तो ध्यान में बल मिलेगा। बस, इतना कहकर मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ। ❐

पूज्यपाद महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन मास-ध्यान-साधना के अवसर पर महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में दिनांक २७.०६. १९९९ ई० के सत्संग में हुआ था।

९७.पाचो कुतिया मिल गई, पहरा किसका होय

गो० तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में लिखा है–भगवान श्रीराम ने अपनी प्रजा को उपदेश देते हुए कहा था कि यह सुर-दुर्लभ मनुष्य-शरीर भाग से मिलता है।

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।।
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा।।
कबहुँक करि करुना न देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही।।

'आकर' का अर्थ है–खानि। 'आकर चारि' अर्थात् चार खानियाँ। वे हैं–अंडज, पिंडज, उष्मज और अंकुरज (स्थावर)। अंडा से उत्पन्न होनेवाले अंडज कहलाते हैं; जैसे–चिड़िया, चींटी आदि। पेट से, पिंड–शरीर से उत्पन्न होनेवाले जीव पिंडज कहलाते हैं; जैसे–गाय, बकरी, कुत्ता आदि। गर्मी से पैदा होनेवाले जूँ, खटमल आदि उष्मज और अंकुर से उत्पन्न होनेवाले पेड़-पौधे आदि अकुंरज कहलाते हैं।

इन चार खानियों में चौरासी लाख प्रकार की योनियाँ हैं। ये चौरासी लाख प्रकार की योनियाँ क्या हैं? गोया चौरासी लाख प्रकार के वस्त्र या पोशाक हैं। जिस तरह किसी रंगमंच पर अभिनय के लिए विविध पोशाकों में अभिनयकर्ताओं को भेजा जाता है, उसी तरह इस संसाररूपी रंगमंच पर अभिनय करने के लिए परमात्मा ने जीव को चौरासी लाख प्रकार की योनियों में भेजा है।

आपलोगों ने टेलीविजन पर रामायण धारा-वाहिक देखा होगा। उसमें राम, लक्ष्मण, सीता, अंगद, हनुमान, रावण, मेघनाद आदि विभिन्न प्रकार के पात्र दिखलाये गये हैं। अभिनयकर्ता अपने वेश के अनुरूप ही अपना खेल दिखलाते हैं। जो राम का खेल है, वह हनुमान दिखलाने लगे; जो हनुमान का खेल है, वह रावण दिखलाने लगे–यह समुचित नहीं होगा। बंदर, भालू, देव, दानव, जो जिस वेश में है, वह तदनुरूप खेल दिखावे, यही युक्ति संगत है। 'जस काछिय तस चाहिए नाचा।' जिस तरह का जिसका वेश है, उसके अनुरूप ही कार्य होना चाहिए।

चार खानियों में पिंडज को श्रेष्ठ माना गया है और पिंडजों में मनुष्य-शरीर सर्वश्रेष्ठ है। हमलोगों को मनुष्य-शरीर के रूप में सर्वोपरि पोशाक मिला है, देव-दुर्लभ शरीर मिला है। इसलिए हमलोगों को पोशाक के अनुरूप ही सर्वोत्तम खेल प्रदर्शित करना चाहिए। राजा के अधीन प्रजा होती है, प्रजा के अधीन राजा नहीं होते। हमारा यह शरीर साम्राज्य है, इन्द्रियाँ हमारी प्रजाएँ हैं और हम जीवात्मा इस साम्राज्य के राजा हैं। हम अच्छी तरह सोचकर देखें कि हम ठीक राजा हैं या नहीं। राजा के अधीन प्रजा होनी चाहिए, तो हमारी इन्द्रियाँ हमारे अधीन हैं या नहीं। अगर हमारी इन्द्रियाँ हमारे अधीन हैं, तब तो हम ठीक ही राजा हैं, यदि हम इन्द्रियों के अधीन हैं, तो हम राजा कैसे? जरा सोचो। मिथिला में एक प्रसिद्ध कहावत है–मालिक सँ बहिया भेल बरी। कहै घाघ संतापै मरी।

अर्थात् स्वामी के ऊपर सेवक का आधिपत्य होना, अत्यन्त चिंता का विषय बन जाता है और संत कबीर कहते हैं–

खट्टा मीठा चरपरा, जिह्वा सब रस लेय।
पाँचों कुतिया मिल गई, पहरा किसका होय ॥

संतजन बताते हैं कि यदि तुम्हारी इन्द्रियाँ शासित नहीं हैं; आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा–ये पाँचों इन्द्रियाँ पंच विषयों की ओर प्रवाहित हो रही हैं, अपने-अपने भोगों में रत हैं, तो इसका अर्थ हुआ कि तुम जो चरित्र निभाने आए हो, उसको नहीं करके दूसरे खेल में लग गये हो। परिणामस्वरूप रंगमंच पर नर-तन अभिनय का तुम्हारा अधिकार छिन जाएगा, तुम निकाल दिये जाओगे, फिर पता नहीं भविष्य में कौन-सा वस्त्र तुमको पहनने के लिए मिलेगा। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि
संयाति नवानि देही ॥

जिस तरह से लोग शरीर पर कपड़े पहनते हैं, पुराने कपड़ों को छोड़कर नए-नए कपड़े पहनते हैं; उसी तरह जीव पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करता है। यह क्रम तबतक चलता रहता है, जबतक जीव पीव को न पा ले। जरा सोचिए, जबसे हमलोगों ने जन्म लिया है, इतनी बड़ी उम्र में हमलोगों ने कितने कपड़े पहने हैं, कितने फटे हैं, किसी को याद नहीं। जबतक यह शरीर रहेगा, कितने ही और कपड़े पहनेंगे और छोड़ेंगे। जिस तरह एक शरीर के जीवनकाल में अनेक कपड़े पहनते हैं और वे फटते हैं, उसी तरह एक जीव के जीवनकाल में अनेक शरीर होते हैं और छूटते हैं। हम परम प्रभु परमात्मा की संतान हैं। गो० तुलसीदासजी ने लिखा है–

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

यद्यपि पुत्र पिता के राज्य का अधिकारी होता है, तथापि यदि पुत्र सुयोग्य नहीं हो, पिता को संतुष्ट रखनेवाला नहीं हो, तो पिता अपना राज्य उसे नहीं देंगे। माता-पिता किस तरह जानते हैं कि पुत्र अयोग्य है या सुयोग्य? वे हमारी संगति और कर्मों को देखते हैं। अगर हम अच्छी संगति करते हैं, तो वे हमें अच्छा समझते हैं और यदि हम बुरी संगति में पड़ जाते हैं, बुरे-बुरे कर्मों को करते हैं, तो वह हमसे अप्रसन्न हो जाते हैं, हमें बुरा और अयोग्य समझते हैं। अतएव हम सर्वप्रथम संतों की संगति करें। संत कैसे होते हैं? गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी में है–

विश्व उपकारहित व्यग्रचित सर्वदा,
त्यक्त मदमन्यु कृत पुन्य रासि।
जत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्वहरि,
सहित गच्छन्ति क्षीराब्धि वासी॥

विश्व कल्याण के लिए जिनका चित्त सर्वदा व्यग्र रहता है तथा जो गर्व और क्रोध को त्यागकर बहुत-से पुण्य कर्मों को करते हैं, वे जहाँ ठहरते हैं, वहीं ब्रह्मा और शिव के सहित और समुद्र में वास करनेवाले हरि भगवान जा विराजते हैं।

ऐसे संतों की संगति करने से ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सभी देवताओं की संगति मिल जाती है। हम भी ऐसी संगति करेंगे, तो हमारे परम पिता परमात्मा हमसे प्रसन्न होंगे। फिर उनकी जो संपत्ति है, धरोहर है, वह हमको मिलेगी। वे हमें अपने राज्य का अधिकार देंगे। लेकिन हम तो इन्द्रियों की संगति में पड़े हुए हैं, इसी कारण हम परमात्मा के राज्य से दूर हैं, वंचित हैं।

हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और चार अंतःकरण की इन्द्रियाँ हैं। जबतक हम जाग्रत अवस्था में रहते हैं, ये चौदहों इन्द्रियाँ काम करती रहती हैं। जब स्वप्नावस्था में जाते हैं, तो इनमें से बाहर की दस इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, केवल भीतर की चार इन्द्रियाँ-मन, बुद्धि, चित और अहंकार काम करती हैं और जब हम सुषुप्ति अवस्था में जाते हैं, तो इन चारो में से मात्र चित्त ही काम करता है। हमें इन इन्द्रियों का दमन कर इनकी संगति से ऊपर उठना होगा, तभी असली भगवद्‌भजन होगा। गोस्वामीजी ने लिखा है-'तीन अवस्था तजहु भजहु भगवन्त।' तीन अवस्थाओं से ऊपर उठना कैसे होगा तथा हमारी ये इन्द्रियाँ कैसे दमित होंगी? यह एक विचारणीय विषय है।

हमारे गुरुदेव महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज कहा करते थे कि मान लो, रात का समय है और तुम अपने बिछावन पर गहरी नींद में सोए हुए हो। एकाएक तुम्हारे कमरे में पाँच आदमी आवे। उनमें से दो आदमी तुम्हारी दोनों टाँगों को, दो आदमी तुम्हारी दोनों भुजाओं को और एक आदमी तुम्हारे सिर को पकड़कर अपनी-अपनी ओर खींचे, तो उस समय तुम्हें क्या बल मिलेगा? लेकिन अगर पाँचो आदमी तुमको छोड़ दे, तुम उठकर बैठ जाओ और किसी एक को अपने दोनों हाथों से जकड़कर पकड़ लो, तो क्या होगा-समूचे शरीर का बल तुम्हारे हाथों में आ जाएगा। उसी तरह हमारी जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जबतक ये पंच विषयों में रमण कर रही हैं, तो हमारी शक्ति पाँच भागों में बँट जाती है। हमें कुछ भी शक्ति मालूम नहीं पड़ती। लेकिन जब हम पंच विषयों से मन को समेटकर दृष्टि की दोनों धारों को केन्द्र में केन्द्रित करेंगे, तो शरीर में फैली हुई चेतन धार एक स्थान पर स्थिर हो जाएगी। फलतः पूर्ण सिमटाव होगा और ऊर्ध्वगति होगी। ऊर्ध्वगति में आवरण-भेदन होता है। हम पिंड से निकलकर ब्रह्मांड में, अंधकार से निकलकर प्रकाश में प्रतिष्ठित हो जाएँगे। उज्ज्वल प्रकाश में प्रतिष्ठित हो जाने से हमारा भाग्य भी उज्ज्वल हो जाएगा। अन्यथा जबतक हम अंधकार में भटकते रहेंगे, तबतक हमारे काले कारनामे अर्थात् अपकर्म होते रहेंगे और हमारा भविष्य जीवन अंधकारमय रहेगा।

जो कोई दृष्टि-साधन की क्रिया करते हैं, तो इससे उनकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं। इसी को 'दम' की साधना कहते हैं। लेकिन इन्द्रियों को विषय की ओर प्रेरित करनेवाला मन है। जबतक हमारा मन पूरी तरह वश में नहीं रहेगी। विचार के द्वारा भले ही कुछ देर के लिए हम इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोक सकते हैं, पर मौका पाते ही पुनः ये विषयों में रमण करने लगेंगी। वस्तुतः शम की साधना के बिना मनोनिग्रह संभव नहीं और जबतक हमारा मन हमारे वश में नहीं होगा, तबतक हमारी इन्द्रियाँ हमें धोखा दे सकती हैं। शम की साधना कहने का तात्पर्य है-शब्द की साधना। संत कबीर साहब का वचन है-

सबद खोजि मन बस करै, सहज जोग है येह।
सत्त शब्द निज सार है, यह तो झूठि देह॥

शब्द-साधना अर्थात् नादानुसंधान के द्वारा मन को वश में किया जाता है। नादविन्दूपनिषद् में आया है-

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशितांकुशः॥

जिस तरह हाथी कदली वन में आकर वृक्षों को तोड़ता-मरोड़ता है और जब महावत उसे अंकुश मारता है, तो वह आगे नहीं जाकर पीछे मुड़ता है, उसी तरह से हमार मन विषयों की ओर भागता है

और जब नादानुसंधान करेंगे, तो नादरूप अंकुश के प्रभाव से मन आगे नहीं जाकर पीछे मुड़ेगा। जब मन विषय की ओर से मुड़ेगा तो किधर जाएगा? निर्विषय की ओर जाएगा। वह निर्विषय तत्त्व ही परमात्मा है। इसी के लिए भगवान श्रीराम ने कहा था–'एहि तन कर फल विषय न भाई।' मनुष्य-शरीर का धर्म विषय भोग नहीं है। मनुष्य-शरीर का धर्म है–निर्विषय तत्त्व परमात्मा को प्राप्त करना। जो कोई उस परम प्रभु परमात्मा को प्राप्त करते हैं, उन्हीं को मोक्ष मिलता है, आवागमन के चक्र से छुटकारा मिलता है। संत कबीर साहब कहते हैं–

भक्ति निसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम-जनम पछताय॥

मुक्ति में जाने के लिए जो सीढ़ी है, वह है भक्ति। जो कोई भक्ति करेंगे, उन्हें मुक्ति मिलेगी। जो कोई भोजन करते हैं, उनका पेट भरता है, तृप्ति होती है, उन्हें स्वाद और बल मिलता है; उसी तरह जो भजन करते हैं, उन्हें संतोष धन मिलता है, तृप्ति होती है, उनका आत्मबल बढ़ता है और ब्रह्मरस की प्राप्ति होती है। यह सांसारिक पदार्थों के लिए हाय-हाय नहीं करता। गो० तुलसीदासजी ने लिखा है–

ब्रह्मपियूष मधुर सीतल, जो पै मन सो रस पावै।
तो कत मृगजल रूप विषय, कारण निसिवासर धावै॥

जो ब्रह्मरस में डूब जाता है, उसे विषय रस फीका पड़ जाता है। यदि किसी को विषय रस मीठा लगता हो, तो समझना चाहिए कि उसे ब्रह्मरस मिला ही नहीं है। क्योंकि जो करोड़पति हो जाएगा, वह कौड़ी चुनने क्यों जाएगा! जो लाखपति होगा, वह खाक छानने क्यों जाएगा! अगर कोई कौड़ी चुनता है, तो वह करोड़पति नहीं है और अगर कोई खाक छानता है, तो वह लाखपति नहीं है। गुरु-भक्तिन सहजोबाई ने बड़ा अच्छा कहा है–

भया जी हरि रस पी मतवारा।
आठ पहर झूमत ही बीते, डारि दियो सब भारा॥

'हरिरस' ही अमृतरस है, जिसे पीकर वह मस्त हो जाती है और आठो पहर आनंद में उसी तरह झूमती है, जैसे कोई मदिरा पीकर झूमता हो। मदिरा का नशा तो कुछ समय के बाद उतर जाता है; परन्तु इस अमृतरस का जो नशा चढ़ता है, वह चढ़ा ही रहता है, कभी उतरता नहीं। किसी ने उनसे पूछा कि बाईजी! तुम्हें यह अमीरस कहाँ मिला? तो वह उत्तर देती है–

इड़ा पिंगला ऊपर पहुँचे, सुखमन पाट उघारा।
पीवन लगे सुधारस जबहीं, दुर्जन बड़ी बिडारा॥

अर्थात् इड़ा और पिंगला के बीच में सुषुम्ना स्थित है। उसी के आवरण (पाट) को उघारने पर यह रस मिला। उस पाट को कैसे उघारा जाता है? इसका उत्तर महर्षि मेँहीँ-पदावली में इस प्रकार है–

तिल दरवाजा टूटै नजर की जोर से।
अरे हाँ रे मेँहीँ लगे टकटकी खूब जोर बरजोर से॥

जब साधक गुरुयुक्ति के द्वारा टकटकी 'खूब जोर बरजोर से' देखता है, तब तिल दरवाजा या सुषुम्ना का पट खुलता है। इसमें आँख पर जोर नहीं दिया जाता है, बल्कि देखने की कला से देखा जाता है। यहाँ सुषुम्ना की उपमा तिल से दी गई है, पर वह तिल से भी बहुत छोटा है। गुरुदेव के वचन में आया है–

सुखमन के झीना नाल से, अमृत की धारा बहि रही।
मीन सूरत धार धर, भाठा से सीरा चढ़ि रही॥
गुरु-मंत्र जप गुरु-ध्यान कर, गुरु-सेव कर अति प्रीत कर।
गुरु की आज्ञा मान प्यारे, कर सदा गुरु की कही॥
उस नाल का झीना दुआरा, गुरु तुझे देंगे बता।
दोउ नैन नासा मध्य सन्मुख, सूई अग्र दर ले लही॥

यहाँ उन्होंने सूई की नोक से सुषुम्ना की उपमा दी है; लेकिन वह इससे भी अति सूक्ष्म है। सहजोबाई अपना अनुभव बताते हुए आगे कहती हैं–

गंग जमुन बिच आसन मारयो, चमक चमक चमकारा।
भँवर गुफा में दृढ़ ह्वै बैठे, देख्यो अधिक उजारा॥

इड़ा-पिंगला को ही गंग-जमुन कहा गया है। कहती हैं कि वहाँ दृष्टि स्थिर करने पर अनेक प्रकार के प्रकाश देखने को मिले। भँवर गुफा में सुरत के स्थिर होने पर अत्यधिक प्रकाश देखने में आया। साधक जब प्रकाश देखता है, तो वह वहाँ शब्द भी सुनता है। सहजोबाई जब नाद-श्रवण करती है, तो परिणाम क्या होता है? इसका स्पष्टीकरण करती हुई कहती है–

चित्त स्थिर चंचल मन थाका, पाँचो का बल हारा।
चरणदास कृपा सूँ सहजो, भरम-करम भयो छारा॥

चित्त स्थिर हो गया, चंचल मन थक गया और पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ जो पाँच विषयों में जाती थी, उसका बल भी समाप्त हो गया। लेकिन ये सारी बातें हुईं कैसे? वस्तुतः चरणदासजी महाराज उनके गुरु

थे। परम भक्तिन सहजोबाई ने अपने गुरु को संतुष्ट किया, प्रसन्न किया, गुरु की कृपा हुई, तब उसने अंतर्ज्योति और अंतर्नाद का साक्षात्कार करके मुक्ति फल पाया।

एक जिज्ञासा हो सकती है कि गुरु को हम कैसे संतुष्ट करतें? उत्तर में निवेदन है कि गुरु ने जो विधि कर्म बतलाया है, उसे करेंगे और जो निषेध कर्म बतलाया है, उसे त्यागेंगे, तभी वे संतुष्ट होंगे। गुरु जो मनाही करते हैं, उसे हम करें और जो करने के लिए कहते हैं, उसे हम करें नहीं, तो वे कैसे संतुष्ट होंगे? उनकी कृपा हमें कैसे प्राप्त होगी? गुरु ने बतलाया है कि एक ईश्वर पर विश्वास करो, उसकी प्राप्ति अपने अंदर होगी, इसका दृढ़ निश्चय रखो, सत्संग करो, ध्यान करो और गुरु-सेवा करो; ये पाँच विधि-कर्म हैं। झूठ नहीं बोलो, चोरी नहीं करो, किसी नशीली चीज का सेवन नहीं करो, हिंसा नहीं करो—इस सिलसिले में मांस, मछली, अंडा नहीं खाओ और व्यभिचार नहीं करो अर्थात् परस्त्री, पर-पुरुष-गमन नहीं करो; ये पाँच निषेध-कर्म हैं। यदि हम इन नियमों का पालन करेंगे, तो गुरु अवश्य प्रसन्न होंगे। हम पाप करें और गुरु हमपर प्रसन्न रहें, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

गुरु की आज्ञा मान प्यारे, कर सदा गुरु की कही।
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

गुरु की कृपा पाने के लिए उनकी आज्ञा के अनुकूल चलना होगा। गुरु-कृपा हो जाए, तो मुक्ति का द्वार दूर नहीं।

जौं तेहि पंथ चलइ मन लाई।
तो हरि काहे न होहिं सहाई॥
(गो० तुलसीदास)

यह प्रवचन दिनांक ११.७.१९९९ ई० को साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर-३ (बिहार) में हुआ था। (शांति-सन्देश, अक्टूबर, २०१०)

९८. नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं

संतों का अवतरण विश्वकल्याण के लिए हुआ करता है। गो० तुलसीदासजी महाराज ने रामचरित-मानस में लिखा है—

संत उदय संतत सुखकारी।
बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥

जिस तरह चन्द्र, सूर्य का उदय जगन्मंगल के लिए होता है, उसी प्रकार संतों का अवतरण विश्व कल्याण के लिए हुआ करता है। संत किसी वेश विशेष के कारण नहीं कहलाते हैं, बल्कि संतों के आचरणीय गुणों से जो गुणान्वित होते हैं, वे संत कहलाते हैं। महोपनिषद् में आया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्ट परावरे॥

जिनके हृदय की ग्रंथि विच्छिन्न हो गई है, वे ही संत कहलाने के अधिकारी हैं। वह ग्रंथि कौन-सी है? गो० तुलसीदासजी महाराज ने कहा है—

जड़ चेतनहिं ग्रंथि पड़ि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

जिसके जड़-चेतन की ग्रंथि छिन्न-भिन्न हो गई है, पृथक्-पृथक् हो गई है, जिन्होंने पहचान कर लिया है कि यह जड़ और यह चेतन है तथा उस ग्रंथि के खुल जाने पर उस ग्रंथि के बीच में रहनेवाली जो वस्तु है, उसका जिन्होंने प्रत्यक्षीकरण कर लिया है, वे संत कहलाते हैं। जड़ और चेतन की ग्रंथि के बीच में छिपा हुआ क्या है? संत कबीर साहब ने कहा है—

लाल लाल जो सब कोइ कहै, सबकी गाँठी लाल।
गाँठी खोलिके परखै नाहीं, तासो भयो कंगाल॥

जड़-चेतन की ग्रंथि विच्छिन्न हो जाने पर परम प्रभु परमात्मा की प्रत्यक्षता हो जाती है। जबतक परम प्रभु परमात्मा की प्रत्यक्षता नहीं हुई है, इसके पूर्व वे साधु कहला सकते हैं, महात्मा कहला सकते हैं, पढ़े-लिखे विद्वान् कहला सकते हैं, पंडित कहला सकते हैं; किन्तु संत नहीं कहला सकते। उपनिषद् वाक्य में व्यवहृत संशय शब्द पर हम विचार करें।

'संशय' धुंधली रोशनी में होती है, अँधेरे में होता है; लेकिन जहाँ पूर्ण प्रकाश हो, वस्तु प्रत्यक्ष दीखती हो, वहाँ संशय का स्थान कहाँ रह जाता है? इसी प्रकार जिन्होंने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर

लिया है, ब्रह्मस्वरूप के दर्शन कर लिये हैं और जो आत्मप्रकाश में प्रतिष्ठित हैं, उनके लिए संशय कहाँ? 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' जिनके कर्म बंधन के कारण नहीं होते, जिसकी दृष्टि परे-से-परे तक चली गयी हो, ऐसे होते हैं संत। वह परे-से-परे क्या है? जड़ के परे चेतन है और चेतन के परे परम प्रभु परमात्मा है। क्षर के परे अक्षर है और अक्षर के परे पुरुषोत्तम है। अपरा प्रकृति के परे परा प्रकृति है और परा प्रकृति के परे पुरुषोत्तम परमात्मा है। अंधकार के परे प्रकाश है, प्रकाश के परे शब्द है और शब्द के परे 'निशब्दं परं पदम्' है। उस परे से परे अपरम्पार की प्राप्ति जिन्होंने कर ली है, ऐसे को संत कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने भगवान श्रीराम के श्रीमुख से कहलाया है कि साधु-संत के लक्षण क्या होते हैं, रामचरितमानस में लिखा है। भगवान श्रीराम नारदजी को उपदेश देते हैं—

षट विकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन सुचि सुख धामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी।
सत्य सार कवि कोविद योगी॥
सुनु मुनि साधुन के गुन जेते।
कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

भगवान श्रीराम कहते हैं कि संत वे होते हैं, जो षटविकार के अधिकार में नहीं आते, जिन्होंने षट विकार को अपने अधिकार में कर लिया है। अर्थात् काम-क्रोधादिक विकारों पर विजय प्राप्त किये हुए महापुरुष संत होते हैं।

'षटविकार जित' के बाद गोस्वामीजी ने 'अनघ' शब्द का प्रयोग किया है। अनघ=निष्पाप, पाप-रहित अर्थात् वे झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार; इन पंच पापों से विरत होते हैं। 'अकामा' अर्थात् कामना-रहित। जागतिक किसी भी वस्तु, पद, प्रतिष्ठा, पैसे की चाहना जिनको नहीं है। संत कबीर साहब के शब्दों में हम कह सकेंगे—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह।
जाको कछु न चाहिए, सोई शांहशाह॥

ऐसे होते हैं संत। अचल=अपने धर्म में वे अविचल रहते हैं। चाहे उनपर विपत्ति का पहाड़ क्यों न टूट पड़े; लेकिन वे अपने धर्म में निश्चल रहते हैं। अकिंचन=असंग्रही। संत त्यागी होते हैं, संग्रही नहीं।

श्रीरामकृष्ण परमहंस देवजी महाराज ने कहा—तुम गीता पढ़ते हो, अच्छा करते हो। लेकिन गीता-गीता-गीता बराबर कहते रहो, तो क्या होता है? गीता-गीता-गीता कहते-कहते तागी-तागी हो जाता है अर्थात् जब तुम त्यागी बनो, तब समझो कि तुमने गीता पढ़ी। गीता कंठस्थ कर लिया; लेकिन तुम त्यागी बने नहीं, तो तुमने गीता क्या पढ़ी? गीता का अर्थ है—त्यागी। त्यागी बनो। जो संत होते हैं, वे त्यागी होते हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र होते हैं और सुखनिधान होते हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि वाल्मीकिजी बड़े पापी थे। नारदजी ने उनकोराममंत्र दिया; लेकिन राम-राम नहीं कहकर मरा-मरा कहने लग गये। मरा-मरा कहते-कहते वे राम-राम कहने लग गये और वे ब्रह्मवित् हो गये। विचारणीय विषय यह है कि राम-राम कहते-कहते वर्षों बीत गये, लेकिन यदि हमारा काम नहीं मरा, क्रोध नहीं मरा, लोभ नहीं मरा, मोह नहीं मरा, अहंकार नहीं मरा, षटविकार नहीं मरे, तो हमने राम-राम क्या कहा? वह कौन-सा राम है, जिस राम के कहने से सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं और षटविकार के विनाश होते हैं? गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

राम भालु कपि सेन बटोरा।
सेत हेत श्रम कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।
करहु विचार सुजन मन माहीं॥

भगवान श्रीराम जब लंका जाने लगे, तो बंदर-भालुओं की सेना इकट्ठी करके पुल बँधवाने में उन्होंने कितना परिश्रम किया। लेकिन रामनाम लेने से भवसिंधु सूख जाता है। वह रामनाम कैसा? गोस्वामीजी कहते हैं—'करहु विचार सुजन मन माहीं।' भगवान का नाम हमलोग अबतक लेते चले आ रहे हैं। कोई राम-नाम लेते हैं, कोई शिवनाम लेते हैं, कोई वाहगुरु कहते हैं, कोई सत्तनाम कहते हैं, कोई राधाकृष्ण कहते हैं, कोई हरेकृष्ण कहते हैं। भगवान के नाम लेते तो सब हैं; लेकिन हाथ में एक चुल्लू पानी लेकर के पानी को सुखाइए तो। जबकि नाम में वह शक्ति है कि भवसागर सूख जाता है, तब हम कौन-सा नाम और कैसे लेते हैं कि एक चुल्लू पानी तक नहीं सुखा सकते। परम भक्तिन मीराबाई कहती है—

भवसागर जल सूखि गयो है,

फिकर नहीं मोहि तरनन की।

प्रश्नोदय होता है कि मीराबाई ने कौन-सी साधना की थी और वह कौन-सा नाम है, जिस नाम से भवसागर सूख जाता है। उत्तर में निवेदन है कि जो सच्चे सद्‌गुरु होते हैं, वे ही उस नाम को जानते हैं। गोस्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

भेद जाहि विधि नाम महँ, बिन गुरु जान न कोय।
तुलसि कहहिं विनीत वर, जौं बिरंचि सिव होय॥

ऐसे ही सच्चे संत के लिए भवसागर सूख जाता है। वे संग्रही नहीं होते हैं, त्यागी होते हैं। त्याग की आग में सभी विकार जल-भूनकर समाप्त हो जाते हैं। वे शिष्टाचारी होते हैं, सदाचारी होते हैं और शुच्याचारी होते हैं। वस्तुतः संग्रह करनेवाले संत नहीं होते, त्याग करनेवाले संत होते हैं। संत कबीर साहब का वचन है—

साधु भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं।
धन का भूखा जो फिरै, सो तो साधु नाहिं॥

साधु-वेश बनाकर धनार्जन हेतु घूमनेवाले साधु-संत नहीं, वे साधु-वेश को कलंकित करनेवाले कालनेमि हैं। स्वामी रामतीर्थ जापान गये थे। वहाँ उनका प्रवचन हुआ था। वे अपने को राम बादशाह कहा करते थे, साथ में कुछ नहीं रखते थे। जापान में उनका प्रवचन समाप्त होने के बाद वहाँ के लोगों ने उनसे पूछा—अभी यहाँ से आपका कहाँ जाना होगा? उन्होंने बतलाया कि अमेरिका जाऊँगा। जापान के प्रेमियों ने अमेरिका के लिए हवाई जहाज का टिकट कटा दिया। जापान से वे अमेरिका आये। जैसे वे अमेरिका पहुँचते हैं, किसी व्यक्ति ने उनसे पूछा—'आप अमेरिका में कहाँ और कितने दिनों तक ठहरेंगे?' स्वामी रामतीर्थ ने उत्तर दिया, 'मुझे पता नहीं।' उक्त सज्जन ने पूछा, 'आपके पास कितने डॉलर हैं?' उन्होंने कहा, 'मेरे पास कुछ नहीं है।' लोगों ने पूछा, 'आप हैं कौन?' स्वामी जी ने उत्तर दिया, 'मैं राम बादशाह हूँ।' अमेरिका के एक अन्य सज्जन वहीं खड़े थे, उन्होंने जिज्ञासा की, जिनका प्रवचन जापान में हुआ था, क्या आप वे राम बादशाह तो नहीं हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'हाँ, मैं वही हूँ।' उक्त अमेरिका निवासी सज्जन ने उक्त सज्जन से कहा, 'ये मेरे यहाँ जितने दिनों तक ठहरना चाहेंगे, रहेंगे। इनका सारा खर्च मैं वहन करूँगा।' स्वामी रामतीर्थ ने प्रथम जिज्ञासु व्यक्ति से कहा, 'बादशाह अपने पास खजाना नहीं रखता, बादशाह का खजाँची कोई और होता है। देख लो, मेरा खजाँची ये हैं।' कहने का तात्पर्य यह कि जो संत होते हैं, वे अपने पास अर्थ संग्रह करके रखते नहीं।

अमेरिका में स्वामी रामतीर्थ के प्रवचन कई दिनों तक हुए। वहाँ की एक महिला, जो कि बहुत सम्भ्रान्त और सम्पन्न परिवार की थी, बहुत प्रभावित हुई। वह पचास लाख डॉलर का एक चेक लेकर स्वामी रामतीर्थ के पैर पर रखती हुई कहती है, 'इस चेक के साथ मेरा सारा तन-मन-धन आपके लिए समर्पण है। आप जब जिसका जिस प्रकार व्यवहार करना चाहें, कर सकते हैं; किन्तु आपसे एक माँग है कि मैं जहाँ हस्ताक्षर करूँगी, वहाँ पर मैं लिखूँगी मिसेज राम' स्वामी रामतीर्थ ने उत्तर दिया, 'तुम्हारी इस तुच्छ भेंट को कौन कहे, अमेरिका की सारी सम्पत्ति के साथ यदि विश्व की सारी सम्पत्ति मेरे चरणों पर आ जाए, फिर भी ऐसा लिखने के लिए मैं नहीं कह सकता।'

वृक्ष कबहुँ नहि भल भखै, नदी न पीवै नीर।
परमारथ के कारने, संतन धरा शरीर॥

वृक्ष का फल वृक्ष के लिए नहीं होता, नदी का जल नदी के लिए नहीं होता। उसी तरह संत अपने लिए कुछ करने के लिए बाकी नहीं रखते, अपने सभी काम वे पूरे किये हुए रहते हैं। जिनको परम प्रभु परमात्मा की प्राप्ति है, उनको अप्राप्त क्या है? वे जो कुछ करते हैं, परोपकार के लिए करते हैं, दूसरे के उपकार के लिए करते हें। गो० तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

विश्व उपकार हित व्यग्रचित सर्वदा,
त्यक्त मदमन्यु कृत पुण्य रासी।
जत्र तिष्ठति तत्रैव अज सर्व हरि,
सहित गच्छति क्षीराब्धि बासी॥

अहं और क्रोधरहित, जगत हित हेतु जिन संतों का चित सतत व्यग्र रहता है,ऐसे पुण्यवान संत जहाँ रहते हैं, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश के सहित सभी देवता उपस्थित रहते हैं। किन्तु हमारी दृष्टि वैसी नहीं है, इसलिए हम नहीं देख पाते हैं। हममें वह पैनी दृष्टि होनी चाहिए, जिससे हम उन्हें देख सकें। संत 'अमित बोध' होते हैं। कितना ज्ञान उनके पास है, उसकी माप

किसी के पास नहीं है। स्वामी विवेकानंदजी ने कहा– 'मनुष्य का मस्तिष्क अनंत ज्ञान का भंडार और अछोर पुस्तकालय है, इसलिए अगर विद्वान बनना चाहते हो, तो मस्तिष्क का अध्ययन करो।'

जाग्रतावस्था में हम आँख में, स्वप्नावस्था में कंठ में और सुषुप्ति की अवस्था में हृदय में रहते हैं। जाग्रतावस्था में आँख में रहने के कारण हमें इस संसार का ज्ञान रहता है। स्वप्नावस्था में आँख में नहीं रहने यानी कंठ में आने के कारण इस स्थूल संसार का ज्ञान नहीं रहता। उस समय हम मानसिक जगत में विचरण करते रहते हैं। मनोमय जगत में भ्रमण करते रहते हैं। जब हम हृदय में चले आते हैं, तब वह मनोमय जगत भी छूट जाता है और हम गंभीर निद्रा में चले जाते हैं, वहाँ कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। फिर जब हम हृदय से ऊपर कंठ में आते हैं, तो मनोमय जगत का ज्ञान होता है और कंठ से ऊपर आँख में आने पर इस स्थूल जगत का ज्ञान होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे हम नीचे की ओर जाते हैं, वैसे-वैसे ज्ञानहीनता होती जाती है और जैसे-जैसे ऊपर की ओर जाते हैं, वैसे-वैसे ज्ञान की समृद्धि होती है। संत जन का कथन है कि अच्छी तरह अंतस्साधना करो। आँख से ऊपर अपने को ले जाओ, तो तुमको सूक्ष्म जगत का ज्ञान होगा, सूक्ष्मतर जगत का ज्ञान होगा और सूक्ष्मतम जगत का ज्ञान होगा।

श्रीरामकृष्ण परमहंस देवजी महाराज ने वही ज्ञान स्वामी विवेकानंद को सिखलाया था। आँख से ऊपर ज्ञान का देश है और नीचे अज्ञान का। संत 'अनीह' अर्थात् इच्छारहित होते हैं। उनको जागतिक किसी चीज की चाहना नहीं होती। वे मितभोगी होते हैं। संसार में वे रहेंगे, तो कुछ खायेंगे, कुछ पियेंगे, कुछ पहनेंगे, रहने के लिए कुछ स्थान चाहिए। लेकिन जो कुछ भी उनका व्यवहार होगा, वह मितभोगी का होगा। भगवान श्रीकृष्ण का वचन श्रीमद्भगवद्गीता में है– 'युक्ताहारविहारस्य...।'

वे सत्य के सार, कवि, कोविद और योगी होंगे। 'योगी' का अर्थ घर-परिवार, रोजगार त्यागी नहीं। योगी कहते हैं–जो योग करते हैं। चाहे वे गृहस्थ हों या विरक्त। वह कौन-सा योग? गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा है, योग की परिभाषा उन्होंने दी, योगी किसको कहते हैं, उन्होंने बतलाया है–

जोगु न खिंथा जोग न डंडै जोगु न भसम चड़ाईअै।
जोगु न मुंदी मूंड़ि मूंड़ाइअै जोग न सिंत्री वाईअै।
अंजन माहि निरंजनि रहीअै, जोग जुगति इव पाईअै॥
गली जोगु न होई।
एक द्रिसटि करि समसरि जाणै जोगी कहीअै सोई॥

गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–कोई अपने शरीर पर गुदरी पहने हुए है या दंड-कमंडल लिये हुए है या शरीर पर भस्म मले हुए है, एकमात्र कौपीन पहने हुए है, इसलिए वह योगी है। ऐसी बात नहीं है। अगर मुंडित सिर है, गैरिक वस्त्र है, घर-वार त्यागी है, इसलिए वह योगी है, कहा नहीं जा सकता। संत कबीर साहब ने कहा–

केसन कहा बिगाड़िया, जो मूड़ी सौ बार।
मन को क्यों न मूड़िये, जामें विषय विकार॥

एक-एक बाल उखाड़ते-उखाड़ते सिर मुंडित हो गया, तो इसलिए वे योगी नहीं हो गये। किसी ने पूछा, बाल मुड़ा लेने से अगर कोई संन्यासी नहीं होता है, तो बाल बढ़ाने में तो होना चाहिए? उत्तर है कि यदि बाल बढ़ाने से ही कोई योगी हो जाए, ऐसा समझकर यदि कोई सिर के बाल बढ़ावे या दाढ़ी-मूँछ बढ़ावे, तो जंगल में बाघ-सिंह आदि हिंस्र जीव होते हैं, उनको योगी-संन्यासी-महात्मा होना चाहिए; क्योंकि उनके तो जन्मजात बाल बड़े होते हैं, फिर भी उनकी हिंसावृत्ति क्यों नहीं जाती है। वास्तविक बात तो यह है कि न तो बाल बढ़ाने से कोई योगी होता है और न बाल मुड़ाने से। जो अपनी युगल दृष्टियों को एक करके अपने अंदर में देखते हैं, वे योगी होते हैं–

युगदृष्टि की एक तीक्ष्ण नोंक से, चीरि तेजस् बिन्दु रे।
सुनो अंदर नाद ही, लखो सूर्य तारे इन्दु रे॥

जो इसके प्रत्यक्षीकरण करनेवाले होते हैं, वे योगी होते हैं। बाइबिल में लिखा है–'यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सारा शरीर उजियाला होगा और यदि तेरी आँख बुरी है, तो देखो तुम्हारे अंदर अंधकार का कितना बड़ा साम्राज्य है।'

शान्ति प्राप्त महापुरुष को संत कहते हैं। वैदिक धर्मावलंबी जिनको संत कहते हैं, उन्हीं को इस्लाम ध र्म में फकीर कहते हैं। हमलोग फकीर कैसे लिखते हैं–फे, काफ, ये रे=फकीर। 'फे' कहते हैं–फाका, उपवास को अर्थात् जो खुदा के निकट निवास करनेवाले होते हैं, वे फकीर होते हैं। 'काफ' अर्थात् 'कनायत'

वे संतोषी होते हैं। 'ये' अर्थात् 'यादे इलाही', जो निरंतर खुदा को याद करते रहते हैं। 'रे' अर्थात् 'रेयाज' यानी भजन-अभ्यास करते रहते हैं। प्रभु की प्राप्ति, खुदा का दीदार है फिर भी वे साधनारत रहते हैं। क्यों? इसलिए कि वे अपने शिष्यों को, वे अपने भक्तों को आदर्श देते हैं कि तुमको ध्यानाभ्यास करना है, करो।

संत को अपने लिए कुछ करना बाकी नहीं रहता। वे जो कुछ करते हैं, हमारे लिए करते हैं, विश्वकल्याण के लिए करते हैं। हमारा कल्याण कैसे होगा, इसकी चिंता उनको है। जैसे हमारा एक छोटा-सा परिवार है, तो उस छोटे-से परिवार की चिंता हमको रहती है। एक गाँव के मुखिया को गाँव की चिंता, एक जिला को मालिक को जिला भर की चिंता, एक प्रान्त के मुख्यमंत्री को प्रांतभर की चिंता, एक देश के प्रधानमंत्री वा राष्ट्रपति को संपूर्ण देश की चिंता रहती है। कहने का तात्पर्य यह कि जितनी-जितनी जिनकी सीमा होती है, उतनी-उतनी की चिंता उनको होती है। लेकिन जिनका अवतार विश्वकल्याण के लिए हुआ करता है, उनको तो समस्त विश्व की चिंता रहती है। उनका 'वसुधैव कुटुम्बकम्' होता है। इसलिए वे सबकी चिंता करते हैं। जो उनके आदेश के अनुकूल चलते हैं, उनका कल्याण होता है। संत कबीर साहब ने कहा था—

मोरे जियरा बड़ा अंदेसवा मुसाफिर जैहौ कौनी ओर।

हमारी चिंता होती है उनको कि हमको किस तरफ जाना चाहिए और हम किस तरफ जा रहे हैं। जैसे कोई माता-पिता अपने पुत्र को कहते हैं—पूरब चलो, पर लड़का पश्चिम की ओर जाता है, तो माता-पिता के मन में कितनी पीड़ा होती है? इसी तरह 'संत' जो कि संसार के कल्याण के लिए आये हुए हैं, वे जो मार्गदर्शन देते हैं, उनकी बातों पर नहीं चलकर हम दूसरी तरफ चलते हैं, तो उनकी पीड़ा स्वाभाविक है। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि किस कर्म का परिणाम क्या होगा?

एक छोटा बच्चा है, उसको अल्प ज्ञान होता है; दूसरे उम्र में बढ़े हुए लोग हैं, उनको विशेष ज्ञान होता है। छोटा बच्चा आग पकड़ने के लिए जाता है, तो जो बड़े उम्र के, बढ़े ज्ञान के लोग होते हैं, वे उस बच्चे से कहते हैं—नहीं, आग मत पकड़ो, हाथ जल जाएगा। इसी प्रकार संत लोग पहले से ही हमारे संबंध में जानते हैं कि हमारा कल्याण किस तरह होगा और अकल्याण किस तरफ जाने से होगा। अकल्याण से बचाने और कल्याण की ओर ले जाने के लिए ही संत होते हैं। ऐसे जो संत हैं, वे हमलोगों को कल्याण का मार्ग बतलाते हैं। ऐसे संतों का जो मत है, वही संतमत है। चाहे वे संत किसी भी देश के हों, किसी भी वेश को हों, किसी भी जाति-पाँति, धर्म, मजहब, संप्रदाय या रिलिजन आदि के क्यों न हों; सभी संतों के मत को संतमत कहते हैं। संतमत अर्थात् संतों का मत।

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जात॥

संतों के विचार में जात-पात की भी कोई बात नहीं होती।

जात पात पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

उन संतों के कल्याणकारी उपदेश को अपने जीवन में उतारकर हम अपना भविष्य जीवन कल्याणमय बनावें। (२२.१.२००० ई०, मारवाड़ी पाठशाला, भागलपुर; शान्ति सन्देश, अक्टूबर, २००१)

९९. मैं तो संतमत का कनिष्ठ सेवक हूँ

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

मैं न संत हूँ, न सद्गुरु, न महर्षि हूँ और न परमहंस ही। मैं तो संतमत का एक कनिष्ठ सेवक हूँ। अपने को सेवक कहने में भी संकोच होता है; क्योंकि सेवक होना भी आसान नहीं है। भरतजी ने कहा था—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।
सब तें सेवक धरम कठोरा॥

जब मैं सेवक-धर्म के पालन में भी अक्षम हूँ, तो अपने को सेवक कैसे कहूँ? परम पूज्य गुरुदेव (महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज) की शरण में रहकर मैंने जो कुछ सीखा है, वही आपके सामने निवेदित करूँगा।

पावस में दादूर की ध्वनि और बसंत में कोयल की कूक अच्छी लगती है; किन्तु संतों की वाणी सदा सुखदायिनी और अच्छी होती है। इसलिए संतों की वाणी के द्वारा ही आपकी सेवा करूँगा। किसी सुभाषितकार ने बड़ा अच्छा कहा है–

वन्दे संत उदार दयानिधि, जिसकी मंजुल वाणी।
भव सागर संतरण तरणि-सी परहित रत कल्याणी ॥१॥
मृदु कोमल सुस्निग्ध मधुरतम निर्मल नवल निराली।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह सब दूर भगानेवाली ॥२॥
जहाँ कर्म की कालिन्दी में मिलित भक्ति की गंगा।
सरस्वती है जहाँ ज्ञान की गूढ़ अगम्य अभंगा ॥३॥
त्रिविध साधनों की बहती है सुन्दर जहाँ त्रिवेणी।
धन्य संत वाणी प्रयाग-सी निःश्रेयस निःश्रेणी ॥४॥
बुझती जहाँ स्वयं आते ही त्रिविध ताप की ज्वाला।
भरती पुलक मोद तन मन में भाव ऊर्मि की माला ॥५॥
जहाँ न जाकर प्यासा लौटा है कोई भी प्राणी।
सुर-धुनी-सी सबको सुख देती वह संतों की वाणी ॥६॥
सद्भावों के पोषण हित जो मधुर दुग्ध गौ का है।
देती सदा मुक्ति के पथ पर बढ़ने का मौका है ॥७॥
भीषण तम भव की जलनिधि में अरे! डूबने वालो।
दौड़ो चढ़ो संतवाणी नौका पर होश सँभालो ॥८॥
संत वचन वह सुधा देव भी जिसके सदा भिखारी।
संत वचन वह धन जिसका है नर प्रधान अधिकारी ॥९॥
मर्त्य अमर बन जाता जिससे वह संजीवन रज है।
संत वचन सब भव रोगों का रामवाण भेषज है ॥१०॥
वेद शास्त्र अनुभूति तपस्या का जिसमें संचय है।
संतों का वर वरद वचन यह मंगलमय निर्भय है ॥११॥
क्यों बैठा कर्तव्यमूढ़ नर बन चिन्ता का वाहन।
संत वचन के सुधा सिन्धु में कर सन्तत अवगाहन ॥१२॥
दूर असत से कर सतपथ की ओर लगाने वाला।
और मृत्यु से हटा अमरता तक पहुँचाने वाला ॥१३॥
तम से परे ज्योति के जग में होता जो जगमग है।
सच्चिन्मय उस परम धाम का संत वचन शुचि मग है ॥१४॥
कौन बताये संतों की वाणी में कितना बल है।
दासी सुत देवर्षि बन गया जीवन हुआ सफल है ॥१५॥
उसी संत के प्रवचन ने यह चमत्कार दिखलाया।
दैत्यवंश में देवोपम प्रह्लाद प्रगट हो आया ॥१६॥
अगणित बार संतवाणी ने निज प्रभाव प्रगटाया।
मान उसे बालक ध्रुव ने हरि का पद पाया ॥१७॥
एक लुटेरा था जो मन से मान संत की वाणी।
वाल्मीकि बन गया आदि कवि भुवन विदित विज्ञानी ॥१८॥

पतित को पावन करनेवाला, गिरे को उठानेवाला संत वचन है। लौहपथगामिनी (ट्रेन) इंजन जब अपने पथ से नीचे गिर जाता है, तो हजारों लोग मिलकर भी उसे उठा नहीं सकते; पर क्रेन उसे उठाकर यथास्थान रख देता है। उसी तरह व्यक्ति कितना भी गिरा हुआ हो, पतित हो, संतवाणी के द्वारा वह पावन हो जाता है। सर्वविदित है कि वाल्मीकि और अंगुलिमाल संतवचन के प्रभाव से ही दुष्ट से सुष्ट बन गये।

अभी आपलोगों ने रामचरितमानस का पाठ सुना। इस ग्रंथ में लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन जीने की कला सिखलाई गई है। जो इस ग्रंथ का अध्ययन-मनन करेंगे, उनका कल्याण होगा। इसमें सिखलाया गया है कि पिता और पुत्र के बीच कैसा संबंध होना चाहिए, राजा और प्रजा के बीच कैसा संबंध होना चाहिए, पति-पत्नी और भाई-भाई के बीच कैसा संबंध होना चाहिए आदि। रामचरितमानस के अंदर छन्द, दोहे, सोरठे और चौपाइयाँ जितनी होनी चाहिए, उसी के अनुरूप हैं। इसलिए इसे काव्य कहते हैं। गो० तुलसीदासजी ने स्वयं लिखा है–

नवरस जप तप जोग विरागा।
ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥

काव्य के नौ रस इसमें उपस्थित हैं। एक श्रान्त-क्लान्त पथिक लबालब भरे सरोवर में खिले-अधखिले कमल के ऊपर भौंरों की गुंजार, किनारे स्थित पेड़ों पर पक्षी के कलरव और शीतल मंद वायु बहते देख शांति और सुख पाता है। पर उस मनोरंजन से उसका दुःखभंजन नहीं होता। पथिक जल देखता है, पर जबतक जल में जाल नहीं डाला जाय, तबतक उसके अंदर छिपे माल को नहीं देख सकता। उसी तरह रामचरितमानस के कथारूप जल को सब जानते हैं; किन्तु उसके अंदर जो परमार्थरूपी रत्न छिपे हैं–भक्ति, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, योग, विराग रूप जलचर हैं, उसे जनसामान्य नहीं जान पाते हैं।

भगवान् श्रीराम का अयोध्या में राजा दशरथ के घर अवतरण, शिशुपन में राजोचित लालन-पालन, किशोरपन में विश्वामित्र मुनि के साथ तपोवन गमन, वहाँ मुनि के द्वारा अस्त्र-शस्त्रादि का शिक्षा-ग्रहण, असुरों का विध्वंसकरण, युवापन में जनकपुर गमन, मार्ग में अहल्या का उद्धारकरण, जनकपुर में शिव-

धनु भंग कर सीताजी के साथ पाणिग्रहण, जनकपुर से जानकीजी के साथ अयोध्या आगमन, वहाँ उनको युवराज पद पर प्रतिष्ठित करने हेतु राजा दशरथ का मन; किन्तु केकई और मंथरा की कुमंत्रणा के कारण श्रीसीता तथा अनुज लक्ष्मण-सहित श्रीराम का कानन गमन, अयोध्या में राजा दशरथ का मरण, दण्डक वन में असुरराज रावण द्वारा सीता-हरण, किष्किंधा में सुग्रीव के साथ मैत्री-वरण, बालि-हनन, सीताजी का अन्वेषण, हनुमानजी का लंका-गमन, अशोक वाटिका में सीताजी से मिलन, परस्पर कथोपकथन, माँ जानकी से अनुमति पाकर अशोकवाटिका का फल-भक्षण, विटप विध्वंसकरण, अक्षयकुमार का निधन, रावण का मान-मर्दन, लंका-दहन, पुनः सीता से मिलन, पश्चात् किष्किंधा में भगवान् श्रीराम के दर्शन, लंकाघटित सारी घटनाओं का स्पष्टीकरण, सैन्य संगठन, सेतु बंधन, लंका पर आक्रमण, वहाँ भगवान् राम का रावण-कुंभकर्ण आदि राक्षसों के साथ महारण, अंततः रावण-सहित राक्षसी सेना का मरण, विभीषण का राज्यसिंहासन, श्रीसीताजी का उद्धार कर भगवान का ससैन्य पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या आगमन, ग्यारह हजार वर्ष पर्यन्त राज्य-संचालन और अंत में निजधाम साकेत गमन। इस कथा से सभी परिचित हैं, इसे सभी जानते हैं। पर इसके अंदर जो रहस्य छिपे हैं, उसको बहुत कम लोग जानते हैं। एक बार श्रीराम ने गुरुजन, पुरजन, ब्राह्मण सबको बुलाकर उपदेश दिया। वे जानते थे कि झूठे और सच्चे की मैत्री अधिक दिनों तक नहीं टिकती है। शरीर कच्चा है और इस शरीर में रहनेवाला जीव सच्चा है। दोनों की मित्रता अधिक दिनों तक नहीं टिक सकेगी। एक-न-एक दिन सबका शरीर छूटता है। जबतक प्रजा शरीर में है, उसे कष्ट नहीं है, पर शरीर छूटने पर जो जीवन होगा, वह दुःखमय न हो, इसलिए उन्होंने उपदेश दिया—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी।
कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई।
सुनहु करहु जो तुम्हहि सुहाई॥

वे कहते हैं कि मैं न्यायसंगत बात कहता हूँ। उचित जान पड़े, तो कीजिए। उचित जान नहीं पड़े, तो मत कीजिए। आगे कहते हैं—

बड़े भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थहि गावा॥

जहाँ भगवान राम कहते हैं, 'बड़े भाग मानुष तनु पावा' वहीं उनके अनन्य भक्त गो० तुलसीदास कहते हैं—'लाभ कहाँ मानुष तन पाये।' अब पाठक भ्रम में पड़ सकते हैं कि संत की बात मानें या भगवन्त की बात मानें, यथार्थ क्या है? गो० तुलसीदासजी इसका निवारण करते हुए कहते हैं—

काय वचन मन सपनेहु कबहुँक घटत न काज पराये।

यदि तन, मन या वचन से किसी का उपकार नहीं किया, सेवा नहीं की, तो मनुष्य शरीर पाने का क्या लाभ हुआ? वृक्ष हमें फल, फूल, लकड़ी आदि देता है; नदी से जल मिलता है; पहाड़ से जड़ी-बूटी और खनिज पदार्थ प्राप्त होते हैं, धरती अन्न देती है। गाय जीवनभर दूध और गोबर देती है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि जन्मदात्री माय की अपेक्षा कितना गुणा अधिक हम गाय का दूध पीते हैं, ठिकाना नहीं। बैल से हल जोतते और सामान ढोते हैं। ये पशु मरकर भी हड्डी और चमड़े से हमारा उपकार करते हैं। घास-भूसा खानेवाले पशु से इतना लाभ है और हम जो हलवा, पूड़ी, मेवा, मिष्टान्न खाते रहते हैं; हमारा गोंत-गोबर काम आता है या हड्डी-चमड़ा? हम सोचें कि हमारे शरीर से संसार का क्या उपकार हो रहा है।

एक बार ईरान का बादशाह कुछ घोड़े लेकर सौदागर के वेश में भारत आया। एक-से-एक कीमती घोड़े थे। एक घोड़े को कपड़े के घर में रखा था। कई दिनों तक जब उन घोड़ों को खरीदनेवाला कोई नहीं हुआ, तब वह कहने लगा—'मालूम होता है कि भारत इतना गरीब देश है, तो मैं घोड़े लेकर इतनी दूर से यहाँ नहीं आता।' बात पृथ्वीराज चौहान के कानों तक पहुँची। मंत्री ने सलाह दी कि इस तरह देश की बदनामी हो जाएगी। राजा ने विचार किया कि कुछ घोड़े खरीद लिये जाएँ। वह घोड़े को देखने के लिए गया। कई अच्छे-अच्छे घोड़ों को देखने के बाद उन्होंने पूछा कि उस कपड़े के घर में क्या है? सौदागर ने उत्तर दिया—'पूछिये मत। साधारण घोड़ा तो कोई खरीदनेवाला नहीं है, उस कीमती घोड़े को कौन खरीदेगा?' मंत्री ने कहा—'हमारे राजा उस घोड़े के साथ सबको खरीद लेंगे।' सौदागर ने घोड़े को दिखलाकर उसका दाम एक करोड़ बतलाया। पृथ्वीराज ने सारे

घोड़े खरीद लिये।

जिस घोड़े की कीमत एक लाख या करोड़ है, उसकी सेवा करनेवाला कौन है? आदमी ही न! कभी अखबार में निकला था। कि एक कुत्ते की कीमत एक लाख पचहत्तर हजार रुपये है। उस कुत्ते को नहलाने वाला, खिलानेवाला, पखाना करानेवाला आदमी ही तो होगा। वह सेवादार क्या सोचता होगा कि यह कुत्ता को कीमती साबुन लगता है, पावरोटी खाता है और मुझे सूखी रोटी मिलती है। इसका पखाना-पेशाब साफ करना पड़ता है।

जब मनुष्य की यह दुर्गति है, फिर भगवान ने इस शरीर को देव-दुर्लभ क्यों कहा? रामचरितमानस में बतलाया गया है कि देव कैसे होते हैं–

आये देव सबहिं स्वारथी।
वचन कहहिं जनु परमारथी ॥
उँच निवास नीच करतूती।
देखि न सकहिं पराइ विभूती ॥
इन्द्रिय सुरन्ह न ज्ञान सुहाई।
विषय भोग पर प्रीति सदाई ॥
आवत देखहिं बिषय बयारी।
ते हठ देहि कपाट उघारी ॥

भीतर कुछ रहता है और बाहर कुछ। वे अपने को बड़े परमार्थी दिखलाते हैं, पर होते हैं स्वार्थी। वे इन्द्रियों के देवता हैं, उन्हें ज्ञान नहीं सूझता। वे विषय-भोग में डूबे रहते हैं। जब हमें देव-दुर्लभ शरीर मिला है, तो हमें देव-दुर्लभ काम करना चाहिए अर्थात् विषय को छोड़ कर निर्विषयी होना चाहिए। भगवान कहते हैं–

एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥

जहाँ देवताओं को भोग ही सुहाता है, वहाँ देव-दुर्लभ शरीर पाकर मनुष्य को योग-ही-योग सुहाना चाहिए। गो० तुलसीदासजी का वचन है–

ते नर नरकरूप जीवत जग।
भव भंजन पद विमुख अभागी ॥

जहाँ श्रीराम मनुष्य-शरीर को बड़भागी कहते हैं, वहीं उनके भक्त तुलसीदासजी अभागी कहते हैं, ऐसा क्यों? मनुष्य-शरीर पाकर भी यदि भक्ति न करें, तो उसका जीवन नरक रूप है और वह अभागी है।

भागलपुर में ब्राह्मण जाति के एक बड़े आदमी थे। उन दिनों समुद्रयात्रा को बुरा माना जाता था। समुद्रयात्रा के कारण उन्हें जाति से अलग कर दिया गया। अपनी जाति के बीच खाना-पीना, लेना-देना सब बंद हो गया। वे होशियार तो थे ही, समाज के बड़े लोगों से कहते–'आप हमें जाति से अलग कर दिये, कोई बात नहीं। पर मिलने और बातचीत करने में क्या हर्ज है? छोटी जाति के लोगों से भी तो मिलते हैं और बातचीत करते हैं।' मीठी-मीठी बातें बोलकर किसी-किसी को अपने यहाँ बुलाने लगे। कभी-कभी, किसी-किसी को जलपान करने के लिए आग्रह करते और बातचीत करते। इस तरह कितने लोगों को जलपान कराकर उन्होंने फोटो ले लिया। एक दिन उन्होंने सबसे कहा कि बहुत दिन बीत गये, पुरानी बातों को भूल जाइए और मेरे यहाँ उत्सव है, भोजन करने को आइए। समाज के लोगों ने जब विरोध किया, तब उन्होंने सबका फोटो लाकर सामने रख दिया। सभी विरोध करनेवाले चुप हो गये। मनुष्य शरीर में बुद्धि–ज्ञान की प्रधानता है। घोड़े और कुत्ते की कितनी भी कीमत हो जाए, वह प्रभु का नाम नहीं ले सकता, सत्संग-ध्यान नहीं कर सकता। पर मनुष्य कितना भी गरीब हो, कुरूप हो, वह सत्संग, जप, ध्यान करके आवागमन से मुक्त हो सकता है। जहाँ भगवान् श्रीराम ने कहा–'बड़े भाग मानुष तनु पावा', वहीं उन्होंने यह भी जोड़ दिया–'बड़े भाग पाइये सत्संगा।' प्रभु कृपा से मनुष्य-शरीर मिल गया, अब सत्संग करेगा, तो उसका भाग्य और बढ़ जाएगा। सत्संग करते-करते पवित्रता आएगी और ज्ञान बढ़ेगा। फिर उसमें जिज्ञासा होगी कि क्रिया सीखने की। सीखने के लिए गुरु की आवश्यकता होगी। जब गुरु धारण कर लेगा, तो उसका भाग्य और बढ़ जाएगा।

जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी।
ते लोकहु बेदहु बड़ भागी ॥

गुरु उसे जप-ध्यान बतलायेंगे। मानस जप से कुछ एकाग्रता होगी। मानस ध्यान करते-करते यदि इष्ट रूप सामने आएगा, तब उसका भाग्य और बढ़ जाएगा। संत तुलसी साहब कहते हैं–

दरसन उनके उर माहिं, करैं बड़ भागी।
तिनके तरने की नाव किनारे लागी ॥

यदि गुरु-रूप का मानस ध्यान ठीक-ठीक होने लगे, तो समझो कि भवसागर तरने की नाव मिल गयी। गुरु नानक साहब तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि

गुरुरूप हृदय में बस जाए, तो जो भी शुभ इच्छा करेंगे, उसकी पूर्ति हो जाएगी।

गुरु की मूरति हिरदय बसाए।
जो इच्छै सोई फलु पाए ॥

विद्यार्थी पढ़ना-लिखना सीखना शुरू करता है, तो पहले मोटे-मोटे अक्षरों को लिखता है, फिर महीन अक्षर लिखता है। उसी तरह मानस जप, मानस ध्यान स्थूल सगुण साकार उपासना है। इसको करने के बाद सूक्ष्म साधन दृष्टियोग और शब्दयोग हैं। गो० तुलसीदास जी ने रामचरितमानस, बालकाण्ड में लिखा है–

श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥
दलन मोह तम सो सु प्रकासू।
बड़े भाग उर आवइ जासू ॥

जब साधक दृष्टिसाधन की क्रिया करता है, तो उसे अंत:प्रकाश मिलता है, दिव्यदृष्टि होती है और उसके मोह का नाश हो जाता है। वह पिण्ड से ब्रह्मांड में, स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश कर जाता है। 'बड़े भाग उर आवइ जासू।' जो प्रकाश में चला गया, वह बड़ा भाग्यवान है। पर इतने से ही परमात्मा नहीं मिलते। काम अभी कुछ बाकी है। गुरु महाराज कहते हैं–

दामिनि दमकै चंदा चमकै, सूर्य तपै जोतिमंडल।
इस मंडल से आगे वीरो, और तुम्हें बढ़ना होगा॥

प्रकाश मंडल में आगे बढ़ते हुए उस मंडल को पार करेंगे और शब्द के सहारे और आगे बढ़ेंगे।

अद्‌भुत अन्तर की डगरिया
जा पर चल कर प्रभु मिलते ॥
दाता सतगुरु धन्य धन्य जो राह लखा देते।
चलत पन्थ सुख होत महा है, जहाँ अझर झरते ॥
अमृत ध्वनि की नौबत झहरत, बड़भागी सुनते।
सुनत लखत सुख लहत अद्‌भुती, 'मेँहीँ' प्रभु मिलते ॥

प्रकाश मंडल में शब्द की प्राप्ति होती है। अनहद शब्दों के बीच सारशब्द को पकड़ते हैं। वह सारशब्द परमात्मा से मिलाता है। इस प्रकार मनुष्य का भाग्य पूर्ण हो जाता है, मनुष्य-शरीर पाने का उद्देश्य पूरा हो जाता है, उसका आवागमन छूट जाता है।

प्रत्येक मनुष्य का शरीर अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का होता है। साढ़े तीन हाथ यानी सात बित्ते का शरीर हुआ। एक बित्ता में बारह अंगुल होते हैं, तो १२ X ७ = ८४ चौरासी अंगुल का शरीर हमें मिला है कि हम चौरासी के चक्कर से (आवागमन से) छूट जाएँ। कबीर साहब कहते हैं–

लख चौरासी भरमि के, पौ पर अटके आय।
अबकी पासा न पड़े, फिर चौरासी जाय ॥

चौपड़ एक खेल होता है, जिसमें चौरासी कोठे होते हैं, चार गोटियाँ और छह कौड़ियाँ होती हैं। कौड़ियाँ भाँजकर गिराते हैं। जितनी कौड़ियाँ चित्त होती हैं, उसी क्रम से गोटियाँ आगे बढ़ती हैं। जब ८४वें कोठे में गोटी जाने पर उसे 'पौ' कहते हैं, अब यदि एक कौड़ी चित हो गयी, तो गोटी लाल हो जाती है, यानी जीत हो गयी। अन्यथा फिर चौरासी कोठे में गोटी घूमती रहती है।

उसी तरह अनेक शरीरों में घूमते हुए जीव ८४वें कोठे 'पौ' पर आया हुआ है। यहाँ यदि हमारा चित एक होकर प्रभु से लग जाए, तो 'पौ-बारह' हमारी जीत हो जाएगी। अन्यथा चौरासी लाख योनियों में पुनः भटकना पड़ेगा। चित्त को एक करने के लिए सदाचार समन्वित होकर जप-ध्यान करें, कल्याण होगा।❒ यह प्रवचन बन्देहरा, खगड़िया में दिनांक २५. १.२००० ई० को अपराह्नकालीन सत्संग के अवसर पर हुआ था। (शान्ति-सन्देश, सितम्बर २०१५)

१००. सेवक सेव्य भाव न तरिय उरगारी

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

हाथरस में एक संत हुए तुलसी साहब उन्होंने लिखा है–

'सखी सीख सुनि गुनि गाँठ बाँधौ, ठाठ ठठ सत्संग करै।'

हमलोग सत्संग में जाते हैं, सत्संग करते हैं, सुनते हैं, सुनाते हैं; किन्तु उसका जो समुचित फल मिलना चाहिए, वह तभी मिलेगा, जब 'गाँठ बाँधौ' –संतों के वचन को गाँठ में बाँधेंगे। अर्थात् उनकी वाणी के अनुकूल अनुगमन करें। केवल वाणी-पाठ से वह लाभ नहीं मिलता। संतों का अनुकरण और अनुगमन होना चाहिए। अनुकरण बाहरी चीज है और

अनुगमन आंतरिक।

एक टोपी बेचनेवाला था। अपनी गठरी में टोपियाँ लेकर घूम-घूमकर बेचता था। एक बार वह चलते-चलते थक गया और वृक्ष के नीचे गठरी रखकर लेट गया। उस जंगल में बहुत बंदर थे। एक बंदर उसके पास आया। उसके झोले को खोलकर उसने एक टोपी निकाली और जैसे बेचनेवाले ने पहन रखी थी, उसने भी पहन ली। दूसरा बंदर आया, उसने भी पहन ली। तीसरा भी आया, उसने भी पहन ली। इस तरह सभी बंदर टोपियाँ पहनकर वृक्ष पर चढ़ गये। व्यक्ति की नींद टूटी, तो उसने देखा कि गठरी खाली है और बंदरों ने टोपियाँ पहन ली हैं। वह बंदरों से टोपियाँ माँगने लगा, पर कौन सुनता है। उसने सोचा कि बंदर अनुकरण करता है। यदि मैं अपनी टोपी फेंक दूँ, तो वे भी फेंक देंगे। उसने अपनी टोपी खोलकर नीचे फेंक दी। सभी बंदरों ने भी ऐसा ही किया। यह है अनुकरण।

कोई कुछ करता है, हम उसकी देखादेखी करते हैं, तो हम उसका अनुकरण करते हैं। यह बाहरी बात है, पर उसने कहा क्या, जब हम उसे अमल में लाते हैं, जीवन में उतारते हैं, तब यह है अनुगमन। गो० तुलसीदासजी कहते हैं–

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि ।

जबतक सेवक में सेवा की भावना नहीं आएगी, वह सेव्य के अनुकूल सेवा नहीं कर सकेगा और सेवा के बिना संसार-सागर से उद्धार संभव नहीं है। सेवक और स्वामी के क्या लक्षण हैं, गो० तुलसीदासजी बतलाते हैं–

मुखिया मुख सौं चाहिए, खान पान कहँ एक ।
पालै पोसै सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ।।

आँखें देखती हैं, कान सुनने का काम करते हैं, हाथ बहुत तरह के काम करते हैं, पैर चलते हैं। सभी अंग सेवा में जुटे रहते हैं; लेकिन सब भोजन मुँह में डाल देते हैं। मुँह सब का मुखिया है। वह क्या करता है? वह अपने पास नहीं रखता, भोजन को पेट में भेज देता है और पेट उसे पचाकर समूचे शरीर में जिसको जितनी आवश्यकता है, बाँट देता है। यह स्वामी का काम है।

एक नवाब ने अपने गुलाम से पूछा–'तुम्हारा क्या नाम है?' उसने उत्तर दिया–'आप जिस नाम से पुकारें।' नवाब ने पूछा–'तुम क्या खाते हो?' गुलाम–'जो खिला दें।' नवाब–'तुम क्या पहनना पसंद करोगे?' गुलाम–'आप जो पहना दें।' नवाब–'आखिर तुम क्या चाहते हो?' गुलाम–'मैं तो दास हूँ, मेरी अपनी चाह क्या हो सकती है।'

यह है सेवक का धर्म। वह यह नहीं सोचता कि अमुक चीज खाएँगे, ऐसा पहनेंगे, ऐसे रहेंगे आदि। जो मिल जाये, वह उसी में प्रसन्न रहता है। नवाब के पास रहता था, तो वह मूल्यवान खाना खाता था। नवाब उसे अच्छी-अच्छी चीजें दिया करता था। एक दिन नवाब ने उसे एक कड़ुवा फल दिया, जिसे वे स्वयं नहीं खा सके। गुलाम उसे सहजतापूर्वक खा गया। नवाब ने पूछा–'यह तो बहुत कड़ुवा है। मुझसे तो खाया नहीं गया, तुम इतने चाव से कैसे खा रहे हो?' गुलाम ने कहा–'हुजूर के हाथ से प्राप्त कर मैं हमेशा उत्तम-से-उत्तम चीजें खाता रहता हूँ। एक दिन यदि आपने एक कड़ुवा-फल दिया और मैंने उसे स्वाद से खा लिया, तो इसमें आश्चर्य कैसा?' यह है सेवक का धर्म।

भरतजी भगवान श्रीराम को मनाकर वापस लाने के लिए। गुरु, माता और नगरवासियों सहित जंगल चले। लोग उन्हें सवारी पर चढ़ने के लिए आग्रह करने लगे तो उन्होंने उत्तर दिया–

'राम पायदेहिं पाय सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये।'

भरतजी के मन में भाव उत्पन्न हुआ कि भैया श्रीराम जंगल में पैदल गए और मैं चतुरांगिनी सेना को साथ लेकर जाऊँ, यह ठीक नहीं।

सिर भरि जाऊ उचित अस मोरा।
सब तें सेवक धरम कठोरा।।

उचित तो यह है कि जहाँ-जहाँ उनके पाँव पड़े, वहाँ मेरे पाँव नहीं, सिर ही पड़े। यही अच्छा होता। सेवक कहलाना बहुत आसान है, पर बनना बहुत कठिन है। भरत ने प्रस्ताव सुनाया कि मैं चौदह वर्षों तक जंगल में रहूँगा और आप जाकर राज्य सँभालें। उन्होंने बहुत तरह से अयोध्या लौटने के लिए निवेदन किया। सबेरा हुआ, तो मन में आया कि मैंने भैया को बहुत कष्ट दिया। उन्होंने जो कहा–मुझे उसे स्वीकारना चाहिए, यही मेरा धर्म है। फिर उन्होंने भगवान से क्षमा माँगी। राम ने अपना खड़ाऊँ भरत को दिया। भरत ने उस खड़ाऊँ को राज्य सिंहासन पर

रखकर एक सेवक की भाँति राज्य संचालन किया। भरत का जन्म नहीं होता तो धर्म की धूरी को धारण करनेवाला कौन होता! भरतजी ने एक सच्चे सेवक के आदर्श को प्रदर्शित किया। उन्हीं का वचन है–

सेवक हित साहिबहिं सेवकाई।
करइ सकल सुख लोभ बिहाई॥

किसी जमाने में गोदावरी नदी के किनारे एक अच्छे संत रहते थे। वे पढ़े-लिखे, विद्वान् भी थे। अपने आश्रम में शिष्यों को ज्ञान भी देते थे। एक दिन आचार्य ने शिष्यों से पूछा–'मेरा दूषित प्रारब्ध नजदीक आ रहा है। मैंने जो कर्म किये हैं, उससे मेरे समूचे शरीर में कुष्ट हो जायेगा और मैं अंधा हो जाऊँगा। तब कुछ कर नहीं सकूँगा। उस समय मेरी सेवा कौन करेगा?' सन्नाटा छा गया। सब एक दूसरे का मुँह देखने लगा। एक शिष्य संदीपक ने कहा–'मैं करूँगा।' गुरु ने उससे पूछा–'विचार करके बोलो। मुझे खिलाना-पिलाना पड़ेगा, कुष्ट हो जाये, घाव-पीव हो जाये, तो उसे साफ करना होगा, यह सब बर्दाश्त कर सकोगे? उक्त शिष्य ने कहा–'गुरुदेव! मैं सारी सेवाएँ करूँगा।'

कुछ दिन बाद गुरुदेव ने कहा कि आश्रम में बीमार होना ठीक नहीं, चलो काशी चलते हैं, वहीं मरेंगे। काशी जाकर नदी के घाट के पास रहने लगे। कुछ दिनों बाद कुष्ट निकल आया, जिसमें घाव-पीव और दुर्गंध हो गई। होते-होते वे अंधे हो गए। संदीपक तन-मन से निष्ठापूर्वक सेवा करता रहा। कोई अन्य शिष्य देखने को नहीं आया। एक दो दिन या महीनों नहीं, वर्षों निकल गए। संदीपक के हृदय में मलिनता नहीं आई और वह सेवा को धर्म समझकर करता रहा। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर प्रकट हुए और बोले–'तुम्हारी गुरु-सेवा से मैं प्रसन्न हूँ, तुम वरदान माँगो।' उसने उत्तर दिया–'मुझे किसी चीज की आवश्यकता नहीं है।' भगवान् ने कहा–'तुम्हारा भाग्य है कि मैं तुम्हें दर्शन देने आया हूँ। कुछ माँग लो।' बहुत आग्रह करने पर संदीपक ने कहा–'गुरुदेव से कहूँगा, वे आदेश देंगे, तब मागूँगा।' उसने गुरुदेव से जाकर कहा–'भगवान शंकर मुझे वरदान देना चाहते हैं, आपकी आज्ञा हो तो माँगू।' गुरुदेव ने पूछा–'तुम्हारी क्या इच्छा है?' संदीपक बोला–'गुरुदेव! मैं चाहता हूँ कि आपको कष्ट न हो। आप स्वस्थ हो जाएँ।' गुरुदेव ने कहा–'मैं तो पहले ही कहता था कि तुमको मेरी सेवा में बहुत कष्ट होगा। तुम मेरी सेवा से ऊब गये हो, इसलिए ऐसा कहते हो।' शिष्य ने कहा–'भूल हो गई गुरुदेव, क्षमा करें। मैं भगवान से कुछ नहीं मागूँगा।' उसकी सेवा-भावना देखकर गुरुदेव की कृपा उसपर बरसने लगी।

गुरुसेवा की बड़ी महिमा है, पर एकनिष्ठ और सर्वतोभावेन समर्पित सेवक बनना बड़ा कठिन है। सेवक जब अपने सुखों का त्याग करता है, तभी वह सेव्य को सुख पहुँचा सकता है। सेवक यदि अपना ही सुख देखे, तो वह सच्ची सेवा नहीं कर सकेगा।●

(यह प्रवचन महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट भागलपुर में साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर दिनांक १.१०.२००० ई० को हुआ था।)

१०१. संतमत प्रमादी नहीं, पुरुषार्थी बनाता है

कतिपय लोगों की मिथ्या धारणा है कि संतमत–संतों का मत लोगों को प्रमादी, पुरुषार्थहीन, अकर्मण्य, निरुत्साही एवं साहसहीन बनाता है। इतना ही नहीं, वे यहाँ तक कहने की घृष्टता करते हैं कि साधु-संतों ने सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ा-पढ़ाकर, शरीर और संसार की अनित्यता बताकर लोगों को कायर बना युद्ध से विमुख कर दिया, फलतः देश पराधीन हुआ।

उनलोगों से निवेदन है कि वे अपनी ऐसी दलीलों को अपने पास रखें। वे स्वयं तो भ्रामक विचारों से भ्रमित हैं ही और अन्यों को भी व्यर्थ चक्कर में डालते हैं–ऐसा वे न करें।

उनको जानना चाहिए कि संत कबीर साहब, गुरु नानक साहब, संत पलटू साहब, संत दादू दयालजी, संत रविदासजी प्रभृति संतों ने स्वोपार्जन कर, रूखा-फीका, सलोना-अलोना खाकर अपना

जीवन-निर्वाह किया और देश-कल्याण के लिए उनलोगों ने जितना बड़ा काम किया, उसका मूल्यांकन करने का दुस्साहस कौन कर सकता है?

'दीन इस्लाम' परिवार में पालित होते हुए संत कबीर ने वैदिक और इस्लाम–दोनों धर्मावलम्बियों को एकता का पाठ पढ़ाया। उन्होंने कभी भी किसी का पक्षपात नहीं किया; बल्कि जैसा जहाँ उनको उचित जँचा–कटु वा मधु, निर्भीकता से कहा–

हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपस में दोउ लड़े मरत हैं, दुविधा में लिपटाना।।
हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागे।
यह करे जिवह वह झटका मारे, आग दोउ घर लागी।।
–संत कबीर

मिथ्या रूढ़िवाद को मिटाने तथा सद्ज्ञान-प्रचार करने के हेतु उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इतना ही नहीं, उन्हें अपनी जान पर खेलना पड़ा। उस समय के सिकन्दर शाह लोदी तथा उनके गुरु शेख तकी द्वारा ये बेतरह सताए गए। उनलोगों ने इनको कभी देग (बड़े कड़ाह) में देकर चूल्हे पर चढ़ाकर उबाला, तो कभी हाथ-पैर बाँध कर हथियार-भरे कुँए में फेंका, कभी हाथ-पैर बाँध कर बीच गंगाजी में डुबाया; फिर भी संत कबीर बेदाग निकले। उनको मारने की अनेक चेष्टाएँ करने पर भी जब वे लोग असफल रहे, तब शेख तकी कहने लगा–'चेटक नेटक जुलाहा जाने। शाह सिकन्दर तू मत माने॥' फिर उनको हाथी के पैर-तले दबवाने की कुचेष्टा की गई; किन्तु संत कबीर का वह बाल बाँका न कर सका। इस तरह कबीर साहब की बहत्तर कसनी प्रसिद्ध है। आज संत कबीर की लोक कल्याण-वाणी देश-विदेश में, घर-घर में, स्कूल-कॉलेज में इतना ही नहीं, विद्वान-अविद्वान के मुँह-मुँह में लोकोक्ति के रूप में प्रचलित है।

गुरु नानकदेवजी ने जन-कल्याणार्थ देश-विदेश में भ्रमण करके लोगों को ईश्वर-भक्ति, सदाचार-पालन एवं सत्संग करने के लिए सिखाया और काम, क्रोधादि विकारों तथा छल, कपट, पाखण्डादि दुर्गुणों से बचने की सीख दी।

हमें और भी देखना है कि संतों ने 'सर्वभूतहित' के लिए कितना बड़ा त्याग किया है। हमें इस बात की अभिज्ञता होनी चाहिए कि महात्मा सा‌क्रीटीज ने जहर का प्याला क्यों पिया? सेण्ट ईसामसीह ने अपने को क्रॉस पर क्यों लटकाया? पौराणिक ऋषि दधीचि ने अपने जीवित शरीर को गाय से चटवाकर वक्षःअस्थि क्यों अर्पित की? क्या महान त्यागियों में अपनी-अपनी कुत्सित स्वार्थ-भावनाएँ भरी थीं? कदापि नहीं। 'संत सहहिं दुःख परहित लागी' को साकार रूप देने के लिए तथा 'निज परिताप द्रवहिं नवनीता। पर दुख हेतु संत सुपुनीता॥' को चरितार्थ करने के लिए ही इन महान आत्माओं ने अपनी कुर्बानी की।

हमारी आँख खुलनी चाहिए कि जयचन्द और पृथ्वीराज कब के जैन, बौद्ध वा अन्य संतमतानुयायी थे, जिनके द्वारा भारत पराधीन हुआ था। हमें दुरालोचना–लोचन विमोचन कर विवेक, विलोचन निरावरण करके अवलोकन करना चाहिए कि महाराज अशोक, जो कि बौद्ध थे, सत्य और अहिंसा के पोषक और पुजारी थे, उनका साम्राज्य कितना विशाल, सुव्यवस्थित, सुसम्पन्न, सुगठित, सुशिक्षित और सुरक्षित था! आज स्वराज पाकर भी, क्या हम उस तरह की सुव्यवस्था की कल्पना कर सकते हैं? यह हम गंभीरतापूर्वक विचारकर देखना चाहेंगे, तो देख सकेंगे कि सत्य और अहिंसा के महान उपासक (महात्मा गाँधी) के द्वारा ही यह देश स्वाधीन हो सका है। और भी लीजिए, आपको स्मरण होगा कि जिन दिनों अन्य देशों के लोग हम भारतवासियों को बूत-पूजक समझकर तिरस्कृत करते थे, उन दिनों स्वदेश से सुदूर विदेश जाकर एक संतमतानुयायी संन्यासी (स्वामी विवेकानन्दजी) ने ही भारत का मुख उज्ज्वल किया था।

जानना चाहिए कि कोई भी संत-मतानुयायी सफल योद्धा होने में समर्थ हो सकता है; क्योंकि उसको इस बात की विशेष शिक्षा मिली रहती है कि शरीर क्षणभंगुर है, अनित्य है। शरीर मरता है, आत्मा

अजर, अमर, अविनाशी है। शरीर म्यान है, आत्मा तलवार है। एक तलवार के जीवन में कितने म्यान बदलते हैं। हम क्षेत्रज्ञ हैं, क्षेत्र वस्त्र के समान नूतन-पुरातन होता रहता है। एक जीर्ण पट के फटने पर अन्य नव पट धारण करते हैं, इस भाँति एक देहपात के बाद नव-नूतन तन ग्रहण करते हैं। इसलिए वह (संतमतानुयायी) योद्धा युद्ध-भूमि में काया की माया को छायावत् छोड़कर वीरतापूर्वक युद्ध कर दुश्मनों को मूली की भाँति उच्छेद कर डालेगा।

दूसरी बात यह है कि संतमतानुयायी परम आस्तिक होते हैं, उनका परम बल परमात्मा है। उनको भगवान श्रीकृष्ण के गीतोपदेश में दृढ़ विश्वास होता है कि भगवान भक्त का योग-क्षेम वहन करते हैं–'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (श्रीमद्भ० गी० ९।२२) और यह बात भी सुनिश्चित है कि ईश्वर उनकी सहायता करते हैं, जो अपने से अपनी सहायता करते हैं। **'God helps those who help themselves'** इसलिए वह और भी अत्यन्त निर्भीक होकर समर करेगा। संत कबीर कहते हैं–

> साध सती औ सूरमा, इनकी बात अगाध।
> आशा छोड़ै देह की तिनमें अधिका साध।।
> साध सती औ सूरमा, ज्ञानी औ गजदन्त।
> एते निकसि न बाहुरै, तो युग जाय अनन्त।।
> सिर राखे सिर जात है, सिर काटे सिर सोय।
> जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा होय।।

किन्तु जिसको केवल शरीर-ज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं है और जो नास्तिक है, वह क्या समर-भूमि में सम्मुख संग्राम कर सकता है? क्योंकि उसने तो शरीर को ही सब कुछ मान रखा है। शरीर नष्ट हुआ और स्थिति कुछ रही ही नहीं। इसलिए वह अपने शरीर-रक्षार्थ अपनी दुम दबाकर पीछे ही भागेगा। साथ ही दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उसे अपने निज बल की ही जो न्यूनाधिक पूँजी है, सो है, उसकी वृद्धि वा अभिवृद्धि की कोई भी आशा-किरण उसे दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए वह उस नए बछड़े कि समान होगा, जो अपने कंधे पर जुए लेकर सीधी राह में तो खूब दौड़ लगाता है; किन्तु बीहड़ मार्ग आने पर वह उस जुए को इस भाँति फेंककर भागता है, जैसे सर्प केंचुली को।

जरा खालसा इतिहास के पन्ने उलटकर संतमत-योद्धाओं की वीर-गाथाएँ पढ़िए। बन्दावीर की वीरता, धीरता, गंभीरता एवं सहिष्णुता को देखकर हमें दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ेगी। अल्पकाल में ही वह दुश्मनों के अनेक सिर भुट्टे की भाँति साफ कर डालता है और जब वह स्वयं दुश्मनों के हाथ पकड़ा जाता है और लोहे के चूँटे को अग्नि में रक्तवर्ण कर उससे उसके शरीर का मांस नोचा जाता है, उस समय भी बन्दावीर प्रसन्न मुद्रा में उन दुश्मनों से प्रश्नोत्तर करता है। फर्रुखसियार के पूछने पर कि तुम्हारे साथ इतनी बेरहमी किए जाने पर भी तुम प्रसन्न दीखते हो, इसका क्या कारण है? बन्दावीर ओजपूर्ण वाक्यों में कहता है–'तुम नहीं जानते, हमारे यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता है, तुम मेरा बाल-बाँका नहीं कर सकते, तुम तो नश्वर शरीर मात्र को नोच रहे हो।' बन्दावीर का शरीर छूटता है, किन्तु साहस अटूट रहता है। कोई संत-संतान ही इस वीरत्व-दशा को प्राप्त कर सकता है।

गुरु गोविन्द सिंहजी महाराज के दो रत्न (सुपुत्र), जो क्रमशः सात और नौ साल के थे, निर्भीक हो अपने हो भित्ति में चुनवाते हैं; किन्तु धर्म-परिवर्त्तन नहीं करते हैं। क्यों? उनकी रग-रग में, रक्त की बूँद-बूँद में, बूँद के विन्दु-विन्दु में संतमत का जोश कल्लोल कर रहा था। दोनों मरते दम तक कहते रह गए 'हम गुरुपुत्र हैं, हम धर्म-परिवर्त्तन नहीं कर सकते।'

गुरु गोविन्द सिंहजी महाराज मीरी और पीरी दोनों तलवारें रखते थे। गुरु अर्जुनदेवजी महाराज ने देश-रक्षार्थ जितनी यातनाएँ झेलीं, वे अवर्णनीय हैं। गुरु तेगबहादुर सिंहजी महाराज ने 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' अपनी जान दी। नरकेशरी गुरु गोविन्द सिंहजी महाराज ने दुश्मनों के चंगुल से भारत-भूमि को बचाने के लिए क्या प्रयत्न उठा रखा? पुत्रों-सहित स्वयं युद्धाग्नि में जूझ पड़े।

जिस महाभारत में कौरव-पाण्डवों की वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है, उसी (महाभारत) में पुत्र-परिवार के शोक से संतप्त उनके हृदयगत दौर्बल्य-जनित करुण कन्दन, अश्रुपात और विलाप के भी भरपूर वर्णन मिलते हैं। कहाँ वह वीरत्व और कहाँ यह करुण क्रन्दन! मानो, उस सारी वीरता को यह मटियामेट कर डालता है।

किन्तु यहाँ स्वयं (गुरु गोविन्द सिंहजी महाराज) अपने किले के बूर्जे पर बैठकर सब तमाशा देख रहे हैं कि पुत्र अनेक दुश्मनों का संहार कर वीरत्वदशा को प्राप्त करता है, ऐसी अवस्था में उनके मुँह से आवाज निकलती है—शाबास बेटा! शाबास!!

पुनः द्वितीय पुत्र की पीठ ठोककर कहते हैं—'बेटा! अब तुम्हारी बारी है।' वह भी तैयार हो जाता है और युद्ध करते-करते वह भी वीर गति को प्राप्त करता है। पुनः इनके मुँह से वही हर्षाशिष-ध्वनि गुंजायमान होती है—शाबास बेटा! शाबास!!

यहाँ कहाँ करुण क्रन्दन, यहाँ कहाँ अश्रुपात ।
यहाँ तो मुँह से निकलता, बार-बार धन्यवाद ।।

धन्य हैं गुरु गोविन्द सिंहजी महाराज और धन्य है उनकी कीर्ति! आज हमारे बीच वे अव्यक्त होकर भी अमर हैं। भला ऐसा क्यों न हो? यहाँ तो महाभारत-मैदान में मोह-ग्रस्त महाबाहु को दिए माधव मुरलीधर की मधुर मुरली-ध्वनि में वह मंत्र सतत ध्वनित होता रहता था— 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' (गी० ८।७) और जिसको उन्होंने चरितार्थ कर दिखलाया। एक बात और संतमत किसी को घर-वार का परित्याग कर कानन-विहारी बनाना नहीं सिखाता। वह तो स्पष्ट शब्दों में कहता है—

घर में जोग भोग घर ही में, घर तजि बन नहिं जावै ।
घर में वसत वस्तु भी घर है, घर ही वस्तु मिलावै ।।

संतमत सिखाता है—

'कपड़े रंग कर जो न कपट का जाल बिछावे ।
तन पर जो न विभूति पेट के लिए लगावे ।।
हमें चाहिए सच्चे जी वाला वह साधू ।
देश जाति जग हित कर जो नित जनम गँवावे ।।'

'पर उपकार वचन मन काया ।
संत सहज स्वभाव खगराया ।।
भूरज तरु सम संत कृपाला ।
परहित नित सह विपति विशाला ।।
संत विटप सरिता गिरि धरनी ।
परहित हेतु सबन्हि कै करनी ।।'

तथा—'विश्व उपकार हित व्यग्रचित सर्वदा त्यक्तमदमन्युकृत पुण्यरासी' को चरितार्थ करने के लिए।

अतएव दृढ़तापूर्वक जानना चाहिए कि संतमत मनुष्य मात्र को ज्ञान-विज्ञान के द्वारा उत्साह, स्फुर्ति, धैर्य, सत्साहस, स्वधर्म-पालन तथा परोपकारादि सद्गुणों को भर उन्हें अनृण होना और सानुकूल जीविकोपार्जन कर स्वावलम्बी जीवन बिताते हुए, स्वदेश-रक्षार्थ अपने को बलि-वेदी पर चढ़ाना सिखाता है।

(शान्ति-सन्देश, अक्टूबर २०००)

१०२. अब आपको बिहार जाने नहीं दूँगा

गुरु नानकदेवजी महाराज का अवतार संसार के उद्धार के लिए हुआ था। वे संसार के लोगों को जगाने के लिए आये थे। संसार का काम करते हुए परमार्थ का साधन किस प्रकार किया जाए, इसका आदेश उन्होंने दिया। वे कहते हैं–

जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणै।
सुरति सबदि भवसागरु तरीऔ नानक नामु बखाणै॥

कमल की उत्पत्ति जल से होती है; लेकिन कितना भी जल बढ़े, वह जल को डूबा नहीं सकता। कमल जल से हमेशा ऊपर रहता है। उसी तरह जिस संसार में तुम जन्म लिये हो, उसी में रहो; लेकिन कमल की तरह संसार से ऊपर उठकर रहो। सांसारिकता तुम्हें डुबा नहीं पाए।

कमल से सुगंध निकलती है तो चतुर्दिक सुरभित होता है। उसी तरह तुम इस तरह का ज्ञान प्राप्त करो कि तुम्हारे ज्ञान का यश, कृति का यश, तुम्हारे कर्म का यश, तुम्हारे परोपकार का यश संसार भर में फैले। कमल एक जगह खिलता है; लेकिन दूर-दूर से भौंरे आकर उसका पराग ले जाते हैं। उसी तरह तुम्हारा ज्ञान ऐसा होना चाहिए कि दूर-दूर से लोग आएँ और ज्ञान लेकर जाएँ। यह कैसे होगा? संत सद्‌गुरु की शरण जाओ, उनसे शिक्षा-दीक्षा लो, वे जो बतावें, वह करो, तो तुम्हारा यह लोक और परलोक दोनों उज्ज्वल होगा।

नानक सतिगुर भेटिऔ पूरी होवै जुगती,
हसं दिआ खेलं दिआ पैनं दिआ
खावं दिआ बिचे होवे मुकती।

जिनको पूरे सद्‌गुरु मिलेंगे, पूरी युक्ति मिलेगी, वे सत्कर्म करेंगे, सद्धर्म करेंगे, सदाचरण करेंगे, तो उनका स्वाभाविक ही संसार में यश फैलेगा और शरीर छूटने के बाद परलोक में उनका कल्याण होगां गुरु नानकदेवजी महाराज फरमाते हैं–

जे सउ चन्दा उगवहि सूरज चड़हि हजार।
एतै चानन होदिआ गुर बिनु घोर अंधार॥

अर्थात् दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा संसार को प्रकाशित करता है; लेकिन ऐसे सैकड़ों चन्द्रमा उग जाएँ और हजारों सूर्य उदय हो जाएँ, अगर गुरु का ज्ञान नहीं है, तो तुम्हारा जीवन अंधकारमय रहेगा।

गुरु नानकदेवजी महाराज के एक सरदार को जिसका नाम झंडा था, खबर भेजी कि पाँच सौ मुहर लाएँ। बेचारा गरीब था। सोचने लगा कि अब गुरु महाराज की आज्ञा है, तो कैसे नहीं पहुँचाएँगे। लेकिन पाँच सौ मुहर लाएँ तो कहाँ से लाएँ? झंडा और उसके पुत्र दोनों यही विचारने लगे।

उस समय तो वहाँ का नवाब था, उसके यहाँ एक पहलवान रहता था, जिसका नाम था–मसकीनिया। वह इतना बलवान था कि उससे कोई लड़ना नहीं चाहता था; क्योंकि जैसे ही कोई उसे कोई हाथ लगाता, वह झिड़क देता और इस तरह किसी का हाथ टूट जाता, किसी का माथा फूट जाता, कोई मर ही जाता था। उस नवाब ने घोषणा कर दी थी कि जो हमारे पहलवान से मल्ल युद्ध करेगा, तो हारनेवाले को पाँच सौ मुहर दूँगा और जीतनेवाले को मुँहमाँगा ईनाम मिलेगा।

झंडा ने अपने बेटे से कहा–बेटा! मुझे मल्ल युद्ध में जाने दो। मैं उससे मल्लयुद्ध करूँगा। यदि मैं मर भी गया, तो क्या होगा, पाँच सौ अशर्फियाँ तुझे मिलेंगी, उससे गुरु महाराज की आज्ञा का पालन होगा। लड़के ने कहा–नहीं, पिताजी! मुझे जाने दीजिए युद्ध में। झंडा अपने बेटे को समझा-बुझाकर नवाब के पास चला गया। उसने नवाब से कहा, 'मैं आपके पहलवान से मल्ल युद्ध करने आया हूँ।' नवाब ने पूछा, 'अरे बुड्ढा! तुम युद्ध करोगे?' झंडा ने कहा, 'हाँ, मैं युद्ध करूँगा।' नवाब ने मसकीनिया से कहा, 'देखो, यह बुड्ढा तुमसे मल्लयुद्ध करने आया है।' मसकीनिया भी आश्चर्य से पूछने लगा, 'क्या तुम मुझसे युद्ध करोगे?' झंडा ने कहा, 'हाँ-हाँ, मैं तुमसे युद्ध करूँगा। समय पर दोनों का युद्ध आरंभ हुआ। तमाशा देखने के लिए बहुत-से लोग इकट्ठे हो गये। मसकीनिया ने जैसे ही उसके हाथ से हाथ मिलाया, झंडा ने ऐसा पटका दिया कि धड़ाम से धरा पर गिर गया। मसकीनिया नीचे हो गया और झंडा ऊपर। तालियाँ बज गयीं। नवाब ने मसकीनिया से पूछा, 'अरे! यह बुड्ढा तुमको गिरा दिया?' मसकीनिया

कहने लगा, 'नवाब साहब! क्या बतलाऊँ, मुझको तो अपना बल था, पर इसको गुरु का बल था। जहाँ गुरु का बल है, वहाँ उसके सामने कौन टिक सकता है?

झंडा ने पाँच सौ अशर्फियाँ ही माँगी। नवाब ने झंडा से कहा, 'पाँच सौ अशर्फियाँ!' पाँच सौ अशर्फियाँ तो हारनेवाले के लिए घोषणा की गयी थी, तुम तो जीत गये हो, तुमको मुँहमाँगा मिलेगा। बोलो, क्या चाहिए?' झंडा ने कहा, 'मुझे पाँच सो अशर्फियों से अधिक की आवश्यकता नहीं है।' नवाब ने उसे पाँच सौ अशर्फियाँ दीं। वह उन अशर्फियों को लेकर गया, गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया। गुरु नानकदेवजी महाराज ने प्रसन्न होकर कहा–

सुखी रहो मसकीनिया आप निवारि तले।
बड़े-बड़े अहंकारिया नानक गरबि गले॥

जिसके ऊपर गुरु का वरदहस्त रहता है, उसकी सर्वत्र जीत-ही-जीत होती है। जो सच्चे गुरु होते हैं, वे परमात्मा तक पहुँचने की युक्ति बतलाते हैं। जिज्ञासा हो सकती है, 'परमात्मा को कहाँ खोजें?' इसका उत्तर गुरु नानकदेवजी महाराज इस भाँति देते हैं–

सब किछु घर माहिं बाहर नाहीं।
बाहरि टोलै सो भरमि भुलाहीं॥

'घर महि' का मतलब है 'घट माहिं'। एक घर तो वह है, जिसमें कि शरीर रहता है और दूसरा यह शरीर ही घर है, जिसमें हम रहते हैं। इसी शरीररूपी घर में सब कुछ है, जो बाहर खोजते हैं, टटोलते हैं, वे 'भरमि भुलाहीं'–भ्रम में भूले रहते हैं। तात्पर्य यह कि बाहर में भ्रम है और अंदर में ब्रह्म है–

इस गुफा महि अखुटा भंडारा,
तिसु बीचि बसै हरि अलख अपारा।
आपे गुपत परगट है आपे,
गुरु शबद आप वञावणिआ॥

इस शरीर रूपी गुहा में अखुट भंडार है। उससे कितना भी निकालिए, समाप्त नहीं होगा। इतना ही नहीं, इसके अंदर परम प्रभु परमात्मा भी विराजमान हैं। लेकिन यह भंडार मिलेगा कैसे? इसपर गुरु नानकदेव जी महाराज कहते हैं–

गुरु परसादी जिनि अन्तर पाइआ।
सो अंतरि बाहरि सुहेला जीउ॥

गुरु की कृपा से जिन्होंने अपने अंतर में प्रभु को पा लिया, उनका बाहर और भीतर–दोनों जीवन सुखमय हो जाता है। गुरु नानकदेवजी महाराज आगे फरमाते हैं–

झिमि झिमि बरसै अंम्रित धारा।
मनु पीवै सुनि शबदु विचारा॥
अनद विनोद करै दिन राती।
सदा सदा हरि केला जीउ॥
जनम जनम का बिछुड़िया मिलिआ।
साध क्रिपा ते सूका हरिआ॥
सुमति पाए नामु धिआए।
गुरमुखि होए मेला जीउ॥
जल तरंग जिउ जलहि समाइआ।
तिउ जोति संगि जोति मिलाइआ॥
कहु नानक भ्रम कटे किवाड़ा।
बहुरि न होइअै जउला जीउ॥

हमारे अंदर ज्योति की वर्षा होती है, हमारे अंदर शब्द की वर्षा होती है। इन्हीं दो रूपों में अमृत हमारे अंदर है। बाहर में अमृत-अमृत लोग कहते हैं; लेकिन आजतक किसी ने देखा नहीं। अमृत क्या है? गुरु नानकदेवजी कहते हैं–

अमृत एको शबद है, नानक गुरुमुख पाइआ।

जो गुरुमुखी लोग हैं, उनको शब्द मिलता है और फिर–

सुरत शबद भवसागर तरिअै नानक नाम बखानै।

अंतर में चलने पर पहले अनहद शब्द मिलता है, फिर अनाहत। वही सार शब्द है, वही ओंकार है। इसी ओंकार से सारी सृष्टि हुई है। दसवें गुरु गोविंद सिंहजी महाराज की वाणी है–

प्रणवो आदि एकंकारा,
जल थल मही अल कीउ पसारा।

तथा प्राणसंगली में लिखा है–'शब्द ततु बीर्य संसार....नानक शब्द घटे घटि आछै।' उस शब्द को जब कोई पकड़ते हैं, तो वह उसको परमात्मा तक पहुँचा देता है। यही है भवसागर से तरना अर्थात् सारे दुःखों से छूट जाना। आपलोगों ने यहाँ आने का कष्ट किया और गुरुग्रंथ साहब मुझे भेंट करने की कृपा की। इससे में बड़ा उपकृत हुआ हूँ। इससे बहुत ज्ञान लूँगा और लोगों में भी इस ज्ञान का विस्तार करूँगा। इससे बहुतों का जीवन प्रकाशमय होगा। गुरु नानक देवजी महाराज संत थे। उनके ज्ञान का सारा संसार सम्मान करता है। विशेषकर पंजाब प्रान्त उनके ज्ञान

से अधिक प्रभावित है। पाँच सौ वर्ष से अधिक हुए जबकि वे इस धराधाम पर सशरीर रहकर अपने अनमोल ज्ञान से जगत को आलोकित कर रहे थे। गुरु नानक पंथ में दस गुरु हुए। दसवें गुरु गोविंद सिंह ने सिक्ख सरदारों का संगठन किया। सद्धर्म की रक्षा के लिए इनका अपूर्व त्याग रहा है। किसी कवि ने कहा है—

लुटाता है जो जर अपना, वही जरदार होता है।
कटाता है जो सर अपना, वह सरदार होता है॥

सरदार सज्जनों में साधु-संतों और सत्संग के प्रति बड़ी श्रद्धा-भक्ति होती है। उनका वे बहुत आदर सत्कार और सेवा करते हैं।

एक बार का प्रसंग है। परम पूज्य गुरुदेव को स्व० रायबहादुर दुर्गादास तुलसी के सुपुत्र श्रीबाबू नंद कुमार तुलसीजी जालंधर (पंजाब) ले गये थे। गुरुदेव के साथ में भी था। एक दिन वे उनको एक गाँव ले गये, जहाँ सत्संग और भंडारे का आयोजन था। बहुत लोग इकट्ठे हुए थे। मैंने वहाँ देखा, कई माताएँ सब्जी टुकड़ा कर रही थीं, कोई रोटियाँ बना रही थीं, कोई भजन गा रही थीं। पुरुषवर्ग के लोग भी वहाँ के अपने-अपने सेवा कार्यों में व्यस्त थे। गुरु महाराज कमरे में बैठे थे और मैं बाहर बरामदे में था। कई सरदार साहब मेरे पास आकर बैठ गये और मुझसे परिचय पूछने लगे। मैंने अपना परिचय दिया।

सुनकर, उनलोगों ने कहा—'तो आप वे ही संतसेवीजी हैं, जिनका प्रवचन पटना साहब में हुआ था? मैंने कहा—हाँ, पटना साहब में गुरु नानकदेव जी महाराज की पंचशती जयंती मनायी गयी थी। उस समारोह में परम पूज्य गुरुदेव (महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज) के साथ में भी गया हुआ था। वहाँ उनका प्रवचन हुआ। पश्चात् वहाँ के ग्रंथीजी तथा जिनके सभापतित्व में कार्यक्रम हो रहा था, उन्होंने मुझसे आग्रह किया था कि आप भी कुछ कहिए, तब मैंने भी गुरु नानकदेव के संदर्भ में कुछ कहा था। मेरा वह प्रवचन 'पंजाब केशरी' में छपा था। वही आपलोगों ने पढ़ा होगा।

वे लोग बहुत प्रसन्न हुए और मेरे साथ बड़ा आदर दिखलाया। पुनः उनलोगों ने प्रेमपूर्वक हर्षोल्लास स्वर में कहा—देखिए, गुरुगोविंद सिंहजी महाराज बिहार में हुए थे। वे जब यहाँ (पंजाब) आये तो हमलोगों ने उनको यहाँ (पंजाब) से जाने नहीं दिया। आप भी बिहार से आये हैं, अब आपको भी बिहार जाने नहीं दूँगा। इस प्रकार प्रेमालाप के पश्चात् वे लोग वहाँ से चले गये। जालंधर में गुरु महाराज के कई दिनों का सत्संग-कार्यक्रम था। समय-समय पर सत्संग होता। वहाँ के गणमान्य लोग उसमें सम्मिलित होते थे। उसी क्रम में 'पंजाब केशरी' के संपादक भी आते और परम पूज्य गुरुदेव से जिज्ञासा करते। अपनी जिज्ञासा का समाधान पाकर वे प्रमुदित चित वापस जाते। बड़ा आनंद हुआ। कार्यक्रम जब समाप्त हुआ, तो हमलोग वहाँ से आए।

यहाँ आश्रम में प्रतिदिन तीन बार सत्संग होता है। खासकर प्रत्येक रविवार को साप्ताहिक सत्संग होता है, जिसमें बाहर से बहुत प्रेमी सज्जन आते हैं। आपलोग आते रहिए, सत्संग करते रहिए। आपलोगों के लिए मेरी मंगलकामना के साथ बहुत-बहुत धन्य वाद है। (गुरुद्वारा के सरदार ज्ञानीजी द्वारा गुरुग्रंथ भेंट, स्थान : कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक २९.१०. २००० ई०)

१०३. मोह निसा सब सोवनिहारा

अभी आपलोग संतवाणियों के आधार पर सोने और जगने की बात सुन रहे थे। हमलोग प्रतिदिन सोते और जगते हैं। इसलिए सोने और जगने में जो क्रियाएँ होती हैं, उनसे हमलोग अवगत हैं। इसके संबंध में संत लोग क्या कहेंगे! संत लोग उस जगने के संबंध में कहते हैं, जिसकी जानकारी हमलोगों को नहीं है। हमलोग विषयाभिमुख होकर सोये हुए हैं, जब निर्विषय तत्त्व की ओर चलेंगे, तब वास्तविक जगना होगा। गो० तुलसीदासजी ने कहा है—

मोह निसा सब सोवनिहारा।
देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥
यहि जग जामिनी जागहिं योगी।
परमारथी प्रपंच वियोगी॥
जानिय तबहिं जीव जग जागा।

जब सब विषय बिलास बिरागा।।
होइ बिबेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा।।
सखा परम परमारथ येहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू।।
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अकथ अनादि अनूपा।।
सकल विकार रहित गत भेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा।।

गोस्वामीजी का कथन है कि हमलोग अज्ञान की रात में सोये हुए हैं। अज्ञानता की ओर से हम ज्ञान की दिशा में चलें। अज्ञानता किस ओर है और ज्ञान की दिशा कौन-सी है? आँख से नीचे जबतक हम रहते हैं, यह अज्ञान की दिशा है। हम जैसे-जैसे आँख से ऊपर की ओर जाते हैं; वैसे-वैसे ज्ञान की दिशा में जाते हैं। जाग्रतावस्था में हम आँख में रहते हैं, उस समय हमको इस स्थूल जगत का ज्ञान होता है। स्वप्नावस्था में हम आँख के नीचे कंठ में चले आते हैं, तो जाग्रतावस्था का ज्ञान छूट जाता है, स्वप्नावस्था का ज्ञान होने लग जाता है। उस समय हमारा शरीर रहता है कहीं और हम दृश्य देखते हैं कहीं का। उससे नीचे जब हम हृदय में चले आते हैं, तो उस मानसिक जगत से भी छूटकर हम अचेतावस्था में आ जाते हैं। इसको सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। संतों का कथन है कि जैसे-जैसे हम आँख से नीचे की ओर जाते हैं, वैसे-वैसे हमारी अज्ञानता बढ़ती जाती है। जब हम आँख में रहते हैं, तो जाग्रतावस्था में आँख से जितनी दूर की चीजों को हम देखते हैं, उसी जाग्रतावस्था में कान से हम उतनी दूर के शब्दों को नहीं सुन सकते। कान से जितनी दूर के शब्दों को हम ग्रहण कर सकते हैं, नासिका से उतनी दूर की गंधों को ग्रहण नहीं कर सकते। नासिका से जितनी दूर की गंध हम ग्रहण करते हैं, जिभ्या से उतनी दूर की चीजों का रसास्वादन नहीं कर सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे हम नीचे की ओर जाते हैं, हमारी अज्ञानता बढ़ती जाती है।

हृदय से जब हम कंठ में जाते हैं, तो हमारी अचेतावस्था छूट जाती है, स्वप्नावस्था आ जाती है। उस समय मानसिक जगत में हम घूमने लगते हैं। कंठ से ऊपर जब हम आँख में आ जाते हैं, तो मानसिक जगत छूट जाता है और स्वाभाविक जगत हमारे सामने में आ जाता है। इस प्रकार प्रतिदिन के कार्य-कलाप से प्रमाणित है कि जैसे-जैसे ऊपर की ओर जाते हैं ज्ञान की वृद्धि होती है। संत जन का कथन है—अगर आँख से ऊपर तुम अपने को ले जा सके, तो तुमको उस जगत का ज्ञान हो जाएगा, जिस जगत का ज्ञान तुमको अभी नहीं है। उसी जगत में जाना ही जगने का आरंभ है। इसी के लिए गोस्वामीजी ने कहा है—'तीन अवस्था तजहु भजहु भगवन्त।' और वे भगवंत जो मिलेंगे, उसका स्वरूप कैसा होगा, तो कहा—'मन क्रम वचन अगोचर, व्यापक व्याप्य अनन्त।'

अभी हम इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान कर रहे हैं और इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाला मन है। आँखों से हम रूप देखते हैं, कानों से शब्द सुनते हैं, नासिका से गंध ग्रहण करते हैं, जिभ्या से रसास्वादन करते हैं और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान करते हैं। इन पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पंच विषयों का ज्ञान करते हैं। लेकिन गोस्वामीजी का कथन है—

जानिय तबहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय विलास विरागा।।

जब इन विषयों से हम ऊपर उठ जाएँ। इन विषयों से ऊपर उठने का मतलब कि हम अपने को मन से ऊपर उठा लें; क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ विषयों में जाती हैं। मूल चीज पहले हम मन को शुद्ध करें। मन ही विषयों के कीचड़ में लिपटा हुआ है, फँसा हुआ है। इसको हम कैसे निकालें? गो० तुलसीदासजी ने बड़े ही उत्तम ढंग से इसका स्पष्टीकरण किया है—

भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहिं माया लिपटानी।।

वर्षा का जल बहुत पवित्र होता है। किन्तु वह जल जब मिट्टी का स्पर्श करता है, तो गँदला हो जाता है, अपेय हो जाता है। उसी तरह यह जीव जो ईश्वर का अंश और अविनाशी है, माया का संग करके अपवित्र हो गया है।

जब पवित्र जल मिट्टी का संग करके अपवित्र हो जाता है, तो हमलोग उसका फिल्टरेशन करके उसे साफ करते हैं, पेय बना लेते हैं। क्या करते हैं? गँदला जल का घड़ा सबसे ऊपर में रखते हैं। उसके नीचे एक दूसरा घड़ा रखते हैं, जिसमें कोयला रहता

है। उसके नीचे एक घड़ा रखते हैं, जिसमें चूना रहता है। उसके नीचे एक घड़ा हम रखते हैं, जिसमें बालू रहता है। उसके नीचे बिल्कुल खाली घड़ा रहता है, उसके मुँह के ऊपर कपड़ा बँधा रहता है। नीचेवाले खाली घड़े को छोड़कर ऊपर के अन्य भी घड़ों के पेंदे में छेद रहता है। ऊपर गँदला पानी चू करके कोयलावाले घड़े में आ जाता है, कोयला से छनकर पानी चूनावाले घड़े में आ जाता है। चूना से पानी छनकर नीचे बालू से छनकर पानी फिर कपड़े से छनकर खाली घड़ा में आ जाता है। तब जैसे पहले पवित्र जल था, वैसा ही हो जाता है।

कहने का तात्पर्य क्या हुआ? कबीर यह तन कुंभ है–यह तन घड़ा है, इसमें गँदला जल भरा है। उस गँदले जल को साफ करने के लिए किधर ले जाएँगे? पहले कोयले के घड़े में ले जाइए। आँखें बंद कर लीजिए, अंधकार-मंडल मालूम होगा, वह है कोयला का घड़ा। जैसे कोयले के घड़े में छेद था, उसी तरह अंधकार में छेद है, जिसका भेद संत सद्गुरु बतलाते हैं। उस छेद से निकालिए। वह छेद कैसा है? बहुत महीन है। गुरु महाराज के वचन में आया है–'सूई अग्र दर ले लही।'

सूई के आगे का हिस्सा होता है, उसकी नोक से भी वह अधिक महीन है। अगर उस होकर के सुरत आगे सरक जाए तो क्या होगा? कहा कि 'या मग सुरत सरकि जब जावे' तो–'जोति झकाझक कीनी'। चूना होता है उजला अर्थात् आप जब अंधकार से प्रकाश में चले जाएँगे, तो समझिए कि चूना के घड़े में आ गये। लेकिन चूने के घड़े में ही रहना नहीं है।

छट-छट छट-छट बिजली छटके,
भोर का तार दिखाता है।
चन्दा उगत उदय हो रबिहू,
धूर शब्द मिल जाता है।।

गुरु महाराज कहते हैं–विविध प्रकार की ज्योतियाँ हैं; लेकिन इन ज्योतियों में लिपट कर नहीं रहना है। 'इस मंडल से आगे वीरो और तुम्हें बढ़ना होगा।' अंधकार को पार करके तो प्रकाश में आ जाए। अब प्रकाश को भी पार करो, आगे जाओ। कहाँ जाओगे? चूना के घड़े से पानी कहाँ जाएगा? बालू के घड़े में। बालू के इतने कण हैं, जिसकी गणना नहीं हो सकती। गंगा के किनारे में बालूका राशि है, उसकी गणना हम नहीं कर सकते; लेकिन चलते-चलते बालूका राशि पार कर मिट्टीवाले जमीन पर चले जाते हैं। उसी तरह अपने अंदर में इतने प्रकार के शब्द हैं, जिसकी गणना नहीं हो सकती। इसीलिए उसकी संज्ञा अनहद की दी गई है। अंतस्साधना द्वारा अनहद को भी पार कर जाएँगे। वही है सारशब्द। उस शब्द को भी पार करो। उस शब्द के सहारे चले जाओ, कहाँ? 'निःशब्दं परमं पदम्' में। वही निर्विषय तत्त्व परम प्रभु परमात्मा है। मानो कपड़े से छनकर पूर्ववत् पवित्र पानी शून्य घड़ा में चला गया। महायोगी गोरखनाथ की वाणी है–

'बस्ती न शून्यं शून्यं न बस्ती,
अगम अगोचर ऐसा।
गगन शिखर महिँ बालक बोलहिं,
वाका नाम धरहुगे कैसा।।'

'वह तुम्हीं तुम वही मैंहीं प्रश्न पुनि रहते नहीं।'

तुम वही बन जाओगे, जो पहले थे। जीव पीव में मिलकर एक हो जाएगा। वहाँ जगने का प्रश्न नहीं रहेगा। (स्थान : कुप्पाघाट, भागलपुर; साप्ताहिक, दिनांक : २०.८.२००१; शान्ति सन्देश, नवम्बर २००१ ई०)

१०४. मन मलिन तन सुन्दर कैसे

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने विनय-पत्रिका में लिखा है–

अनविचार रमणीय महा संसार भयंकर भारी।

अनविचार अर्थात् बिना विचार के। जो विचार हीन, विवेकहीन लोग हैं, उनके लिए यह संसार रमणीय है, किन्तु विवेकी जन की दृष्टि में भयंकर भारी है। संसार का बहिरंग बहुत सुंदर, प्रिय एवं मधुर है; किन्तु इसका अंतरंग अत्यन्त असुंदर, अप्रिय और विषाक्त है। संसार की उपमा सर्प से दी गयी है। सर्प का बाह्यरूप सुन्दर होता है; किन्तु उसके भीतर में विष भरा हुआ होता है। सर्प के सिर को आप अपनी मुट्ठी में लेकर उसकी पूँछ को नीचे की ओर लटका दीजिए, तो दूर से देखनेवाले लोग कहेंगे कि बाबू के हाथ में सुंदर छड़ी है। अगर उस सर्प को गले में लपेट

लीजिए, तो देखनेवाले कहेंगे कि गले में बहुत अच्छा माला है। अगर उसकी पूँछ को हाथ में लपेट लीजिए तो लोग कहेंगे–हाथ में बहुत सुन्दर बाला है। लेकिन वास्तव में वह न बाला है, न माला है, वह तो विष धर नाग का काला है। गोस्वामीजी ने दूसरी उपमा इस प्रकार दी है–मन मलीन तन सुन्दर कैसे।

विष रस भरा कनक घट जैसे॥

जैसे सोने का घड़ा हो और उसमें विष भरा हुआ हो, तो घड़ा का बहिरंग तो बहुत सुंदर है; लेकिन उसके भीतर जो है, उसको पान कीजिए, तो जान अवश्य जाएगी। उसी तरह यह संसार बहुत सुंदर, आकर्षक लगता है, लेकिन इसे भोग करनेवाला मृत्यु के मुँह से नहीं छूट सकता है। भगवान बुद्ध ने कहा–संसार के लोग कोई 'सुभानुपस्सी' होते हैं और कोई 'असुभानुपस्सी'।

सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तमञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो वातो रुक्ख व दुब्बलं॥

शुभ ही शुभ देखते हुए विहार करनेवाले, इन्द्रियों में असंयत, भोजन में मात्रा न जाननेवाले, आलसी और उद्योगहीन पुरुष को मार वैसे ही गिरा देता है, जैसे वायु दुर्बल वृक्ष को। महोपनिषद् में आया है–

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥

जो अविवेकी है उसके लिए शास्त्र भार है, शास्त्र की बात उनको अच्छी नहीं लगती, उनको अपने मन की ही बात अच्छी नहीं लगती है। वे जो समझते हैं, वही बात उनको हितकर जान पड़ती है। अच्छी बात अगर उनको कोई समझाते हैं, तो वह उनको अच्छी नहीं लगती।

भगवान श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को बहुत समझाया कि युद्ध मत करो, तुम दोनों भाई हो। पाण्डव बेचारे जंगल-जंगल भटक चुके, दूसरे के यहाँ जाकर रहे। जो पांडव का राज्य है, उसको तुम दे दो। शर्त के अनुकूल अपना काम करो। लेकिन दुर्योधन ने भगवान की एक न सुनी। भगवान ने यहाँ तक कहा–'अरे! धर्म-अधर्म को, पाप-पुण्य को, कर्तव्य-अकर्तव्य को भी तो समझो।' लेकिन दुर्योधन क्या उत्तर देता है–

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानामि अधर्मं न चे मे निवृत्तिः।
केनाऽपि देवान्हृदि स्थितेन यथा
नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

हे कृष्ण! आप मुझे धर्म और अधर्म की बात क्या समझाते हैं! मैं धर्म-अधर्म की बात जानता हूँ; लेकिन धर्म की ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है। आपके समझाने से क्या होगा? मैं अधर्म को भी जानता हूँ, लेकिन उस ओर से निवृत्ति नहीं है। कोई देवता मेरे भीतर बैठा हुआ है, वह मुझको जैसा कहता है, वैसा मैं करता हूँ। विवेकी जन समझ सकते हैं कि दुर्योधन के भीतर देवता बैठा था या राक्षस।

जो अविवेकी है उसके लिए शास्त्र भार है, बेकार है, किसी काम का नहीं है। उसके लिए तो यह चार्वाक का सिद्धांत ही महत्त्वपूर्ण है।

यावत् जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूत शरीरस्य पुनरागमन कुतो भवेत्॥

जबतक जियो सुख से जियो, ऋण लेकर घी पियो। शरीर छूटता है तो कौन देखता है कि कौन मरा, कौन जिया, कहाँ गया, नहीं गया। इसलिए जो करना है, इसी शरीर में मौज कर लो, भोग कर लो।

संतों का ज्ञान बतलाता है कि किसी भी स्थूल चीज का निर्माण तबतक नहीं होता, जबतक उसका सूक्ष्म रूप नहीं होता है। हमलोगों का यह स्थूल शरीर है। इसके पहले सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म के पहले कारण शरीर, कारण के पहले महाकारण शरीर और महा कारण शरीर के पहले कैवल्य शरीर है। जब हमारा स्थूल शरीर छूटता है तो हम कहाँ जाते हैं? जैसे अभी हमारा यह स्थूल शरीर है और स्थूल शरीर के लिए स्थूल लोक है, उसी तरह स्थूल शरीर जब छूट जाता है, तो सूक्ष्म शरीर के साथ हम यहाँ से निकलकर सूक्ष्मलोक में जाते हैं। उसी सूक्ष्मलोक में स्वर्ग और नरक है। शुभ कर्म करनेवाले स्वर्ग जाते हैं और अशुभ कर्म करनेवाले नरक जाते हैं।

भगवान बुद्ध ने कहा है–'हमारी वर्तमान हालत हमारे विचारों का फल है, उसकी बुनियाद हमारे विचारों पर है, वह हमारे विचारों से बनी है। मनुष्य अगर बुरी कल्पना से बोलता या काम करता है, तो

दुःख उसके पीछे वैसे ही चलता है, जैसे बैलगाड़ी खींचनेवाले बैल के पीछे-पीछे उसका चक्का।'

पुनः उन्होंने कहा–'हमारी वर्तमान हालत हमारे विचारों का फल है, उसकी बुनियाद हमारे विचारों पर है और वह हमारे विचारों से बनी है। मनुष्य अगर अच्छी कल्पना से बोलता या काम करता है, तो सुख उसके पीछे-पीछे वैसे ही चलता है, जैसे उसके शरीर की छाया, जो उसे कभी नहीं छोड़ती।'

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम जगज्जननी जानकी और लक्ष्मणजी के साथ वनगमन करते हैं। उसी क्रम में भगवान श्रीराम और जानकी एक वृक्ष के नीचे पत्ते की शय्या पर सोये हुए थे। रात्रि का समय था। लक्ष्मणजी थोड़ी दूर पर बैठकर पहरा दे रहे थे। गुहनिषाद लक्ष्मणजी के पास आकर बैठ गये। भगवान श्रीराम और सीताजी को पत्ते की शय्या पर सोये देखकर गुहनिषादजी के मन में विषाद हुआ। वे कहने लगे, 'ये राजराजेश्वर और राजरानी हैं। कहाँ महल अटारी में दुग्धफेन के समान कोमल उज्ज्वल शय्या पर सोनेवाले आज यहाँ पत्ते की शय्या पर सोये हैं। कैकेयी ने अच्छा नहीं किया।' गुहनिषाद् की बात सुन, लक्ष्मणजी कहते हैं–

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सुनु भ्राता॥

हे भाई! कोई किसी को सुख या दुःख देनेवाला नहीं है, सब अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। पिता-माता जन्म देनेवाले होते हैं; लेकिन कर्म का फल तो स्वयं भोगना पड़ता है। हमारे हाथ में पाँच अंगुलियाँ हैं, पाँचों अंगुलियों में जो अंगुली आग में जाएगी, तकलीफ उसी अंगुली को होगी। जब एक ही शरीर के अंग की बात यह है तो एक परिवार की क्या बात होगी, कौन किसका कर्मफल भोगेगा?

बहुत जमाने की बात है। दो मित्र थे। साथ-साथ व्यापार करते थे। माल खरीदकर बम्बई आढ़त में जाकर रख देते थे। जब भाव तेज होता, तो वहाँ से खबर आती और दोनों मित्र वहाँ जाकर माल बेच देते। जो लाभ होता था, दोनों बाँट लेते थे। एक बार आढ़त में माल जमाकर दोनों मित्र घर आए। कुछ दिनों के बाद वहाँ से खबर आई कि भाव तेज हो गया है, आकर अपना माल बेच लें। दोनों मित्र बम्बई गए। माल बेचने पर एक लाख रुपए का लाभ हुआ। रुपए लेकर वे लोग वहीं एक धर्मशाला में ठहर गए। अब दोनों में से एक के मन में होने लगा कि अगर मित्र को किसी तरह मार दें, तो हम लाखपति बन जाएँगे, अन्यथा जीवन भर हजारपति ही बने रहेंगे। उसने मित्र से कहा–'देखिए, इतने रुपए लेकर हमलोग कहाँ-कहाँ भटकेंगे। आप रुपए लेकर यहीं धर्मशाला में रहिए। मैं होटल जाता हूँ, भोजन कर लूँगा और आपके लिए भोजन लेता आऊँगा।' मित्र ने कहा–'ठीक है, जाइए।' वह गया, स्वयं भोजन किया और भोजन में विष मिलाकर मित्र के लिए ले आया। भोजन करते ही दूसरे मित्र का राम-नाम सत् हो गया। उसने शव को कार पर लादकर समुद्र में लुढ़का दिया और मित्र के पुत्र को टेलीग्राम कर दिया कि तुम्हारे पिता बहुत बीमार हैं, जल्दी आकर भेंट करो।

कुछ दिनों के बाद उसने घर जाने के लिए बम्बई से प्रस्थान किया। इधर टेलीग्राम पाकर उसके मित्र का पुत्र भी बम्बई की ट्रेन पकड़ने के लिए स्टेशन आया। पहला मित्र उसी ट्रेन से उतरा। उसकी मित्र के पुत्र से भेंट हुई, तो उसने दिखावटी रोना शुरू कर दिया। रोते-रोते वह कहने लगा–'हम एक रोटी को दो टुकड़ा करके खाते थे। हमारे दिल का टुकड़ा हमसे छिना गया, हम बर्बाद हो गए।' आगे कहने लगा–'हमारे मित्र तो चले ही गए, तकदीर भी फूट गई। हमलोग मन में सोचे थे कि एक लाख रुपए का लाभ होगा। लेकिन जबतक वहाँ गए, भाव घट गया। मात्र दस हजार रुपए का लाभ हुआ। पाँच हजार तुम्हारे और पाँच हजार मेरे। दवाई, डॉक्टर को दिखाने में, गाड़ी भाड़ा करने आदि में जो खर्च हुआ, वह सब मेरा हुआ। मेरा मित्र ही तो था, कोई बात नहीं है। उसके लिए तुम कोई चिन्ता मत करना। ये पाँच हजार रुपये लो।' बेचारे का बाप भी मर गया और रुपये भी मिले पाँच हजार ही। आखिर क्या करता, रोते-रोते घर आ गया। जिसने मित्र को मारकर रुपये लिए थे, वह व्यक्ति निःसन्तान था। सालभर के बाद उसको

पुत्र हुआ। बुढ़ापे में बाप बना, घर में बहुत खुशियाली थी। कारोबार भी तेज हो गया। खूब कमाई होने लगी। वह समझने लगा कि वास्तव में पाप करने में ही लाभ है। इतने दिनों तक तो कुछ लाभ नहीं हुआ था, अब लाभ-ही-लाभ है। पाप नहीं करते तो बाप भी नहीं कहलाते। बंगाल में एक कहावत है— 'जे कऽरे पाप सेई सात छेलेर बाप।
जेई कऽरे पुन्न ताँरे काये लागे घुन॥'

अचानक लड़का बीमार हुआ। बड़े-बड़े डाक्टरों को बुलाया गया। इलाज चलने लगा पर सुधार नहीं हुआ। अन्त में डॉक्टरों ने कह दिया—'इस रोग का इलाज यहाँ नहीं हो सकेगा, इसे स्वीटजरलैंड ले जाइए।' पैसे की कमी तो थी नहीं। ले गए स्वीटजरलैण्ड। वहाँ पर रहने, डॉक्टरों की फीस भरने, दवाई आदि में बेसुमार खर्च होने लगे। पर कब तक रोगी को आराम होगा, कोई ठिकाना नहीं। इधर जो मुनीम लोग कारोबार देखते थे, उन्होंने देखा कि मालिक कब तक आएँगे, कोई ठिकाना नहीं है। सब मनमानी करने लगे। मालिक जो खर्च माँगते, भेज देते। मुनीम लोगों ने खाते में घाटा दिखलाना शुरू कर दिया। अन्त में वहाँ के डॉक्टर ने भी कह दिया—'अब तुम्हारे पुत्र को भगवान् ही बचा सकते हैं, इसे अपने देश ले जाओ।' निराश होकर वह बच्चे को लेकर भारत आ गया। यहाँ फिर से इलाज शुरू हुआ। डॉक्टर आते, देखते और दवाई दे देते। इधर व्यापार में सब घाटा-ही-घाटा होने लगा। कर्ज बढ़ने लग गया। एक दिन वह व्यथित मन से बच्चे को गोद में लेकर उसकी ओर देख रहा था। एकाएक बच्चा हँसने लगा। उसके मन में हुआ कि बच्चे को आराम हो गया। पूछा—'बेटा, तबियत ठीक है ना?' बच्चे ने कहा—'पहचान लो, मैं कौन हूँ। तुमने जो रुपए लिए थे, मैंने वसूल कर लिए। अब जो बचे हैं, उन्हें मेरे श्राद्ध में खर्च कर देना।' इतना कहकर उसने शरीर छोड़ दिया। इसलिए कहा—

'निज कृत करम भोग सुनु भ्राता।'

संत कबीर साहब ने कहा है—

खाय खुराका पहन पोसाका, जम का बकरा पलता है।
जम बदजाती तोरे छाती, उससे क्यों नहीं डरता है॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, फल लेने का अधिकार नहीं। जैसा फल चाहो, वैसा मिल जाए, ऐसा नहीं होगा। तुम जैसा चाहो कर्म करोगे, तदनुकूल फल तुमको दिया जाएगा। शुभ कर्म करोगे, तो शुभ फल मिलेगा और अशुभ कर्म करोगे, तो अशुभ फल मिलेगा। आम का पेड़ बोओगे, तो आम का फल और कटहल का फल बोओगे, तो कटहल का फल तुमको दिया जाएगा। आम बो करके कटहल चाहोगे, कटहल बोकर तुम लीची चाहोगे, ऐसा नहीं होगा।

यह कर्मफल किस तरह मिलता है? जिस तरह खेत में हम एक मन बीज बो देते हैं, तो फसल पकने पर जब काटने का समय होता है, तो क्या एक ही मन अनाज काटकर लौट आते हैं? नहीं, एक मन के बदले में अनेक मन काटकर लाते हैं। एक आम की गुठली लगाते हैं और पेड़ का रूप धारण करके जब वह वृक्ष बन जाता है, तो क्या एक ही फल लगता है? कितने फल लगते हैं, ठिकाना नहीं। उसी तरह से हम एक कर्म करते हैं, तो उसका फल बढ़कर अनेक गुणा हो जाता है। भगवान बुद्ध का वचन है—

न अन्तलिक्खे न समुद्द मज्झे,
न पब्बतानं बिबरं पवस्सि।
न विज्जति सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितं नप्पसहेय्य मच्चू।

चाहे अंतरिक्ष में चले जाओ, चाहे समुद्र में चले जाओ, चाहे पहाड़ की गुफा में ले जाओ, लेकिन जो तुम्हारा कर्मफल है, वह तुमको भोगना ही पड़ेगा। तुम्हारा जितना जीवन शेष है, उस जीवन को तुम कर्मानुसार भोगोगे। 'भारो ज्ञानं च रागिनः'—जो रागी है, संसार में आसक्त रहनेवाला है, कितना भी उसको ज्ञान की बात समझाइए, वह नहीं समझता। संत कबीर साहब ने कहा—

मूरख को समझावते, ज्ञान गाँठ का जाय।
कोयला होय न उजला, सौ मन साबुन लगाय॥

कोयला काला होता है, उसमें सौ मन साबुन घिस दीजिए; लेकिन वह काला का काला ही रहेगा, उजला होनेवाला नहीं है। उसी तरह मूढ़ व्यक्ति पर

ज्ञान की बातों का असर नहीं होता।

कोयला भी हो उजरो, जरि बरि होय जो सेत।
मूरख होय न उजरो, जो काजर की खेत॥

कोयला तो जलकर उजला हो भी जाता है, पर मूढ़ व्यक्ति ज्ञान की बात सुनने समझनेवाला नहीं है।

बहते को मत बहन दे, कर गहि लावो ठौर।
कहा सुना मानै नहीं, तो वचन कहो दुई और॥

अरे! जो बह रहा है, उसे बहने मत दो, नहीं समझता है, तो फिर समझाने की कोशिश करो। तुम्हारी बातों को नहीं मानता है तो और कुछ बात समझाकर फिर मनाने की कोशिश करो।

संत कबीर साहब आगे कहते हैं कि इतना होने पर भी नहीं समझे, तो उसे बूड़ने के लिए छोड़ दो। संतों का हृदय तो कोमल होता ही है। वे फिर अपने विचार को बदलते हुए कहते हैं–छोड़ो नहीं, उसे अज्ञान से ज्ञान में लाने के लिए और धक्के लगाओ अर्थात् फिर प्रयास करो।

बहते को बह जाने दे, मत गहि लावो ठौर।
कहा सुना माने नहीं, दे दो धक्के और॥

संत लोग स्वयं कल्याणस्वरूप, शांतिस्वरूप होते हैं और दूसरों के लिए भी सुख-शांति चाहते हैं। उनके लिए तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' होता है। हमारा एक छोटा-सा परिवार है, तो हमारे परिवार के लोग दुःखी नहीं हों, सुख-ही-सुख भोगें, इसके लिए हम सचेष्ट रहते हैं। वसुधा के समस्त लोग ही जिनके कुटुम्ब हैं, वे तो सबके कल्याण की कामना करेंगे ही। संत जन सबके लिए कल्याण का मार्ग बतलाते हैं। पर जब लोग उनकी बात नहीं मानकर मनमानी करते हैं, तो उनको चिंता होती है। संत कबीर साहब कहते हैं–'अरे भाई! तुम्हें किधर जाना चाहिए और तुम किधर जा रहे हो!

मोरे जियरा बड़ा अंदेसबा मुसाफिर जैहौं कौनी ओर।

मनुष्य-शरीर पाकर जो विषयों में मन लगाता है, भगवद्भजन नहीं करता, उसके लिए भगवान श्रीराम कहते हैं–

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ॥

शरीर छूटने के बाद वह जहाँ जाएगा, वहाँ दुःख पाएगा। सिर धुन-धुनकर पछताएगा। लेकिन वहाँ पछताने से होगा क्या?

आछे दिन पाछे गये, हरि से किया न हेत।
अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गइ खेत॥

जिस समय खेत में फसल लगी हुई थी, उस समय उसकी देखभाल नहीं की, सुरक्षा नहीं की और जब चिड़िया फसल चुगकर चली गयी, तो सिर धुनते हैं। भजन नहीं करनेवाला काल, कर्म, ईश्वर को मिथ्या ही दोष लगाता है। प्रायः लोग कहते हैं कि क्या करें? हमारे मन में तो बहुत था कि हम दान करें, पुण्य करें, सेवा करें, परोपकार करें, शुभ कर्मों को करें, भगवद्भजन करें, पर कलिकाल कराल होने नहीं दिया। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

काल धर्म व्यापै नहीं तेही।
रघुपति चरन प्रीति अति जेही॥

कभी तो काल का दोष लगाता है, कभी कहते हैं कि 'क्या करें हमारे कर्म में लिखा हुआ नहीं था, तो होगा कहाँ से। अरे! कर्म में क्या लिखा हुआ रहेगा? जो भी अच्छा या बुरा कर्म तुम करोगे, वही कर्म तो लिखा जाता है। इतना ही नहीं लोग ईश्वर को भी दोष लगाने से बाज नहीं आते हैं। कहते हैं कि ईश्वर की कृपा के बिना तो एक पत्ता तक नहीं हिलता है, अगर ईश्वर की कृपा मुझपर हुई होती तो क्या मैं अच्छे-अच्छे कर्मों को नहीं करता? उत्तर में निवेदन है कि जिस समय हम बुरे कर्म करने के लिए चलते हैं, क्या उस समय भगवान का पत्ता हिल जाता है और जब अच्छे कर्म करना चाहते हैं, तब पत्ता स्थिर हो जाता है? यह सब झूठी बहाना है। दूसरे पर दोष लगाने से कोई लाभ नहीं। जैसा हमारा कर्म होगा, उस कर्म का फल हमको भोगना ही पड़ेगा। इसलिए हमलोगों को चाहिए कि अच्छे-अच्छे कर्मों को करें। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

लाभ कहा मानुष तन पाये।
काय वचन में सपनेहु कबहुँक घटत न काज पराये॥

अगर परोपकार के लिए तन नहीं लगा, मन नहीं लगा, धन नहीं लगा, वचन नहीं लगा, तो मनुष्य शरीर मिलने से क्या लाभ हुआ? कोई लाभ नहीं। हम इस शरीर की उपादेयता को जानें, भगवद्भजन करें, शुभ कर्मों को करें। जितना बन पड़े जीवन परोपकारमय हो, यही अच्छा है। (शान्ति सन्देश, दिसम्बर २००१ स्थान : कुप्पाघाट, साप्ताहिक सत्संग, दिनांक १४. १०.२००१ ई०)

१०५. महाजनो येन गतः स पन्थाः

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के वचन मे आया है–

जो मारग श्रुति साधु दिखावै।
तेहि मग चलत सबे सुख पावै॥
पावई सदा सुख हरि कृपा, संसार आसा तजि रहै।
सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत दरसन, बात कोटिक को कहै॥

जिज्ञासा होती है–वह 'मार्ग' क्या है, जिसपर चलकर सब कोई सुख पाएँगे? 'मार्ग' लकीर को कहते हैं, जिसका कहीं से आरंभ होता है, कहीं जाकर अंत होता है और दोनों के बीच में कुछ दूरी होती है। मार्ग पर चला जाता है। यक्ष ने महाराज युधिष्ठिर से पूछा था–कः पंथा? अर्थात् रास्ता क्या है? महाराज युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था–

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

जिसपर महाजन चलते हैं, वह रास्ता है। महाजन का अर्थ है–श्रेष्ठ लोग, महापुरुष। धम्मपद में भगवान बुद्ध की वाणी है–

अभिवादनसीलिस्स निच्चं बद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं॥
(सहस्सवग्गो)

जो वृद्धों की सेवा करता है, उनकी आज्ञा का पालन करता है, उसकी चार चीजें बढ़ती हैं–आयु, वर्ण, सुख और बल। प्रश्नोदय होता है–वृद्ध कौन? उसी धम्मपद में भगवान बुद्ध की वाणी है–

न तेन थेरो होति येनस्स पलित सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघ जिण्णो'ति वुच्चति॥

जिनके बाल पक गये हैं, वे बूढ़े हो गये हैं? नहीं, वे कहने मात्र के बूढ़े हैं। वास्तव में बूढ़े वे होते हैं, जिनमें सम, दम, अहिंसा और सत्य होते हैं।

हमारे गुरुदेव कहते थे–वृद्ध चार प्रकार के होते हैं–जो उम्र में अधिक होते हैं, उनको वयोवृद्ध कहते हैं। दूसरे संबंध वृद्ध होते हैं; जैसे भतीजे का उम्र अधिक है और चाचा का उम्र कम है, तो संबंध में चाचा होने के कारण भतीजा चाचा को प्रणाम करता है; क्योंकि चाचा संबंध वृद्ध है। तीसरे होते हैं–पदवृद्ध। जैसे मान लीजिए, हमारी उम्र पचास साल की है और हमारे आफिसर का उम्र पैंतीस साल का है। आफिसर का उम्र कम होने पर भी हम उनको प्रणाम करते हैं; क्योंकि वे पदवृद्ध हैं। चौथे होते हैं–ज्ञानवृद्ध। उम्र तो थोड़ी है; लेकिन ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं। जैसे शुकदेव मुनि उम्र में कम ही थे; लेकिन वे जिस सभा में जाते थे, बड़े-बड़े मुनि लोग उठकर खड़े जो जाते थे।

'Discovery of India' पंडित जवाहरलाल की लिखी हुई पुस्तक है। उसमें उन्होंने लिखा है–'जो संत होते हैं, उनके सामने बड़े-बड़े सम्राट का भी मुकुट झुकता है।' इसलिए संत पलटूदासजी महाराज ने कहा है–

'बड़ा होय तेहि पूजिए संतन किया विचार।'

जो बड़े हैं, उनकी पूजा करो। बड़े कौन? उन्होंने बताया–

सबसे बड़े हैं संत दूसरा नाम है।
तीजे दस अवतार तिन्हें परणाम है।
ब्रह्मा विष्णु महेश सकल संसार है।
अरे हाँ रे पलटू सबके ऊपर संत मुकुट सरदार है।

सबसे बड़े संत होते हैं। संत से बढ़कर कोई नहीं होते। इसलिए संत के बताए मार्ग पर जो चलते हैं, उनको सदा सुख मिलता है।

भारत के सम्राट महाराजा अशोक थे। उनके समय में भारत-साम्राज्य इतना बड़ा था, जितना बड़ा और किसी के समय में नहीं हो सका। उतने बड़े सम्राट होते हुए भी वे भिक्षुओं को प्रणाम करते और उनके आगे सिर झुकाते थे। उस समय बौद्ध-धर्म का बहुत प्रचार था। जब महाराजा अशोक किन्हीं भिक्षु को प्रणाम करते थे, तो उनके प्रधानमंत्री के मन में ठेस लगती थी। वे सोचते थे, महाराजा के राज्य में ये भिक्षु लोग रहते हैं और इन्हीं के दाने पर पलते हैं, फिर भी राजा इनको प्रणाम करते हैं, यह ठीक नहीं। देखते-देखते उनसे रहा नहीं गया और उन्होंने सम्राट अशोक से कहा–महाराज! आप जो भिक्षुओं को प्रणाम करते हैं, उनके आगे सिर झुकाते हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। ये आपके राज्यान्तर्गत, आपकी

छत्रच्छाया में रहते हैं, आपके अन्न खाकर जीते हैं, आपके अधीन है, फिर भी आप उनको प्रणाम करते हैं, मुझे यह उचित नहीं लगता है।

महाराजा अशोक ने सोचा–अभी समझाने से ये ठीक-ठीक समझ नहीं पाएँगे। इसलिए उन्होंने कहा–'अच्छा, मैं सोचूँगा? महाराज अशोक ने प्रधानमंत्री को छोड़कर अन्य मंत्रियों से कहा–'आपलोग बाजार जाएँ, वहाँ जो लोग भेड़-बकरे काटते हैं, उनसे भेड़-बकरों के सिर को मोल ले लें और उनकी एक दुकान लगा दें। खरीदने में जितने पैसे लगें और जो बिक्री हो, सबका हिसाब शाम में मुझे दें।

मंत्रियों ने बाजार जाकर जितने भेड़-बकरे कटे थे, उन सबके सिरों को मोल लेकर दुकान लगा दी और शाम में बिक्री का हिसाब-किताब महाराजा अशोक को समझा दिया। दूसरे दिन महामंत्री को बुलाकर महाराजा अशोक ने कहा–आप मजदूरों को साथ लेकर श्मशानघाट चले जाइए। वहाँ जितने नरमुंड पड़े हों, सबको एकत्रित करके उसकी दुकान लगा दीजिए। इस काम में जितने पैसे मजदूरी में लगे, उतना ही मूल्य रखिए। फिर उसका हिसाब शाम में मुझे दीजिए।

प्रधानमंत्री मजदूरों को लेकर श्मशानघाट गये। वहाँ उन्होंने नरमुंडों को एकत्रित करवाकर बाजार में उसकी दुकान लगा दी। दिनभर बैठे रह गये; लेकिन एक भी नरमुंड की बिक्री नहीं हुई। शाम में आकर सम्राट से उन्होंने कहा–'महाराज! एक भी नरमुंड नहीं बिका। महाराजा अशोक ने कहा–'आप दाम अधिक रखे होंगे।' महामात्य ने उत्तर दिया–जी नहीं, जितना खर्च हुआ था, मात्र उतना ही दाम रखा था। महाराजा ने कहा–अच्छा, कोई बात नहीं। कल वहाँ पर एक बोर्ड लगा दें। उसमें लिख दें कि बिना मूल्य के नरमुंड दिये जाते है, जो कोई जितना ले जाना चाहें, ले जाएँ। महाराजा के कथनानुसार महामंत्री ने वैसा ही किया। किन्तु वे दूसरे दिन भी बैठे रह गये, मुफ्त में भी कोई एक भी नरमुंड नहीं ले गया। शाम को फिर महामंत्री ने महाराजा अशोक से कहा–बिना पैसे के भी नरमुंड लेने के लिए कोई तैयार नहीं। आज भी किसी ने नरमुंड नहीं लिया।

सम्राट अशोक ने कहा–महामात्य! जरा सोचिए, जिस नरमुंड को कोई पूछता नहीं है, वह सिर अगर भिक्षु के चरणों में झुकता है, तो आपको तकलीफ किस बात की होती है? महाराजा का उत्तर सुनकर महामात्य लज्जित हो, नतमस्तक हो गये। हमें संतों के बताए मार्ग पर चलना चाहिए। वह कौन-सा मार्ग है, उसके विषय में गोस्वामीजी कहते हैं–

संत संग अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, श्रुति पुरान सद्ग्रंथ॥
–रामचरितमानस, उत्तरकांड

संतों का रास्ता मोक्ष का है, अपवर्ग का है। अपवर्ग यानी अ+पवर्ग=अपवर्ग। पवर्ग में प, फ, ब, भ, म–पाँच अक्षर होते हैं। जहाँ ये पवर्ग नहीं हों, वहाँ अपवर्ग है। प=जहाँ पाप-पुण्य नहीं है, फ=जहाँ फलाशा नहीं है, ब=जहाँ बंधन नहीं है, भ=जहाँ भव-भय नहीं है, म=जहाँ मृत्यु नहीं है; उस स्थान को अपवर्ग कहते हैं। वह रास्ता कहीं बाहर संसार में नहीं है, अपने अंदर है और उस रास्ते का पता संत लोग बतलाते हैं। वह मार्ग आंतरिक होने के कारण स्थूल नहीं है, सूक्ष्म है। कैसा सूक्ष्म है? इस संदर्भ में संत कबीर साहब कहते हैं–

भक्ती का मारग झीना रे।टेक॥
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे॥
साधुन के सतसंग में, रहे निसिदिन भीना रे॥
सब्द में सुर्त ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे॥
मान मनी को यों तजे, जस तेली पीना रे॥
दया छिमा संतोष गहि, रहे अति आधीना रे॥
परमारथ में देत सिर, कछु बिलँब न कीना रे॥
कहै कबीर मत भक्ति का, परगट कह दीना रे॥

भक्ति का मार्ग झीना (सूक्ष्म) है, महीन है। यमराज ने नचिकेता को बतलाया था–

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।
(कठोपनिषद्, अ० १, व० ३)

जिस प्रकार क्षुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं। इससे मिलती-जुलती बात गुरु नानकदेवजी महाराज बतलाते हैं–

भगता की चाल निराली।
चाल निराली भगताह केरी विखम मारगि चलणा॥
लबु लोभु अहंकारु तजि त्रिसना बहुतु नाहीं बोलणा॥
खंनिअहु तीखी बालहु नीकी एतु मारगि जाणा॥

यह मार्ग 'खंनिअहु तीखी' और 'बालहु नीकी'

है। अर्थात् तलवार की धार से तीक्ष्ण ओर बाल की नोक से भी महीन है। 'एतु मारगि जाणा'।

गुर परसादी जिनि आपु तजिआ हरि वासना समाणी ॥
कहै नानक चाल भगताह केरी जुगहु जुग निराली ॥

परम संत बाबा देवी साहब के एक शिष्य थे महात्मा धीरजलालजी, उसकी वाणी है–

राह गई है बड़ि झीनी हे साधो नैन नगर से ॥
नैन नगर में घोर अँधियारी सतगुरु ज्ञान सफीनी ॥
सहस भाग एक बाल बराबर धार धरहु लवलीनी ॥
वा मग सुरत सरकि जब जावै जोति झकाझक कीनी ॥
सत पथ गत यह कहत सन्तमत चढ़ि चल चाल प्रवीनी ॥
बाबा देवी साहब भेद बतावें धीरज ध्यान महीनी ॥

रास्ता का आरंभ कहाँ से है और अंत कहाँ पर होता है? जो कोई जहाँ बैठे रहते हैं, रास्ता का आरंभ वहाँ से होता है। वे वहाँ से चलते हैं और अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचते हैं। उसी तरह परमात्म-प्राप्ति के लिए यह जीव कहाँ से चलेगा? जीव इस शरीर के बाहर नहीं है, शरीर के अंदर ही है। जिज्ञासा होगी, शरीर में है तो कहाँ पर हैं? ब्रह्मोपनिषद् में इसका समाधान बतलाया है–

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मुर्ध्नि संस्थितम् ॥

शरीर के अंदर जीव सदा एक ही स्थान में नहीं रहता है। जाग्रतावस्था में वह आँख में रहता है, स्वप्नावस्था में कंठ में चला जाता है। सुषुप्ति (गहरी नींद) में वह हृदय में और तुरीयावस्था में मस्तक में होता है। इसी विषय को संत चरणदासजी महाराज ने इस भाँति कहा है–

जाग्रत वासा नैन में, स्वप्न कंठ स्थान ।
जान सुषुप्ति हृदय में, नाभि तुरीय मन तान ॥

इस शरीर में हम कहाँ हैं, इसकी जानकारी के लिए हमें आँखें बंद कर देखना चाहिए। बाहर की चीजों को हम आँखें खोलकर देखते हैं और भीतर की चीजों को देखने के लिए आँखें बंद कर भीतर देखें। जैसे हम आँखें बंद करते हैं, वैसे ही अंधकार मालूम पड़ता है। इसी अंधकार में हम हैं। इसी अंधकार से चलना है। कैसे चलना है? कबीर साहब के वचन में आया है–

बिन पावन की राह है, बिन बस्ती का देश ।
बिना पिंड का पुरुष है, कहै कबीर संदेश ॥
जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराय ।
मनुवाँ तहँ ले राखिए, तहहिं पहुँचे जाय ॥

उस मार्ग पर बिना पैर के चलना है। कैसे चलेंगे? किसी चीज का जब पूर्ण सिमटाव होता है, तो उसकी ऊर्ध्वगति होती है; चाहे वह चीज कठिन हो, तरल हो, वाष्पीय हो या विद्युत् हो। जो जितना सूक्ष्म होता है, उसके सिमटाव से उसकी उतनी ही अधिक ऊर्ध्वगति होती है।

एक मन अनाज सूखने के लिए फैलाया हुआ है। उसका विस्तार बहुत है, लेकिन उसको जितना हम अधिक समेटेंगे, ढेर उतना ऊँचा हो जाएगा। हम अनाज को ऊपर नहीं उठा रहे हैं, केवल समेट रहे हैं। समेटने से स्वाभाविक वह ऊपर हो जाएगा। एक किलो बर्फ का ढेला है, उसकी ऊँचाई जितनी अधिक होगी, एक किलो पानी का सिमटाव करने से उससे अधिक होगी। अर्थात् जितना पतला नल रहेगा, पानी उतना ही अधिक ऊपर दूर तक जाएगा। उसी एक किलो पानी को यदि हम वाष्प में परिवर्तित कर लेते हैं, तो जितनी दूर तक पानी गया था, उससे अधिक दूर तक वाष्प जाएगा, बर्फ से जल तरल होने के कारण की उसकी अधिक ऊर्ध्वगति हुई। जल से वाष्प की सूक्ष्मता अधिक होने के कारण उससे वाष्प की और अधिक ऊर्ध्वगति हुई। उसको यदि हम विद्युत् में परिवर्तित कर सकें, तो वैज्ञानिकों का कहना है–विद्युत् की गति एक सेकेंड में १८६७६७ मील है। विद्युत् के स्पर्श से शरीर में झटका लगता है, कितने मर भी जाते हैं। लेकिन विद्युत् की अपेक्षा मन कितना सूक्ष्म है, इसपर विचार कीजिए।

यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सबका मन कहाँ-कहाँ से घूमकर चला आता है, किसी को पता नहीं चलता। किसी के शरीर में स्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता। इतना सूक्ष्म मन का अगर हम सिमटाव करेंगे, तो उसकी गति कितने हो जाएगी, यह सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

हमारी जो पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन दसो इन्द्रियों का राजा मन है। वराहोपनिषद् में आया है–'इन्द्रियाणां मनो नाथो।' अर्थात् इन्द्रियों का नाथ मन है। मन जो कहता है, इन्द्रियाँ वही करती हैं। जैसे हमारे आगे भोजन की थाली परोसी हुई है। उसमें विविध भाँति की मिठाइयाँ, सब्जियाँ और भोज्य

पदार्थ हैं; लेकिन उन चीजों में हम किस चीज को पहले खाएँगे? मन जो कहेगा, हाथ उसी पर जाएगा। मन कहेगा कि पहले पेड़ा उठाओ, तो पेड़ा पर हाथ जाएगा। हाथ पेड़ा उठा लिया है, अब मुँह में देना चाहते हैं, तो मन कहता है—नहीं, पहले रसगुल्ला खाओ। हाथ में जो पेड़ा लिया था, उसको रखकर रसगुल्ला उठा लेंगे। मन हमारा विषयों में फैला हुआ है। विषय पाँच हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द; इन पंच विषयों में हमारा मन फँसा हुआ है। इसलिए संत कबीर साहब ने कह दिया—

मन पाँचों के वश पड़ा, मन के वश नहिं पाँच।
अपने अपने स्वाद में, सभी नचावै नाच ॥

संसार के पंच विषयों में हमारा मन पसरा हुआ है। इसका सिमटाव कैसे होगा? शास्त्रों में, सद्ग्रंथों में, संतों की वाणियों में इस संसार को नाम-रूपात्मक कहा गया है। वैसे तो पाँच विषय हैं; लेकिन नाम और रूप—ये दो प्रधान हैं। नाम कहते हैं शब्द को। दिन-रात में हमलोग कितने शब्दों का उच्चारण करते हैं, किसी को याद नहीं होगा। कितने रूपों को हम इन आँखों से देखते हैं, उसकी गणना नहीं है। नाम-रूप में जो फैलाव है, उसी से मन को समेटना है। इसलिए संतों ने बतलाया—सभी नामों, सभी शब्दों को छोड़कर ईश्वरवाचक कोई एक शब्द लो। उसी की मंत्रावृत्ति करो, वही है मानस जप।

मंत्र कहते हैं, जिससे मन का त्राण हो। विषयों में मन भाग रहा है, उसको समेटकर एक सूते में बाँध दीजिए। वही सूता है मानस जप। जिस नाम का हम जप करते हैं, उससे संबंधित रूप भी हमारे सामने आता है। जैसे हमारे दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। जिस समय हम जिस पुत्र का नाम लेकर पुकारेंगे, उसी पुत्र का रूप मन में आएगा, अन्य पुत्र या पुत्री का रूप मन में नहीं आएगा। या जिस समय हम जिस पुत्री को पुकारेंगे, तो उस समय उसी पुत्री का रूप आएगा, अन्य पुत्र या पुत्री का रूप मन में नहीं आएगा। उसी तरह जिस इष्ट का नाम लेकर हम जप करेंगे, उस इष्ट का रूप हमारे सामने आना चाहिए। यही है मानस ध्यान।

जैसे कोई सुन्दर भव्य-भवन बनाना चाहता है, वह उसकी नींव मजबूत बनाता है। तब भव्य-भवन ठोस बनता है। उसी तरह मानस जप और मानस ध्यान नींव है। अगर यह मजबूत हो जाए यानी ठीक-ठीक मानस जप और ठीक-ठीक मानस ध्यान हो जाए, तो दृष्टिसाधन की सूक्ष्म उपासना सरल हो जाएगी।

जैसे पहले हमलोग मोटे-मोटे अक्षरों को लिखते हैं, फिर महीन अक्षर लिखते हैं। माँ-बहन जब चौके में पहले दिन रोटी बनाने जाती हैं, तो उस दिन की रोटी मोटी होती है, जल भी जाती है और कच्ची भी रह जाती है। लेकिन वही जब बराबर अभ्यास करती है, तो कुछ ही दिनों में पतली और सुन्दर रोटी बनाने लगती है।

आरंभ में मोटे-मोटे काम करते हैं, फिर महीन-महीन काम करते हैं। सूता काटने के लिए जाते हैं, तो चरखा पर पहले मोटा-मोटा सूता काटते हैं। काटते-काटते जब आदत पड़ जाती है, तब महीन सूत काटने लग जाते हैं। उसी तरह साधना का आरंभ स्थूल सगुण साकार उपासना से अर्थात् नाम-जप से होता है।

पहले मानस जप के द्वारा मन का कुछ सिमटाव होता है। उसके बाद मानस ध्यान के द्वारा उससे कुछ अधिक सिमटाव होता है। तब सूक्ष्मता में प्रवेश करने की क्षमता आती है। जबतक मानस जप, मानस ध्यान ठीक-ठीक नहीं होगा, सूक्ष्मता में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। जैसे विद्यालयों में पहले सामान्य जोड़, घटाव, गुणा, भाग सिखाया जाता है, उसके बाद मिश्र जोड़, घटाव, गुणा, भाग सिखाया जाता है। पश्चात् भिन्न का जोड़, घटाव, गुणा, भाग सिखाते हैं। तत्पश्चात् दशमलव सीखने पर अलजबरा सिखाया जाता है। जोड़, घटाव, गुणा, भाग आदि कुछ सीखे बिना यदि कोई अलजबरा बनाने के लिए बैठ जाए, तो उसको कोई क्या सिखा सकता है और वह क्या सीखेगा? इसलिए महर्षि मेँहीँ-पदावली में आया है—

गुरु जाप मानस ध्यान मानस, कीजिए दृढ़ साधकर।
इनका प्रथम अभ्यास कर, श्रुत शुद्ध करना चाहिए॥

मानस जप, मानस ध्यान से मन की एकाग्रता होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' यज्ञों में जपयज्ञ में हूँ। पहले तो जपयज्ञ कर लो, यह सब यज्ञों का राजा है।

'गुरु जाप जपन साँचो तप'—यह बहुत बड़ी तपस्या है, जप और तप एक साथ हो जाएगा। इससे आगे की बात हमारे गुरुदेव इस भाँति कहते हैं—

खोजो पंथी पंथ, तेरे घट भीतरे।
तू अरु तेरो पीव, भी घट ही अन्तरे॥ १॥
पिउ व्यापक सर्वत्र, परख आवै नहीं।
गुरुमुख घट ही माहिं, परख पावै सही॥ २॥
तू यात्री पीव घर को, चलन जो चाहहू।
तो घट ही में पंथ निहारु, विलम्ब न लावहू॥ ३॥
तम प्रकाश अरु शब्द, निशब्द की कोठरी।
चारो कोठरिया अहइ, अन्दर घट कोट री॥ ४॥
तू उतरि पर्‌यो तम माहिं, पीव निःशब्द में।
यहि तें परि गयो दूर, चलो निःशब्द में॥ ५॥

कहाँ से चलो?

नयन कमल तम माँझ से पंथहि धारिये।

यहाँ से रास्ता पकड़िए—

सुनि धुनि जोति निहारि के पंथ सिधारिए।

'नयन कमल तम माँझ से पंथहि धारिये' यह कैसे होगा? इसके उत्तर में कहा गया है—

युग दृष्टि की एक तीक्ष्ण नोक से चीरि तेजस विंदु रे।
सुनो अंदर नाद ही लखो चन्द्र सूर्य तारे इन्दु रे॥

दृष्टि की दोनों धारों को मिलाकर एक करें, विन्दु उदय होगा।

दोऊ नैना बिच सन्मुख देख,
एक बिन्दु मिलै दृष्टि दोउ रेख॥

दो रेखाओं का मिलन एक विन्दु पर होता है। हमारी दृष्टि की दोनों धाराएँ जहाँ जाकर मिलेंगी, वहाँ पर विन्दु उत्पन्न होगा। कागज पर कलम रखने से वहाँ छोटे-से-छोटा चिह्न बनता है, जिसको विन्दु कहते हैं। उसी प्रकार हमारी दृष्टि की धार अपने अंदर में जहाँ इकट्ठा होगी, वहाँ पर चिह्न होगा, वही असली विन्दु होगा। कागज पर तो नकली विन्दु बनता है।

असली विन्दु की परिभाषा है—जिसका स्थान है, परिणाम नहीं। हम संसार में कहीं भी विन्दु बना लें, उसका कुछ-न-कुछ परिमाण हो ही जाएगा। इसलिए हमलोग विद्यालय में जाकर पढ़ते हैं—कल्पना किया कि अ, ब, स एक त्रिभुज है। कहते हैं कल्पना किया, यथार्थ नहीं कहते हैं। विन्दु से रेखा और रेखा से त्रिभुज बनता है। कलम से विन्दु बनाते हैं, तो जैसी स्याही रहती है, वैसा ही विन्दु बनता है। लाल स्याही है, तो लाल विन्दु और हरी स्याही है, तो हरा विन्दु। उसी तरह हमारी दृष्टि की दोनों धाराएँ जहाँ जाकर मिलेंगी, वह प्रकाशमयी होने के कारण जो विन्दु होगा, वह प्रकाशमय विन्दु होगा। तेजोविन्दूपनिषद् में लिखा है—

तेजो विन्दुः परम ध्यानं विश्वात्म हृदि संस्थितम्।

उस तेजोविन्दु का ध्यान परम ध्यान है, श्रेष्ठ ध्यान है। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—'पहले हमारे संपूर्ण रूप का ध्यान करो। फिर हमारे मुस्कानयुक्त मुख का ध्यान करो और फिर शून्य का ध्यान करो। इसी शून्य ध्यान के लिए संत कबीर साहब ने कहा है—

शून्य ध्यान सबके मन माना। तुम बैठो आतम अस्थाना॥

इस शून्य ध्यान से मन वश में होता है और नादानुसंधान से आत्मज्ञान होता है। हमारे गुरुदेव कहते हैं, तुम्हारे अंदर त्रय कपाट हैं।

घटतम प्रकाश व शब्द पटत्रय, जीव पर हैं छा रहे।
कर दृष्टि अरु ध्वनियोग साधन, ये हटाना चाहिये॥

जो कोई दृष्टियोग की क्रिया करेंगे, अंधकार मंडल को पार करके प्रकाश मंडल में जाएँगे।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' होगा।

प्रकाशमंडल में फिर शब्द मिलेगा और वह शब्द एक ही नहीं है, अनहद शब्द है। अनहद शब्द अपार दूर सों दूर है। पहले अनहद शब्द मिलेगा। अनहद—जिसकी हद नहीं, सीमा नहीं। बहुत प्रकार के शब्द वहाँ होते हैं। उन अनहद शब्द में किस शब्द को पकड़कर हम आगे बढ़ेंगे? इस संदर्भ में संत सद्गुरु बतलाते हैं—

बजती हैं पाँच नौबतें, सुनि एक एक को।
प्रति एक पै चढ़ि जाय के, निज नाह खोजना॥

पहले स्थूल के केन्द्र पर पहुँचेंगे। सूक्ष्म के केन्द्र से जो शब्द आता है, पहले उसको पकड़ेंगे। उसको पकड़कर सूक्ष्म के केन्द्र पर जाएँगे। सूक्ष्म के केन्द्र पर जो कारण के केन्द्र से शब्द आता है, उसको पकड़कर कारण के केन्द्र पर जाएँगे। कारण के केन्द्र से महाकारण के केन्द्रीय शब्द को पकड़कर महाकारण के केन्द्र पर जाएँगे। महाकारण के केन्द्रीय शब्द को पकड़कर कैवल्य के केन्द्र पर जाएँगे। वहाँ कैवल्य के केन्द्र पर जो शब्द आता है, वह परम प्रभु परमात्मा से आता है। कैवल्य अर्थात् केवल एक शब्द वहाँ है। उसी को सारशब्द, प्रणव, ओ३म्, स्फोट, उद्गीथ आदि अनेक नामों से अभिहित करते हैं। उस शब्द को पकड़कर परमात्मा के पास पहुँच जाएँगे।

इस तरह अंधकार से प्रकाश में, प्रकाश से शब्द में, फिर शब्द से 'निःशब्दं परमं पदम्' में चले जाएँगे। यही रास्ता अपने अंदर का है। इस रास्ते पर जो कोई चलेंगे, उनके लिए गोस्वामीजी ने लिखा है–

सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत दर्शन बात कोटिक को कहै।

वह परम प्रभु परमात्मा एक ही एक है। उससे मिल जाएँगे, एकमेक हो जाएँगे। जिस तरह नदी का जल समुद्र में जाकर, मिलकर एक हो जाता है, उसी तरह यह जीव पीव से जा मिलकर एक हो जाएगा। जो नदी का जल समुद्र में जाकर मिल गया, तो उसको निकाला नहीं जा सकता, उसी तरह जो जीव परमात्मा से जाकर मिल जाता है, फिर वह इस संसार में नहीं आता।

यही सूक्ष्म रास्ता है, सरल, सुखद रास्ता है। भगवान श्रीराम ने अपनी प्रजा, पुरजन एवं गुरुजन से कहा था–'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥' वेद पुराण, बाइबिल, कुरान और संतवाणियों में यही बात है, जो इस रास्ते से चलेंगे, उसका यह लोक और परलोक दोनों कल्याणमय होगा।

[(शान्ति-सन्देश, मार्च, २००२) स्थान : जमशेदपुर सिंहभूम; प्रातःकाल; दिनांक : १०.१.२००२ ई०]

१०६. जीवन में पवित्रता की आवश्यकता

जीवन में पवित्रता को अनिवार्य आवश्यकता है। पवित्र जीवन ही वास्तविक जीवन है, अपवित्र जीवन किस काम का? रात्रि विश्राम के बाद प्रभात काल में जब हमारी नींद टूटती है, तभी से पवित्रता शुरू हो जाती है। अर्थात् सोकर उठते ही हम आँख धोते हैं, कुल्ली करते हैं, शौच जाते हैं, हाथ-पैर धोते हैं, दतवन करते हैं, घर-दरवाजे की सफाई करते-कराते हैं, स्नान करते हैं, कपड़े धोते हैं, ये सब सफाई-ही-सफाई है।

कितने लोग कपड़े तो साफ और धुले हुए पहनते हैं; लेकिन जब शौच करके उठते हैं, तो हाथ साफ किये बिना ही अपने सारे कपड़े छूते हैं। यह कैसी पवित्रता है? देहातों में जहाँ शौचालय नहीं है, लोग लोटे में जल लेकर जंगल, बगीचे की ओर जाते हैं। शौच करके लौटते हैं, तो रास्ते में किसी पेड़ की टहनी तोड़ लेते हैं। बायें हाथ में लोटा लिये, दायें हाथ से दतवन करते हुए घर आ जाते हैं, तब हाथ साफ करते हैं। यह पवित्रता नहीं है।

अधिकांश लोग शौच करके तो पानी लेते हैं, पर पेशाब करके पानी नहीं लेते, उनका पेशाब उनके हाथों और कपड़ों में लगा रहता है। उसी शरीर से देवालयों और साधु-आश्रमों में जाते हैं। साधु-महात्मा तो पवित्र होते हैं। आगन्तुक जन अपने अपवित्र हाथ से साधु-संतों का चरण-स्पर्श करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि दूर से प्रणाम करो, तो उनके मन में तकलीफ होती है। वे सोचते हैं कि ये कैसे साधु हैं, जो कि पैर छूने नहीं देते हैं। अरे भाई! पवित्र रहिएगा, तब न पवित्र व्यक्ति का चरण छूइएगा। जिस तरह शौच करके पानी लेते हैं, उसी तरह पेशाब करके भी पानी लें, तो अच्छा है। वैदिक धर्म में उच्चवर्ण के लोग पहले पानी लेकर लघुशंका जाते थे, पर अब तो कितने नहीं भी लेते हैं। इस संबंध में मुसलमान भाइयों के यहाँ अच्छी प्रथा है। बच्चे, बड़े–सभी पानी लेकर लघुशंका जाते हैं। कहीं पानी न मिले, तो मिट्टी से काम लेते हैं।

हमलोग नदी-तालाब या नल-कूपादि के जल से स्नान करते हैं, साबुन लगाते हैं; इससे तन की सफाई होती है। यह बाहरी पवित्रता है। तन की सफाई के साथ-साथ मन की सफाई भी होनी चाहिए। और वह होती है सत्संग से। फिर जब हम ध्यान करते हैं, तो उससे आत्मा की सफाई होती है। आत्मा आवरण रहित हो जाता है। संत कबीर साहब की वाणी आपलोगों ने सुनी–

सुकिरत करि ले नाम सुमिरि ले को जानै कल की,
जगत में खबर नहीं पल की।

सुकृति का अपभ्रंश 'सुकिरत' शब्द हुआ है। सु=अच्छा और कृति कहते हैं कर्म को। सुकृति का अर्थ होता है–उत्तम कर्म। कीर्ति कहते हैं यश का। संत कबीर साहब कहते हैं–शुभ कर्मों को करो। शुभ कर्म करने से सुकीर्ति होती है, सुयश फैलता है और

अशुभ कर्म करने से अपकीर्ति होती है, अपयश फैलता है। भगवान बुद्ध की वाणी है—सत्कर्म करनेवाले को पाँच चीजें मिलती हैं—१. संसार में उनका सुयश फैलता है, २. उनके धन का अपव्यय नहीं होता, ३. सभा में उनके वचन का प्रभाव पड़ता है, ४. उनकी मृत्यु सुखकर होती है तथा ५. मृत्यूपरांत का जीवन सुखकर होता है। दुष्कर्म करनेवाले को भी पाँच चीजें मिलती हैं—१. संसार में उनका अपयश फैलता है, २. उनके धन का अपव्यय होता है, ३. सभा में उनके वचन का प्रभाव नहीं पड़ता है, ४. उनकी मृत्यु दुःखकर होती है तथा ५. मृत्यूपरांत का जीवन दुःखकर होता है।

अब हमलोग इसपर विचार करें कि अशुभ कर्म क्या है और शुभ कर्म क्या है? झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचारी; ये पंच पाप अशुभ कर्म हैं, इन्हें करने से अपयश फैलता है। पंच पापों में झूठ सबसे बढ़कर है। हमारे गुरुदेव (महर्षि मेँहीँ परमहंस) कहा करते थे कि झूठ एक ऐसा झोला है, जिसमें सभी पाप अँट जाते हैं। कोई कितना भी पाप कर ले, चोरी करे, नशा-सेवन करे, हिंसा और व्यभिचार करे; पूछने पर कह दे कि नहीं किया, तो सब पाप झूठ के झोले में अँट गया। जिस तरह हाथी के पदचिह्नों में सभी जीव-जन्तु के पदचिह्न अँट जाते हैं, उसी तरह झूठ के झोले में सभी पाप समा जाते हैं। इसीलिए कहा गया है—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, ता हिरदय गुरु आप॥

पाप में रत रहनेवाला व्यक्ति भक्ति और ध्यान क्या करेगा? लोगों को दिखलाने के लिए घंटों बैठकर ध्यान का ढोंग वह अवश्य कर सकता है, पर उससे ध्यान होनेवाला नहीं है। संत कबीर साहब ने कहा है—

बाहर क्या दिखलाइए, अन्तरी जपिए नाम।
कहा महोला जगत से, पड़ा धनी से काम॥

बंगाल के संत रामप्रसाद सेन के वचन में है—

जाँक जम के कऽर ले पूजा, अहंकार होय मऽने मऽने।
तुमी लुकिये ताँरे करबे पूजा, जानिबे ना रे जगज्जने॥

वस्तुतः हमारा हृदय पवित्र होना चाहिए। जो व्यक्ति एक ईश्वर पर विश्वास करते हैं, ईश्वर की प्राप्ति अपने अंदर होगी, इसका दृढ़ निश्चय रखते हैं, सत्संग करते हैं, ध्यान करते हैं, गुरु-सेवा करते हैं, शुभ कर्म करते हैं; अतः उनकी सुकीर्ति होती है, उनका सुयश फैलता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी है—जो व्यक्ति पंचविषयों में बरतता है, भगवद्भजन नहीं करता है, वह कूकर-सूकर की भाँति है। जन्मान्तर में उसे कूकर-सूकर की योनि में जन्म लेकर दुःख उठाना पड़ेगा। आज जिस घृणित वस्तुओं को देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उन्हीं चीजों को श्वान-शृगाल की योनियों में जाने पर खाना पड़ेगा। उत्तरगीता में लिखा है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिकं विशेषो ज्ञानेनहीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन; इन चार बातों के आधार पर पशु और मनुष्य में कोई पृथक्ता नहीं है। मनुष्य में ज्ञान की विशेषता है। ज्ञान के बिना मनुष्य पशु के समान है। जिज्ञासा हो सकती है—कौन-सा ज्ञान? बृहत्तंत्रसार में लिखा है—

ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्ज्ञानं परात्परम्।

अर्थात् ज्ञान से मोक्ष होता है, इसलिए ज्ञान से बढ़कर दूसरा उपदेश नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना।
ज्ञान मोक्षपद बेद बखाना॥

ज्ञान वह है, जो मोक्ष प्राप्त करा दे। 'सा विद्या या विमुक्तये'। वह विद्या है, जिससे मुक्ति मिलती है। मोक्षप्रद ज्ञान या विद्या को पवित्र और निर्विषयी व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद् में आया है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान-द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है।

बाहरी और भीतरी दोनों पवित्रता चाहिए। प्रयाग की त्रिवेणी में स्नान करने की मनाही नहीं है, वहाँ जाकर स्नान कर सकते हैं। उस त्रिवेणी में स्नान करने से तन पवित्र होगा। सत्संग-रूपी त्रिवेणी में स्नान करने से मन पवित्र होगा और अंतर की त्रिवेणी (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना संगम) में स्नान करने से चेतन आत्मा पवित्र होगी। निर्मल जल में तन की

परिछाईं दीखती है और निर्मल मन में प्रभु का प्रतिबिम्ब दीखता है। संत कबीर साहब ने कहा है–

जब दरसन देखा चाहिए, तब दरपन माँजत रहिए।
जब दरपन लागी काई, तब दरस कहाँ ते पाई॥

हम आईने में चेहरा देखना चाहें, तो उसे साफ रखना होगा। जब दर्पण गंदा हो, तो चेहरा कैसे दीखेगा? इसी प्रकार यदि हमारा अंतःकरण पवित्र न हो, तो प्रभु की परिछाईं भी नहीं देख सकते, प्रभु को देखना तो सुदूर की बात है। गुरु नानकदेवजी महाराज फरमाते हैं–

सूचै भाड़ै साचु समावै बिरले सूचाचारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ नानक सरणि तुमारी॥

पवित्र बर्तन में सत्य अँटता है और आचरण को पवित्र कर सत्य को धारण करनेवाले विरले होते हैं। हमलोग गंगा-स्नान करने के लिए जाते हैं, तो उधर से गंगाजल ले आते हैं। पर क्या गंदे बरतन में गंगाजल भर लेते हैं? नहीं। पहले बरतन को माँजकर खूब साफ करते हैं, तब उस पवित्र बर्तन में गंगाजल भरते हैं। वह परम प्रभु परमात्मा परम पवित्र है, उसे हम अपने अपवित्र हृदय में कैसे बिठाएँगे। संत तुलसी साहब ने कहा है–

दिल का हुजरा साफ कर, जाना के आने के लिए।
ध्यान गैरों का उठा, उसको बिठाने के लिए॥

हम जूता पहनकर चलते हैं। कभी उसमें कंकड़ आ जाता है, तो वह चुभने लगता है, हम चल नहीं पाते हैं। जूता खोलकर कंकड़ निकाल देते हैं, तब हम आगे चलते हैं। हमारा जो चमड़े का पैर है, वह छोटा कंकड़ नहीं सह सकता है। परमात्मा का चरण, कमल से भी अधिक कोमल है और हमारे हृदय में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, राग-द्वेष आदि दुर्गुणों के काँटे उगे हुए हैं, वे उसपर कैसे रखेंगे!

जबतक इन्हें हटाएँगे नहीं, मानस जप और मानस ध्यान भी ठीक-ठीक नहीं हो सकता, दृष्टियोग और शब्दयोग तो दूर की चीज है। जब गंगा हो या उसमें हलचल हो, तो परछाईं नहीं देख सकते हैं। शांत और साफ जल में परछाईं दखते हैं। उसी तरह शांत और साफ हृदय में ही हम अपने इष्टरूप के दर्शन कर सकते हैं।

हम स्वयं अपनी परीक्षा करके देखें कि कितने दिनों से सत्संग और ध्यान करते आ रहे हैं, अबतक हमने क्या पाया? यदि कुछ पाया है, तो बहुत अच्छी बात है और अगर नहीं पाया, तो कारण क्या है? कारण को जानकर उसका निराकरण करें। पवित्रता का आचरण सबको करना चाहिए। इसमें साधु और गृहस्थ की कोई बात नहीं है। सिर्फ साधु का वेश बना लेने से कोई पवित्र नहीं हो जाता। श्रीकाष्ठ जिह्वा स्वामी ने बड़ा अच्छा कहा है–

कोई सफा न देखा दिल का,
साँचा बना झिलमिल का॥
कोइ बिल्ली कोइ बगुला देखा,
पहिरे फकीरी खिलका।
बाहर मुख से ज्ञान छाँटते,
भीतर कोरा छिलका॥
भजन करन में गजब आलसी,
जैसे थका मँजिल का।
औरन के पीसन में सुरमा,
जैसें बट्टा सिल का॥
पढ़े लिखे कुछ ऐसेहि वैसे,
बड़ा घमण्ड अकिल का।
जहरी वचन यों मुख से निकले,
साँप निकलता बिल का॥
भजन बिना सब जप तप झूठा,
झूठ तवक्का फजल का।
क्या कहिये गुरु 'देव' न पाया,
महरम आँख के तिल का॥

'मरहम आँख के तिल का' अंतःसाधना की बात है। इसका स्पष्टीकरण हमारे गुरुदेव इस भाँति करते हैं–

तिल द्वार तक के सीधे, सुरत को खैंच ला।
अनहद धुनों को सुन सुन, चढ़-चढ़ के खोजना॥

साधक जब दृष्टिसाधन की किया करता है, तब उसे तिल (सुषुम्ना-द्वार) मिलता है। फिर–

स्थूल सूक्ष्म कारण महाकारण कैवल्यहु के पार।
सुष्मन तिल हो पिल तन भीतर होंगे सबसे न्यार॥
बह्मज्योति ब्रह्मध्वनि को धरि धरि ले चेतन आधार।
तन में पिल पाँचो तन पारा जा पाओ प्रभु सार॥
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

जो सुषुम्ना के तिल में पैठते हैं, वे स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश कर जाते हैं। वहाँ उन्हें आंतरिक नाद मिलता है, जो ध्वन्यात्मक शब्द है। ध्वन्यात्मक शब्द

दो प्रकार के होते हैं–आहत और अनाहत अपने अंदर जो आहत शब्द मिलता है, उसे अनहद शब्द (नाद) कहते हैं और अनाहत शब्द को सारशब्द, प्रणवध्वनि आदि कहते हैं। श्रीमद्‌भागवत के स्कन्ध ११, अध्याय २१ में तीन प्रकार के शब्द बतलाये गये हैं–इन्द्रियमय, मनोमय और प्राणमय; यथा–

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रिमनोमयम्।
अनन्त पारं गंभीरं दुर्विग्राह्य समुद्रवत्॥३६॥

इन्द्रियमय शब्द वह है, जिसे हम मुँह से बोलते हैं और कान से सुनते हैं। मन के द्वारा उच्चरित शब्द मनोमय कहलाता है। अंतस्साधना के क्रम में जहाँ तक मन की गति है और जो शब्द मन के द्वारा ग्रहण होता है, वह भी मनोमय शब्द है। जब साधक अनहद शब्द को पार कर अनाहत शब्द को पकड़ता है, तो वह प्राणमय शब्द है। वह प्राणमय शब्द (ओ३म्, स्फोट, उद्‌गीथ आदि) परम प्रभु परमात्मा का वाचक है, उसी शब्द को पकड़कर परमात्मा तक पहुँचा जाता है। उसे ही गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने उलटा नाम कहा है; यथा–

हम जो शब्द बोलते और सुनते हैं, वह नाभि से निकलता है और हृदय, कंठ तथा मुँह के उच्चारण स्थानों में ठोकर लगकर बाहर निकलता है, वह पिंडी शब्द है। दूसरा होता है ब्रह्मांडी शब्द, जो ऊपर से ब्रह्मांड में आता है, फिर ब्रह्मांड से पिंड में। पिण्डी शब्द वर्णात्मक और सगुण होता है, जबकि ब्रह्मांडी शब्द ध्वन्यात्मक और निर्गुण होता है। ये दोनों शब्द एक दूसरे के उलटे हैं। यही उलटा नाम है। इन सब गंभीर बातों को सत्संग में जाकर जानना चाहिए और संत सद्‌गुरु से सद्‌युक्ति जानकर साधना करनी चाहिए। आजकल कहकर टालना ठीक नहीं है।

आज कहै मैं काल्ह भजूँगा, काल्ह कहै फिर काल्ह।
आज काल्ह के करत ही, औसर जासी चाल॥

पुनः संत कबीर साहब कहते हैं–

को जाने पल की, जगत में खबर नहीं पल की।

भूतकाल यानी अतीत, जो व्यतीत हो गया और भविष्य अज्ञात है, कोई ठिकाना नहीं कि क्या होगा! लेकिन वर्तमान हमारे हाथ है, हम वर्तमान को जैसा बनाएँगे, हमारा भविष्य वैसा ही बनेगा। जो अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहते हैं, वे पवित्र जीवन बितावें और शुभ कर्मों को करते हुए भगवद्‌भजन करें। इहलोक और परलोक दोनों जीवन कल्याणमय होगा। (महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर दिनांक १०.२.२००२, शांति-संदेश, अप्रैल २००२ ई०)

१०७. दसवै निज घरि वासा पाए

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ एवं भक्तिमती बहनो!

यह अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग का ९१वाँ वार्षिक अधिवेशन है। यह बतलाता है कि इसके पूर्व नब्बे वार्षिक अधिवेशन हो चुके हैं। नब्बे हमलोग कैसे लिखते हैं–९ के आगे शून्य देते हैं, यह एक सैन है। कबीर साहब ने कहा है–

"जो कोई समझै सैन से, ताको कहिए बैन।
सैन बैन समझै नहीं, ताको कछु नहीं कैन॥"

यह सैन क्या है, ९ के आगे शून्य। जबसे सृष्टि हुई है और इस सृष्टि में हमलोग आए हैं, नौ दरवाजे में ही घूम रहे हैं। नौ के आगे शून्य है। वह संकेत करता है कि नौ के आगे कोई दशवाँ दरवाजा भी है। उस दशवें दरवाजे की ओर जाओ। लेकिन उस शून्य को भी देख करके हमलोग कुछ नहीं समझ पाये, तब ९१वाँ वार्षिक अधिवेशन कहता है कि ९ के बाद १ और द्वार है उसको जानो कि वह एक द्वार क्या है? ९ द्वार तो हमलोग जानते हैं–आँख के दो द्वार हैं, कान के दो द्वार हैं, नाक के दो द्वार हैं, मुँह का एक द्वार हैं और मल-मूत्र विसर्जन के दो द्वार हैं। ये नौ द्वार पिण्ड में हैं, लेकिन दशवाँ द्वार पिण्ड–ब्रह्माण्ड की संधि स्थल पर है, उस ओर इंगित करता है। जबतक हमलोग इन आठ दरवाजे में हैं, तब क्या हो रहा है और यदि हम दशवें द्वार में जाएँ, तब क्या होगा? इस सन्दर्भ में पंजाब में बहुत बड़े महान संत हो गए हैं–गुरु नानकदेवजी महाराज, उन्होंने बतलाया है–

"नउ दरि ठाके धावतु रहाए,
दसवै निज घरि वासा पाए।
उथै अनहद सबद बजहि दिन राती,

गुरमति शबदु सुणावणिआ ॥"

जबतक तुम नौ दरवाजे में रहोगे, आवागमन के चक्र में पड़े रहोगे, विषयों में तुम भुले हुए रहोगे। लेकिन जब तुम दशवें दरवाजे में प्रवेश करोगे, तो वहाँ जाओगे, जहाँ तुम्हारा निज घर है। निज घर में जाकर क्या होगा, तो महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज कहते हैं–

"निज घर में निज प्रभु को पावै, अति हुलसावै ना।
'मेँहीँ' अस गुरु सन्त उक्ति, यम-त्रास मिटावै ना॥"

आवागमन के चक्र से छूट जाओगे। वह दशवाँ दरवाजा क्या है, कहाँ है? भगवान शंकर ने ब्रह्माजी से इस प्रकार कहा था–

"वामदक्षे निरुन्धन्ति प्रविशन्ति सुषुम्नया।
ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्यांतस्ते यान्ति परमां गतिम्॥"
(योगशिखोपनिषद्)

जो बायें और दायें को रोकता है अर्थात इड़ा, पिंगला को रोकता है, सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है और जो सुषुम्ना में प्रवेश करता है, वही ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। जो ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है, वही ब्रह्म को प्राप्त करता है। ब्रह्म के पास जाने का यही एक मार्ग है। यों कहने के लिए लोग कहा करते हैं कि एक नगर में जाने के लिए चारो ओर से रास्ते होते हैं। किसी भी नगर से रास्ते में प्रवेश कर सकते हैं, लेकिन परमात्मा के पास जाने के लिए अनेक नहीं एक ही रास्ता है। हमलोग अपने-अपने रहने के लिए घर-मकान बनाते हैं और प्रभु के लिए भी घर बनाते हैं। मन्दिर बनाते हैं, मस्जिद बनाते हैं, गिरजाघर बनाते हैं। हमलोग तो अपने लिए बनाते हैं, प्रभु के लिए भी बनाते हैं। क्या प्रभु अपने लिए घर नहीं बनाते हैं? प्रभु ने भी अपने लिए घर बनाया है। मंदिर, मस्जिद और गिरजा तो पूजा घर है, उसमें जाकर हम उनकी पूजा करते हैं। पर वहीं प्रभु मिलेंगे, ऐसी बात नहीं है, जब हम शरीर-रूपी मंदिर में प्रवेश करेंगे, गिरजाघर में प्रवेश करेंगे, मस्जिद में प्रवेश करेंगे, तभी प्रभु के दर्शन होंगे। जैसे देखने का रास्ता एक है–आँख, सुनने का रास्ता है–कान, गंध ग्रहण करने का रास्ता है–नाक, भोजन ग्रहण करने का रास्ता है–मुँह, मल-मूत्र विसर्जन के लिए भी एक-एक रास्ता नियुक्त है। चाहें वे हिन्दू हों, मुसलमान हों, जैन हों, बौद्ध हों, सिक्ख हों, ईसाई हों, नर हों वा नारी हों, किसी देश वा वेश के हों, सबके लिए एक ही समान बात है। उसी तरह परम प्रभु परमात्मा तक जाने का एक ही रास्ता है और वह रास्ता बाहर का नहीं है अपने भीतर का है। यही बतलाने के लिए यह ९१वाँ वार्षिक अधिवेशन है। शरीर स्थित नौ द्वारों के बारे में महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज कहते हैं–

"तन नव द्वार हो रामा, अति ही मलीन हो ठामा।
त्यागि चढ़ु दशम द्वारे, सुख पाउ रे भाई॥"

ये नौ द्वार जो हमारे हैं, ये मलिन हैं, अपवित्र हैं। बल्कि यदि हम विवेक विलोचन से अवलोकन करें, तो पायेंगे कि इस शरीर में जैसे-जैसे हम नीचे की ओर जाते हैं, वैसे-वैसे हमारी अज्ञानता बढ़ती है और अपवित्रता भी बढ़ती है। जैसे हमारी आँखें है, आँखों से हम बाह्य जगत का दृश्य देखते हैं। लेकिन आँखों से हम जितनी दूर की चीजों को देख सकते हैं, कान से उतनी दूर के शब्द को सुन नहीं सकते, क्योंकि आँख से कान नीचे है। कान से जितनी दूर के शब्द को हम सुन सकते हैं, नासिका से उतनी दूर की गंध को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि कर्णेन्द्रिय से नासिका नीचे है। नासिका से जितनी दूर की गंध को हम ग्रहण कर सकते हैं, जिभ्या से उतनी दूर पर रखी चीज का रसास्वादन नहीं कर सकते है; क्योंकि नासिका इन्द्रिय रसनेन्द्रिय नीचे है। इस प्रकार सिद्ध है कि जैसे-जैसे हम नीचे की ओर जाते हैं, वैसे-वैसे हमारी अज्ञानता बढ़ती है। अब प्रश्न है कि जैसे-जैसे नीचे की ओर जाते हैं, उतनी अपवित्रता भी बढ़ती है, यह कैसे? मान लीजिए हमारे कोई मित्र किसी कारण–विशेष से दुःखी है, हमारे सामने वे रो रहे हैं। उनकी आँखों से अजस्त्र-धारा प्रवाहित हो रही है, ऐसी परिस्थिति में हम क्या करते हैं? अपना रूमाल निकाल करके उनकी आँखों के आँसू को पोछते हैं और कहते हैं–रोइये नहीं, धैर्य धारण कीजिए, उनको हम विविध प्रकार से सान्त्वना देते हैं, ढाढ़स बँधाते हैं। विचारणीय विषय है कि जिस मित्र की आँखों के आँसुओं को हम अपने रूमाल से पोंछ देते हैं, यदि उन्हीं मित्र के कान से गुज्जू निकलता हो तो क्या पोछेंगे? नहीं पोछेंगे। इसी प्रकार उनकी नाक से यदि नेटा निकलता हो तो हम नहीं पोछेंगे, उनके मुँह से

लार निकलता हो तो हम नहीं पोछेंगे और नीचे की इन्द्रियों से निःसृत मल-मूत्र के लिए तो कहना ही क्या? अब हम दूसरी तरह से सोचें, सच्छास्त्रों में लिखा है–जब हम जाग्रतावस्था में रहते हैं, तो नेत्र में रहते हैं। स्वप्नावस्था में कंठ में चले जाते हैं और सुषुप्ति की अवस्था में हृदय में चले जाते हैं।

"नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥"
(ब्रह्मोपनिषद्, कृष्णयजुर्वेद)

इस वेद वाक्य से संत चरणदासजी महाराज की वाणी में कितना साम्य है, मिलाकर देखिए–

"जाग्रत वासा नैन में स्वप्न कंठ स्थान।
जान सुषुप्ति हृदय में नाभि तुरीय मन तान॥"

सन्त दरिया साहब बिहारी कहते हैं–

"जानि ले जानि ले सत्त पहिचानि ले,
सुरत साँची बसै दीद दाना।"

और सन्त तुलसी साहब की वाणी सुनिए–

"सत सुरति समझि सिहार साधौ,
निरखि नित नैनन रहो।"

जाग्रतावस्था में आँख में रहने के कारण हम दूर तक देखते हैं। जब हम स्वप्नावस्था में आँख से नीचे उतरकर कंठ में चले जाते हैं, तो नजदीक का भी ज्ञान हमको नहीं रहता है। उस समय हम मानसिक जगत में घूमते रहते हैं और जब कंठ से नीचे हृदय में चले जाते हैं तो वहाँ मानसिक जगत भी छूट जाता है और ऊपर कंठ में आते हैं तो पूर्ववत् मानसिक जगत में घूमते हैं। कंठ से ऊपर जब हम आँख में आते हैं तो जाग्रतावस्था में आ जाते हैं और तब हमें स्थूल जगत का ज्ञान होने लग जाता है। संतों ने कहा कि यदि तुम अपने को इन तीनों अवस्थाओं से परे चौथी अवस्था तुरीय में ले जाओ तो तुमको उस दिव्य अलौकिक जगत का ज्ञान होगा। जहाँ से तुम इस स्थूल शरीर और संसार में आये हो। संत कबीर साहब ने कहा है–

"वा घर की सुधि कोई नहीं बतावे,
जा घर से जीव आया हो।"

हम कहाँ से आये हैं और हमको कहाँ जाना है, यह बतलानेवाला कोई नहीं है। यह तो कोई संत सद्गुरु ही बतला सकते हैं। इस ९१वाँ वार्षिक अधिवेशन में यह बात बतलायी जाएगी। सत्संग की तिथियाँ ७, ८ और ९ निश्चित की गयी। जरा इस पर भी हम विचार करें। ये सात, आठ और नौ तिथियाँ क्या बतलाती है? इस सप्तमी तिथि के विषय में हम गोस्वामी जी के शब्दों में कहना चाहेंगे–

"सातईं सप्त धातु निरमित तनु, करिय विचार।
तेहि तनु केर एक फल, कीजिए पर उपकार॥"

सप्तधातुओं–रक्त, रस, मेद, मज्जा, मांस, अस्थि और वीर्य से हमारा शरीर निर्मित है। गोस्वामी जी का कहना है कि इस शरीर को पाकर विचार कीजिए कि क्या करना है जरा विचार शब्द पर हम विचार करें, विचार किसको कहते हैं? संत वचन है–

"को मैं आया कहाँ से, कित जाना क्या सार।
को मम जननी को पिता, या को कहिये विचार॥"

यह विचार करना है। भगवान बुद्ध का जमाना था, वे चारिका करके भोजन करते थे। जिस गाँव में भोजन करते थे, उस गाँव के बाहर वृक्ष के नीचे बैठ जाते थे, गाँव के कुछ लोग वहाँ एकत्रित होते और भगवान बुद्ध कुछ उपदेश वाक्य कहकर अपने विहार चले जाते थे। विहार कहने का मतलब बिहार प्रान्त से नहीं, बल्कि उनकी कुटियों से है। उस समय उनकी कुटिया निवास आश्रम को विहार की संज्ञा दी जाती थी। एक बार किसी गाँव में भिक्षाटन करके वे गाँव के बाहर में बैठ गए। वहाँ गाँव के कुछ लोग इकट्ठे हो गए। भगवान बुद्ध उपदेश करने लग गए। संयोग से उस गाँव की एक युवती लड़की जिसका विवाह नहीं हुआ था, वह भी आ गयी, जहाँ भगवान बुद्ध बैठे थे, वह वहीं उनके निकट नीचे में बैठ गयी। भगवान उपदेश वाक्य समाप्त करने के बाद उस लड़की से पूछते हैं–कुमारिके! तू कहाँ से आयी है? वह लड़की कहती है–'भन्ते! मैं नहीं जानती', भगवान बुद्ध पूछते हैं–'तू कहाँ जाएगी', लड़की कहती है–'भन्ते मैं नहीं जानती', भगवान बुद्ध पूछते हैं–'तू नहीं जानती है?', लड़की उत्तर देती है–'हाँ भगवन! जानती हूँ।' भगवान बुद्ध पूछते हैं कि तू जानती है? लड़की उत्तर देती है कि मैं नहीं जानती हूँ। वहाँ जितने लोग बैठे थे, उनलोगों के मन में आक्रोश हुआ कि यह कोई छोटी बच्ची नहीं है, सयानी लड़की है, इतने बड़े महान सन्त पूछ रहे हैं कि कहाँ से आयी हो, तो वह कहती है कि मैं नहीं जानती हूँ, पूछते हैं कि कहाँ जाएगी? तो कहती है, नहीं जानती हूँ। जब भगवान पूछते कि नहीं जानती हो, तो कहती है कि हाँ जानती हूँ। पुनः

जब भगवान पूछते हैं कि जानती हो, तो वह कहती है कि नहीं जानती हूँ, यह कैसी अशिष्ट लड़की है! सबके मन के आक्रोश को जानकर भगवान बुद्ध ने पुनः उस लड़की से पूछा–'कुमारिके!' मैं तुमसे क्या पूछ रहा हूँ और तुम क्या उत्तर दे रही है? वह लड़की कहती है–'भन्ते! आप जानते हैं कि मैं अमुक पेशकार की पुत्री हूँ और आप यह भी जानते हैं कि मेरी शादी हुई नहीं है, तो मैं कहाँ से आयी हूँ और कहाँ जाऊँगी, यह बात आप जानते ही हैं, लेकिन आपका पूछना यह नहीं है। आपका पूछना है कि संसार में, इस शरीर में तुम कहाँ से आयी हो? भगवन्! मुझे क्या पता, मैं पूर्वजन्म क्या थी और कहाँ से आयी हूँ, इसलिए मैंने कहा कि मैं नहीं जानती हूँ। आपने पूछा कि कहाँ जाएगी? भगवन्! मुझे क्या पता कि शरीर छूटने पर मैं कहाँ जाऊँगी, इसलिये कहा कि नहीं जानती हूँ। आपने पूछा–नहीं जानती है? तो मैंने कहा कि जानती हूँ अर्थात् संसार से एक दिन जाना है। आपने पुनः पूछा कि जानती है? तो मैंने उत्तर दिया, नहीं जानती हूँ अर्थात् कब जाऊँगी, यह नहीं जानती हूँ।

हमलोगों को भी यह सोचना है, विचारना है कि हम कहाँ से आये हैं और कहाँ जाएँगे? तथा अन्य संत भी कहते हैं कि 'याको कहिए विचार।' यह देव दुर्लभ मनुष्य शरीर हमलोगों को मिला हुआ है, इसकी उपादेयता क्या है, हमलोग जानें। गोस्वामी जी कहते हैं कि 'कीजिए पर उपकार।' इस परोपकार कार्य में चाहें हमारा तन लग जाय, मन लग जाय, धन लग जाय, वचन लग जाय, जो लग जाय, वह तो हमारे हिस्से का होगा, बाकी बचा हुआ भाग किसके हिस्से में जाएगा, पता नहीं। गुरु गोरखनाथजी कहते हैं–

"सप्त धातु का काया प्यंजरा, ता माहिं जुगति बिन सूवा।
सतगुरु मिलै तो उबरै बाबू, नहिं तो प्रलय हूवा॥"

यह सप्त धातु का बना हुआ पिंजरा है, इस पिंजरे में जीव रूप सुग्गा बैठा हुआ है। इस सुग्गे को पढ़ने के लिए जो सिखा दिया गया है, जैसे–राम-राम, शिव-शिव, वाह गुरु आदि वही यह पढ़ रहा है, कर रहा है। लेकिन जबतक सन्त सद्गुरु नहीं मिलेंगे, तबतक इससे निकलने का रास्ता इसको नहीं मिलेगा।

आठवीं तिथि क्या बतलाती है–

"आठइँ आठ प्रकृति पर, निरविकार श्री राम।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम॥"

संतमत-सत्संग के द्वारा आपको बतलाया जाएगा कि आठ प्रकृति के परे परम प्रभु परमात्मा किस प्रकार हैं। वास्तव में प्रकृति दो ही हैं–अपरा प्रकृति और परा प्रकृति। गोस्वामीजी ने अष्टधा प्रकृति को आठ प्रकृति कहा है। अपरा प्रकृति ही अष्टधा प्रकृति है; क्योंकि इसके अभ्यंतर में मिट्टी, जल, अग्नि, हवा, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार; ये आठ चीजें है। गोस्वामीजी कहते हैं–अष्टधा प्रकृति के परे निर्विकार श्रीराम हैं। वे निर्विकार श्रीराम कैसे मिलेंगे, जबकि हमारे हृदय में बहुत सी कामनाएँ बैठी हैं। जबतक हम निर्विकारी नहीं हो सकेंगे, उस निर्विकारी प्रभु को नहीं प्राप्त कर सकते। ब्रह्माण्ड पुराणोत्तर गीता में लिखा है–

"नवछिद्रान्विता देहाः स्नुवत्ते जालिका इव।
नैव ब्रह्म न शुद्धं स्यात् पुमान् ब्रह्म न विन्दति॥"

अर्थात नवछिद्र विशिष्ट शरीर से ज्ञान, विज्ञानादि निरन्तर निःसृत होते रहते हैं। मानवगण इन्द्रिय संयम करके देहाभिमान और रागादि परित्याग पूर्वक साक्षात् ब्रह्मवत् परिशुद्ध न होकर किसी प्रकार ब्रह्म का लाभ नहीं कर सकते।

हम अपने अन्दर से कामनाओं को कैसे निकालेंगे, अन्तःपुर का प्रक्षालन कैसे होगा और हम निर्विकार प्रभु को कैसे पाएँगे आदि बातें क्रम-क्रम से इस सत्संग में बतलाई जाएँगी। अब आगे नवमी तिथि आती है, यह क्या बतलाती है–

"नवमी नव द्वार-पुर वसि, न आपु भल कीन।
ते नर जोनि अनेक भ्रमत, दारुन दुख दीन॥"

कहते हैं–जबतक हम शरीर के नौ द्वार रूप पुर में रहेंगे, तबतक आवागमन के चक्र में पड़े रहेंगे, इससे हमारी अपनी भलाई नहीं हो सकेगी। अभी तो हम अपने को शरीर जान रहे हैं, इसलिए शरीर सुख के लिए ही सब कुछ कर रहे हैं। हमारा जितना प्रयास है, इन्द्रिय सुख के लिए है। लेकिन हम न तो शरीर हैं और न इन्द्रिय ही। हम शरीर, इन्द्रिय से परे हैं। हम अपने को जानें, पहचानें। एक बंगाली महात्मा योगी पंचानन भट्टाचार्य ने कहा था–

"आमी आमी करि बूझते न पारी।
के आमी अमाते आछे की रतन॥
कोन शक्ति बले बेड़ाइ चले बलै।
कारे अभावे हय देह अचेतन॥

देहे माझे आछे प्राणेरि संचार।
ताहा तेई बली आमी या आमार॥
प्राण गेले चले हवे शवाकार।
केवाकार कोथाय रव धन-जन॥"

'हम-हम' तो कह रहे हैं, लेकिन 'हम' हैं कौन, कभी भेंट हुई अपने से? हम गोरे हैं, काले हैं, नाटे हैं, मोटे हैं, दुबले हैं, पतले हैं, कैसे हैं? वस्तुतः हमलोग केवल शरीर ज्ञान में हैं, अपना ज्ञान नहीं है। शरीर का ज्ञान रहने के कारण ही हम शरीर से सम्बन्धित व्यक्ति और वस्तु का उपभोग करते हैं, इससे लाभ लेते हैं। लेकिन जिस दिन हमको स्वयं का ज्ञान हो जाएगा कि हम अमुक हैं, उस दिन उससे सम्बन्धित लाभ हमको मिलेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

"ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं।
बंधेउ कीर मर्कट की नाईं॥"

यह 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी' जब पीव को प्राप्त कर लेगा, तब उसका सारा दुःख दूर हो जाएगा। जितने प्रकार के दैहिक, दैविक, भौतिक आदि ताप हैं, इनसे मुक्ति मिल जाएगी।

यह दो हजार, दो ईसवी है। दो के बाद दो शून्य लिखकर फिर दो लिखते हैं। इस प्रकार इधर से अथवा उधर से, जिधर से भी पढ़िए बीस हो जाता है। यह बीस बतलाता है कि मानव शरीर पा करके उन्नीस (खोटा) काम मत करो। जो काम करो बीस (शुभ) काम करो, इक्कीस (उत्तमोत्तम) काम करो। यह उत्तमोत्तम कार्य भगवद्भजन, सत्संग, परोपकार और स्वावलम्बी जीवन है। यह मनुष्य-शरीर की उपादेयता है। इतना बड़ा विशाल आयोजन किसलिए है, यह क्या सन्देश देता है, यह भूमिका के रूप में मैंने थोड़ा-सा आपलोगों के समक्ष रखा।

आज 'सत्संग' के विषय में पाठ करके आपलोगों को सुनाया गया है। जिज्ञासा होती है–सत्संग किसको कहते हैं? सत्संग में दो शब्द हैं–सत् और संग। सत् सापेक्ष शब्द है। सापेक्ष कहते हैं–स+अपेक्ष। जिसको दूसरे की अपेक्षा होती है, वह है सापेक्ष। जब दो पदार्थ परस्पर उलटे गुणवाले हों और एक दूसरे के अपेक्षित हों, वह सापेक्ष शब्द है। जैसे सत् है, उसका सापेक्ष असत् होगा। जैसे दिन-रात, हानि-लाभ, सुख-दुःख, पाप-पुण्य; ये सभी सापेक्ष शब्द हैं, एक दूसरे के उलटे गुणवाले हैं। लेकिन एक जहाँ रहेंगे, दूसरे भी वहाँ रहेंगे। जिसका संग करने के लिए यह आयोजन किया गया है, वह सत् क्या है? संसार की जितनी चीजें हैं, सारी चीजें नाशवान हैं, असत् हैं।

परमात्मा ने जो सृष्टि की है, उस सृष्टि के पाँच बड़े-बड़े मण्डल हैं। जिसमें हमलोग रह रहे हैं, यह स्थूल मण्डल है। इसके बाद सूक्ष्म मंडल है, इसके बाद कारण मंडल है, उसके बाद महाकारण मण्डल है; ये चार बड़े-बड़े जड़ के मण्डल हैं और ये क्षर हैं। इन चार मण्डलों के परे पाँचवाँ कैवल्य मंडल है। वह कैवल्य मंडल क्षर नहीं, अक्षर है। वह जड़ नहीं, चेतन है। जबतक हम इन चार मण्डलों में रहेंगे, तबतक हम असत् में रहेंगे, तबतक हम क्षर में रहेंगे। और जब हम इन चारों मण्डलों को पार करके पाँचवें मण्डल में स्थित होंगे, तब हमको अपने सत्-स्वरूप का ज्ञान होगा। और जब अपने स्वरूप का ज्ञान होगा, तब परमात्म-स्वरूप का भी ज्ञान होगा। जबतक अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, तबतक सत्-स्वरूप परमात्मा का ज्ञान नहीं होगा।

यह जीवात्मा सत् है और परमात्मा भी सत् है। परमात्मा में जीवात्मा को मिला देना, इस प्रकार सत् का सत् से संग होना सत्संग है। गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा है–

"सूचै भाडै़ साचु समावै बिरले सूचाचारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ नानक सरणि तुमारी॥"

अर्थात् पवित्र बर्तन में सत्य अँटता है। जड़ावरण अपवित्र बर्तन है, इसमें जीवात्मा रहकर परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है। इनको पार करना है। कैवल्य मण्डल में जाकर–परा प्रकृति में अवस्थित होना है, तब अपना और परमात्मा दोनों का ज्ञान होगा। इसलिए एक शायर ने बड़ा अच्छा कहा है–

"इबादत है किसी नाशाद को फिर शाद कर देना।
इबादत है किसी बर्बाद को आबाद कर देना॥
यही सीखा है सागर हमने मुर्शद के कदम छूकर।
खुदा से हो अगर मिलना पता खुद का लगा लेना॥"

जबतक खुद का पता नहीं मिलेगा, तबतक खुदा का पता नहीं मिलेगा। जबतक आत्मा का पता नहीं मिलेगा, तबतक परमात्मा का पता नहीं मिलेगा।

चारो मंडलों को पार करने पर, चारों जड़ शरीरों को पार करने पर आत्मा का पता चलेगा। फिर जीव और पीव मिलकर एक हो जाएगा।

यह सत्संग बहुत उच्च श्रेणी का सत्संग है, इससे बढ़कर और कुछ हो नहीं सकता है। लेकिन जबतक यह सत्संग नहीं मिला है अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा का मिलन नहीं हुआ है, तबतक हमलोग क्या करें? सत्-स्वरूप सर्वेश्वर का जिन्होंने साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे सत् जन का संग भी सत्संग है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है–

"सोइ जानहि जेहि देहु जनाई ।
जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई ।।"

जो जल समुद्र में जाकर मिल जाता है, उसकी संज्ञा समुद्र ही हो जाती है। उसी तरह जो जीव परमात्मा से जाकर, मिल करके एक हो जाता है, उसकी संज्ञा वही हो जाती है, वह परमात्मा से अभिन्न हो जाता है। लेकिन ऐसे संतों की पहचान भी कठिन है; क्योंकि हमारे पास उस तरह का मीटर नहीं है, जिससे हम ठीक-ठीक उनकी पहचान कर सकें।

एक साधु बाबा ने अपने शिष्यों को एक छड़ी दिया और कहा कि यह लो, तुम जिसके सामने इस छड़ी को रखोगे, उसके अंदर क्या दोष-गुण हैं, इसमें देख लोगे। शिष्य ने छड़ी ले ली। उसने सोचा कि और लोगों को तो पीछे देखेंगे, पहले अपने गुरुजी को ही देख लें कि इनमें क्या गुण-अवगुण हैं। उसने उस छड़ी को गुरुजी के सामने कर दिया, तो उसकी नजर में गुरुजी के अंदर के गुण-दोष सब कुछ आ गए। गुरुजी के अवगुणों को देखकर वह सोचने लगा कि इतने दिनों तक मैंने इनकी व्यर्थ सेवा की; क्योंकि इनमें तो दोष भरे पड़े हैं। मैं तो समझता था कि ये विकार-रहित, निर्दोषी हैं, पवित्र हैं। अब इनके साथ रहना ठीक नहीं है। गुरुजी ने उस शिष्य से कहा– अच्छा, मुझे तो तुमने देख लिया। अब तुम अपनी ओर छड़ी घुमाकर देखो, तुम कैसे हो? शिष्य ने जब अपनी ओर देखा, तो दंग रह गया। वह सोचने लगा– अरे! हम तो सभी दुर्गुणों से भरे पड़े हैं।

इसी प्रकार लोग तो दूसरे को मीटर लगाकर देखते हैं, लेकिन अपने में मीटर लगाकर देखना भूल जाते हैं। जरा झाँककर देखो तो अपने में क्या है?

"देखि के परदोष रज सम, कहत गिरि सम सोई रे ।
दोष अपने मेरु सम हैं, तिन्हें राखत गोई रे ।।"
–गो० तुलसीदासजी

संतों में कोई दोष नहीं होता। दोष हमारी दृष्टि में रहता है। संतों का संग दूसरी श्रेणी का सत्संग है। लेकिन जब कोई संत हमारे सामने नहीं हों, तब हम किसका संग करें, ऐसी जिज्ञासा हो सकती है? उत्तर में निवेदन है कि जो संत हो चुके हैं, उन सन्तों की जो वाणियाँ हैं, उन सन्तों की वाणियों का हम संग करें, यह भी सत्संग है। यह तीसरी श्रेणी का सत्संग है। कुछ दिन हम सत्संग करते रहेंगे, संतवाणी का संग करते रहेंगे, तो कभी-न-कभी प्रभु की कृपा हो जाएगी और दुर्लभ संत के दर्शन हो जाएँगे। दूसरी श्रेणी का सत्संग करते-करते उनसे सद्युक्ति लेकर सदाचार समन्वित होकर, सत् साधना करने लग जाएँगे तो सत्-स्वरूप सर्वेश्वर का साक्षात्कार करके पहली श्रेणी का भी सत्संग हो जाएगा।

अभी हमलोग संतवाणी का संग करने के लिए यत्र-तत्र से यहाँ एकत्र हुए हैं। संतों ने क्या कहा है, उसको हम सुनेंगे, समझेंगे, विचारेंगे और व्यवहार में लाएँगे, हमारा परम कल्याण होगा, परमात्मा का ज्ञान ऐसा है कि वह सर्वत्र है। परमात्मा सर्वव्यापी होने के कारण वह बाघ में भी रहते हैं और गाय में भी रहते हैं। बाघ का संग करने से क्या होगा और गाय का संग करने से क्या होगा, सो समझिए। उसी तरह परमात्मा सज्जन में भी रहते हैं और दुर्जन में भी रहते हैं। सज्जन तो गाय के समान होते हैं और दुर्जन बाघ के समान। बाघ के सामने जाइए तो वह आपको खा लेगा। उसी तरह दुर्जन के सामने जाइए तो आपके सद्ज्ञान को खा लेगा। गाय हमको दूध देती है, उसका दूध हम जीवन भर पीते हैं। माता का दूध उतना नहीं पी पाते हैं, जितना कि गाय का दूध पीते हैं। जैसे जीवन भर गाय हमको दूध देती रहती है, उसी तरह संत-महात्मागण अपने जीवन भर हमको सद्ज्ञान देते रहते हैं। जिस तरह दूध पीकर हम पुष्ट होते हैं, उसी तरह संतों के ज्ञान को लेकर हम संतुष्ट होते हैं।

शारीरिक बल के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, मानसिक बल के लिए इस सत्संगरूपी भोजन की आवश्यकता होती है और आत्मबल के लिए भगवद् भजन करने की आवश्यकता होती है। ये तीनों

प्रकार के भोजन चाहिए। तन का भोजन चाहिए, मन का भोजन चाहिए और आत्मा का भी भोजन चाहिए।

जो संत होते हैं, वे हमको देते ही रहते हैं। संत सुन्दरदासजी महाराज ने कितना अच्छा कहा है–

"साँचो उपदेश देत भली भली सीख देत,
समता सुबुद्धि देत कुमति हरतु है।
मारग बताई देत भावहू भगति देत,
प्रेम की प्रतीति देत अभरा भरतु हैं।
ज्ञान देत ध्यान देत आतम विचार देत,
ब्रह्म कूँ बताई देत ब्रह्म में चरतु है।
सुन्दर कहत जग संत कछु लेत नाही,
निशदिन संत जन देवो ही करतु हैं।"

वे संत हमको देते ही देते रहते हैं। संतमत बतलाता है कि सत् और असत् से क्या लाभ और क्या हानि होती है–

"सत-संगति से हो जाता नर विषयों से निस्संग।
फिर व्यामोह रहित हो जाता हो सर्वत्र असंग॥
मोह विगत होते ही होता मन निश्चलता युक्त।
निश्चलता आते ही वह हो जाता जीवन मुक्त॥"

सत्संग से प्रेम करनेवाला जीवनमुक्त हो जाता है। शरीर में रहते हुए अशरीरी हो जाता है, विदेह हो जाता है। गुरु नानकदेवजी महाराज गृहस्थ थे, पर परिवार में रहते हुए निर्लिप्त थे। राजा जनकजी राजपाट सब कुछ चलाते थे, पर असंग होकर रहते थे। संतमत बतलाता है अपने परिवार, घर-गृहस्थी को छोड़ने की जरूरत नहीं है। घर-गृहस्थी, परिवार में रहो, अपना काम-धंधा सँभालते रहो, लेकिन निर्लिप्त हो करके रहो। गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा है–

"जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणै।
सुरति शबदि भवसागरु तरिऐ नानक नामु बखाणै॥"

संत कहते हैं–जल से कमल की उत्पत्ति होती है, वह अपने सौरभ से चारो ओर सुरभित करता है। दूर-दूर से भौंरे आते हैं और उसके पराग को लेकर जाते हैं। उसी तरह यह संसार क्या है–कीचड़ है, भवजल है, जिसमें तुम हो। तुम्हारा जीवन इस तरह का होना चाहिए, जैसे कमल का फूल। तुम्हारा यश लेने के लिए, तुम्हारा गुण लेने के लिए, तुम्हारा संग करने के लिए दूर-दूर से लोग आवें और लाभान्वित होकर जाएँ। लेकिन यह सब होगा कैसे? इसके लिए सत्संग की आवश्यकता है। जितने अंशों में हमारा मन सत्संग में लगेगा, उतने ही अंशों में हमारा सुधार होगा। सत्संग के संदर्भ में गुरुदेव का वचन है–

"नित सत्संगति करो बनाई, अन्तर बाहर द्वै विधि भाई।
धर्म कथा बाहर सत्संगा, अन्तर सत्संग ध्यान अभंगा॥"

उन्होंने सत्संग के बाह्य और अंतर दो प्रकार बतलाए हैं। यह धर्म कथा की चर्चा बाहर का सत्संग है और जब जीव पीव से मिलने के लिए अभंग ध्यान करता है, तब अंतर का सत्संग होता है। जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें दोनों ही प्रकार का सत्संग करना चाहिए।

(यह प्रवचन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ९१वाँ वार्षिक महाधिवेशन, कटिहार में दिनांक ०७.०४.२००२ ई० को प्रातःकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१०८. रमन्ति योगिनो यस्मिन् सः रामः

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ एवं भक्तिमती बहनो!

संतमत-सत्संग के द्वारा ईश्वर-भक्ति का प्रचार होता है। वह ईश्वर-भक्ति अंधी भक्ति नहीं, ज्ञान-योग-युक्त भक्ति है। जिनकी हम भक्ति करना चाहें, उनके स्वरूप का ज्ञान हमें होना चाहिए; पहले परोक्ष ज्ञान, पीछे अपरोक्ष ज्ञान। गोस्वामी तुलसी दासजी महाराज ने लिखा है–

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहीं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥

जबतक हम किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ जानेंगे नहीं, तबतक जो उसकी उचित सेवा (भक्ति) होनी चाहिए, नहीं हो सकेगी और जब जान जाएँगे, तब जो उचित सेवा है, वह होगी।

ईश्वर के संबंध में जबतक हम समझेंगे नहीं कि वे स्वरूपतः कैसे हैं, तबतक उनकी भक्ति कैसे

कर सकेंगे? नाम के बिना नामी को कैसे जान सकेंगे? परम प्रभु परमात्मा के अनेक नामों में 'राम' भी एक नाम है। 'रम्' धातु से राम शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है–जो सबमें रमण करता हो। 'रमन्ति योगिनो यस्मिन् सः रामः।' जिसमें योगीजन रमण करते हैं, वह राम है। संत कबीर साहब की वाणी है–

एक राम दशरथ घर डोलै,
एक राम सब घट घट बोलै।
एक राम का सकल पसारा,
एक राम है सबसे न्यारा ॥

संत गरीब दासजी ने राम के विषय में बतलाया है–

अल्लाह अविगत राम है, बेचगून निरबान।
मेरा मालिक है सही, महल मढ़ी नहिं थान ॥

वह राम ही अल्लाह है। कुरान शरीफ के अलबकरा पारा एक, सूरा दो में लिखा है–"पूरब और पश्चिम सब अल्लाह के हैं। तुम जिस ओर रुख करोगे, अल्लाह का रुख भी उसी ओर है। वह अल्लाह सर्वव्यापक है, सब कुछ जाननेवाला है।" अल्लाह शब्द आला शब्द से बना है, जिसका अर्थ है–सबसे बड़ा। जिससे बड़ा और कोई नहीं हो सकता, वह है अल्लाह। वही है परम प्रभु परमात्मा, वही है God, वही है राम।

सीता-हरण के पश्चात् का एक प्रसंग है। हनुमानजी श्रीलंका पहुँचे और उन्होंने सीता जी से भेंट की। अशोक वाटिका का विध्वंस किया। रावण का मान-मर्दन कर सम्पूर्ण लंका जला दी। सम्पूर्ण लंका तो जल गई; लेकिन विभीषण का घर नहीं जला। रावण ने विभीषण को बुलाकर पूछा–"सारी लंका जल गई और तुम्हारा घर नहीं जला, क्या कारण है? क्या उस बन्दर से तुम्हारी मैत्री थी या पहले की जान पहचान थी?" विभीषण राम-भक्त तो थे ही, बड़े विद्वान और बोलने में बड़े कुशल भी थे। उन्होंने कहा–"आप यहाँ के राजा हैं, मैंने आपका और भाभी का–दोनों का नाम अपने मकान के ऊपर लिख रखा था, फिर कैसे जलता?" रावण ने कहा–"तुम तो अपने घर पर 'राम' लिखे हुए हो और कहते हो कि मेरा और मन्दोदरी का नाम लिखा था।" विभीषण ने उत्तर दिया–"मैंने संक्षेप में आपके नाम रावण का 'रा' और मन्दोदरी का 'म' मिलाकर 'राम' लिखा है। मेरा घर कैसे जलता!" 'राम' की ऐसी महिमा है, अगर हमारे हृदय में विराजित 'राम' का प्रत्यक्षीकरण हो, तो हमारा सब काम पूरा हो जाय और परम कल्याण हो जाय। यह संतमत उसी राम की भक्ति बतलाता है। एक बार नारद मुनि भगवान श्रीराम के पास पहुँचते हैं और कहते हैं–

यद्यपि प्रभु के नाम अनेका।
श्रुति कह सकल एक तें एका ॥
रामनाम सबहिंन ते अधिका।
होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥

यह हमको वरदान दीजिए। भगवान राम ने उनको वरदान दे दिया। राम क्या है? इसको हम अच्छी तरह समझें। राम के सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं। पहले सगुण साकार से भक्ति आरम्भ करें, उसके बाद निर्गुण निराकार तक जाएँ, ऐसी संतवाणी कहती है।

एक सज्जन श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराज के पास पहुँचे। उन्होंने कहा–"मैं गृहस्थ हूँ, मेरे पास समय नहीं है, आप एक ऐसा उपदेश दीजिए, जिसमें सारे-का-सारा ज्ञान भरा पड़ा हो।" श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराज ने उत्तर दिया–ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या। इसको जान लो, फिर कुछ जानने के लिए बाकी नहीं रह जाएगा–ब्रह्म सत्य है, उसके अतिरिक्त जो है, वह भ्रम है, मिथ्या है। किस तरह? गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है–

रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहु काल सो, भ्रम न सकै कोउ टारि ॥
ऐसेहि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुःख अहई॥

सीपी में सूर्य की किरण पड़ती है, तो वह चाँदी-सी भासती है। सूर्य की किरण रेतीले मैदान पर पड़ती है, तो वहाँ पानी-सा भासता है। न तो रेतीले मैदान में पानी है और न सीपी में चाँदी ही; लेकिन इस भ्रम को कोई दूर नहीं कर सकता। जिस तरह सूर्य के आधार पर ही ये दोनों भासते हैं, उसी तरह परम प्रभु परमात्मा के आधार पर ही यह संसार भासता है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि यद्यपि यह असत्य है, फिर भी दुःख देता है। लोग कह सकते हैं कि जो असत्य है, वह दुःख क्या दे सकता है? लेकिन ऐसा भी होता है। इस संबंध में एक प्रसंग सुनिए–

एक युवक ने विवाह किया। वह अपनी पत्नी

को साथ लेकर अपने घर लौट रहा था। लड़की की विदाई में देर हो गई थी, जिससे रास्ते में ही रात हो गई। लड़के ने सोचा कि रात के समय अब कहाँ जाएँ? स्टेशन के नजदीक ही धर्मशाला थी, उसमें वे दोनों ठहर गए और भी बहुत-से लोग उस धर्मशाला में ठहरे हुए थे। जब दोनों खा-पीकर निश्चिन्त हुए और अपने कमरे में बैठे, तो प्रेमालाप में लड़के ने अपनी पत्नी से पूछा–"कहो, हमलोगों को जब लड़का होगा, तो उसको तुम क्या पढ़ाओगी? पत्नी बोली–"मेरा मन है लड़के को डॉक्टर बनाने का आपका क्या मन है?" लड़के ने कहा–"मेरा मन है, वकील बनाने का।" उसकी पत्नी कहती है–"नहीं, वकील बनाना ठीक नहीं है, डॉक्टर बनाना ही ठीक है।" लड़का कहता है–"देखो, डॉक्टरी सबकी चलती नहीं, किसी-किसी की चलती है; लेकिन जो वकालत करेगा, तो कुछ-न-कुछ कमाकर लाएगा ही।" उसकी पत्नी कहती है–"नहीं, वकालत में वकील स्वयं तो झूठ बोलते ही हैं और दूसरे से भी झूठ बोलवाते हैं। झूठी कमाई ठीक नहीं है। जो थोड़ी-सी सच्ची-पवित्र कमाई होगी, वही ठीक, लोगों का उपकार तो होगा।"

इस प्रकार वार्तालाप होते-होते बात बढ़ गई। लड़की कहती–मैं तो डॉक्टर बनाऊँगी और लड़का कहता है–मैं वकील बनाऊँगा। देहात में कहावत है कि लकड़ी को माठने से उसमें चिकनापन आता है और बात को माठने से उसमें रुखड़ापन आता है। लड़का नौजवान ठहरा, आवेश में आकर पत्नी को जोर से एक थप्पड़ लगा दिया। बेचारी रोने लग गई और रोते-रोते कहने लगी–"मैं तो डॉक्टर ही बनाऊँगी।" फिर दूसरा थप्पड़ मारते हुए वह क्रोधित स्वर में कहता है–"वकील बनाना छोड़कर डॉक्टर-डॉक्टर कर रही है।" दूसरा थप्पड़ लगा कि बेचारी और जोर-जोर से फूट-फूटकर रोने लगी।

आस-पास के कमरे में जो लोग थे, वे सब इकट्ठे हो गए। लोगों ने पूछा–"अरे भाई, थोड़ी देर पहले आपलोग तो बड़े प्रेम से आपस में बातें कर रहे थे, अभी क्या बात हो गई, जो रोने-धोने की नौबत आ गई?, लड़की कहती है–"देखिये न, मैं अपने पुत्र को डॉक्टर बनाना चाहती हूँ और ये वकील बनाना चाहते हैं।" लड़के ने कहा–"मैं अपने लड़के को वकील बनाना चाहता हूँ और यह डॉक्टर बनाना चाहती है।"

इस प्रकार जब दोनों ने अपनी-अपनी फरियाद रखी, तो लोग कहने लगे–"देखो भाई! आजकल का जमाना ऐसा नहीं है कि आपलोग जैसा चाहेंगे, वैसा हो जाएगा। लड़के की रुचि जाननी पड़ती है कि वह क्या पढ़ना चाहता है, क्या बनना चाहता है। लड़के को बुलाओ और पूछो कि वह क्या पढ़ना चाहता है? इसपर दोनों लज्जित होते हुए संकुचित स्वर में कहने लगे–"अभी तो हमलोग शादी करके आ ही रहे हैं, लड़का कहाँ है?" यह घटना बतलाती है कि जैसे लड़का तो हुआ नहीं और मार-पीट, रोना-धोना सब तो हो ही गया। इसी प्रकार यद्यपि संसार मिथ्या है, फिर भी उससे दुःख होता है। 'यद्यपि असत्य देत दुःख अहई' यही बात गोस्वामी तुलसीदासजी ने कही है। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि संसार असत्य है; लेकिन उसका जो दुःख-सुख है, वह तो हमलोग भोग ही रहे हैं। इसलिए संत सूरदासजी महाराज ने कहा है–

ताते सेइये यदुराई।
संपति विपति विपति सौं संपति, देह धरे को यहै सुभाई ॥
तरुवर फूलै फलै परिहरै, अपने कालहिं पाई।
सरवर नीर भरै पुनि उमड़ै, सूखे खेह उड़ाई ॥
द्वितीय चंद्र बाढ़त ही बाढ़े, घटत घटत घटि जाई।
सूरदास सम्पदा आपदा, जिनि कोऊ पतिआई ॥

यह संसार सापेक्ष है। यहाँ दुःख है, तो सुख भी है; लाभ है, तो हानि भी। हम देखते हैं, एक पेड़ है, उसमें फूल होता है, फल होता है, फिर सब झड़ जाते हैं। एक सूखी नदी है, वर्षा हुई–पानी जम गया। बाढ़ आई, पानी भर गया। फिर कुछ दिनों के बाद पानी सूख जाता है। अमावस्या-तिथि में सारी रात अँधेरा रहता है, परिवा तिथि में चन्द्रोदय होता है। पश्चात् द्वितीया आती है। होते-होते चाँद पूर्णिमा को प्राप्त होता है। सारी रात प्रकाश-ही-प्रकाश बना रहता है। वही चन्द्रमा पूर्णिमा से घटते-घटते अमावस्या को प्राप्त होता है। पूर्ववत् अँधेरा छा जाता है। इस तरह संपत्ति और विपत्ति का घटना और बढ़ना संसार का नियम है। सब दिन एक-सा नहीं रहता। इसलिए क्या करो? जो घटे नहीं, बढ़े नहीं, सदा एकरस रहे, उस राम की भक्ति करो–'ताते सेइये यदुराई।' संपत्ति हो या विपत्ति, इसपर विश्वास नहीं करो कि यह सदा रहनेवाला है।

वह परम प्रभु परमात्मा कहाँ है और कहाँ नहीं है? वह सर्वत्र है। जब कौरवों की सभा में द्रौपदी की साड़ी खींची जा रही थी, तो बेचारी विलख-विलखकर रो रही थी। करुण-क्रन्दन करती हुई वह भगवान को पुकारने लगी–

दु:ख हरो द्वारिका नाथ शरण में तेरी।
बिन काज आज महाराज लाज गई मेरी॥
दु:शासन वंश कुठार महादु:खदाई।
कर पकड़त मेरी चीर लाज नहीं आई॥
पाँचो पति बैठे मौन कौन गति होई।
ले नंदनंदन को नाम द्रौपदी रोई॥
करि करि विलाप संताप सभा में तेरी।
दु:ख हरो द्वारिका नाथ शरण में तेरी॥

भक्त के पुकारने में देर होती है, भगवान के पधारने में नहीं। द्रौपदी की करुण पुकार भगवान सुनते हैं और उसकी साड़ी बढ़ने लग जाती है। दु:शासन के भुजा में दस हजार हाथियों का बल था। साड़ी खींचते-खींचते उसकी भुजा का बल समाप्त हो गया; लेकिन साड़ी समाप्त नहीं हुई। साड़ी का पहाड़ लग गया। द्रौपदी की प्रतिष्ठा बच गई।

महाभारत के युद्ध में कौरवों का विनाश हुआ, पाण्डवों की जीत हुई। युधिष्ठिर महाराज राजगद्दी पर बैठे और निष्कंटक राज्य करने लगे। एक दिन भगवान श्रीकृष्ण ने कुन्ती से कहा–"जिस काम के लिए मैं आया था, वह काम पूरा हो गया, अब हमको जाने की आज्ञा दीजिए।" द्रौपदी के साथ पाँचो भाई पाण्डव वहाँ बैठे थे। द्रौपदी ने कहा–"केशव! सब काम तो आपने अवश्य किया; लेकिन कौरवों की सभा में जब मेरी पूरी फजीहत हो गई, तब आपने हमारी रक्षा की।" भगवान कृष्ण ने कहा–"द्रौपदी! उसमें तुम्हारा दोष है या मेरा?" द्रौपदी ने कहा–"दु:शासन ने जैसे ही मेरी साड़ी पकड़ी, वैसे ही मैंने आपको पुकारना शुरू किया; लेकिन आप देर से आये।" भगवान कृष्ण ने कहा–"देखो, द्रौपदी! दूसरे का छोटा-सा दोष लोग बहुत बड़ा बनाकर देखते हैं और अपना बहुत बड़ा दोष रहने पर भी उसको बहुत छोटा मानते हैं।"

देखि कै परदोष रज सम, कहत गिरि सम सोइ रे।
दोष अपने मेरु सम है, तिन्हें राखत गोइ रे॥

द्रौपदी ने कहा–"मेरा क्या दोष है, आप बतला दीजिए?" भगवान कृष्ण ने कहा–"तुम मुझको यह कहकर पुकार रही थी–"दु:ख हरो द्वारिकानाथ शरण में तेरी।" तो द्वारिका से दिल्ली आने में देर लगेगी कि नहीं, तुम्हीं बतलाओ? और जब तुमने कहा कि "हृदयेश! मेरी रक्षा करो, तो हृदयेश कहते ही मैं तेरी साड़ी में प्रवेश कर गया। दु:शासन का बल शेष हो गया, तुम्हारी साड़ी नि:शेष रह गई।"

विचारणीय विषय है कि जो हमारी रक्षा के लिए दूर से आएँ और देर से आएँ, हम उनकी पुकार करें अथवा जो हमारे अंग-संग हर वक्त मौजूद रहते हैं, उनकी? सन्त प्रवर सूरदासजी ने सब-उर-पुरवासी निरंजन राम के लिए माधव शब्द का प्रयोग किया है। मा = माया, धव = पति। माधव = माया-पति। साथ ही, उन्होंने उस कृपासिन्धु प्रभु से भवसिन्धु पार करने की प्रार्थना की है। जैसे समुद्र में जल होता है, उसमें लहर होती है, ग्राह-मछली आदि जीव-जन्तु होते हैं। उसी प्रकार भवसागर में क्या जल है, क्या तरंग है, क्या मगर-मछलियाँ आदि जीव-जन्तु हैं, भव में पड़े जीव की कैसी दयनीय दशा होती है तथा जग-उदधि पार करने में क्या-क्या विघ्न हैं, किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है प्रभृति बातों का उन्होंने अपने एक पद्य में सजीव चित्र-चित्रित किया है। यथा–

अबके माधव मोहि उधारि।
मगन हौं भव-अंबु-निधि में, कृपा सिन्धु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जल में, गहे ग्राह अनंग॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सेंवार॥
काम क्रोध समेत तृष्णा, पवन अति झक झोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत, नाक नौका ओर॥
थक्यो बीच बेहाल विहवल, सुनहु करुणा मूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु, 'सूर' ब्रज के कूल॥

यह संसार माया का महासागर है। इससे निकलना सामान्य बात नहीं। जबतक प्रभु-कृपा नहीं होगी, निकल नहीं सकते। प्रभु की कृपा कब होती है? प्रभु को याद करने से। जब हम प्रभु को याद करेंगे, तो वह प्रभु तक जाएगी, उधर से वह दया बनकर आएगी। उनकी दया मिल जाने से सब कुछ हो सकता है। संतमत बतलाता है कि एक ईश्वर पर विश्वास करो। उस ईश्वर की प्राप्ति अपने अन्दर होगी, इसका दृढ़ निश्चय रखो। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है–

एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।

एक ईश्वर की भक्ति करो। जैसे वृक्ष की जड़ में पानी डालने से समूचा वृक्ष हरा-भरा हो जाता है, फूलने-फलने लग जाता है, उसी तरह एक ईश्वर की भक्ति में सबकी भक्ति हो जाती है। संत कबीर साहब की वाणी है–

अछै पुरुष एक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
तिरदेवा शाखा भये, पात भया संसार॥

संत सूरदासजी ने भी एकेश्वरवादी बनने की सीख दी है और त्रिगुण के परे निर्गुण को पकड़ने की प्रेरणा दी है; यथा–

ब्रह्म कुलाल रचे बहु भाजन,
कर्मन के वश मोहि न भावै।
विष्णुहि संकट आय पड़े,
गर्भ काहुक रक्षक काहु सतावै॥
संकर भूत पिशाचन के पति,
हाथ कपाल लिये बिललावै।
ताहिते सुन्दर तिरगुन त्यागि,
सो निर्गुण एक निरंजन ध्यावै॥

हजरत मुहम्मद साहब ने कहा–"एक ईश्वर विश्वासी बनो, बहुदेव उपासी मत बनो।" श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण का वचन है–"अव्यभिचारिणी भक्ति करो।" जो पतिव्रता नारी होती है, वह एक पति को भजती है। उसी तरह जो सच्चे भक्त होते हैं, वे एक ईश्वर को पकड़कर रखते हैं, ईश्वर उनकी रक्षा करते हैं। कुरान शरीफ अलबकरा सूरा-२, पारा-३ में लिखा है–"जो अल्लाह पर ईमान लाते हैं, तो अल्लाह उनकी रक्षा करते हैं, सहायता करते हैं और उनको अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाते हैं।" भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–योगक्षेमं वहाम्यहम्। मैं अपने भक्तों का योगक्षेम करता हूँ–क्या चाहिए, वह जुटा देता हूँ और जो देता हूँ, उसकी रक्षा भी करता हूँ। इस सम्बन्ध में एक उपदेश-प्रद अतिरोचक कहानी मुझे याद आती है–

एक बार यूनान का बादशाह बीमार हुआ। बहुत चिकित्सा करने पर भी रोग आराम नहीं हुआ। उन्होंने अपने हकीमों से कहा–"मैं इतने दिनों से तुमलोगों की परवरिश करता रहा हूँ और तुमलोग मुझे रोग-मुक्त नहीं कर सकते! तुम्हें पालने-पोसने से क्या लाभ हुआ?" हकीमों ने कहा–"जहाँपनाह! इसके लिए जो औषधि है, वह मिलनी बहुत कठिन है। इसलिए हमलोग हमलोग उपाचार करने में लाचार हैं।" बादशाह ने कहा–"बताओ, क्या औषधि है? सारे संसार से छानकर लायी जाएगी।" हकीमों ने उत्तर दिया–"एक ग्यारह साल के स्वस्थ, अमुक-अमुक गुणधारी लड़के का कलेजा निकालकर उससे तेल बनाना पड़ेगा। उसी तेल से आप रोग-मुक्त हो सकते हैं।"

बादशाह ही ठहरे, अपने लोगों को उस तरह का लड़का खोजने के लिए राज्य भर में भेज दिया। यह भी कह दिया कि उसके माँ-बाप जितने पैसा लेना चाहें, दे देना। कहावत है–खोजने से खुदा मिलते हैं, फिर आम आदमी क्यों नहीं मिलेगा। वैसा ही लड़का मिल गया। उसके माँ-बाप ने पैसे लेकर उस लड़के को राजा के आदमियों के हवाले कर दिया। लड़के को दरबार में लाया गया। बादशाह ने हकीमों से पूछा–"आपलोग जैसा चाहते थे, यह लड़का वैसा ही है न?" उन लोगों ने कहा–"हाँ, ठीक है।" बादशाह ने काजी को बुलाकर पूछा–"मेरी जान बचाने के लिए इस लड़के की जान ली जा सकती है?" काजी ने उत्तर दिया–"आप देश के बादशाह हैं। आपकी जान बचाने के लिए कई जानें भी चली जाएँ, तो अनुचित नहीं है।" काजी ने लड़के को मारने का फतवा (आदेश) दे दिया। जल्लाद बुलाया गया। जल्लाद हाथ में तलवार उठाकर उसे मारने के लिए ज्यों ही तैयार हुआ, वैसे ही लड़का आसमान की ओर देखते हुए ठठाकर हँस दिया। बादशाह ने जल्लाद को संकेत किया कि तलवार रोको, तलवार रुक गई। बादशाह ने उस लड़के से पूछा–"तुम अपने माता-पिता से बिछुड़ गये हो और अभी तुरन्त तुम्हारी जान जानेवाली है, फिर भी तुम हँस रहे हो, इसका क्या कारण है?" लड़के ने कहा–"मेरी जान जाएगी, आपकी जान तो बचेगी न! आप अपना काम कीजिए।" राजा के पुनः आग्रह करने पर लड़के ने कहा–"मैंने सुना था कि बाल-बच्चे माँ-बाप के कलेजे होते हैं। बच्चे के लिए अपनी जान देते हैं; लेकिन दुनिया के माँ-बाप कैसे होते हैं, यह मैंने देख लिया कि उन्होंने चाँदी के चंद टुकड़ों के लिए मुझे बेच दिया। सुना था कि राजा प्रजा के माता-पिता होते हैं। दुनिया के राजा को भी मैंने देख लिया, जो अपनी जान बचाने के लिए एक निरीह, गरीब बच्चे की जान लेने को तैयार हैं। यह भी सुना था कि

काजी का न्याय सच्चा होता है, आज मैंने काजी के न्याय को भी देख लिया। अब ऐ अल्लाह परवरदीगार! दीन-दुखियों के मालिक! अब तुम्हारा न्याय मुझे देखना है कि तुम क्या करते हो? लड़के के तथ्यपूर्ण उपदेशमय वाक्य को सुनकर बादशाह का दिल पिघल गया। अपनी गद्दी से नीचे उतरकर उसने लड़के को गले से लगाते हुए कहा–"तुमने मेरी आँखें खोल दीं। जाओ, तुम्हें मुक्त कर दिया गया।" प्रभु-अनुकम्पा से बादशाह भी धीर-धीरे रोगमुक्त हो गया। संतमत बतलाता है कि एक ईश्वर पर अचल विश्वास और पूर्ण भरोसा रखना चाहिए। साथ ही अपने अन्तर में उनकी प्राप्ति के लिए सदाचार-समन्वित होकर भक्ति करनी चाहिए।

गुरुदेव एक कथा कहा कहते थे–"एक राजा था। वह इतना बड़ा लोभी था कि समुद्र पर उसने चढ़ाई कर दी। जब राजा ने बम-वर्षा करना प्रारंभ किया, तो समुद्र ने प्रकट होकर पूछा–आपको क्या चाहिए? राजा बोले–"इतने अधिक जल से तुम मेरे राज्य को ढँके हुए हो, तुम हमें कर दो।" समुद्र ने कहा–"वहाँ पर गड्ढा है, उससे जितना धन चाहो, ले जाओ।" राजा उस गड्ढे से धन निकलवाने लगा। धन निकालते-निकालते उसके कितने वाहन समाप्त हो गये, कितनी गाड़ियाँ टूट गईं। धन से मकान-पर-मकान भरता जाता, पर खजाना खाली ही नहीं होता। राजा ने फिर बम-बरसाना शुरू किया। समुद्र फिर प्रकट हुआ और कहा–अब क्यों बम-वर्षा कर रहे हो? राजा ने कहा–"तुमने जो खजाना दिया है, यह तो खत्म होता ही नहीं है और धन से हमारा मकान-पर-मकान भरता जा रहा है। यह धन कैसे खत्म होगा?" समुद्र ने एक मनुष्य की खोपड़ी दी और उसमें धन रखने को कहा। राजा उसमें धन रखने लगा। खोपड़ी तो छोटी थी; किन्तु ऐसी विचित्र थी कि कितना भी धन उसमें रखा जाय, पर वह भरता ही नहीं था। राजा ने पुनः समुद्र पर बम-बरसाना शुरू कर दिया। समुद्र प्रकट होकर बोला–अब क्यों व्यर्थ हिंसा करते हो? राजा ने समुद्र से खोपड़ी भरने का उपाय पूछा। समुद्र ने कहा–"यह मानव की खोपड़ी है। यह धन से कभी नहीं भरती है, इसमें एक चुटकी मिट्टी डाल दो, भर जाएगा।" संत कबीर साहब ने कहा है–

कबीर औंधी खोपड़ी, कबहु अघावै नाहिं।
तीन लोक की सम्पदा, कब आवै घर माँहि॥

जब बर्तन सीधा रहता है, तो उसमें जो डाल दीजिए, वह भर जाता है, पर जो बर्तन उल्टा है, उसमें कितना भरिएगा?

गोधन गजधन वाजिधन, और रतनधन खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूर समान॥

यह संतोष-धन कब आएगा? जबतक राम का भजन, भगवद्‌भजन नहीं करेंगे, कामनाओं का अन्त नहीं होगा।

राम भजन बिनु मिटहिँ कि कामा।
थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥

सूरदास जी महाराज कहते हैं–"लोभ लहरि तरंग" और साथ ही–"लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग।" कामदेव रूपी ग्राह ने ग्रस लिया है और निगलने को ही है। फिर भी हमारी क्या हालत है? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

लील चुका अहि मेढ़कन, मूढ़ रहा सो लेय।
तुलसी मूरख मेढ़कन, मसाखान चित्त देय॥

एक नवेला है, उसने एक साँप को पकड़ रखा है। साँप ने एक मेढ़क को पकड़ रखा है। मेढ़क का आधा हिस्सा साँप के पेट में चला गया है और उसका सिर बचा हुआ है। अब भी जो कीड़े-मकोड़े और फतिंगे सामने आते हैं, मेढ़क उसे टप से खा जाता है। मेढ़क यह नहीं समझता है कि हम स्वयं दूसरे के पेट में चले गये हैं। उसी तरह हमलोगों के जीवन का जितना अंश समाप्त हो गया, उतना तो कालरूप साँप के पेट में चला गया है और जो बाकी बचा हुआ है, उसमें भी हाय-हाय करते हैं। समुद्र में जल रहता है, उसमें जीव-जन्तु भी रहते हैं। बड़ी-बड़ी मछलियाँ रहती हैं। सूरदास जी महाराज कहते हैं–

मीन इन्द्रिय अतिहि काटत, मोह अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सेंवार॥

हमारी जो इन्द्रियाँ हैं, वे इन्द्रिय ही मछलियाँ हैं। जिस तरह नदी में कोई लाश रहती है, तो मछलियाँ उसे नोच-नोचकर खाती हैं, उसी तरह हमारी जो इन्द्रियाँ हैं, विषयों की ओर जाती हैं और ग्रहण करती हैं। हमारी आत्म-शक्ति इससे दिन-प्रतिदिन क्षीण होती चली जाती है। हम जानते हैं कि यह पाप है और उसे नहीं करना चाहिए, फिर भी हम उसको करते हैं। इस तरह सिर पर पाप का बोझ लेते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण दुर्योधन को समझाने के लिए

गये। उन्होंने कहा—"पाण्डवों का हिस्सा उन्हें दे दो और तुम उसका पूरा हिस्सा नहीं दे सकते हो, तो कम-से-कम पाँच भाई हैं, पाँच गाँव ही दे दो।" दुर्योधन ने कहा—सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव । हे केशव! बिना युद्ध के मैं सूई की नोक के बराबर भी जमीन नहीं दूँगा। भगवान श्रीकृष्ण ने उनको समझाया कि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य क्या है, धर्म-अधर्म क्या है, इसको भी तो समझो। दुर्योधन ने उत्तर दिया—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनाऽपि देवेनहृदिस्थितेन यथा
नियोक्तोऽस्मि तथा करोमि।।

हे केशव! आप मुझको धर्म और अधर्म की बात समझाते हैं। क्या मैं धर्म-अधर्म की बात नहीं जानता? मैं धर्म को जानता हूँ; लेकिन मेरी प्रवृत्ति उस ओर नहीं है। मैं अधर्म को भी जानता हूँ; लेकिन उस ओर से मेरी निवृत्ति नहीं है। कोई देवता मेरे भीतर बैठा हुआ है, वह मुझको जैसा कहता है, वैसा मैं करता हूँ। विवेकी जन समझ सकते हैं कि दुर्योधन के भीतर देवता बैठा था या राक्षस। संत सूरदासजी आगे कहते हैं—

पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सेंवार ।

अब पैर आगे रखना चाहता हूँ, पर वह मोह के सेंवार में फँस जाता है और मैं चल नहीं पाता हूँ।

काम क्रोध समेत तृष्णा, पवन अति झक झोर ।
नाहिं चितवत देत तिय सुत, नाक नौका ओर ।।

समुद्र में लहरें उठती हैं। इस संसार रूपी समुद्र में लहरें क्या हैं? काम-क्रोधादि विकार लहरें हैं। कभी काम के विकार, तो कभी क्रोध के विकार सताते हैं और कभी अन्दर राग की आग जलाती है। यह काम क्या है? गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने लिखा है—

को जग काम नचाव न जेहि?

ऐसा कौन है, जिसको काम ने नचाया नहीं? श्रीमद्भागवत में कथा आई है। व्यासदेवजी श्रीमद्भागवत लिखते थे और उनके शिष्य जैमिनी उसको देखते थे। व्यासदेवजी ने एक जग लिखा—

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।

इन्द्रियाँ इतनी बलवती होती हैं कि वे विद्वानों को भी आकर्षित कर लेती हैं। जब जैमिनी ने यह पढ़ा, तो उन्होंने कहा—"गुरुदेव! यह बात सही मालूम नहीं पड़ती। यहाँ पर होना चाहिए—

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसं नापि कर्षति।

बलवान् इन्द्रियाँ विद्वानों को आकर्षित नहीं करती हैं।" व्यासदेवजी ने सोचा कि अगर इसको अभी समझाता हूँ, तो यह समझेगा नहीं। इसलिए किसी विशेष तरीके से इसको समझाया जाना चाहिए। व्यासदेव ने कहा—"अच्छा जी, तुम अभी देखो, मैं इसपर बाद में सोचूँगा। अभी जरा घूमने जाता हूँ। व्यासदेवजी जंगल घूमने चले गए। उन्होंने एक लीला रची। देखते-ही-देखते आँधी-तूफान के साथ घनघोर वर्षा होने लगी। एक नवयुवती वर्षा मे भींगती हुई व्यासदेवजी की कुटिया के बरामदे पर आकर खड़ी हो गयी। बेचारी जाड़े से काँप रही थी। जैमिनी ने कहा—"अरे! तू बाहर क्यों भींग रही है, भीतर चली जाओ।" युवती ने कहा—"नहीं, मैं भीतर नहीं जाऊँगी, बाहर ही रहूँगी।" जैमिनी ने कहा—"क्यों, क्या बात है?" युवती ने कहा—"मुझे पुरुषों पर विश्वास नहीं होता।" जैमिनी ने कहा—"क्या तुम मुझे नहीं जानती हो? अठारह पुराणों के रचनाकार व्यासदेवजी हैं, वे जो लिखते हैं, मैं उसको देखता हूँ। तुम भीतर आ जाओ।" युवती भीतर आ गई; लेकिन उसके रूप-लावण्य को देखकर जैमिनी उसपर मुग्ध हो गए और उससे कहा कि तुम मुझसे विवाह कर लो। युवती ने उत्तर दिया—"मेरा विवाह हुआ तो नहीं है, मेरी भी इच्छा विवाह करने की है। आप जैसे बड़े विद्वान से शादी हो जाय, तो मेरा अहोभाग्य होगा; लेकिन हमारी एक कुल-परंपरा है कि जब लड़की का विवाह होता है, तो थोड़ी देर के लिए लड़का घोड़ा बनता है और लड़की उसकी पीठ पर सवार होकर देवपूजन करने के लिए मंदिर जाती है। अगर आपको मुझसे विवाह करना है, तो आप भी घोड़ा बन जाइए और मैं आपकी पीठ पर चढ़ूँगी। पास ही देव-मंदिर है, वहाँ जाकर प्रणाम कर हम दोनों चले आयेंगे, तब शादी हो जाएगी।"

जैमिनी ने सोचा कि यहाँ जंगल में तो कोई है नहीं, कौन देखेगा, थोड़ी देर के लिए घोड़ा ही बन जाएँ। वे घोड़ा बन गये और लड़की पीठ पर चढ़ गई। वर्षा समाप्त हो गई थी। मंदिर में देव-पूजन के लिए दोनों चले। वहाँ मंदिर के बरामदे पर व्यासदेव जी बैठे थे। दोनों को देखकर उन्होंने कहा—"कहो बेटा! क्या हाल-चाल है? मैंने जो लिखा है—'बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।' यह सही है कि तुमने जो लिखा—

विद्वांसं नापि कर्षति, वह सही है? इन्द्रियाँ हमारी इतनी बलवती हैं कि कब कहाँ ले जाएँगी, कोई ठिकाना नहीं है। कबीर साहब ने कहा है–

मन पाँचो के बस पड़ा, मन बस नहिं पाँच।
अपने-अपने स्वाद में, सभी नचावै नाच॥

सभी इन्द्रियाँ हमको नचा रही हैं। सूरदासजी महाराज कहते हैं–

थक्यो बीच विहाल विह्वल, सुनहु करुणा मूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु, 'सूर' ब्रज के कूल॥

अब तो मैं किनारे आ गया हूँ, आप बाँह पकड़कर मुझको निकाल लीजिए। ❐

यह प्रवचन अखिल भारतीय संतमत-सत्संग के ९१वें वार्षिक महाधिवेशन, कटिहार में दिनांक ८.४.२००२ के अपराह्णकालीन सत्संग में हुआ था।

१०९. बड़ा होय तेहि पूजिये

सृष्टि की ओर दृष्टि करने से परम प्रभु परमात्मा की अनंतता की परिपुष्टि हो जाती है। प्रभु ने जड़ और चेतन; दो प्रकार की सृष्टि की है। इन दो प्रकार की सृष्टियों में–अंडज, पिंडज, उष्मज और अंकुरज; ये चार खानियाँ हैं और इनके अंदर चौरासी लाख प्रकार की योनियाँ हैं। भगवान श्रीराम कहते हैं–

अखिल विश्व यह मम उपजाया।
सब पर मोहि बराबर दाया॥

अर्थात् समस्त सृष्टि का सृजनकर्ता मैं हूँ और सब प्राणियों पर मेरी दया समरूप से है। पुनः उन्होंने कहा–

सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सबसे अधिक मनुज मोहि भाये॥

यद्यपि सारी सृष्टि की रचना हमने की है और सभी मुझे प्रिय है, तथापि मानव मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। हम देखते हैं कि मानवीय सृष्टि में भी प्रतिदिन लाखों-करोड़ों की संख्या में लोग जन्म लेते और मरते है। किन्तु हम उनमें किसी की जयन्ती या पुण्यतिथि नहीं मनाते। आज हमलोग वैशाख शुक्ल चतुर्दशी के अवसर पर जिनकी जयंती मनाने के लिए यत्र-तत्र से यहाँ एकत्र हुए हैं, वे भी मानव ही थे। फिर उनमें ऐसी कौन-सी विशेषता रही कि हमलोग उनकी जयंती मना रहे हैं? वे मानव तो अवश्य थे; लेकिन मानव में भी महामानव थे। महामानव ही नहीं, वे तो नररूप में हरि थे। हरि ही नहीं, हरि से भी कुछ विशेष थे; क्योंकि वे संत थे। श्रीहरि ने अपने श्रीमुख से नवधा भक्ति का उपदेश करते हुए परमभक्तिन शबरी से कहा था–

सातवँ सम मोहिमय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥

हरि कह रहे हैं–हमसे विशेष संत हैं। चैत्रशुक्ल नवमी को हमलोग भगवान श्रीराम की जयन्ती मनाते हैं और भाद्रकृष्ण अष्टमी को श्रीकृष्ण की जयंती मनाते हैं। किन्तु जो हरि से भी विशेष हैं अर्थात् संत–उनकी जयंती क्यों न मनायी जाए। इसी हेतु हमलोग यहाँ एकत्र हुए हैं। मैं कहना चाहूँगा कि वे संत ही नहीं थे, बल्कि संत से भी एक डेग आगे बढ़े हुए थे। आप कहेंगे, सो कैसे? जो सत्यस्वरूप, शांतिस्वरूप सर्वेश्वर का साक्षात्कार किये हुए होते हैं, उनको संत कहते हैं। उन महापुरुषों में से ही कोई हमको सद्ज्ञान, सद्शिक्षा के साथ-साथ सद्दीक्षा भी देते हैं। वे हमारे सद्गुरु होते हैं। हमारे गुरुदेव परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज संत ही नहीं, बल्कि संत सद्गुरु थे। उनके ही वाक्यों में हम कह सकेंगे–"जीवनकाल में जिनकी सुरत सारे आवरणों को पार कर शब्दातीत पद में समाधि-समय लीन होती है और पिंड में बरतने के समय उन्मुनी रहनी में रहकर जिनकी सुरत सारशब्द में लगी रहती है, ऐसे जीवन-मुक्त परम सन्त पुरुष पूरे और सच्चे सद्गुरु कहे जाते हैं।"

जिन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम की भगवान श्रीकृष्ण की हम पूजा करते हैं, उन्होंने भी गुरु धारण किया था। भगवान श्रीराम के दो गुरु थे और भगवान श्रीकृष्ण के भी दो गुरु थे। भगवान श्रीराम के लौकिक शिक्षा देनेवाले गुरु विश्वामित्र जी थे और पारलौकिक या आध्यात्मिक शिक्षा देनेवाले गुरु ऋषि वशिष्ठ जी थे। इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण के लौकिक गुरु संदीपन मुनि थे और आध्यात्मिक गुरु गर्ग मुनि थे। भगवान श्रीराम, भगवान श्रीकृष्ण ने गुरु की इतनी मर्यादा दी, जिनसे विशेष अन्य किसी की नहीं। उदाहरणार्थ–

जब रावण वध कर, सीताजी का उद्धार कर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम अयोध्या आते हैं, तो माता कौशल्या उनको अपनी गोद में बैठा लेती है और उनके अंगों को सहलाती हुई प्यार भरे शब्दों में पूछती हैं–बेटा! तुम्हारा शरीर कमल से भी अधिक कोमल है और वह रावण तो दुर्दान्त राक्षस था, उसके डर से तीनों लोक काँपते थे; तुमने उसपर कैसे विजय प्राप्त की। भगवान श्रीराम अपने गुरु वशिष्ठजी की दुहाई देते हुए कहते हैं–

गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे।
तिनकी कृपा दनुज रन मारे॥

उन वशिष्ठजी का ज्ञान, गर्ग मुनि का ज्ञान भारत में है। लेकिन जिनकी जयंती मनाने के लिए आज हमलोग समवेत हुए हैं, उनके ज्ञान का प्रचार अमेरिका, इंग्लैंड, रूस, जापान, नार्वे, स्वीडेन, आस्ट्रेलिया, नेपाल आदि विभिन्न देशों में हो रहा है, आज हमलोग ऐसे जगद्‌गुरु की जयन्ती मना रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वे भी तो नर ही थे। वास्तव में वे नर ही थे। लेकिन जरा अब विचार करके देखिए, जितनी नदियाँ हैं, सभी नदियों में जल है और गंगाजी में भी जल है, तो क्या हम गंगाजी की तुलना किसी नदी से कर सकते हैं? जितने पक्षी हैं, सभी आकाश में उड़ते हैं; गरुड़ भी आकाश में उड़ता है, क्या गरुड़ की तुलना हम इन पक्षियों से कर सकते हैं? दुनिया में कागों की कमी नहीं है, काग भी पक्षी ही है; लेकिन कागभुशुण्डि भी तो पक्षी ही थे, जिनके यहाँ भगवान शंकर जाकर सत्संग करते थे। क्या उन कागभुशुण्डि से इन कागों की तुलना की जा सकती है? जितनी गौएँ हैं, सब दूध देती हैं; कामधेनु भी दूध देती है, तो क्या कामधेनु की तुलना सामान्य गायों से की जा सकती है? जितने वृक्ष हैं, सभी वृक्ष फल देते हैं और कल्पवृक्ष भी फल देता है, तो क्या कल्पवृक्ष से अन्य वृक्ष की तुलना की जा सकती है? अर्थात् नहीं की जा सकती है। उसी तरह गुरुदेव नररूप में थे, पर क्या वे सामान्य नर थे? कदापि नहीं। उन्होंने हमलोगों को संतमत की सीख दी। भगवान श्रीराम ने ही नहीं कहा कि संत को मुझसे विशेष मानो, बल्कि इस संदर्भ में संत पलटू साहबजी महाराज का विचार भी पठनीय है–

सबसे बड़े हैं संत दूसरा नाम है।
तीजे दस अवतार तिन्हें परनाम है।
ब्रह्मा विष्णु महेश सकल अवतार है।
अरे हाँ रे पलटू सबके ऊपर संत मुकुट सरदार है।

किसी ने लगे हाथ उनसे पूछ दिया कि भगवान राम त्रेतायुग में हुए थे और आप कलियुग में हुए हैं। भगवान श्रीराम ने कहा–संत सबसे बड़े हैं और आप भी ऐसा ही कहते हैं। भगवान श्रीराम और आप दोनों ही अयोध्या में अवतरित हुए हैं। कहीं उनकी हाँ में हाँ मिलाने के लिए तो आपने ऐसा नहीं कह दिया? संत पलटू दासजी महाराज ने उत्तर दिया–यह तो सत्य तथ्य है। केवल मैं नहीं कह रहा हूँ, सभी संत कह रहे हैं। संतों ने जो कुछ कहा, वह अँधेरे में टटोलकर नहीं कहा है। ज्ञान-ध्यान के प्रकाश में देखकर कहा है। किस प्रकार? वह भी सुनिए–

बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया बिचार॥
संतन किया बिचार, ज्ञान का दीपक लीन्हा।
देवता तैंतिस कोट, नजर में सबको चीन्हा॥
सबका खंडन किया, खोजि के तीनि निकारा।
तीनों में दुइ सही, मुक्ति का एकै द्वारा॥
हरि को लिया निकारि, बहुरि तिन मंत्र बिचारा।
हरि हैं गुन के बीच, संत हैं गुन से न्यारा॥
पलटू प्रथमै संत जन, दूजे हैं करतार।
बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया बिचार॥

संतों के ज्ञान के प्रकाश में तैंतीस करोड़ देवता को देखा। उन तैंतीस करोड़ देवताओं में उन्होंने–ब्रह्मा, विष्णु और महेश को खोजकर तीन निकाला। अब ये तीनों पर नजर डालते हैं। तो देखते हैं कि इन तीनों में द्वैत भाव है। मुक्ति का रास्ता एक ही है। जिस हरि ने, जिस राम ने संत की महिमा गायी है, उसके संबंध में ये कह रहे हैं–'हरि को लिया निकारि।' अर्थात् तीनों में से चुनकर एक हरि को निकाला। जब इसपर विचार करने लगे, तो क्या देखा? हरि त्रयगुण यानी–रज, सत् और तम के अंदर हैं। रज=उत्पन्न करना, सत्त्व=पालन करना और तम=संहार करना अर्थात् ये जन्म लेते हैं, कुछ दिन ठहरते हैं और कारण का निवारण कर चले जाते हैं। यानी हरि आवागमन के चक्र में हैं। लेकिन संत आवागमन से मुक्त होते हैं। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

क्योंकि साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करनेवालों का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ। कोई जिज्ञासा कर सकते हैं कि सत्य युग में ही मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह आदि कई अवतार हो गये, फिर भी भगवान के 'युगे-युगे' कहने का क्या अर्थ है? यहाँ युगे-युगे का अर्थ है–समय-समय पर। इसका स्पष्टीकरण गो० तुलसीदासजी महाराज ने इस प्रकार किया है–

जब जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़इ असुर अधम अभिमानी ॥
करइ अनीति जाइ नहिं बरनी।
सीदइ बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब धरि प्रभु विविध सरीरा।
हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा ॥
(रामचरितमानस)

भगवान संसार में आते हैं, तो दुष्टों का संहार करते हैं और सज्जनों का उद्धार करते हैं; लेकिन संत जब संसार में आते हैं, तो वे मार-काट नहीं करते, किसी का संहार नहीं करते, बल्कि दुष्ट की कुवृत्तियों को नष्ट करके उसे शिष्ट बना देते हैं। रावण के संहार के लिए भगवान श्रीराम ने अवतार लिया और कंस के संहार के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने; लेकिन जब भगवान बुद्ध का अवतार हुआ तो उन्होंने अंगुलि-माल जैसे खूँखार लुटेरे की बुराइयों को मिटाकर उसे भिक्षु बना लिया। भगवान महावीर के शिष्य ने अर्जुन नाम के दुर्जन को ज्ञान देकर भक्त बना लिया। अगर आप सत्ययुग की ही बात लेना चाहें, तो उसी युग में एक रत्नाकर नाम के बहुत बड़ा दुर्दान्त डाकू को नारद मुनि ने संत बना दिया। भगवान कभी-कभी आते हैं और संत बराबर आते रहते हैं। संत और भगवंत में यही अंतर है। संत अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाकर जाते हैं। उनके ज्ञान को ग्रहण कर, आचरण कर मानव परम प्रभु के परम धाम में चले जाते हैं। उसी परम धाम में जाने के लिए हमारे गुरुदेव ने हमलोगों को शिक्षा-दीक्षा देकर संतमत-रूपी इस फुलवाड़ी का निर्माण किया।

मुझे १९३९ ई० में उनके संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब से मैं बराबर उनके पास आता-जाता रहा। १९४६ ई० से मैं स्थायी रूप से उनकी सेवा में रहने लगा। तब से ८ जून, १९८६ ई० तक (जबतक उनका पार्थिव शरीर रहा) मैं अनवरत रूप से उनके साथ रहा। मैंने देखा है कि उन्होंने किसी तरह से संतमत के प्रचार-प्रसार में खून-पसीना एक किया है। उस समय उनके साथ में केवल एक रसोइया और मैं रहता था। उन दिनों सड़कें नहीं थीं, बैलगाड़ी की लीक थी। बैलगाड़ी पर आगे गुरुदेव बैठते थे, उनकी पीछे उनकी गठरी रहती थी और गठरी के पीछे मैं बैठता था। जाते-जाते जहाँ नदी मिलती थी और स्नान का समय होता था, तो हमलोग नदी में स्नान करते थे। स्नान के बाद सब बैठकर ध्यान करते। ध्यान के बाद नदी के किनारे ही पत्तल में दही-चूड़ा (बिहारी रेडीमेड भोजन) परोसकर भोजन करने बैठ जाते। उसी समय यदि हवा चल पड़ी, तो बालू उड़कर चीनी बन जाता था। जिस नदी में स्नान करते थे, उसी नदी का पानी भी पीते थे।

नेपाल राज्य के देहातों में पहले लोग खाने की बात तो दूर रही, कपड़ा पहनना तक नहीं जानते थे। वहाँ की महिलाएँ एक साढ़े तीन हाथ का कपड़ा छाती पर बाँध लेती थी। उसकी चौड़ाई घुटने से चार अंगुल नीचे तक होती थी, यही उनका वस्त्र था। पुरुष लोग लज्जा निवारण के लिए विष्टी (लंगोटी) पहनते थे। उस समय नेपाली पहाड़ी नदी में, सावन-भादो के समय बहुत-सी मछलियाँ आती थीं। वे लोग उन्हीं मछलियों को पकड़कर खाते थे। बची हुई मछलियों को सुखाकर और ऊखल में कूटकर गोलियाँ बनाकर रख लेते थे। वैशाख-जेठ में जब नदियाँ सूख जातीं, तो मछली नहीं मिलती थी, उस समय वे उन गोलियों को पकाकर खाते थे। वहाँ जाकर गुरु महाराज ने उनलोगों को खाना-पहनना, पढ़ना-लिखना सिखलाया। अपने शिष्यों की मदद से सत्संगी घर की महिलाओं को वहाँ ले जाकर वहाँ की महिलाओं को साड़ी पहनना सिखलाया। वहाँ के लोगों को शिक्षा भी दी और दीक्षा भी दी। गुरुदेव ने मांस-मछली, अंडा, शराब; सब कुछ छुड़वा दिया और उपदेश दिया कि हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध सिक्ख, ईसाई पीछे

बनना, पहले तुम मानव बनना सीखो। विविध धर्मों में से यदि किसी धर्म को तुमने स्वीकार कर लिया है और तुममें मानवता नहीं है—मानवता के अनुकूल चलते नहीं हो, तो तुम इस धर्म को लज्जित करते हो। इसलिए पहले मानव बनो, फिर किसी धर्म को स्वीकार करना।

कोई सज्जन कह सकते हैं—क्या हम मानव नहीं हैं? जरा हम सोच-विचारकर देखें, बिना मानवता के मानव कैसे! लूट-पाट, मार-काट, अत्याचार, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, बलात्कार, झूठ, चोरी, नशा, हिंसा प्रभृति दुष्कर्मों को करना, क्या यही मानवता है? जब हम कुकर्मों को करते हैं, तो हममें मानवता कहाँ है। जब हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से बचकर दया, शील, संतोष, क्षमा, करुणा, नम्रता, उदारता आदि सात्त्विक गुणों को धारण करेंगे, तब हममें मानवता आएगी।

एक साधु बाबा थे। वे दिन के समय मशाल लेकर बाजार में घूम रहे थे। कभी-कभी किसी दुकान में भी चले जाते थे। किसी ने पूछा—'बाबा! दिन का समय है और आप मशाल जलाकर बाजार में क्यों घूमते हैं, क्या खोजते हैं? साधु बाबा ने उत्तर दिया—'मैं आदमी की खोज कर रहा हूँ।' उस व्यक्ति ने पूछा, 'लाखों आदमी इस बाजार में हैं और आपको एक भी आदमी नहीं दीखता?' साधु बाबा ने उसके हाथों में मशाल देते हुए कहा, 'इस मशाल से देखो।' जब वह उस मशाल से देखने लगा, तो देखता है कि कोई भेड़िया है, तो कोई बाघ, कोई गधा है, तो कोई बैल आदि है। आदमी का नामानिशान नहीं है।

आज भाई-भाई में मेल नहीं है। पिता-पुत्र में मेल नहीं है। पति-पत्नी में वैमनस्य है। एक दूसरे पर विश्वास नहीं है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दमन करके उनके धन को हड़पना चाहता है। आज हम आधिभौतिक विज्ञान के चमत्कार से चकाचौंध हो रहे हैं। आकाश में पक्षी की तरह उड़ना सीख गये हैं। समुद्र की ऊपरी सतह और भीतरी सतह पर मछली की तरह चलना सीख गये हैं। लेकिन अभी तक हमें मानव की तरह पृथ्वी पर चलना नहीं सीखे हैं। मनुष्य में मनुष्यता कैसे आवे, इसी ज्ञान को बताने के लिए हमारे गुरु महाराज का अवतरण हुआ था।

मननशील प्राणी को मनुष्य कहते हैं। हमलोग दिन-रात मनन करते हैं; लेकिन क्या मनन करते हैं। हम मनन करते हैं—यह हमारी पत्नी है, ये हमारे पति हैं, यह हमारा पुत्र है, यह पुत्री है, ये हमारे पिता हैं, ताऊ हैं, भाई हैं, कुटुम्ब है, परिवार है, दुकान है, मकान है आदि। इस सबको तो हम पहचानते हैं; लेकिन यह नहीं जानते कि हम कौन हैं। एक शायर ने बड़ा अच्छा कहा है—

"इबादत है किसी नाशाद को फिर शाद कर देना।
इबादत है किसी बरबाद को फिर आबाद कर देना॥
यही सीखा है सागर हमने मुर्शद के कदम छूकर।
खुदा से हो अगर मिलना पता खुद का लगा लेना॥"

जबतक खुद का पता नहीं मिलेगा, तबतक खुदा का पता नहीं मिलेगा। संत कहते हैं—तुमने कभी खुद का पता लगाया कि तुम कौन हो? क्या तुम शरीर हो? तुम शरीर नहीं हों, यह शरीर तुम्हारा है; लेकिन आजतक शरीर को ही पहचान रहे हो। शारीरिक सुख के लिए जो नहीं करने का वह भी कर रहे हो। एक-न-एक दिन यह शरीर अवश्य छूटेगा, पर तुम तब भी रहोगे भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में बतलाया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है। जैसे व्यक्ति के जीवनकाल में शरीर वही रहता है, सिर्फ कपड़े बदलते हैं। उसी प्रकार जीव (चेतन आत्मा) वही रहता है, शरीररूपी कपड़े छूटते हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती। गोस्वामीजी ने लिखा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

यह जीवन ईश्वर का अंश है, चेतन, मल-रहित और सुख की राशि है। जिस तरह निरंतर बहती हुई नदियाँ अपने नामरूप को त्यागकर समुद्र में जाकर

विलीन हो जाती हैं, फिर उसकी संज्ञा नदी की नहीं रहकर समुद्र हो जाती है, उसी तरह यह जीव इस नाम-रूपात्मक संसार में आ गया है। ईश्वरवाची नाम और रूप का अवलंब लेकर नाम रूप से परे हो जाएगा। जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त कर परमात्मा ही हो जाएगा। इस साधना की युक्ति किसी सच्चे सद्‌गुरु से सीखनी चाहिए।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ ५६॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्॥ ५७॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥ ५८॥

भगवान शंकर ब्रह्मा से कहते हैं—गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर और कोई नहीं है। ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और शिव संहार करते हैं। अर्थात् जो गुरु होते हैं, वे अपने शिष्य के अंदर ज्ञान उत्पन्न करते हैं। इसलिए वे ब्रह्मा कहलाते हैं। गुरु जो ज्ञान देते हैं, उसका वे पोषण करते हैं, इसलिए विष्णु कहलाते हैं और शिष्य के अंदर जो दुर्गुण रहता है, उसका वे विनाश करते हैं, इसलिए वे शंकर कहलाते हैं। किन्तु पूरे गुरु ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी बड़े होते हैं।

इसलिए जो संत सद्‌गुरु हैं, हम उनकी शरण में जाएँ। उनका जो उपदेश हो, आदेश हो, उसके परिवेश में अपने को रखें तो एक-न-एक दिन हमारा भवक्लेश निःशेष होगा। इसमें किसी तरह का संदेह नहीं है। इसके लिए घर-वार, परिवार, रोजगार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। जिस घर-वार, परिवार में आप हैं, पवित्र रोजगार करते हुए भगवद्‌भजन भी कीजिए। जीवन को पवित्र बनाये रखिए। 'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जाने रे।' परोपकार के लिए, दूसरे की भलाई के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य कीजिए। सत्संग कीजिए, सत्संग से ही सुमति होती है और शुभगति होती है।

इस पावन अवसर पर आपलोग जो यत्र-तत्र से यहाँ एकत्र हुए हैं, आपकी श्रद्धा-भक्ति देखकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, सबको धन्यवाद देता हूँ। आयोजन को सफल बनाने में अखिल भारतीय संतमत-सत्संग महासभा के अधिकारियों के सहित अन्य जिन सज्जनों ने अपना सहयोग प्रदान किया है, सबको मैं धन्यवाद देता हूँ और अंत में सबके लिए मंगलकामना करता हूँ।

महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन महर्षि मेँहीँ ११८वीं जयंती के अवसर पर दिनांक—२५. ५.२००२, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर सत्संग में हुआ था।

(शान्ति-संदेश, सितम्बर २००२ ई०)

११०. दुःख पाने का मूल कारण शरीर है

अभी आपलोगों ने रामचरितमानस का पाठ सुना है, जिसमें बतलाया गया है सुख की प्राप्ति कैसे होगी। परमात्मा ने चार खानियों में ८४ लाख प्रकार की योनियों का सृजन किया। इन ८४ लाख प्रकार की योनियों में मानव शरीर को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, मानव भी सुख चाहता है। सुख क्यों चाहते हैं, प्रश्न चिह्न लगता है। कोई शीतलता क्यों चाहता है, इसलिए कि वह उष्णता, गर्मी महसूस करता है। कोई पानी पीना क्यों चाहता है, इसलिए कि उसे प्यास लगी है। कोई भोजन करना क्यों चाहता है, इसलिए कि उसे भूख लगी है। चाहने का कोई कारण होता है। जितने प्राणी हैं, सब-के-सब सुख चाहते हैं। क्यों चाहते हैं? इसलिए कि उनके जितने जन्म हुए, सभी जीवन में उन्होंने दुःख पाया है। दुःख पाने का मूल कारण शरीर ही है। अगर शरीर नहीं हो तो कोई दुःख न हो, इसलिए संतों ने बतलाया कि जीवन में सुख और दुःख दोनों आते हैं, पर यदि तराजू के दोनों पलड़ों में एक तरफ सुख और दूसरी तरफ दुःख रख दें, तो दुःख का पलड़ा ही भारी होगा। संत कबीर साहब ने कहा है—

हम चाले थे सुख को, बाटहि मिलिया दुख।
जाओ सुख घर आपने, हम जाने और दुख॥

बड़े-बड़े राजे-महाराजे भी धरती पर आए,

पर सबने दुःख का अनुभव किया। राजा से रंक और कीड़े से हाथी तक संसार में जो आए, जितने आए, सबके सब रोये और दुःखी हुए।

पाँचो भाई पांडव राजपुत्र थे; लेकिन उन्हें दर-दर का भिखारी बनना पड़ा, जंगल का खाक छाननी पड़ी, दूसरे राजा की पराधीनता स्वीकार करनी पड़ी। जिस राजा युधिष्ठिर के यहाँ हजारो नौकर चाकर थे, उन्हें राजा विराट के यहाँ नौकरी करनी पड़ी। जिस भीम की भुजाओं में दस हजार हाथी का बल था, उसने रसोइये का काम किया। जिस अर्जुन के सारथी भगवान श्रीकृष्ण स्वयं बने थे, वे दूसरे के यहाँ बृहण्णला नर्तक बनकर रहे। जिस द्रौपदी के आगे-पीछे दासियाँ आदेश पाने के लिए खड़ी रहती थीं, उन्हें दासी का काम करना पड़ा। द्रौपदी के पाँचो पति बड़े-बड़े महारथी थे, फिर भी कौरवों की भरी सभा में उनकी साड़ी खींची गयी। भगवान श्रीकृष्ण ने उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा की। यह इतिहास बतलाता है कि जीवन दुःखों से भरा है।

आज तो हम चाहते हैं कि भगवान के दर्शन हो जाए और यह कि उनके दर्शन से हमारा दुःख दूर हो जाएगा। लेकिन जिनको मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के पिताश्री कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उनके जीवन को देखिए कि उनको कितना सुख मिला! कहाँ तो पहले जीवन में पुत्रहीनता की ग्लानि थी, बुढ़ापे में पुत्र हुआ भी तो पुत्र से जो सुख-भोग मिलना चाहिए, नहीं मिल सका। वे भगवान श्रीराम को युवराज पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, पर उनको जंगल भेजना पड़ा। परिणामस्वरूप पुत्रवियोग का इतना असह्य दुःख हुआ कि वे उसे सहन नहीं कर सके और–

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुवर विरह, राव गये सुरधाम ।।

पुत्र के वियोग में उन्होंने रोते हुए शरीर छोड़ दिया। ये तो भगवान के पिता की बात हुई। अब हम स्वयं भगवान की ओर देखें। उन्होंने नर-शरीर धारण करके नर-लीला की। भले ही वे सुख-दुःख से परे हैं; लेकिन लोक-दृष्टि में उनको भी दुःख भोगना पड़ा। जब सीताहरण हुआ, तो विकल होकर वन-वन उन्हें खोजते रहे। साधारण जन की पत्नी का अपहरण हो जाए या कहीं खो जाए, तो वह किसी व्यक्ति से पूछेगा कि हमारी पत्नी इस तरह की थी, लंबी थी या नाटी थी, गोरी थी या काली थी, पतली थी या मोटी। हुलिया बतला कर वह पूछेगा कि क्या इस तरह की नारी को आपने देखा है? लेकिन भगवान राम मनुष्य को कौन कहे, चिड़ियों से पूछते हैं, जानवरों और भौंरों से पूछते हैं। स्त्री के विरह में मानो वे पागल-से हो गये थे।

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी।
तुम देखी सीता मृग नयनी।।

इतना ही नहीं जब लक्ष्मणजी को वाण लगता है और वे मूर्च्छित होकर गिर जाते हैं। भगवान राम रोते हैं, बिलखते हैं और कहते हैं–

जौं जनितउँ वन बन्धु बिछोहू।
पिता वचन मनितउँ नहिं ओहू।।

भगवान बुद्ध के समय की बात है। एक धनी और सम्भ्रान्त परिवार की लड़की थी, जिसका नाम पटाचारा था। संयोगवश एक गरीब लकड़हारे के साथ उसका प्रेम हो गया। दोनों अपने-अपने घर से भाग गये और अन्यत्र जाकर विवाह किये तथा अपना जीवन-यापन लकड़ी काटकर करने लगे। समय पाकर वह गर्भवती हुई, तो उसने अपने पति से कहा–'मैं यहाँ रहूँगी, तो मेरी देखभाल, सेवा-सुश्रूषा नहीं हो पाएगी; इसलिए मैं नैहर जाना चाहती हूँ।' पति ने कहा–'नहीं-नहीं, तुम यहीं रहो। मैं तुम्हारी सारी व्यवस्था कर दूँगा।' लेकिन बेचारा गरीब था, क्या कर पाता! समय आने पर पुत्र हुआ, पर उसकी ठीक तरह से देख-रेख नहीं हुई। समय बीतता गया। फिर दूसरी सन्तान होने का अवसर आया। फिर वह पति से बोली–'पिछली बार बहुत कष्ट हुआ था। इस बार मुझे नैहर जाने दीजिए।' पति ने उत्तर दिया–'पिछली बार तो मैं व्यवस्था नहीं कर पाया था, पर इस बार तुम्हें किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होगी। मैं अच्छी व्यवस्था करूँगा।' बेचारी को पति की बात मानकर रह जाना पड़ा। समय पाकर फिर पुत्र हुआ। लकड़हारा जंगल लकड़ी काटने गया, वहाँ उसे साँप ने डँस लिया। बेचारी प्रतीक्षा कर रही है कि पतिदेव अब आ रहे हैं–अब आ रहे हैं, पर वह जीवित रहे तब तो आए। जब घंटों बीत गए, तब वह येन-केन प्रकारेण पति को ढूँढ़ने के लिए जंगल जाती है। वहाँ पहुँचकर देखती है कि पति तो मरा पड़ा है। वह बेचारी छाती

पीटकर रोती है, बिलखती है। क्या करे, कोई उपाय नहीं है। जंगल से आती है और दोनों बच्चों को लेकर चलती है मायके के लिए। शरीर दुर्बल था। प्रसवोपरान्त की वेदना मिटी नहीं थी। रास्ते में एक नदी मिल जाती है। दोनों बच्चों को एक साथ लेकर नदी पार नहीं कर पाती, इसलिए एक बच्चे को इस पार छोड़कर दूसरे को उस पार ले जाती है। उस बच्चे को उस पार में रखकर फिर पहले बच्चे को ले जाने के लिए इस पार आती है। बच्चा देखता है कि माँ आ रही है, तो वह घिसककर आगे बढ़ने लगता है। घिसकते-घिसकते नदी में गिर जाता है। बच्चा नदी में बह जाता है और माँ कुछ नहीं कर पाती है। फिर छाती पीटकर रोने लगती है; परन्तु कुछ भी चारा नहीं, न कोई सहारा। अब वह दूसरे बच्चे के पास लौटना चाहती है, अभी वह आधी नदी में ही थी कि उस नवजात शिशु को एक चील झपट्टा मारकर ले उड़ता है। बेचारी दुःख से विह्वल हो पागल-सी हो गई। कहने लगी–'पति को साँप ने काट लिया, एक बच्चा नदी में बह गया, दूसरे को चील खा गया।' इस प्रकार बिलखती हुई जा रही थी। नदी पार कर कुछ आगे पहुँची, तो उसके नैहर के एक सज्जन से उसकी भेंट हुई। उसने उससे अपने माता-पिता का समाचार पूछा। उस सज्जन ने कहा–'क्या बतलाऊँ, रात में छत गिर गई, जिससे तुम्हारे माता-पिता के साथ परिवार के सभी लोग दबकर मर गए। देखती नहीं, श्मशानघाट से धूआँ उठ रहा है।' यह सुनकर बेचारी पागल हो गई। न शरीर की सुधि रही, न वस्त्र की। इधर-उधर भटकने लगी। उसी अवस्था में एक दिन वह भगवान् बुद्ध के पास गई, पर भिक्षुओं ने उसको उस अवस्था में देखकर रोक दिया। भगवान् ने कहा–'उसे आने दो।' वह आकर भगवान् के चरणों में गिर गई। एक भिक्षुणी ने अपने वस्त्र से उसके शरीर को ढक दिया। वह बड़बड़ाने लगी–'पति को साँप ने डस लिया, एक बच्चा नदी में बह गया, दूसरे को चील उठाकर ले गया और माँ-बाप छत के नीचे दबकर मर गए।'

भगवान् ने उसको सान्त्वना दिया। उनकी कृपा से उनको अपने शरीर की सुधि हो गई। वह दीक्षित होकर भिक्षुणियों के साथ रहने लगी। साधना करने लगी। एक दिन वह बाल्टी में जल भरकर लोटे से जल निकालकर हाथ-पैर धो रही थी। एक लोटा का जल बहकर जितनी दूर गया, दूसरे लोटे का जल उससे अधिक दूर गया। इस प्रकार कई लोटे के जल को बहते देखकर उसको ज्ञान हुआ कि जिस लोटे में जितना जल रहता है, वह उतनी दूर जाता है। इस प्रकार जिसको जितने दिनों की आयु रहती है, वह उतने दिनों तक संसार में रहता है। मेरे पुत्रों और पितृ परिवारवालों की आयु जितने दिनों की थी, वे उतने दिन संसार में रहे, उसके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है। व्यर्थ की चिन्ता से हानि होगी, लाभ नहीं; ऐसा सोच कर वह मनोयोग से अन्तःसाधना करने लगी और एक अच्छी भिक्षुणी हो गई। कितना गिनाया जाए। भगवान श्रीकृष्ण के सामने ही एक दिन में उनके संपूर्ण यदुवंशियों का विनाश हो गया। जिनके वंश का विनाश उनके सामने हो जाए, क्या उसको सुख होगा? इसलिए संत कबीर साहब ने कहा–

तन धर सुखिया काहु न देखा,
जो देखा सो दुखिया हो।
उदय अस्त की बात कहत हों,
सबका किया विवेका हो।

उदय से अस्त तक जितने जो कोई हुए, सबको एक दिन जाना पड़ा। इस संसार का नाम ही है मर्त्य लोक। यहाँ जो आयेंगे, वे अवश्यमेव दुःख उठायेंगे और मरेंगे। संत कबीर साहब जैसे स्पष्टवादी संत ने यहाँ तक कह दिया–

साँच कहूँ तो कोइ न माने, झूठ कहा न जाई हो।
ब्रह्मा विष्णु महेसुर दुखिया, जिन यह राह चलाई हो॥

जबकि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर जैसे महान देव इस संसार में दुखिया हो तो फिर इतर लोगों की क्या गिनती है। प्रश्नोदय होता है–तब सुख कैसे मिलता है? संत कबीर साहब उत्तर देते हैं–'संत सुखी मन जीती हो।' जिन्होंने अपने मन पर विजय प्राप्त कर लिया है, ऐसे संत ही सुख हो सकते हैं, अन्य कोई सुखी नहीं हो सकते। शरीर या संसार में आना ही सब दुखों का कारण है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्' होता रहता है। यह जो क्रम चला आ रहा है, इसका निरोध कैसे हो? योगशिखोपनिषद् कहता है–

देहावसान समये चित्ते यद्यद्विभावयेत्।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवजन्मकारणम्॥

अर्थात् मृत्यु के समय में जीव मन में जो भावना करता है, उसी भावना के अनुकूल उसका पुनर्जन्म होता है। एक पौराणिक कथा है। उसमें बतलाया गया है कि जड़भरतजी जंगल में तपस्या करते थे। वहाँ उन्होंने एक हिरणी के बच्चे का पालन-पोषण किया। कुछ दिनों के बाद में वह बच्चा जंगल में भाग गया। मरने के समय में जड़भरतजी को उसी बच्चे की याद आयी और फलस्वरूप उनको हिरण की योनि में जाना पड़ा। लेकिन उन्हें पूर्वजन्म का ज्ञान था, इसलिए कुछ समय के बाद फिर उनको मनुष्य-शरीर मिला, तो विचार किया कि मैं संसार में आसक्ति नहीं रखूँगा और उन्होंने वैसा ही किया।

जिज्ञासा होती है, मरने के समय हमें क्या याद रहना चाहिए, जिससे हमारा आगे का जन्म सुखमय हो, जिससे कि हम पुनः इस दुःखमय संसार में नहीं आवें? भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥"

इस संसार से चलने के समय अचल मन से भक्ति योगयुक्त होकर जो अपने प्राण को भ्रुवों के मध्य में रखकर शरीर त्याग देता है, वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है। अतएव इसकी सही क्रिया को जानकर हम साधना करें, तो फिर हमारा पुनर्जन्म नहीं होगा। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के छठे अध्याय में बतलाया है कि अगर तुम्हारी साधना पूरी नहीं हुई, तो शरीर छूटने के बाद तुम विशाल स्वर्ग सुख भोगोगे और फिर इस संसार में किसी पवित्र श्रीमान् के घर में अथवा किसी योगी कुल में जन्म लोगे। जैसे गुरु नानकदेवजी महाराज महायोगी थे। उनके कुल में बाबा श्रीचन्द का जन्म हुआ, वे भी महायोगी थे। उनके एक शिष्य बैलगाड़ी लेकर लकड़ी लाने जंगल गये। लकड़ियाँ चुनकर गाड़ी पर बोझ रहे थे कि जंगल में एक सिंह ने गर्जन किया। डर के मारे बैल भाग गया। श्रीचन्द बाबा के शिष्य ने सोचा कि लकड़ी कैसे जाएगी? जिस सिंह ने गर्जन किया था, उसी को कान पकड़कर वे ले आये और बैलगाड़ी में बैल के बदले उसी को जोड़ दिया। सिंह से कहा, चलो पहुँचाओ। बैल की जगह विशाल सिंह गाड़ी खींचते हुआ आया, जहाँ बाबा श्रीचन्द की धुनी जल रही थी। उसके बाद सिंह को छोड़ दिया कि जाओ तुम अपना घर और बैल को खोजकर ले आए।

श्रीचन्द बाबा बहुत बड़े योगी थे, उन्हीं के नाम पर उदासी मत चला हुआ है। भक्ति करोगे, तो ऐसे ही बड़े योगी या पवित्र श्रीमान् घर में जन्म लोगे और पूर्वजन्म के संस्कार से प्रेरित होकर साधन करने लग जाओगे। करते-करते किसी जन्म में पूर्णता को प्राप्त करोगे। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—जो शान्ति मुझमें विराजती है, वही शान्ति तुममें विराजने लगेगी। यह दृढ़ निश्चय जान लो कि बाहर संसार में शान्ति कहीं नहीं मिलेगी। शान्ति जब कभी मिलेगी, तो अपने अंदर में मिलेगी और अंतस्साधना से मिलेगी।

वास्तविक बात तो यह है कि मानव जैसा जैसा चाहता है, वैसा-वैसा होता है नहीं। जैसा होता है, वैसा उसके मन को भाता है नहीं। जो उसके मन को भाता है, सुहाता है, वह टिकता है नहीं। जो टिकनेवाली चीज है, स्थिर है, उसमें मन लगाता है नहीं, तो शान्ति कहाँ से मिलेगी, सुख कहाँ से मिलेगा? शान्ति और सुख तो तभी मिलेगा, जब विषयों से मन हटाकर निर्विषय की ओर ले जाएँगे। विषय दुःखदायी है और निर्विषय सुखदायी है। हम विषय से निर्विषय की ओर कैसे जायेंगे? यह ध्यान से होगा—'ध्यानं निर्विषयं मनः।'इसलिए हम ध्यान की क्रिया को जानें। ध्यान में स्थूल ध्यान होता है, सूक्ष्म ध्यान होता है, सूक्ष्मतर ध्यान होता है और सूक्ष्मतम ध्यान होता है। इन प्रक्रियाओं को जानकर हम साधना करें। साधना करते-करते क्रम-क्रम से बढ़ते-बढ़ते एक दिन हम पूर्णता को प्राप्त करेंगे। जैसे बूँद-बूँद गिरते-गिरते पानी से घड़ा भर जाता है, एक-एक अक्षर पढ़ते-पढ़ते लोग विद्वान् होते हैं; उसी तरह थोड़ी-थोड़ी साधना करते-करते एक दिन साधना में निष्णात होते हैं। भक्ति करते-करते भक्ति में पूर्णता प्राप्त करते हैं। आवागमन का चक्र छूटता है। दैहिक, दैविक, भौतिक; इन त्रितापों से मानव जो संतप्त होता रहता है, उससे सदा के लिए मुक्त हो जाता है। फिर कभी उसे दुःख का मुख नहीं देखना पड़ता; क्योंकि वह संसार में लौटकर आता नहीं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

भगवान ने कहा, वहाँ जो कोई पहुँच जाता है, फिर वह संसार में नहीं आता है। जो संसार में नहीं आवेगा, वह दुःख का मुख क्यों देखेगा। इसलिए ईश्वर-भक्ति की सही साधना जानकर करनी चाहिए।

महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज का यह प्रवचन साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर दिनांक–२६.१.२००३, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में हुआ था। (शान्ति-संदेश, मार्च २००३)

१११. सबसे बड़े हैं संत दूसरा नाम है

माननीय बिहार सरकार, नगर-विकास मंत्री महोदय अश्विनी कुमार चौबेजी, समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द!

संसार में असंख्य प्राणी जन्म लेते और मरते हैं; परन्तु हम सब लोगों की जयन्ती नहीं मनाते। जयन्ती महापुरुषों की मनायी जाती है। आज वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को जिनकी जयन्ती मनाने के लिए हमलोग यत्र-तत्र से एकत्र हुए हैं, वे कौन थे? हमारे गुरुदेव हमलोगों के जैसे साधारण मानव नहीं थे, वे महामानव थे। नररूप में वे हरि थे। हरि ही नहीं, हरि से भी विशेष थे–संत। स्वयं हरि (श्रीराम) ने शबरीजी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए कहा था–

सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोते अधिक संत करि लेखा॥

अपने को विशेष संत को ही बतलाते हैं। संतवाणी पढ़ने पर भी यही बात सामने आती है कि सबसे बड़े संत ही हैं। संत पलटूदासजी अयोध्या में हुए, उन्होंने कहा–

सबसे बड़े हैं संत, दूसरा नाम है।
तीजै दस अवतार उन्हें परनाम है।
ब्रह्मा विष्णु महेश सकल अवतार है।
अरे हाँ रे पलटू सबके ऊपर संत मुकुट सरदार है॥

किसी ने जिज्ञासा की कि आपने यह बात कैसी कही? अंधेरे में टटोलकर कही या इसका कुछ आधार भी है? उसका वे उत्तर देते हैं–

बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया बिचार॥
संतन किया बिचार, ज्ञान का दीपक लीन्हा।
देवता तैंतिस कोटि, नजर में सबको चीन्हा॥
सबका खंडन किया, खोजि के तीनि निकारा।
तीनों में दुइ सही, मुक्ति का एकै द्वारा॥
हरि को लिया निकारि, बहुरि तिन मंत्र बिचारा।
हरि हैं गुन के बीच, संत हैं गुन से न्यारा॥
पलटू प्रथमै संत जन, दूजे हैं करतार।
बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया बिचार॥

हमारे गुरुदेव संत ही नहीं, संत सद्गुरु थे। संत सद्शिक्षा देते हैं और जो संत सद्गुरु होते हैं, वे सद्शिक्षा के साथ-साथ प्रभु-प्राप्ति की दीक्षा भी बतलाते हैं।

आज हमारे गुरुदेव का पार्थिव पिंड नहीं है, वे स्वदेश चले गये और विदेश वासियों के लिए संदेश के रूप में कुछ उपदेश दे गये हैं। उन्होंने ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर-भक्ति की युक्ति दी है। उन्होंने बतलाया कि सबका ईश्वर एक है और ईश्वर को पाने का रास्ता भी एक ही है। जिनको संत और संतवाणी का संग नहीं हो पाया है, वे कहते हैं–जैसे दिल्ली जाने के लिए, चारो ओर से रास्ता है, उसी भाँति से ईश्वर के पास जाने के अनेक रास्ते हैं। लेकिन नहीं, ईश्वर के पास जाने का एक ही मार्ग है और वह है अंतरमार्ग। मानवकृत मार्ग परिवर्तनशील होता है, पर ईश्वरकृत मार्ग अपरिवर्तनशील होता है। दिल्ली तक जाने का मार्ग मानवकृत है, लेकिन परमात्मा तक जाने के लिए ईश्वरकृत मार्ग है। परमात्मा ने आँख से देखने का, कान से सुनने का, नासिका से गंध ग्रहण करने का, मुँह से भोजन करने का, नीचे की दो इन्द्रियों से मल-मूत्र विसर्जन करने का एक-एक मार्ग बनाया, यह मार्ग अटल है।

रूप को देखने के लिए आँख के अतिरिक्त और इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं। भोजन ग्रहण करने के लिए एक मार्ग मुँह है, मुँह से ही भोजन कर सकते हैं। सुनने, गंध और मल-मूत्र विसर्जन के लिए एक-एक मार्ग नियुक्त है। उसी तरह परमात्मा के पास जाने का एक ही मार्ग नियुक्त है। कुरान शरीफ के सूरे फातिहा में लिखा है–'ऐ कयामत के दिन का मालिक! मुझे सीधा रास्ता दिखला।' वह 'सीधा रास्ता'

कौन-सा है? ईश्वर के पास जाने का सीधा रास्ता कहाँ से आरंभ होता है और कहाँ पर अंत होता है, यह जानना आवश्यक है। वेद कहता है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यो पंथाः विद्यतेऽयनाय॥
(यजुर्वेद, अ० ३१, मंत्र १८, खंड १२)

'नान्यो पंथाः', न अन्यः पंथाः–और कोई दूसरा रास्ता नहीं। उस ईश्वर को पाने के लिए एक ही रास्ता है। संत तुलसी साहब कहते हैं–

क्यों भटकता फिर रहा तू, ऐ तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है, दिलवर पै जाने के लिए॥

परमात्मा को पाने का रास्ता सुषुम्ना से आरंभ होता है, यही सीधा रास्ता है। वे कहते हैं–इधर-उधर क्यों घूमते हो, वह तुम्हारे अंदर है। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–

काहे रे वन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई॥

संत कबीर साहब की वाणी में है–

कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूढै वन माहिं।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जानै नाहिं॥
समझै तो घर में रहै, परदा पलक लगाय।
तेरा साईं तुझ में, अनत कहीं मत जाय॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज अपना अनुभव कहते हैं–

एहि में मैं हरि ज्ञान गँवायो।
परिहरि हृदयकमल रघुनाथहिं,
बाहर फिरि विकल भय धायो॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद,
अति मतिहीन मरम नहिं पायो।
खोज गिरि तरु लता भूमि बिल,
परम सुगंध कहाँ तें आयो॥

कस्तूरी मृग की नाभि में रहती है, लेकिन वह जहाँ-तहाँ ढूँढ़ता है कि सुगन्धि आई कहाँ से? गिरि, तरु, लता, भूमि, बिल आदि में खोजने से उसे सुगंधि कहीं नहीं मिलेगी। उसी तरह सर्वव्यापी परमात्मा को खोजने के लिए अंदर चलो, तब वे मिलेंगे अन्यथा जीवनभर बाहर में भटकते रह जाओगे।

एक नवाब था। एक दिन उसने अपने काजी से पूछा, 'खुदा कहाँ रहते हैं, कैसे मिलते हैं, क्या करते हैं और किधर देखते हैं?' काजी ने उत्तर दिया, 'मैंने तो केवल न्याय की पुस्तकें पढ़ी हैं। इन प्रश्नों के उत्तर मैं कैसे दूँ?' नवाब ने कहा, 'तुमको एक सप्ताह का समय दिया जाता है। इसके अंदर उत्तर नहीं दोगे, तो दंडित होओगे।' बेचारे चिंतित हुए कि अब क्या करें, किनसे पूछें? परेशान होकर बिछावन पर आकर लेट गये। उनका एक नौकर था, जिनका नाम था 'पाजी'। पाजी ने काजी से पूछा, 'आप चिंतित क्यों हैं?' काजी बोला, 'कारण जानकर क्या करोगे? मेरी समस्या का समाधान कर सकते हो?' पाजी ने उत्तर दिया, 'हाँ, समाधान कर सकता हूँ।' नवाब के दिये हुए प्रश्नों को काजी ने पाजी के सामने रखा। पाजी ने कहा, 'इसका उत्तर तो सरल है।' आप नवाब के नाम से एक खत लिख दीजिए कि मैं जाने में असमर्थ हूँ। मेरा नौकर पाजी आपके पास जा रहा है, यह आपको उत्तर देगा।' काजी ने पत्र लिख दिया, जिसे लेकर पाजी नवाब के पास गया। नवाब ने पत्र पढ़कर पूछा, 'तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दोगे?' पाजी ने कहा, 'हाँ, मैं उत्तर दे दूँगा।' दरबार लगा हुआ था। नवाब ने कहा, 'उत्तर देना शुरू करो।' पाजी ने कहा, 'नवाब साहब! आप भी विचित्र आदमी हैं। जो प्रश्न पूछता है और जो उत्तर देता है, दोनों के बैठने के स्थान में अंतर होना चाहिए। मैं उत्तर दूँगा, इसलिए हमको ऊपर बैठाइए।' नवाब ने सोचा, 'थोड़ी देर में इसकी जान जाएगी ही, थोड़ी देर के लिए अपनी ही गद्दी पर बैठा देता हूँ। जहाँ पर काजी बैठते थे, वहाँ नवाब साहब स्वयं बैठ गये। पाजी ने निवेदन किया, 'हुजूर! आपने प्रश्न तो काजी से किया था, उन्हें भी बुला लीजिए, तो अच्छा होगा।' काजी को बुला लिया गया। काजी की जगह पर नवाब बैठा था। काजी नीचे पाजी की जगह पर बैठ गया। अब पाजी बोला, 'नवाब साहब! एक धेनू गाय मँगाइए। उसके साथ बछड़ा और दूहनेवाला गोपाल भी हो।' नवाब के आदेश से गाय, बछड़ा और दूहनेवाला उपस्थित हो गया। पाजी ने कहा, 'कहिए, आपका प्रश्न किया है?' नवाब ने कहा, 'खुदा कहाँ रहते हैं, कैसे मिलते हैं, क्या करते हैं और किधर देखते हैं?' पाजी ने कहा, 'एक मोमबत्ती मँगाकर जलाइए।' मोमबत्ती जलाई गयी। पाजी ने पूछा, 'नवाब साहब! इसका प्रकाश किधर जाता है?' नवाब, 'इसका प्रकाश चारो तरफ जाता है।' पाजी, 'इसी प्रकार खुदा चारो

तरफ देखते हैं। अब पाजी ने गोपाल से गाय दूहने कहा। गाय दूहने के बाद दूध अपने पास मँगा लिया। नवाब ने कहा, 'दूध तुम अपने पास मँगा रहे हो, गाय मँगायी गयी थी तुम्हारे लिये? मैं जो पूछता हूँ उसका जवाब दो।' पाजी ने कहा, 'वही जवाब तो मैं दे रहा हूँ। देखिए, गाय का दूध मिलता है गाय के थन से। गाय का थन तो छोटा है; लेकिन इससे दस किलो दूध कैसे निकला? तो क्या दस किलो दूध उसी थन में था? नहीं, दूध गाय के संपूर्ण शरीर में था और जब दूहा गया, तो उसके थन से ही दूध निकला। उसी तरह खुदा सब जगह हैं; लेकिन खुदा जब भी मिलेंगे, तो अपने अंदर में ही मिलेंगे।' नवाब ने पूछा,'अच्छा, बतलाओ, वे क्या करते हैं?' पाजी ने कहा, 'नवाब साहब! क्या बतलाऊँ, खुदा क्या करते हैं, यह भी पूछने की बात है! आप स्वयं अपनी आँखों से देख रहे हैं, जो पाजी था, उसको नवाब बना दिया; जो नवाब था, उसको पाजी बना दिया; जो काजी था, उसको पाजी बना दिया। खुदा क्या नहीं कर सकते?

कहानी कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा सबके अंदर हैं, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान हैं। हमलोग शास्त्र में पढ़ते हैं–'तमसो मा ज्योतिर्गमय'– हे प्रभु! हमको अंधकार से प्रकाश में ले चल। 'असतो मा सद्गमय'–असत् से सत् में ले चल। 'मृत्योमा अमृतगमय'–मृत्यु के मुख से निकालकर अमृतत्व लाभ करा। इन शब्दों का मिलान करके देखिए, कितना सजा हुआ है। एक ओर तमस् (अंधकार) है, दूसरी ओर प्रकाश है। शास्त्र कहता है–जबतक अंधकार में रहोगे, तबतक असत् में रहोगे और तबतक मृत्यु के मुख में रहोगे। जब तुम अंधकार से प्रकाश में जाओगे, तो असत् से सत् में जाओगे और मृत्यु के मुख से छूटकर अमृतत्व लाभ करोगे। लोग कहते हैं–'हम तो प्रकाश में ही हैं, अंधकार में कहाँ हैं? लेकिन विचार कर देखिए कि आपका शरीर प्रकाश में है या आप प्रकाश में हैं? आप शरीर के भीतर हैं, बाहर नहीं हैं। बाहर की चीजों को आँखें खोलकर देखते हैं, भीतर की चीजों को देखने के लिए क्रिया उलट दीजिए अर्थात् आँखें बंद करके देखिए। जब आँखें बंद करके देखते हैं, तो अंधकार मालूम पड़ता है। इससे पता चलता है कि हम अंधकार में बैठे हुए हैं। अंधकार में कुछ सूझता नहीं है। इस कारण भूल-भरम होता रहता है। एक संत हुए राधास्वामी साहब, उन्होंने कहा–

इस नगरी में तिमिर समाना, भूल भरम हर बार।
खोज करो अंतर उजियारी, छोड़ चलो नव द्वार॥

जबतक नव द्वार में रहेंगे, तबतक अंधकार में रहेंगे। जबतक हम अंधकार में रहेंगे, तबतक 'भूल भरम हर बार' होता रहेगा। जब नव द्वार से दसवें द्वार में जायेंगे, तब अंधकार से प्रकाश में जायेंगे। अनुचित कर्म के लिए मन में सोचते हैं कि ऐसा काम नहीं करना चाहिए, लेकिन मौका पाकर वह काम कर लेते हैं, क्यों? इसलिए कि हम अंधकार में हैं अर्थात् अज्ञानता में हैं। अंधकार से प्रकाश में कैसे जाएँगे? श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ८/९ में है–

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

अंधकार से परे प्रकाश है। अंधकार से प्रकाश में जाओ। हमलोग जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति; इन तीन अवस्थाओं में प्रतिदिन जाते-आते रहते हैं। जिस समय जाग्रत में रहते हैं, उस समय स्वप्न और सुषुप्ति का ज्ञान नहीं रहता है। जब स्वप्न में जाते हैं, जो जाग्रत, सुषुप्ति का ज्ञान नहीं रहता है। जब सुषुप्ति में जाते हैं, तो जाग्रत और स्वप्न का ज्ञान नहीं रहता अर्थात् जिस अवस्था में रहते हैं, उसी अवस्था का ज्ञान रहता है। इसलिए अज्ञान की अवस्था से ज्ञान की अवस्था में अपने को ले चलो। आँखें बंद करने पर जो अंधकार मालूम पड़ता है, उसी अंधकार में प्रकाश तक जाने का रास्ता है। वह रास्ता कौन बतावेगा? तो संत तुलसी साहब कहते हैं–

मुर्शिदे कामिल से मिल सिद्क और सबूरी से तकी।
जो तुझे देगा फहम शहरग के पाने के लिए॥

जो पहुँचे हुए संत-महात्मा हैं, उनके पास जाओ। वे शहरग अर्थात् सुषुम्ना का मार्ग बतलाएँगे। उसी को छठा चक्र और आज्ञाचक्र भी कहते हैं। उसका नाम ही आज्ञाचक्र है। जो उस चक्र में पहुँचते हैं, वहाँ उसको प्रभु की आज्ञा मिल जाती है कि अब हमारी ओर आ जाओ। जबतक हम आज्ञाचक्र में नहीं जाते, तबतक आने की आज्ञा नहीं होती। जब सुरत दसवें द्वार में जाएगी, तब आज्ञा मिलेगी। संत राधा स्वामी साहब कहते हैं–

सहज कँवल चढ़ त्रिकुटी धाओ,

भँवर गुफा सतलोक निहार।
अलख अगम के पार सिधारो,
राधास्वामी चरण सम्हार॥

गुरु नानकदेवजी कहते हैं—

एक द्रिसटि करि समसरि जाणै, जोगी कहिअै सोई।

केवल जोगी का वेश बना लेने से कोई योगी नहीं होता। जो अपनी दृष्टि को एक कर पाता है, वही असली योगी है। बाइबिल में लिखा है—'यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सारा शरीर उजियाला होगा और अगर तेरी आँख बुरी है, तो देखो तुम्हारे अंदर अंधकार का कितना बड़ा साम्राज्य है।' अंधकार के साम्राज्य को जो पार करेंगे, उसी को प्रकाश मिलेगा। दृष्टियोग की साधना से अंतःप्रकाश मिलता है और जिसको अंतःप्रकाश मिल जाता है, उसे नादानुभूति भी होती है। हमारे गुरुदेव कहते हैं—

नाद सों नादों में चलि धरु, प्रणव सतध्वनि सार रे।
एक ओ३म् सतनाम ध्वनि धरि, 'मेँहीँ' हो भव पार रे॥

जो अंतःप्रकाश को पाता है, उसे अंतर्नाद सुनाई देता है। वह अंतर्नाद परम प्रभु परमात्मा तक पहुँचा देता है; क्योंकि नाद में अपनी ओर आकर्षण करने का गुण होता है। अँधेरी रात हो, आप एक जगह खड़े होकर तू-तू की आवाज दीजिए, कुत्ता आपकी आवाज सुनकर आपके पास आ जाएगा। जो परमात्मा की ओर से ॐ, स्फोट, उद्गीथ, प्रणव ध्वनि की आवाज आ रही है, उस आवाज को आप सुनेंगे, तो आप किधर जायेंगे? परमात्मा की आवाज सुनकर परमात्मा के पास जायेंगे। इसके लिए घर-वार, परिवार, रोजगार छोड़ने की जरूरत नहीं है। घर-वार, परिवार, रोजगार में रहकर भी इस साधना को कर सकते हैं। यह सरल और सुगम साधना है। जैसे कोई रोगी डॉक्टर के पास जाता है, तो डॉक्टर साहब रोग के अनुसार दवाई लिख देते हैं और परहेज भी बतला देते हैं, उसी तरह प्रभु को पाने का रास्ता तो मिल गया, इसके लिए संयम भी आवश्यक है। गुरु महाराज संयम बतलाते हैं—झूठ मत बोलो, चोरी नहीं करो, किसी नशीली चीज का सेवन नहीं करो, हिंसा नहीं करो तथा मांस-मछली आदि का सेवन नहीं करो, परस्त्री-परपुरुष-गमन नहीं करो। इन पंच पापों से बचते रहो, तब क्या होगा? गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं—

सूचै भाँड़ै साँचु समावै बिरले सूचाचारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ नानक सरणि तुमारी॥

पवित्र बर्तन में सत्य अँटता है। जब हृदय पवित्र होगा, तब परम प्रभु परमात्मा की प्राप्ति होगी। वेद कहता है कि संसार में सभी मेल से रहो, प्रेम से बातचीत करो। यहाँ जात-पात की कोई बात नहीं है।

जाति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

'हिन्दू मुस्लिम सिक्ख ईसाई। जैन बौद्ध सब भाई भाई॥' पर मुखापेक्षी नहीं बनो। अपने जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य करो। यह संतमत का थोड़ा सार आपलोगों के सामने कहा। आपलोग दूर-दूर से कष्ट झेलकर यहाँ आए हुए हैं। मैं सबको बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ और सबकी मंगलकामना करता हूँ।

यह प्रवचन महर्षि मेँहीँ-जयन्ती के अवसर पर दिनांक—१२.५.२००६, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में हुआ था।

११२. आहार-विहार का संयम

ध्यान में सफलता के लिए एक आसन से देर तक बैठने का अभ्यास आवश्यक है और आसन की दृढ़ता के लिए आहार की दृढ़ता चाहिए। संत सूरदासजी ने कहा है—

आसन दृढ़ आहार दृढ़, भजन नेम दृढ़ होय।
तौ प्राणी पावै कछुक, नहिं तो रहै विषय रस मोय॥

जबतक हमारा आहार दृढ़ नहीं होगा, तबतक आसन दृढ़ नहीं हो सकता। भगवान श्री कृष्ण का महावाक्य श्री मद्भगवद्गीता में है—राजस, तामस और सात्त्विक; तीन प्रकार के भोजन होते हैं। साधक के लिए राजस और तामस भोजन त्याज्य हैं। सात्त्विक भोजन ही उचित है, लेकिन उसकी भी मात्रा संतुलित होनी चाहिए। गीता में भगवान श्रीकृष्ण का वचन है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवाले का, न बिल्कुल न खानेवाले का, न शयन करने के स्वाभाववाले का और न सदा जागनेवाले का ही सिद्ध होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।६/१७।।

दुःखों का नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करनेवाले का और यथायोग्य सोने तथा जागनेवाले का ही सिद्ध होता है।

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याःस्निग्धाःस्थिराहृद्याआहाराः सात्त्विकप्रियाः।।१७/८।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय-ऐसे आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदा : ।।१७/९।।

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रागों को उत्पन्न करनेवाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम ।।१७/१०।।

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है।

अर्थात् साधक का आहार-विहार, शयन-जागरण प्रभृति दैनिक कार्य संतुलित होना चाहिए। गोस्वामीजी के शब्दों में–

षट विकार जित अनघ अकामा ।
अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ।।
अमित बोध अनीह मितभोगी ।
सत्य सार कवि कोविद जोगी ।।
(रामचरितमानस)

साधक को मितभोगी होना चाहिए। महायोगी जालंधरनाथजी महाराज ने कहा है–

थोड़ो खाय तो कलपे झलपै, घणो खाइ लौ रोगी ।
दुहू पखा की संधि विचारै, ते को विरला जोगी ।।

न तो ठूँसकर खाओ, ने भूखा ही रहो अर्थात् मध्यमार्गी बनो। संत कबीर साहब कहते हैं–

माँगि न खाय न भूखा सोवै, घर अंगना फिरि आवै ।

गुरु गोरखनाथजी का वचन है–

खाये भी मरिए अणखाये भी मरिए ।
गौरख कहै पूता संजमि ही तरिए ।।

तथा–

धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा ।
अहिनिसि लेवा ब्रह्म अगिनि का भेवं ।।

मात्रा से अधिक खाओ मत और भूखे मरो मत। तब 'बह्म अगिनि का भेव' अर्थात् अन्तर्ज्योति साधना की क्रिया करोगे, तो सफलता मिलेगी। ग्यारहवीं शताब्दी में एक बड़े अच्छे फकीर हुए अलगजाली। उन्होंने भोजन के विषय में बड़ी अच्छी-अच्छी बातें कही हैं–'साधना-काल में बेईमानी की कमाई पर मत रहो। बेईमान की कमाई खाकर पूजा करना पानी पर मकान उठाने की तरह बेकार है।'

रोज कुछ मिलाकर सवा सेर खाना काफी है। हजरत उमर रोज सिर्फ सात कौर भोजन लेते थे, जिससे पूजा में विघ्न न हो। दिन-रात में सिर्फ एक ही बार खाओ। रात में खाली पेट रहना अच्छा है। मिठाइयाँ, पकवान नहीं खाना चाहिए।

आदमी की दुनिया उसका पेट है। जिस हद तक वह खाने की इच्छा को नियंत्रित रखता है, उस हद तक वह आत्म-नियंत्रण के फलस्वरूप अध्यात्म में तरक्की करेगा। सिर्फ एक दाल या सब्जी लो, विभिन्न प्रकार के व्यंजन मत लो।

पैगम्बर की हिदायत है–'सदा उपवास मत करो या निद्रा को पूरी तरह मत त्यागो, संयम रखो और बीच के रास्ते पर चलो–अर्थात् न कम, न बेशी; जरूरत से अधिक खाकर अपनी पाचन-क्रिया खराब नहीं करो और न अनेक बार उपवास ही करो।'

खाने में अपने गुरु की नकल मत करो। गुरुजी अधिक खाते हैं, तो तुम भी अधिक मत खाने लगो। बात है कि गुरुजी के लिए उपवास जरूरी नहीं है; क्योंकि उन्होंने अपने पर काबू कर रखा है।

कुछ दिन तक हमारे गुरुदेव (महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज) अपने पिता के घर भोजन करने जाते और सत्संग-मंदिर में ध्यान-भजन करते। एक बार मुरादाबाद जाने पर बाबा देवी साहब ने उनसे

पूछने की कृपा की–'कैसे जीवन बिताते हो?' गुरु महाराज ने उत्तर दिया–'पिताजी के यहाँ भोजन करता हूँ।' बाबा साहब ने पूछा–'पिताजी का भोजन करते हो, तो उनका क्या काम कर देते हो?' गुरु महाराज ने विनम्र स्वर में निवेदन किया–'कोई काम नहीं करता हूँ।' इस पर बाबा साहब ने कहा–'बिना काम किए उनका भोजन करते हो, तो तुम्हारा खून खराब हो जाएगा।' इस कारण परम पूज्य गुरुदेव ने अपने पिताजी के घर में भोजन करना छोड़कर कुछ वर्षों तक अध्यापन-कार्य कर जीवन-यापन किया।

बाबा देवी साहब के कथनानुसार बिना काम किए पिता की कमाई खानेवाले का खून खराब हो जाता है। तब जो दूसरों की कमाई खाकर भजन में उन्नति करना चाहें, तो उसमें उनको कहाँ तक सफलता मिल पाएगी, सोचने की बात है, वे स्वयं सोचें। ऐसे व्यक्ति का उद्धार होना और भविष्य में मनुष्य जन्म पाना कठिन है। शास्त्रों में यहाँ तक कहा गया है कि 'इस जन्म में किसी से लिया कर्ज, न चुकाने पर उसे अगले जन्म में जानवर बनकर उसकी सेवा के रूप में चुकाना पड़ता है।' (कल्याण, मई २००३)

इसलिए हमलोगों के धर्मशास्त्र में आया है–हितभुक, मितभुक और ऋतभुक। हमारे सामने जो भोज्य पदार्थ आए, उसे हम देखें कि वह हमारे लाभ के लिए है या हानि के लिए। कैसा भोजन है–रजोगुणी, तमोगुणी या सतोगुणी? जब हम देखें कि यह सतोगुणी है, तब भोजन करने से हमारी भलाई होगी, लेकिन सतोगुणी भोजन होने पर उसकी मात्रा अधिक नहीं होनी चाहिए अर्थात् होना चाहिए–मितभुक। कबीर साहब ने कहा है–

मन भावै सो खावता, इन्द्री केरे स्वाद ।
नाक तलक पूरण करै, कौन कहै परसाद ।।

अधिक खाएँगे, तो भजन में देर तक नहीं बैठ सकेंगे। जिस प्रकार का अन्न हम खाएँगे, उसी प्रकार का प्रभाव हमारे मन पर पड़ेगा, इसलिए कहा गया है– **जैसा खाय अन्न, वैसा होय मन ।**

तथा–

जैसा अन्न जल खाइये, वैसा ही मन होय ।
जैसा पानी पीजिये, वैसी वाणी होय ।।

(संत कबीर साहब)

अतएव हितभुक के साथ अवश्य ही मितभुक भी होना चाहिए और मितभुक के साथ ऋतभुक होना आवश्यक है। ऋत् कहते हैं–सत्य को। इसका तात्पर्य सच्ची कमाई का भोजन होना चाहिए। इसी दृष्टि को अपनाकर संत सूरदासजी ने कहा है–'आसन दृढ़, आहार दृढ़।' साथ ही भोजन के समय में भी नियमितता होनी चाहिए। इस प्रकार यदि हितभुक, मितभुक और ऋतभुक; इन तीनों का सही संतुलन रहेगा, तो सूरदासजी कहते हैं, 'तौ प्राणी पावै कछुक।' तब प्राणी यानी साधक कुछ पाएगा। अन्यथा यदि इन तीनों में ढीला-ढाला रहेगा, तो–'रहै विषय रस मोय।' यानी डुबकी लगाते रहेंगे विषयों में, कभी उबार नहीं होगा।

साधक को स्वावलंबी होना चाहिए। अपने पसीने की कमाई से उसे अपना निर्वाह करना चाहिए। थोड़ी-सी वस्तुओं को पाकर ही अपने को संतुष्ट रखने की आदत लगाना, उसके लिए परमोचित्त है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से बचते रहना और दया, शील, संतोष, क्षमा, नम्रता आदि मन के उत्तम और सात्त्विक गुणों को धारण करते रहना, साधक के पक्ष में अत्यन्त हितकर है। मांस और मछली का खाना तथा मादक द्रव्यों का सेवन मन में विशेष चंचलता और मूढ़ता उत्पन्न करते हैं। साधकों को इनसे अवश्य बचना चाहिए। (सत्संग-योग, चतुर्थ भाग)

आज पाश्चात्य वैज्ञानिकों से भी यह बात छिपी नहीं है कि मत्स्य-मांस भोजन मानव-प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उन्होंने विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि मत्स्य-मांस का आहार मनुष्य-प्रकृति के बिल्कुल प्रतिकूल है। उन्होंने मांसाहारी और शाकाहारी प्राणियों की बनावट में भिन्नता बताते हुए बताया है कि मांसाहारी जीव के दाँत और नख नुकीले होते हैं; जैसे–व्याघ्र, कुत्ता, गीदड़ आदि। और शाकाहारी जीवों के दाँत चिपटे होते हैं। मांसाहारी प्राणी के शरीर से पसीना नहीं निकलता और न वह मुँह सटाकर पानी ही पीता है। प्रमाणस्वरूप व्याघ्र, कुत्ता आदि हिंस्त्र जन्तुओं के शरीर से पसीना नहीं निकलता है और वह जीभ से चाट-चाटकर पानी पीता है। मनुष्य और गाय-बैल आदि के शरीर से पसीना निकलता है और ये पानी में मुँह सटाकर पीते हैं। शाकाहारी प्राणी उन्मीलित नेत्र से जन्म लेते हैं

अर्थात् जन्मकाल से ही उनकी आँखें खुली होती हैं, किन्तु मांसाहारी प्राणी का जन्म निमीलित चक्षु से होता है यानी जन्मकाल में आँखें बन्द रहती हैं, कुछ दिनों के बाद आँखें खुलती हैं। साथ ही, इन दोनों प्रकार के प्राणियों की आँतों की रचना भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यानी शाकाहारी प्राणी के शरीर की लम्बाई से चार गुणा उसकी आँत होती है, जबकि मांसाहारी प्राणी की आँत उसके शरीर की लम्बाई के बराबर होती है। इन दृष्टियों से भी मत्स्य-मांस-भक्षण मानव-प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है और साधक के लिए तो इस प्रकार के तामस भोजन हलाहल (विष) से भी कहीं बढ़कर हैं; क्योंकि ये आहार ब्रह्मचर्य-पालन में बाधक हैं और मन को चंचल करनेवाले हैं।

ब्रिटेन के उच्चकोटि के डॉक्टरों एवं वहाँ के हेल्थ मिनिस्टर मिसेज क्यूरी ने घोषणा की है कि अण्डे के पीले भाग (Yolk) में सालमोनेला (Salmonella) नामक छूत-रोग के विषैले कीटाणु पाए जा रहे हैं, जिस कारण इंग्लैंड में प्रति सप्ताह ३००० व्यक्ति इस छूत रोग से पीड़ित हो रहे हैं। उन्हें उल्टी-दस्त, टायफायड बुखार व आँत में सूजन आदि शिकायतें हो रही हैं और लोग मर भी रहे हैं। इस चेतावनी से वहाँ बड़ी संख्या में लोगों ने अण्डा या अण्डे से बने पदार्थों को खाना छोड़ दिया है। अण्डों की बिक्री ७ प्रतिशत कम हो गई है।

अमेरिका के डॉक्टर माइकल एस० ब्राउन व डॉक्टर जोसेफ एल० गोल्डस्टीन को हृदय रोग की खोज पर २,२५,००० डॉलर का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। दोनों डॉक्टरों ने अपनी खोज के बाद घोषणा की कि अण्डे और मांस का सेवन खतरनाक है, इसमें कॉलेस्ट्रॉल की मात्रा बहुत अधिक पाई जाती है, जिससे हार्ट अटैक, जोड़ों में दर्द, पित्ताशय व मूत्राशय में पथरी, चर्म रोग आदि रोग उत्पन्न होते हैं, अमेरिका में ४० प्रतिशत लोग शाकाहारी हो गए हैं और यह संख्या बढ़ रही है।

आधुनिक खोजों के अनुसार मांस-मछली और अण्डे में डायटरी फाइबर (भोजन तन्तु) बिल्कुल नहीं पाई जाती है। इस कारण ये कब्ज पैदा करके पेट में सड़ांध, आँत में कैंसर, बवासीर, गुर्दे खराब, पित्ताशय में पथरी, अलसर आदि रोग पैदा करते हैं।

हाफकिन्स इंस्टीच्यूट ऑफ बॉम्बे के अनुसार, छोटे बच्चों को अण्डा या अण्डे से बने पदार्थ खिलाने से निम्नलिखित रोगों के उत्पन्न होने का खतरा है–कफ, खाँसी, नजला, जुकाम, दमा, स्मरण शक्ति कमजोर, शारीरिक शक्ति का क्षय, पीलिया, वात, पथरी, हाई बी० पी०, आँतों में मवाद, एलर्जी आदि। (शान्ति-संदेश, जुलाई २००३)

११३. सूर्य की उपासना कैसे करें

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार योगशिक्षा सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण ने सूर्य को ही दी थी। भारतीय धर्मग्रंथों में तो सूर्य की महिमा गायी ही गयी है, आजकल के वैज्ञानिक भी इसको पृथ्वी पर जीवन-संचालन में महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं। इन्हीं कारणों से हमारे देश में प्राचीन काल से सूर्योपासना चली आ रही है। भारत ही नहीं विश्व के अधिकांश सभ्य प्राचीन जातियों में सूर्य की उपासना प्रचलित है। आर्यों के अतिरिक्त आसीरिया के असुर शम्श (सूर्य) की पूजा करते थे। इरान की 'मग' जाति में प्राचीनकाल से सूर्य की पूजा विधि प्रचलित थी। आज भी हमारे यहाँ राजपूतों में 'मग' जाति के ब्राह्मण मिलते हैं। अमेरिका के मेक्सिको प्रदेश में बसनेवाली प्राचीन सभ्य जनता के बहुत-से सूर्य मंदिर थे। यूनान का सम्राट सिकन्दर सूर्य उपासक था। मिश्र की नीलघाटी सभ्यता में सूर्यपूजा का प्रमुख स्थान था। फिनीशियन, फैल्डियन आदि लोग प्राचीनकाल से सूर्योपासक रहे हैं। सूर्यपूजा का प्रसार प्राचीनकाल में एशिया माइनर से रोम तक था।

सौर सम्प्रदाय के अनुयायी ललाट पर लाल चन्दन से सूर्य की आकृति बनाते हैं और लाल फूलों की माला धारण करते हैं। आर्य जातियों के तो सूर्य प्रधान देवता थे। भारतीय और पारसीक दोनों शाखाओं के आर्यों के बीच सूर्य को प्रमुख स्थान प्राप्त था।

वेदों में पहले प्रधान देवता सूर्य, अग्नि और इन्द्र थे। सूर्य आकाश के देवता थे। इनका रथ सात घोड़ों का कहा गया है। आगे चलकर सूर्य और सविता एक माने गए और सूर्य की गणना द्वादश आदित्यों में हुई। ये आदित्य वर्ष के बारह महीने के अनुसार सूर्य के ही रूप थे।

भारत में अनेक राजा-महाराजा सूर्योपासक रहे हैं; जैसे—कुषाण सम्राट, गुप्त सम्राट, हर्ष आदि। ग्यारहवीं सदी में बना विशाल कोणार्क मंदिर सूर्योपासना का ही प्रतीक है। अकबर ने आदेश प्रसारित किया था कि प्रातः, मध्याह्न, सायं और अर्द्धरात्रि—चार बार सूर्य की पूजा होनी चाहिए। वे स्वयं सूर्याभिमुख होकर उनके सहस्त्र नाम का पाठ एवं पूजन करते थे।

सूर्य-पूजा

वराहपुराण में आया है—

'सृष्टयर्थं भगवान् विष्णुः सविता स तु कीर्तितः।'

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार विष्णु ही सविता कहे जाते हैं। विष्णु और सविता—ये दोनों पर्यायवाचिक शब्द हैं।

सूर्योपनिषद् (१/४) के अनुसार सूर्य से ही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है, पालन होता है और उन्हीं में विलय होता है। श्रीमद्भागवत में वर्णन आया है कि सूर्य के द्वारा ही दिशा, आकाश, द्युर्लोक, भूलोक, स्वर्ग-मोक्ष के प्रदेश, नरक और रसातल तथा अन्य समस्त स्थानों का विभाग होता है। सूर्य ही देवता, तिर्यक, मनुष्य, सरीसृप और लता-वृक्षादि समस्त जीव समूहों की आत्मा एवं नेत्रेन्द्रिय के अधिष्ठाता हैं। ऋग्वेद कहता है कि सूर्य ही अपने तेज से सबको प्रकाशित करता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि ये ही सम्पूर्ण भुवन को उज्जीवित करते हैं। अथर्ववेद में प्रतिपादित है कि सूर्य हृदय की दुर्बलता-हृद्रोग और कास रोग को प्रशमित करते हैं। सूर्य की किरणें पृथ्वी के गीले पदार्थों को सोख लेती हैं और खारे समुद्र-जल को स्वयं पीकर पीने योग्य बना देती हैं। लिंग पुराण के २२ वें अध्याय में सूर्योपासना का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'स्नानयागादिकर्माणि कृत्वा वै भास्करस्य च।
शिवस्नानं ततः कुर्याद् भस्मस्नानं शिवार्चनम्॥'

लिंग पुराण में अनेक तरह के मंत्रोच्चारण और अनेक धार्मिक अनुष्ठानों (क्रियाओं) का विधान बताया गया है और अन्त में बताया गया है कि जो एक बार भी देवदेव भगवान् सूर्य का पूजन कर लेता है, वह परमगति को प्राप्त हो जाता है। सब पापों से छूट जाता है। समस्त ऐश्वर्यों से युक्त हो जाता है। तेज में अप्रतिम हो जाता है।

शास्त्रों में चार वैदिक मंत्रों से सूर्यनारायण की उपासना बतलायी गई है। इसकी विधि इस प्रकार है—दाहिने पैर की एड़ी उठाकर सूर्याभिमुख भक्तिभाव से पूर्ण होकर आप्लावित हृदय से मंत्रों का पहले विनियोग करना और तब आगे नीचे झुके हाथ पसारकर खड़े-खड़े अर्थ पर ध्यान रखते हुए निम्न प्रतीकात्मक चार मंत्रों से सूर्योपस्थान करना—१. ॐ उद्वयन्तमसस्परि, २. ॐ उदुत्यंजातवेदसम्, ३. ॐ चित्रन्देवानाम्, ४. ॐ तच्चक्षुर्दवहिताम्।

उत्तर भारत में प्रचलित षष्ठी व्रत या छठ पूजा में भी सूर्यनारायण की ही पूजा की जाती है।

सूर्य में कोई तिथि नहीं होती, तिथियाँ चन्द्र में होती हैं। जब षष्ठी का चन्द्र रहता है, तब शाम के समय पहला अर्घ्य दिया जाता है, जिसे पहली पूजा कहते हैं। इसमें सूर्यास्त के बाद चन्द्र-दर्शन करते हैं। दूसरे दिन जब सूर्योदय होता है, फिर अर्घ्य दिया जाता है। इसे दूसरी पूजा कहते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष

संत जन बतलाते हैं कि छठ पूजा या षष्ठी व्रत जो बाहर में लोग करते हैं, वह सांकेतिक है। वास्तविक छठ पूजा तो अपने अंदर की जाती है, जिससे मानव का परम कल्याण होता है। एक बंगाली महात्मा योगी पंचानन भट्टाचार्य ने कहा है—

'मूलाधाराबधि पंच चक्र भेदी,
आज्ञाचक्रे यदि थाक निरबधि।
देखिबे से निधि जाबे भवव्याधि,
भासिबे आनन्द सागरे॥'

शरीर के अंदर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत और विशुद्ध; इन पाँच चक्रों का भेदन करके जब आज्ञाचक्र में जाओगे, तो वह खजाना मिलेगा कि तुम्हारे सारे दुःख-दर्द समाप्त हो जाएँगे और तुम आनंद के सागर में गोता लगाओगे। वहाँ कैसा आनन्द मिलेगा? तो वे कहते हैं—

'आनन्दे आनन्द बाढ़े प्रतिखन।
दशेन्द्रिय थाके शून्ये ते बन्धन॥

रिपुचय पराजय सकलि आनंदमय।
अनुभव मात्र रय आर सब पाय लय।
जेमन जीवने जीवन थाके ना।।'

तुम्हारे षट् रिपु–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य; ये सब हार जाएँगे, दसो इन्द्रियाँ थक जाएँगी और उत्तरोत्तर आनन्द बढ़ता ही जाएगा। वास्तविक छठ पूजा आज्ञाचक्र, जिसे छठाचक्र भी कहते हैं, उसमें प्रवेश करने के बाद ही आरंभ होती है। साधक अंतस्साधना के द्वारा जैसे ही आज्ञाचक्र से सहस्त्रदल कमल में पहुँचता है, उसे चन्द्र-दर्शन होता है। यहाँ षष्ठी व्रत का पहला अर्घ्य पूरा होता है। वहाँ से साधक जब आगे बढ़ता है तो वह त्रिकुटी में पहुँचता है। यहाँ उसे सूर्य-दर्शन होता है। महर्षि मेँहीँ-पदावली में आया है–

त्रिकुटी सूरज ब्रह्म दरस कर, सुरत शब्द रल री।

साधक त्रिकुटी में पहुँचकर सूर्य-दर्शन करता है और उसकी सुरत उसमें लीन हो जाती है। यहाँ सप्तमी का अर्घ्य भी पूरा हो जाता है।

हमलोग नित्य गायत्री मंत्र का पाठ करते हैं–

'ओऽम् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।'

यह सविता क्या है? सविता के अनेक अर्थों में एक अर्थ सूर्य भी होता है। यह सूर्य बाह्याकाश का नहीं, अन्तराकाश का है। बाह्याकाश के इस सूर्य को सभी जानते हैं। इसमें आप कितना प्रकाश देखते हैं! जबकि यह जड़ सूर्य है और आपके अन्दर में चैतन्य सूर्य है, उसका प्रकाश कितना और कैसा होगा? सन्त पलटू साहब कहते हैं–

'आफताब तसद्दुक लाख है जी।'

आफताब कहते हैं सूर्य को। लाखों सूर्यों के समान वह प्रकाशमान है, यह तो समझने के लिए उपमा दी गई है। वास्तव में उस अलौकिक तेज का वर्णन नहीं हो सकता। सन्तमत के लोग प्रतिदिन सन्त तुलसी साहब की आरती का पाठ करते हैं–

'कोट भान छवि तेज उजाली।'

अर्थात् करोड़ों सूर्यों के समान उसका प्रकाश है। हमारे गुरुदेव क्या कहते हैं, उनकी स्वानुभूति सुनिए–

'जा सम्मुख या सूर्य अमित अन्धार है,
ऐसो सूर्य महान चन्द हद पार है।'

वे कहते हैं कि आपके अन्दर में जो सूर्य है, उस सूर्य का जो प्रकाश है, उस प्रकाश के सामने इस स्थूलाकाश के सूर्य का प्रकाश अन्धकारवत् है अर्थात् उस प्रकाश के सामने यह प्रकाश घोर अन्धकारमय मालूम होता है। आपके अन्दर में जो सूर्य प्रतिष्ठित है, वह कहाँ है? उत्तर है–'चन्द हद पार है।' साधना काल में साधक को सहस्त्रदल कमल में चन्द्र-दर्शन होता है, और आगे बढ़ने पर त्रिकुटी में सूर्य-दर्शन होता है।

एक ब्राह्मण देवता थे। वे अन्तस्साधना करते थे। अन्य ब्राह्मण जिस तरह बाह्य पूजा, अर्चना, वन्दना, तर्पण, होम आदि करते थे, उस तरह वे नहीं करते थे। उनकी धर्मपत्नी जब आस-पड़ोस में घूमने-फिरने अथवा किसी कार्य-विशेष से कहीं जाती, तो उनसे महिलाएँ कहतीं–'अरी! तुम तो ब्राह्मणी हो; लेकिन तुम्हारा विवाह शूद्र से हो गया है। तुम्हारे पति तो कभी 'संध्या-वंदन, पूजा-पाठ आदि कुछ करते ही नहीं हैं।' ब्राह्मणी घर लौटकर आती और पतिदेव से सारी बातें कहतीं। उनके पतिदेव सुनते और मुस्कुराकर रह जाते, कुछ बोलते नहीं। इसी तरह कितने दिन बीत गए। उपालम्भ सुनते-सुनते बेचारी ब्राह्मणी तंग आ गयी। पुनः एक दिन एक पड़ोसिन महिला ने उन्हें बहुत तरह से बहुत कुछ कह दिया। उस दिन वह बहुत दुःखी होकर, रो-रोकर अपने पतिदेव से कहने लगी–'पतिदेव! मैं पड़ोसिनों का ताना सुनते-सुनते तंग आ गयी हूँ। आप भी और ब्राह्मणों की तरह संध्या-वन्दन क्यों नहीं करते? ब्राह्मणोचित कर्म तो आपको करना ही चाहिए। मैं बराबर आपसे कहती हूँ; किन्तु आप मेरी बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं देते।' इस पर वे ब्राह्मण देवता बोले–'देवि! तुम नहीं जानती हो और वे देवियाँ भी नहीं जानतीं, जो तुमको उपालम्भ देती रहती हैं। अरी, सुनो–

'हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति।
नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे।।
(मैत्रेय्युपनिषद्)

अर्थ–हृदय-आकाश में चैतन्यरूप सूर्य बराबर उगा रहता है, न कभी अस्त होता है और न कभी उदय लेता है; संध्या कैसे करूँ?'

संध्या किसको कहते हैं? जब रात्रि का अन्त होता है और दिन का प्रारंभ होता है, तो उन दोनों की

संधि-बेला को संध्या कहते हैं। इसी तरह जब दिन का अन्त होता है और रात्रि का प्रारंभ होता है; उसको भी संध्या कहते हैं तथा एक मध्याह्नकाल को संध्या कहते हैं। ये ही त्रिकाल संध्याएँ हैं।

बाहर के सूर्य का उदय और अस्त होना होता है; किन्तु हमारे अन्दर में चैतन्य रूप सूर्य है, जो बराबर उगा ही रहता है। वह न तो कभी उगता है और न कभी डूबता है। रामचरितमानस-सहित उपनिषद्, गीता एवं संतवाणी का जब हम अवलोकन करते हैं, तो उनमें विविध ज्योतियों–प्रकाशों के सहित दिव्य मार्त्तण्ड के वर्णन भी हम पाते हैं। यथा–मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् ब्राह्मण २ में है–

'आदौतारकवद्दृश्यते ततो वज्रदर्पणम् तत् उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्न प्रभामण्डलम् ततो मध्याह्नार्क मण्डलम्। ततो वह्निशिखा मण्डलम् क्रमाद्दृश्यते। तदा पश्चिमाभिमुख प्रकाशः स्फटिक धूम्र विन्दुनाद कला नक्षत्र खद्योत दीप नेत्र स्वर्ण नवरत्नादि प्रभा दृश्यन्ते।'

अर्थात् आरंभ में तारा-सा दीखता है। तब हीरा के ऐना की तरह दीखता है। उसके बाद पूर्ण चन्द्रमण्डल दिखलाई देता है। उसके बाद नौ रत्नों का प्रभामण्डल दिखाई देता है। उसके बाद दोपहर का सूर्य मण्डल दिखाई देता है। उसके बाद अग्नि शिखामण्डल दिखाई देता है। ये सब क्रम से दिखाई देते हैं। तब पश्चिम की ओर प्रकाश दिखाई देता है। स्फटिक, धूम्र, विन्दु, नाद, कला, तारा, जुगनू, दीपक, नेत्र, सोना और नवरत्न आदि की प्रभा दिखाई देती है। योगशिखोपनिषद् का निम्नलिखित श्लोक उपर्युक्त (मंडल ब्राह्मणोपनिषद् के) ऋषि वाक्यों को भली भाँति परिपुष्ट करता है। इसमें बतलाया गया है कि योगयुक्त योगी को ध्यानयोगाभ्यास करते समय क्या-क्या अनुभूतियाँ होती हैं?

दीप ज्वालेन्दु खद्योत विद्युन्नक्षत्र भास्वराः।
दृश्यन्ते सूक्ष्म रूपेण श्रद्धायुक्तः योगिनः॥

अर्थात् योगयुक्त योगी को सूक्ष्म रूप से दीप, ज्वाला, चन्द्रमा, जुगनू, बिजली, तारा तथा सूर्य देखने में आते हैं।

आदि संत भगवान् बुद्ध कहते हैं–हंसादिच्च पथेयन्ति.....। अर्थात् हंस (पवित्र आत्मा) सूर्य के रास्ते में चलते हैं। संत कबीर साहब अपनी साधनानुभूति बतलाते हुए कहते हैं–

'यहि घट चन्दा यहि घट सूर।
यहि घट बाजै अनहद तूर॥'

पुनश्च, 'कबीर कमल प्रकाशिया, उगा निर्मल सूर।
रैन अँधेरी मिट गई, बाजै अनहद तूर॥'

जब हम गुरु नानकदेवजी से जिज्ञासा करते हैं कि ऋषियों और सन्तों की उपर्युक्त वाणियों के संबंध में आपकी क्या धारणा है? तो वे अपनी साधनानुभूति की जो कुछ कहते हैं, उपनिषद् एवं सन्तवाणी से तारतम्य करने पर शब्दशः मिली-जुली प्रतीत होती है। वे स्पष्ट शब्दों में गुरु की दुहाई देते हुए कहते हैं–

निशि दामिनि जिउ चमकि चन्दाइणु देखै।
अहि निसि जोति निरंतरि पेखै॥
आनंदस्वरूप अनूप सरूपा गुरु पूरै देखाइआ॥
सतिगुर मिलहु आपे प्रभु तारे।
शशि धरि सूर दीपक गैणारै॥'
'अन्तरि जोति भई गुरु साखी चीने राम करंमा।
नानक हउमै मारि पतीणे तारा चड़िया लंमा॥'

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की वाणी में भी अन्तस्साधना के प्रसंग में चन्द्र और सूर्य की चर्चा देखने को मिलती है। जैसे–

'छट-छट छट-छट बिजली छटकै
भोर का तार दिखाता है।
चन्दा उगत उदय हो रविहू
धूर शब्द मिल जाता है॥'

X X X

त्रिकुटी सूरज ब्रह्म दरस कर सुरत शब्द रल री।
घटवा घोर रे अंधारी स्रुति आँधरी भई॥
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

मात्र वैदिक साहित्यों में ही नहीं, कुरानशरीफ (पारा ७, सूरा ६, अल अन–आम) में भी चन्द्र-दर्शन और सूर्य-दर्शन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जब हम रामचरितमानस का अध्ययन करते हैं, तो उसमें कई स्थानों पर सूर्य की चर्चा पाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने विशेषकर उत्तरकाण्ड में आंतरिक सूर्य का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। वे लिखते हैं–

'जब ते राम प्रताप खगेसा।
उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहूँ लोका।
बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका॥'

जबसे राम प्रताप रूप अत्यन्त प्रबल सूर्य (हृदय में) उदित हुआ, तबसे तीनों लोकों में भरपूर प्रकाश हो रहा है; लेकिन उस प्रकाश से कुछ लोगों को सुख होता है, तो कुछ लोगों को दुःख भी होता है। अब गोस्वामीजी विभाजन करते हैं कि दुःख किसे होता है और सुख किसे होता है।

'जिन्हहिं शोक ते कहऊँ बखानी।
प्रथम अविद्या निसा नसानी॥'

पहले वे बतलाते हैं कि दुःख किसको हुआ। जब बाहर में सूर्य उदय होता है, तो रात समाप्त हो जाती है, बाहर का अंधकार नष्ट हो जाता है। उसी तरह जिसके अंदर में सूर्य उदय हो जाता है, उसके अंदर की अज्ञानता-रूपी रात समाप्त हो जाती है।

'अघ उलूक जहँ-तहाँ लुकाने।
काम क्रोध कैरव सकुचाने।'

जब अँधेरी रात रहती है, उल्लू जहाँ-तहाँ घूमता और चें-चें आवाज करता रहता है; लेकिन दिन होते ही वह छिप जाता है, नजर नहीं आता। उसी तरह अंतर में सूर्य उदय होने पर पापरूपी उल्लू भागकर छिप जाता है। हमारी एक स्थिति ऐसी होती है कि मन में पाप-वृत्ति उठती है और हम पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। दूसरी स्थिति ऐसी होती है कि मन में पाप-वृत्ति तो उठती है, पर हम उसे दबा देते हैं कि हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। तीसरी स्थिति में जब अंदर में सूर्य का दर्शन हो जाता है, तो पाप-वृत्ति उठती ही नहीं है। ऐसे व्यक्ति 'अघ उलूक' अर्थात् झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार से वर्जित हो जाते हैं। 'काम क्रोध कैरव सकुचाने।' कैरव कहते हैं कुमुदिनी फूल को। वह चन्द्रमा को देखकर खिलता है और सूर्योदय होने पर मुरझा जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि अन्दर में जब सूर्योदय होता है, तो काम-क्रोध रूप कुमुदिनी फूल मुरझा जाता है, सिकुड़ जाता है। जैसे बाहर में प्रकाश होने पर बाहर के कीड़े-मकोड़े उसमें गिर-गिरकर मरते हैं, उसी प्रकार जब अंदर में सूर्य का प्रकाश फैलता है, तो हमारे अंदर के पाप रूपी कीड़े—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उसमें जलकर समाप्त हो जाते हैं।

'विविध कर्म गुन काल सुभाऊ।
ये चकोर सुख लहहिँ न काऊ॥'

चकोर पक्षी को चन्द्रमा प्रिय होता है, वह रात में एकटक चन्द्रमा को निहारता रहता है, उसे सूर्य नहीं भाता। उसी तरह हमारे विविध कर्म, गुण और स्वभाव को आंतरिक सूर्य के उदय होने पर सुख नहीं मिलता अर्थात् इसकी प्रबलता नहीं रहती।

'मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कबनिहु ओरा॥'

जो चोर होते हैं, वे रात में अपनी कलाबाजी दिखाते हैं और सुबह होने से पहले भाग जाते हैं। उसी तरह अन्तःप्रकाश होने पर मत्सर (ईर्ष्या), मान (प्रतिष्ठा का विचार), मोह (अज्ञानता), मद (अहंकार) रूपी चोर की कलाबाजी नहीं चलती है। अब अन्तर में सूर्य उदय होने पर किसे सुख होता है, वह देखिए—

'धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना।
ये पंकज विकसे बिधि नाना॥'

बाहर में सूर्योदय होता है, तो बाहर में कमल खिलते हैं और जब अन्दर में सूर्योदय होता है, तो धर्म रूपी तालाब में ज्ञान और विज्ञान रूपी आंतरिक कमल खिलते हैं। सबमें ईश्वर है—यह है ज्ञान और सब ईश्वर में है—यह है विज्ञान। आंतरिक सूर्य-दर्शन से साधक ज्ञान-विज्ञान की खान हो जाता है।

'सुख संतोष विराग विवेका।
विगत सोक ये कोक अनेका॥'

कोक कहते हैं—चकवा पक्षी को। चकवा-चकवी को रात प्रिय नहीं होती, दिन प्रिय होता है। रात के समय दोनों अलग रहते हैं, मिल नहीं पाते। पर जब दिन होता है, तो दोनों आकर मिल जाते हैं। उसी तरह जब अन्तःप्रकाश होता है तो सुख, संतोष, विराग और विवेक रूपी चकवा पक्षी शोक-रहित हो जाते हैं अर्थात् ऐसे साधक को सार-असार का ज्ञान हो जाता है, उसे विषय की चाहना समाप्त हो जाती है, सांसारिक पदार्थों से विराग हो जाता है और वह आत्म-सुख प्राप्त करता है।

यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास॥

रामप्रताप रूपी सूर्य जब जिसके हृदय में प्रकाश करता है, तब उसके हृदय में 'पछिले बाढ़हिँ'—जो बाद में कहे गए हैं अर्थात् ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, विराग, विवेक आदि बढ़ जाते हैं और जो पहले कहे गए हैं अर्थात् अज्ञान, पाप, काम, क्रोध, मोह, मद आदि सभी विनाश को प्राप्त होते हैं।

प्रतिवर्ष शत-शत प्राणी सहस्त्रों मुद्रा व्यय करके अनेक कष्टों को झेलते हुए दार्जिलिंग जाते हैं और वहाँ वात्यशून्यावस्थित दिनकर को देख अपने को धन्य समझते हुए, प्रसन्नता से फूले नहीं समाते हैं, तब उस अन्तस्थ सूर्य-दर्शन की तो बात ही क्या? जिन्होंने अपने अन्दर उसे देख पाया, अपनी स्थिति वहाँ कर पायी और जो बारम्बार उसमें निमग्न होता रहता है, उस भगवद्भक्त के भाग्य को देखकर देवता भी लज्जित होते हैं। फिर उस साधक की प्रसन्नता और उसके आनन्दातिरेक का वर्णन कौन कर सकता है? वेद, उपनिषद् एवं सन्त वाणियों में प्रयुक्त प्रकाशों के वर्णन को पढ़कर साधक के मन में एक कौतूहल-सा होता है–एक उत्सुकता होती है–काश, एक बार देख पाता वह प्रकाशपुंज! वह ब्रह्मतेज!! वह स्वर्णिम सूर्य!!!

भक्तियोग के सच्चे साधकों को अपने हृदय में यह तब दरसता है, जब वे रामचरितमानस में वर्णित नवधा भक्ति की छठी भक्ति का साधन पूर्णरूप से कर लेते हैं। इसी सूर्य को रामचरितमानस के बालकाण्ड में 'कृसानु भानु हिमकर' कहा गया है और उत्तरकाण्ड में 'रामप्रताप प्रबल दिनेश' कहा गया है। उसमें यह भी लिखा है कि अज्ञान, पाप, काम और क्रोधादि ताप मनुष्य के हृदय को दग्ध करते हैं; परन्तु साधना में लवलीन भक्त अपने हृदय में त्रिकुटी महल पर चढ़कर ऊपर कथित सूर्य के दर्शन पाते हैं और इससे, ऊपर वर्णित विकारों का ताप उनके हृदय से दूर हो जाता है। जिस तरह बाहर के प्रकाश में बाहर के कीड़े-मकोड़े आ-आकर गिरते और जल-भूनकर समाप्त होते हैं, उसी तरह हमारे अन्दर के प्रकाश में आन्तरिक कीड़े–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जल-भूनकर समाप्त होते हैं; सारे विकार विनष्ट हो जाते हैं। हृदय शीतल एवं शान्त हो जाता है और उसमें ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, विराग और विवेक बढ़ जाते हैं।

'रामप्रताप प्रबल दिनेश' के प्रसंग को पढ़कर यह समझ लेना बड़ी भूल होगी कि यह सूर्य त्रेतायुग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के अवधेश रहने के समय में उदित था, अब अस्त हो गया है। वास्तव में यह सर्वदा सबके हृदयरूप आकाश में (बाहरी आकाश में नहीं) उदित है; पर उल्लू पक्षीरूप अनधिकारी को अपने अन्तर में नहीं दरसता है।

'घूघर अन्धे भेष टेक अभिमान में।
सुझै न सबमें ब्रह्म धुन्ध अज्ञान में॥
घूघर नेतर खुलै सुनो सोई साध है।
देखै तन बिच भान सो ब्रह्म अगाध है॥'
'ज्यों दुपहैर गगन रवि छाई।
तासे उजास भया घट माहीं॥'
–तुलसी साहब

'यह प्रताप रवि जाके, उर जब करै प्रकास।' का अर्थ यह नहीं होता है कि किसी एक ही युग वा युग-भाग में यह सूर्य उगा था; परन्तु यह अर्थ होता है कि यह सूर्य जब जिसके हृदय में प्रकाश करे। (अर्थात् योगी भक्त इसके दर्शन का साधन जब करेगा, तब वह अपने अन्तर में इसका दर्शन पाएगा।) इसलिए जो कोई ध्यान करते हैं, तो ध्यान करने से अन्तःप्रकाश मिलता है, उस प्रकाश को पाकर उनका मन उज्ज्वल-पवित्र हो जाता है। जो अन्धकार में रहते हैं, तो अन्धकार का रूप है काला, इसलिए उनके कारनामें काले हों, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है! अन्तस्साधना-द्वारा अन्तःप्रकाश पानेवाले का मन पवित्र हो जाता है। वह अपवित्र कर्म कैसे करेगा ? अतः उससे ऐसे कर्म ही नहीं होंगे, जिनसे वह नरक भोगेगा। ध्यान-योग से ही पापों का नाश होता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसीलिए सामवेद कहता है–'भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन।' ऐसा उपाय, ऐसा यत्न अथवा ऐसी विधि हमको मिलनी चाहिए कि हम अन्धकार से प्रकाश में जा सकें। हम पाठ करते हैं–

'तमसो मा ज्योतिर्गमय।
असतो मा सद्गमय। मृत्योर्मा अमृतगमय।'

केवल पाठ करते रहने से हम न तो अन्धकार से प्रकाश में जा सकते, न असत्य से सत्य में जा सकते और न मृत्यु के मुख से छूटकर अमृतत्व का लाभ कर सकते हैं।

उपर्युक्त महावाक्यों में अन्योन्याश्रित संबंध है। एक तरफ तम है और दूसरी तरफ प्रकाश है। एक तरफ असत्य है, तो दूसरी तरफ सत्य है। एक तरफ मृत्यु है, तो दूसरी तरफ अमृत है। मतलब यह कि जबतक हम तम में रहेंगे, तबतक असत्य में रहेंगे और मृत्यु के मुख में जाएँगे और जब हम प्रकाश में जाएँगे,

तो सत्य में रहेंगे और अमृतत्व की ओर जाएँगे।

अन्धकार से प्रकाश में हम चले जाएँगे, ज्योति को प्राप्त कर लेंगे, तो असत्य से सत्य में चले जाएँगे और अमृतत्व को प्राप्त कर लेंगे। इसीलिए ऐसी क्रिया-विशेष चाहिए, जिससे हम अन्धकार से प्रकाश में जा सकें। यही सूर्योपासना का मौलिक स्वरूप और उद्देश्य है। ❐

(शान्ति-संदेश, नवम्बर २००३)

११४.काम कथा सुनिये नहीं, सुनिके उपजै काम

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

साधारणतया लोग दैहिक, दैविक और भौतिक–इन त्रितापों को जानते हैं, जिसका संबंध शरीर से है। देह में उत्पन्न रोग दैहिक, अकस्मात् कुछ हो जाए, जैसे दुर्घटना वगैरह–यह दैविक और एक जीव से दूसरे जीव को कष्ट हो जाए, यह भौतिक दुःख है। इन त्रितापों से लोग संतप्त होते ही रहते हैं। इनको आधि कहते हैं। जैसे शरीर में रोग होते हैं, वैसे ही मन में भी रोग होते हैं। मानसिक रोग को व्याधि कहते हैं। शारीरिक रोग को तो कोई पसंद नहीं करते हैं; लेकिन मानसिक रोग को लोग पसंद करते हैं। बल्कि इतना पसंद करते हैं कि उनको छोड़ना नहीं चाहते। उनके बारे में समझते ही नहीं कि ये रोग हैं, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि।

सामान्यतया काम शब्द का अर्थ लोग कामदेव से लेते हैं; परन्तु संतों ने स्थान-भेद के अनुसार विविध तरहों से इसकी अभिव्यंजना की है। एक ओर काम को चार फल–अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के अंदर रखा गया है। दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि इस काम ने किसको बदनाम नहीं किया है।

महाराज दशरथ जिन्हें भगवान श्रीराम के पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, ऐसे को भी काम ने बदनाम करके छोड़ा। जब कैकेयी कोप भवन में चली गई, तो दशरथ की क्या स्थिति हुई, इसका चित्रण गो० तुलसीदासजी ने इन शब्दों में किया है–

सुरपति बसइ बाँहबल जाके।
नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई।
देखहु काम प्रताप बड़ाई॥

देवराज इन्द्र जिनके बाहुबल पर बसते थे, संसार के सारे-के-सारे राजा हाथ जोड़कर जिनके सामने खड़े रहते थे कि राजेन्द्र का क्या आदेश हो जाए, ठिकाना नहीं; ऐसे सुरपति और नरपति पर अधि-कार रखनेवाले राजा दशरथ ने जब सुना कि पत्नी कोप भवन में चली गयी है, तो वे भय से सूख गये।

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ।
भयबस अगहुड़ परइ न काऊ॥

डर के मारे उनके पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि यह काम का प्रताप और महिमा है। एक साधु बाबा जंगल में रहते थे। समय पर एक पहाड़ के समीप जाते थे, चट्टान की दरार में अपना मुँह लगाकर हवा खींचते थे और हवा पीकर रहते थे। वे वहीं रहकर जप-तप करते थे। एक बार उस प्रदेश का राजा उनके स्थान पर गया। साधु बाबा ने सोचा कि हमको राजा से क्या लेना-देना। कुछ आदर-सत्कार नहीं किया। राजा तो राजस प्रधान होते ही हैं, तामस में आ गया। उसके मन में हुआ कि मैं इनके आश्रम में आया और इन्होंने मेरी पूछ तक नहीं की, जबकि मेरे राज्य में बसते हैं। फिर भी राजा ने कहा–'महाराज! आप घर-बार छोड़कर जंगल में वास करते हैं और इतने बड़े त्यागी हैं, तपस्वी हैं कि जंगल में भी कंद, मूल, फल नहीं लेते और हवा पीकर रहते हैं। आप अगर हमारे घर पधारिये, तो मेरा बड़ा अहोभाग्य होगा।' साधु बाबा ने कहा–'जब सब कुछ छोड़ ही दिया है, तो तुम्हारे यहाँ जाकर क्या करूँगा, नहीं जाऊँगा।'

राजा अंदर-ही-अंदर क्रोधित होकर चले गये। उसने एक वेश्या को बुलाकर कहा कि यदि तुम किसी तरह उस बाबाजी को यहाँ महल में ले आओ, तो जो इनाम माँगोगी, वह दूँगा। वेश्या जंगल में चली गयी। बाबाजी की दिनचर्या देखने लगी कि किस

समय पूजा करने के लिए बैठते हैं, किस समय घूमते हैं, किस समय चट्टान पर मुँह लगाकर हवा लेते हैं। वेश्या ने वहाँ चट्टान पर थोड़ा शहद लगा दिया। बाबाजी मुँह से हवा जो खींचने लग गये, तो पहले तो सूखी हवा आती थी; किन्तु आज हवा में मिठास थी। इसलिए जितनी हवा लेते थे, उससे अधिक हवा लेने लग गये। फिर दूसरे दिन वेश्या ने छिपकर थोड़ा मोटा शहद लगा दिया। जब बाबाजी ने जोर से हवा खींचा, तो हवा के साथ उधर से शहद चूकर आने लगा। मीठा लगा तो शहद चाट भी लिया। कुछ स्वाद लगा। दूसरे दिन और शहद डाल दी, तो उसको भी उन्होंने चाट लिया। अब धीरे-धीरे आदत लग गयी। होते-होते एक दिन वहाँ हलवा बनाकर चिपका दिया। बाबा हलवा भी चाट गये। अब रोज हलवा चिपकाने लगी। वह जो हवा पीकर रहते थे, हलवा खाने लग गये, तो अब शरीर में कुछ बल भी आने लग गया। एक दिन वह सामने आ गयी, तो बातचीत भी हुई। फिर बात और भी बढ़ी और बात बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बात बढ़ी कि प्रेम हुआ और बाल-बच्चे तक हो गये।

एक दिन वेश्या ने कहा–'बाबा! जंगल में हमलोगों का गुजर तो होगा नहीं, बच्चे का परवरिश कैसे करेंगे? राजा बड़े दानी हैं। हमलोगों को देखेंगे, तो वे जरूर इतना धन देंगे, जिससे हमारा गुजर हो जाएगा।' दो बच्चे थे। जो छोटा बच्चा था, उसको कंधे पर लिया और जो चलनेवाला था, उसको हाथ में पकड़ लिया। राजा के दरबार में गये। वेश्या जाकर नमस्कार करती है। राजा ने कहा कि माँगो, क्या वरदान माँगती है?' फिर साधु बाबा से कहा कि बाबा! आपको मैंने निमंत्रण दिया था राजभवन आने के लिए; लेकिन उस दिन तो नहीं आये। आपकी बड़ी कृपा हुई कि दर्शन देने के लिए आ गये।' संत कबीर साहब ने कहा–

काम कथा सुनिये नहीं, सुनिके उपजै काम।
कहै कबीर विचार के, बिसर जाय सतनाम॥
जहाँ काम तहँ नाम नहीं, जहाँ नाम नहिं काम।
दोनों कबहूँ ना मिलै, रबि रजनी इक ठाम॥

शरीर युवा हो, स्वस्थ हो और कुछ श्री की भी प्राप्ति हो जाय, तो जहाँ कंचन है, वहाँ काम आना ही है। अपने ही मत के एक सत्संगी थे। उसके पास बहुत पैसे थे। लोगों को कर्ज देने का काम करते थे। वे गुरु महाराज के पास आते-जाते थे। एक दिन गुरु महाराज बोले कि तुम्हारे पास पैसा भी है, लहना-तगादा भी करते हो। ये माया-मोह तुमको नीचे खींचेगा। इसलिए बैठकर ध्यान-भजन करो। उसने बात नहीं मानी। पत्नी मर गयी। लहना-तगादा में रुपये-पैसे बढ़ने लगे, तो बढ़ते-बढ़ते धन अधिक हो गये। अब उस धन को भोगेगा कौन? इसलिए पुनः शादी कर ली और फिर उनके बाल-बच्चे हो गये। ये तो देखी हुई बात हैं। उसके बच्चे अभी भी आश्रम आते हैं। तो यह है काम की महिमा।

काम क्रोध मद लोभ की,जब लग घट में खान।
कहाँ मूरख कहाँ पंडिता, दोनों एक समान॥

जब विकार ग्रसित करता है, तब मूर्ख और पंडित में कोई अंतर नहीं रह जाता। दोनों का व्यवहार एक जैसा हो जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं–

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्निपात दुखदाई॥

शरीर में कफ, पित और वात; ये तीनों संतुलित अवस्था में रहने से कोई रोग नहीं होता। इन तीनों में जब विषमता होती है, न्यूनाधिकता होती है, तो रोग उत्पन्न होते हैं। जैसे साम्यावस्थाधारिणी मूल प्रकृति में रज, सत और तम; तीनों सम अवस्था में रहते हैं, तो सृष्टि नहीं होती है। गोस्वामीजी कहते हैं कि काम वातरोग के समान है। वातरोग बहुत तरह के होते हैं, जिनमें एक होता है गठिया। वह केवल गाँठ (जोड़ों) को पकड़ता है और चलने नहीं देता है। जो व्यक्ति कामासक्त है, समझिये कि उसे आध्यात्मिक गठिया रोग हुआ है। वह रोग उसको पकड़कर रखेगा। वस्तुतः संत कबीर की दृष्टि में तो–

काम काम सब कोइ कहै, काम न चीन्है कोय।
जेती मन की कल्पना, काम कहावै सोय॥

हमारी जितनी इच्छाएँ हैं, सब काम ही काम हैं। गोस्वामीजी बतलाते हैं या यों समझ लीजिए कि

काकभुशुण्डि गरुड़जी से कह रहे हैं–'कफ लोभ अपारा'। लोभ कफ के समान है। कफ बढ़ते-बढ़ते जब कंठ को धर लेता है, तो लोग कहते हैं कि अब तो कंठ बंद हुआ, अब ये चलेंगे। उसी तरह लोभ जब बढ़ता है और बढ़ते-बढ़ते कंठ तक आ जाता है, तो उसका अध्यात्म-ज्ञान जाना ही है।

मक्खी बैठी शहद पर, पंख गयी लिपटाय।
हाथ मलै और सिर धुनै, लालच बड़ी बलाय ॥

गृहस्थ बेचारे लालच में रहते हैं; क्योंकि उनको बच्चे को लिखाना-पढ़ाना, विवाह कराना, घर-द्वार बनाना; ये सब करना पड़ता है। लेकिन साधु-महात्मा भी अगर ध्यान-भजन छोड़कर हाय पैसा, हाय पैसा करने लगे, तो उसको भी एक दिन यम कंठ धरेगा। पर यह बहुत दुःख की बात है। ध्यान-भजन की कोई कीमत नहीं; लेकिन पैसे की कीमत देते हैं, तो क्या होगा? गृहस्थ करते हैं अपने बच्चे के लिए और साधु करते हैं अपने चेले के लिए; दोनों में क्या अंतर रहा? 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'। आज इतना हुआ और कल इतना होगा, इसी में लगा रहता है। गृहस्थ कमाता है, तो अपने बाल-बच्चे का भरण-पोषण करता है और कुछ शुभ कर्मों में भी खर्च करता है, कुछ साधु-महात्माओं को भी देता है। पर साधु-बाबाजी जमा ही करता जाय, कुछ खर्च न करे, तो पाप घेरेगा ही।

'क्रोध पित नित छाती जारा।' क्रोध है पितरोग। क्रोध व्यक्ति को अबोध कर देता है और प्रतिशोध की भावना उत्पन्न करता है। क्रोध एक प्रकार का नशा है। जैसे कोई नशा पान कर लेता है, तो उसे कोई सुध-बुध नहीं रहती है, स्व-पर का ज्ञान रहता नहीं है, उसी तरह जब क्रोध का नशा चढ़ता है, तो लोग स्व-पर का ज्ञान भूल जाते हैं। क्रोध के कारण स्वजन भी परजन हो जाता है, मित्र भी शत्रु हो जाता है। नशे में आदमी क्या बोलेगा, क्या करेगा, ठिकाना नहीं है; उसी तरह आदमी जब क्रोध में आ जाता है, तो वह क्या करेगा, क्या बोलेगा, कोई ठिकाना नहीं।

एक शराबी नशा में मस्त होकर बाजार से लौट रहा था। लड़खड़ाते हुए वह नाले में गिर गया। एक कुत्ता उसके मुँह को सूँघने लगा। अब वह बड़बड़ाता हुआ कहता है कि नगरपालिका का चेयरमैन कैसा है, दिनभर तो नाले को सड़क के किनारे रखता है, पर जब मेरे चलने का समय होता है, तब नाले को सड़क के बीच लाकर रख देता है। शराब के नशे में मस्तिष्क बिगड़ जाता है। अंग्रेजों का जमाना था। बनमनखी (पूर्णियाँ) में वैसा ही एक शराबी था। उसके सामने एक अंग्रेज की कोठी थी। वह नील का व्यापार करता था। जब शराबी नशा में मस्त हो जाता, तब कहता था–वह नील कोठीवाला जो साहब है, उसको बुलाओ। पूछो कि अपनी कोठी का कितना दाम लेगा। उस अंग्रेज का जो नौकर था, उसको अच्छा नहीं लगता था। उसने मालिक से कहा कि साहब! वह तो ऐसा-ऐसा बोलता है।

अंग्रेज ने कहा कि उसे पकड़कर लाओ मेरे सामने। उसे लाया गया। वह पीकर मस्त था। साहब ने पूछा–'तुम मेरी कोठी मोल लोगे?' उसने कहा, 'हाँ लेंगे।' पुनः शराबी बोला–'कितना दाम लेगा?' अंग्रेज ने कुछ बता दिया कि इतना दाम लेंगे, तुम्हारे पास है? उसने कहा, 'हाँ है; लेकिन आज नहीं, कल लूँगा।' जब नशा उतर गया, तो दूसरे दिन सिपाही उसे पकड़कर अंग्रेज के पास ले गया। अंग्रेज पूछता है–'तुमने तो कहा था कि कल आठ बजे दाम देंगे और कोठी खरीदेंगे। दाम लाओ।' बोला–'हुजूर की कोठी को कौन मोल लेनेवाला है। मोल लेनेवाला जो था, वह तो रात को ही चला गया।' गोस्वामीजी कहते हैं कि कफ, पित, और वात; जब ये तीनों रोग मिल जाते हैं, तो सन्निपात की बीमारी हो जाती है, जिससे बचना कठिन हो जाता है। उसी तरह काम, क्रोध और लोभ; जिसके पास ये तीनों हैं, तो आध्यात्मिक जगत् से वे गये गुजरे हैं–

विषय मनोरथ दुर्गम नाना।
ते सब सूल नाम को जाना ॥

इस तरह विविध रोगों का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने यहाँ तक कह दिया कि ये षट् विकार रोग सबको हैं; लेकिन विरले आदमी इस रोग को समझ पाते हैं।

मानस रोग कछुक मैं गाये।
हैं सबके लख बिरलन्हि पाये ॥

लोग शारीरिक रोग को तो दुःख मानते हैं; लेकिन काम, क्रोध या लोभ में फँसे हुए हैं, पर इनमें दुःख कहाँ मानते हैं। इसमें तो सुख मानते हैं। जैसे जलती हुई आग में घी डालते जाइए, ज्वाला और बढ़ती जाएगी। उसी तरह 'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।' भोग करते जाइए, पर तृष्णा की आग खत्म होने को नहीं है। लोग काम की निंदा करते हैं। क्रोध की उतनी निंदा नहीं करते हैं। कामना की पूर्ति होती है, मनोनुकूलता होती है, तो क्रोध नहीं होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–'कामात्क्रोधोऽभिजायते।' काम की पूर्ति नहीं होती है, तो क्रोध उत्पन्न होता है। इसलिए काम से क्रोध का स्थान बहुत ऊँचा है। बालपन में काम की उत्पत्ति नहीं होती है। युवावस्था में इसकी प्रबलता होती है और जैसे उम्र बढ़ती है, इसमें क्षीणता आती जाती है। बुढ़ापे में मन वही है, पर इन्द्रिय काम नहीं करती है। इसलिए वह काम का उपभोग कर नहीं सकता है। लेकिन आप देखेंगे कि क्रोध बचपन से ही शुरू हो जाता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, उसकी मात्रा भी बढ़ती जाती है। बुढ़ापे में तो और बढ़ जाती है। बच्चे को भूख लगती है, माँ आकर दूध पिलाती है। कभी माँ को देर हो जाए, तो बच्चा दूध नहीं पीता है, रूठ जाता है, क्रोध शुरू हो जाता है। क्रोध बचपन, जवानी के साथ बुढ़ापे में भी होता है; लेकिन काम की प्रबलता जवानी में रहती है, बचपन और बुढ़ापे में नहीं। दूसरी बात यह है कि नारी पुरुष पर काम-मोहित होती है और पुरुष नारी पर। पर नारी नारी पर और पुरुष पुरुष पर काम-मोहित नहीं होता। लेकिन क्रोध नारी नारी पर भी करती है और पुरुष पुरुष पर भी करता है। पुरुष नारी पर भी करता है और नारी पुरुष पर भी करती है।

मोह न नारि नारि के रूपा।
पन्नगारि यह नीति अनूपा ॥

यदि लोगों के बीच बैठे हैं और काम भावना जागृत हो गई, तो लोगों को देखकर उस भाव को दबा देते हैं। लेकिन हजारों आदमी रहे और क्रोध उत्पन्न हो जाए, तो मन माननेवाला नहीं है। सबके सामने क्रोध प्रकट हो जाएगा। क्रोध तो अपने परिवार में भी होता है, लेकिन अपने परिवार में कोई कामातुर नहीं हो सकता। गोस्वामीजी कहते हैं कि ये जो काम, क्रोध, मद, लोभ आदि मानसिक रोग हैं, लोग इसे रोग मानते ही नहीं हैं। विरले ही लोग जानते हैं कि ये रोग हैं और जब जानेंगे, तब न इलाज करवायेंगे। जब समझ रहा है कि भोग को भोग रहे हैं, तो क्यों इलाज कराएगा?

जाने ते छीजहिं कछु पापी।
नास न पावहिं जन परितापी ॥

जान लिया कि यह रोग है, तो विवेक से कुछ रुकावट आती है; लेकिन नाश नहीं होता, व्यक्ति को परिताप देते रहता है। नाश कब होगा? गो० तुलसीदासजी कहते हैं–

सदगुरु वैद्य वचन विस्वासा।
संयम यह न विषय कै आसा ॥

मन के इन रोगों की औषधि देनेवाले वैद्य सद्गुरु हैं। वे जो कहते हैं, उनके वचन पर विश्वास कीजिए और संयम भी कीजिए। दवाई दीजिए, संयम नहीं कीजिए, तो रोग छूटेगा? हमारे गुरुदेव कहा करते थे–

औषधि करै और पथ रहै, ताका वेदन जाय।

जो औषधि करते हैं और संयम से रहते हैं, उनका रोग नष्ट हो जाता है। सद्गुरु के पास जाएँगे, तो वे कौन-सी जड़ी–दवाई देंगे?

रघुपति भगति संजीवन मूरी।
अनूपान स्रद्धा मति पूरी ॥

पहले जो वैद्य लोग दवाई देते थे, उसके साथ वे अनुपान बतलाते थे। जैसे तुलसी रस, शहद आदि। सद्गुरु बतलाते हैं कि श्रद्धा विश्वास दृढ़ होना चाहिए, यही अनुपान है।

एहि बिधि भलेहि रोग नसाई।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाई ॥

सद्गुरु की शरण जाएँ, उनकी बतायी हुई युक्ति से साधना करें, विषयों से अपने मन को मोड़कर रखें, नित्य नियमित रूप से साधना करेंगे, तो कल्याण होगा। (यह प्रवचन महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में दिनांक १२.९.२००४ ई० को साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था। (शांति-सन्देश,अक्टूबर २०१५ ई०)

११५. हरि को भजै सो हरि का होई

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

यहाँ जितने हम सब उपस्थित हैं, एक-एक शरीर में हैं। हमलोगों के शरीर भिन्न-भिन्न हैं; लेकिन कहा जाएगा कि जितने हम सब हैं, सबका मनुष्य-शरीर है। शरीर है एक; लेकिन इसमें अवयव हैं अनेक। सिर है, आँख है, कान है, नाक है, मुँह है, हाथ है, पैर है, अंग-प्रत्यंग अनेक हैं। ये सब मिलाकर शरीर है। जितनी हमारी इन्द्रियाँ हैं, सबके भिन्न-भिन्न काम हैं। आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नासिका से गंध –साँस लेते हैं, मुँह से बोलते–भोजन करते हैं, हाथ से काम करते हैं, पैर से चलते हैं। शरीर एक है और अनेक इन्द्रियाँ अनेक काम करती हैं। सबका बँटवारा है। उसी तरह से इस संसार में कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय है, कोई वैश्य है, कोई शूद्र है; कोई हिन्दू है, कोई मुसलमान है, कोई जैन है, कोई बौद्ध हैं, कोई सिक्ख हैं आदि विभिन्न हैं। विभिन्न तरह के भी सब मानव-ही-मानव हैं। 'मानव मात्र जगते' हमलोग एक हैं।

हमलोगों के अलग-अलग इन्द्रिय के अलग-अलग काम हैं। हमारे दो हाथ हैं। जब हम शौच जाते हैं, बायें हाथ से धोते हैं। बायाँ हाथ के बाद दायाँ हाथ खाने का काम करता है। क्या हम बायें हाथ से घृणा करते हैं। उसी तरह से कोई पूजा-पाठ करते हैं, कोई खेती करते हैं, कोई नौकरी करते हैं, कोई रोजगार करते हैं, जीवन-यापन के लिए विभिन्न तरह के काम करते हैं। अगर कोई पखाना भी साफ करता है, तो वह छोटा कैसे हो जाएगा। आज अमेरिका कितना समृद्ध देश है। वहाँ क्या है, वहाँ छोटे-बड़े का कोई ताल्लुक नहीं है। मेहतर आता है कार से। साफ करके जिस घर में वह आया सफाई करने के लिए उस घर में टेबुल-कुर्सी लगी हुई है, उसी कुर्सी पर जाकर वह बैठता है और गृहपति के साथ बैठकर चाय-पानी करता है। उसी तरह जितनी जातियाँ हैं, ये कहने के लिए भिन्न-भिन्न हैं; लेकिन हम सब मानव हैं, कोई किसी से घृणा क्यों करे। संतमत बतलाता है–

'जात पात पूछै नहिं कोई,
हरि को भजै सो हरि का होई॥'
'वैष्णव जन तो तेने कहिये,
जे पीड़ पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये,
मन अभिमान न आणे रे॥'

कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं, सबके काम अपने-अपने, भिन्न-भिन्न हैं। एक बाबू के यहाँ एक मेहतरानी आई, साफ करने के लिए। साफ करके जा रही थी। बाबू ने मेहतरानी को बुलाया। बाबू पूछते हैं–'इतना पखाना साफ करती हो तुम, तुमको दुर्गन्धि नहीं लगती है?' वह कहती है–'बाबू! अपने बाल-बच्चे के पखाना साफ करने में किसी को दुर्गन्धि लगती है!' कितना विशाल हृदय है, बाल-बच्चे का पखाना समझती है।

एक पंडित थे, आचारी, स्वपाकी। अपने से बनाकर खाते थे। दूसरे का बना हुआ नहीं खाते थे। जिस किसी के यहाँ जाते थे, चौका लगा देते थे, ठीक कर देते थे। ये चौका पर बैठ जाते थे। अपने से रसोई बनाते थे और जो चौका लगा रहता था, जितने काम होते थे, सब दायें हाथ से करते थे। बायाँ हाथ चौका से बाहर रखता था। गृहपति ने देखा तो उसने पूछा–"पंडितजी! देखते हैं बायाँ हाथ चौका से बाहर किये हुए हैं, सो क्या बात है?"

पंडितजी बोले–"तू क्या जानेगा, मूर्ख है तू। अरे! यह बायाँ हाथ कहाँ-कहाँ जाता है, तुमको मालूम नहीं है! कितना अपवित्र है।" गृहपति ने कहा कि पंडितजी! जहाँ-जहाँ यह बायाँ हाथ जाता है, वह तो चौके पर है। कबीर साहब ने कहा–

आचारी बहु जग मिले, विचारि मिला न कोय।
कोटि आचारी राह वारिये, एके विचारि जो होय॥

विचारवान आदमी चाहिए। संत क्या कहते हैं–

साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार॥
केवल भक्ति पियार, साहिब भक्ती में राजी।

तजा सकल पकवान, लिया दासीसुत भाजी ॥
जप तप नेम आचार, करे बहुतेरा कोई ।
खाये शबरी के बेर, मुए सब रिषि मुनि रोई ॥
राजा युधिष्ठिर यज्ञ बटोरा जोड़ा सकल समाजा ।
मरदा सबका मान, श्वपच बिन घंट न बाजा ॥
पलटू ऊँची जाति कौ, जनि कोइ करै हंकार ।
साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार ॥

गीता में भगवान ने कहा है–'चातुर्मय मया सृष्टिः गुरु एव विहाय च।' साहब के दरबार में परमात्मा के दरबार में बस भक्ति की ही कीमत है। आप कोई भी जाति के हों–ब्राह्मण हों, क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र हों, हिन्दू हों, मुसलमान हों, जैन हों, बौद्ध हों, सिक्ख-ईसाई कोई भी हों; लेकिन यदि भक्ति नहीं है तो कुछ भी नहीं है। अगर भक्ति है जिस जाति में, वही सबसे बड़ा। भगवान जंगल गये थे। उसी जंगल में मातंग ऋषि रहते थे। उनका शरीर छूट गया था। शबरी रहती थी। वहाँ के जो उच्चवर्ग के लोग सब थे, आश्रम से हटा दिये थे बेचारी शबरी को। अलग में जाकर रहती थी। भगवान गये तो शबरी के यहाँ गये और शबरी का पूजन ग्रहण किये। उसमें जाति-पाँति की बात सुनी थी, लेकिन फिर भी जाकर 'खाये शबरी के बेर'। वहाँ जाकर जल से कुल्ला किये, शबरी के लाये जो फल थे, उन्होंने खाए। शबरी का सम्मान रखा भगवान ने।

जो मुनि लोग थे, उनके आश्रम पर भी गये। उनसे पूछा कि कहिये, आपलोगों को कोई तकलीफ तो नहीं है! कहा–कोई तकलीफ तो नहीं है; लेकिन हमलोगों को पानी बहुत दूर से लाना पड़ता है। भगवान ने कहा–आपका सरोवर तो नजदीक में ही है। वे लोग बोले–इसका पानी सड़ गया है। भगवान बोले–कब से सड़ गया है? उनलोगों ने कहा–थोड़े दिनों से। भगवान ने कहा–उसके सड़ने का कारण क्या हो गया था? वे बोले–जब शबरी को आश्रम से हटा दिया। शबरी पानी लाने के लिए तालाब पर जाती थी, उससे कहा कि तालाब तुमसे छूत जाएगा। बस क्या हुआ, उस दिन से पानी ही सड़ गया। तब बेचारी शबरी पानी जहाँ से लाती थी, वहीं से ये लोग भी लाते थे। तो कहा कि आप इतने बड़े-बड़े महात्मा लोग हैं, पानी सड़ गया तो क्या हो गया, आपलोग चरण दीजिए ना, पानी शुद्ध हो जाएगा। बोला– महाराज! हमलोगों के चरण से हो, तो पानी कब शुद्ध हो गया होता। आप ही चरण रख दीजिए, पानी शुद्ध हो जाएगा।

भगवान बोले–आप महात्मा हैं, इतना तप करते हैं आप, मुझसे क्या होगा। बोला–आप दीजिए न! भगवान ने चरण रखा, पानी जैसे का तैसे रहा। देखा, मैंने कहा था न कि मुझसे कुछ नहीं होगा। कहा–जैसे हो साफ कर दीजिए आप। बोला–शबरी को लाइए यहाँ। अब जिसको तिरस्कार करके हटाया गया था, उसको लाया जाता है। शबरी आती है। भगवान कहते हैं–थोड़ा पैर रख दो इस पानी में। जल में जैसे पैर रखती है शबरी, जल स्वच्छ हो जाता है।

शबरी को पति ने भी छोड़ दिया था कुरूपा के कारण, पर भक्ति करके इतनी बड़ी हो गई कि भगवान भी आदर देने लग गए। पलटूदासजी कहते हैं–'खाये शबरी के बेर मुए सब ऋषि मुनि रोई।'

राजा युधिष्ठिर यज्ञ, बटोरा जोड़ा सकल समाजा ।
मरदा सबका मान, श्वपच बिन घंट न बाजा ॥

राजा युधिष्ठिर ने बहुत बड़ा यज्ञ किया था और एक घंटा उसमें टाँग दिया था कि जब यज्ञ पूरा होगा, तो तीन बार घंटा बजेगा; लेकिन यज्ञ पूरा हो गया, घंटा एक बार भी नहीं बजा। युधिष्ठिर महाराज भगवान श्रीकृष्ण से बोले–यज्ञ तो पूरा हो गया, लेकिन घंटा अभी तक बजा नहीं। कहा–हाँ-हाँ, भोजन तो आपने बहुतों को कराया है, लेकिन संत का भोजन नहीं हुआ। बोला–संत कहाँ है, किनसे हम प्रार्थना करें? कहा–काशी में है श्वपच भगत, उसको लाइए। लाने हेतु गये भीम। भीम तो अपने बल के घमंड में थे। बोला–हम क्षत्रिय हैं, देवपुत्र हैं, राजा हैं और डोम के यहाँ भेजे हैं बुलाने के लिए। वह समझ गये। पूछा–कहाँ आये हो भीम! भीम ने कहा– आपको बुलाने के लिए। आप हमारे यज्ञ में चलिए। इनके मन में हुआ, अगर बाबाजी नहीं जाएँगे, तो भर पाँजा पकड़कर कहेंगे, क्या कहते हैं चलिए।

श्वपच ने कहा–अभी तो हम पूजा में बैठे हैं, हमारी सिमरनी वहीं दीवार में लटकी हुई है। जरा, दे

दो सिमरनी। जहाँ सिमरनी लटकी हुई थी, वहाँ पर गये। इनके मन में हुआ, डोम की माला है, उसको हाथ से कैसे छुएँ? तो एक अंगुली लगाते हैं, सिमरनी टस-से-मस नहीं होती है। दो अंगुली, तीन अंगुली, चार अंगुली, पाँचों अंगुली से खींचना चाहा है, सिमरनी टस-से-मस नहीं होती है। भले अपनी माला अपने से लेगा। बाबाजी अपने से उठे, तब माला लिये। जो बल का घमंड था, सो समाप्त हो गया।

जब पूजा समाप्त हुई, तब कहते हैं चलिए। वह कहता है–हम जाकर क्या करेंगे तुम्हारे यहाँ! राजा के यहाँ का भोजन हम नहीं करते हैं। राजा के यहाँ तरह-तरह के अन्न आते हैं। जहाँ बात होती है तरह-तरह की, वहाँ हम भोजन नहीं करते हैं। इनके मन में आग-बबूला हो गया कि डोम जाति, सबका छुआ खानेवाला और कहते हैं कि राजा के यहाँ नहीं खाते हैं। आ गया वापस और कहा–वह नहीं आता है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–युधिष्ठिर! आपके जितने भाई हैं, सभी घमंडी हैं, सभी ऐश्वर्य में एकदम माते हुए हैं। आप स्वयं जाइए। महाराज युधिष्ठिर स्वयं जाते हैं। विनयशील होकर प्रणाम करते हैं और कहते हैं–चलिए, हमारे यहाँ निमंत्रण है भोजन के लिए। राजा के यहाँ हम नहीं खाते हैं। राजा का अन्न अपवित्र रहता है। युधिष्ठिर महाराज ने हाथ जोड़कर कहा–महाराज! राजा का अन्न तो अपवित्र होता है, लेकिन आप भोजन नहीं कीजिएगा, तो पवित्र कैसे होगा! चलिए, आप भोजन कीजिए और पवित्र कीजिए। उनको लेकर आए।

इधर द्रौपदी के मन में था कि इतने लोग भोजन किये, तो घंटा बजा नहीं। ये कितने बड़े महात्मा हैं, जो आकर खाएँगे, तब घंटा बजेगा और हमारा यज्ञ पूरा होगा। खुशी से कितनी चीजें बनायीं अपने हाथ से। कितनी बनवायीं। बहुत तरह-तरह के व्यंजन, बहुत तरह की चीजें, मिठाइयाँ। साधु बाबा को बिठाया जाए भोजन के लिए। जब श्वपचजी महाराज बैठे भोजन के लिए, तो जितना था साग-सब्जी–सबको मिलाकर एक कर दिया और एक कौर मुँह में दिया। जैसे एक कौर मुँह में दिया, वैसे एक बार घंटा बज गया।

अब द्रौपदी के मन में हुआ, आखिर जाति का डोम, क्या बूझेगा, किसका क्या स्वाद होता है? इतनी मेहनत से बनायी थी, सब अलग-अलग खाता, सबका स्वाद देखता कैसा है, नहीं है। ये सब मिला-जुलाकर एक कर दिया। महात्माजी अंतर्यामी थे, पहुँचे हुए संत थे। इसका हाथ बंद हो गया। युधिष्ठिर महाराज बैठे हुए थे। बोले–महाराज! भोजन कीजिए, आपका हाथ क्यों रुक गया? वे बोले–रुक गया इसलिए कि संत का भोजन तो हो गया, अब जो भोजन होगा, वह डोम का होगा। बोले–महाराज! आपको डोम कौन कहता है! आप तो इतने बड़े संत हैं। इन सबके भोजन करने से घंटा नहीं बजा, आपके एक कौर से घंटा बज गया। बोला–देखो, कहते हो तो भोजन कर लूँगा, लेकिन घंटा नहीं बजेगा। संत अंतर्यामी होते हैं। सबके मन की बात जानते हैं। संत पलटू साहब कहते हैं–

मरदा सबका मान, श्वपच बिन घंट न बाजा ॥
पलटू ऊँची जाति कौ, जनि कोइ करै हंकार ।

ऊँची जाति के हैं, मन में यह अहंकार मत लाओ–'साहिब के दरबार में, केवल भक्ति पियार।' संत कबीर साहब ने कहा–

मोहे भावे ला भक्ति भीलिनियाँ के।
जोगीजी आए मुनिजी आए, घंटा बजौलन डोमिनियाँ के।

कहते-कहते कह दिया 'कहे कबीर सुनो भाई साधो, हमहुँ तो हैं जोलहिनियाँ के।' मीराबाई क्षत्रियानी थी; लेकिन रविदास से उन्होंने भजन-भेद लिया था, जो जाति के चमार थे। ईश्वर के दरबार में भक्ति चाहिए। आप जो कुछ भी हैं, अपने घर में हैं। जो कुछ भी होगा, साथ में जानेवाला नहीं है; लेकिन भक्ति आपके साथ में जाएगी। वही आपको परमात्मा के पास ले जाएगी। यह संतमत बतलाता है। आप क्षत्रिय हों, ब्राह्मण हों, वैश्य हों, शूद्र हों, हिन्दू हों, मुसलमान हों, जैन हों, बौद्ध हों, सिक्ख-ईसाई कोई भी हों–सब ईश्वर की भक्ति कीजिए, अपना कल्याण बनाइए। दूसरे का भी कल्याण होगा।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–११.०९.२००५ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

११६. परात्पर पुरुष से परे अविनाशी

'परात्पर' शब्द के अनेक अर्थों में परे-से-परे भी एक अर्थ होता है—अपर, पर तथा तदुपरि। ये तीन तत्त्व क्या हैं? श्रीमद्भगवद्गीता के अनुकूल कह सकते हैं—अपरा प्रकृति, परा प्रकृति और परमात्मा। श्रीमद्भगवद्गीता अ० १३/१-२ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन मिलता है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र नाम से कथन किया जाता है, इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ नाम से, उसके जाननेवाले पुरुष कथन करते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे भारत! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान; क्योंकि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। यथा अ० १५/१६-१७ में क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम की विस्तृत व्याख्या है। बतलाया गया है कि क्षर पुरुष नाशवान, अक्षर पुरुष अविनाशी और तदुपरि सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम है, यही परमात्मा है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

लोक में ये दो पुरुष क्षर और अक्षर है। सब भूत क्षर और कूटस्थ अक्षर कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

जो तीनों लोकों में प्रवेश करके इस संपूर्ण संसार को धारण कर रहा है, वह अव्यय ईश्वर तथा उत्तम पुरुष है और उसी को परमात्मा नाम से कथन किया गया है। मैत्रायण्युपनिषद् अ० १० तथा मुण्डकोपनिषद् मुण्डक ३, खण्ड २, श्लोक ८ में परात्पर पुरुष का प्रयोग परमात्मा के लिए किया गया है; यथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

अर्थात्—जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को त्यागकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।

चित्तादिसर्वहीनोऽस्मिपरमोऽस्मि परात्परः।

—मैत्रेय्युपनिषद्, अ० १०

मैं चित्तादि से रहित और परे-से-परे हूँ। संत दादू दयालजी ने तीन शून्यों—'सुन्नी सुन्न सुन्न के पारा' कहकर उसी परम प्रभु परमात्मा की ओर इंगित किया है।

संत सुन्दरदासजी ने ब्रह्म के परे परात्पर पुरुष की प्रतिष्ठा की है और उसको परमात्मा कहा गया है। उन्होंने उसकी क्रमबद्धतापूर्वक अच्छी मीमांसा की है। बतलाया है कि पृथ्वी के परे जल, जल के परे अनल, अनल के परे अनिल, अनिल के परे गगन और गगन के परे दशेन्द्रिय (पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं। इन इन्द्रियगण के परे अंतःकरण, अंतःकरण के परे तीन गुण (सत्, रज, तम), तीनों गुणों के परे अहंकार, अहंकार के परे महतत्त्व, महतत्त्व पर मूलमाया, मूलमाया के परे ब्रह्म (चेतनात्मक परा प्रकृति, अक्षर ब्रह्म) तथा इन सबके परे परात्पर पुरुष परमात्मा हैं। यथा—

भूमि पर अप आपहू के, परे पावक है।
पावक के परे पुनि, वायुहू बहत है॥
वायु के परे व्योम, व्योमहू के परे इन्द्री दश।
इन्द्रिन के परे अन्तःकरण रहत है॥
अन्तःकरण पर, तीनों गुण अहंकार।
अहंकार पर, महतत्त्व कूँ लहत है॥
महतत्त्व पर मूल माया, माया पर ब्रह्म।
ताहितें परातपर, सुन्दर कहत है॥

—संत सुन्दर दास

बंग योगी पंचानन भट्टाचार्य ने परमात्मा को गुरु-रूप में अथवा गुरु को परमात्मा के रूप में अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर देखा है। उन्होंने कहा—जो माया-रहित, त्रयतापहर्ता, ज्ञान-निधान, विश्वेश, निखिल विश्व के आधार, परात्पर, सर्वव्यापक, सत्य और सनातन है; रे मन! ऐसे गुरु–प्रभु का भजन करो।

भज रे मन गुरु निरंजन संताप हरण ज्ञान निकेतन।
जिनि विश्वेश्वर निखिल आधार,
परात्पर विभु सत्य सनातन॥

महर्षि मेँहीँ-पदावली में हम इसका सविस्तार वर्णन पाते हैं। यथा–

सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर औरु अक्षर पार में।
निर्गुण सगुण के पार में सत् असत् हू के पार में॥

अर्थात् अपरा प्रकृति, असत्, सगुण, जड़ और अक्षर है। परा प्रकृति सत्, निर्गुण, चेतन और अक्षर है। इन दोनों प्रकृतियों के पार में परमात्मा है। सभी संतों का यही ध्येय रहा है। प्रमाणार्थ कुछ संतों की वाणियाँ उद्धृत हैं। संत कबीर साहब की वाणी में हम कह सकते हैं–

सर्गुण की सेवा करौ, निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सर्गुण के परे, तहैं हमारा ध्यान॥

गुरु नानकदेवजी को भी यह स्वीकार है। उनकी वाणी में आया है–

निर्गुण-सर्गुण त्रिहु गुण ते दूरि।
नानक अलिप्तु रहिआ भरपूरि॥

संत गरीब दासजी ने निर्गुण और सगुण को परमात्मा की कला तथा महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने अंश कहा है। यथा–

निर्गुण सर्गुण सब कला, बहुरंगी बरियाम।
पिण्ड ब्रह्मांड पूरण पुरुष, अवगत रमता राम॥
–संत गरीबदासजी

है निर्गुण सगुण ब्रह्म दोउ अंश जाको।
समता न पाता कोई भी है वाको॥
–महर्षि मेँहीँ परमहंस

योगशिखोपनिषद् जो कि कृष्ण यजुर्वेद का अंश है) के अ० ५/५६-५८ में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहकर बताया गया है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥५६॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्॥५७॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥५८॥

गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव हैं। तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर कोई नहीं है। दिव्य ज्ञान के उपदेश देनेवाले उपस्थित प्रत्यक्ष परमेश्वर की भक्ति के साथ उपासना करे, तब वह (शिष्य) ज्ञान का फल प्राप्त करेगा। जैसे गुरु हैं, वैसे ही ईश हैं; जैसे ईश हैं, वैसे ही गुरु हैं; इन दोनों में भेद नहीं है; इस भावना से पूजा करे। संत कबीर साहब कहते हैं–

गुरु साहब तो एक है, दूजा सब आकार।
आपा मेटै गुरु भजै, तब पावै करतार॥

तथा–

गुरु साहब करि जानिये, रहिये शब्द समाय।
मिलै तो दंडवत् बंदगी, पल-पल ध्यान लगाय॥

गुरु नानकदेवजी ने गुरु को पारब्रह्म कहकर सदा नमस्कार करने का आदेश दिया है–'गुरु पारब्रह्म सदा नमस्कारउ।' (राग गोण्ड, महला ५) इतना ही नहीं, कहीं-कहीं संतों की वाणियों में हम गुरु को परमात्मा से भी बढ़कर पाते हैं। यथा–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय॥
–संत कबीर साहब

गोविन्द के किये जीव, जात है रसातल को।
गुरु उपदेशै सो तो, छूटै यम फन्द तें॥
गोविन्द के किये जीव, वश परे कर्मन के।
गुरु के निवारे सूँ, फिरत है स्वछंद तें॥
गोविन्द के किये जीव, डूबत भवसागर में।
सुन्दर कहत गुरु, काढ़ै दुख द्वन्द्व तें॥
औरहू कहाँ लौं कछु, मुख तें कहूँ बनाय।
गुरु की तो महिमा, अधिक है गोविन्द तें॥

संत की दृष्टि में परमात्मा के कारण ही जीव रसातल को जाता है। गुरूपदिष्ट ज्ञान को पाकर वह यम-फंद से छूट जाता है। तात्पर्य यह कि परमात्मा ने जीव को कर्म करने की स्वतंत्रता दे दी है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥

इसलिए जीव स्वच्छन्द होकर निषिद्ध कर्मों को करता है, परिणामस्वरूप वह नरक में पड़कर यम की यातना पाता, कष्टों को सहता और दुर्गति को पाता है; किन्तु पाप कर्मों (झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार) से रहित होकर सदाचार समन्वित होकर भगवद्भजन करके वह यम-पाश को नाश कर आत्मलाभ कर लेता है। परमात्मा के कारण जीव कर्माधीन होता है; किन्तु गुरु-कृपा से वह कर्मबंधन

से मुक्त होता है। परमात्मा के कारण जीव भवसागर में गोता लगाता है यानी आवागमन के चक्र में पड़ता है; परन्तु गुरुदेव अपनी अनुकम्पा से उसको द्वन्द्व से रहित कर परमात्म-पद में स्थित करा देता है। इसलिए गुरु की महिमा गोविन्द की महिमा से स्वाभाविक ही विशेष है। गुरु भक्तिन सहजोबाई कहती हैं–'परमेसुर से गुरु बड़े, गावैं वेद पुरान।' अपनी वाणी में उन्होंने एक स्थल पर ऐसा भी कहा है–

राम तजूँ पै गुरु न विसारूँ ।
गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं ।
गुरु ने आवागमन छुटाहीं ॥
हरि ने पाँच चोर दिये साथा ।
गुरु ने लई छुटाय अनाथा ॥
हरि ने कुटुँब जाल में गेरी ।
गुरु ने काटी ममता बेरी ॥
हरि ने रोग भोग उरझायौ ।
गुरु जोगी कर सबै छुटायौ ॥
हरि ने कर्म भर्म भरमायौ ।
गुरु ने आतम रूप लखायौ ॥
हरि ने मो सूँ आप छिपायौ ।
गुरु दीपक दे ताहि दिखायौ ॥
फिर हरि बंधमुक्ति गति लाये ।
गुरु ने सबही भर्म मिटाये ॥
चरणदास पर तन मन वारूँ।
गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ ॥

अर्थात् राम का त्याग किया जा सकता है, गुरु का नहीं। किसी ने जिज्ञासा की–ऐसा क्यों? इसका उत्तर उन्होंने दिया–हरि जीव को आवागमन में डालते हैं, गुरु भवचक्र मिटाते हैं। हरि जागतिक जंजाल में फँसाते हैं, गुरु उससे छुटकारा दिलाते हैं। हरि कर्म-भ्रम के जाल में बाँधते हैं, गुरु उससे मुक्त कराते हैं। हरि ने अपने स्वरूप को गुप्त करके रखा और गुरु ने आत्मदृष्टि देकर प्रगट कर दिखला दिया आदि। महर्षि मेँहीँ-पदावली में है–

नमो-नमो सतगुरु नमो, जा सम कोउ न आन।
परम पुरुष हू तें अधिक, गावें सन्त सुजान ॥

अर्थात् ऐसे सद्गुरु को मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ, जिनके समान दूसरा कोई (हितैषी) नहीं है। उनकी महिमा परमात्मा से भी अधिक है, ऐसा सुन्दर ज्ञान रखनेवाले संतजन गाते हैं। तथा–

अति पावन गुरु मंत्र, मनहिं मन जाप जपो ।
उपकारी गुरु रूप, को मानस ध्यान थपो ॥१॥
देवी देव समस्त, पुरण ब्रह्म परम प्रभू ।
गुरु में करैं निवास, कहत हैं सन्त सभू ॥२॥
प्रभुहू से गुरु अधिक, जगत विख्यात अहैं ।
बिनु गुरु प्रभु नहिं मिलैं, यदपि घट माँहि रहैं ॥३॥
उर माँहीं प्रभु गुप्त, अँधेरा छाइ रहै ।
गुरु गुर करत प्रकाश, प्रभू को प्रत्यक्ष लहै ॥४॥
हरदम प्रभु रहैं संग, कबहुँ भव दुख न टरै ।
भव दुख गुरु दें टारि, सकल जय जयति करै ॥५॥
तन मन धन को अरपि, गुरू-पद सेव करो ।
'मेँहीँ' आज्ञा पालि, दुस्तर भव सुख से तरो ॥६॥

बीसवीं सदी के महान संत सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज यद्यपि संतों की वाणियों से पूर्ण सहमत हैं, तथापि उनसे जिज्ञासा की जा सकती है कि इस संदर्भ में आपका क्या मत है? समाधान की भाषा में उन्होंने उत्तर दिया–संतों की वाणियाँ ध्रुव, अटल और अकाट्य हैं। परम प्रभु परमात्मा की अपेक्षा गुरु की महिमा अधिक है, यह बात अतिशयोक्ति नहीं, संसार में विख्यात है। जब उनसे निवेदन किया गया कि इसका कारण समझाने की कृपा की जाए, तो उनका उत्तर था–देखिए, परम प्रभु परमात्मा हमारे शरीर के अंदर निवास करते हैं, पर गुरु-कृपा के बिना प्रत्यक्ष नहीं होते। हृदय में परमात्मा छिपे हुए हैं, फिर भी उसमें अंधकार छाया हुआ रहता है, गुरु की सद्युक्ति–क्रिया-विशेष प्राप्त कर साधना करने से ही अंतःकरण प्रकाशित होता है और परमात्मा की प्रत्यक्षता होती है और भी देखिए, जब से सृष्टि हुई है और परमात्मा ने जीव का सर्जन किया है, प्रत्येक चर-अचर के अंग-संग वे सतत निवास करते हैं; किन्तु अबतक किसी को भवदुःख आवागमन (जन्म-मरण) का चक्र नहीं मिटा। इस दुस्सह दुःख को संत सद्गुरु दूर कर देते हैं। सभी संतों का कथन है कि सभी देवताओं के साथ पूर्ण ब्रह्म और परम प्रभु परमात्मा इस शरीर में वास करते हैं, इसकी संपुष्टि उपनिषद् भी करती है।

देहस्थाः सर्व्वविद्याश्च देहस्थाः सर्व्वदेवताः।
देहस्थाः सर्व्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ८॥
–ज्ञानसंकलिनीतंत्र

इस देह में सब विद्या, सब देवता और सब तीर्थ विराजमान हैं। केवल गुरु के उपदेश से ही देहस्थित ये सब विद्या, देवता और तीर्थ जाने जाते हैं।

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ से जल डालने से संपूर्ण वृक्ष हरा-भरा, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है, उसी प्रकार एक संत सद्गुरु की पूजा से समस्त देवी, देव और परम प्रभु परमात्मा की पूजा हो जाती है। इससे समस्त देवी-देव प्रसन्न हो जाते हैं, इसलिए अपने तन, मन, वचन और धन को गुरु चरणों में अर्पण कर उनकी सेवा करो। उनके आदेशों का पालन करते हुए गुरु-प्रदत्त पवित्र मंत्र का मानस जप करो और उनके पावन पार्थिव पिण्ड का मानस ध्यान करो, पश्चात् दृष्टि-साधन और नादानुसंधान की साधना करो। इस कठिन संसार-सागर को सुखपूर्वक पार कर जाओगे।

विद्या-वरदा शारदा, चतुर्मुख ब्रह्मा, पंचमुख शिव, षणमुख कार्तिकेय और सहस्त्रमुख शेष भी जिनकी महिमा गाकर निःशेष नहीं कर सकते, तो उनसे विशेष और कोई क्या कुछ कह सकते हैं।

संत कबीर साहब गुरु गुण-गाथा गाते अघाते नहीं, फिर भी अंत में वे एक ही साखी में सारी बातें कहकर मौन धारण कर लेते हैं, उनकी लेखनी की गति अवरुद्ध हो जाती है।

सब धरती कागज करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुँद की मसि करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय॥

और गुरु नानकदेवजी कहते हैं–

'गुरु पूरे की बेअंत बड़ाई।'

वास्तविक बात तो यह है कि जो अनंत स्वरूपी सर्वेश्वर का साक्षात् कर अनंतस्वरूप हो जाते हैं, उनकी गुण-गाथा गाकर कोई अंत कैसे कर सकते हैं। अतएव उनकी जितनी महिमा गाई जाए, थोड़ी ही होगी।

गुरु गुण अमित अमित को जाना।
संक्षेपहिं सब करत बखाना॥

(शान्ति-सन्देश, जून २००५)

११७. अपने अन्दर दीप जलाएँ

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

आज कार्तिक मास के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी है। कोई इसे धनतेरस भी कहते हैं। आगामी कल चतुर्दशी (यमदीरी), फिर परसों अमावस्या। अमावस के दिन वैदिक धर्मावलंबी दीपावली मनाते हैं। विद्वज्जन का कथन है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता। दीपावली जो मनाई जाती है, इसका कारण क्या है। यह एक पर्व है, त्योहार है। बड़े उल्लास से मनाया जाता है। इसके तीन कारण बताये गये हैं। इसमें एक पौराणिक दृष्टि है, दूसरी लौकिक दृष्टि और तीसरी आध्यात्मिक दृष्टि है। पौराणिक दृष्टि यह है–एक राजा की सात पुत्रियाँ थीं। राजा अपनी पुत्रियों से एक-एक करके पूछते हैं कि कहो–तुम किसके भाग्य से खाती-पीती हो? लड़कियाँ कहती हैं–पिताजी! आप ही की कृपा से खाते-पीते रहते हैं। उसमें एक छोटी लड़की थी, वह कहती है–पिताजी! कोई किसी के भाग्य से नहीं खाता है, सब अपने-अपने भाग्य की कमाई से खाता है। यह सुनकर राजा के मन में बड़ा दुःख हुआ। सब बेटी तो हमारी प्रशंसा करती हैं और यह कहती है कि हम अपने भाग्य से खाते हैं।

राजा ने सबका विवाह अच्छे-अच्छे घरों में कर दिया, परन्तु जो छोटी बेटी थी, उसका एक लकड़हारे के साथ कर दिया। लकड़हारा उस लड़की को लेकर अपना घर गया। जंगल से लकड़ी काटता था और बेचकर अपना भरण-पोषण करता था। ऐसा ही एक समय आया–कार्तिक तीर्थ तेरस का। रानी के मन में हुआ कि नदी स्नान करें। अपनी सहेलियों के साथ, बहिन के साथ गई नदी में स्नान करने। बहुमूल्य हार उसके गले में थी। गोल करके दाई को दे दिया कि तुम देखना, मैं स्नान करके आती हूँ। दाई ने हार को नीचे में रखकर बैठ गई। जंगल का किनारा था ही, स्नान करने गई वह। एक चील मँडरा रही थी। उस चील की नजर पड़ी उस हार पर। उसके मन में हुआ कि मरा हुआ साँप है, झपट्टा मार करके हार लेकर चील उड़ गई। वह रानी आई। खोजती है अपना हार। लेकिन हार तो चील लेकर चली गई। बहुत कीमती हार थी। हार के

नहीं मिलने के कारण बहुत दुःखी हुई बेचारी। आकर राजा से कहा–वह हार लाकर दीजिए, नहीं तो में खाऊँगी नहीं। भूखी मर जाऊँगी। लौट करके उपवास पर गई। उपवास के अनशन में जबतक हार नहीं मिलेगी, तबतक आहार नहीं करेंगे। राजा सोचने लगा कि अब क्या करें। नगर में राजा ने ढिंढोरा पीटवा दिया कि जिसको हार मिले, वह लेकर आए। उसको मुँहमाँगा इनाम दिया जाएगा। चील तो हार लेकर उड़ गई और गाछ की डाल पर बैठकर चोंच मारती है खाने के लिए; लेकिन वह खाने की चीज है नहीं। वह उस हार को छोड़ देती है। वह हार झोंपड़ी पर गिरती है और वहाँ से खिसक करके नीचे आँगन में आ जाता है। लड़की देखती है कि यह तो हमारे माँ की हार है। रख लेती है। राजा ने ढिंढोरा पीटवाया, तो लड़की पहुँचती है अपने पिता के यहाँ और कहती है कि पिताजी! मेरे पास हार है। राजा को खुशी हुई, रानी भी खुश हो गयी। राजा ने कहा–माँग, तू क्या माँगती है। वह बोली–कल अमावस है। सारी रात अँधेरा-ही-अँधेरा रहेगा। आप आज ही ढिंढोरा पिटवा दीजिए। कल मायके राज्य में कोई दीपक न जलाए, आप भी नहीं जलाएँगे। ढिंढोरा पिटवा दिया–कोई दीपक नहीं जलाएगा। इधर यह अपना घर-आँगन लीप-पोतकर चारो ओर दीपक भी जलाई। अब लक्ष्मी आई घूमने के लिए तो कहाँ जाएगी, किसके यहाँ जाएगी! प्रकाश इसी के यहाँ था, तो लक्ष्मीजी उसके के यहाँ चली गई। इस कारण भी लोग लक्ष्मी-पूजन करते हैं। आँगन-साफ करके, लीप करके दीपक जलाते हैं कि लक्ष्मी आएगी। रात को कहा करते हैं–'घर घर लक्ष्मी घर आवे, दरिद्र से बाहर जावे।'

पौराणिक कथा के आधार पर दीपावली खेलते हैं। लौकिक दृष्टि से यह है बरसात में कीड़े-मकोड़े बहुत हो जाते हैं, घर में जाली लग जाती है। बहुत तरह के कीड़े सब आकर घर में वास करने लगते हैं। घर के बाहर द्वार में कजली पड़ जाती है। देखने में अच्छा नहीं लगता है। एक पर्व के नाम पर घर की भी सफाई हो गई। जो दृष्टियोग की क्रिया करते हैं, जिसके दोनों घाटों को मिलाकर एक करते हैं, तो विन्दु उत्पन्न होता है, दो रेखाओं का मिलन एक विन्दु पर होता है। दृष्टि की दोनों धारें एक विन्दु पर टिकती हैं। विन्दु क्या है? लक्ष्मी का रूप है। उपनिषद् में आया है–

विन्दुनाद महालिंगं विष्णुलक्ष्मीनिकेतनम्।
देहं विष्णवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्॥४॥

अर्थ–विन्दुनाद-रूप जो महालिंग है, वही विष्णु और लक्ष्मी का घर है। इस देह को विष्णु-मंदिर (ठाकुरवाड़ी) कहते हैं। सभी प्राणियों को इसमें सिद्धि मिलती है।

जो विन्दु की उपासना करते हैं, लक्ष्मी उसके घर स्वतः आएगी। बुलावे की जरूरत नहीं है। अगर लक्ष्मी आ जाएगी, तो विष्णु कहाँ रहेगा, फिर उनको भी वहाँ आना है और जो नाद की उपासना करते हैं, नाद की उपासना–विष्णु की उपासना हो गई। तब विष्णु को छोड़कर लक्ष्मी कहाँ जाएगी। लक्ष्मी भी तो वहीं आ जाएगी। इसलिए विन्दु और नाद की उपासना करें, इससे अपने अंदर में ज्योति होती है, प्रकाश होता है। उसके घर में लक्ष्मी की कमी नहीं होती है, धन्य-धान्य से परिपूर्ण हो जाते हैं। इसलिए अपने भीतर के पहले कीड़े-मकोड़े जो हैं–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य–इन सब विकारों को शमन करो। कैसे होगा? जब दीपक जलेगा, तभी कीड़े मरेंगे। जब अंदर में प्रकाश होगा, तभी यह कीड़े-मकोड़े मरेंगे। विकार जाता रहेगा, लालच जाता रहेगा। इससे दुःखी होंगे, सुखी नहीं होंगे। जितना लालच करोगे, लोभ करोगे कि और हो, और हो, सुख की कामना करोगे, उतना ही दुःखी होओगे। इसलिए इन सबको छोड़ो और भजन करो। भजन करने से ही लक्ष्मी की पूजा होगी, विष्णु भगवान मिलेंगे, यह जीवन कल्याणमय होगा और परलोक भी कल्याणमय होगा। संतमत कहता है कि जो पौराणिक है, इस दृष्टि से दीपावली कीजिए, चाहे लौकिक दृष्टि से दीपावली कीजिए, चाहे आध्यात्मिक दृष्टि से अपने अंदर दीपावली कीजिए; लेकिन दीपावली कीजिए। एक बार भी अपने अंदर प्रकाश हो गया 'सकल भूलिबे एक सोवाकार'। अगर एक बार अंदर में प्रकाश हो जाए, भविष्य उज्ज्वल हो जाता है। इसलिए दीपावली अपने अंदर कीजिए मन लगाकर। यह लोक-परलोक दोनों कल्याणमय होगा। आज रविवार है, गुरु-कीर्तन कहिए, फिर आरती। (स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–३०.१०.२००५ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

११८. परम पुरुषहु तें अधिक गावैं संत सुजान

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

परम श्रद्धेय, परम पूज्य बाबा देवी साहब ने अपने एक शिष्य जिनका नाम धीरजलाल था, के नाम से पत्र लिखा। कुशल-मंगल, आशीर्वाद के बाद उन्होंने लिखा कि संतमत का बहुत छोटा सिद्धांत है और वह है–गुरु, ध्यान और सत्संग। संतमत में गुरु की मान्यता है। गुरु से बढ़कर और किसी की मान्यता नहीं है। सच्छास्त्रों में कहीं गुरु के समान कहीं राम भगवान में या परमात्मा को कहा गया है। कहीं राम के अतिरिक्त राम कर दासा कहा गया है। कहीं पर परमात्मा के समकक्ष में गुरु को माना गया है। कहीं परमात्मा से भी अधिक गुरु को माना गया है।

परम पुरुषहु ते अधिक गावें संत सुजान।
–महर्षि मेँहीं-पदावली

गुरु किसको कहते हैं और शिष्य किसको कहते हैं, इस संबंध में संत कबीर साहब ने कहा है–

गुरु नाम है ज्ञान है, शिष्य सिख ले सोय।
ज्ञान मरजाद जाने बिना, गुरु अरु शिष्य न कोय॥

गुरु को ज्ञानवान होना चाहिए, सच्चरित्र होना चाहिए, आचारवान होना चाहिए। परमुखापेक्षी नहीं होना चाहिए, पवित्र जीवन उनका होना चाहिए, आत्मनिष्ठ होना चाहिए। जिस गुरु में आत्मज्ञान नहीं है, वह गुरु नहीं है। जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता है, वह शिष्य भी नहीं है। धौम्य ऋषि थे। उन्होंने अपने शिष्य उपमन्यु से कहा–जाओ, गायें चराओ। चला गया वह गाय चराने के लिए; लेकिन उसके खाने की व्यवस्था कुछ नहीं, तो बेचारा गाँव में जाकर भिक्षा माँगकर खाता था। गायें चराता था दिनभर, शाम में ले आता था।

कई दिनों के बाद धौम्य ऋषि ने पूछा कि बच्चे! तुम्हारे खाने की व्यवस्था तो कुछ नहीं है, लेकिन फिर भी तुम हृष्ट-पुष्ट हो। क्या खाते हो? उसने कहा कि गाँव जाकर भिक्षा माँग लेता हूँ। धौम्य ऋषि ने कहा कि अरे! जो कुछ तुम माँगता है, वह तो मेरा हिस्सा हुआ। मैं जो दूँगा, वह तुम्हारा हिस्सा होगा। भिक्षा माँगकर मुझे दिया करो। जो भिक्षान्न मिलता था, गुरु को दे दिया जाता था। फिर गुरु कुछ नहीं देते थे। कुछ दिन फिर बीत गये। इसी तरह फिर कुछ दिनों के बाद धौम्य ऋषि ने पूछा कि अरे! भिक्षान्न तो मुझे दे देता है, तुम खाते क्या हो? उसने कहा कि फिर दोबारा माँग लेता हूँ। गुरुजी ने कहा कि यह तो तुम्हारा पाप है। एक बार भिक्षा माँगता है, फिर दूसरी बार भिक्षा जो माँगता है, वही दूसरे दिन की भिक्षा हो जाएगी। ऐसा मत करो। उपमन्यु की दूसरी बार भिक्षा माँगना भी बंद कर दिया। तब क्या करे बेचारा! जो गाय दूध देती थी, उसने दूध को पी लेता था। कुछ दिनों के बाद पूछा गया कि अरे! तुम क्या खाते हो? उसने कहा कि गाय जो दूधारु होती है, उसका दूध पी लेता हूँ। गुरुजी बोले, गाय का दूध उसके बछड़े के लिए है और तुम उसका दूध पी लेता है। बछड़े का हिस्सा तुम पीते हो, यह तो उचित नहीं है। तुमको बछड़े का दूध नहीं लेना चाहिए। अब उसका दूध पीना भी बंद।

कुछ दिनों के बाद पूछा कि अब क्या करते हो, कैसे खाते हो, कैसे रहते हो? उसने कहा–बछड़े जो दूध पीते हैं, उसके मुँह में जो फेन लगा रहता है, वही चाट लेता हूँ। गुरुजी ने कहा, 'अरे! बछड़े दयालु होते हैं, कोमल हृदय का होता है। वह जो पीता है, तुम उसका मुँह चाटता है। वह अपने पिये हुए दूध का झाग बना देता है तुम्हारे लिए। वह भी तुमको नहीं लेना चाहिए। वह भी बंद हो गया। अब बिना खाये-पिये रहने लगा। जंगल में आक का गाछ होता है। आक के गाछ में दूध होता है। वह उसकी टहनी तोड़कर दूध पीने लगा, लेकिन वह इतना विषैला होता है कि उस बेचारे की दोनों आँखें चली गयीं। सूझने नहीं लगा। गाय चराते-चराते एक दिन कुँआ में गिर गया, लेकिन उसमें पानी नहीं था। सूखा कुँआ था। शाम में गाय सब लौटकर चली आयीं, पर इसका पता नहीं।

धौम्य ऋषि ने अपने शिष्यों से पूछा कि गायें तो चली आयीं, पर उपमन्यु नहीं आया। वह कहाँ है? वह तो आज नहीं आया है। गये खोज करने। कहीं नहीं दिखाई देता है, तो नाम लेकर पुकारने लगा

जंगल में। जहाँ पर कुआँ था, वहाँ आदमी गया, तब पता चला कि यहाँ है। कुआँ से निकाला गया, फिर ऋषि ने हृदय से लगाया। ऋषि ने अश्विनीकुमार का आह्वान किया। उसके द्वारा उसको नेत्र प्रदान किया गया और अपने हृदय से लगाकर आत्मज्ञान दे दिया। गुरु की योग्यता यह होती है। गुरु और शिष्य का यह व्यवहार है! कितना भी कष्ट गुरु दें, उसे सहें, शिष्य की योग्यता यह होती है,

जो गुरु झिड़के लाख, तो मुख नहीं मोड़िये।
गुरु से नेह लगाय, सबन सों तोड़िये॥

हमलोग अगर गुरु-शिष्य का मान नहीं रखें, व्यवहार नहीं करें, तो दूसरा कौन करेगा! तब सत्संग करने से क्या लाभ होगा। गुरु-सेवा में रहने से लाभ ही क्या हुआ। जो गुरु का आदर्श नहीं दे सकते हैं सत्संगी बनकर, साधु बनकर या गृहस्थ में ही रहकर अनुशासन का पालन नहीं करते हैं, वह शिष्य कैसा! इसलिए गुरु की आज्ञा के अंदर रहना चाहिए। गुरु की जो आज्ञा हो, उसका पालन करना चाहिए। उन्हीं के (धौम्य ऋषि के) दूसरे शिष्य थे आरुणि। उनको बतलाया गया–तुम जाओ, वर्षा हुई है, खेत से पानी बह रहा है। टूटे हुए मेड़ को बाँध देना, फसल बोयेंगे। वह गया। बाँध बाँधा; लेकिन एक जगह पानी का वेग इतना तेज था कि वह मिट्टी काटकर दे और पानी बहाकर ले जाए। बार-बार मिट्टी काटकर दे, पानी बहाकर ले जाए। अब देखा कि कोई उपाय नहीं है। स्वयं सो गया, जहाँ पानी की तेज धारा थी। पानी के धार पर सोने से पानी रुक गया।

शाम हुई। वह नहीं आया। शिष्य को गुरु की चिंता हुई। गया खोजने के लिए। देखता है कि वहाँ सोया हुआ है। बोला–क्यों लेटा हुआ है? बोला–क्या करें, आपने आज्ञा दी थी पानी बहने न पाये। मैं तो मिट्टी काटकर देता था और पानी बहाकर ले जाता था। कितना भी प्रयास किया, लेकिन पानी रुक नहीं सका, तो मैं क्या करता। इसलिए लेट गया। उनको भी उन्होंने उठा लिया। दिल से लगाकर आत्मज्ञान दे दिया। तो गुरु की मर्यादा समझना चाहिए, व्यवहार रखना चाहिए। आदर्श रखना चाहिए, तभी अपना भी कुशल है और दूसरे का भी कुशल है। आज रविवार है, गुरु-कीर्तन कहिए, फिर आरती।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–१८.१२.२००५ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

११९. जहाँ मैं रहूँगा, वहाँ आप रहेंगे

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

संत-महात्माओं, राजा-महाराजाओं, महापुरुषों की जयन्ती मनायी जाती है। मैं तो कुछ भी नहीं, एक छोटा-सा साधु हूँ। मेरे नाम जयन्ती, यह शोभनीय नहीं है, फिर भी आपलोगों की श्रद्धा है, भक्ति है, इसलिए आपलोगों को मैं बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। मेरे जीवन का पूर्व भाग अध्ययन और अध्यापन में गया। गुरु महाराज के दर्शन १९३९ ई० में हुए। आता-जाता रहा, दर्शन होते रहे। १९४९ से १९८६ के ८ जून तक यानी जबतक उनका पार्थिव पिंड रहा, उनकी सेवा में रहा। सेवा में क्या रहा, सेवा तो नाम का था। उनके संग में मैं सेवा करने के लिए सीखा, अब अगले जन्म में उनकी सेवा करूँगा। जैसा कि उन्होंने कहा था कि 'जहाँ मैं रहूँगा, वहाँ आप रहेंगे।' जहाँ वे रहेंगे, मेरे शरीर छूटने के बाद जहाँ कहीं भी जन्म होगा, फिर उनकी शरण में उपस्थित हो जाऊँगा और सेवा में संलग्न हो जाऊँगा। उन्होंने जो ज्ञान दिया है, बतलाया है कि ईश्वर-भक्ति में कल्याण है, इसलिए ईश्वर की भक्ति करो। सदाचार का पालन करो और परमुखापेक्षी मत बनो, स्वावलंबी जीवन जियो। परमात्मा की खोज कहीं बाहर करने की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा कहो, गॉड कहो, अल्लाह कहो, कहने के लिए जो कुछ भी समझ में आया, कह दो; लेकिन वह एक-ही-एक है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' वह एक ही है, विद्वज्जन विविध नामों से अभिहित करते हैं। वह प्रभु–

बेहोशिये इन्सान से यह ख्याल जुदा है।
जाहिर में है मुहम्मद बातिन में खुदा है॥

अगर खुद को ढूँढ़ना चाहते हो, अल्लाह को

पाना चाहते हो, परमात्मा के दर्शन पाना चाहते हो, तो कुछ करना नहीं है मात्र बहिर्मुख से अंतर्मुख होना है। एक गृहस्थ ने आकर एक संत से कहा कि आप इतने बड़े संत हो गये, कैसे हो गये! हम तो गृहस्थ हैं, कुछ हमको भी बताइए। संतजी ने कहा कि कल ८ बजे दिन में आना। दूसरे दिन वह भक्त ८ बजे पहुँच गया। उन्होंने देखा कि जो संतजी थे, वे स्वयं खेत से बिचड़ा उखाड़ते थे और दूसरे खेत में लगाते थे। भक्त ने कहा—महात्माजी! आपने तो मुझे बुलाया था ८ बजे, कुछ उपदेश देंगे। आप तो स्वयं व्यस्त हैं कार्य में, मुझे क्या ज्ञान देंगे! संतजी बोले कि तुम्हारे लिए यह उपदेश है। देखते हो न, एक खेत का बीज दूसरे खेत में बो देता हूँ। गाछ उखाड़ता हूँ इधर से, उधर लगा देता हूँ। यह मन जो तुम्हारा दुनिया में गड़ा हुआ है, उसको निकालकर परमात्मा में जोड़ो।

निज तन में खोज सज्जन, बाहर न खोजना।
अपने ही घट में हरि हैं, अपने में खोजना॥

संत कबीर साहब कहते हैं—

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वह दास की, जा घट परगट होय॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥

'सब उर बासी' सबके हृदय में रहनेवाले को हमलोग खोजें कहाँ, तो गुरुनानकदेवजी महाराज कहते हैं— काहे रे वन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई॥

किस तरह?

पुहुप मधि जिउ बासु वसतु है मुकर माहिं जैसे छाई॥
तैसे ही हरि बसे निरंतरि घटि ही खोजहु भाई॥
बाहरि भीतरि एको जानहु इहु गुर गिआन बताई॥
जन नानक बिनु आपा चीनै मिटै न भ्रम की काई॥

जितने संत हुए सबने एक स्वर से यही कहा कि प्रभु की खोज अपने अंदर करो। जब वे अपने अंदर में मिल जाएँगे, तब 'बाहरि भीतरि एको जानहु।' जबतक अपने अंदर नहीं मिलेंगे, तबतक बाहर दुनिया में कहीं नहीं मिलेंगे। इसलिए अंदर की खोज करो। उसके लिए चाहिए बतलानेवाले, जिन्होंने प्राप्त कर लिया है। वे बतलानेवाले ही संत सद्गुरु होते हैं। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतिगुर सेवे जोगु न होई।
बिनु सतिगुर भेटे मुकति न कोई॥
बिनु सतिगुर भेटे नामु पाइआ न जाइ।
बिनु सतिगुर भेटे महा दुखु पाइ॥
बिनु सतिगुर भेटे महा गरबि गुबारि।
नानक बिनु गुर मूआ जनमु हारि॥

जो संत सद्गुरु होंगे, वे बतलाएँगे तुम्हारे अंदर के मार्ग को।

क्यों भटकता फिर रहा तू, ये तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है, दिलवर पे जाने के लिए॥

वही शहरग, जिसको सुषुम्ना कहते हैं, जिसको झीनामार्ग कहते हैं, जिसको सूक्ष्ममार्ग कहते हैं। जिसकी चर्चा पूर्व वक्ता ने की थी कि वह हमको मिल जाए, वह तो मिला दिया है, बता दिया है; लेकिन देखने की तो आँख आपको चाहिए। आईने में काजल लगा हुआ हो, तो अपना चेहरा क्या देखेंगे! आईने में जो काजल लगा हुआ है, साफ कर दीजिए, देखने में साफ आ जाएगा।

जो देखा चाहिए तो दर्पण माँजत रहिए।
जब दर्पण लागि काई तो दरस कहाँ ते पाई॥

झीना-द्वारा बतला दिया गया है, वह कहाँ पर है; लेकिन खोज करना आपको है, दूसरा कोई खोज नहीं देगा। किसी के बदले परीक्षा देकर उत्तीर्ण हो जाएगा, सो नहीं होगा। किसी के पेट में दर्द है, कोई दूसरा दवा खा लेगा, तो पेट का दर्द छूट जाएगा, सो नहीं होगा। किसी को भूख लगी है, उसके बदले कोई खा ले, सो नहीं होगा। भूख लगी है, तो स्वयं खाना होगा। बीमार है तो दवाई स्वयं खानी पड़ेगी। इसी तरह स्वयं करना पड़ेगा, बिना किये कुछ नहीं होता है। गुरु, संत, महात्मा भी सहायक होते हैं।

जो जेहि पंथ चलइ मन लाई।
तो हरि काहे न होहिं सहाई॥

उसके सहायक होते हैं, जो उस रास्ते पर चलते हैं। जो अपने को बनाना चाहेंगे, वही बन सकते हैं, उन्हीं को बनाया जा सकता है। जो परवाह नहीं करते, जो लापरवाह है, उसको क्या पता चलेगा। उसको खोजने के लिए, ईश्वर को खोजने के लिए कहीं बाहर जाने की जरूरत नहीं है। वह शहरग अर्थात् सुषुम्ना, जिसको आज्ञाचक्र कहते हैं, वहाँ से ही जाने का रास्ता है।

सुखमन के झीना नाल से, अमृत की धारा बही रही।
मीन सुरत धार धर, भाठा से सीरा चढ़ी रही॥

'भाठा से सीरा' कुरानशरीफ में लिखा है, लेकिन लिखने की कला इस तरह है, जिसको सब कोई समझ नहीं सकते हैं। इसमें लिखा है कि हजरत मूसा ने अपने सेवक से कहा कि जबतक दो दरिया मिल नहीं जाएगी, मैं सफर करता रहूँगा।' मूसा सफर करते रहे, जहाँ दो दरिया मिल गई, वहाँ एक मछली निकली और जैसे सुरंग होती है, उसी सुरंग में प्रवेश कर गई। एक कुरानशरीफ में तो ऐसा लिखा है। दूसरे कुरानशरीफ में लिखा है कि मछली को पकाकर खा गए। तीसरे कुरानशरीफ में लिखा है कि अब मछली निकल गई। निकल गई, तो कहाँ गई। दो दरिया मिली कहाँ—यह संकेत है। इसी दो दरिया के लिए कहा गया है—

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥११॥
त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥१२॥

यही दोनों नदियाँ हैं—गंगा और यमुना, जिसको इड़ा और पिंगला कहते हैं। वे दो नदियाँ जहाँ मिलती हैं, दृष्टि की दोनों धारें जहाँ मिलती हैं, वहाँ सुरत आगे निकल जाती है। सुरंग मिल जाता है, वही झीनानाल है। उसी नाल से मछली निकलती है, सुरत निकलती है। संत कबीर साहब कहते हैं—

विमल विमल अनहद धुनि बाजै,
सुनत बने जाको ध्यान लगे।

इसलिए उन्होंने कहा है कि सुरत जो है, वह मछली है और जैसे उलटी धारा पर मछली चलती है, उसी तरह से जो धारा परमात्मा से संसार में आई हुई है, उस धारा को सुषुम्ना में, आज्ञाचक्र में पकड़ो, उलटो, बहिर्मुख से अंतर्मुख होओ। जो हमलोग दसेन्द्रिय में बँधे हुए हैं, उसके कार्य-कलापों में लगे हुए हैं, उससे छूटकर हम नौवें द्वार से दसवें द्वार में चले जाएँ। संत राधास्वामी साहब ने कहा—

इस नगरी में तिमिर समाना, भूल भरम हर बार।
खोज करो अंतर उजियारी, छोड़ चलो नौ द्वार॥

गुरु नानक साहब ने कहा—

नउ दरि ठाके धावतु रहाए।
दसवै निज घरि वासा पाए।
उथै अनहद सबद बजहि दिन राती
गुरमति शबदु सुणावणिआ॥

नौ दरवाजे से दसवें दरवाजे में ले जाओ। जब दसवें दरवाजे में ले जाओगे, तो 'उथै अनहद सबद बजहि दिन राती' वहाँ अनहद ध्वनि होती है, अंतर्नाद होता है, उस नाद को पकड़ो। नाद में यह गुण होता है, वह अपने केन्द्र पर खींचता है। अँधेरी रात हो, हाथोहाथ नहीं सूझता हो, आप तू-तू कीजिए, कुत्ता आपके पास आ जाएगा। क्यों, आपकी आवाज से आपके पास कुत्ता आ गया। उसी तरह परमात्मा से, अल्लाह से आवाज आ रही है, उस आवाजेगैब को जो पकड़ेगा, वह परमात्मा के पास पहुँच जाएगा।

गोश बातिन हो कुशादा जो करै कुछ दिन अमल।
ला इला अल्लाह हो अकबर पे जाने के लिए॥

जो सगलेनसीरा करता है, उसका अभ्यास करता है, कुछ दिनों तक उसका अभ्यास करेगा। 'जो करै कुछ दिन अमल।' कुछ दिन अगर दृष्टिसाधन की क्रिया करता है, उसको वह शब्द मिल जाता है। 'ला इला अल्लाह हो अकबर पे जाने के लिए' परमात्मा के पास जाने का उसको शब्द मिल जाता है। उस शब्द के सहारे परमात्मा तक जाता है, इसके बाद संसार में ढूँढने की जरूरत नहीं है। अपने अंदर में चलिए। अपने अंदर चलने के लिए सदाचार का पालन करना होगा। सदाचार के पालन में झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार—इन पंच पापों से जो अपने को बचाकर रखेंगे, वही उस रास्ते पर चल सकेंगे। जैसे सूते में छोटी-सी गिरह है, तो वह सूई के छेद में नहीं घुस सकती है। उसी तरह छोटा-सा पाप कहिए, कोई छोटे-से-छोटा पाप करनेवाला भी उस संकीर्ण द्वार में, दसवें द्वार में, झीनानाल में नहीं जा सकता है। इसलिए पहले पापों को छोड़ना होगा। पारस स्पर्श करता है लोहे में, तो सोना हो जाता है। गुरु ने एक शिष्य से कहा कि एक डिब्बी में रखा हुआ है ताखे पर, ले आओ, उसमें पारस है। डिब्बी उठाकर लाते हैं। लोहे की डिब्बी थी। शिष्य कहता है कि गुरुदेव! कहा जाता है कि लोहा में स्पर्श होता है पारस का तो वह सोना हो जाता है। इसी डिब्बी में यह पारस है, तो यह सोना कहाँ बना? गुरु ने कहा—डिब्बी को खोलो तो सही। खोला तो देखा कि उसमें कपड़ा लपेटा हुआ था। पुनः कहा—कपड़ा हटा

दो, तब सटाओ। कपड़ा हटा दिया गया तो सोना हो गया। उसी तरह से कुछ लपेटे रखेंगे, तो सोना होगा कहाँ से।

झूठ कपट करि माया जोरि, बात करै छल की।
पाप की पोट धरे सिर ऊपर, किस विधि ह्वै हलकी॥

जब हम पापों को छोड़ेंगे, निष्पाप होंगे, तब पवित्र होंगे। हमलोग देवघर जाते हैं, मस्जिद जाते हैं, गिरिजा जाते हैं, गुरुद्वारा में जाते हैं–जहाँ जाते हैं, पवित्र हो लेते हैं, तब जाते हैं। जो बाहर का मंदिर बना है, उसमें जाने के लिए बाहर के शरीर को धोते हैं और जो भीतर का घर है, कचड़े-मैले से घुस जाइएगा। उसको धोना होगा। पवित्र करना होगा। जब पवित्र हो जाएगा, भार उतर जाएगा। पवित्र हो जाएँगे, तब आगे बढ़ेंगे। इसलिए पापों को छोड़ना अनिवार्य है। उसी के बल पर गुरु सहायता करनेवाले हैं। वे सहायता करेंगे, वे दयालु होते हैं, परम दयालु होते हैं। अगर एक बाल के बराबर भी हम आगे चलें, तो दस डेग आगे आकर ले जाने के लिए तैयार रहते हैं। समय बहुत हो गया। आपलोग बहुत देर से बैठे हुए हैं। आपलोगों को मैं बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। जो बुजुर्ग हैं, मुझसे बड़े हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ और जो मध्य के हैं, उनको धन्यवाद देता हूँ और जो मुझसे छोटे हैं, मैं उनको आशीर्वाद देता हूँ।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–२०.१२.२००५ ई०, महर्षि संतसेवी-जयन्ती के सुअवसर पर हुआ था।)

१२०. नववर्ष की शुभकामना

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

नववर्ष के शुभारम्भ में सबलोगों के लिए मेरी मंगलकामना है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

सभी सुखी रहें, सभी नीरोग रहें, सभी शुभ-शुभ ही देखें, दुःख किसी को न होवे। ऋषि का प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है, उसमें एक मंत्र आया है–

संग गच्छध्वं संग वदध्वं संग वो मनांसि जानताम्।
देवाभागे यथापूर्वे सञ्जनानां उपासते॥

आपस में सब मेल से रहें, प्रेम से बातचीत करें। उद्वेग करनेवाली बात न बोलें। पूर्व के विद्वज्जन जिस प्रकार का शिष्टाचार करते थे, वैसा करें और भगवद्भजन करें। हमारे प्रातःस्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि आध्यात्मिकता को अपनाओ। जहाँ आध्यात्मिकता को अपनाओ। जहाँ आध्यात्मिकता रहेगी, वहाँ सदाचारिता रहेगी। जहाँ सदाचारिता रहेगी, वहाँ की सामाजिक नीति अच्छी होगी और जहाँ की सामाजिक नीति अच्छी होगी, वहाँ की राजनीति बुरी नहीं होगी और शान्ति विराजेगी।

जहाँ आध्यात्मिकता का अभाव है, वहाँ के लोग सदाचारी नहीं बन सकते हैं, वहाँ की सामाजिक नीति अच्छी नहीं हो सकती और वहाँ की राजनीति बुरी नहीं रहेगी, जिससे सदा उथल-पुथल बना रहेगा। क्योंकि आध्यात्मिक और सदाचारिता का संबंध क्यू (Q) और यू (U) का है। जहाँ क्यू (Q) रहता है, वहाँ यू (U) रहता है। क्यू (Q) से यू (U) को कोई हटा नहीं सकता है। उसी तरह जहाँ आध्यात्मिकता है, वहाँ सदाचारिता विराजेगी ही, उसको कोई हटा नहीं सकता है। जबतक सदाचारी नहीं बनेंगे, सत् आचारी=सत्य का व्यवहार नहीं करेंगे, कल्याण नहीं होगा।

संतमत कहता है कि झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार–इन पंच पापों को नहीं करो। एक ईश्वर पर विश्वास करो। ईश्वर अपने अंदर मिलेंगे, इसका दृढ़ निश्चय रखो। सत्संग करो, ध्यान करो, गुरु सेवा करो और अपने जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य करो।

जहाँ तक बन पड़े, दूसरे की भलाई करो, बुराई सोचो ही मत। जो दूसरे की बुराई सोचते हैं, करते हैं, उनकी स्वतः ही बुराई हो जाती है। संतमत कहता है कि पाँच पापों को नहीं करो। पाँच पापों में अगर पाप–झूठ को सारा विश्व छोड़ दें, तो एक झूठ के छोड़ देने से, सत्य के अपनाने से विश्व में शान्ति विराजेगी। इसलिए हमलोग सत्य को अपनावें, असत्य

का त्याग करें। जो उचित हो, वह करें; जो अनुचित हो, उसको छोड़ें। आज रविवार है, गुरु-कीर्तन कहिए, फिर आरती होगी। सभी के लिए मंगलकामना है।

(स्थान—महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक—१.१.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१२१. देखि दृष्टि पग धरणा

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

संतमत शान्ति का मत है, यह कल्याण-मार्ग प्रदर्शित करता है। ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर की भक्ति बतलाता है। ईश्वर की भक्ति करने के लिए घर-वार, परिवार अथवा रोजगार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। परिवार में रहकर ईश्वर-भजन करना चाहिए। संतमत कहता है—तुम शरीर नहीं हो, शरीरी हो; क्षेत्र नहीं हो क्षेत्रज्ञ हो। शरीर जड़ है, तुम चेतन हो। जड़ और चेतन—इन दोनों का घनिष्ठ संबंध हो गया। कितना भी घनिष्ठ संबंध क्यों न हो, एक-न-एक दिन पृथक् हो जाता है। शरीर रह जाता है, प्राण निकल जाते हैं। इसको चाहे मिट्टी में गाड़ दे या चिता में चढ़ाकर फूँक दे। लेकिन यह शरीर, जिस संसार में रह रहा है, वह संसार कैसा है? संतजन कहते हैं—बड़ा भयंकर है। संत कबीर साहब कहते हैं—

यह जग कोटि काठ की, चहुँ दिसि लागि आगि।
दुरजन रहे सो जरि मरै, सज्जन पूरे भागि॥

जब किसी जंगल में आग लग जाती है, तो जितने जीव रहते हैं, सभी मर जाते हैं, लेकिन जो जीव बिल के अंदर रहता है, वह नहीं मरता है। इस संसार में सब कोई काल के गाल में चले जाते हैं, लेकिन जिसको उस बिल का पता है कि किस बिल में रहा जाता है। वह बिल आज्ञाचक्र का दसवाँ द्वार है। जो दसवें द्वार के बिल में प्रवेश कर जाता है, नितप्रति दिन साधना करता है, करते-करते वहाँ चला जाता है, जहाँ काल की दाल भी नहीं गलती। गुरु गोरखनाथजी महाराज कहते हैं—

गोरख कहै सुनहु रे अवधू, जग में ऐसे रहणा।
आँखे देखिबा, काने सुणिबा, मुखथैं कछू न कहणा॥
नाथ कहै तुम आपा राखौ, हठ करि वाद न करणा।
यहु जग है काँटे की बाड़ी, देखि दृष्टि पग धरणा॥

जंगल है, काँटों का जंगल है, लोग इसी में उलझ-पुलझकर मर जाते हैं। संसार काँटों की बाड़ी है, तो इसको ठीक से देखकर चलिए, नहीं तो चुभेगा। अगर अपने को काँटों से बचाकर चलते हैं, तो सुरक्षित पार कर जाएँगे, नहीं तो काँटा चुभेगा। जैसे कोई चतुर्दिश सेना से घिर जाए, उसी तरह से माया के कटक से घिरे हुए हैं। इससे निकलना है, नहीं तो माया के चपेट में पड़ेंगे, कहाँ जाएँगे, कुछ पता नहीं। संत जन कहते हैं—रहना तो इस संसार में है; लेकिन किस तरह इस संसार में रहो? संसार को छोड़कर कहाँ जाओगे, जहाँ जाओगे, वहाँ संसार ही संसार है।

स्वामी विवेकानंदजी एक बार काशी विश्वनाथजी के दर्शन के लिए गये। दर्शन करके वे मंदिर से बाहर निकले। उन दिनों उसका पहनावा था—एक काफी लंबा कुर्ता पहनते थे। कई जेबें उसमें रहती थीं, उन जेबों में कई प्रकार के कागज रखते थे। जेब भरी हुई रहती थी। काशी में बंदर बहुत हैं, तो बंदर के मन में हुआ कि स्वामीजी की जेब में कुछ खाने की चीज है। बंदरों ने पीछा किया। विवेकानंद जा रहे थे, नजर पड़ी बंदरों पर कि बंदर पीछा क्यों कर रह हैं, तो उन्होंने डेग लंबी कर दी। जैसे डेग लंबी की, तो बंदरों ने भी डेग लंबी और तेजी से चलने लग गए। स्वामी विवेकानंद ने देखा कि ये तो काट खायेंगे मुझको, तो लगे दौड़ने। बंदर भी उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे, तो अगल-बगल के लोगों ने देखा तो कहने लगे कि स्वामीजी! रुक जाइए, नहीं तो बंदर काट खायेंगे। जैसे ही स्वामीजी रुक गये, तो बंदर सब भी रुक गया। स्वामी विवेकानंदजी ने कहा—संसार से भागना चाहोगे, तो संसार काट खाएगा बंदर की तरह। बंदर के बीच में ही तुमको रहना है, उसी तरह संसार के बीच रहो, नहीं तो संसार तुमको काट खाएगा। उनके गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंसजी ने कहा—'हाथ में तेल लगाकर कटहल काटना पड़ता

है, नहीं तो उसका दूध लग जाता है। उसी तरह संसार में तो रहो, लेकिन हृदय को भगवद्भक्ति से तर करके रहो तो सांसारिकता तुममें नहीं लगेगी। नहीं तो सांसारिकता की जो मैल है, वह तुमको लग जाएगी। उन्होंने ये भी कहा कि धनियों के घर की नौकरानी की तरह संसार में रहना सीखो। नौकरानी मुँह से तो हमेशा यही कहती है कि ये बाल-बच्चे, घर-वार सब कुछ मेरे हैं; लेकिन उसका मन जानता है कि हमारा यहाँ कुछ भी नहीं है। फिर भी सारी सेवाएँ वह करती है, साथ-ही-साथ डर भी रहता है—मालिक की धमकी का, उसी तरह संसार की सँभाल करते रहो, करो सब कुछ; लेकिन जान रखो कि हमारा कुछ भी नहीं है, सभी मालिक के हैं। उस मालिक का हुक्म होगा, कब चला जाना होगा छोड़कर, कोई ठिकाना नहीं है। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं—

जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणै।
सुरति सबदि भवसागरु तरीऐ नानक नामु बखाणै ॥

कमल की उत्पत्ति जल से ही होती है, किन्तु जल कितना भी बढ़ जाए, कमल ऊपर ही रहता है, कमल को जल डुबा नहीं सकता। उसी तरह संसार में तुम्हारा जन्म हुआ है, संसार में ही रहना है, लेकिन निर्लिप्त होकर रहना चाहिए। भक्त संसार में रहे कोई हानि की बात नहीं, लेकिन भक्त में सांसारिकता नहीं आनी चाहिए। अगर सांसारिकता आएगी, तो वह उसको डुबा देगी। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च।

महाभारत के मैदान में घमासान युद्ध चल रहा था। उस अवसर पर भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हारा जो काम है युद्ध करने का, वह भी करो और मेरा स्मरण भी करते रहो। जो भगवान का स्मरण करते हैं, तो भगवान भी उसकी रक्षा करते हैं। इसलिए भगवान का भी स्मरण करें और संसार के कामों को भी करें। संसार को छोड़कर कहीं नहीं जा सकते; लेकिन जाना है, एक-न-एक दिन संसार से जाना है। जाएगा कौन? शरीर नहीं जाएगा, हम जाएँगे। हम जाएँगे कहाँ, कुछ बना है क्या, कुछ पता है। कहीं हमलोग जाते हैं तो इंतजाम कर लेते हैं, फलाने जगह जाएँगे। ऐसा न ऐसा होगा वहाँ, लेकिन शरीर छूटने पर जहाँ हम जाएँगे? उस जगह का पता है, वहाँ खाने-पीने की क्या व्यवस्था है, कुछ पता है? जैसे भागलपुर से हमको दिल्ली जाना है, जिस ट्रेन के जिस श्रेणी का टिकट कटाते हैं, उसी श्रेणी का वेटिंग रूम मिलता है। उसी तरह से यहाँ जो काम करेंगे, जैसा कुछ करेंगे, वही वहाँ का टिकट होगा और वहाँ जाकर उसी तरह का वेटिंग रूम मिलेगा। किसी ट्रेन में थर्ड श्रेणी का टिकट कटाइए, सेकेण्ड श्रेणी का या फर्स्ट श्रेणी का कटाइए, ए०सी० कराइए, वह कटाना आपके हाथ में है। जैसा यहाँ कटाएँगे, वैसा वहाँ पाएँगे। उसी तरह से जैसा कर्म हम यहाँ करेंगे, उसी तरह का फल परमात्मा वहाँ देंगे। इसलिए—

कर भला होवे भला, करके भलाई देख ले।
कर बुरा होवे बुरा, करके बुराई देख ले ॥

इसलिए बुरे कर्मों को तो करना ही नहीं चाहिए। भले कर्मों को करना चाहिए। जितना बन सके, दूसरे का उपकार करना चाहिए; क्योंकि साथ तो जानेवाला कुछ है नहीं। जो मेरे पास है, उससे किसी का उपकार हो जाता है, वह लगाना चाहिए, वह करना चाहिए। अपने जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य करना चाहिए और अपने-अपने परिवार का भी पालन-पोषण करना चाहिए। जो कुछ बन पड़े, दूसरे की भलाई-परोपकार में खर्च करना चाहिए। पवित्र जीवन बिताना चाहिए। जिसका जीवन पवित्र नहीं है, वह यहाँ भी दुःखी रहेगा और वहाँ भी दुःखी रहेगा। इसलिए संतों की आज्ञा के अनुकूल एक ईश्वर में विश्वास करना चाहिए। वे अपने अंदर मिलेंगे, इसका दृढ़ निश्चय रखना चाहिए। सत्संग करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, गुरु-सेवा करनी चाहिए और झूठ चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार—पंच पापों से बचकर रहना चाहिए। आज रविवार है, गुरु कीर्तन कहिए। जाड़े का समय है, फिर भी आपलोग आ गए हैं यहाँ पर इतने कड़ाके की जाड़े में, शीतलहरी में। आपलोगों को बहुत-बहुत धन्यवाद है, आशीर्वाद है, गुरु महाराज आपलोगों पर दया करें।

(स्थान—महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक—८.१.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१२२. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

हमलोग थोड़ी देर मौन धारण कर प्रार्थना करें। विश्व का प्राचीन ग्रंथ वेद है। कृष्णद्वयपायन ने उसको तीन भागों में विभक्त किया। ऋक्, साम और यजुः और चौथा वेद तीनों भागों में विभक्त किया गया है। पुनः वेद को दो भागों में विभक्त किया गया। एक का नाम रहा ब्राह्मण और दूसरे का नाम संहिता। 'ब्राह्मण' में यज्ञ आदि कर्मकांडों का वर्णन है और संहिता में ज्ञानयोग-युक्त भक्ति का वर्णन किया गया है। संहिता भाग में उपनिषद् की रचना हुई है। उसमें एक मंत्र आया है–'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो।' जो बलहीन है, वह आत्मलाभ नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह नहीं हो जाता, जो पहलवान है, वह आत्मलाभ करेगा। बलहीन से तात्पर्य क्या है? बलवान से तात्पर्य क्या है? शुद्ध, सात्त्विक आहार, उचित व्यायाम से शारीरिक बल बढ़ता है। सद्ग्रंथों के श्रवण, मनन, अध्ययन से मनोबल बढ़ता है। साधना करने से आत्मबल बढ़ता है। अन्तर के साधन–अंतर्ज्योति और अंतर्नाद की साधना करने से आत्मबल बढ़ता है। इस सत्संग का आयोजन करने का तात्पर्य यही है। हमें तीनों बल की आवश्यकता है। शारीरिक बल भी हो, मानसिक बल भी हो और आत्मबल भी हो।

आपलोग को ज्ञात कराया गया है कि यहाँ सत्संग होगा। सत्संग क्या चीज है, किसको कहते हैं? सत्संग दो शब्दों के योग बना से हुआ है–सत् और संग। सत् उस पदार्थ को कहते हैं, जो त्रयकाल अबाधित है, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जो था, है, और रहेगा, वह सत्य है। सत्य एक परम प्रभु परमात्मा ही है। उनका संग हो, यह सत्संग कहलाता है। किन्तु जितने, यहाँ हमलोग एकत्रित हैं, ब्रह्म के दर्शन तो हम नहीं कर पा रहे हैं, उनका संग तो नहीं हो रहा है, फिर सत्संग की संज्ञा क्यों? परम प्रभु परमात्मा सत्य है, उसका अभिन्न अंश जीवात्मा सत्य है। इस सत्य का उस सत्य से संग करा देना, यह प्रथम श्रेणी का सत्संग है। जबतक यह संग नहीं हुआ, तबतक जो संत हैं, उनका संग करें। जो संत होते हैं, उनके लिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है–

सोइ जाने जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥

उस ब्रह्म को पाकर वे भी ब्रह्मवत् हो जाते हैं। कबीर साहब ने कहा है–

परम पुरुष की आरसी, संतों की ही देह।
लखा जो चाहे अलख को, इन्हीं में लखि लेह॥

ब्रह्म निर्गुण निराकार है। संत सगुण साकार हैं, किन्तु उन्हीं का प्रतीक है। इसलिए संतों का संग सत्संग कहलाता है और यह तृतीय श्रेणी का सत्संग है। किन्तु संत कौन है, उसकी पहचान के लिए हमारे पास कोई मीटर नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि जो संत होते हैं, वे ही संत की पहचान कर सकते हैं। आज ईसाई धर्म का कितना प्रचार है। लेकिन जिस समय प्रभु ईसा मसीह थे तो उनको कितना कष्ट दिया गया। प्राणदंड दिया गया और आज ईसाई धर्म चल रहा है। अल्पसंख्यक नहीं, बहुसंख्यक है। इस्लाम धर्म चल रहा है, उसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब थे; लेकिन उनको कितना कष्ट दिया गया। दाने-दाने का मोहताज हो गये थे। यहाँ तक उनकी जान जाने की नौबत आ गई, तो मक्का से मदीना चले गये। दस वर्षों के बाद वे लौटे। जिस समय कबीर साहब हुए। कबीर की बहत्तर तस्रीफ (कसनी) प्रसिद्ध है। बहत्तर प्रकार का दुःख-दर्द दिया गया। सिक्ख धर्म को पढ़िए, नानकपंथ को उन गुरुओं को कितने-कितने कष्ट झेलने पड़े हैं। मीराबाई को जहर का प्याला पिलाया गया। संत तबरेज की खाल खींच ली गई। जिस समय संत होते हैं, उनकी पहचान हम नहीं कर पाते हैं। उनको कष्ट देना, गाली देना, जान मार देना। पलटू साहब को आग में झोंक दिया गया। यह जानते हैं, लेकिन संतों की पहचान नहीं कर पाते हैं। कौन संत है, कौन नहीं है, तो दूसरी श्रेणी का सत्संग कैसे हो? आज जिनको हम संत कहते हैं, कुछ लोगों से उनके संबंध कुछ और सुनने को मिल जाते हैं, जिससे उनके प्रति घृणा हो जाती है, फिर हम कैसे विश्वास करें कि कौन संत है, किसका हम संग

करें? इसलिए हम द्वितीय श्रेणी का सत्संग नहीं कर पाते हैं, तो जो पहले संत हो चुके हैं, उन संतों की जो वाणी है, उन संतवाणी का हम अनुसरण करें, यह सत्संग है। फिर स्वाभाविक है कि द्वितीय श्रेणी का सत्संग भी होगा और उनसे सद्ज्ञान प्राप्त कर सत् शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कर हम प्रथम श्रेणी का भी सत्संग कर पायेंगे। अभी हमलोग जो सत्संग करने के लिए बैठे हैं, यह तृतीय श्रेणी का सत्संग है। संत कैसे होते हैं?

षट् विकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥
अमित बोध अनीह मित भोगी।
सत्य सार कवि कोविद जोगी ॥
पर उपकार बचन मन काया।
संत सहज स्वभाव खगराया ॥

संत षट्विकार के शिकार नहीं होते, षट्विकार अपने अधिकार में रखता है, वे संत होते हैं। वे निष्पाप होते हैं–झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार–इन पंच पापों से वे विरक्त रहते हैं, कामना-रहित रहते हैं। अटल–एक ईश्वर पर दृढ़ विश्वास, उसको कोई टाल नहीं सकता। महात्मा गाँधी जी थे, उनके साथ में एक जर्मन रहता था। एक दिन की बात है। उनका कोट लटका हुआ था, कोट की जेब पीछे लटक रही थी। महात्मा गांधीजी ने हाथ लगाकर देखा तो मालूम पड़ा जेब वजनदार है। जब वह जर्मन बाथरूम से आया तो महात्मा गांधी ने पूछा कि तुम्हारी जेब में क्या है? इतना वजनदार मालूम पड़ता है। जर्मन ने कहा कि आपको मालूम नहीं है। कुछ लोगों ने आपका पीछा कर रखा है। कभी भी आपपर वार कर सकता है। इसी के बचाव के लिए पिस्तौल रखा है अपनी जेब में। महात्मा गाँधी ने कहा–वाह, वाह! बहुत अच्छा। इतने दिनों तक तो निर्गुण निराकार भगवान में विश्वास था; लेकिन सगुण भगवान भी आ गये रक्षा के लिए, अब क्या चाहिए। जल्दी जेब से निकालकर फेंको इसे। रक्षा करनेवाले तो प्रभु हैं, वही सबकी रक्षा करते हैं। तुम मेरी क्या रक्षा करोगे! गीता में भगवान ने कहा है–'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' मैं अपने भक्तों की रक्षा करता हूँ। मेरे भक्तों को क्या चाहिए, देता हूँ और फिर रक्षा भी करता हूँ। अटल विश्वास रहता है। 'अकिंचन' वे त्यागी होते हैं। संग्रही नहीं होते। संग्रह करनेवाले संत नहीं होते हैं, त्याग करनेवाले संत होते हैं।

पंजाब एक महात्मा हुए स्वामी रामतीर्थ। जापानवाले ने जापान बुलाये थे। वे जापान गये। जापान में उनका प्रवचन हुआ। वहाँ के लोग बड़े प्रभावित हुए। अपने पास वे कुछ रखते नहीं थे। वहाँ के लोगों ने पूछा–कहाँ जाइएगा? यहाँ से मुझे अमेरिका जाना है। वहाँ के लोगों ने हवाई जहाज का टिकट कटा दिया अमेरिका का। अमेरिका आए। एक सज्जन ने पूछा–आप अमेरिका में कहाँ ठहरेंगे? उन्होंने कहा–मुझे मालूम नहीं। पुनः सज्जन ने पूछा–कितने दिनों तक ठहरेंगे? कहा–मुझे मालूम नहीं। सज्जन ने कहा–आपके पास कितने डॉलर हैं? उन्होंने कहा–कुछ भी नहीं। तब वे सज्जन बोले कि आप कौन हैं? इन्होंने कहा कि मैं रामबादशाह हूँ। सज्जन ने कहा–आप अपने को बादशाह कहते हैं और आपके पास कुछ भी नहीं है? बगल में एक सज्जन खड़े थे, उन्होंने कहा–जिनका प्रवचन जापान में हुआ, आप वही रामबादशाह हैं। उन्होंने कहा–हाँ, वही हूँ। उन्होंने कहा–जितने दिनों तक रहेंगे, मेरे यहाँ रहेंगे, सारा खर्च मैं दूँगा। रामतीर्थ ने कहा–बादशाह के पास पैसे नहीं रहते, खजाँची के पास पैसे रहते हैं। देखो, ये मेरे खजाँची हैं। 'अकिंचन' संग्रही नहीं होते। शुद्ध, पवित्र होते हैं। तन से, मन से, वचन से सुखधाम होते हैं। वही तो सुख का घर है। उनकी शरण में जो जाता है, वहाँ दुःख कहाँ है। अरे! फुलवारी में कोई जाता है, तो क्या वह किसी फूल से सुगंधि माँगता है। जो फुलवारी में जाएगा, सुगंधि स्वाभाविक लगेगी। उसी तरह से जो संत होते हैं। संत के पास जायेंगे, संत के वचन को सुनेंगे।

साचो उपदेस देत भली भली सीख देत,
समता सुबुद्धि देत कुमति हरतु है ।
मारग देखाइ देत भावहु भगति देत,
प्रेम को प्रतीति देत अभरा भरतु है ।।
ज्ञान देत ध्यान देत आतम बिचार देत,
ब्रह्म कूँ बताइ देत ब्रह्म में चरतु है ।
'सुन्दर' कहत जग, संत कछु लेत नाहिं,
सन्त जन निसिदिन देवोही करतु है ।।

संत लेते नहीं, देते हैं। उन संतों के ज्ञान को सत्संग करने के लिए हमलोग यहाँ सम्मिलित हुए हैं।

सत्संग से तृतीय श्रेणी के सत्संग से क्या होता है? सत्संग नहीं करें तो क्या होता है–'हानि कुसंग सुसंगति लाहू।' हानि होती है कुसंग से और सुसंग से लाभ होता है। इसका प्रमाण है–

गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा।
कीच मिलै जग नीच संगा॥

पैरों से रौंदी जानेवाली धूल, जब वह पवन का सुसंग करती है, हवा का संग करती है, तो नीचे रहनेवाली धूल गगनगामिनी हो जाती है। वही धूल जब जल का संग करती है, तो पाताल चली जाती है। उसी तरह जो संतों का संग करते हैं, तो उनकी सुरत गगनगामिनी हो जाती है। अर्थात् वे परम प्रभु परमात्मा तक पहुँच जाते हैं। कुसंग करने से किस पाताल को जाते हैं पता नहीं। इसीलिए तृतीय श्रेणी का सत्संग यह बहुत लाभदायक है।

जब मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम लंका-विजय होकर सीता का उद्धार कर अयोध्या लौटे, सिंहासन पर विराजमान हुए, देवताओं ने आकर उनकी स्तुति की। देवता सब चले गये। पीछे भगवान शंकर आए। भगवान शंकर ने स्तति की और कहा–

नाथ एक वर माँगहू, हरषि देय श्रीरंग।
पद सरोज अनपायिनी भक्ति सदा सत्संग॥

हे प्रभु आपसे मेरी प्रार्थना है–मैं आपसे एक वरदान माँगता हूँ और वह वरदान यह है कि अपने चरण में अनन्य भक्ति दीजिए और सत्संग दीजिए। भगवान शंकर वरदान माँगते हैं सत्संग के लिए। गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरंग की ही संज्ञा दी है और सत्संग को श्रीरंग का अंग बतलाया है।

देहि सत्संग निज अंग श्रीरंग
भवभंग कारण सरण सोकहारी।

यह सत्संग क्या है, श्रीरंग का अंग है। किसी ने पूछ दिया–

नित प्रति दर्शन साधु, और साधुन के संग।
तुलसि काहि वियोग तें, नहिं लागा हरिरंग॥

रोज तो साधु का संग करते हैं, साधु का दर्शन भी करते हैं। फिर उसका रंग उसपर नहीं चढ़ता है, इसका कारण? तो जवाब दिया–

मन तो रमे संसार में, तन साधुन के संग।
तुलसि याहि वियोग तें, नहिं लागा हरि रंग॥

तन तो रहता है सत्संग में और मन रहता है संसार में, बाजार में, घर में, परिवार में तो सत्संग का रंग कैसे लगेगा! एक बाल्टी है, उसमें रंग घोलकर रखिए कपड़ा रंगने के लिए। जब बाल्टी में वह कपड़ा रहेगा, तब न कपड़ा रंगेगा और बाल्टी के बगल में पड़ गया, तो उसमें क्या लगेगी, उसमें मिट्टी लगेगी। उसी तरह से मन तो जहाँ-तहाँ घूमता है और तन सत्संग में रहता है, तो रंग कहाँ से लगेगा। जहाँ मन तहाँ तन। दो मित्र थे। कहीं भागवत कथा हो रही थी। दोनों ने विचार किया–चलो, भागवत कथा हो रही है, जाकर सुनें हमलोग। बहुत अच्छी बात है, भगवत्-चर्चा होती है। दोनों मित्र चले। रात का समय था। पैदल ही जा रहे थे। रास्ते में वर्षा होने लगी। एक साथी भाग करके बगल के घर में चला गया, वह घर वेश्या का था। दूसरा साथी जो था, उसने कहा–शरीर कागज का नहीं है, जो वर्षा में गल जाएगा। कपड़ा भींग जाए तो भींग जाए, पर वहाँ जाकर भागवत-कथा सुनेंगे। फिर कपड़ा तो सूख ही जाएगा। चला गया वहाँ, जहाँ रामकथा होती थी। एक है वेश्यालय में, दूसरा है वहाँ जहाँ भगवत् चर्चा हो रही है। अब जो वेश्यालय में है। उसके मन में होता है। ओह! ओह! मेरा मित्र कितना अच्छा है कि चला गया, वह सत्संग सुनता होगा। भगवत् चर्चा का लाभ लेता होगा। हम ही अभागा कि कहाँ चले आए। यहाँ हमको नहीं रुकना चाहिए। अब वह वहाँ सत्संग में था, भगवत् चर्चा हो रही थी। उसके मन में हुआ कि यहाँ पर आकर हम फँस गये, हमारा मित्र कितना मजा लूटता होगा। दोनों की दो स्थिति है। शरीर दोनों का छूटता है। जो वेश्यालय गया था, उसको स्वर्ग मिला और जो सत्संग में गया था, उसको नरक होता है। धर्मराज से पूछा कि हम तो सत्संग में किये हैं, फिर हमको नरक क्यों? धर्मराज ने कहा कि तुम्हारा तन था सत्संग में और मन था वेश्यालय में और उसको स्वर्ग इसलिए कि उसका तन था वेश्यालय में; लेकिन मन था सत्संग में। इसलिए हमलोग सत्संग में आवें तो एकाग्र होकर सुनें।

सखि सीख सुनि गुनि गाँठि बाँधो,
ठाठ ठठ सत्संग करै।
जब लग संग अपंग आदि अंग सत्वत मन मरै॥

पहले सत्संग सुनो, उसको गुणो-विचारो और गाँठ में बाँधो यानी मन में याद रखो। कहने का

तात्पर्य इसका आचरण करो। सत्संग सुना एक कान से और निकाल दिया दूसरे कान से, तो क्या लाभ होगा?

एक राजा के दरबार में एक कलाकार तीन मूर्तियों को लेकर गया। राजा ने पूछा–इनकी क्या कीमत है? कलाकार ने एक मूर्ति का बतलाया, इसकी कोई कीमत नहीं है। दूसरी मूर्ति का बतलाया–हाँ, एक पैसा दाम है। तीसरी मूर्ति का दाम कहा–यह तो अनमोल है। इसका मूल्य कौन देगा! राजा ने अपने मंत्री से कहा कि तीनों मूर्ति को देखिए तो तीन तरह का दाम बतला रहा है। देखा गया, तीनों की आकृति एक थी। तीनों का वजन एक था, तीनों की कलाकारी समान थी। किसी में कमी नहीं थी। मंत्री के मन में हुआ, जबतक कि कमी-बेशी नहीं है, कीमत कमी-बेशी कैसे रखी गयी है? मंत्री ने एक सींकी ली और एक मूर्ति के कान में दी। एक कान में दी हुई सींकी, दूसरे कान से निकल गई। दूसरी मूर्ति के कान में जब सींकी डाली गई, तो वह सींकी मुँह होकर बाहर निकली और जब तीसरी मूर्ति के कान में सींकी डाली गई, तो वह हृदय की ओर चली गई। मंत्री ने कहा–इसी कारण तीनों की तीन कीमत है। एक आदमी सुनता है तो इस कान से, सत्संग भी बहुत करता है, सुनता है-सुनाता है, समझता है-समझाता है; लेकिन उसका ग्रहण कुछ नहीं, एक कान से सुना, दूसरे कान से निकाल दिया, उसकी कोई कीमत नहीं है। दूसरा जो सुनता है और उसको कुछ याद रखता है, कुछ समय पर बोलता भी है, तो एक पैसा उसकी कीमत है। तीसरा जो सत्संग सुनता है और उसी तरह का आचरण करता है, उसकी कोई कीमत नहीं दे सकता है, वह अनमोल आदमी है। संत तुलसी साहब कहते हैं–सुनो, गुनो और उसको बाँध करके रखो। आचरण करो। तुम्हारा कल्याण होगा।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥

जो शठ है, वह भी सत्संग से सुधर जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं–

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ।
लोकहू वेद न आन उपाऊ॥

जिसने सुबुद्धि पाई है, जिसने यश प्राप्त किया है, जिसको शुभगति मिली है। जो विभूतिवान हैं, जिसके अंदर भलाई है–यह ज्ञान जिसके अंदर है, यह सत्संग का ही प्रभाव है। गुरु महाराज जिस समय यात्रा करते थे, ट्रेन से जा रहे थे। बाराहाट एक स्टेशन है। स्टेशन पर गुरु महाराज बैठे हुए ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहे थे और यात्री लोग भी थे वहाँ, कुछ पढ़े-लिखे लोग गुरु महाराज के पास आ गये। उन्होंने कहा–'महाराजजी! आप सत्संग करते हैं, लोगों को सत्संग सुनाते हैं। सत्संग से क्या लाभ होता है, सो हमको भी सुनाइए।' गुरु महाराज ने कहा–सब कुछ सत्संग से मिलता है, आपको क्या चाहिए? उनलोगों ने कहा–हमलोग गृहस्थ हैं, हमारी चाहना कितनी है, चाहना का कोई ठिकाना नहीं है। क्या बतलाएँ? गुरु महाराज बोले–आप पढ़े-लिखे विद्वान आदमी हैं, चाहना को समेटकर बतलाइए, क्या चाहिए? वे बेचारे चुप हो गये। तब गुरु महाराज ने कहा–अच्छा, आप नहीं कहते हैं तो मेरी ओर से सुनिए। आपको सुबुद्धि चाहिए कि दुर्बुद्धि? कहा–हमें सुबुद्धि चाहिए। गुरु महाराज ने पूछा–आप अपना यश चाहते हैं या अपयश? तो उन्होंने कहा–यश चाहते हैं। गुरु महाराज ने कहा–आप संसार में रहकर सुख-मौज से रहना चाहते हैं या दुःखी होकर; मरकर नरक में जाना चाहते हैं या मोक्ष पाना चाहते हैं? शुभ गति चाहते हैं कि दुर्गति। उन्होंने कहा कि शुभगति। आप संसार में ऐश्वर्यवान बनकर रहना चाहते हैं या दरिद्र बनकर रहना चाहते हैं? कहा कि ऐश्वर्यवान बनकर रहना चाहेंगे। गुरु महाराज ने कहा कि आप संसार में भलाई चाहते हैं कि बुराई? वे बोले–भलाई चाहते हैं। गुरु महाराज ने कहा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में लिखा है–

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ॥

ये पाँचों चीजें मिल जाए, तो और कुछ चाहिए! कहा–अब कुछ नहीं चाहिए। ये चीजें मिलती हैं सत्संग से। अभी हमलोग तृतीय श्रेणी के सत्संग कर रहे हैं। यह तृतीय श्रेणी का सत्संग मन से करें। फिर अवसर आएगा कि द्वितीय श्रेणी का भी सत्संग मिलेगा और उनसे जो शिक्षा-दीक्षा मिलेगी। उसका

हमलोग आचरण करेंगे, तो प्रथम श्रेणी का जो सत्संग है, वह भी लाभ होगा। इसलिए पहले हम नींव को मजबूत करें, फिर आगे बढ़ें। इसलिए इस सत्संग के द्वारा ज्ञानयोगयुक्त भक्ति का प्रचार होता है। झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार–इन पंच पापों की मनाही की जाती है सत्संग। जो इन पापों से बचकर रहते हैं, वह पवित्र होता है, वही परमात्मा को प्राप्त करता है। हाथ साफ हो तो इत्रदान में अंगुली दीजिए तो सुगंधि मिलेगी। अगर गोबर फेंका हुआ हाथ हो और अंगुली दीजिए तो क्या लाभ होगा! अपने हृदय को पवित्र कीजिए, शुद्ध कीजिए, सत्संग में जाइए और सत्संग का लाभ लीजिए। इतना कहकर मैं अपने प्रवचन में विराम देता हूँ और आपलोगों को धन्यवाद देता हूँ। इतनी विषम परिस्थिति में उपस्थित होकर भी आपलोग बहुत शांत भाव से रहे, इसलिए बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। (स्थान–सोदपुर, कोलकाता; दिनांक–२७.१.२००६ ई०, प्रातः, ९५वाँ महाधिवेशन के सुअवसर पर हुआ था।)

१२३. पति बिना सूना सब संसार

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

मुझ अज्ञ अकिंचन का आप जिनलोगों ने अभिनन्दन किया है, उन सब सज्जनों का मैं अभिवंदन करता हूँ और बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। वे सब बातें, जो आपने अभी अभिनंदन पत्र में सुनी हैं, मुझमें वे सब गुण नहीं हैं। जितने मेरे सद्‌गुण आप सुने हैं, उसको उलटा करके समझना।

अभी आपलोगों ने रामचरितमानस का पाठ सुना है। रामचरितमानस एक विलक्षण ग्रंथ है। इसमें ज्ञान, ध्यान, योग, जप, तप, पारिवारिक, व्यावहारिक, राजनीतिक सभी प्रकार की बातें समाहित हैं। बतलाया गया है कि पिता पुत्र को किस तरह रहा जाए। दशरथजी की आज्ञा होती है, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम को युवराज पद पर प्रतिष्ठित करने का। सारी तैयारियाँ हो जाती हैं। कल उसको युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया जाएगा; किन्तु कुछ कारणवश राजा दशरथ युवराज को गद्दी पर न बिठकार जंगल जाने की आज्ञा देते हैं। जो राजा बननेवाला हो, उसको जंगल भेजा जाए, उसका हृदय क्या बोलेगा! लेकिन भगवान श्रीराम के हृदय में किसी प्रकार की मलिनता नहीं हुई। उन्होंने पिता का आदेश शिरोधार्य कर जंगल में ही मंगल समझा और प्रस्थान कर गया। यह पिता-पुत्र का व्यवहार बतलाया गया। जंगल जाने की आज्ञा श्रीराम को मिली थी, लेकिन श्रीराम के साथ श्रीसीताजी भी जाने को तैयार हो गयी। भगवान राम ने कहा–जंगल में बहुत प्रकार के कष्ट होते हैं। तुम जंगल नहीं जाओ, तुम यहीं रहो। मन नहीं लगे तो पिता के यहाँ चले जाना कुछ दिनों के लिए, फिर लौटकर चली आना। सीताजी ने कहा–

पति बिना सूना सब संसार।
पति ही पत है पति ही गत है,
पति बिना विपति हजार ॥

'पति बिना सूना सब संसार' आप नहीं रहेंगे, कितना बड़ा राज वैभव क्यों न हो; लेकिन मेरे लिए सुखदाई नहीं दुखदाई है। अगर मैं आपके साथ चलूँगी तो जिस दुखदाई की चर्चा आप कर रहे हैं, वह मेरे लिए सुखदायी होगी।

जल बिनु मीनु, नदी बिना नीरा।

जिस नदी में जल में नहीं, वह किस काम का और जहाँ जल नहीं है, वहाँ मछली क्या करेगी! उसी तरह पति के नहीं रहने पर पत्नी की हालत होती है। सीताजी साथ हो लेती है। राम की पत्नी का क्या धर्म है, यह बतलाया जाता है। और जब सीताजी जंगल जाती है राम के साथ, वहाँ जंगल में सीता का हरण हो जाता है। जो हरण कर ले गया, भगवान राम के हाथ से उसका मरण भी हो गया। पत्नी के लिए पति क्या कर सकते हैं, पत्नी पति के लिए क्या कर सकती है, पति के लिए पत्नी के साथ कैसा व्यवहार है, यह दिखाया गया है। भाई-भाई का कितना स्नेह–यह दिखाया गया। राजसी सुख भगवान राम को था; लेकिन कैकेई भरत को देना चाहती थी। पर भरतजी ने राज्यसुख स्वीकार नहीं किया। भगवान राम को मनाकर लाने की कोशिश की; जंगल गये; लेकिन भगवान राम ने कहा–पिताजी की आज्ञा शिरोधार्य होना चाहिए। मेरे लिए जंगल है, यहीं मंगल है और

तुम वहाँ राज्य करो; लेकिन भरतजी ने राज्य नहीं किया।

जिस तरह भगवान राम जंगल में रहते थे, उसी तरह से वे नंदीग्राम में रहते थे और राज्य की सँभाल करते थे। भाई-भाई का कितना स्नेह है, यह दिखलाया गया है। राजा और प्रजा का क्या संबंध होना चाहिए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम भली भाँति जानते थे कि हमारे राज्य में प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं है; लेकिन यह शरीर संसार में नहीं रहेगा। एक-न-एक दिन संसार छोड़कर जाना होगा। शरीर नहीं रहेगा।

धनानि भूमौ पशवो हि गोष्ठे
नारि गृहद्वारे सखा श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

किसी के पास कितना भी धन क्यों न हो; लेकिन वे सारे के सारे धरा पर ही धरे रह जाएँगे। कितना ही पशु हैं; लेकिन पशुशाला में ही रहेंगे। नारी बेचारी रोती-धोती घर-बाहर करके घर में आ जाएगी। जो हमारे मित्र है, एक साथ बैठकर हास-परिहास करते हैं, वे हमारे शरीर को श्मशान तक पहुँचा देंगे। यह शरीर, जिसको हम बहुत प्यार करते हैं, यह भी चिता पर जलकर समाप्त हो जाएगा। हमारा शरीर जलकर समाप्त होगा, इसकी चिंता भगवान राम को थी। जिस तरह हमारी प्रजा इस संसार में सुखी है, शरीर छूटने के बाद सुखी रहेंगे, इसके लिए आयोजन किया। गुरुजन, पुरजन, सबलोगों को बुलाकर कहा—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी।
कहौं कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहि कछु प्रभुताई।
सुनहु करहु जो तुम्हहिं सुहाई॥
भक्तिवन्त नर प्रियतम सोई।
मम अनुसासन मानै जोई॥

सुनो मैं जो कहता हूँ, मैं राजा हूँ इसलिए दवाब दे रहा हूँ, ऐसी बात नहीं है। सुनिये, लेकिन 'करहु जौं तुम्हहिं सुहाई', जो तुमको अच्छा लगे, वही करो। लेकिन मेरा प्रिय, मेरा सेवक वही होगा, जो मेरी आज्ञा का पालन करेगा। क्या भगवान राम कहते हैं—

जौं परलोक इहाँ सुख चहहु।
सुनि मम वचन दृढ़ गहहु।
सुलभ सुखद मारग यह भाई।
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥

अगर इस संसार में और संसार से बाहर भी तुम सुखी जीवन चाहते हो, तो जो मैं कहता हूँ, वही करो। इसी के लिए यह मनुष्य-शरीर मिला है।

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रंथहि गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछताय।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय॥

उसी के लिए मनुष्य-शरीर मिला है। यह तुम्हारा बड़ा भाग्य है। लेकिन समझने की बात है कि केवल मनुष्य का शरीर हमको मिल गया, हमारा बड़ा भाग्य हो गया। अब हमको कुछ करना नहीं है, ऐसी बात नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

मनुष्य-शरीर मिल ही गया और हम किसी का उपकार नहीं कर सकते, तो मनुष्य-शरीर किस काम का। जो दूसरे की सेवा नहीं कर सकता है, दूसरे का उपकार नहीं करता है, सत्संग नहीं कर सकता है, मनुष्य-शरीर मिला तो क्या हुआ! 'जिनके हृदय गुरु संत नहीं।'

जिनके हृदय में गुरु का वासा नहीं है, संत का वासा नहीं है, उनको नरतन मिला भी तो क्या मिला, इसकी उपयोगिता क्या है! एक साधु बाबा थे। वे दिन में मशाल लेकर घूम रहे थे बाजार में। किसी सज्जन ने पूछा—महात्माजी! दिन के सूर्यप्रकाश में आप मशाल लेकर घूम रहे हैं, मतलब! महात्माजी ने कहा—आदमी को खोज रहा हूँ। कहा—इतना बड़ा बाजार है, इसमें इतना आदमी है और आप आदमी को खोजते हैं। क्या ये लोग आदमी नहीं हैं? महात्माजी ने कहा—लो मशाल लेकर देखो, कौन-कौन आदमी है! जब वह मशाल के प्रकाश में देखा, तो कोई भालू है, कोई बंदर है, कोई बाघ है, कोई गाय है, कोई बैल है। एक भी आदमी उसको नहीं दीख पड़ा। मतलब उस तरह की वृत्ति वह नहीं करते थे। केवल शरीर मिल जाने से नहीं हुआ। बैल को अगर बाघ की खाल ओढ़ा दी जाए, तो क्या वह बाघ हो जाएगा। नहीं, ऐसी बात नहीं है। जब मनुष्य-शरीर हमको मिला है; लेकिन हममें मानवता चाहिए। अगर

हममें मानवता नहीं है और दानवता का कर्म करते हैं, तो मनुष्य-शरीर मिलने से क्या लाभ होगा। भारत के बादशाह बहादुर शाह थे। वे कविता भी लिखते थे। अपना नाम उन्होंने अपना जफर रखा है। उन्होंने अपने कविता में लिखा है–

जफर उसको न आदमी कहिएगा
चाहे वह कितना भी बड़ा हो,
जिसके अंदर ऐश में यादे खुदा न
और तैस में फाँके खुदा न।

तो ऐश और तैस दोनों देखना चाहिए। अपने हृदय को सुंदर बनाकर रखना चाहिए। संत लोग बतलाते हैं, यह मनुष्य-शरीर तुमको मिला हुआ है। श्रीमद्भागवत में मनुष्य-शरीर की उपादेयता बतलाई गई है, यह बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर मिला है।

लक्ष चौरासी भरमि के, पौ पर अटके आय।
अजहु पासा ना पड़ै, फिर चौरासी जाय॥

चार खानियों में चौरासी लाख प्रकार की योनियाँ हैं। यह जीव उसमें भटकता हुआ आज मनुष्य-शरीर में आया हुआ है। कबीर साहब ने कहा है–चौरासी लाख योनियों भटकते हुए मनुष्य-शरीर में आ गए। अब क्या करना चाहिए तुमको? एक खेल होता है चौपड़। इसमें चौरासी कोठे होते हैं। उसमें एक गोटी होती है और छः कौड़ियाँ होती हैं। इसको भाँजकर जमीन पर डालते हैं, तो जितनी कौड़ियाँ चित होती हैं, वह गोटी उतनी ही घर पार करती है। क्रम-क्रम से जब वह चौरासी कोठे पर आ जाती है, तो वहाँ पर कौड़ी भाँजने पर एक कौड़ी चित हुई, तो कहते हैं–गोटी लाल हो गई। अगर एक कौड़ी चित नहीं हुई, दो-तीन हो गई, तो गोटी को फिर लौटना पड़ता है चौरासी में। उसी तरह चौरासी लाख योनियों में घूमते-घूमते मनुष्य-शरीर में आ गये हैं। अगर इस समय हमारा एक चित होकर प्रभु से नहीं लग जाता है, तो फिर चौरासी लाख योनियों में घूमना पड़ेगा। जिस तरह एक कौड़ी चित हो गई, उसी तरह एक चित मन हो गया तो बेड़ा पार है। संत लोग बतलाते हैं, यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर है–

यह तन दुर्लभ तुमने पाया।
कोटि जनम भटका जब खाया॥
अब याको बिरथा मत खोओ।
चेतो छिन-छिन भगति कमाओ॥
भगति करो तो गुरु का करना।
मारग भेद गुरु से लेना॥
शब्द मारगी गुरु न होवे।
तो झूठी गुरुआई लेवे॥

ये राधास्वामी साहब हुए हैं आगरा में, उनकी वाणी है। यह मनुष्य-शरीर जितना भी सुन्दर है, उतना ही क्षणभंगुर भी है। कब काल आ जाए, कोई ठिकाना नहीं। इसलिए चेतो, सँभलो और ईश्वर की भक्ति करो। सदाचार का पालन करो। तब भगवान राम कहते हैं कि तुमको मनुष्य शरीर मिला है, बड़ा भाग्य है; लेकिन तुम्हारा भाग्य और बढ़ जाएगा, जब 'बड़े भाग पाइये सत्संगा।'

जब तुम सत्संग करोगे, तो तुम्हारा भाग्य और जग जाएगा। सत्संग करो। इस कान से सुनो और उस कान से निकाल दो, तब लाभ नहीं है। सत्संग सुनो, सन्मार्ग पर चलो। श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराज स्वामी विवेकानंद जी से कहा था–एक भजन गाओ। तो स्वामीजी ने एक भजन गाया–

मन चलह निज निकतने, संसार विदेश विदेशीर भेषे।
विषय पंच आर भूत गन, सब तोर पर हय न आपन।
पर प्रेमे केनो होय छ मगन, भूले छ आपन जने॥
सत पथे मन कर आरो॥

जो सत्पथ है, उसमें चलो। जो तुम्हारा घर है, तुम वहाँ जाओ। यह तुम्हारा घर नहीं है। तुम्हारी कितनी भी अट्टालिकाएँ हों, लेकिन तुम्हारा घर यह नहीं है। एक दिन तुमको छोड़ना पड़ेगा। इस घर को कौन कहे, जिस शरीर रूपी घर में रह रहे हो, यह भी तुमको छोड़ना पड़ेगा। कबीर साहब ने कहा है–

कहा मेड़ावे मेड़िया लंबी भीति उसार।
घर तो साढ़े तीन हाथ, घना तो पौने चार॥

जितने जीव हैं, सभी के शरीर की लंबाई-चौड़ाई भिन्न-भिन्न होती है; लेकिन मनुष्य का शरीर ऐसा है, जो सबका शरीर बराबर है। आप कहेंगे कि ऐसा नहीं होता है। कोई तीन हाथ का है, कोई साढ़े तीन हाथ का है, कोई पौने चार हाथ का है। एक समान कैसे होता है? कितना भी कोई नाटा हो, कितना भी कोई लंबा हो–अपने-अपने हाथ से सब-के-सब साढ़े तीन हाथ ही होते हैं। साढ़े तीन हाथ होने का मतलब हुआ–सात बित्ते। बारह अंगुल का एक बित्ता होता है, तो बारह सत्ते = चौरासी अंगुल। चौरासी अंगुल

का यह शरीर है। परमात्मा ने चौरासी लाख योनियों से छूटने के लिए यह चौरासी अंगुल का शरीर दिया है। 'अजहु पासा न पड़े, फिर चौरासी जाय।' इसलिए भगवान श्रीराम उपदेश करते हैं। इतना ही नहीं, गुरु-शरण में जाओ।

जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी।
ते लोकहु वदेहु बड़ भागी॥

बड़भागी कौन है? जो गुरुपद अम्बुज में प्रेम रखते हैं, प्रीति रखते हैं, अनुराग रखते हैं। वे ही महाभागी हैं। जो कोई साधना करते हैं, उनको दर्शन कर पाते हैं। संत तुलसी साहब ने कहा है—

दर्शन उनके उर माहिं करै बड़ भागी।
तिनके तरने की नाव किनारे लागी॥

संसार सागर से पार करने की नाव किनारे लगी हुई है। बैठ करके चलो। जो गुरुपद में अनुराग रखते हैं और जो गुरु बतला देते हैं करने के लिए और उस कर्म को करने लग जाते हैं, तो उसका भाग और जग जाता है।

श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सु प्रकासु।
बड़े भाग उर आवहिं जासु॥

जिसके अंदर प्रकाश हो जाता है, उसका भाग्य और जग जाता है। जीवन प्रकाशमय हो जाता है। यह भी समझना चाहिए कि लोग आजकल आँख दबाते हैं और रोशनी दिखलाते हैं, वह नहीं। कान बंद करातें है और शब्द सुनाते हैं। कहते हैं कि यही अंतर्ज्योति और अंतर्नाद है। यही ब्रह्मज्योति और ब्रह्मनाद है। न तो वह ब्रह्मज्योति है और न वह ब्रह्मनाद है, वह तो भ्रमज्योति और भ्रमनाद है। 'दृष्टि टिकै स्त्रुति धुनि रमै', जिसकी दृष्टि टिकती है, वहाँ उसे ज्योति झलकती है। बाइबिल में लिखा है—यदि तुम्हारी आँख एक हो, तो सारा शरीर उजियाला होगा। अगर तेरी आँख बुरी हो तो देखो, तुम्हारे अंदर कितना बड़ा अंधकार का साम्राज्य है। तो जो दृष्टि की धारों को मिलाने की क्रिया को करते हैं, वे अंत:प्रकाश पाते हैं। उनका बड़ा भाग्य है। वे कहाँ जाते हैं, उनको रास्ता कहाँ मिलता है—

अद्भुत अंतर की डगरिया, जापर चलकर प्रभु मिलते।
दाता सतगुरु धन्य धन्य जो राह लखा देते॥
चलत पंथ सुख होत महा है, जहाँ अझर झरते।
सुनत लखत सुख लहत अद्भुती मैंहीं प्रभु मिलते॥

उस अद्भुत अंतर की डगरिया को जानो। उस अद्भुत अंतर की डगरिया कैसे जान सकते हैं? जबतक गुरु नहीं किये हैं, नहीं जान सकते हैं। एक संत हुए पलटू साहब, उन्होंने कहा है—

उलटा कूवा गगन में, तिसमें जरै चिराग॥
तिसमें जरै चिराग, बिना रोगन बिन बाती।
छह रितु बारह मास, रहत जरतै दिन राती॥
सतगुरु मिला जो होय, ताहि की नजर में आवै।

जिनको सद्गुरु मिला है, उन्हीं की नजर में प्रकाश आता है, ज्योति आती है।

बिन सतगुरु कोउ होय, नहीं वाको दरसावै॥
निकसै एक अबाज, चिराग की जोतिहिं माहीं।
ज्ञान समाधी सुनै, और कोउ सुनता नाहीं॥
पलटू जो कोई सुनै, ताके पूरे भाग।
उलटा कूवा गगन में, तिसमें जरै चिराग॥

उनका बड़ा भाग, उनका पूरन भाग हो गया। उनको अंतर्नाद मिल जाता है। वह अंतर्नाद प्रभु से मिला देता है। मनुष्य-शरीर पाने की उपादेयता यह है। भगवान श्रीराम कहते हैं—यह सरल भक्ति है। यह राजयोग है, यह हठयोग नहीं है। चलने में कोई कठिनाई नहीं है। 'चलत पंथ सुख होत महा है' महासुख होता है। जिसे यह सुख नहीं, वह जीवन भर रोता है। यह तो वह सुख है, जो कभी छूटनेवाला नहीं है। एक भक्तिन हुई सहजोबाई, उनके गुरु चरणदासजी महाराज थे। उसने कहा—

भया जी हरि रस पी मतवारा।
आठ पहर झूमत ही बीते, डारि दियो सब भारा॥
इड़ा पिंगला ऊपर पहुँचे, सुखमन पाट उघारा।
पीवन लगे सुधा रस जब ही, दुर्जन पड़ी बिडारा॥
गंग जमुन बिच आसन मार्‌यो, चमक चमक चमकारा।
भँवर गुफा में दृढ़ ह्वै बैठे, देख्यो अधिक उजारा॥

परिणाम क्या हुआ? चित्त स्थिर।

चित स्थिर चंचल मन थाका, पाँचो का बल हारा।
चरणदास किरपा सूँ सहजो, भरम करम भयो छारा॥

जिनको सद्गुरु मिलते हैं, उसका पूरन भाग जग जाता है। जब उनको दृष्टियोग, नादानुसंधान की क्रिया बतलायी जाती है और करते हैं और अंतर्ज्योति और अंतर्नाद पाते हैं। भगवान श्रीराम कहते हैं—

सरल सुखद मारग यह भाई।
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।।

यह सरल भी है और सुखद भी है। मेरी भक्ति पुरान में भी है, वेद में भी है, सच्छास्त्रों में भी है। इसको करो। अगर इसको नहीं करते हो, यह मनुष्य-शरीर क्या है? संसार समुद्र पार करने के लिए नाव है।

नरतन भव वारिधि कहँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।
करनधार सतगुरु दढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।

संसाररूपी समुद्र पार करने के लिए मनुष्य-शरीररूपी नाव मिली हुई है। लेकिन नाव मिले और केवट नहीं मिले, तो पार कैसे होंगे। मनुष्य-शरीर मिलने पर भी 'करनधार सद्‌गुरु दृढ़ नावा', इस दृढ़ नाव के मल्लाह संत सद्‌गुरु ही हैं। यह दुर्लभ साज है, जो हमलोगों को सुलभ हुआ है। फिर भी अगर संसार सागर से पार नहीं होते हैं तो–

जो न तरइ भवसागर, नर समाज अस पाय।
सो कृत निंदक मंदमति, आतमहन गति जाय॥
फिर– सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछताय।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय॥

वह पीछे पछताएगा। पीछे पछताने से क्या लाभ होगा।

आछे दिन पाछे गये, किया न प्रभु से हेत।
अब पछताए होत क्या, चिड़िया चुग गई खेत॥

जब खेत में फसल लगी हुई थी, उस समय उसकी रखवाली नहीं की और चिड़िया आकर सब फसल खाकर चली गई, तो पछताने से क्या होगा। मनुष्य-शरीर मिला हुआ है। इसमें क्या भरा हुआ नहीं है–

देहस्थाः सर्वविद्याश्च देहस्थाः सर्वदेवताः।
देहस्थाः सर्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते॥

जितनी विद्याएँ हैं संसार में, लोक-परलोक की जितनी भी विद्याएँ हैं, सारी विद्याएँ इनमें भरी पड़ी हुई हैं। देखिए, जबतक गुरु नहीं मिलेंगे यानी सच्चे सद्‌गुरु नहीं मिलेंगे, तबतक इसकी कुंजी नहीं मिलेगी। गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा–

जे सउ चन्दा उगवहि सूरज चढ़हि हजार।
एते चानन होदिया गुरु बिन घोर अन्धार॥

जिसको गुरु नहीं है, उसको अंधार ही अंधार है। कितना भी सूर्य उगे या चन्द्र उगे। भगवान राम कहते हैं–पीछे क्यों पछताओगे, इसलिए मनुष्य-शरीर तुमको मिला हुआ है, इसमें भजन करो। कितने कहते हैं कि गुरु की क्या आवश्यकता है, हम तो किताब से पढ़ लेते हैं, हो गया। किताब पढ़ लेने से नहीं होता, अगर किताब पढ़ लेने से ही काम चलता तो इतने स्कूल-कॉलेज नहीं होते। सब किताब घर में पढ़ लेते, आवश्यकता क्या थी स्कूल-कॉलेज की?

एक अच्छे पढ़े-लिखे थे, उनको नदी पार करनी थी। संध्या समय था। चलते-चलते अँधेरा हो गया। उसने मल्लाह से कहा–भाई! नदी पार कर दो। मल्लाह ने कहा–बैठिये नाव पर। नाव पर वह बैठ गया। वह पंडित कहने लगा कि तुम नाव जो चलाते हो, कितने पढ़े लिखे हो? मल्लाह बोला–पंडितजी मैं कुछ भी पढ़ा-लिखा नहीं हूँ। केवल नाव चलाने के लिए जानता हूँ। पंडितजी बोला–तुम्हारा एक बटे चार का जीवन बेकार चला गया। पंडित ने कहा–देखो, मैं चारो वेद, छहो शास्त्र, अठारहो पुराण जानता हूँ। ये सब हमको ज्ञात हैं, तुमको कुछ भी नहीं। कुछ देर बाद आकाश में तारे निकले आए, तो पंडितजी ने पूछा कि नक्षत्रविद्या जानते हो। केवट ने कहा–पंडितजी! आप अपना माथा खराब करते हैं और मेरा माथा भी। अगर नक्षत्र विद्या जानता तो यही नाव चलाता! पंडितजी ने कहा–देखो, मैं नक्षत्र विद्या, क्षत्र विद्या, भूत-प्रेत-सर्प आदि सब विद्या जानता हूँ। तुम्हारा एक बटे दो यानी आधा जीवन बेकार चला गया। नाव कुछ दूर गई, अब किनारे लगने को है। जंगल था, उसमें हिरण इधर-से-उधर भाग रही थी। पंडितजी ने कहा–जीवविज्ञान तुम पढ़े हो। केवट बोला–हम कुछ नहीं पढ़े हैं। पंडितजी बोला–जा, तुम्हारा तीन बटे चार यानी पौने जीवन बर्बाद हो गया।

संयोग ऐसा हुआ, नीचे एक पत्थर था, उससे नाव में ठोकर लग गई, जिससे नाव का एक तख्ता खुल गया। नाव में पानी आने लग गया। मल्लाह ने पूछा–पंडितजी! सब विद्या तो आप जानते हैं; लेकिन तैरने की विद्या जानते हैं? नीचे से पानी आने लग गया है नाव में। अब नाव डूबनेवाली है। अगर तैरने की विद्या जानते हैं, तो इसमें तैरिये, नहीं तो इसी में डूब जाइए। पंडितजी ने कहा–यह विद्या मुझे नहीं

आता है। वह नाविक कूद गया पानी में और तैरकर पार हो गया। वह पंडितजी बेचारे, सारी विद्याओं के जानकार डूबकर मर गया। सब विद्या पढ़े रह गया पंडितजी का। विद्या पढ़े-लिखे रहने पर भी उसकी उपयोगिता होती है सिखानेवाले की। मल्लाह ने कहा–

जीवन पौन नष्ट है मेरा, विविध ज्ञान बिन जाने।
पूरा जीवन नष्ट आपका बाबू, बिना तैरना जाने॥

इस तरह संसार-सागर से जो तैरने की कला है, उसको सीखें। पढ़ें-लिखें आवश्यकता है विद्या की। सब विद्या पढ़िए, जितना हो सके। जितना पढ़ सकें, अच्छा है; लेकिन संसार-सागर से पार होने की विद्या भी सीखिए, तो बहुत अच्छा है। इतना कहकर मैं। अपने प्रवचन में विराम देता हूँ। आपलोगों को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। (स्थान–सोदपुर, कोलकाता दिनांक–२७.१.२००६ ई०, अपराह्न, ९५वाँ महाधिवेशन के सुअवसर पर हुआ था।)

१२४. गहणा कर्मणो गतिः

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

परम प्रभु परमात्मा हम सबों को मानव शरीर दिया है। यह मानव शरीर देवदुर्लभ शरीर कहा गया है। इस अनमोल शरीर को हम पाये हैं। परमात्मा ने इसके अंदर पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चार अंतःकरण की इन्द्रियाँ हैं। दसों इन्द्रियों का यानी पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का मालिक मन है।

मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो।

बंधन का कारण मन ही है। भव-बंधन से छुड़ानेवाला मन ही है। कौन-सा हम काम करें, जिससे हम बंधन में न जाएँ। जबतक हम माया में लिपटे रहेंगे, तबतक हमसे वैसे कर्म होंगे, जो बंधन का कारण होगा। गुरु नानकदेवजी महाराज फरमाते हैं–

भूले मन माया उरझाइउ जो जो कर्म कीउ।
लालच लगि तिह तिह आप बंधाइउ॥

किसी भी कर्म करने के पहले सोच लेना यानी सोचकर काम करना बुद्धिमत्ता है। सोचते हुए कर्म करते जाना, काम करते हुए सोचते जाना–यह सतर्कता है और कर्म करके पश्चाताप करना मूर्खता है।

बिना विचारे जो करे सो पीछे पछताय।
काम बिगाड़े आपना, जग में होत हँसाय॥

इसलिए विचार करके करना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण का महावाक्य गीता में है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

कर्म करने का अधिकार उन्होंने मानव को दे दिया है; लेकिन कर्म का फल भगवान अपने वश में रखा है। अगर मानव के हाथ में कर्म के साथ-साथ कर्म का फल दे देता, तो मानव बुरे कर्म करके फल लेने के समय चुनकर बढ़िया फल ले लेते। लेकिन भगवान ने कहा–फल तो मैं दूँगा। जो तुम कर्म करोगे, उसका फल देनेवाला मैं रहूँगा।

तुलसी यह तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप पुण्य दोउ बीज है, बोये सो लूनै निदान॥

कृषक खेती करते हैं। खेत को कोड़ते हैं, जोतते हैं, उसमें बीज डालते हैं। जो बीज वे डालते हैं, तदुपरांत पौधा निकलते हैं। उसमें फूल निकलते हैं और फल भी होते हैं। ऐसा नहीं कि गेहूँ का बीज बोया जाए और उसमें चावल लगने लग जाए। जो गेहूँ का बीज बोएँगे, फल में उसका वह गेहूँ काटेंगे। जिस खेत में चना बोयेंगे, समय आने पर वे चना काटेंगे। कर्म करते हैं कम; लेकिन फल अधिक मिलता है। मान लीजिए, जिस खेत में एक मन अनाज बो देते हैं, काटने के समय कई मन अनाज हम ले आते हैं। उसी तरह जो कर्म हम करते हैं, वह कर्म कितना गुना बढ़ जाता है, इसका ठिकाना नहीं। बुरे कर्म हम करेंगे, वह उसी तरह बढ़ेगा। अच्छे कर्म करेंगे, वह उसी तरह बढ़ेगा। अब हमारा अधिकार है, अच्छे कर्मों को करें, बुरे कर्मों को न करें।

कर भला होवे भला, करके भलाई देख ले।

कर बुरा होवे बुरा, करके बुराई देख ले ।।

जब मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम जगत जननी जानकी और लक्ष्मणजी के साथ जंगल चले गये। भरतजी उस समय अयोध्या में नहीं थे, ननिहाल में थे। ननिहाल से अयोध्या आने पर उनको अयोध्या का हाल मालूम पड़ा। भगवान श्रीराम, श्रीसीता और लक्ष्मण के जंगल चले जाने की बात सुनकर बड़े दुःखी हुए। कैकेई ने भरत के लिए राजगद्दी माँग ली थी। यह चले भगवान श्रीराम को मनाने के लिए कि बड़े भाई! अयोध्या राज आपका है, आप राज कीजिए। जितनी माताएँ थीं, गुरु थे, ब्राह्मण थे, पुरवासी थे, चतुरंगिनी सेना के साथ जंगल की ओर भरतजी प्रस्थान करते हैं। जाते-जाते जहाँ भगवान श्रीराम की कुटिया थी। अभी उससे थोड़ी दूर पर ही भरतजी की सेना के पदाघात से उड़ती हुई वह गगनगामिनी धूल से चारो ओर धूल-ही-धूल दिखाई पड़ने लग गई। कोई हवा नहीं, कोई अँधड़ नहीं, इतनी धूल क्यों उड़ रही है। पता चला कि भरतजी ससैनिक आ रहे हैं। लक्ष्मणजी शेषावतार थे। उनके मन में आया कि भरतजी राजपद पाकर मद में आ गये हैं और हमलोग निहत्थे हैं। दोनों भाइयों को मारकर निष्कंटक राज्य करना चाहते हैं। आवेश में आकर लक्ष्मणजी कहते हैं–

जौं सहाय कर संकर आई।
तौ मारौं करि राम दुहाई ।।

भरतजी ने क्या समझ लिया है, अगर शंकर भी सहायता करनेवाले हो जाएँ, तब भी मैं राम की दुहाई उनको मारूँगा। तबतक में आकाशवाणी होती है–

अनुचित उचित बात कछु होई।
समुझि करिय भल कह सब कोई ।।

लक्ष्मणजी! उचित-अनुचित का विचार कर काम करना चाहिए।

सहसा करि पीछे पछताई।
कहहिं वेद सो बेद बुध नाहीं ।।

जो मन में आया, कर बैठा और पीछे पश्चाताप करने लग गए। यह बुद्धिमान का लक्षण नहीं है, ऐसा मत करो। भगवान राम लक्ष्मण को समझाते हैं–

भरतहिं होइ न राज मद, विधि हरिहर पद पाई।

भाई लक्ष्मण! अयोध्या का राज्य तो बहुत छोटा है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश–तीनों का राज्य मिल जाए भरत को, तब भी उसको मद नहीं आ सकता। क्या एक बूँद खटाई क्षीरसमुद्र को नाश कर सकती है, उसी तरह से एक बूँद खटाई है अयोध्या का राज्य। तुम शांत होकर रहो। मतलब कहने का जो मन में आया, वह नहीं करो। मन प्रेरक होता है इन्द्रियों का; क्योंकि 'इन्द्रियाणां मनो नाथो।' इन्द्रियों का नाथ मन है। जो मन कहेगा, इन्द्रियाँ वही करेंगी। हमारे सामने थाली आयी भोजन की, उसमें दस चीजें हैं। मन खाने के लिए सबसे पहले जिसको कहेगा, हाथ उसी चीज को पहले उठाएगा। मान लिया जिस चीज को खाएँगे, तो हाथ उसपर चला गया, उठा भी लिया; लेकिन मन कहेगा कि नहीं, इसको छोड़ दो, पहले अमुक चीज खाओ। वह रखकर दूसरी चीज को ले लेगा। यह मन प्रेरक है, इसीलिए किसी कर्म करने के पहले सोच लेना चाहिए। क्या उचित होता है, क्या अनुचित होता है! लेकिन माया के वशीभूत होकर अनुचित-उचित के भेद को नहीं विचारते। जैसा मन में हुआ, वैसा करते हैं। इसका परिणाम अच्छा नहीं है। संतजन कहते हैं–अपने मन का निग्रह करो–मनोनिग्रह करो। अगर मन का निग्रह नहीं किया, जैसा मन ने कहा, वैसा कर दिये, तो बंधन में पड़ जाओगे। मायाजाल में पड़ जाओगे और मायाजाल में पड़कर दुःख भोगोगे। अच्छा कर्म करना अच्छा है, बुरा कर्म कभी नहीं करना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि एक जमाना था, अच्छा कर्म करने का फल अच्छा होता था और बुरा कर्म करने का फल बुरा होता था; लेकिन आजकल तो देखा जाता है कि जो अच्छे कर्म करते हैं, वे दुःखी होते हैं और जो बुरे कर्म करते हैं, वे सुख से रहते हैं। बंगाल में एक प्रसिद्ध कहावत है–

जेई कऽरे पुण्य ताँर काये लागे घुन।
जेई कऽरे पाप सेई सात छेलेर बाप ।।

यह कहावत है, यथार्थ में यह बात नहीं है। तब फिर ऐसा होता क्यों है? जो लोग अच्छे-अच्छे कर्मों को करते हैं, वे दुःखी रहते हैं और जो बुरे कर्मों को करते हैं, वे सुखी देखे जाते हैं–ऐसा क्यों? हमलोगों का कर्म हमलोगों के साथ रहता है। इसका फल उसके साथ रहता है। कर्म तन से करते हैं, मन से करते हैं, वचन से करते हैं–इन तीन कर्मों को हम

प्रतिदिन करते हैं। कुछ कर्म का फल तुरत मिल जाता है, कुछ कर्म का फल कुछ दिनों के बाद मिलता है। कुछ कर्म का फल इस जन्म में नहीं मिलता, अगले जन्म में मिलता है। मान लीजिए कि एक घंटे के अंदर हम तीन पेड़ लगाए। एक केला का, दूसरा आम का और तीसरा अखरोट का। हमने तीन पेड़ लगाए एक घंटे के अंदर; लेकिन तीनों का फल हम एक साथ खाएँगे, यह नहीं होगा। केला छह महीने-सालभर में फल दे देगा; लेकिन छह महीने-सालभर में आम फल देगा, वह नहीं होगा। आम के फल में पाँच-छः साल लग जाते हैं और जो अखरोट का फल है, वह चालीस वर्ष से पहले फल नहीं देता है। मान लीजिए इस समय हमारी उम्र चालीस साल की हुई, उस समय हम ये तीनों पेड़ लगाये थे। छः महीने-सालभर के बाद हमने केला का फल खा लिया। आम का भी फल हमको मिल गया; लेकिन जब हमारी उम्र साठ साल की हुई तो शरीर छूट गया। तब हमारी उम्र अस्सी साल का होता, तब हम उस अखरोट का फल खा सकते थे; लेकिन साठ साल में ही हमारा शरीर छूट गया। अब हम अखरोट का फल कैसे खाएँगे? पुनः जब हमारा जन्म होगा, तब हम अखरोट का फल खा सकेंगे। उसी तरह उसने जो पहले अच्छे कर्म किये थे, अब संगति बुरी हो गई है, वे कर्म तो बुरे-बुरे करते हैं; लेकिन पूर्वजन्म का अखरोट लगा हुआ है अच्छे कर्म का, उसका फल तो खाएगा ही वह। उसी तरह जिन्होंने बुरे-बुरे कर्म किये हैं और शरीर छूटने के बाद जहाँ जन्म हुआ, संगति अच्छी हो गई, अच्छे-अच्छे कर्म करने लग गये; लेकिन पूर्वजन्म का जो बुरे कर्म का अखरोट लगा है, वह कौन खाएगा! इसलिए बुरे-बुरे कर्म करनेवाले सुखी देखे जाते हैं और अच्छे-अच्छे कर्म करनेवाले दुःखी देखे जाते हैं। 'गहना कर्मणो गतिः।'

कर्म की जो गति है, वह बहुत ही गहन है। इसलिए संतों ने कहा–कर्म को पहले समझ लो, तब करो। इसलिए संतों का उपदेश है, जितने संत हो गये, सभी ने यही बात बतलायी। कर्म कर्ता कौन है? किस तरह करता है कर्म, तो बतलाया गया है–

यदि शैल समं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेद कदाचन॥

ध्यानयोग से पाप का नाश होता है और यह ध्यान कैसे किया जाएगा। बतलाता कौन है? जो संत सद्गुरु होते हैं, वे बतलाते हैं।

बिनु सतिगुर सेवे जोगु न होई।
बिनु सतिगुर भेटे मुकति न कोई॥
बिनु सतिगुर भेटे नामु पाइआ न जाइ।
बिनु सतिगुर भेटे महा दुखु पाइ॥
बिनु सतिगुर भेटे महा गरबि गुबारि।
नानक बिनु गुर मूआ जनमु हारि॥

अगर गुरु धारण नहीं किया, उनसे सद्ज्ञान नहीं लिया, तो जन्म बेकार चला गया। उनका उपदेश है–

साधो मन का मान त्यागो।

एक लघुकथा है। दो मित्र थे। दोनों साथ-साथ रहकर व्यापार करते थे। मुम्बई आढ़त में सामान भेज देते थे। आढ़त में जब सामान का दाम बढ़ जाता था, वहाँ से खबर आती थी कि मूल्य बढ़ गया है। महाजन की खबर पर दोनों जाते थे और बेचकर पैसे उठा लेते थे। यह सत्य घटना है, कहानी नहीं है। आज से पचास साल पहले की बात है। मुम्बई जाकर दोनों मित्र सामान रख दिये आढ़त में। समय आया, तो उधर से खबर आई कि भाव बढ़ गया है, आकर अपना सामान बेच लीजिए। एक लाख भाव है। दोनों मित्र खुश हुए और गये। वहाँ जाकर माल बेचा। एक लाख रुपये हुए। अब दोनों में से एक के मन में पाप घुस गया कि एक लाख है, पचास-पचास हजार करके बँटवारा हो जाएगा। अगर हम इसको किसी तरह मार दें तो हम लखपति बन जाएँगे। उसने कहा अपने मित्र से कि हमलोगों के पास इतने पैसे हैं। पैसे लेकर कहाँ जाएँगे। धर्मशाला में हम ठहरें और वहीं रात्रि बिताकर सबेरे वहीं से यात्रा करेंगे। दोनों धर्मशाला में ठहरे। रात्रि-भोजन के समय एक व्यक्ति ने कहा कि एक आदमी बाजार जाएँ और वे वहाँ भोजन कर लें और यहाँ पर जो रहेंगे, उनके लिए भोजन लेते आवें। तो उसने कहा कि आप चले जाएँ, भोजन कर लीजिएगा और मेरे लिए लेते आइएगा। उसके मन में पहले से बात थी ही और मौका मिल गया उनको। पहले उसने भोजन कर लिया और उसके लिए जो भोजन लिया, उसमें उसने विष मिला दिया। जैसे ही खाया, बेचारा छपपटाकर मर गया। बस, उसको फेंक-फाँक दिया। उसके घर पर फोन कर दिया–तुम्हारा पिता बहुत बीमार है, जल्दी से आ जाओ। जैसे खबर पहुँची,

वहाँ से वह चला। इधर यह भी चलते हैं घर की ओर। जिस स्टेशन पर उस लड़के को चढ़ना था, उसी जगह उतरते हैं वे। उनका लड़का पूछता है कि पिताजी कहाँ हैं? बनावटी रोना-धोना शुरू कर दिया। हमारे मित्र थे, एक रोटी को टुकड़ाकर बाँटकर खाते थे। हमारा कलेजा कट गया। क्या बतलाऊँ, बीमार पड़ गए, डॉक्टर को बुलावाए, इलाज करवाये; लेकिन हमारे मित्र नहीं बच सके। अरे! क्या दुर्भाग्य है हमलोगों का। अब ऐसा और दुर्भाग्य हुआ, कहाँ तो एक लाख का लाभ होने को था, हमलोगों को वहाँ पहुँचते हैं, तबतक भाव गिर गया। दस हजार लाभ हुआ है। डॉक्टर को बुलावाए, इलाज हुआ, उसमें जो खर्चा हुआ, वह तो मेरा हुआ, तुम अपना पाँच हजार लेते जाओ। पाँच हजार उसके लड़के को दे दिया। उसने ले लिये पाँच हजार रुपये, अब क्या करेगा?

अब होता क्या है, जिसने यह बेईमानी की थी, उसको पुत्र नहीं था। सालभर होते-होते उसको पुत्र हो गया। उसके मन में हुआ कि देखो, इतने दिन हमलोग धर्म करते रहे, तो पुत्र का मुँह नहीं देखा। आज पाप किया, तो हम बाप भी हैं। किसी तरह से बेटा का मुँह तो हम देखते हैं। बाप कहलाने लग गये। बहुत खुशी हुई। धीरे-धीरे वह लड़का बड़ा होता है। वह बीमार पड़ता है। डॉक्टर को बुलाया जाता है। इलाज करवाया जाता है। पैसे की कमी तो थी नहीं। कारबार भी खूब चलने लगा था। इलाज होने लगा, तो यहाँ के डॉक्टर ने कहा—इस बीमारी का इलाज भारत में नहीं होगा। स्वीटजरलैंड में होगा, वहाँ इसे ले जाइए। पैसे की कमी तो थी नहीं, वहाँ चले गए। वहाँ रहने लगा भाड़े पर। बड़े-बड़े डॉक्टर को बुलवाकर दिखाने लगा। कई महीने बीत गये। यहाँ मुनीमजी कारबार सँभालने लगे। मुनीमजी को खबर भेजते कि इतने रुपये भेज दो, इतने रुपये भेज दो। मुनीमजी जो था, उसको भी हुआ कि कब आते हैं, नहीं आते हैं, उसने भी घाटा दिखाना शुरू कर दिया। होते-होते ऐसा होता है कि वहाँ के डॉक्टर ने कहा कि इसका इलाज नहीं है। चाहे इसका कब्र यहाँ दे दो या भारत में जाकर दो। अब इतना खर्च हो गये, अब पुत्र को लेकर घर जाते हैं। घर आ गए। दुःखी हैं। मुनीमजी से पूछा तो उसने कहा कि क्या बतलावें, आप माँगते गये, हम भेजते गये। अब रुपये कहाँ? ऐसे घाटा लग गया, ये लग गया, वो लग गया। इधर पैसे का भी घाटा लग गया, इधर बेटे की यह हालत है। मरणासन्न है, बड़ा दुःखी है वह। एक दिन लड़का हँस उठा। उसके बाप के मन में हुआ कि अब मेरा हँस रहा है, रोग छूट गया। बेटा! ठीक हैं न! बेटा ने कहा—बाबूजी! पहचान लीजिए, मैं कौन हूँ। जिसका रुपया आपने लिया था, वही मैं हूँ। रुपया तो मैंने वसूल कर लिया है, बाकी जो बचा है, मेरे श्राद्ध में खर्च कर दीजिएगा। हम चले। शरीर छोड़ देता है। इसलिए बुरे कर्म को भूल से भी नहीं करना चाहिए। अच्छे कर्मों को अनेक कर्मों को करना चाहिए। भगवद्भजन करना चाहिए। इससे इहलोक और परलोक दोनों बनेगा।

(स्थान—कोलकाता, दिनांक—२८.१.२००६ ई०, अपराह्नकालीन सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१२५. उठ जागो जल्दी भोर भई

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

संत कबीर साहब की एक वाणी है।

'मोरे जियरा बड़ा अन्देशवा
मुसाफिर जैहों कोनी ओर।

उन्होंने जागतिक जनों को मुसाफिर की संज्ञा दी है। मुसाफिर कहते हैं यात्री को। यात्री अपने घर को छोड़कर किसी कार्यविशेष से दूसरी ओर जाता है। उस कार्य को सम्पन्न कर वह सकुशल वापस घर लौट जाता है। वह कुशल यात्री कहलाता है। जो यात्री घर छोड़कर चला तो है; लेकिन बीच में ही अटक गया है, जहाँ पहुँचना चाहिए, वहाँ नहीं पहुँचता है, तो वह कुशल यात्री नहीं है। हमलोग इस संसार में आये हैं। कुछ दिन रहेंगे, फिर चले जाएँगे। कहाँ से आये हैं, कुछ पता नहीं चलता। कहाँ जाएँगे, कुछ पता नहीं। संत महात्मागण बताते हैं—परमात्म-धाम से तुम इस संसार में आए हुए हो। इस संसार में तुमको इसलिए भेजा गया है कि भगवद्भजन कर

अपना परम कल्याण बना सको। जो अपना परम कल्याण बनाता है, वही दूसरों का भी कल्याण कर सकता है। जो विद्वान होते हैं, वे ही दूसरों को विद्वान बना सकते हैं। हमारे सामने दो ओर हैं–एक संसार की ओर, दूसरा परमार्थ की ओर। हमलोग संसार की ओर चल रहे हैं। संसार की ओर चलने में जागतिक सुख-दुःख मिलता है; लेकिन परम कल्याण नहीं होता है। परम कल्याण भगवद्भजन से होता है। संत राधास्वामी साहब ने कहा है–

क्या सोवे जग में नींद भरी ।
उठ जागो जल्दी भोर भई ॥
पंथी सब उठ के राह लई ।
तू मंजिल अपनी बिसर गई ॥
सतगुरु की खोज करो प्यारी ।
संग उनके बाट चलो न्यारी ॥
भौसागर है गहिरा भारी ।
गुरु बिन को जाय सके पारी ॥
भक्ती की रीति सुनो प्यारी ।
गुरु चरनन प्रीति करो सारी ॥
तज संशय भरम करम जारी ।
तब सुरत अधर घर पग धारी ॥
चढ़ गगन शिखर तन मन वारी ।
धुन बीन सुनो सत पद न्यारी ॥
फिर अलख अगम जा परसा री ।
राधास्वामी चरण पर बलिहारी ॥

भवसागर में तुम डूब रहे हो। मायामोह में डूब रहे हो। जबकि माया-मोह चन्द दिनों का है, एक-न-एक दिन छोड़ना ही पड़ेगा। हम छोड़ें, चाहे वह हमको छोड़े। जिससे संयोग हुआ है, उनसे वियोग होना अवश्यंभावी है। चलना किधर है? बाहर संसार की ओर हमलोग चल ही रहे हैं, यह बहिर्मुख है। संतलोग कहते हैं–अंतर्मुखी चलो, तब तुम्हारा कल्याण होगा। महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज कहते हैं–

खोजो पंथी पंथ तेरे घट भीतरे।
तू अरु तेरो पीव घट ही अन्तरे॥

ऐ यात्री! रास्ता खोजते हो, तो अपने घर जाने का रास्ता बाहर संसार में नहीं है। परमात्मा प्राप्ति का पथ बाहर संसार में नहीं है। इसलिए बहिर्मुख से अंतर्मुख होना होगा।

बेहोशिये इन्सान से ख्याल जुदा है।
जाहिर में है मुहम्मद बातिन में खुदा है।

जो प्रभु परमात्मा शांतिमय है, शाश्वत है, उनका ही भजन कर उनको प्राप्त करने पर परम शान्ति मिलेगी और शाश्वत सुख मिलेगा। अगर हम उस ओर नहीं जा रहे हैं, बहिर्मुख जा रहे हैं, तो परिणाम क्या होगा! एक यात्री था। वह यात्रा कर रहा था। यात्रा करते-करते रास्ते में उसको एक जंगल मिला। उस जंगल में वह जा रहा था। कई पगडंडियाँ थीं उसमें। उसने एक अनजान पगडंडी पकड़ ली, जो उसे घनघोर जंगल में ले गया। वहाँ एक हाथी था। उसने देखा इसको। हाथी इसको मारने के लिए दौड़ा। वह अपनी जान बचाने के लिए भागने लगा। वह जंगल में रास्ता तो देखा हुआ था नहीं, अंधाधुन्ध दौड़ने लगा। उस रास्ते में एक बहुत पुराना कुआँ था, जिसमें घास उग आये थे। पता नहीं चलता था कि वहाँ कुआँ है। घास-ही-घास मालूम पड़ता था। उसी होकर सरपट दौड़ा हुआ चला जा रहा था। उसी कुएँ में वह गिर पड़ा। हाथी पीछा करते हुए आ रहा है। वह कुएँ में जो गिरा, उसमें विशाल वृक्ष था, उसकी डाल पकड़कर वह लटक गया। नीचे उतरना चाहता है, तो देखता है कि अजगर मुँह बाये हुए है। ऊपर वह निकलना चाहता है तो देखता है कि हाथी आ गया है नजदीक। उस बेचारे को न नीचे जाने में बनता है, न ऊपर आने में बनता है। इतने में होता क्या है? उस बरगद वृक्ष के ऊपर में एक मधुमक्खी का छत्ता था। चील झपट्टा मारती है, मधु का रस चूने लगता है। यह तो डाल पकड़कर लटका हुआ है। वह शहद की जो बूँद गिरती है, उसके होंठ पर गिरती है, तो मीठा लगता है, वह खाने लगा। जिस डाल को वह पकड़कर लटका हुआ था, उस डाल को दो चूहे काट रहे थे। एक उजला चूहा था, दूसरा काला चूहा था। अब जो उसको शहद का मीठापन मालूम पड़ा, तो भूल गया कि हाथी मेरा पीछा किये हुए है और नीचे में अजगर मुँह बाये हुए है और जिस डाल को हम पकड़े हुए हैं, उसको चूहे काट रहे हैं। सब भूल गया। उसी मिठास में वह मग्न हो गया। कुछ दिनों में डाल कटेगी। नीचे जो मुँह बाये काल व्याल है, उसके मुँह में वह जाएगा; लेकिन उनको इसकी परवाह नहीं है। वह यात्री कौन था? वह यात्री हमलोग ही हैं। संसार के जंजाल में आ गये हैं। जिस दिन जन्म

लेते हैं, उस दिन से मृत्य पीछा करती है। बच्चा एक दिन का हुआ, दो दिन का हुआ, पाँच महीने का हुआ, छः महीने का हुआ, साल भर का हुआ, उसका अभिभावक समझता है कि हमारा लड़का छह महीने का हो गया, सालभर का हो गया। अब हमारा बेटा पाँच साल का हो गया। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, तो अभिभावक समझते हैं, हमारा बच्चा बढ़ता चला जा रहा है। लेकिन बढ़ता क्या जा रहा है, वह तो घटता चला जा रहा है। सौ वर्ष का उम्र लेकर वह आया था, तो पाँच वर्ष कम हो गया तो पंचानबे ही बाकी रहा। दस वर्ष का हो हुआ तो अब नब्बे ही बाकी बचा। चालीस वर्ष हुआ, तो साठ बरस ही बाकी बचा। सब चला गया तो आ गये यम के चपेट में। गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–

घटत छिन-छिन बढ़त पल पल, जात न लागत बार।
वृक्ष से फल टूट पड़िहैं, बहुरि न लागत डार॥

एक तो यह हालत है हमलोगों की। हमलोगों का जो जीवन है, इस जीवन को दो चूहे काट रहे हैं। एक काला चूहा है और एक उजला चूहा। ये दो चूहे कौन हैं? प्रत्येक महीने में दो पक्ष होते हैं–एक को कृष्णपक्ष कहते हैं और दूसरे को शुक्लपक्ष। जो कृष्णपक्ष है, वह काला चूहा है और जो शुक्लपक्ष है, वह उजला चूहा है। जो विषय का रस हमारे होंठ पर पड़ता है, जिसमें हम भूले हुए हैं। कहाँ है भगवान? कहाँ भक्त? एक-न-एक दिन वह डाल कटकर समाप्त हो जाएगी। काल व्याल के मुँह में हम चले जाएँगे। संतजन कहते हैं, अपने को इस कुआँ से निकालो।

काम क्रोध मद लोभ रत, मोहासक्त दुखरूप।
ते नहिं जानहि रघुपति, मूढ़ पड़े तमकूप॥

कहते हैं–कहाँ हम कुएँ में पड़े हुए हैं, हम तो ऊपर में हैं; लेकिन ऊपर कहाँ हो, तमकूप में पड़े हुए हो। ऊपर में तो आपका शरीर है और आप आँखें बंद करके देखिए तो कहाँ हैं? आँखें बंद करके देखते हैं तो अंधकार मालूम पड़ता है। इसी अंधकार के कुएँ में हम पड़े हुए हैं। इस अंधकार के कुएँ से अपने को निकालो। गुरु महाराज की वाणी में आया है–

तुम उतरि पड़्यो तम माहिं पीव निःशब्द में।
याहि ते परि गयो दूरि चलो निःशब्द में॥

निःशब्द से शब्द हुआ। शब्द से प्रकाश हुआ। प्रकाश से अंधकार हुआ। तो निःशब्द से शब्द आए और शब्द से प्रकाश में आए। प्रकाश से नीचे उतरकर अंधकार में चले आए। अब चलना होगा कैसे? तो कबीर साहब कहते हैं–

उलटि पाछिलो पैड़ो पकड़ो पसरा मना बटोर।

बहिर्मुख से अपने को अंतर्मुख करो, उलटो। उलटो–मतलब यह नहीं कि टाँग ऊपर कर दो और माथा नीचे कर दो। अपनी वृत्ति को समेटो, बहिर्मुख से अंतर्मुख होओ। दसो इन्द्रियों में जो हमारी वृत्ति फैली हुई है, धारा फैली हुई है, उस धारा को समेट करके अंतर्मुख हम करें। रामचरितमानस में हमलोग पढ़ते हैं–

उलटा नाम जपत जग जाना।
बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥

इसका अर्थ पंडितों ने किया है। उलटा नाम है–वाल्मीकि पहले बहुत बड़ा हत्यारा था। बहुत लोगों को उसने मारा था। नारदजी ने राम का मंत्र दिया। राम मंत्र का जप करो। इतना बड़ा हत्यारा था कि वह राम का उच्चारण नहीं कर सकता था। मरा-मरा कहता था। मरा-मरा कहते-कहते राम हो गया और उसका उद्धार हो गया। यह पंडितों का अर्थ है। समझने की बात है। उलटा नाम है–उलटा अक्षर नहीं है। मरा-मरा कहकर जो राम हो गया, वह अक्षर उलटा। नाम को उलटो। नाम कहते हैं शब्द को। शब्द दो तरह के होते हैं–वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक, सार्थक और निरर्थक, सगुण और निर्गुण। इस नाम को उलटना है। वर्णात्मक से ध्वन्यात्मक में लाना है। सगुण नाम से निर्गुण नाम में लाना है। नौ द्वार से सिमटकर दसवें द्वार में लाना है। यह बहिर्मुख से अंतर्मुख होना–उलटना है। वही कबीर साहब कहते हैं–

'उलटि पाछिलो पैड़ो पकड़ो, पसरा मना बटोर।'

कैसे पकड़ोगे? अंधकार में हो, चलोगे कहाँ से? जो जहाँ पर बैठा रहता है, वह वहाँ से ही चलता है। इसे हॉल में बैठे हुए हैं अपनी-अपनी जगह पर, अगर यहाँ से घर जाएँगे तो कहाँ से जाएँगे? जो जहाँ बैठे हुए हैं, वहीं से न उठेंगे। दूसरे की जगह से दूसरे तो नहीं चलेंगे। जो जिस जगह पर बैठे हुए हैं, वहीं से चलेंगे। उसी तरह हम उतरे हुए कहाँ से हैं–

तुम उतरि पड़्यो तम माहिं पीव निःशब्द में।

जिसको पीव तक जाना है, उसकी यात्रा पूरी तब होगी, जब निःशब्द में पहुँचेंगे। इसलिए क्या

करो? तम प्रकाश अरु शब्द निःशब्द की कोठरी। की खोज करो। अंधकार से अपने को प्रकाश में ले जाओ। प्रकाश से शब्द में ले जाओ और शब्द से निःशब्दं परमं पदम् की खोज करके अपना परम कल्याण बनाओ। इसके लिए घर-वार, परिवार, रोजगार छोड़ने की जरूरत नहीं है। घर-वार, परिवार, रोजगार में रहें, सच्ची कमाई करते रहें। अपना जीवन-यापन करें। सत्संग-भजन भी करें। यह लोक और परलोक भी बनेगा। आज रविवार है, गुरु-कीर्तन कहिए, फिर आरती। (स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–१९.२.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१२६. बका ढकोरे माछरी हंसा मोती खाहिं

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

सापेक्ष के पार में सर्वेश्वर सर्वाधार है। परमात्मा ने सृष्टि को सापेक्ष बनाया है। सापेक्ष कहते हैं सर्व अपेक्ष, जिसको दूसरे की आवश्यकता होती है। जैसे दिन है तो रात होगी; रात है तो दिन होगी। रात-दिन, हानि-लाभ, सुख-दुःख–ये सभी सापेक्ष हैं। गोस्वामीजी ने लिखा है–

जड़ चेतन गुण दोषमय, विस्व कीन्ह करतार।
हंस क्षीर नीर गहहिं पय, परहरि वारि विकार॥

करतार ने संसार की रचना इस तरह की है, जिसमें जड़-चेतन का मिश्रण है। गुण-दोष मिश्रित है। गुण इसमें है, तो दोष भी इसमें है। जैसे दूध और पानी मिला हो, तो कितना भी प्रयास किया जाय, अलग-अलग नहीं होगा, लेकिन जो हंस पक्षी होता है, वह दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है। उसी तरह जो परमहंस होते हैं, वे जड़-चेतन को पृथक्-पृथक् कर देते हैं। जैसे हंस केवल दूध ले लेता है और पानी को छोड़ देता है, उसी तरह से जो संत होते हैं, वे गुण को लेते हैं और दोष को छोड़ देते हैं। जैसे चीनी और बालू मिल जाए, तो कितना भी कोशिश कर लें, हम अलग नहीं कर सकते। लेकिन एक चींटी आती है, वह चीनी को ग्रहण कर लेती है और बालू को छोड़ देती है। गंगा की तेज धारा में हाथी बह जाता है; लेकिन छोटी मछली भाटा से सिरा चली जाती है। हंस बनना होगा; लेकिन हैं अभी काग। काग शरीर काला है और हमारा मन भी काला है। संत कबीर साहब ने कहा है–

पहले यह मन काग था, करता जीवनघात।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुगि चुगि खात॥

नीति कहती है–'काकः कृष्णः पिकः कृष्णः, काकः काकः पिकः पिकः।' काकः जिसका अर्थ होता है–कौआ। कौआ काला होता है और कोयल भी काली होती है, दोनों के रंग में कोई अंतर नहीं है। कोई भेद मालूम नहीं पड़ता है; लेकिन जब वसंत ऋतु आती है, तब कौआ बोलता है और कोयल भी बोलती है, तो कौआ से कर्कश आवाज आती है और कोयल मीठी आवाज देती है। तब पहचाना जाता है कि यह कौआ है, यह कोयल है। उसी तरह दो हाथ, दो पैर, नाक, कान, मुँह जितने सब हैं, सब मनुष्य में रहता है, किसी में कमी-बेशी नहीं रहती है। लेकिन ये सब कोई ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता है। जो परमहंस बनता है, वही ईश्वर को प्रत्यक्ष देखता है। हंस कैसे बना जाएगा? गोस्वामीजी ने मानस में लिखा है–काक होहिं पिक बकउ मराला।

जैसे काग काला कौआ और काली कोयल होती है, उसी तरह उजला बगुला भी होता है और उजला हंस भी होता है। बगुला मांस खाता है और हंस क्या खाता है?–

हंसा बगुला एक संग, मानसरोवर माहिं।
बका ढकोरे माछरी, हंसा मोती खाहिं॥

उसी तरह से सब के अंग सब रहते हैं, लेकिन जो सत्य को ग्रहण करते हैं, असत्य को त्याग देते हैं, वास्तव में मानव वह है। मानवता जिसमें है, वह मानव है। जिसमें मानवता नहीं, वह मनुष्य क्या हो सकता है, दोनों के व्यवहार में अंतर होता है। कागा और कोयल के, बगुला और हंस के व्यवहार में–दोनों का अंतर रहता है। तो ये जो काला मन है, यह निर्मल कैसे होगा? हंस कैसे होगा? गोस्वामीजी ने लिखा है–'काक होहिं पिक बकउ मराला।' जो कौआ है,

वह कोयल बन जाएगा। मतलब कौए की जो कर्कश वाणी होती है, वह कर्कश बोली नहीं होगी। उसकी मीठी बोली हो जाएगी और जो बक (बगुला) है, सब चीज खाने-पीनेवाला है, वह सत्संग करते-करते 'काक होहिं पिक बकउ मराला' वह हंस हो जाएगा। जब उनको संत सद्गुरु मिलेंगे, सद्शिक्षा-दीक्षा देंगे तो वह अंतस्साधना करेंगे। जब अंतस्साधना करेंगे, 'मीन जरि मरघाटि'। अंतस्साधना करके मीन को त्याग देगा। मीन कहते हैं अंधकार को। वह अंधकार को पार करके प्रकाश में चला जाएगा, उसका जीवन प्रकाशमय हो जाएगा। जो अंधकार में रहेगा, उसका जीव अंधकारमय हो जाएगा।

जिमि दूध के मथन से, निकसत है घी जतन।
तिमि ध्यान की लगन से, पारब्रह्म ले निहारा॥

दूध में घृत छिपा हुआ है। दूध से हम पूड़ियाँ नहीं छान सकते हैं; लेकिन उसी दूध को मथकर उसमें से घृत को अलग कर देते हैं, उस घृत से हम पूड़ियाँ छान लेते हैं। उसी तरह से हमारे जो जड़-चेतन मिश्रण है, जबतक जड़-चेतन मिले रहेंगे, तबतक परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी। ध्यान की मथानी से अपने को जड़ से पृथक् करके चेतन को अलग कर दें, तभी परमात्मा की प्राप्ति होगी। जो आत्मा को पहचानता है, वही परमात्मा को पहचानता है। जो आत्मा को नहीं पहचानता, वह परमात्मा को नहीं पहचानता। खुदी मिलाए, खुदा मिलेंगे।

इबादत है किसी नाशाद को फिर शाद कर देना।
इबादत है किसी बर्बाद को आबाद कर देना॥
यही सीखा है सागर हमने मुर्शद के कदम छूकर।
खुदा से हो अगर मिलना, तो खुद का पता लगा लेना॥

अगर खुदा से मिलना है, तो खुद का पता लगाओ। खुद का पता नहीं लगा तो खुदा का पता नहीं लगेगा। खुद और खुदा में अंतर क्या है? ख में उकार और द = खुद। ख में उकार और द में अकार = खुदा। सिर्फ आकार दिया गया है। आकार क्या है? एक लकीर है। वह क्या है? वह है अलीफ। एक सीध ी लकीर होती है, उसे अलीफ कहते हैं। उसी तरह जो एक परमात्मा को भजता है, पकड़ता है, वही उसको पकड़ता है। अनेक को पकड़नेवाला उस एक को नहीं पकड़ सकता। ध्यान की मथानी से मथकर अपने को जड़ से अलग कर लो, फिर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाएगा। बालू को छोड़कर चींटी चीनी को ग्रहण कर लेती है, उसी तरह जड़ है बालू और चेतनधार है चीनी। जड़धार को छोड़ो और चेतनधार को पकड़ो। वही चेतनधार सारशब्द है। जो अंतस्साधना करते हैं, पहले जड़ात्मक मंडल के शब्द मिलते हैं; लेकिन पीछे चलकर चेतनमंडल का शब्द मिलता है। उस शब्द को जो पकड़ते हैं, परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। इसके लिए पहले दृष्टियोग की आवश्यकता होती है। जो दृष्टियोग की साधना अच्छी तरह कर लेते हैं, तो उसका भीतर का कान खुल जाता है, खुदा की आवाज को सुनने के लिए।

गोश बातिन हो कुशादा जो करै कुछ दिन अमल।
ला इलाह अल्लाह हो अकबर पै जाने के लिए॥

जो सगलेनसीरा की साधना करता है, दृष्टियोग की साधना करता है, तो उसके अंदर का कान खुल जाता है। बाहर के कान से खुदा की आवाज नहीं सुन सकते। अंतर्नाद को बाहर के कान से नहीं सुन सकते।

शृण्व वृष्टिेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।
चरन्ति विद्युतो दिवि॥

शृण्व–सुनो, वह दुस्तर होकर परमात्मा के पास ले जाएगा। चींटी होती है छोटी-सी, उसमें जीव कितना सूक्ष्म है। उसी तरह से जीव वृत्ति को सूक्ष्म बनाओ।

भक्ति दुवारा साँकरा, राई दसवें भाव।
मन ऐरावत ह्वै रहा, कैसे होय समाव॥

ईश्वर के पास जाने का जो रास्ता है, वह सँकरा है। बाइबिल में लिखा है। सकेत फाटक से प्रवेश करो। वही सकेत फाटक दसवाँ द्वार। हाथी गंगा की तीव्र धारा में बह जाता है, लेकिन छोटी मछली उलटी धारा से भाटा सीरा चली जाती है। हाथी बहुत बड़ा है, उसके सामने सफरी छोटी मछली, वह चली गई। उसी तरह जिसका मन हाथी बना हुआ है, वह दसवें द्वार में नहीं पहुँचेगा। जो सूक्ष्म बनावेगा, वही पहुँचेगा। मछली की चर्चा हम कुरानशरीफ में भी पाते हैं। लेकिन कुरानशरीफ में इस तरीके से लिखा है कि सब उसको परख नहीं सकते, पकड़ नहीं सकते। उसमें लिखा है कि मूसा ने अपने सेवक से कहा कि मैं तबतक सफर करता रहूँगा, जबतक कि दो नदियाँ मिल न जाएँ। मूसा सफर करने लगा। करते-करते वहाँ चला गया, जहाँ दो नदियाँ मिलीं।

जहाँ दो नदियाँ मिलीं, वहाँ पर एक मछली निकली और सुरंग में प्रवेश कर गई। यह मछली क्या है? महर्षि मेँहीँ-पदावली में आया है–

सुखमन के झीना नाल से, अमृत की धारा बहि रही।
मीन सुरत धार धर, भाठा से सीरा चढ़ी रही॥

भाठा से सीरा क्या है? ये–

क्यों भटकता फिर रहा, तू ऐ तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है, दिलवर पे जाने के लिए॥

परमात्मा के पास जाने का जो रास्ता है, शहरग में है। अर्थात् सुष्मना में है। कौन बतलायेगा, कहाँ जाएगा।

मुर्शिदे कामिल से मिल सिद्क और सबूरी से तकी।
जो तुझे देगा फहम शहरग के पाने के लिए॥

जो कामिल मुर्शिद हैं, पहुँचे हुए गुरु हैं, उनकी शरण में जाओ। सच्चाई से जाओ। संतोष धारण करके जाओ, तब तुमको दसवें द्वार का रास्ता बतलायेंगे। जिसको दसवें द्वार का पता चलता है, उस छेद का भेद जिसको मिल गया है, वही परमात्मा के पास पहुँचेगा। जिसको दसवें द्वार के छेद का भेद नहीं मिला है, उस छेद से भेंट जिसको नहीं है, वह नहीं जा सकता। जो दसवें द्वार को देखता है, पाता है। वहाँ पर भी शब्द मिलता है, वह शब्द अपनी ओर खिंचता है। वह परमात्मा की ओर से ही आया हुआ है। प्रत्येक शब्द में गुण होता है, अपने केन्द्र की ओर खींचने का। अँधेरी रात हो, हाथोहाथ नहीं सूझता हो, आप तू-तू कहकर पुकारिये, जहाँ आपकी आवाज जाएगी, कुत्ता सुनेगा, तो आपके पास आ जाएगा। आपकी आवाज सुनकर कुत्ता आपके पास आ जाएगा। आप जो खुदा की आवाज सुनेंगे, तो आप कहाँ पहुँचेंगे, खुदा के पास पहुँचेंगे। परमात्मा की ध्वनि का एहसास जब होगी, उस ध्वनि को जब पकड़ेंगे, शब्द से खींचकर परमात्मा के पास चले जाएँगे। यही एक रास्ता है और कोई दूसरा, तीसरा रास्ता नहीं है। शुरू में अंधकार है, अंधकार के बाद प्रकाश है, प्रकाश के बाद शब्द है। शब्द के बाद निःशब्दं परमं पदम्–परमात्मा है। जो अंधकार को पार करेगा, वह प्रकाश में जाएगा। प्रकाश में शब्द को पकड़ेगा, निःशब्द में पहुँचा देगा। इसके अतिरिक्त दूसरा रास्ता नहीं है। वेद कहता है–'नान्यो पन्था विद्यतेऽनाय।' और कोई रास्ता नहीं है। संतमत यही एक रास्ता बतलाता है।

कुरानशरीफ के सुरे फातिहा में लिखा है–'ऐ क्यामत के दिन का मालिक! मुझे सीधा रास्ता दिखला।' सीधा रास्ता क्या है?

होगा फजल दरगाह तक, खौफो खतर की जा नहीं।
सीधे चला जाना वहाँ, मुर्शद ने यह फतवा दिया॥

मुर्शद बतलायेंगे, गुरु बतलायेंगे और कोई नहीं बतला सकते। संत सद्गुरु की शरण में जाएँ, उनसे सद्शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करें, जैसा उनका आदेश हो, उनके अनुरूप अपना आचरण करें। जागतिक जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य किया करें। इहलोक भी बनेगा, परलोक भी बनेगा। आज रविवार है, गुरु-कीर्तन कहिए, फिर आरती।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–२६.२.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१२७. धर्मानुगो गच्छति जीव एकः

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

संत कबीर साहब की वाणी है–

दिन दस नैहरवा खेलि ले, निज सासुर जाना हो।

संतों ने विभिन्न भावों में जनसाधारण को समझाने की चेष्टा की है। कभी सख्य भाव में, कभी दास्य भाव में, कभी वात्सल्य भाव में, कभी दाम्पत्य भाव में, जिस किसी तरह भी समझ जाए। यह पंक्ति जो आपलोगों के सामने कही गई, यह दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति है। कबीर साहब कहते हैं–'दिन दस नैहरवा खेलि ले, निज सासुर जाना हो।' नैहर को कोई पीहर भी कहते हैं, उसी को मायका भी कहते हैं। लड़की जहाँ जन्म लेती है, वह नैहर कहलाता है। लेकिन लड़की सब दिन नैहर में नहीं रहती है। कुछ दिन नैहर में रहती है, उसके बाद विवाह होता है और वह ससुराल चली जाती है। वास्तव में लड़की का घर

ससुराल ही है। 'दस दिन' का मतलब चन्द दिन, थोड़े ही दिन। जाना कहाँ है? ससुराल जाना है। मायके माने–जो माया का गृह है, वह है मायका। जीव जन्म लिया माया के घर में। जीव को यहाँ लड़की के लिए कहा गया है। माया के घर में लड़की का जन्म हो गया, लेकिन यहाँ पर दस दिन ही रहना है अर्थात् दस इन्द्रियों में रहना है।

दस इन्द्रियों में रहने का मतलब ही दस दिन है, लौकिक अर्थ तो थोड़े दिन है। इन्हीं दस इन्द्रियों से ऊपर ले जाना है। दस द्वारों में नौ द्वार तो अंध कारपूर्ण है; लेकिन दसवाँ द्वार जो है, वह प्रकाशमय है। अंधकार से प्रकाश में जाने के लिए संत कबीर साहब कहते हैं। आगे बढ़ो, नैहर में कितना भी मन लग जाए, कितना भी आनंद हो; लेकिन वह आनंद चन्द दिनों का है अर्थात् दस इन्द्रियों में रहकर जो आनंद मिलता है, वह विषयानंद मिलता है और विषयानंद क्या है? विषय विष है।

सोने का घड़ा हो देखने में बहुत सुन्दर; लेकिन वह घड़ा अगर विष से भरा हो। अगर विष भरा है, तब भी हानि नहीं है। ढक्कन हटाकर जैसे ही पियेंगे, वैसे ही मरेंगे। विषय हमलोग कैसे लिखते हैं– वि + ष + य = विषय। इसमें 'य' है ढक्कन। 'य' हटा दीजिए, तो क्या बचा? विष बचा। विषय का रस जो हम लेते हैं, वह विषपान करते हैं। आज मरें, कल मरें, मरना तो एक दिन है। इसलिए इस विषय रस को त्यागकर अमृत रस पियो और चलो। कबतक? यह अंधकार में जो रहना है, जबतक रहेंगे, तबतक अमृत नहीं मिलेगा। धर्मदासजी की वाणी में है–

एक तो अंधेरी कोठरी, जामें दीया न बाती हो।
बहियाँ पकड़ि यम ले चले, कोइ संग न साथी हो॥

कहाँ अँधेरा है? हमारा शरीर सूर्य के प्रकाश में है; लेकिन हम अंधकार में पड़े हुए हैं। आँखें बंद कर अपने से पूछें–कहाँ पर हैं? अंधकार में। धर्म दासजी कहते हैं, एक तो अँधेरी कोठरी है वह। अगर दीया-बाती रहे तो कुछ प्रकाश मिले–'दीया न बाती', दीया-बत्ती कुछ नहीं है। जबतक दीया-बत्ती नहीं है, तबतक अँधेरे में हैं। परिणाम क्या होगा? 'बहियाँ पकड़ि यम ले चले, कोइ संग न साथी हो।' यम पकड़ कर ले जाएगा। जबतक हम तम के घेरे में हैं, तबतक हम यम के घेरे में हैं। जब हम तम के घेरे को पार कर जाएँगे, तभी यम के घेरे को हम पार कर सकते हैं। हमलोग प्रार्थना करते हैं–'तमसो मा ज्योतिर्गमय।' हे प्रभु! मुझे अंधकार से प्रकाश में ले चलो। असतो मा सद्गमय–असत् से सत् की ओर ले चलो। मृत्योर्मा अमृतगमय–मृत्यु के मुख से निकालकर मुझे अमृतत्व की प्राप्ति कराओ।

सबका कितना एक दूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध है–दोनों सापेक्ष है। एक तरफ तम है, तो दूसरी तरफ ज्योति है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।' एक तरफ असत् है, तो दूसरी ओर सत् है। 'असतो मा सद्गमय।' एक ओर मृत्यु है, तो दूसरी ओर अमृत है। 'मृत्योर्मा अमृतगमय।' जबतक हम तम में हैं, तबतक असत् में हैं और जबतक असत् में हम हैं, तबतक मृत्यु के मुख में हैं। तमस् से निकल अगर ज्योति में चले जाते हैं, प्रकाश में चले जाते हैं; असत् से सत् में चले जाते हैं, तब मृत्यु के मुख से छूटकर अमृतत्व लाभ करते हैं। धर्मदास जी कहते हैं–जबतक अंधकार में रहोगे तो 'बहियाँ पकड़ि यम ले चले, कोइ संग न साथी हो', कोई साथ जानेवाला नहीं है। शास्त्र कहता है–

धनानि भूमौ पशवो हि गोष्ठे नारि गृहद्वारे सखा श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

जितनी भी हम सम्पत्ति अर्जित कर लें, अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर शरीर छूटने के बाद सब पृथ्वी पर पड़े रह जाएँगे। जितने पशु हैं, सब पशुशाला में बँधे रह जाएँगे। नारी बेचारी रोती-रोती कभी घर जाएगी, कभी द्वार पर आएगी; कभी भीतर आएगी, कभी बाहर जाएगी। जो सखा है, मित्र है, हमारे साथ जो हमारे साथ बैठकर हास-परिहास करते हैं, वे कंधे में उठा लेंगे, श्मशान तक पहुँचा देंगे। रामनाम सत् है, यही सबका गत है–सुनाते हुए चले जाएँगे। हम सुनें, चाहे नहीं सुनें। सुननेवाला कहाँ, सुननेवाला है नहीं।

जिस शरीर को हम बहुत प्यार करते हैं, यह शरीर भी चिता तक साथ जाएगा। चिता में जलकर भस्मीभूत हो जाएगा। उसके बाद जो हम रहेंगे। जो चलेगा सबको छोड़कर, उसके साथ क्या जाएगा? 'धर्मानुगो गच्छति जीव एकः।' जो किया हुआ कर्म है, वही साथ जाएगा। जबतक संत सद्गुरु से युक्ति नहीं मिले, इस अंधकार के फेर से हम नहीं निकल सकते हैं। तमसो मा ज्योतिर्गमय प्रार्थना करें; लेकिन निकलने का यत्न ही नहीं करें, तो केवल प्रार्थना से

क्या होगा!

योगहृदयकेन्द्रविन्दु में युग दृष्टियों को जोड़िकर।
मन मानसों को मोड़ि सब आशा निराशा छोड़िकर॥
ब्रह्मज्योति ब्रह्मध्वनि धार धरि आवरण सारे तोड़िकर।
सुरत चला प्रभु मिलन को विषयों से मुख को मोड़िकर॥
झूठ चोरी नशा हिंसा और जारी छोड़िकर।
गुरु-ध्यान अरु सत्संग-सेवन में स्वमति को जोड़िकर॥
जीवन बिताओ स्वावलंबी भरम भाँड़े फोड़िकर।
संतों की आज्ञा हैं ये 'मेंहीं' माथ धर छल छोड़िकर॥

अगर हम अंधकार से प्रकाश में जाना चाहते हैं, तो 'योग हृदय केन्द्र में' अपनी दृष्टि को केन्द्रित करें। मन की जो इच्छाएँ हैं, सारी इच्छाओं को छोड़ें। दुनिया की आशा-निराशा है, उसको भी छोड़ें। 'योग हृदय'–एक तो शरीर का हृदय है, कितने लोग इसी को कहते हैं। लेकिन संतों की वाणी में यह हृदय नहीं है। यह शरीर हृदय है। योग हृदय आज्ञाचक्र को कहते हैं। जो आज्ञाचक्र में अपनी दृष्टिधारों को मिलाते हैं, दोनों धारों को मिलाकर एक कर देते हैं, वही तम से–अंधकार से प्रकाश में जाते हैं। हमारे दृष्टि की जो दो धाराएँ हैं–एक शीत धार है, दूसरी उष्ण धार है। बायीं शीत धार है, दायीं उष्ण धार है। दोनों शीत और उष्ण धार को जहाँ पर मिलाएँगे, जहाँ दो वाष्प मिलेंगे, जहाँ निगेटिव-पोजिटिव दोनों मिलेंगे, वहाँ पर क्या होगा? दो वाष्पों को मिला दो, पानी हो जाएगा। उसी तरह दृष्टि की जो दोनों धाराएँ हैं, ये जहाँ पर मिलेंगे, वहाँ प्रकाश होगा। दोनों धाराएँ मिलकर एक होंगी, तो दो रेखाओं का मिलन एक विन्दु पर होता है, उसी तरह दृष्टि की दोनों धाराएँ जहाँ पर मिलेंगी, वहाँ पर विन्दु उत्पन्न होता है। संतों ने विविध तरह से समझाने की कोशिश की है। संत कबीर साहब कहते हैं–गगन की ओट निशाना है। दहिने सूर्य चन्द्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है।

गगन की आड़ में, आकाश की आड़ में दृष्टि को टिकाओ। 'दहिने सूर्य' कहने का मतलब–सूर्य दिन में होता है; चन्द्रमा बायें का मतलब चन्द्रमा रात में होता है। इसी को गुरु नानकदेव साहब कहते हैं–

दिन महि रैणि रैणि महि
दीनी अरु उसन सीति विधि सोई।
ताकी गति मति अवरु न जाणै
गुर बिन समझ न होई॥

दिन में रैनि, दिन में रात करो; रैनि में दीनी, रात में दिन करो। जिनको सत्संग से संबंध नहीं है, वह नहीं सुने हैं तो कहेंगे कि जब दिन है तो दिन है; रात है तो रात है। रात में कोई दिन कैसे करेगा, दिन में कोई रात कैसे कर सकता है; लेकिन गुरु नानक देवजी कहते हैं। ताकी गतिमति अवरु न जानै। कोई उसकी गति नहीं जान सकते। कैसे होगा? 'गुरु बिनु समझ न होई' बिना गुरु का यह ज्ञान नहीं होगा।

'गुरु ज्ञान सूर्य रूप उनकी ज्योति अनूप,
उर के नाशै तम कूप, भजो साधु गुरु साध गुरु ए।'
'योगहृदयकेन्द्रविन्दु में युग दृष्टियों को जोड़िकर।'

मन में किसी तरह की वासना न रहे। अगर वासना रहती है, तो वहाँ उपासना नहीं होती है और जहाँ उपासना रहती है, वहाँ वासना नहीं रहती है। कबीर साहब कहते हैं–'आशा से मत डोल रे, तोको पीव मिलेंगे।' परमात्मा मिलेंगे, इस आशा से डोलो मत, मतलब निराशा रखो मत। हमलोग सोने के लिए जाते हैं, अगर किसी तरह का विचार मन में रहता है, तो नींद नहीं आएगी। जब सारे-के-सारे संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाएगी, तभी नींद आती है। उसी तरह मन के सारे संकल्प-विकल्प मिट जाएँगे, सभी विचारान्त हो जाएँगे, तभी ध्यान बनेगा। अगर मन में कोई विचार उठ रहा है, उसी संकल्प-विकल्प में रहते हैं, तो ध्यान क्या होगा! ध्यान के पहले होती है धारणा और धारणा के पहले भी होता है प्रत्याहार। मन लगाते हैं, मन भागता है; मन लगाते हैं, मन भागता है, बारम्बार मन को समेटकर लाते हैं। गुरु महाराज की वाणी में आया है–

जहँ-जहँ मन भगि जाय, ताहि तहँ-तहँ से तत्क्षण।
फेरि-फेरि ले आइ, लगाइय ध्येय में आपन॥
ऐसहि करि प्रतिहार, धारणा धारण करिके।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ', औरो आगे बढ़िय,
चढ़िय धर धारा धरिके॥

मन लगाते हैं, मन भागता है; मन लगाते हैं, मन भागता है, तो समेट-समेटकर लगाना होता है। मन का भागना और समेटकर लगाना, इसको कहते हैं प्रत्याहार। जो प्रत्याहार में हार गया, उसकी धारणा नहीं होगी और अगर यदि प्रत्याहार में नहीं हारेगा, उसी की धारणा होगी। धारणा कहते हैं–अल्प टिकाव को। वह थोड़ा-सा जो अल्प टिकाव हुआ, उसी को

कहते हैं धारणा। जब धारणा देर तक होने लगेगी, तब होता है ध्यान। असली ध्यान तो वह है, जो 'ध्यानं निर्विषयं मनः'। मन में कोई विषय नहीं रहे, वह ध्यान है। पहले स्थूल ध्यान होता है, फिर सूक्ष्म ध्यान होता है, सूक्ष्मतर ध्यान होता है और सूक्ष्मतम ध्यान होता है। मानस जप और मानस ध्यान करते हैं, यह स्थूल ध्यान है। दृष्टि साधन करते हैं, अंतर्ज्योति मिलती है, यह सूक्ष्म ध्यान है। तब नाद की अनुभूति होती है। अनहद नाद के पहले अनुभूति, तब अनाहत नाद की अनुभूति होती है। जो अनहद नाद की अनुभूति है, वह है सूक्ष्मतर ध्यान और जब अनाहत नाद की अनुभूति होती है, वह है सूक्ष्मतम ध्यान। पहले तो अनाहत नाद को नहीं पकड़ा जा सकता है। अनाहत नाद को सबसे पीछे पकड़ा जाता है, जो परमात्मा से जाकर मिलाता है। इसलिए पहले प्रत्याहार करो।

एक सत्संगी थे। उनकी धर्मपत्नी ने गुरु महाराज को पत्र लिखा–कितनी बार मैंने परीक्षा दी और फेल करती गई। गुरु महाराज ने उत्तर दिया, जितनी बार तुम फेल करो, उतनी बार परीक्षा दो। परीक्षा देते-देते एक बार पास कर ही जाएगी तुम। तो ये हैं प्रत्याहार, इससे हारना नहीं है। कबीर साहब ने कहा–

मन तू थकत थकत थकि जाई।
बिन थाके तेरे काज न सरिहैं, फिर पाछे पछिताई ॥

तुमको पश्चाताप करना पड़ेगा। बाँह को बराबर रगड़ते रहिए, कुछ देर तक बाँह ऐसी दुख जाएगी, फिर वैसा करने का मन नहीं करेगा। मतलब क्या हुआ, मन भागा, उसको समेटा; मन भागा, उसको समेटा। बारंबार भागना-समेटना, भागना-समेटना, जैसे बाँह थक जाती है, वैसे मन थक जाएगा। इसलिए कबीर साहब कहते हैं-'मन तू थकत थकत थकि जाई।' थकते-थकते तुम थक जाओगे। अरे! मन जड़ है और हम चेतन है। जड़ और चेतन का युद्ध है। एक न एक दिन जड़ को हारना ही है। कहावत है अपनी सीमा में जबतक है, तबतक बल दिखला रहा। लेकिन सुरत जहाँ आगे बढ़ेगी, तो स्वतः उसका बल समाप्त हो जाएगा।

मन बुद्धि चित हंकार की, है त्रिकुटी लगि दौर।
जन दरिया इनके पड़े, ब्रह्म रर्ं की ठौर ॥

इसलिए थकना नहीं चाहिए, युद्ध करते रहना चाहिए। तैमूरलंग ने इक्कीस बार लड़ाई की, इक्कीसो बार हार गया। आखिर वह निराश होकर आत्महत्या करने के लिए एक पहाड़ की गुफा में चला गया। यह कि मैं इक्कीस बार से बराबर हारता रहता हूँ। ये जब वहाँ जाता है और तैयार होता है आत्महत्या करने के लिए, वहाँ वह देखता है कि एक चींटी दाना लेकर पहाड़ पर चढ़ती है, गिर जाती है, दाना छूट जाता है। फिर दाना को पकड़ती है, फिर चढ़ती है, पुनः गिर जाती है। वह चींटी इक्कीस बार चढ़ी और इक्कीस बार गिरी। बाईसवीं बार दाना लेकर चढ़ गई। तब तैमूरलंग ने कहा–मैं चींटी से भी गया गुजरा हो गया। एक चींटी है, जिसमें उतनी हिम्मत है। जबतक सफलता नहीं मिली, तबतक दाना लेकर चढ़ती रही और हम ऐसे बेवकूफ हैं, जो आत्महत्या के लिए आये हैं। उसने भी चढ़ाई की और जीत हासिल की। तो यह है–

करत करत अभ्यास ते जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर पड़त निशान ॥

कुआँ पर पानी खींचते हैं, बाल्टी और रस्सी के लगातार खींचते-खींचते गढ़ा हो जाता है। गोपदेव पढ़ने में बड़ा भोंदू था। गुरुजी बहुत पीटते थे उनको। कहा–न पढ़ेंगे, न मार खायेंगे। चला गया भाग करके। पानी पीने के लिए कुआँ के पास गया, बाल्टी से पानी भर रहे थे तो देखा, जहाँ घड़ा रखती थी माई लोग, वह गड़हा हो गया। सीमेंट का चबूतरा था, घड़ा रखते-रखते गड़हा हो गया। वहीं उसको ज्ञान हो गया कि मिट्टी का घड़ा है। बारंबार रखते-रखते है जो सीमेंट का चबूतरा था, वह घिस गया। रस्सी इतनी कोमल और कुआँ की जगत कठोर होते हुए भी इसमें गढ़ा हो गया। हमारा हृदय क्या है, हमारा मस्तिष्क क्या है! गया पुनः पढ़ने के लिए। पढ़-लिखकर बहुत बड़ा विद्वान् हुआ।

इसलिए संतमत कहता है अभ्यास करो। नितप्रति अभ्यास करो। मन लगे, नहीं लगे, लगाते जाओ, लगाते-लगाते लग जाएगा।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–५.३.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१२८.सब प्यारा परिवार अरु संपत्ति नहीं भावै

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

जो सृष्टि का निर्माण किये हैं, उन्होंने दो प्रकृतियों का निर्माण किये हैं–१. परा प्रकृति और २. अपरा प्रकृति।

परा प्रकृति चेतन है और अपरा प्रकृति जड़ है। परा प्रकृति अक्षर है और परा प्रकृति क्षर है। परा प्रकृति निर्गुण है और अपरा प्रकृति सगुण है। अपरा प्रकृति को साम्यावस्थाधारिणी मूल प्रकृति भी कहते हैं। इसको अष्टधा प्रकृति भी कहते हैं। अष्टधा इसलिए कहते हैं; क्योंकि इसमें आठ चीजें हैं। आठ चीजें ये हैं–पाँच तत्त्व–मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, मन बुद्धि और अहंकार।

अपरा प्रकृति से ही सेन्द्रिय और निरेन्द्रिय दो प्रकार की सृष्टि हुई हैं। सेन्द्रिय सृष्टि में प्रथम मन है और निरेन्द्रिय सृष्टि में प्रथम आकाश है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार–ये चार अंतःकरण की इन्द्रियाँ हैं। इनके अंदर पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। दसो इन्द्रियों का मन राजा है। 'इन्द्रियाणां मनो नाथः।' उपनिषद् में कहा गया है–दसो इन्द्रियों का नाथ मन है। मन के चलाये ही यह तन चलता है। मन के चलाए ही सब इन्द्रियाँ काम करती हैं।

प्रकृति का नियम है, जो कुछ आप ग्रहण करते हैं, तो आप कुछ त्याग भी कीजिए। यदि आप ग्रहण ही ग्रहण करते जाएँ, त्याग नहीं करें, तो परिणाम भयंकर होता है। जीवन दुभर हो जाता है। उदाहरणार्थ ऐसा समझिए–जैसे कि हम प्रतिदिन भोजन करते हैं। भोजन प्रतिदिन करें और मलत्याग न हो, तो परिणाम क्या हो जाएगा! बीमार हो जाएँगे। जीवन दुभर हो जाएगा। जल हम ग्रहण करते हैं और लघुशंका नहीं हो, जल जाकर जमा हो जाएगा पेट में, तो क्या हो जाएगा! बीमार हो जाएँगे। इसलिए त्याग भी चाहिए। हम आवाज देते हैं। अगर आवाज फेफड़े और पेट में ही रह जाए, आवाज निकले नहीं, तब क्या हो जाएगा! प्राणान्त हो जाएगा। इसलिए संतलोग कहते हैं कि ग्रहण करते हो, तो कुछ त्याग भी करो। ये नहीं कहते कि हमको दो, बल्कि परोपकार करो। परोपकार में कुछ काम करो, शुभ कर्मों में कुछ काम करो। दूसरी बात तो यह है कि असल में हम ईश्वर की भक्ति चाहते हैं, ईश्वर को पाना चाहते हैं, तो सबसे मूल बात है, राग का त्याग कीजिए। जबतक राग का त्याग नहीं होगा, तबतक अनुराग नहीं होगा।

राग किसे कहते हैं? जागतिक पदार्थों में जो हमारा प्रेम है, वह है राग और परमात्मा से जो प्रेम होगा, वह है अनुराग। राग की सीमा होती है। जब राग का त्याग करेंगे, खाली करेंगे, तब उसमें अनुराग घुसेगा। असल में, 'मैं और मोर तोर तें माया, यहि पद चीन्हे जीव निकाया।' गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा। यही मोर-तोर जो है, यही राग है। यह मेरा है, यह तेरा है, मैं हूँ और तुम हो, जहाँ तक यह है, वहाँ तक माया है।

मेरा-तेरा का जो भेद-भाव है, इसी रस्सी से संसार बँधा हुआ है। माया स्थिर रहनेवाली नहीं है, क्षणभंगुर है। देखने में आता है; लेकिन वह रहता नहीं है। जो कोई संसार में आए, कोई कुछ लेकर नहीं गये। हम देखते हैं; लेकिन हम ऐसा सोचते नहीं हैं कि हम भी जाएँगे, तो कुछ लेकर नहीं जाएँगे। विचार में नहीं आता। संत लोग कहते हैं–और चीजों को ले जाना तो दूर की बात है, तुम्हारा जो शरीर है, वह भी साथ नहीं जाएगा। कबीर साहब की वाणी में आया है–

'सुन काया बौरी, चलत प्राण काहे रोई।

शरीर छूटने लगता है, प्राण उससे निकलने लगते हैं, लोगों को आँखों में पानी आ जाता है। बोलते हैं–यह संसार छोड़ना पड़ रहा है। चेतन आत्मा को हंस भी कहते हैं, प्राण भी कहते हैं। इस शरीर में

जो रहनेवाली चेतन आत्मा है, वह कहती है–

कहे प्राण सुन काया बौरी, मोर तोर संग न होई ।
तोहे अस मित्र बहुत हम त्यागा, संग न लीन्हा कोई ॥

जबसे हम सृष्टि में हम आए हैं, कितने शरीरों को धारण किये हैं, ठिकाना नहीं है। छोड़ते-छोड़ते आज इस शरीर में आ गये हैं। इस शरीर को भी छोड़ना पड़ेगा। कोई कहते हैं–

कहे हंस सुन काया बौरी, मोर तोर संग न होई ।

तेरा और मेरा संग नहीं चलने को है; क्योंकि तुम्हारे जैसे मित्र को बहुत त्याग चुके हैं। किसी को संग नहीं लिये, अकेले चले गये। जिस शरीर को तुम इतना प्यार करते हो, वह शरीर भी यहीं रह जाएगा। इसलिए जो साथ जाए, वही है भगवद्भजन। बिना त्याग के भगवद्भजन नहीं होगा।

जब दुर्योधन का जन्म हुआ, तो दिन में ही सियार बोलने लग गये। कौए सब भयंकर आवाज करने लग गए। चारो तरफ अपशकुन ही अपशकुन दीख पड़ा। धृतराष्ट्र ने पूछा–व्यासदेवजी! यह क्या हो रहा है? व्यासदेवजी ने कहा–आपका जो पुत्र जन्म लिया है, इसी के कारण सारे अपशकुन दीख रहे हैं। इस पुत्र का आप त्याग कर दीजिए, नहीं तो परिणाम अच्छा नहीं होगा, वंश का संहार हो जाएगा। देखिए, नीति कहती है–परिवार की रक्षा के लिए एक व्यक्ति का त्याग किया जा सकता है, देश की रक्षा के लिए एक गाँव का त्याग किया जा सकता है और ईश्वर पाने के लिए संसार का त्याग किया जा सकता है। त्याग करिये। हमलोग सब दिन पढ़ते हैं–'सब प्यारा परिवार और संपत्ति नहीं भावै।' पढ़ते नहीं है, केवल सब दिन रटते हैं; लेकिन भाता है कि नहीं भाता है? चाहते हैं कि नहीं चाहते हैं? रोज हम पढ़ते हैं– 'सब कुछ समर्पण कर गुरु की सेव करनी चाहिए।' जहाँ हम पढ़ते हैं–सब कुछ समर्पण, वहाँ क्या सब समर्पण हम करते हैं! केवल हमें पाठ करने से लाभ नहीं होगा। जैसे यह कहानी है–

एक जंगल में शिकारी आता था। दाना छिड़क देता था, जाल फेंक देता था, चिड़िया आती थीं। सुग्गे का जमघट था। दाना चुगता था और जाल में फँसता था। एक साधु को दया आ गई कि शिकारी चिड़ियों को रोज मारता है। क्यों न चिड़ियों को सिखा दिया जाए। उसने शिकारी से कहा–तुम सुग्गा बेचते ही हो, तो एक सुग्गा मुझे मोल दे दो। उसने सुग्गा मोल ले लिया। उस सुग्गे को साधु ने रटा दिया कि शिकारी आवेगा, जाल बिछावेगा, दाना छिड़केगा, चुगना नहीं, चुगोगे तो फँस जाओगे। रटाते-रटाते सुग्गा को रट दिया। सुग्गा ने रट लिया कि शिकारी आवेगा, जाल बिछावेगा, दाना छिड़केगा, दाना चुगना नहीं, नहीं तो फँस जाओगे। वह तो रट लिया। साधु बाबा सुग्गा को पढ़ाकर छोड़ दिया। सुग्गा जंगल में गया और यही पढ़ने लगा–'शिकारी आवेगा, जाल बिछावेगा, दाना छिड़केगा, दाना चुगना नहीं, नहीं तो फँस जाओगे।' अब जितने सुग्गे वहाँ थे, सब सिख गया सुग्गा के पढ़ाने से। अब सब कोई यही बोलने लगा। सब सुग्गा पढ़कर पंडित हो गया। अब शिकारी सोचने लगा कि हम जाल बिछा देंगे, दाना छिट देंगे, पर अब एक भी नहीं आवेगा। कहा–अच्छा, दाना छिड़ककर देखें तो सही कि आता है या नहीं आता है। उसी तरह से जाल बिछा दिया, दाना छिड़क दिया और एक बगल आड़ में जाकर शिकारी बैठ गया। पहले एक सुग्गा आता है और गाता है–'शिकारी आवेगा, जाल बिछावेगा, दाना छिड़केगा, दाना चुगना नहीं, नहीं तो फँस जाओगे।' पढ़ता भी है और दाना चुगता भी है, वह फँस गया। दूसरा भी आया, तीसरा भी आया, सब पढ़ता भी है और फँसता चला जा रहा है। उसी तरह से हमलोग रोज पढ़ते हैं–'सब कुछ समर्पण कर गुरु की सेव करनी चाहिए।' सुग्गा ऐसा रट लिया है, लेकिन हृदय से अगर नहीं जाना है। नहीं कर रहे हैं हम, तो जिस तरह सुग्गे जाल में फँसे थे, उसी तरह हम यमजाल में फँसेंगे। आज रविवार है, गुरु-कीर्तन कहिए, फिर आरती।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–१२.०३.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१२९. नरतन भव वारिधि कहँ बेरो

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

एक राजा था, उसके दरबार में हाथी बँधा हुआ था। महावत हाथी को खिलाकर, नहला-धुलाकर फिर दरबार में ले आया। राज दरबार में बाँध दिया। हाथी जमीन से धूल लेकर अपने सिर पर फेंक रहा था। किसी ने महावत से पूछा–'अभी जो तुम हाथी को नहला-धुलाकर लाये हो और वह अपने शरीर पर धूल ले रहा है। ऐसा क्यों?'

महावत ने उत्तर दिया उत्तर दिया–यह तो जंगल में रहनेवाला जानवर है। यहाँ तो पाल-पोसकर करके रखा गया है। इसको क्या पता कि नहाए-धुलाए कि नहीं नहाए-धुलाए–ऐसा स्वभाव है जानवर का। यही जिज्ञासा किसी ने अब्दुल रहीम खान-खाना से की, हाथी को नहला-धुलाकर लाया गया है, फिर अपने सिर पर धूल ले रहा है? जिज्ञासु ने पूछा–

धूल धरत निज सीस पर, कहु रहीम केहि काज।

अब्दुल रहीम खानखाना कवि भी थे–

जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सो खोजत गजराज॥

जिस चरण की धूल से गौतम मुनि की पत्नी–अहिल्या का उद्धार हो गया, उसी धूल की खोज में हाथी है। किसी ने कबीर साहब के आगे कहा–हाथी अपने सिर पर धूल क्यों ले रहा है? कबीर साहब ने उत्तर दिया–'यह अपने सिर पर धूल नहीं ले रहा है, बल्कि वह तो अपने सिर को धुन रहा है।'

राज द्वारे बंधिया, माथा धुनत गयन्द।
मानुष जन्म कब पाइहौं, भजिहौं परमानंद॥

मनुष्य का शरीर हमको कब मिलेगा, हम भगवद्भजन करेंगे। इसलिए माथा धुनता है। हाथी तो माथा धुनता है कि हमको मनुष्य शरीर मिले। रामचरितमानस में आया है–बड़े भाग मानुष तनु पावा।

हमलोगों को मनुष्य का शरीर मिला हुआ है। फिर भी हम भगवद्भजन नहीं करते हैं, तो हमको भी हाथी का दिन देखना पड़ेगा। यह संतमत वही ईश्वर-भक्ति करने के लिए बतलाता है। कुछ लोग कहते हैं। क्या ईश्वर है? किसी ने देखा है। जिसने नहीं देखा है, वह कहते हैं–ईश्वर नहीं है। लेकिन संतों ने ईश्वर को देखा है। उसने कहा कि हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है। उन्होंने कहा कि ईश्वर है। बंगाल के एक संत हुए रामकृष्ण परमहंसजी महाराज, उनके पास एक नवयुवक जाता था, जिसका नाम था नरेन्द्र। पीछे वही स्वामी विवेकानंदजी से विश्वविख्यात हुए। नरेन्द्र ने स्वामी रामकृष्ण परमहंसजी महाराज से पूछा कि आपने ईश्वर को देखा है? रामकृष्ण परमहंसजी महाराज ने कहा–हाँ, मैंने देखा है। नरेन्द्र ने कहा–क्या मुझको भी दिखला सकते हैं? परमहंसजी महाराज ने कहा–हाँ, तुम्हें भी दिखला सकता हूँ। नरेन्द्र ने कहा–दिखला सकते हैं, तो कैसा है ईश्वर? परमहंसजी महाराज ने कहा–ठीक तुम्हारे जैसा। तुम्हारे जैसा कहने का तात्पर्य हाथ-पैर, मुँह-कानवाला नहीं था। स्वरूपता जो है, वही ईश्वर है। अपने स्वरूप को जिस दिन जान लोगे, उसी दिन ईश्वर को जान जाओगे। किसी ने बड़ा अच्छा कहा है–

"इबादत है किसी नाशाद को फिर शाद कर देना।
इबादत है किसी बरबाद को फिर आबाद कर देना॥
यही सीखा है सागर हमने मुर्शद के कदम छूकर।
खुदा से हो अगर मिलना पता खुद का लगा लेना॥"

अगर खुदा से तुमको मिलने की इच्छा है तो पहले तुम अपनी पहचान कर लो कि तुम कौन हो? खुदा से हो अगर मिलना, पता खुद का लगा लेना। अपना पता लगा लो, पता खुद का लग जाएगा। अपना पता कैसे मिलेगा, खुदा का पता कैसे मिलेगा?

खुदी मिटाओ खुदा मिलेंगे। अपने अहं को छोड़ो, मद को छोड़ो। केवल अहंकार ही मद नहीं है। कबीर साहब कहते हैं–

मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय।
तन मद मन मद जाति मद, माया मद सब लोय॥
विद्यामद और गुनहु मद, राजमद उनमद्द।
इतने मद को रद्द करै, तब पावै अनहद्द॥

जो कोई इन मदों को रद्द करता है, तब वह अनहद्द को पाता है और अनहद को पानेवाले ही अनाहत को पाता है। वह खुदा परम प्रभु परमात्मा को

भी पाता है।

सुन लामकाँ पै पहुँच के तेरी पुकार है।
है आ रही सदा से सदा यार देखना ॥

शून्य पहुँचो। अभी हमलोग ध्यान करने के लिए बैठते हैं, तो कहते हैं कि मन ही नहीं लगता है। मन कैसे लगता है, तो कबीर साहब कहते हैं–

शून्य ध्यान सबके मन माना।
तुम बैठो आतम अस्थाना ॥

जो शून्य ध्यान करता है, उसका मन मान जाता है। अपने मन को शून्य बना दो। शून्य में प्रवेश कर जाओगे। जबतक मन शून्य नहीं होगा, तबतक शून्य में प्रवेश नहीं कर सकोगे। हमलोग सोने के लिए जाते हैं रात में, कुछ बात अगर सोचते रह जाएँ, तो नींद नहीं आएगी। जब सारी बातें भूल जाते हैं, तब नींद आती है। उसी तरह सब बातों को भूल जाएँगे ध्यान करने में, संकल्प-विकल्प छूट जाएगा, तब ध्यान होगा।

न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।
तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः॥

ध्यान को ध्यान नहीं कहते हैं, शून्यगत मन को ही ध्यान कहते हैं। उसी ध्यान की प्रीति के द्वारा ही सुख और मोक्ष-लाभ होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। किसी ने मीराबाई से पूछा–बाई! हमलोग ध्यान करते हैं, तो मन कहाँ-कहाँ जाता है, क्या-क्या बातें मन में आती हैं? तुम इतनी बड़ी भक्तिन किस तरह बन गयी? तुम्हारा मन कैसे बस हुआ? मीराबाई ने कहा–'मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी।' जब मैंने सुरत से आसमान की यात्रा की, तब मन मान गया। तो आसमान की यात्रा में आसमान में कैसे जाती थी, हवाई जहाज से? आकाश की यात्रा तो अंतराकाश की यात्रा है। बाह्याकाश की यात्रा नहीं, अंतराकाश की यात्रा। जो अंतराकाश की यात्रा करते हैं, तब मन मानता है। यह मन क्या है?

बाजीगर का बानरा, ऐसा यह मन जान।
जीति ले तो खेल है, नातर गाहक जान ॥

ये जो बंदर होते हैं, सिखा-पढ़ाकर रखते हैं, नाच कराते हैं। जब बंदर नाच करता है, खेल दिखलाता है लोगों को, तो खेल देखकर प्रसन्न होते हैं, पैसे देते हैं। उससे बाजीगर की जीविका चलती है और बंदर को भी खाना मिलता है। वही बंदर किसी की झोटकी पकड़कर नोचे, बाल पकड़कर नोचे, तो बंदर को लाठी पड़ेगी ही, बाजीगर को भी लाठी पड़ेगी। इसलिए मन जो है, वह बंदर है। संयमित मन से रहिए, मन को भजन में लगाते रहिए, मन क्यों नहीं लगेगा! मन किसी दूसरे का तो है नहीं, हमारा मन है। हम तो यही कहते हैं कि हमारा मन नहीं लगता है तो आपका मन है न! किसी दूसरे का तो पैंचा-उधार नहीं लाये हैं। जब आपका है, तो आपका मन क्यों नहीं मानेगा? आपका नहीं रहे, तो कोई बात नहीं। जब आपका है तो बात क्यों नहीं मानेगा? यह सिर्फ बोलने से नहीं होता है, चलने से होता है। भगवान श्रीराम ने रावण का जिद्द तोड़ा। रावण बहुत (बकबक) बोलता था। कहाँ है राम धुनधारी, कहाँ है राम खत्म करते हैं हम। भगवान राम ने कहा–

'जिमि जल्पना करि सुजश नासहिं...।'

हे रावण! तुम तुम बक-बक करके क्या बोलते हो। सुनो, संसार में तीन तरह के लोग होते हैं। एक गुलाब फूल के समान, दूसरा आम के समान, तीसरा कटहल के समान। गुलाब केवल फूल देता है, फल नहीं लगता है। आम में फूल और फल दोनों लगते हैं। कटहल में केवल फल ही फल लगता है, फूल नहीं लगता है। उसी तरह कितने आदमी गुलाब की तरह बात तो बहुत चिकने करते हैं, हाँ में हाँ मिलाते हैं, पर करते वह कुछ भी नहीं, पर वे गुलाब के समान भीतर में काँटे भी होते हैं।

बोले मधुर बचन जिमि मोरा।
खाहिं महा अहि हृदय कठोरा ॥

मयूर की बोली बहुत मीठी होती है, लेकिन वह बड़ा-बड़ा साँप खा जाती है। उसी तरह बोलने के लिए बहुत लंबी-चौड़ी बातें बोलते हैं; लेकिन करने के लिए कुछ भी नहीं। आम–फूल भी देता है, फल भी देता है, उसी तरह ये दूसरे तरह के लोग ऐसे होते हैं। ये जो कहते हैं, वह करके दिखाते हैं। (कहना और करना) आम के समान हुआ। तीसरे वह होते हैं–कटहल के समान। कटहल में फूल नहीं होता। वह कहता नहीं, पर करके दिखाता है। तो भगवान श्रीराम कहते हैं कि मनुष्य का शरीर तुमको मिला हुआ है, केवल भगवद्भजन ले लेने से कुछ नहीं होगा। बात बनाने से कुछ नहीं होगा, करो। इसी के लिए आगे चलकर उसमें कहा गया है–

नर तन भव वारिधि कहँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करणधार सतगुरु दृढ़ नावा।
दुर्लभ काज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाय।
सो कृत निंदक मंदमति, आतमहन गति जाय॥

संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए यह शरीर नाव के समान है; लेकिन नाव मिल जाए और केवट नहीं मिले, तो नदी पार नहीं कर सकते। मनुष्य का शरीर तो मिल गया है और खेवैया हैं संत सद्गुरु। अगर संत सद्गुरु नहीं मिले, तब भवसागर पार नहीं कर सकते। मीराबाई को संत सद्गुरु मिले, उन्होंने अंतराकाश की यात्रा की, जिससे भवबंधन से मुक्त होकर परम प्रभु को प्राप्त किया। उन्होंने कहा है–

मोही लागी लगन गुरु-चरणन की।
चरण बिना कछुवै नहिं भावै, जग माया सब सपनन की॥
भौसागर सब सूख गयो है, फिकर नहीं मोहि तरनन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आस वही गुरु सरनन की॥

(स्थान–महर्षि मेँहीं आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–१९.३.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१३०. खन्हिु तीखी बालहु नीकी एतु मारगि जाना

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

भारत कृषिप्रधान देश होते हुए भी सदा से ऋषिप्रधान देश है। ऋषिप्रधान देश होने के कारण यह धर्मप्रधान देश भी है। या यों कहिए धर्मप्राण देश है। धर्म एक ऐसी चीज है, जिसके बिना कोई जीवित ही नहीं रह सकता। जिसमें धर्म है, वह जीवित है। जिसमें धर्म विलीन है, वह मृतवत् है। सभी अपने-अपने धर्म पर टिके हुए हैं। धर्म का अर्थ गुण-स्वभाव भी होता है। अग्नि का दाहकता है। अगर अग्नि अपने धर्म को छोड़ दे, दाहकता उसमें नहीं रहे, तो उसको अग्नि कोई नहीं कहेगा। पानी का धर्म गुण-स्वभाव सब तरल है। तरलतापूर्वक ढरक जाता है। अगर जल में तरलता नहीं रहे, वह जल या उसे जल नहीं कहकर बर्फ कहाएगा। जितने प्राणी चर-अचर हैं, सभी धर्म पर टिके हुए हैं। यह धरा धर्म पर टिकी हुई है। चन्द्र, सूर्य, तारे–ये सारे के सारे अपने धर्म पर ही अटल हैं।

अपने शरीर को ही लीजिए–आँख का धर्म है देखना। अगर आँख देखना बिल्कुल बंद कर दे, तो शरीर की क्या स्थिति रहेगी। कान का धर्म है सुनना। नासिका का धर्म है वायु ग्रहण करना, त्याग करना। मुँह से हमलोग भोजन करते हैं। हाथ-पैर से काम मेहनत करते हैं, चलते-फिरते हैं। नीचे के दो इन्द्रियों से मल-मूत्र विसर्जन करते हैं। अगर देखना बंद हो जाए, सुनना बंद हो जाए, नासिका बंद हो जाए, खाना बंद हो जाए, पखाना-पेशाब बंद हो जाए; जिस शरीर में हैं, उस शरीर की क्या हालत होगी। वह जीवित नहीं रह सकता। उसी तरह हमारा धर्म क्या है? हम कौन हैं? हमारा भी तो कुछ धर्म होना चाहिए। हम कहते हैं–हमारा हाथ है, हमारे पैर हैं, हमारी नाक है, हमारा सिर है। हम अपना अंग-प्रत्यंग का नाम बतला सकते हैं, ये हैं, ये हैं। इस शरीर के तो अंग-प्रत्यंग का नाम बतला देते हैं। शरीर हमारा है–यह कह देते हैं; लेकिन हम कौन हैं? हम अपने को नहीं जानते। यक्ष ने महाराज युधिष्ठिर से पूछा था कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर महाराज ने बताया कि हम देखते हैं कि नित्य-प्रतिदिन मर-मरकर यम के घर को भर रहे हैं; लेकिन हम अपने को अमर समझते हैं, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। लेकिन यह कम आश्चर्य नहीं है कि हम अपने शरीर को पहचानते हैं, अपनी पत्नी को पहचानते हैं, पत्नी हमको पहचानती है। हम अपने पुत्र को पहचानते हैं। पुत्र हमको पहचानता है। हम अपने परिवार को पहचानते हैं। परिवार हमको पहचानता है। हम अपनी जमीन पहचानते हैं, जायदाद पहचानते हैं। सब कुछ हम अपना पहचानते हैं; लेकिन हम कौन हैं, यह नहीं पहचानते। यह कितना बड़ा आश्चर्य है। यह ज्ञान

बिना आत्मज्ञान के नहीं होगा। एक बंगाली महात्मा हुए मुनि पंचानन भट्टाचार्य, उन्होंने कहा–

"आमि आमि करि बुझिते ना पारि।
के आमि आमाते आछे कि रतन॥
कौन शक्ति बले बेड़ाय चले बले।
कार अभावे हय देह अचेतन॥
देह माँझे आछे प्राणेरी संचार।
तहा तेई बली आमी वा आमार॥
प्राण गेले चले हवे शवाकार।
केवाकार कोथा रवे धन जन॥"

हम-हम करते हैं, लेकिन हम कौन हैं, पता नहीं। वाजश्रवा नाम के एक सज्जन थे। उन्होंने यज्ञ किया। यज्ञ में उन्होंने सर्वस्व दान करने लग गए। दान के क्रम में बूढ़ी-बूढ़ी गायें दान करने लग गए, वह भी घास-पानी सब त्यागा हुआ। उनका पुत्र था नचिकेता। था तो लड़का, लेकिन बहुत तीव्र बुद्धि का था। उसने कहा–पिताजी! आप सर्वस्व दान कर रहे हैं। बूढ़ी-बूढ़ी गाय दान देकर क्या होगा! किसी को देना हो तो अच्छी चीज देना चाहिए। इतनी बूढ़ी गाय देना ठीक नहीं हैं। जब आप सर्वस्व दान कर रहे हैं, तो सर्वस्व में मैं भी आपका हूँ। आप मुझे किसको दान दे रहे हैं। वाजश्रवा ने कोई उत्तर नहीं दिया। नचिकेता ने फिर कहा–आप मुझे किसको दे रहे हैं? वाजश्रवा ने समझा कि यह लड़का है, ऐसे बोलता है। फिर उन्होंने कहा–पिताजी! मुझे किसको दे रहे हैं! उनके मन में क्रोध आ गया। जा तुमको यमराज को देता हूँ। जा यमराज के पास। वह चला गया यमराज के पास। यमराज घर पर नहीं थे। तीन दिनों के बाद यमराज आए। तीन दिनों तक भूखे प्यासे मेरे यहाँ रहे। गृहस्थ का धर्म है अतिथि सत्कार करना; लेकिन वह सत्कार नहीं हो सका। मैं नहीं था। तो तुम तीन वरदान ले लो मुझसे। नचिकेता ने कहा–सबसे पहला वरदान मुझे यह दीजिए कि हमारे पिताजी जो क्रोधित होकर हमको आपके पास भेजे हैं, उनका क्रोध शांत हो। मैं जाऊँ तो प्यार से रखे। कहा कि ऐसा ही होगा। दूसरा वरदान यह दीजिए कि जो यज्ञ हो, यज्ञ में मेरे नाम की अग्नि प्रज्वलित की जाए। यम ने कहा–ठीक है, ऐसा ही होगा। तीसरा वरदान यह माँगा कि आत्मज्ञान दीजिए। यम ने कहा–दुनिया की कोई भी चीज माँगना चाहो, वह माँग लो। हाथी, घोड़े, सोना-चाँदी, हीरा-जवाहिरात–जो कुछ भी माँगना चाहो, जितना माँगना चाहो। राजपाट, जो कुछ माँगना चाहो, सब मैं तुमको दूँगा; लेकिन आत्मज्ञान की बात मत करो। जितनी स्त्रियाँ तुम लेना चाहो, उतनी स्त्रियाँ मैं तुमको दे दूँगा। नचिकेता ने कहा–ये सब इन्द्रिय को सुहानेवाली चीजें हैं, इनसे आत्मज्ञान नहीं होगा। कहा–जितनी लंबी आयु माँगो, उतनी आयु तुमको दूँगा। कहा–जितनी आयु माँगूँ तो फिर भी एक-न-एक दिन मरना होगा। इसलिए ऐसा वरदान दीजिए कि अमृतत्व लाभ हो।

यमराज ने पहले तो प्रलोभन दिया। जब उसमें यह नहीं फँसा, तब आत्मज्ञान की गूढ़ता बतलाने लगे। हे नचिकेता! यह आत्मज्ञान बहुत कठिन विषय है। इस मार्ग पर चलना बहुत कठिन है। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना कोई आसान काम नहीं है। लेकिन फिर भी निराश होने की बात नहीं है। उठो, जागो और जबतक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो, तबतक अपने उद्योग में शिथिलता मत आने दो। यह जो मार्ग है, छुरे की धार पर चलने के समान है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

इसलिए इस सत्ता को छोड़ो। नचिकेता ने कहा–मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मुझे आत्मज्ञान चाहिए। यम ने बतलाया–यह ऐसा है इसमें, किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सदा एकरस रहता है। अखंड है, अभेद्य है। बुद्धि के द्वारा वह फँसने योग्य नहीं है।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥

इन्द्रियों से मन पर (उत्कृष्ट) है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है; बुद्धि से महत्तत्त्व बढ़कर है तथा महत्तत्त्व से अव्यक्त उत्तम है। हमारी पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; इन दसो इन्द्रियों का मालिक मन है।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥

अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक

तथा अलिंग है, जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। यानी परा प्रकृति से परे भी जो पर है, वह व्यापक एवं सर्वव्यापक है, उसको ज्ञात करोगे, उसको जान लेने पर मृत्यु के मुँह से छूट जाते हैं। उसको कैसे जानो, तो गुरु नानकदेवजी महाराज ने बतलाया–

खन्निअहु तीखी बालहु नीकी एतु मारगि जाना।

खन्निअहु तीखी–तलवार की धार से भी वह तीक्ष्ण है। इसका मतलब यह नहीं कि तलवार की धार से भी महीन है, तो कट जाएगा शरीर। उस तलवार की धार पर तन नहीं चलेगा, पहले मन चलेगा, फिर आत्मा चलेगी।

मन सह चेतन धार सुरत ही केवल पैठ तामें।

गुरु महाराज की वाणी में आया है। मन के साथ चेतन आत्मा ही इस छेद में प्रवेश कर सकती है और कुछ प्रवेश नहीं कर सकता है। वह बहुत सूक्ष्म मार्ग है। उस सूक्ष्म मार्ग को कैसे पकड़ोगे–जबतक कोई मोटे-मोटे अक्षरों को नहीं लिख लेता, महीन अक्षर लिखने की योग्यता नहीं होती है, उसी तरह से जबतक कोई मोटी उपासना नहीं कर लेता, सूक्ष्मता की योग्यता नहीं होती है। इसीलिए मोटी उपासना है। वैसे वर्णमाला बच्चे पढ़ते हैं–अ से अनार, आ से आम, इ से इनार, ई से ईख, उ से उल्लू, ऊ से ऊखल। अ से अनार पढ़ते हैं, अनार का चित्र वहाँ पर है, लेकिन अनार नहीं है। आम का चित्र बना हुआ है, उसको टुकड़ा करके खाइए–खट्टा या मीठा कुछ पता नहीं चलेगा। इ से इनार का चित्र है, लेकिन एक बूँद रस नहीं। उ से उल्लू–ये सब चित्र हैं, इन्हें देखकर अक्षर सिखाया जाता है। कहने को आम का, अनार का, इनार का ज्ञान है; लेकिन उसको सिखाना है–अ, आ, इ, ई......; उसी तरह पहले स्थूल साधना बतलाई जाती है।

गुरु जाप मानस ध्यान मानस, कीजिए दृढ़ साधकर ।
इनका प्रथम अभ्यास कर, स्त्रुत शुद्ध करना चाहिए ॥

पहले मानस जप, तब उसके बाद मानस ध्यान। मानस जप किस तरह होगा? जप और जापक के बीच कुछ नहीं। लेकिन जपते हैं कहीं, मन है कहीं, वह जप नहीं। तभी जप हो सकता है, जब 'गुरु जाप जपन साँचो तप'। जो जप सही ढंग से कर लेता है, वह तप के समान हो जाता है और उसके बाद 'सकल काज सारणं।' फिर आगे काम चलता जाएगा। मानस जप तो हमारा सही ढंग से होता नहीं है, मानस ध्यान क्या होगा। मानस ध्यान ही नहीं होता है, तो विन्दु साधन क्या होगा। दृष्टि-साधन ही नहीं है, तो नादानुसंधान कैसे क्या करोगे!

साधारण जोड़-घटाव पढ़िए, साधारण गुणा-भाग पढ़िए, उसके बाद न अलजबरा पढ़िएगा! जिसने कुछ पढ़ा ही नहीं है अथवा वर्णमाला तक पढ़नेवाला बच्चा अलजबरा कैसे पढ़ेगा! उसी तरह मानस जप, मानस ध्यान, दृष्टि-साधन करना चाहिए। मानस जप के बाद दृष्टि-साधन सरल हो जाता है। जबतक ये सरल नहीं हुए हैं, तबतक कठिन है। दृष्टिसाधन बहुत कठिन है। कठिन ही नहीं, बहुत कठिन। जब हम दोनों में सफल हो जाते हैं, तो दृष्टिसाधन में भी सफल हो जाते हैं। इसलिए जैसे हम जप करने बैठते हैं, तो जप करने लगते हैं। एक बहुत बड़ा अंधकार का क्षेत्र आता है। मन उस अंधकार में घूमता है। इतना ही नहीं, अंधकार को छोड़कर न जाने कहाँ-कहाँ घूमता है। जब मानस जप करें तो इस तरह मानस जप हो कि मन कहीं भागे नहीं। यह अंधकार का क्षेत्र उतना विस्तृत नहीं है। सामने देखकर करते हैं, तो उसकी सीमा हो जाती है। क्षेत्र छोटा हो जाता है और उसमें अगर मानस ध्यान करते हैं, भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–पहले हमारे संपूर्ण शरीर का ध्यान करो, फिर हमारे मुस्कानयुक्त मुख का ध्यान करो। उसको भी छोड़कर शून्य में ध्यान करो।

अगर भगवान के रूप का हम ध्यान करते हैं, ऐसे इष्ट का हम ध्यान करते हैं, तो केवल वह रूप ही आता है। खड़े रूप का ध्यान करते हैं, तो साढ़े तीन हाथ का होता है। बैठे का करते हैं, तो सवा हाथ का हो जाता है। उसपर भी केवल सब छोड़कर मुस्कानयुक्त मुख का हम ध्यान करते हैं, तो एक बित्ता पर आ जाते हैं। जब हमारी दृष्टि एकविन्दुता पर पहुँचती है, तब इतना छोटा होता है। वह स्वयं दृष्टिसाधन की क्रिया कहलाती है। वह सरल होता है। जबतक विस्तृत क्षेत्र अंधकार है, अंधकार का कहाँ

शुरू है, कहाँ अंत है, दृष्टिसाधन की क्रिया से जानने में आता है। इसलिए मानस जप, मानस ध्यान मन से करना चाहिए। दृष्टियोग से मन का पूर्ण सिमटाव होता है। सिमटाव में ऊर्ध्वगति होती है। ऊर्ध्वगति में आवरण भेदन होता है। आवरण-भेदन होने से अंध-कार नहीं रहता है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अंधकार से प्रकाश में चला जाता है। जो प्रकाश में चला जाता है, उसका अहोभाग्य है। उसका जीवन प्रकाशमय हो जाता है। यही जीवन भविष्य-जीवन का कायाकल्प करती है। इसके बाद नाद की साधना है–नादानु-संधान। जैसे हम बैठते हैं, वहाँ जाप करते हैं, उसी जाप के अंदर प्रकाश हो जाता है। जो षट विकार चीजें हैं, वह जल-भूनकर खत्म हो जाती है और नाद जो परम प्रभु परमात्मा की ओर से आया हुआ है, उस नाद को जो कोई पकड़ता है, वह परमात्मा तक पहुँच जाता है।

बजती हैं पाँच नौबतें, सुनि एक एक को।
प्रति एक पे चढ़ि जाय के, निज नाह खोजना॥

अपने अंदर पाँच नौबतें हैं। पहली नौबत, फिर दूसरी नौबत, तीसरी नौबत, चौथी, पाँचवीं–

पंचम बजे धुर घर से, जहाँ आप विराजें।
गुरु की कृपा से 'मेँहीँ', तहँ पहुँचि खोजना॥

जो पाँचवीं नौबत है, उसके शब्द को जो पकड़ते हैं, वह परमात्मा तक पहुँच जाते हैं। आवागमन का चक्र छूटता है। दैहिक, दैविक, भौतिक ताप–इन त्रितापों से वह मुक्त हो जाता है। संतमत का यही रास्ता है। आवश्यकता है पवित्र आचरण की। जबतक चरित्र ठीक नहीं होगा, बाल की नोक के बराबर भी आगे नहीं बढ़ सकते। इसलिए झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार का त्याग करो। एक ईश्वर पर विश्वास करो। प्रभु अंदर मिलेंगे, इसका दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। सत्संग करो, ध्यान करो, गुरु की सेवा करो और अपने जीवन-यापन की कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य किया करो। परमुखापेक्षी मत बनो। जो हो सके, दूसरे का उपकार करो–यह संतमत का सार आपलोगों के सामने रखा। आज रविवार है। गुरु-कीर्तन कहिये, फिर आरती।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–९.४.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१३१. जो तोको काँटा बोये ताहि बोय तू फूल

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

एक शिष्य ने अपने गुरुदेव से जिज्ञासा की कि गुरुदेव! यहाँ गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि का पाठ होता है, सत्संग होता है, वहाँ मैं जाता हूँ। मैं किसी की बुराई नहीं करता; लेकिन फिर भी लोग मुझसे वैर करते हैं, क्या किया जाए? उनके गुरुदेव ने उत्तर दिया–'वैर तीन तरह के होते हैं–एक सकारण, दूसरा अकारण, तीसरा प्राकृतिक। सकारण का कारण जानकर उसका निवारण कर देना चाहिए। अकारण वैर जो करते हैं, उसको समझाने की पहले चेष्टा करना चाहिए, नहीं समझे, तो उससे उदासीन हो जाना चाहिए।

जो कोई समझे सैन से ताको करिये वैन।
सैन वैन समझे नहिं, ताको कछु न कहिए॥

साधु-संत-महात्मा लोग होते हैं, उनसे भी लोग अकारण वैर करते हैं, यद्यपि संत-महात्मा किसी की बुराई नहीं करते, अपकार नहीं करते, सबके लाभ के लिए सोचते हैं। उसपर भी संत-महात्माओं को नहीं जाननेवाले गालियाँ देते हैं, मारपीट करते हैं, निंदा करते हैं। इतना ही नहीं, जान से भी मार देते हैं। तीसरा प्राकृतिक वैर है। बिल्ली है, चूहा है। बिल्ली को चूहा कुछ नहीं करता; लेकिन बिल्ली देखेगी चूहा, तो उसको पकड़कर खा लेगी। साँप है, मेढ़क है। मेढ़क साँप का कुछ बिगाड़ता नहीं है, फिर भी साँप मेढ़क को पकड़कर खा जाते हैं। जो इस तरह है, उससे दूर रहना अच्छा है। वैर को वैर से नहीं, प्रेम से जीत सकते हैं।

जो तोको काँटा बोए, ताहि बोय तू फूल।
ताको फूल के फूल है, वाको है त्रिशूल॥

बात आज की नहीं है, हजार-हजार से भी पूर्व की है। भिक्षु लोग भिक्षाटन करके जीवन-यापन करते थे। जाते थे लोगों के यहाँ, माँगते थे। जो मिल जाता था, ले लेते थे, भोजन करते थे। इसी तरह समय बीतता था।

एक गृहपति थे। बहुत बड़े धनी थे। जितने बड़े धनी थे, उतने ही बड़े कंजूस थे। उनके मन में आया, यह भिक्षु बराबर आता है, माँगता है। इसलिए ऐसा उपाय करो कि आवे नहीं, माँगे नहीं। अपनी पत्नी से कहा–आज उसको जो रोटी देना, उसमें विष मिला देना। रोटी ले जाएगा, खाएगा, तो सोये-का-सोया रह जाएगा। गृहिणी ने वैसा ही किया। रोटी बनाते समय उसमें विष मिला दिया। जब वह भिक्षु आया माँगने के लिए वही रोटी उसको दे दी। रोटी लेकर बेचारा चला गया। वे तो कई घरों में माँगते हैं। माँग करके चले आ रहे थे और सब घरों में जो भिक्षा मिली थी, उसी का भोजन उसने किया। उसके यहाँ की रोटी रह ही गई, तो कहा–इसे रात में खाऊँगा। संयोग होता क्या है। जिस सेठ के मन में हुआ था, उस साधु को मारने के लिए, उसका बेटा कहीं विदेश में रहता था, वह वहाँ से आ रहा था। धूप का समय था, आते-आते वह थक गया; क्यों उसके पास सवारी थी नहीं। थका-माँदा आया, उसी भिक्षु की कुटिया में पहुँच गया। सोचा यहाँ से घर नजदीक ही है, थोड़ा विश्राम करके जाऊँगा।

साधु दयालु होते हैं, परोपकारी होते हैं। भिक्षु ने देखा कि हमारे यहाँ अतिथि आये हुए हैं और भोजन का समय है, तो पूछ लेना चाहिए। भोजन करा देना चाहिए। भिक्षु ने कहा कि बाबू! भोजन का समय है, भोजन कर लीजिए। वह भी थका-माँदा था, कहा–दे दो बाबा! उसके पास वही जो रोटियाँ बची थीं, उसने दे दी। रोटियों को खाकर, पानी पीकर सोया तो सोया ही रह गया। भिक्षु देखता है, क्या हो गया इनको! वह साधु उसके घर पर आता है और कहता है कि ऐसे-ऐसे हमारे यहाँ आए थे। आपके लड़के थके-माँदे थे, तो मैंने रोटी खिला दी। खिलाये तो बेचारे ने खाया, पानी पिया। सोया तो सोया ही रह गया। जब वह गृहपति आता है और देखता है, तो छाती पीटने लगता है। यह क्या हुआ–'जो तोको काँटा बोए, ताहि बोय तू फूल।' सेठ ने काँटा बोया साधु के लिए। साधु ने फूल बोया उसके खिलाने में; लेकिन जो काँटा बोया, उसका तो त्रिशूल हो गया और इसका 'फूल के फूल'। भगवान बुद्ध ने कहा–वैर से वैर दूर नहीं होता, अवैर से ही दूर होता है। इसलिए संतों ने कहा वैरभाव नहीं रखो। जिसके मन में राग, द्वेष, वैर हो, उससे भगवद्भजन नहीं होता। न उसका इहलोक बनता है, न परलोक बनता है। इसलिए मन को शान्त रखना अच्छा है। कहा कि कहानी नहीं, इतिहास है। काशी नरेश ने कौशल नरेश पर चढ़ाई की। कौशल नरेश हार गया और वह अपनी पत्नी और लड़के के साथ छद्म वेश में वहाँ से भाग गया। उसके लड़के का नाम दीर्घायु था। तीनों वेश बदलकर जंगल के किनारे एक झोपड़ी बनाकर रहने लगे।

दीर्घायु नौजवान, बुद्धिमान और ज्ञानवान था, लेकिन वह अपना उत्कर्ष दिखलाता तो पकड़ा जाता। इसलिए जंगल की लकड़ियों को काट-काटकर बेचता और उससे जो पैसे मिलते, उससे तीनों का गुजारा होता। राजा दीर्घती के शत्रु-राजा ने गुप्तचरों द्वारा उसकी खोज की और राजा दीर्घती पत्नी के साथ पकड़ा गया। उस समय दीर्घायु लकड़ी बेचने गया था, इसलिए वह बच गया। सिपाहियों ने राजा दीर्घती और उसकी पत्नी को राज दरबार में उपस्थित किया। राजा ने सोचा–यह मेरा दुश्मन है, कभी-न-कभी अपना वैर चुकाएगा। इसलिए इसकी जीवन-लीला समाप्त कर देना ही अच्छा है। राजा दीर्घती और उसकी पत्नी को सजा सुना दी गई कि कल दस बजे दिन में उनको फाँसी दी जाएगी।

निश्चित समय पर नगर के हजारों लोग उस दृश्य को देखने के लिए इकट्ठे हो गए। जब दीर्घायु को यह बात मालूम हुई, तो उस भीड़ में वह भी आकर कहीं खड़ा हो गया। फाँसी पर लटकाए जाने से पहले राजा दीर्घती ने कहा–"बेटा दीर्घायु! यदि तुम कहीं हो तो सुनो–'जल्दी मत करना, देर तक मत

रखना, बैर को बैर से नहीं, प्रेम से जीत सकते हो।"–तीन बार ऐसा कहा। उसके बाद राजा दीर्घती को फाँसी पर लटका दिया गया। फिर रानी को भी फाँसी की सजा दे दी गई। बेचारा दीर्घायु करे तो क्या! उसका राज-पाट, धन-दौलत तो चला ही गया था; माँ-बाप का सहारा भी छिन गया। वह संगीत कला में कुशल था। वीणा लेकर घूम-घूमकर गीत गाता, लोग उसे खिला-पिला देते। इस प्रकार वह अपना जीवन-निर्वाह करता।

एक बार वह घूमते-घूमते उसी राजा के घोड़े के दारोगा के यहाँ चला गया। दारोगाजी संगीत के प्रेमी थे। उसके गाने को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले–'तुम इधर-उधर कहाँ भटकते हो, यहीं मेरे पास रहो। जब-जब मैं गाना सुनाने कहूँ, तब-तब मुझे सुनाया करना।' दीर्घायु वहीं रहने लग गया। खाता-पीता और गाना सुनाता। एक रात दारोगाजी के आदेश पर वह वीणा बजाकर गाना गा रहा था। उस रात राजा को नींद नहीं आ रही थी, वे अपनी महल की छत पर टहल रहे थे। लय-सुर-तान के साथ सुरीली आवाज उनके कानों में पड़ी, तो वे मुग्ध हो गए। सबेरा होते ही उन्होंने दारोगाजी को बुलवाया और पूछा–'तुम्हारे यहाँ रात में कौन गाना गा रहा था?' दारोगाजी ने उत्तर दिया–'एक लड़का आया हुआ है, वही गाना गा रहा था।' राजा ने कहा–'उसे मेरे पास भेज दो।'

दारोगाजी ने लड़के को राजा के पास भेज दिया। अब वह राजा के पास रहने लगा। राजा को गा-गाकर संगीत सुनाता, उनका मनोरंजन होता। राजपुत्र तो वह था ही। राजा ने कहा–'देखो जी, तुम सिर्फ गाना गाते हो, कुछ और काम करो।' राजा ने उसे कुछ काम करने को दिया। उसने उस काम को बड़ी कुशलता से सम्पन्न कर दिखाया। राजा प्रसन्न होकर उसे कुछ ऊँचे पद पर दे दिया। जैसे-जैसे वह काम कुशलतापूर्वक करता जाता, राजा उसे ऊँचे-ऊँचे पद देता जाता। होते-होते राजा ने उसे अपना अंगरक्षक बना लिया। अब राजा जहाँ जाता, वह उसके साथ-साथ जाता। घोड़े की सवारी जैसी राजा की होती, वैसी उसकी भी होती। खाना-पीना सब वैसा ही हो गया।

एक दिन राजा जंगल में शिकार खेलने के लिए गया। राजा ने एक शिकार के पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। दीर्घायु भी उनके साथ था। जाते-जाते दोनों घनघोर जंगल में पहुँच गए। राजा बूढ़ा हो गया था। उन्होंने दीर्घायु से कहा–'मैं बहुत थक गया हूँ, थोड़ी देर आराम करने के बाद ही घर लौटूँगा।' दीर्घायु ने कहा–'यहाँ तो आराम करने का कोई साधन नहीं है। आप मेरी जाँघ पर सिर रखकर सो जाइए।' राजा उसकी जाँघ पर सिर रखकर सो गया। अब दीर्घायु मन-ही-मन राजा के संबंध में सोचने लगा कि यही है, जिसने मेरा धन-दौलत, राज-पाट सब हरण कर लिया है। मेरे माँ-बाप का वध किया है। स्त्री-हत्या के पाप से भी नहीं डरा है। मुझे दर-दर का भिखारी बनानेवाला भी यही है। यहाँ जंगल में कौन देखनेवाला है। यहीं इसका काम तमाम कर देना ठीक है।' वह राजा के सिर का बाल मुट्ठी में जकड़कर पकड़ता है और म्यान से तलवार खींचकर उसका गला काटना चाहता है। इतने में उसको अपने पिता का उपदेश याद आया–'जल्दी मत करना, देर तक मत रखना, वैर को वैर से नहीं, प्रेम से जीत सकते हो।' अतएव मारना ठीक नहीं। वह राजा के बाल को छोड़कर तलवार को म्यान में रख लेता है।

अब होता क्या है? एकाएक राजा की नींद टूट जाती है और वह चौंककर उठता है, थर-थर काँपने लग जाता है। लड़के ने पूछा– 'राजन्! आप तो गहरी नींद में सोये हुए थे, इस तरह भयभीत होकर आप काँप क्यों रहे हैं?' राजा ने उत्तर दिया–'क्या बतलाऊँ! मैंने स्वप्न देखा कि राजा दीर्घती का पुत्र दीर्घायु मेरा गला काट रहा है। इसी डर से मेरी नींद टूट गई और मैं काँप रहा हूँ।' लड़के ने कहा–'दीर्घायु तो मैं ही हूँ।' अब राजा और भी डर गया। सोचने लगा–'इसके सिवाय जंगल में और कोई नहीं है। यह जवान भी है। अब तो मेरी जान बचनेवाली नहीं है। वह हाथ जोड़ गिड़गिड़ाकर कहने लगा–'मेरा जीवन तुम्हारे हाथ में है। मैंने अवश्य ही तुम्हारा बहुत बुरा किया है। मुझे क्षमा कर दो।' दीर्घायु ने कहा–'राजन्! आप मेरे पितातुल्य हैं, मैं तो आपको क्षमा कर दूँगा, लेकिन आप भी मुझे क्षमा करें। अभी तक तो आप

नहीं जानते थे कि मैं आपका दुश्मन हूँ, पर अब तो जान गए। यहाँ से घर लौटने पर आप लोगों को बतलाएँगे कि यह हमारा दुश्मन है और मुझे मरवा डालेंगे।' राजा ने सत्य प्रतिज्ञा की कि ऐसा नहीं होगा। दीर्घायु ने क्षमा कर दिया।

घर आने पर राजा के मन में होता है कि दीर्घायु राजपुत्र तो है ही, देखने में कितना सुन्दर है, सभी गुण-ज्ञान सम्पन्न है, विद्वान भी है। मेरी पुत्री सयानी हो गई है, क्यों न इसी के साथ विवाह कर दिया जाय। राजा अपनी पुत्री के साथ उसका विवाह कर देता है और उसका राज्य उसको दहेज में लौटा देता है। एक दिन राजा ने दीर्घायु से पूछा–'तुम्हारे पिता ने अन्तिम समय में तुमसे क्या कहा था और उसका अर्थ क्या है?' उसने उत्तर दिया–"राजन्! मेरे पिताजी के उपदेश ने ही आपकी रक्षा की है। उन्होंने कहा था कि 'जल्दी नहीं करना', इसलिए मैंने तलवार को म्यान में रख लिया था। कहा था–'देर तक मत रखना और वैर को वैर से नहीं, प्रेम से जीत सकते हो।' मैंने वैर को भुला दिया और आपसे बदला लेने का विचार त्याग दिया। अगर मैं पिताजी की आज्ञा का पालन नहीं किया होता तो आज दर-दर का भिखारी बना रहता। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर लेने के कारण ही आपसे मित्रता हुई। आपकी पुत्री से विवाह हुआ और खोया हुआ राज्य भी मुझे मिल गया।" इसलिए संतों का ज्ञान बतलाता है कि किसी से वैरभाव नहीं रखना चाहिए। इस बात को कबीर साहब ने कहा है–

लाल लाल जो सब कोई, सबकी गाँठि लाल।
गाँठी खोलिके परखे नाहीं, तासे भयो कंगाल॥

वह गाँठी क्या है? जिसको देखने से लाल मिलता है। लाल तो दुनिया में भी होते हैं; लेकिन कितना भी लाल किसी को मिल जाए, फिर भी वह कंगाल बना रहता है। पर यह लाल क्या है? गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने बतलाया–

जड़ चेतन ग्रंथहिं पड़ि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

जड़ और चेतन की जो ग्रंथि है, जब वह ग्रंथि छूटती है, खुलती है, तब लाल मिलता है। यह लाल है परमात्मा। जड़ पृथक् हो गया, चेतन पृथक् हो गया। जैसे दूध में घृत है; लेकिन उससे पूड़ियाँ नहीं छान सकते; लेकिन दूध के मक्खन से घी निकाल लिया जाता है, तब उससे पूड़ियाँ छानी जाती है। उसी तरह जड़ और चेतन की संधि हो, तबतक परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब जड़ अलग हो जाए, चेतन अलग हो जाए, तब उस चेतन आत्मा के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा है–

जिमि दूध के मथन से, निकसत है घी जतन से।
तिमि ध्यान की लगन से पारब्रह्म ले निहारा॥

ध्यान की मथानी से मथने पर जड़ और चेतन पृथक् हो जाता है, सिर्फ चेतन आत्मा के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसलिए कबीर साहब कहते हैं–लाल-लाल तो सब कोई कहते हैं। वह लाल अर्थात् परमात्मा सबके अंदर है; लेकिन जबतक गाँठि को खोलेंगे नहीं, तबतक लाल नहीं मिलेगा। चाहे कितने भी धनी हो जाएँ, लेकिन जबतक परमात्मारूपी लाल जबतक नहीं मिल जाता, तबतक बाहर की लाल से संसार में कंगाल ही बने रहेंगे। इसलिए क्रिया ऐसी होनी चाहिए, जिससे जड़-चेतन की गाँठि (ग्रंथि) अलग-अलग हो जाए। यह क्रिया कठिन नहीं है, बल्कि सरल और सहज है, सबके करनेयोग्य है। सभी कर सकते हैं–स्त्री-पुरुष, विद्वान्-अविद्वान्, इस देश के, उस देश के सभी कोई सकते हैं।

जितने मनुष्य तनधारि हैं, प्रभुभक्ति कर सकते सभी।
अन्तर व बाहर भक्ति कर, घट-पट हटाना चाहिए॥

इसलिए संतों की आज्ञा के अनुकूल एक ईश्वर में विश्वास करना चाहिए। वे अपने अंदर मिलेंगे, इसका दृढ़ निश्चय रखना चाहिए। सत्संग करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, गुरु-सेवा करनी चाहिए और झूठ चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार–पंच पापों से बचकर रहना चाहिए। आज रविवार है, गुरु कीर्तन कहिए।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–२३.०४.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१३२.हमारे गुरुदेव साधारण मानव नहीं थे

यह संसार मर्त्यलोक है। संसार में असंख्य प्राणी जन्म लेते और मरते हैं; परन्तु हम सबकी जयन्ती नहीं मनाते हैं। जयन्ती महापुरुषों की मनायी जाती है। आज वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को जिनकी जयन्ती मनाने के लिए हमलोग यत्र-तत्र से एकत्र हुए हैं, वे कौन थे? हमारे गुरुदेव हमलोगों के जैसे साधारण मानव नहीं थे, वे महामानव थे। नररूप में वे हरि थे। हरि ही नहीं, हरि से भी विशेष थे—संत। स्वयं हरि (श्रीराम) ने शबरीजी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए कहा था—

"सातवँ सम मोहिमय जग देखा।
मोतें सन्त अधिक करि लेखा॥"

अपने से विशेष को संत बतलाते हैं। संतवाणी पढ़ने पर भी यही बात सामने आती है कि सबसे बड़े संत ही हैं। संत पलटूदासजी अयोध्याजी में हुए, उन्होंने कहा—

"सबसे बड़े हैं संत दूसरा नाम है।
तीजै दस अवतार उन्हें प्रणाम है॥
ब्रह्मा विष्णु महेश सकल अवतार है।
अरे हाँ रे पलटू, सबके ऊपर संत
मुकुट सरदार है॥"

किसी ने जिज्ञासा की कि आपने यह बात कैसे कही? अँधेरे में टटोलकर कही या इसका कुछ आधार भी है? उसका उत्तर देते हैं—

"बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया बिचार॥
संतन किया बिचार, ज्ञान का दीपक लीन्हा।
देवता तेंतीस कोटि, नजर में सबको चीन्हा॥
सबका खंडन किया, खोजि के तीनि निकारा।
तीनों में दुइ सही, मुक्ति का एकै द्वारा॥
हरि को लिया निकारि, बहुरि तिन मंत्र बिचारा।
हरि हैं गुण के बीच, संत हैं गुण से न्यारा॥
पलटू प्रथमै संत जन, दूजे हैं करतार।
बड़ा होय तेहि पूजिये, संतन किया बिचार॥"

हमारे गुरुदेव संत ही नहीं, संत सद्गुरु थे। संत सद्शिक्षा देते हैं और जो संत सद्गुरु होते हैं, वे सद्शिक्षा के साथ-साथ प्रभु-प्राप्ति की दीक्षा भी बतलाते हैं। आज हमारे गुरुदेव का पार्थिव पिंड नहीं है, वे स्वदेश चले गये हैं और विदेश वासियों के लिए संदेश के रूप में कुछ उपदेश दे गये हैं। उन्होंने ज्ञान-योग-युक्त ईश्वर-भक्ति की युक्ति दिया है। उन्होंने बतलाया कि सबका ईश्वर एक है और ईश्वर पाने का रास्ता भी एक ही है। जिनको संतों और संतवाणी का संग नहीं हो पाया है, वे कहते हैं, 'जैसे दिल्ली जाने के लिए चारो ओर से रास्ता है, उसी भाँति से ईश्वर के पास जाने के अनेक रास्ते हैं। लेकिन नहीं, ईश्वर के पास जाने का एक ही मार्ग है और वह है अंतरमार्ग। मानवकृत मार्ग परिवर्तनशील होता है, पर ईश्वरकृत मार्ग अपरिवर्तनशील होता है। दिल्ली तक जाने का मार्ग मानवकृत है; लेकिन परमात्मा तक जाने के लिए ईश्वरकृत मार्ग है। परमात्मा ने आँख से देखने का, कान से सुनने का, नासिका वायु ग्रहण करने का, मुँह से भोजन करने का, नीचे की दो इन्द्रियों से मल-मूत्र विसर्जन करने का एक-एक मार्ग बनाया, यह मार्ग अटल है।

रूप देखने के लिए आँख के अतिरिक्त और इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं। भोजन ग्रहण के लिए एक मार्ग मुँह है, मुँह से ही भोजन कर सकते हैं। सुनने, गंध और मल-मूत्र विसर्जन के लिए एक-एक मार्ग नियुक्त है। उसी तरह परमात्मा के पास जाने का एक ही मार्ग नियुक्त है। कुरान शरीफ के सूरे फातिहा में लिखा है, 'ऐ कयामत के दिन का मालिक! मुझे सीधा रास्ता दिखला।' वह 'सीधा रास्ता' कौन-सा है? ईश्वर के पास जाने का सीधा रास्ता कहाँ से आरंभ होता है और कहाँ पर अंत होता है—यह जानना आवश्यक है। वेद कहता है—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यो पन्थाः विद्यतेऽयनाय॥"

नान्यो पन्थाः—न अन्यः पन्था। और दूसरा कोई रास्ता नहीं। उस ईश्वर को पाने के लिए एक ही रास्ता है। संत तुलसी साहब कहते हैं—

"क्यों भटकता फिर रहा तू, ऐ तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है, दिलवर पै जाने के लिए॥"

परमात्मा को पाने का रास्ता सुषुम्ना से आरंभ होता है, वही सीधा रास्ता है। वे कहते हैं, 'इधर-उधर क्यों घूमते हो, वह तुम्हारे अंदर है।' गुरु नानक देवजी महाराज कहते हैं–

"काहे रे वन खोजन जाई ।
सरब निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई ॥"

संत कबीर साहब कहते हैं–

"कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूढ़ै बन माहिं।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जानत नाहिं॥
समझै तो घर में रहै, परदा पलक लगाय।
तेरा साहब तुझ में, अनत कहीं मत जाय॥"

गो० तुलसीदासजी महाराज अपना अनुभव कहते हैं–

"एहि तें मैं हरि ज्ञान गँवायो ।
परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहिं,
बाहर फिरत विकल भय धायो ॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद,
अति मतिहीन मरम नहिं पायो ।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल,
परम सुगन्ध कहाँ तें आयो ॥"

कस्तूरी मृग की नाभि में रहती है; लेकिन वह जहाँ-तहाँ ढूँढता है कि सुगन्धि आई कहाँ से? गिरि, तरु, लता, भूमि, बिल आदि में खोजने से उसे सुगंधि कहीं नहीं मिलेगी। उसी तरह सर्वव्यापी परमात्मा को खोजने के लिए अंदर चलो, तब वे मिलेंगे, अन्यथा जीवन भर बाहर में भटकते रह जाओगे।

एक नवाब था। एक दिन उसने अपने काजी से पूछा, 'खुदा कहाँ रहते हैं, कैसे मिलते हैं, क्या करते हैं और किधर देखते हैं?' काजी साहब ने उत्तर दिया, 'मैंने तो केवल न्याय की पुस्तकें पढ़ी हैं। इन प्रश्नों का उत्तर कैसे दूँ?' नवाब ने कहा, 'तुमको एक सप्ताह का समय दिया जाता है। इसके अंदर उत्तर नहीं दोगे, तो दंडित होओगे।' बेचारे चिंतित हुए कि अब क्या करें, किनसे पूछें? परेशान होकर बिछावन पर आकर लेट गये। उनका एक नौकर था–पाजी। पाजी ने काजी से पूछा, 'आप चिंतित क्यों हैं?' काजी बोला, 'कारण जानकर क्या करोगे?' पाजी ने उत्तर दिया, 'हाँ, मैं समाधान कर सकता हूँ।' नवाब के दिए हुए प्रश्नों को काजी ने पाजी के सामने रखा। पाजी ने कहा, 'इसका उत्तर तो सरल है। आप नवाब के नाम से एक खत लिख दीजिए कि मैं जाने में असमर्थ हूँ। मेरा नौकर पाजी आपके पास जा रहा है, यह आपको उत्तर देगा।' काजी ने पत्र लिख दिया, जिसे लेकर पाजी नवाब के पास गया। नवाब ने पत्र पढ़कर पूछा, 'तुम मेरे प्रश्नों के उत्तर दोगे?' पाजी ने कहा, 'हाँ, मैं उत्तर दूँगा।' दरबार लगा हुआ था। नवाब ने कहा, 'उत्तर देना शुरू करो।' पाजी ने कहा, 'नवाब साहब! आप भी विचित्र आदमी हैं। जो प्रश्न पूछता है और जो उत्तर देता है, दोनों के बैठने के स्थान में अंतर होना चाहिए। मैं उत्तर दूँगा, इसलिए हमको ऊपर बैठाइए।' नवाब साहब ने सोचा, थोड़ी ही देर में इसकी जान जाएगी ही, थोड़ी देर के लिए अपनी ही गद्दी पर बैठा देता हूँ। जहाँ पर काजी बैठते थे, वहाँ नवाब साहब स्वयं बैठ गये। पाजी ने निवेदन किया, 'हुजूर! आपने प्रश्न तो काजी से किया था, उन्हें भी बुला लीजिए, तो अच्छा होगा।' काजी को बुला लिया गया। काजी की जगह नवाब बैठा था। काजी नीचे पाजी की जगह बैठ गया। अब पाजी बोला, 'नवाब साहब! एक धेनू गाय मँगाइए। उसके साथ बछड़ा और दूहनेवाला गोपाल भी हो।' नवाब के आदेश से गाय, बछड़ा और दूहनेवाला उपस्थित हो गया। पाजी ने कहा, 'कहिए, आपका प्रश्न क्या है?' नवाब ने कहा, 'खुदा कहाँ रहते हैं, कैसे मिलते हैं, क्या करते हैं और किधर देखते हैं?' पाजी ने कहा, 'एक मोमबत्ती मँगाकर उसे जलाइए।' मोमबत्ती जलाई गयी। पाजी ने पूछा, 'नवाब साहब! इसका प्रकाश किधर जाता है?' नवाब, 'इसका प्रकाश चारो तरफ जाता है।' पाजी, 'इसी प्रकार खुदा चारो तरफ देखते हैं।' अब पाजी ने गोपाल से गाय दूहने कहा। गाय दूहने के बाद दूध अपने पास मँगा लिया। नवाब ने कहा, 'दूध तुम अपने पास मँगा रहे हो, गायी मँगायी गयी थी तुम्हारे लिए? मैं जो पूछता हूँ, उसका जवाब दो।' पाजी ने कहा, 'वही जवाब तो मैं दे रहा हूँ। देखिए, गाय का दूध मिलता है गाय के

थन से। गाय का थन तो छोटा है; लेकिन इससे दस किलो दूध उसी थन में था? नहीं, दूध गाय के संपूर्ण शरीर में था और जब दूहा गया, तो उसके थन से ही दूध निकला। उसी तरह खुदा सब जगह हैं; लेकिन खुदा जब भी मिलेंगे, तो अपने अंदर ही मिलेंगे।' नवाब ने पूछा, 'अच्छा, बतलाओ वे क्या करते हैं?' पाजी ने कहा, 'नवाब साहब! क्या बतलाऊँ, खुदा क्या करते हैं, यह भी पूछने की बात है! आप स्वयं अपनी आँखों से देख रहे हैं, जो पाजी था, उसको नवाब बना दिया; जो नवाब था, उसको काजी बना दिया और जो काजी था, उसको पाजी बना दिया। खुदा क्या नहीं कर सकते हैं?'

कहानी कहने का तात्पर्य यह कि परमात्मा सबके अंदर हैं, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान हैं। हमलोग शास्त्र में पढ़ते हैं, 'तमसो मा ज्योतिर्गमयः।'—हे प्रभु! हमको अंधकार से प्रकाश में ले चल। 'असतो मा सद्गमय'—असत् से सत् में ले चल। 'मृत्योर्मा अमृतगमय'—मृत्यु के मुख से निकाल अमृतत्व लाभ करा। इन शब्दों का मिलान करके देखिए, कितना सजा हुआ है। एक ओर तमस् (अंधकार) है, दूसरी ओर प्रकाश है। शास्त्र कहता है, 'जबतक अंधकार में रहोगे, तबतक असत् में रहोगे और तबतक मृत्यु के मुख में रहोगे। जब तुम अंधकार से प्रकाश में जाओगे, तो असत् से सत् में जाओगे और मृत्यु के मुख से छूटकर अमृतत्व लाभ करोगे।' लोग कहते हैं, 'हम तो प्रकाश में ही हैं, अंधकार में कहाँ हैं?' लेकिन विचार कर देखिये कि आपका शरीर प्रकाश में हैं या आप प्रकाश में हैं? आप शरीर के भीतर हैं, बाहर में नहीं हैं। बाहर की चीजों को आँखें खोलकर देखते हैं, भीतर की चीजों को देखने के लिए क्रिया उलट दीजिए अर्थात् आँखें बंद करके देखिए। जब आँखें बंद करके देखते हैं, तो अंधकार मालूम पड़ता है। इससे पता चलता है कि हम अंधकार में बैठे हुए हैं। अंधकार में कुछ सूझता नहीं है। इस कारण भूल-भरम होता रहता है। एक संत हुए राधास्वामी साहब, उन्होंने कहा—

"इस नगरी में तिमिर समाना, भूल भरम हर बार।
खोज करो अन्तर उजियारी, छोड़ चलो नौ द्वार॥"

जबतक नव द्वार में रहेंगे, तबतक अंधकार में रहेंगे। जबतक हम अंधकार में रहेंगे, तबतक 'भूल भरम हर बार' होता रहेगा, जब नव द्वार से दसवें द्वार में जाएँगे, तब अंधकार से प्रकाश में जाएँगे। अनुचित कर्म के लिए मन में सोचते हैं कि ऐसा काम नहीं करना चाहिए। लेकिन मौका पाकर वह काम कर लेते हैं, क्यों? इसलिए कि हम अंधकार में हैं अर्थात् अज्ञानता में हैं। अंधकार से प्रकाश में कैसे जाएँगे? श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ८/९ में है—

"कविं पुराणमनुसासितारमणोरणीयां समनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥"

अंधकार से परे प्रकाश है। अंधकार से प्रकाश में जाओ। हमलोग जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति; इन तीनों अवस्थाओं में प्रतिदिन जाते-आते रहते हैं। जिस समय जाग्रत में रहते हैं, उस समय स्वप्न और सुषुप्ति का ज्ञान नहीं रहता है। जब स्वप्न में जाते हैं, तो जाग्रत, सुषुप्ति का ज्ञान नहीं रहता है। जब सुषुप्ति में जाते हैं, तो जाग्रत और स्वप्न का ज्ञान नहीं रहता है अर्थात् जिस अवस्था में रहते हैं, उसी अवस्था का ज्ञान रहता है। इसलिए अज्ञान की अवस्था से ज्ञान की अवस्था में अपने को ले चलो। आँखें बंद करने पर जो अंधकार मालूम पड़ता है, उसी अंधकार में प्रकाश तक जाने का रास्ता है। वह रास्ता कौन बतावेगा? तो संत तुलसी साहब कहते हैं—

"मुर्शिदे कामिल से मिल, सिद्क और सबूरी से तकी।
जो तुझे देगा फहम, शहरग के पाने के लिए॥"

जो पहुँचे हुए संत-महात्मा हैं, उनके पास जाओ। वे शहरग अर्थात् सुषुम्ना का बतलाएँगे। उसको छठा चक्र और आज्ञाचक्र भी कहते हैं। उसका नाम ही आज्ञाचक्र है। जो उस चक्र में पहुँचते हैं, वहाँ उसको प्रभु की आज्ञा मिल जाती है कि अब हमारी आ जाओ। जबतक हम आज्ञाचक्र में नहीं जाते, तबतक आने की आज्ञा नहीं होती। जब सुरत दसवें द्वार में जाएगी, तब आज्ञा मिलेगी। संत राधास्वामी साहब कहते हैं—

"सहस कँवल चढ़ त्रिकुटी धाओ,
भँवरगुफा सतलोक निहार।
अलख अगम के पार सिधारो,
राधास्वामी चरण सम्हार॥"

गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा–

'एक द्रिसटि करि समसरि जाणै जोगी कहिअै सोई।'

केवल जोगी का वेश बना लेने से कोई योगी नहीं होता। जो अपनी दृष्टि को एक कर पाता है, वही असली योगी है। बाइबिल में लिखा है, 'यदि तेरी आँख एक हो, तो तेरा सारा शरीर उजियारा होगा और अगर तेरी आँख बुरी है, तो देखो तुम्हारे अंदर अंधकार का कितना बड़ा साम्राज्य है।' अंधकार के साम्राज्य को जो पार करेंगे, उसी को प्रकाश मिलेगा। दृष्टियोग की साधना से अंतःप्रकाश मिलता है और जिसको अंतःप्रकाश मिल जाता है, उसे नादानुभूति होती है। हमारे गुरुदेव कहते हैं–

"नाद से नादों में चलि धरु प्रणव सत ध्वनि सार।
एक ओम् सत नाम ध्वनि धरि मेँहीँ हो भव पार॥"

जो अंतःप्रकाश को पाता है, उसे अंतर्नाद सुनाई देता है। वह अंतर्नाद परम प्रभु परमात्मा तक पहुँचा देता है; क्योंकि नाद में अपनी ओर आकर्षण करने का गुण होता है। अँधेरी रात हो, आप एक जगह खड़े होकर तू-तू की आवाज दीजिए, कुत्ता आपकी आवाज सुनकर आपके पास आ जाएगा। जो परमात्मा की ओर से ॐ, स्फोट, उद्गीथ, प्रणव ध्वनि की आवाज आ रही है, उस आवाज को आप सुनेंगे, तो आप किधर जाएँगे? परमात्मा की आवाज सुनकर परमात्मा के पास जाएँगे। इसके लिए घर-वार, परिवार-रोजगार छोड़ने की जरूरत नहीं है। घर-वार, परिवार, रोजगार में रहकर भी इस साधना को कर सकते हैं। यह सरल और सुगम साधना है। जैसे कोई रोगी डॉक्टर के पास जाता है, तो डॉक्टर साहब रोग के अनुसार दवाई लिख देते हैं और परहेज भी बतला देते हैं; उसी तरह प्रभु पाने का रास्ता तो मिल गया, इसके लिए संयम भी आवश्यक है। गुरु महाराज संयम बतलाते हैं–'झूठ मत बोलो, चोरी नहीं करो, किसी नशीली चीज का सेवन नहीं करो, हिंसा नहीं करो, परस्त्री-परपुरुष-गमन नहीं करो। इन पंच पापों से बचते रहो, तब क्या होगा? गुरु नानकदेवजी महाराज कहते हैं–

"सूचै भाड़ै साँचु समावै बिरले सूचाचारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ नानक सरणि तुमारी॥"

पवित्र बर्तन में सत्य अँटता है। जब हृदय पवित्र होगा, तब परम प्रभु परमात्मा की प्राप्ति होगी। वेद कहता है कि संसार में सभी मेल से रहो, प्रेम से बातचीत करो। यहाँ जात-पात की कोई बात नहीं है।

"जाति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥"

'हिन्दू मुस्लिम सिक्ख ईसाई। जैन बौद्ध सब भाई-भाई॥' परमुखापेक्षी मत बनो। अपने जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य करो। यह संतमत का थोड़ा सार आपलोगों के सामने कहा। आपलोग दूर-दूर से कष्ट झेलकर यहाँ आए हुए हैं। मैं सबको बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ और सबकी मंगलकामना करता हूँ। दिनांक–१२.५.२००६, स्थान : महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट, भागलपुर में महर्षि मेँहीँ जयन्ती के अवसर पर हुआ था। (शान्ति-सन्देश, जून २००६)

१३३. पापाचारी को मारने में पाप नहीं लगता है

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

श्रीमदाद्य व्यासदेवजी ने अठारह पुराणों की रचना की है। उन पुराणों में महाभारत प्रसिद्ध हुई। महाभारत के अठारह पर्व हैं, उन अठारह पर्वों में एक पर्व का नाम भीष्मपर्व है। भीष्मपर्व के अंतर्गत सात सौ श्लोकों का चयन करके श्रीमद्भगवद्गीता की रचना हुई। यह पुस्तिका तो बहुत छोटी है; परन्तु बहुत उपयोगी है। प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और आए दिन अनुवाद हो रहे हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के आरंभ में ही प्रसंग आया है। कौरव-पाण्डव दोनों तरफ की सेना–योद्धा आमने-सामने खड़े हुए, तो अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि भगवन्! आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में लाने की कृपा करें, ताकि देख सकूँ कि किनसे-किनसे युद्ध करना है!

भगवान ने वैसा ही किया। अर्जुन रथ पर खड़ा हो गया। अर्जुन ने दोनों पक्षों को देखा। दोनों पक्षों में स्वजन-संबंधी ही नजर आए। फिर बैठ गये और भगवान से कहा—मैं युद्ध नहीं करूँगा। दोनों पक्षों में अपने ही स्वजन संबंधी लगते हैं। युद्ध के सामने में मेरे जो गुरुदेव हैं, जिन्होंने मुझे धनुर्विद्या सिखायी, आचार्य द्रोण खड़े हैं युद्ध के लिए। जिन्होंने मुझे गोद में खेलाया, मेरे दादा भीष्म पितामह युद्ध करने के लिए तैयार हैं। मेरे चाचा हैं, ताऊ हैं, भाई हैं, भतीजे हैं, मामाजी हैं; युद्ध में इन सबको मारकर रक्तरंजित राज्य करना ठीक नहीं है। युद्ध में ये सब मारे जाएँगे और असमय में ही इनकी धर्मपत्नियाँ विधवा हो जाएँगी। परिणाम संकटमय होगा। इन लोगों का क्रिया-काम करनेवाला कोई न रहेगा। जो हमलोगों का सनातन धर्म है, वह लुप्त हो जाएगा। इसलिए मैं युद्ध नहीं करूँगा।

भगवान कृष्ण ने कहा—अर्जुन! पापाचारी को मारने में पाप नहीं लगता है, ये अत्याचारी हैं। तुम युद्ध करो। तुम जो कहते हो, युद्ध नहीं करूँगा। मैं कहता हूँ—तुम युद्ध करो। वह समय आएगा, जब तुम युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओगे। किसी को कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी तुमको कि युद्ध करो। अर्जुन ने कहा—यह कैसे हो सकता है। आप क्या कह रहे हैं, मैं नहीं समझ रहा हूँ। भगवान कृष्ण ने कहा—देखो, क्षत्रिय का धर्म युद्ध में पीठ दिखाना नहीं है। जैसे ही तुम युद्ध के मैदान से बाहर जाओगे, तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी तुम्हारी निंदा करेंगे। आया था वीर-बहादुर बनकर युद्ध करने के लिए और हमलोगों को देखकर भाग गया। वह तो कायर है, नपुंसक है। भयभीत होकर चला गया, वह क्या युद्ध करेगा! जब लोग तुम्हारी निंदा करने लगेंगे, उस निंदा को तुम नहीं सह सकोगे और साधारण पुरुषों में तुम्हारी गणना नहीं है, महापुरुषों में है। महापुरुषों की बेइज्जती, निंदा, अपयश मृत्यु के तुल्य होता है। बल्कि श्रेष्ठजन मृत्यु वरण करना पसंद करते हैं, लेकिन अपयश सुनना पसंद नहीं करते।

इसलिए तुम युद्ध करो। अर्जुन ने कहा कि युद्ध करने से हिंसा का पाप होगा। भगवान कृष्ण ने कहा—तुम अपने को मुझपर न्योछावर कर दो और युद्ध करो। तुमको पाप नहीं लगेगा। देश, काल और पात्र के अनुकूल विचार किया जाता है। एक सिपाही है। उसके पास राइफल है। देश की सीमा पर तैनात है। वह जब दुश्मनों से युद्ध करता है और पचास को मार डालता है, तो उसका महावीर चक्र इनाम मिलता है। वही राइफलधारी, वही वर्दी है, पर देश के किसी व्यक्ति को एक गोली मार दिया, तो उसको सजा हो जाता है। वक्त ही है, राइफल वही है, गोली वही है; लेकिन देश-काल-पात्र के अनुसार चलना होता है।

तुम्हारा धर्म है युद्ध करने का। स्वधर्म के लिए मर जाना श्रेष्ठ है। तुम क्षत्रिय हो, युद्ध करो। वास्तव में ये जो एक भौतिक पौराणिक इतिहास बतलाया गया हो, वस्तुतः हमारे अंदर ही हमारे शत्रु हैं। उसको मारना प्रत्येक साधक का पुनीत कर्तव्य होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—ये सब जो विकार हैं, हमारे अंदर हैं। इसलिए कबीर साहब पते की बात कहते हैं—

पाँच पचीसो मारिया, पापी कहिये सोय।
यह परमारथ जानिके, पाप करो सब कोय॥

पाँच पचीसों को मारने में पाप नहीं है। मारने में पाप है; लेकिन पाँच पचीसो के बाद, इसलिए यह पाप करो। संत पलटू साहब ने कहा—

खोल राज तो पुत चढ़े मैदान पर,
जाय के पाँच पचीस मारै।
काम क्रोध ये दुष्ट बड़े हैं,
जानिके ले धनुष टारै।
कूद पड़े जाय के काया में है,
हाथ कटाय के भोग डारै।

मन को जीतने के लिए कहा जाता है। मन के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए कहा जाता है। भगवान महावीर, भगवान बुद्ध—सबकी वाणी एक है। उन्होंने कहा है—यदि संग्राम में कोई हजारों आदमियों को मार दे, उससे कड़ी संग्राम वह है, जो अपने आपको पीट दे। जो अपने-आपसे युद्ध करता है—मैं-मैं करता है, वह मैं कौन है? जब लक्ष्मण का युद्ध हो रहा था लंका में, तो बड़ी लंबी-चौड़ी बात मेघनाद कहता था। लक्ष्मणजी ने कहा—

बकरी जब मैं-मैं करती है,
तो गले में छुरी चलती है।
मैं-ना मैं-ना मैना कहती है,
वह सबको प्यारी लगती है।

इसलिए अपनी कुर्बानी करो, अपने को चढ़ा दो। गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन से कहा है–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्मामि मा शुचः॥

हे अर्जुन! सभी धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुझे पापों से मुक्त कर दूँगा। क्या अर्जुन, भगवान की शरण में नहीं थे! शरीर से तो शरण में था; किन्तु श्रीमद्‌भागवत में जो नवधा भक्ति आई है 'आत्मनिवेदनम्', वह 'आत्मनिवेदनम्' नहीं था। सब धर्मों को छोड़ दोगे तो क्या करोगे, पाप कर्मों को करोगे। नहीं, हमारी जो इन्द्रियाँ हैं, हम इन्द्रियों के घाट में बसे हैं, स्वधर्म में बसे हुए हैं एवं हम मौन हैं। यह जानें कि जो मैं-मैं कहता है, वह अहं है; लेकिन वास्तव में मैं कौन हूँ?

आमी आमी करी बुझिते ना पारी।
के आमी आमाते आछे की रतन।
कोन शक्ति बले बेड़ाय चले बोले।
कारे आभावे होय देह अचेतन।
देहे माँझे आछे प्राणेरि संचार।
ताहा तेहि बले आमी बा आमार।
प्राण गेलेन चले होवे शवाकार।
केवाकार कोथाय रवे धन जन॥

संतजन कहते हैं–अहं को छोड़ो। अपनी पहचान करो, तुम कौन हो? तुम्हारा क्या कर्तव्य होना चाहिए। उसको जानो।

को मैं आया कहाँ से कित जाना क्या सार।
को मम जननी को पिता याको कहिये विचार॥

विचार कीजिए–मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाना है, क्या सारतत्त्व है, कौन मेरे पिता हैं, कौन मेरी माता है? कभी सोचा। जो हम देखते हैं, ये तो शरीर को जन्म देनेवाले माता-पिता हैं; लेकिन हमारे माता-पिता कौन हैं? हम अपने को पहचानें। जबतक शरीर का ज्ञान रहेगा, शरीर-संबंधी इन्द्रियों का ज्ञान रहेगा, तबतक आत्मदर्शन बहुत दुर्लभ है। इन्द्रियों का संग छोड़कर आत्मा में धारण करें। अन्य समय नहीं, तो कम-से-कम ध्यान करने के समय ही। हमलोग ध्यान करने के लिए बैठते हैं और कहते हैं–जाप में मन नहीं लगता है। मन किसका है? मन तो किसी का, दूसरे का पैंचा-उधार करके नहीं लाये हैं। मन तो हमारा ही है, तो कैसे कहते कि मन नहीं लगता है। जब आपका मन है, तो आपकी बात क्यों नहीं मानता। अगर आपकी बात नहीं मानता है, तो आपका मन कैसा?

मन तू मानत क्यों न मना रे।
कौन कहन को कौन सुनन को, दूजा कौन जना रे॥
दर्पन में प्रतिबिम्ब जो भासै, आप चहूँ दिसि सोई।
दुबिधा मिटै एक जब होवै, तौ लखि पावै कोई॥
जैसे जल तें हेम बनतु है, हेम धूम जल होई।
तैसे या तत वाहू तत सों, फिर यह अरु वह सोई॥
जो समुझै तो खरी कहन है, ना समुझै तो खोटी।
कहै कबीर दोऊ पख त्यागै, ताकी मति है मोटी॥

भगवान श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं कि सब धर्मों को छोड़ो। इन्द्रियों के कर्मों को छोड़ो, तो अपने धर्मों में आओ। जिस समय हमलोग सोने के लिए जाते हैं। अगर मन में कोई-न-कोई बात रहेगी, तो नींद नहीं आएगी। उसी बात को सोचते हैं। जब ये सारी बातें भूल जाते हैं हम, तब नींद आती है। उसी तरह ध्यान करने के लिए बैठते हैं, विविध बातें आती हैं। जबतक पूरी बातें विलीन नहीं हो जातीं, तबतक ध्यान नहीं बनेगा।

वचन-प्रवचन करने के लिए हम बहुत कर सकते हैं; लेकिन उससे कोई लाभ नहीं है। आत्मलाभ नहीं होता, शारीरिक लाभ होगा–लोग दान-पुण्य करेंगे, प्रणाम करेंगे, भेंट चढ़ाएँगे, खिलाएँगे, पिलाएँगे, सेवा-सत्कार करेंगे। उससे शारीरिक यात्रा होती है, लेकिन आंतरिक यात्रा के लिए अपने अंदर चलना होगा। उसके लिए सब कुछ छोड़ना पड़ेगा, नहीं तो ध्यान करने के लिए बैठेगा, तो सोचेगा यही बात कि प्रवचन में क्या-क्या कहना है। आज का यह विषय है, इस विषय पर यह कहना है। विषय को सोचते रहते हैं। निर्विषय को पकड़ना है, तो इसको छोड़ना होगा। अंतर में 'ध्यानं निर्विषयं मनः' मन को निर्विषय करके ध्यान कीजिए। जबतक मन विषयों में रहेगा, तबतक ध्यान कहाँ! ध्यान तो योग का सातवाँ अंग है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। सही ढंग से यम-नियम का पालन नहीं है, तो आसन सिद्धि नहीं होगी। एक आसन पर देर तक नहीं बैठ सकते। बैठेंगे नहीं, तो भजन नहीं बनेगा। कहावत है–'बैठे चूत तो निकले सूत।'

चरखा कातने के लिए बैठते हैं, सूता कातते हैं। जितनी अधिक देर तक बैठेंगे, उतना अधिक सूता निकलेगा। जितनी कम देर बैठेंगे, उतना कम सूता निकलेगा। उसी तरह से ध्यान में बैठने के लिए आसन सिद्धि चाहिए और जबतक यम-नियम का पालन नहीं, तबतक आसन सिद्धि नहीं होगी। पाँच यम हैं। यम-नियमों का पालन करना होगा, तब आसनसिद्धि होगी। तब प्राणायाम–प्राण का व्यायाम। तब प्रत्याहार–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार। मन लगाते हैं, मन भागता है। मन लगाते हैं, मन भागता है। संत कहते हैं–

जहाँ मन हमारा भागता है, तुरत समेटें। मन में कोई बात आएगी, तुरत बाहर निकाले। वह एक लक्ष्य पर लगाओ। अपने को लक्ष्य पर लगाकर बारम्बार करते रहिए, तो धीरे-धीरे प्रत्याहार से धारणा। प्रत्याहार का मतलब प्रति+आहार। जो उत्पन्न हुआ, सो खा जाइए। अगर इसको आप नहीं खाएँगे, तो वह आपको खा जाएगा। यह प्रतिहार में पहले हारना नहीं है। जो प्रत्याहार में हार जाएगा, वह धारणा कभी नहीं कर सकेगा। जो प्रत्याहार में नहीं हारेगा, उसी को धारणा होगी और जब वही धारणा देर तक होती है, तब ध्यान होता है। ध्यान में पहले स्थूल ध्यान होता है, फिर सूक्ष्म ध्यान होता है। स्थूल ध्यान में मानस ध्यान है। जो इस तरह इष्ट के रूप का ध्यान करना, वह मानस ध्यान है। मानस जप करना, मानस ध्यान करना; यह स्थूल साधना है। इन दोनों में कुशलता प्राप्त होने पर तो सूक्ष्म ध्यान का आरंभ होता है और वह सूक्ष्म ध्यान दृष्टियोग से आरंभ होता है। दृष्टि हमारी फैली हुई है, फैली हुई दृष्टि को समेटकर लक्ष्य पर लगाएँ। सुरत लक्ष्य पर नहीं जाता, इसके लिए अभ्यास करना होता है। बहुत अभ्यास करना होता है। एक बार आचार्य द्रोण कौरव-पाण्डवों को लेकर जंगल में गए घुमाने के लिए और डाल पर लकड़ी की चिड़िया बाँध दिया। क्रम-क्रम से सबसे पूछा गया कि निशाना करो–चिड़िया की आँख पर। जब मैं कहूँगा, तब तीर चलाना। द्रोण ने वृक्ष पर बैठी हुई चिड़िया की ओर संकेत कर अर्जुन के अतिरिक्त सब भाइयों को लक्ष्य वस्तु पर निशाना करने कहा। बारी-बारी से लक्ष्य करते समय द्रोण उन सबसे पूछते जाते थे–"कहो, क्या देखते हो?" एक ने कहा–"वृक्ष, डालियों तथा पत्तों के सहित चिड़िया।" आचार्य ने उसे हटाकर दूसरे से पूछा–"तुम क्या देखते हो?" दूसरे ने उत्तर दिया–"डालों के सहित पक्षी को।" एवं प्रकार से एक-एक करके सबसे पूछते गये; किन्तु किसी ने ठीक उत्तर नहीं दिया, तब अन्त में अर्जुन को लक्ष्य पर निशाना करने कहा और पूछा–"तुम क्या देखते हो?" उन्होंने उत्तर दिया–"मैं केवल चिड़िया को देख रहा हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ नजर नहीं आता।" आचार्य ने कहा–"तुम्हारा निशाना ठीक है।" निशाना इसी प्रकार होना चाहिए।

उपर्युक्त घटना के पहले ही एक बार द्रोण ने स्वयं अपने निशाने का परिचय दिया था। एक बार कौरव तथा पाण्डव सब भाई मिलकर गेंद खेल रहे थे। संयोगवश गेंद कुएँ में गिर पड़ा। अब इन लोगों को कुएँ से गेंद निकालने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। उसी समय द्रोण उसी होकर वहाँ आ निकले। इन लोगों ने उनसे गेंद निकाल देने की प्रार्थना की। द्रोण ने एक सींकी से गेंद में मारा। पुनः सींकी के पेंदे में दूसरी सींकी से, एवं प्रकार सींकी के पेंदे को सींकी से छेदते हुए कुएँ के ऊपर तक सींकी का छोर लगा लिया और गेंद को निकालकर उन लोगों को दे दिया।

सींकी के पेंदे में सींकी मारना दृष्टि को कितना महीन करना है! इनकी दृष्टि कितनी सिमटी हुई थी! अपनी दृष्टि को इस प्रकार सूक्ष्म बनाओ, इतना कह देने पर भी गुरु संकेत की आवश्यकता रह जाती है–

'कहै कबीर चरन चित राखो, ज्यों सूई बिच डोरा रे।'

गगन की ओट निसाना है ।
दहिने सूर चन्द्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है ॥
तन की कमान सुरत का रोदा, सब्द बान ले ताना है ।
मारत बान बिँधा तन ही तन, सतगुरु का परवाना है ॥
मार्यो बान घाव नहिं तन में, जिन लागा तिन जाना है ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जिन जाना तिन माना है ॥

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–४.६.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१३४. भ्रम न सकइ कोउ टारि

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

अभी आपलोग माया के संबंध में सुन रहे थे। माया किसको कहते हैं? माया में दो अक्षर होते हैं–मा और या। 'मा' का अर्थ होता है–नहीं और 'या' का अर्थ होता है–जो। जो नहीं है, उसको माया कहते हैं–वास्तव में माया का अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व ब्रह्म है; लेकिन तुलसीदासजी ने बतलाया है–

रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानु कर वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सो, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥

सूर्य की किरण जब सीपी पर पड़ती है, तो वह चाँदी-सी भासती है। वास्तव में सीपी चाँदी नहीं है, सीपी, सीपी ही है; लेकिन वह चाँदी-सी भासती है। सूर्य की किरण जब रेतीले मैदान पर पड़ती है, वहाँ जल-सा भासता है; लेकिन वहाँ जल है नहीं। यद्यपि मिथ्या है; लेकिन भ्रम को कोई टाल नहीं सकता है। 'भ्रम न सकइ कोउ टारि।' सूर्य की किरण में जल था, न है, न होगा। सीपी में चाँदी है, न था, न होने को है; लेकिन सीपी चाँदी-सी मालूम पड़ती है। रेतीले मैदान में सूर्य की किरण से पानी मालूम पड़ता है। यद्यपि भ्रम है, नहीं है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। लेकिन अगर प्राणी मृग की भाँति उसी में जल ढूँढ़ते हैं, तो उसे जल नहीं मिलेगा। कह सकेंगे कि नहीं है, फिर वह क्यों मालूम पड़ रहा है और जब वह है ही नहीं, तो प्रमाण क्या दे सकता है। यद्यपि असत्य है ही। यद्यपि मिथ्या है, फिर वह दुःख क्या दे सकता है! गोस्वामीजी ने लिखा है–'यद्यपि असत्य देत दुख अहई।' दुःख देती है माया। यह कैसे?

उपमा के लिए एक लघुकथा सुनाता हूँ–बहुत जमाने पूर्व की बात है। उन दिनों हैजा का रोग बहुत होता था और हैजा में बहुत लोग मरते थे। इतने लोग मरते थे, तो उसको जलावेगा कौन? नदी किनारे फेंक आता था। एक गाँव में इसी तरह हैजा प्रवेश कर गया, लोग मरने लग गए। लोग उठा-उठाकर नदी किनारे फेंक आते थे।

बूढ़े-बुजुर्ग, नौजवान बैठकर आपस में बातचीत करने लगे कि अब हमलोगों को क्या करना चाहिए। इतने लोग मरते हैं, किसी का जलाया जाता है नहीं, वह तो भूत बनकर आएगा, हमलोगों को खाएगा। बूढ़े-बुजुर्ग में एक-दो नौजवान भी बैठे हुए थे। एक नौजवान ने कहा कि आपलोग चिंता क्यों करते है। अरे! हम पढ़े हैं विद्यालय में–भूत, वर्तमान, भविष्यत्–ये तीन काल होते हैं। काल्ह-काल्ह जो कहते हैं, तो भूत काल्ह है। भूत का मतलब है, जो बीत गया। भविष्य जो आनेवाला है। वर्तमान जो हो रहा है। इसमें चिंता की क्या बात है। भूत पकड़ लेगा कैसे, भूत तो है ही नहीं। पकड़ेगा क्या! एक दूसरा नौजवान उसी में बैठा हुआ था। वह कहता है, यहाँ पर आकर सिखलाते हो भूत। अरे! प्रेत हो जाता है, प्रेत। उसे तो प्रेत कहते हैं, वह इस लोक में नहीं है, उस लोक में चला गया। उसको कहते हैं प्रेत। उस भूत का अस्तित्व कहाँ है, कुछ है ही नहीं। दोनों नौजवान में बातें बढ़ने लगीं। उसने कहा–अच्छा, तो भूत नहीं है, प्रेत नहीं है, तो बारह बजे रात में श्मशान घाट में जा सकते हो अकेले। नौजवान था, बोला–हाँ, क्यों नहीं। जब अस्तित्व ही नहीं भूत-प्रेत का, तो वह क्या करेगा! अच्छा, हम देखेंगे कि तुम जाते हो कि नहीं। कहा कि देख लेना तुम। दिन में बात हुई।

जब संध्याकाल हुआ, तो इसके मन में हुआ कि अगर वह शाम में ही घूम के आ जावे और कहे कि हम आधी रात में गए, इसका क्या सबूत है, इसकी परख कैसे हो–वह गया कि नहीं! रास्ते में एक वृक्ष पड़ता था। वह वृक्ष पर चढ़ गया। अँधेरा होने लगा। ज्यों-ज्यों अँधेरा होने लगा। उस वृक्ष पर बैठकर सोच रहा है, देखें, कब जाता है! अब होता क्या है, उसके मन में होता है कि भाई! अगर कोई वृक्ष के नीचे से जानवर चला गया, पत्ता खड़खड़ा दिया, तो आदमी गया कि जानवर, कौन गया, इसका विश्वास कैसे होगा। क्यों न उसी श्मशानघाट में जाकर छिप जाएँ। वह आता है श्मशानघाट और

मुर्दों के बीच में छिप जाता है। वह आएगा, तो श्मशानघाट ही आएगा।

जब आधी रात हो गई, तब इनको याद आया कि हमको श्मशानघाट जाना है। वह नौजवान, मजबूत और साहसी था। हाथ में एक मजबूत डंडा लिया और कहा कि चलो, देखें कहाँ पर भूत है! श्मशानघाट में पहुँचकर जहाँ से जहाँ तक मुर्दा था, वह यहाँ से वहाँ तक घूमता है। वह कहता है—कहाँ है भूत, चलो। कहाँ है प्रेत, आओ। देखें, तुम कहाँ छिपा हुआ है? जो जाँच करने के लिए गया था, वह जहाँ पर लाशें थीं, उसी के बीच में जाकर सो गया कि देखें, वह कब आता है!

यह चारो ओर घूम लिया और लौटने लगा। जब लौटने लगा, तो इसके मन में हुआ कि हम जाकर कहेंगे कि दोपहर रात में हम गये थे, तो वे कहेंगे कि इसका क्या प्रमाण है या यह कहेंगे कि शाम में लौट आए हो तो? इसके कमर में डंडाडोर (करधनी) था। खोल लिया डंडाडोर और पाँच मुर्दे को एक-एक करके जुटाकर बाँध दिया। जब चलने लगा, तब उसने सोचा कि अगर रात में सियार-कुत्ता आकर लाश को इधर-उधर कर दे, फिर तो हम झूठे हो जाएँगे। अब उस डंडाडोर को खोलकर हाथ में बाँधता है। एक को वह बाँधता है और जो जवान गया था इसकी रखवाली करने के लिए कि वह आता है कि नहीं आता है, वह तीसरे नम्बर पर था। यह क्या करता है कि अपना हाथ उठाता है। अब श्मशानघाट में हो, मुर्दा हाथ उठावे, तो जैसे ही हाथ उठाया, मारा एक डंडा कि तुम्हारी अभी बारी नहीं है। पहले को बाँध रहा हूँ, दूसरे को बाँधूँगा, तब तुमको बाँधूँगा। पहले को बाँध दिया, दूसरे को बाँध दिया। अब बेचारे क्या करे, कुछ करेगा तो डंडा लगेगा। क्रम-क्रम से तीसरे और चौथे को बाँध दिया। जब पाँचवें को बाँधने लगा, तो महिला थी। उसने सोचा कि महिला को बंधन देना ठीक नहीं। चार का ही नाम बतलाऊँगा कि वहाँ जाकर मैंने चार को ही बाँधा है। वह चला गया। इधर यह बेचारा लाश के बीच से उठ-पुठकर चला आया अपना घर।

अब यहाँ क्या होता है, जिसने सूता बाँधा था मुर्दों के हाथ में वह अपना घर पहुँच जाता है और अपने कमरे में जाकर सो जाता है। एकाएक लघुशंका लगती है, तो किवाड़ी खोलकर वह बाहर निकलता है। उसकी बहन जग गई उस समय। उसकी बहन के मन में हुआ कि दिन में हमारे भैया ने जो बात की है, उसे पूरा करने के लिए वह श्मशानघाट जाएगा। अकेले कहीं डर न जाए, तो मैं साथ हो लूँगी कि भैया! मैं तेरे साथ हूँ। वह तो उठा लघुशंका करने के लिए। देहात में बाहर में जाकर दरवाजे पर लघुशंका करने लगते हैं। इधर उसकी बहन इसके पीछे-पीछे चली, जब देखा कि वह बैठ गया, तो वह खड़ी हो गई। अब जब वह लघुशंका करके उठा है और उलटकर आना चाहता है, अँधेरी रात थी ही, एकाएक नजर बहन जो खड़ी थी, उसपर पड़ी। वह बोला कि अरे! असल में भूत होता है, जिसको मैंने नहीं बाँधा था महिला जानकर, वही मेरे पीछे-पीछे आ गयी है। वह वहीं पर मूर्च्छित होकर गिर जाता है। 'यद्यपि असत्य', वहाँ तो भूत नहीं, उसकी बहन थी; लेकिन भ्रम हो गया। 'यद्यपि असत्य देत दुख अहई'। उसी तरह से जो माया कहने के लिए है माया, वास्तविक में अस्तित्व ही नहीं है। 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या'। ब्रह्म जो है, परमात्मा जो है, वह सत्य है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, सब भ्रम है। देखने में आता है, वास्तव में वह है ही नहीं। उसी तरह से माया देखने में आती है कि है; लेकिन वह है नहीं। संत लोग कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

यह भगवान श्रीकृष्ण का महावाक्य है। जो सत्य है, वह त्रयकाल अबाधित है। सत्य था, है और होगा और जो असत्य है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए जो सत्य है, उस सत्य को पकड़ो; जो वह शाश्वत है, उस शाश्वत को पकड़ो। जो माया है, माया को पकड़ोगे, तो वह देखने में आता है, पर है नहीं। क्षणभंगुर है, नाशवान है, मिथ्या है; लेकिन जो ब्रह्म है, वह था, है और रहेगा। इसलिए जो उससे सुख मिलेगा, वह शाश्वत सुख मिलेगा। शाश्वत का अंत ही नहीं है और वह शाश्वत सुख अपने अंदर ध्यान करने से मिलेगा। जो अंदर प्रवेश करते हैं, वैसे शान्ति मालूम पड़ती है। साधारण, निरक्षर आदमी की

बात नहीं है, यह संत की बातें है। बहुत चिंता है, नींद नहीं आती है, करवट बदल रहे हैं, लेकिन जिस समय नींद आने लगती है, हाथ में अगर पुस्तक रहती है, तो वह पुस्तक हाथ से गिर जाती है। मतलब आपकी जो शक्ति थी, वह सिमट गई। देखने की शक्ति थी, पुस्तक देखकर पढ़ते थे, वह शक्ति भीतर चली गयी। इसलिए जितनी इन्द्रियाँ हैं, सबकी शक्ति भीतर की ओर एकत्रित होती हैं। बाहर का ज्ञान छूट जाता है, उस समय अगर कोई जगा देता है, तो बहुत दुःख होता है, उस समय तो बिल्कुल जगना नहीं था, नींद में आनंद आ रहा था। किसी से भेंट नहीं होती थी, किसी से बातचीत भी नहीं होती थी; लेकिन फिर भी आराम मालूम पड़ता था, सुख मालूम पड़ता था और जगा देने से दुःख हो जाता है। जैसे हम भीतर की ओर जाते हैं, वैसे हम सुख की ओर जाते हैं। तो हम भीतर की ओर कहाँ तक जाएँ? संत दादू दयालजी ने कहा–

सूनी सून्न शून्य के पारा, अगुण सगुण नहिं दोई।

'सूनी सून्न शून्य के पारा' तीन शून्य के पार जाओ। वह तीन शून्य, किसके पार जाएगा। वह तीन शून्य–अंधकार का शून्य, प्रकाश का शून्य, तीसरा शब्द का शून्य। इन तीनों शून्यों को पार कीजिए, तब वह परम प्रभु परमात्मा की प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। उससे जो सुख मिलेगा, वह शाश्वत सुख मिलेगा, कभी अलग होनेवाली नहीं है। इसलिए संतमत में ईश्वर की भक्ति बतलायी है, ईश्वर की भक्ति करो। इसके लिए घर-वार, परिवार, रोजगार छोड़ने की जरूरत नहीं है। अपने घर-परिवार, रोजगार में रहकर जैसे हमलोग सब काम करते हैं, वैसे हम भगवद्‌भजन भी करें।

जब भगवान बुद्ध को तत्त्व (बुद्धत्व) लाभ हो गया, तब वह गये अपने घर पर भिक्षाटन करने के लिए। जैसे दरवाजे पर जाते हैं, टेर लगाते हैं–'भिक्षाम् देहि।' दो बार कहा, तीन बार कहा, तो उनके पिता शुद्धोधन ने आवाज सुनी। मालूम पड़ता है कि यह जानी-पहचानी आवाज है। वह अपने हवेली से बाहर निकलते हैं और देखते हैं तो पुत्र है। उसने कहा–'अरे! भीख माँगने के लिए किसने सिखलाया! क्षत्रिय भीख नहीं माँगते। तुम क्यों भीख माँगने के लिए आए हो, किस मुँह से यहाँ आए हो। महापापी हो, तुम क्षत्रिय नहीं हो। ये तो भिक्षु होकर भीख माँगने क लिए आया है। इनकी पत्नी जो थी यशोधरा, उसके कानों तक आवाज पहुँची। ये तो मेरे पति की आवाज है। वह निकल आई हवेली से बाहर और देखकर अवाक् हो गयी। राज-वेश में देखी थी और उसे भिक्षु वेश में देख रही है। आदर के साथ ले जाती है भीतर। भीतर में बैठाती है और पूछती है–आपने जो घर-वार, परिवार, राजपाट, धन-दौलत–सबका परित्याग किया। क्या यहाँ घर पर रहकर भगवद्‌प्राप्ति नहीं होती है! आपने हमलोगों को छोड़ दिया। उन्होंने कहा कि देखो, घर में रहकर तो लोग पढ़ते हैं; लेकिन जो फर्स्ट डिविजन से पास करना चाहते हैं, वह एकान्त स्थान खोजता है। उसी तरह से मेरी तीव्र इच्छा थी, मुझे जल्दी भगवद्‌प्राप्ति हो, इसीलिए शान्त एकान्त स्थान की खोज में चला गया। शांत-एकांत पाकर, पवित्र होकर घर में किया जा सकता है और बाहर में भी किया जा सकता है।

बाहर भीतर एको जानो यह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक आपा चीने, मिटै न भ्रम की काई॥

जो बाहर में है, वही भीतर में भी; जो भीतर में है, वही बाहर में है। लेकिन प्रभु की प्राप्ति जब कभी-भी होगी, तो भीतर ही होगी। जिनको प्राप्ति हुई है, भीतर ही हुई है। जब भीतर प्राप्ति हो जाएगी, तब बाहर भी हो जाएगी। जबतक भीतर में प्राप्ति नहीं हुई है, तबतक बाहर में प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए संतों ने कहा–घर-वार, परिवार, रोजगार छोड़ने की जरूरत नहीं है। घर-वार, परिवार, रोजगार में रहिए और भजन भी कीजिए। जैसे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था–'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।' युद्ध भी करो और मेरा स्मरण भी करो। उसके सामने युद्ध का मैदान था, इसलिए युद्ध करने के लिए कहा। हमलोगों के सामने कर्म है। काम भी करो और भगवान का नाम भी लें। इतना कहकर में अपने प्रवचन में विराम देता हूँ।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–१८.६.२००६ ई० साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१३५. पीव मिलन को ठानिये

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

आपलोग यत्र-तत्र से आकर सत्संग में एकत्रित हो जाते हैं। बहुत अच्छी बात है। सत्संग में लाभ ही होता है, हानि नहीं होती है। सत्संग के वचनों को हमलोग नियम से श्रवण करें। इसको हृदय में धारण करें। आचरण में उतारें, तो कल्याण ही कल्याण है। संतवाणी का पाठ होता है—

बातें हैं अनमोल, मोल नहिं एक-एक की।
अरे हाँ रे मेँहीँ, कहुँ जो चाहूँ कहन,
सन्त पद सिर निज टेकी॥

सभी संतों ने एक ईश्वर बतलाया है। मनुष्य-शरीर दुर्लभ है, सुन्दर है; लेकिन क्षणभंगुर भी है। कबीर साहब ने कहा है—

कबीर वासा बुलबुला, अस मानस की जास।
देखत देखी जायगा, ज्यों काया परगास॥

परगास की काया बहुत चमकीली होती है। उसी तरह मनुष्य-शरीर देखने में सुंदर है, लेकिन क्षणभंगुर है। जब वर्षा होती है, तो गड्ढे में पानी जमा हो जाता है। फिर ऊपर से बूँदें जब गिरती है, तो बुलबुला हो जाता है। उस बुलबुले पर जब सूर्य की किरण पड़ती है, वह भी चमकीला लगता है। लेकिन उस बुलबुले की उम्र कबतक, जबतक उसमें हवा है। बुलबुले से हवा निकल जाएगी, वह समाप्त हो जाएगा। मनुष्य-शरीर भी बुलबुला के समान है। देखने में सुन्दर है, देव दुर्लभ है; लेकिन जबतक इसमें हवा है, तभी तक इसका जीवन है। इससे हवा निकल जाएगी, जीवन का अंत हो जाएगा। गुरु महाराज की वाणी में है—

छन-छन पल-पल समय सिरावै,
नर तन दुर्लभ फिर नहीं पावै।

जैसे-जैसे पल बीतता है, वैसे-वैसे हमलोग का जीवन धन समाप्त होता जाता है। इस शरीर का कोई भरोसा नहीं है, कब छूटेगा; लेकिन दुर्लभ है, फिर मिलने को नहीं। गुरु नानकदेवजी महाराज ने कहा—

नहिं ऐसो जनम बारम्बार।
का जानी कछु पुन्य प्रगट्यो, तेरो मानुषा अवतार॥
घटत छिन छिन बढ़त पल पल, जात न लागत बार।
वृक्ष ते फल टूटि पड़िहै, बहुरि न लागत डार॥
बैर वाले सँभाल तन को, विषम ऐड़ी धार।
बेड़ा बाँधो सुरत की, चढ़ि उतर भौजल पार॥
काम क्रोध हंकार तृष्णा, तजहु सकल बिकार।
दास नानक मान लीजै, नाम को आधार॥

कहते हैं—'घटत छिन छिन बढ़त पल पल, जात न लागत बार'। जैसे कोई जन्म लिया। मान लिया उसका जीवन एक सौ वर्षों का है। लेकिन जिस दिन जन्म लिया, उस दिन एक दिन हुआ तो एक सौ वर्षों में एक दिन घट गया। बढ़ते-बढ़ते जब पाँच वर्ष का होशियार हो गया, तो अभिभावक समझते हैं, हमारा बच्चा पाँच वर्ष का हो गया; लेकिन जो सौ वर्षों का जीवन लेकर आया था, उसमें पाँच वर्ष घट गया। यही है—'घटत छिन छिन बढ़त पल पल'। अब वह बीस वर्ष का, जवान हो गया, तो आयु घट गई बीस वर्ष। अस्सी वर्ष और बचा। इस तरह घटता और बढ़ता है। घटने-बढ़ने में समय बीत जाता है। गुरु नानकदेवजी कहते हैं, जैसे वृक्ष से जो फल गिर गया, वह फिर डाल में जाकर नहीं लगता। उसी तरह हम जो साँस लेते हैं, जो साँस निकल गई, सो निकल गई, वह लौटकर आनेवाली नहीं है। साँस पर ही जीव अवलंबित है। २१६०० (इक्कीस हजार छः सौ) साँस स्वस्थ शरीर से प्रतिदिन निकलती है और अस्वस्थ होने पर २२००० से २५००० तक। पूरा होगा जाकर सौ वर्ष तक, लेकिन इधर घट जाएगा। अगर कोई भजन-ध्यान करता है, ध्यान करते-करते उसका प्राण-स्पंदन रुद्ध हो जाता है। जितनी देर रुद्ध होता है, उतनी साँसें बच गयीं, इससे आयु बढ़ जाती है। जो जीवन का क्षण निकल गया, वह फिर मिलने को नहीं। हमलोग नदी स्नान करने के लिए जाते हैं, जिस जल में हम डुबकी लगाते हैं, एक

डुबकी से दूसरी डुबकी नहीं लगा सकते उसमें; क्योंकि वह पानी बहकर आगे निकल जाता है। उसी तरह हमलोगों का जीवन बहता ही रहता है। एक संत हुए धरनीदासजी, उन्होंने कहा है–

जीवन थोर बचा भवभोर,
कहा धन जोरि करोर बढ़ाये ॥
जीव दया करू साधु की संगति,
पैहों अभय पद दास कहाये ॥
जा सन कर्म छिपावत हौ सो
तो देखत है घट में घट छाये ॥
वेग भजो 'धरनी' सरनी ना
तो आवत काल कमान चढ़ाये ॥

जीवन की क्षणभंगुरता है। भगवद्भजन करना सार्थकता है। जागतिक धन जितना भी हम संग्रह कर लें, वह साथ जानेवाला नहीं है। 'दृढ़ भजन धन खास हो, भवत्रास क्या करे।' लेकिन भजनरूपी धन जितना जमा कर सकें, यही हमारे साथ जाएगा, अन्यथा और कुछ साथ नहीं जाएगा। यह सूत्रवत् बना हुआ है। 'जीवन थोर बचा भवभोर, कहा धन जोरि करोर बढ़ाये' लेकिन हमलोग जागतिक रुपयों के संचय करने में ही अपने जीवन के क्षण को व्यतीत कर देते हैं। हम नित्य दिन देख रहे हैं लोग आए, गए, कुछ साथ में नहीं लेकर गए। समझाने के लिए हम भी दूसरे को समझा देते हैं कि साथ में कुछ जानेवाला नहीं है; लेकिन फिर भी वही काम करते हैं, जो साथ में जानेवाला नहीं है, उसी का संग्रह करते हैं। जो भजन-ध्यान संग्रह साथ जानेवाला है, वह नहीं कर पाते हैं।

हम कुछ कर्म करते हैं। फल के लिए कर्म करते हैं। कुछ ऐसे भी कर्म करते हैं, जो कोई जानने नहीं पावे। धरनीदासजी कहते हैं– सबसे छिपा सकते हो, लेकिन प्रभु हमारे घट में ही बैठा हुआ है, उससे तुम कहाँ छिपाओगे। जब तुम यहाँ से जाओगे, दरबार में उपस्थित होओगे, तब जितने कर्म किये थे, तुम्हारे सब कर्मों की हाजिरी होगी। लोगों की मान्यता है, पौराणिक कथा है। धर्मराज के दरबार में एक चित्रगुप्त रहते थे। जो अच्छे कर्म करते हैं, वे लिखकर रखते हैं। चित्रगुप्त जाति के कायस्थ थे। दुनिया में सब जानते हैं कि कायस्थ मुंशी होते हैं; लेकिन परमात्मा के दरबार में भी कायस्थ ही मुंशी होते हैं। जबसे सृष्टि हुई है धर्मराज हैं, तबसे जबतक सृष्टि रहेगी तबतक। इसका अर्थ क्या है। कायस्थ का अर्थ होता है, जो काया में स्थित है। उसका नाम चित्रगुप्त है। जो कुछ भी हम कर्म करते हैं, वह फिल्म की तरह चित्र बन जाता है भीतर में, उसको कोई देखता नहीं। उसी दिन जानेंगे, जब दरबार में जाएँगे तब। इसलिए उसका नाम चित्रगुप्त है और काया में स्थित है। संत लोग कहते हैं, उससे तुम छिपा नहीं सकते हो, इसलिए ऐसे कर्म नहीं करो, जो तुम छिपाना चाहते हो। सत्कर्म करो, सत्संग करो, भजन करो। अपने जीवन को बर्बाद नहीं करो। एक भक्तिन हुई सहजोबाई, उन्होंने कहा–

पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय।
पीव मिलन को ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय ॥
रहिये ना पड़ि सोय, बहुरि नहिं मनुखा देही।
आपुन ही कूँ खोज, मिलै जब राम सनेही ॥
हरि कूँ भूले जो फिरै, सहजो जीवन छार।
सुखिया जब ही होयगो, सुमिरेगो करतार ॥

यह पानी के बुलबुले के समान हमारा शरीर है। 'पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय।' किस समय, कहाँ पर, किस तरह शरीर छूट जाएगा, किसी को पता नहीं है। लेकिन जहाँ पर छूटेगा, किस तरह छूटेगा, वह निश्चित किया है। गुरु महाराज कहा करते थे–

यमराज के दरवाजे पर एक वृक्ष था, उसपर एक कबूतरी रहती थी बहुत दिनों से। समय पर वृक्ष से नीचे उतर जाती थी, दाना चुग लेती थी, फिर अपने घोंसले में चली जाती थी। बहुत दिनों तक यह चलता ही रहा। एक दिन वह कबूतरी उसी तरह वृक्ष से नीचे उतरकर दाना चुग रही थी। यमराज निकले बाहर, नजर पड़ी उस कबूतरी पर। कबूतरी को कुछ देर तक देखते रहे। कबूतरी की भी नजर यमराज पर पड़ी। यमराज चले गये; लेकिन कबूतरी डर के मारे थरथर काँपने लगी। यमराज की दृष्टि जिसपर जाए, उसकी क्या हालत होती है। ऊपर से चले जा रहे थे गरुड़जी। गरुड़जी की नजर पड़ी उस कबूतरी पर, जो

डर के मारे काँप रही थी। गरुड़जी उतर गये और बोले—क्यों काँप रही हो, क्या बात है, क्या तकलीफ है? कबूतरी ने कहा—वर्षों से इस वृक्ष पर हूँ। दाना चुगती हूँ नीचे उतरकर, फिर अपने घोंसले में चली जाती हूँ। कभी यमराज मुझे नजर उठाकर देखा नहीं; लेकिन आज यमराज हमको बहुत देर तक देखता रहा। ना मालूम, हमारे भाग्य में क्या लिखा है। यमराज की नजर पड़ जाय, तो उसकी जीवन का क्या भरोसा! गरुड़जी ने कहा—तुम डरती क्यों हो। तुम मेरी पीठ पर बैठ जाओ। तुमको में ऐसी जगह रख आऊँगा, जहाँ पर यमराज का लकड़नाना भी नहीं पहुँचेगा। बैठ गई कबूतरी उसकी पीठ पर। हजार योजन दूर गरुड़जी चलते गये और एक पहाड़ की गुफा में उस कबूतरी को रख दिया और बाहर से पत्थर के द्वारा दरवाजा बंद कर दिया, ताकि कोई जानवर जाकर उसका वध नहीं करे। वह उड़ते हुए पहुँच गये यमराज के पास। गरुड़जी यमराज से भेंट करते हैं और पूछते हैं कि आज आपने कबूतरी को बहुत देर तक देखा है। यमराज ने कहा—हाँ, देखा तो है। गुरुड़जी ने कहा—आपके देखने का कारण! मेरे देखने का कारण है कि आज ही कबूतरी की मृत्यु होनेवाली है, यहाँ से एक हजार योजन दूरी पर एक पहाड़ की गुफा में; लेकिन यह छोटी-सी चिड़िया यहाँ पर है, हजार योजन यह कैसे जाएगी—यही सोचकर मैं देख रहा था खड़ा होकर। गरुड़जी ने कहा—मैंने तो वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ पर वह जीवित होगी कि मर गई होगी? यमराज बोला—उसकी तो मौत हो गई होगी। गरुड़जी जाते हैं। दरवाजा बंद था, फाटक खोलकर भीतर जाते हैं, तो देखते हैं कि एक केकड़ा ने गला दाब दिया, वह मर गया है।

किसी को पता नहीं, हमारी मृत्यु कब होगी और किस तरह होगी। इसलिए सहजोबाई कहती है—'पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय'। इसलिए करो क्या? 'पीव मिलन को ठानिये'। परमात्मा का यत्न जानकर भजन करो। 'रहिये ना पड़ि सोय' आलस में पड़े नहीं रहिए। संत चरणदासजी महाराज कहते हैं—

दिन को हरि सुमिरन करो, रैनि जागि कर ध्यान।
भूख राखि भोजन करो, तजि सोवन को बान॥

फिर इन्होने कहा—

चारि पहर नहिं जगि सकै, आधि रात सूँ जाग।
ध्यान करो जप हीं करो, भजन करन कूँ लाग॥
जो नहिं सरधा दोपहर, पिछले पहरे चेत।
उठ बैठो रटना रटो, प्रभु सूँ लावहु हेत॥

फिर कहते हैं—

जागै ना पिछले पहर, करै न गुरु मत जाप।
मुँह फारे सोवत रहै, ताकूँ लागै पाप॥

वह समझते हैं कि दिनभर चार पहर तो काम करते लोग रहते हैं, तो रात भर जग करके कैसे ध्यान करेंगे। इसलिए कहते हैं 'आधि रात सूँ जाग।' फिर मन में होता है कि एक पहर तो खाने-पीने में ही चला जाता है, दूसरे पहर में सोयेंगे, तो पिछले पहर में जगेंगे, अच्छा तो आराम कर ले। फिर कहते हैं—'ध्यान करो जप हीं करो, भजन करन कूँ लाग।' लेकिन 'जो नहिं सरधा दोपहर, पिछले पहरे चेत।' आधी रात से नहीं जग सकते हो, तो रात के पिछले पहर में जग जाओ, भगवान का नाम लो। अगर चौथे पहर में नहीं जगते हो—'जागै ना पिछले पहर, करै न गुरु मत जाप', तो परिणाम क्या होगा? 'मुँह फारे सोवत रहै, ताकूँ लागै पाप।' जो सोया हुआ रहता है, उसको पाप लगता है। श्रीमद्भागवत बतलाता है—भगवान श्रीकृष्ण ब्राह्ममुहूर्त में उठकर ध्यान करते थे। पिछले पहर का नाम है ब्रह्ममुहूर्त। ब्रह्ममुहूर्त का समय है।

पीव मिलन को ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय॥
रहिये ना पड़ि सोय, बहुरि नहिं मनुखा देही।
आपुन ही कूँ खोज, मिलै जब राम सनेही॥

फिर यह मनुष्य की देह मिलनेवाला नहीं है। जिस तरह का कर्म करोगे, उसी तरह की देह मिलेगी। कर्मानुसार देह मिलेगी। अगर भजन करोगे, ध्यान करोगे, तो भजन करनेयोग्य शरीर मिलेगा और भजन करनेयोग्य शरीर मनुष्य-शरीर से बढ़कर कोई दूसरा शरीर नहीं है। अगर भजन करते रहोगे तो फिर मनुष्य का शरीर मिल जाएगा। अगर वही जागतिक प्रवंचना है, तो उसी तरह का शरीर मिलेगा। 'आपुन ही कूँ खोज, मिलै जब राम सनेही' अपने शरीर में जो राम

है, परम प्रभु परमात्मा है, उससे मिलना चाहते हो, तो 'आपुन ही कूँ खोज' पहले तुम अपनी खोज कर लो। अपनी पहचान अगर हो जाएगी, तो परमात्मा की भी पहचान हो जाएगी। जबतक अपनी पहचान नहीं, तबतक प्रभु की पहचान नहीं होगी। इसलिए–

इबादत है किसी नाशाद को फिर शाद कर देना।
इबादत है किसी बरबाद को आबाद कर देना॥
यही सीखा है हमने मुर्शद के कदम छू कर।
चाहते हो खुदा से मिलना तो पता खुद का लगा लेना॥

अगर खुद से मिलना है तो खुद का पता लगा। परमात्मा से मिलना है, तो आत्मा का पता लगाओ। आत्मा का पता मिल जाएगा, तो परमात्मा का भी पता मिल जाएगा। आत्मा की पहचान हो जाएगी तो परमात्मा की भी पहचान हो जाएगी। आत्मा की पहचान हो, परमात्मा की पहचान नहीं हो, ऐसी बात नहीं है। जिस क्षण आत्मा की पहचान होगी, उस क्षण परमात्मा की भी पहचान हो जाएगी। इसलिए कहते हैं–'आपुन ही कूँ खोज, मिलै जब राम सनेही।'

हम-हम तो कहते हैं; लेकिन हम हैं कौन? 'आमी आमी करी बुझिते ना पारी।' हम अपने को पहचानते हैं, अपनी पत्नी को पहचानते हैं, पुत्र को पहचानते हैं, पुत्री को पहचानते हैं, समाज को, कुटुम्ब को, परिवार को–सबको पहचानते हैं। लेकिन हम स्वयं कौन हैं, इसको नहीं पहचानते। संत कहते हैं–पहले अपनी पहचान करो, तब परमात्मा की। तुम कोई शरीर नहीं हो, तुम्हारा शरीर है। तुम शरीर में रहते हो। तुम शरीर में शरीरी हो; क्षेत्र नहीं, क्षेत्रज्ञ हो। अपनी पहचान करो। जिस दिन अपनी पहचान हो जाएगी, उसी दिन, उसी क्षण परमात्मा की पहचान हो जाएगी। इसलिए संत कहते हैं–'आमी आमी करी' कहते हैं, हम हैं-हम हैं; लेकिन हम हैं कौन, इसकी पहचान करो।

आमी आमी करी बुझिते ना पारी।
के आमी आमाते आछे की रतन।
कोन शक्ति बले बेड़ाय चले बोले।
कारे आभावे होय देह अचेतन।
देहे माँझे आछे प्राणेरि संचार।
ताहा तेहि बले आमी बा आमार।
प्राण गेलेन चले होवे शवाकार।
केवाकार कोथाय रवे धन जन॥

अपनी पहचान करो यही सहजोबाई कहती है–'आपुन ही कूँ खोज, मिलै जब राम सनेही।' अपनी खोज करो, तब परमात्मा मिलेंगे 'हरि कूँ भूले जो फिरै, सहजो जीवन छार।' जो हरि को छोड़कर माया के पीछे भूले रहते हैं, अटके रहते हैं, उसका जीवन छार (राख) है, किसी काम का नहीं। इसलिए मनुष्य में रहते हुए भगवद्‌भजन करो। भगवद् की प्राप्ति करके कल्याणमय होवो। जो अपना कल्याण कर सकेंगे, वही दूसरे का कल्याण कर सकेंगे। जो अपना कल्याण नहीं बना सकते, वह दूसरे का कल्याण नहीं कर सकते। जो स्वयं विद्वान् नहीं है, वह दूसरे को विद्वान क्या बनाएँगे! इसलिए भजन करो, सत्संग करो, सदाचारमय जीवन जियो। झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार–इन पंच पापों को जो करता है, उससे भजन नहीं बनेगा। झूठ सब पापों की जड़ है। गुरु महाराज कहते थे–झूठ एक ऐसा झोला है, कितना भी पाप कर लो, सब उसमे अँट जाएगा। कोई भी पाप कर लो, कह दो–मैंने नहीं किया, उसी झोला में घुस जाएगा। इसलिए झूठ छोड़ो और सत्संग का–सत् का संग करो। अगर सत् का संग नहीं करो, तो सत्संग क्या चीज! पाँच पाप में कोई भी पाप करता है, उससे भजन नहीं बनेगा। ये झूठ, चोरी, नशा, हिंसा, व्यभिचार–पंच पापों से बचो। एक ईश्वर पर विश्वास करो, प्रभु की प्राप्ति अपने अंदर होगी, इसका दृढ़ निश्चय रखो। सत्संग करो, ध्यान करो, गुरुसेवा करो और अपने जीवन-यापन के लिए, परिवार के भरण-पोषण के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य किया करो। स्वावलंबी जीवन बिताओ। जो बन सके, दूसरे का उपकार करो, कल्याण होगा। आज रविवार है, गुरु-कीर्तन कहिए, फिर आरती।

(स्थान–महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक–२५.६.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१३६. काहु न कोउ सुख दुख कर दाता

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

अभी आपलोगों ने 'रामचरितमानस में बत्तीस प्रकार के सुख हैं' के संबंध में सुना। वास्तविक बात तो यह है कि कोई किसी को सुख देता है और न दुःख। अपने ही किये कर्मों के फल सभी भोगते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम जगज्जननी जानकी के साथ जब वन गये थे, तो उस वन में पत्ते की शय्या पर रात में श्रीसीताजी और भगवान श्रीराम–दोनों सोये हुए थे। थोड़ी दूर पर लक्ष्मणजी बैठकर पहरा दे रहे थे। गुहनिषाद लक्ष्मणजी के पास बैठ गया। भगवान श्रीराम और भगवती श्रीसीताजी को पत्ते की शय्या पर सोये देखकर निषाद के मन में बड़ा विषाद हुआ। उसने कहा–कैकई ने अच्छा नहीं किया। राजराजेश्वर, राजरानी अट्टालिकाएँ में सोनेवाले, ये लोग राजसुख को अनुभव करनेवाले, सुकोमल शय्या पर सोनेवाले कैकई के कारण ही पत्ते की शय्या पर सो रहे हैं। लक्ष्मणजी ने उत्तर दिया–

काहू न कोउ सुख दुख कर दाता।
निजकृत कर्म भोग सुनु भ्राता ॥

हे भाई! सभी अपने किये कर्मों का फल भोगते हैं। कैकई को तुम दोष क्यों लगा रहे हो। भगवान बुद्ध ने कहा–'हमारी वर्तमान हालत हमारे विचारों का फल है। उसकी बुनियाद हमारे विचारों पर ही है। वह हमारे विचारों से बनी हुई है। मनुष्य अगर बुरी कल्पना से बोलता या कोई काम करता है, तो दुःख उसके पीछे-पीछे वैसे ही चलता है, जैसे बैलगाड़ी खींचनेवाले बैल के पीछे-पीछे चक्का। पुनः भगवान बुद्ध ने कहा–'हमारी वर्तमान हालत हमारे विचारों का फल है। इसकी बुनियाद हमारे विचारों पर ही है। वह हमारे विचारों से बनी हुई है। मनुष्य अगर अच्छी कल्पना से बोलता या कोई काम करता है, तो सुख उसके पीछे-पीछे वैसे ही चलता है, जैसे साथ चलनेवाली शरीर की छाया, उसे कभी साथ नहीं छोड़ता। इसलिए बुरे कर्म को करना ही नहीं चाहिए, अच्छा-ही-अच्छा करना चाहिए। क्योंकि सब कोई अच्छा ही चाहते हैं। सब कोई सुख ही चाहते हैं। जो सुख चाहते हैं और दूसरे को दुःख देते हैं, तो सुख कहाँ से मिलेगा!

रोपे पेड़ बबूल का, आम कहाँ से होय।

आम का पेड़ बोयेंगे, तो आम खायेंगे; अगर बबूल का पेड़ बोयेंगे तो काँटा चुभेगा। अपने कर्म फल को स्वयं भोगना पड़ता है। भगवान महावीर ने कहा–'जियो और जीने दो।' सभी संतों एवं भगवन्तों ने एक स्वर से यही कहा–संसार में तुम रहोगे, तो संसार के उद्यमों को अवश्य किया करो और वह उद्यम पवित्र हो। सब दिन संसार में रहना नहीं है, एक-न-एक दिन संसार से जाना है, इसलिए भगवद्भजन भी करो। इससे तुम्हारा इहलोक और परलोक दोनों बनेगा। अगर ऐसा नहीं करते हो, दूसरे उपाय से सुख चाहते हो, तो वह सुख मिलने को नहीं है। दिन में तुम रात चाहोगे और रात में दिन चाहोगे, तो यह नहीं हो सकता। कभी आपलोगों ने पाठ में सुना ही है, कहते-कहते यहाँ तक कह दिया–

अंधकार बरु रविहि नसावै।
राम विमुख ना जीव सुख पावै॥

सूर्य का उदय होता है, तो अंधकार का विनाश होता है और रात की स्थिति नहीं रहती है। लेकिन गोस्वामीजी कहते हैं–थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए, माननेयोग्य बात तो नहीं है, लेकिन अगर थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए। कोई कहे–अंधकार ने सूर्य को ढँक दिया। सूर्य की स्थिति नहीं है। अंधकार ने सूर्य को नाश कर दिया। यह नहीं माननेवाली बात थोड़ी देर के लिए मान ही ली जाए; लेकिन बिना ईश्वर की भक्ति किये किसी ने सुख पाया है, यह मानने योग्य बात नहीं है।

एक बार का प्रसंग है–अंधकार गया भगवान के पास और कहा कि भगवन् मैं अपनी कुछ व्यथा

सुनाने के लिए आया हूँ। भगवान ने कहा—निःसंकोचवत् कहो, क्या कहते हो। उन्होंने कहा—सूर्य हमारा जानीदुश्मन बना हुआ है। मुझे कहीं चैन से रहने नहीं देता है। भारत में कोने-कोने में छिपकर मैंने देख लिया, जहाँ मैं जाता हूँ, पीछे-पीछे चला जाता है। मैं विदेश चला जाता हूँ। अमेरिका गया, तो देखता हूँ कि थोड़ी देर के बाद वहाँ भी चला जाता है। वहाँ से भागकर भारत आता हूँ, जहाँ कहीं भी जाता हूँ, वहाँ चला जाता है। इतना सताता है मुझे। आप जरा समझा दीजिएगा। भगवान ने सूर्य को बुलाया और कहा—सूर्यदेव महाराज! अंधकार से दुश्मनी क्यों ठान लिये हैं। जहाँ वह जाता है, उसके पीछे-पीछे पहुँच जाते हो। ऐसा क्यों करते हैं? उसने आपका क्या बिगाड़ा है? सूर्य ने कहा कि भगवन्! हम तो आज ही सुन रहे हैं कि अंधकार भी कुछ होता है। मेरी तो कभी अंधकार से भेंट हुई ही नहीं है, मैं सताऊँगा कैसे? अगर आपको मेरी बात पर विश्वास नहीं है, तो अंधकार को बुला दीजिए, मैं हाथ जोड़कर क्षमा माँग लूँगा। आजतक अंधकार सामने आया नहीं है, न वह कभी सामने आएगा! उसी तरह से आप सुख चाहते हैं, तो भगवद् भजन करें। सदाचार का पालन करें, जीवन-यापन के लिए कुछ-न-कुछ पवित्र कमाई अवश्य करें। आज रविवार है, गुरु कीर्तन होगा, फिर आरती होगी। (स्थान—महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक—१८.१२.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१३७. एक राम है सबसे न्यारा

समवेत समादरणीय सज्जनवृन्द, आदरणीया माताओ तथा भक्तिमती बहनो!

आपलोगों ने रामचरितमानस का पाठ सुना है। यह बड़ा विलक्षण ग्रंथ है। भगवान राम की महिमा गायी गयी है। रामायण एक ही प्रकार के नहीं है। गोस्वामीजी ने लिखा है—'रामायण सत कोटि अपारा।' सौ करोड़ प्रकार के रामायण हैं। सौ करोड़ कहने पर भी गोस्वामीजी को संतुष्टि नहीं हुई, तो कह दिया—अपारा। क्योंकि राम—परमात्मा जो स्वरूपतः अपार हैं, उनकी महिमा भी तो अपार ही होगी। तो कोई भी उसका गुणगान करके कैसे पार हो सकता है। आजकल वसंत ऋतु है। वसंत ऋतु में पेड़-पौधे सब हरे-भरे हो जाते हैं, फूलने-फलने लगते हैं। लेकिन उसके पहले वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं और नये-नये पत्ते निकलते हैं। पर जिस वृक्ष में पत्ते नहीं निकलते, इसमें वसंत ऋतु का क्या दोष! स्वाति नक्षत्र में वर्षा हो, अगर पपीहा के मुँह में पानी नहीं पड़े, तो इसमें वर्षा का क्या दोष! सूर्य का प्रकाश चारो ओर फैल रहा है और सूर्य को उल्लू नहीं देख पाता हो, तो इसमें सूर्य का क्या दोष! संत-सद्गुरु का संसर्ग कर, उनके साथ में रह सत्संग कर अगर अपने आचरण को नहीं सुधार सके, तो इसमें संत सद्गुरु और सत्संग का क्या दोष! राम-राम सब कोई कहते हैं, बहुत लोग कहते हैं; लेकिन राम कौन?

एक राम दशरथ घर डोलै।
एक राम सब घट-घट बोलै॥
एक राम का सकल पसारा।
एक राम है सबसे न्यारा॥

भारत में रहकर भी वैदिक धर्म में पड़कर भी, जब राम को हम नहीं जान पाए, तो सूक्ष्म सगुण साकार का क्या दोष! दशरथ के राम को बहुत लोग जानते हैं। राम के स्थूल स्वरूप, साकार स्वरूप को हम जानते हैं, लेकिन इसका सूक्ष्म सगुण साकार रूप को हम जानते हैं, इसका मतलब यह नहीं कि निराकार ही नहीं है। सगुण रूप को हम जानते हैं, तो उसको भी जानना चाहिए। हम जो रामस्वरूप राम-राम कहते हैं। गत कल आश्रम में रामचरितमानस का पाठ हुआ था, जिसमें वर्णन आया था कि भगवान श्रीराम, सीता, लक्ष्मण के साथ जंगल चले गये, तो राजा दशरथ राम के वियोग से व्याकुल हो गये और पुत्र-वियोग सहन नहीं कर सके। तब—

राम राम कही राम कहि, राम राम कहि राम।
सहि न सकहिं पुत्र-विरह, राउ गयेउ सुरधाम॥

छः बार उन्होंने राम का नाम लिया और स्वर्ग

सिधार गये। कम क्यों नहीं लिया या बेशी क्यों नहीं लिया! हमलोगों के शरीर में छः चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, हृदय, कंठ और आज्ञा। छहों स्थानों से इन्होंने राम का नाम लिया यानी मूलाधार से भी, स्वाधिष्ठान से भी, मणिपूरक से भी, हृदय से भी, कंठ से भी और आज्ञाचक्र में जाकर शरीर छोड़ दिया।

बन्दउँ रामनाम रघुवर को।
हेतु कृषाणु भानु हिमकर को ॥
विधि हरिहरमय वेद प्राण सो।
अगुण अनुपम गुण निधान सो ॥

'बन्दउँ रामनाम रघुवर को' रघुवर के नाम की वंदना करता हूँ। वह क्या है? भानु, कृषाणु और हिमकर का कारण है और विधिहरिहर मय है। वेद का वह प्राण है। वह अगुण है, उपमा-रहित है और गुण निधान भी है। 'रामनाम रघुवर के' किस नाम का वर्णन करते हैं, किस नाम की वंदना गोस्वामी जी करते हैं। जो रामनाम भानु, कृषाणु और हिमकर का कारण है। कृषाणु, भानु और हिमकर कैसे लिखते हैं—

क् ऋकार + ष् आकार +ण् उकार = कृषाणु
भ् आकार + न् उकार = भानु
ह इकार + म + क + र = हिमकर

गोस्वामीजी कहते हैं—अगर हम 'कृषाणु' से 'र' निकाल लेते हैं, तो किषाणु हो जाता है। कृषाणु का अर्थ होता है अग्नि और 'र' निकाल लिया, तो हो गया किषाणु, उसका अर्थ अग्नि नहीं होगा। भानु से आकार निकाल लेते हैं हम, तो हो जाएगा भनु। भानु का अर्थ होता है सूर्य और भनु का अर्थ सूर्य नहीं होगा। हिमकर में से 'म' निकाल लेते हैं, तो हिकर हो जाता है। हिमकर का अर्थ होता है—चन्द्र और हिकर का अर्थ चन्द्र नहीं होगा।

कृषाणु से 'र' लिया गया, भानु से आकार लिया गया और हिमकर से 'म' लिया गया, तो राम हो गया। यह राम जो है, तीनों का कारण है। राम नहीं, तो इन तीनों का अस्तित्व नहीं है। वह राम 'विधि हरिहरमय है। विधि = ब्रह्मा, प्रवर्तक। हरि = विष्णु, पालक। हर = शिव, संहारक। रजोगुण ब्रह्मा, सतोगुण विष्णु और तमोगुण शिव।

रज सत् तम मय है, वेद का प्राण। वेद की जितनी विद्याएँ हैं, उन विद्याओं के पूर्व ॐ का उच्चारण होता है। वह ॐ (अ+उ+म्) रज, सत्, तम मय है। उससे त्रयगुण की उत्पत्ति हुई है। वास्तव में वह है अगुण। अगर लोग उसको सगुण ही मान लें तो गोस्वामीजी उसका निराकरण करते हैं कि अगुण। वह निर्गुण सगुण-राम के लिए नहीं कह रहे हैं। अनुपम उपमा-रहित है और गुणनिधान है। गुण का खजाना है। उसी से त्रयगुण की उत्पत्ति हुई है। कहा जा सकता है, जो निर्गुण है, वह त्रयगुण कैसे हो सकता है। आकाश स्थिर है, लेकिन उससे जिस वायु की उत्पत्ति हुई है, वह चलनात्मक है। उसी तरह निर्गुण से सगुण, निर्गुण से त्रयगुण हुआ है। गोस्वामी तुलसीदासजी विविध प्रकार के रामनाम की चर्चा करते हैं।

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

गिरा = वाणी और उसका अर्थ। वाणी और उसके अर्थ में कोई अंतर नहीं है। जल और लहर में कोई अंतर नहीं है, तत्त्वरूप में दोनों एक ही हैं। नाम भिन्न-भिन्न है। उसी तरह से सीता और राम अलग-अलग कहते हैं, पर दोनों एक ही हैं। गिरा स्त्रीलिंग है और अर्थ पुल्लिंग है। सीता स्त्रीलिंग शब्द है और राम पुल्लिंग शब्द है। आगे जल और बीचि; जल पुल्लिंग है और बीचि स्त्रीलिंग है। सीताराम कहिए या रामसीता कहिए—एक ही है। वही तुलसीदासजी कहते हैं—'बंदउँ सीता राम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न', ऐसे सीता-राम की लोग वंदना करते हैं, जिनको निर्बल परम प्रिय है। रामचरितमानस हमलोग पढ़ते हैं, समझते हैं, समझाते हैं; लेकिन गोस्वामीजी कहते हैं—

सुनिय गुनिय समझिए समझाइए दशा हृदय नहिं आवै।

यदि प्रवचन के अनुकूल आचरण नहीं लाते हैं, तो वह प्रवचन नहीं, प्रवंचना है।

बात बनाइ जग ठगा, मन प्रबोधा नाहिं।
कह कबीर मन के किया, गया चौरासी माहिं ॥

ऐसे मनवाले चौरासी में जाने से बच नहीं सकते। आज रविवार है गुरुकीर्तन कहिए, फिर आरती।

(स्थान—महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर; दिनांक—३०.१२.२००६ ई०, साप्ताहिक सत्संग के सुअवसर पर हुआ था।)

१३८.वैदिक धर्म की विशेषता और प्रासंगिकता

वेद संसार का प्राचीनतम धर्मग्रंथ है। श्रुति का उद्घोष—'अनन्त वै वेदाः' अर्थात् वेद-ज्ञान अनंत हैं। संसार के समस्त ज्ञानों का सार इसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाहित है। इसलिए महर्षि मनु ने कहा—'वदोऽखिलो धर्ममूलम्' संपूर्ण धर्मों का मूल वेद है।

आज जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं, वह वस्तुतः वैदिक धर्म ही है। इसे सनातन धर्म या आर्य धर्म भी कहा जाता है। वेद को अनादि अनन्त, अनाशी और अपौरुषेय माना जाता है। इसलिए वैदिक धर्म को नित्य या सनातन धर्म कहते हैं। आर्य का अर्थ है—विद्वान्, बुद्धिमान, सभ्य और सदाचारी। इन्हीं विशेषताओं के कारण वैदिक जन आर्य कहे गये और वैदिक धर्म आर्य धर्म।

वैदिक धर्म एक जीवन्त, प्रगतिशील और उदार धर्म है। स्वस्थ और परिपक्व वृक्ष ही स्वस्थ और परिपक्व फल उत्पन्न करता है। वैदिक धर्म की परिपक्वता और परिपूर्णता विलक्षण है। यही कारण है कि अन्य धर्मों में कुछ गिने-चुने महापुरुष देखे जाते हैं। परम वैदिक धर्म में यदि महापुरुषों की गणना की जाए, तो एक महाग्रंथ का निर्माण हो जाएगा। प्राचीन आत्मवेत्ता ऋषि-मुनियों से लेकर अर्वाचीन संत-महात्माओं और विद्वानों के विचारों से वैदिक साहित्य समृद्ध होता रहा है। वैज्ञानिकों ने अनेक अनुसंधानों के आधारभूत सूत्र वैदिक वाङ्मय से प्राप्त किये हैं। अंतश्चेतना के द्वारा परम सत्य की उपलब्धि, पर सत्य का साक्षात्कार ही वैदिक धर्म का सत्त्व है। अनेक साहित्यकारों ने इस सत्य को प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब और ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह ने सत्य की खोज में भारतीय उपमहाद्वीप की यात्रा की थी और वैदिक धर्म की विशेषताओं को जानकर उन्हें ग्रहण किया था।

वैदिक धर्म की बहुत बड़ी विशेषता है, इसकी सहिष्णुता और उदारता। इसने कभी अपने को कूपमंडूक नहीं बनाया, बल्कि जहाँ से भी अच्छी चीजें मिलीं, इसने आगे बढ़कर अपनाया। विश्व के समस्त धर्मों के असली निचोड़ इसमें देखे जाते हैं। इसकी उदारता ऐसी है कि आस्तिक से लेकर नास्तिक तक, एकेश्वरवादी से लेकर बहुदेव उपासी तक, सभी वैदिक धर्म के महासमुद्र में समाये हुए हैं। अधिकांश धर्म एक व्यक्ति या एक धर्मग्रंथ पर आधारित है, जिसके इर्द-गिर्द वह घूमता है। प्रवर्तक से ही धर्म के सिद्धांत गढ़े जाते हैं या धर्मग्रंथ के शब्द ही अंतिम आदेश माने जाते हैं। पर वैदिक धर्म के धार्मिक-आध्यात्मिक सिद्धांतों में दर्शन की प्रमुखता है, किसी एक प्रवर्तक या पैगम्बर की नहीं। अन्य धर्म अपने अंदर किसी तरह के अनुसंधान या उसके अंगों-उपांगों की समीक्षा की स्वीकृति नहीं देता, नई बातों को स्वीकार नहीं करता। प्रचलित मान्यताओं से इतर कुछ भी सोचना या करना वहाँ के धर्म का खंडन या विरोध माना जाता है। जबकि वैदिक धर्म इस मामले में कभी संकीर्ण नहीं रहा।

वैदिक धर्म का मूल सिद्धांत है—आत्मज्ञान अर्थात् स्व या आत्मा का अनुसंधान। अन्य कर्मकांड, रीति-रिवाज आदि तो धर्म के गौण अंग हैं। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का सही अनुपात में मिलाने से जल बनता है, यह जितना सत्य है, उतना ही सत्य यह वैदिक सिद्धांत है कि अंतस्साधना के द्वारा जड़ और चेतन को पृथक् कर लेने पर चेतन-आत्मा की पहचान होती है तथा सर्वाधार परमात्मा की पहचान होती है।

हमारे संतों ने कहा है कि यह मान लेने की बात नहीं है, इसे करके देखो और पाओ। जब मूल सिद्धांत को भूलकर सम्प्रदायवाद और कर्मकांड को ही सर्वस्व समझने लगते हैं, तब धर्म की विशेषताएँ नष्ट हो जाती हैं और उसमें कट्टरता-संकीर्णता आने लगती हैं। छुआछूत और ऊँच-नीच का भेद कभी वैदिक धर्म का अंग नहीं माना जा सकता। वैदिक धर्म के आदर्श प्रतीक के रूप में अवतरित भगवान श्रीराम ने जंगल में एक भीलनी का आतिथ्य ग्रहण किया था। भगवान श्रीकृष्ण ने राजा युधिष्ठिर द्वारा आयोजित राजसूय यज्ञ में श्वपच भक्त को आमंत्रित करने का विशेष निर्देश दिया था। ये प्रसंग इस बात की पुष्टि करते हैं कि इन कुरीतियों को कुछ लोगों ने तुच्छ

स्वार्थवश प्रश्रय दिया है। वैदिक धर्म अपने विस्तार के लिए धार्मिक आक्रमण और धर्मान्तरण करना नहीं सिखलाता है। यह 'जियो और जीने दो' के सिद्धांत पर विश्वास करता है। यह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मानते हुए सबको प्यार और आदर देना सिखलाता है।

शोधों की अनन्त प्रक्रिया से गुजरते रहने के कारण वैदिक धर्म में पुरानी मान्यताओं के साथ-साथ नवीन बातों का समावेश होता रहा, परिष्करण होता रहा। सत्य ज्ञान को इसके आविष्कारक ऋषियों ने अलग-अलग समय में अपने-अपने ढंग से समाज के सामने रखा। इसकी मूल बातें—आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म में आस्था और आत्मज्ञान से पूर्ण कल्याण-जैसी आधारभूत बातें यथावत् रहीं।

धर्म प्रदर्शन, प्रतिपादन, खंडन या बुद्धि-विलास की वस्तु नहीं है। मानव-जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक सफलता के लिए धर्म का प्रतिपादन किया जाता है। इन अर्थों में वैदिक धर्म एक संपूर्ण, प्रगतिशील, उदारवादी और वैज्ञानिक धर्म है। मानव जीवन की पूर्ण सफलता के समस्त रहस्यों का उद्घाटन वैदिक धर्म में उपलब्ध है। आवश्यकता है सच्चे मुमुक्षु की, जो इस सत्य को खोजकर अपने जीवन को उज्ज्वल और स्वर्णिम बना सके। सभी परस्पर प्रेम से रहे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

(शान्ति-संदेश, दिसम्बर २००६)

१३९. देश-हित में अपना हित

जैसे जल-कण का समूह समुद्र होता है, वैसे ही जन समूह का समष्टि रूप राष्ट्र होता है। जिस प्रकार समुद्र से समस्त-सलिल कण निकल जाने पर सागर का अस्तित्व नहीं रह जाता; उसी प्रकार यदि राष्ट्र के सभी व्यक्ति यत्र-तत्र छिन्न-भिन्न होकर बिखर जायें, तो उस राष्ट्र का नामोनिशान मिट जायेगा। इसलिए राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का पुनीत कर्त्तव्य है कि सभी मेल से रहें। एकता में बल होता है, जिससे राष्ट्र की समृद्धि होती है। एकता से बलवत्ता और अनेकता से दुर्बलता आती है। एकता से स्वतंत्रता और अनेकता से परतंत्रता आती है। कहने की आवश्यकता नहीं, सबके अक्ष के समक्ष प्रत्यक्ष है कि जबतक अपने देश में एकता रही, तबतक स्वतंत्रता बनी रही और जब देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया, तो बलहीन होने के कारण विदेशियों के द्वारा हमारी स्वतंत्रता छिन गई और हम परतंत्र हो गए। पश्चात् पुनः जब हम सब मिलकर एक हो गए, तो स्वतंत्रता की साँस लेने लगे। हमारी यह स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहे, इसके लिए एकता अनिवार्य है। एकता के लिए पारस्परिक सत्य व्यवहार अनिवार्य है। बिना सत्य-व्यवहार के एकता टिक नहीं सकती। अतएव सत्याचरण आवश्यक है।

देश-हित में अपना हित निहित है, ऐसी भावना होनी चाहिए। देश की सुरक्षा अपनी सुरक्षा है। देश-हित को दृष्टिगत करते हुए हमारा कर्म होना चाहिए। हम भूलकर भी ऐसा कार्य नहीं करें, जिससे देश का अहित हो! जिस जननी के गर्भ से हम जन्म लेते हैं, वह हमारी माता कहलाती है। उसी प्रकार जिस राष्ट्र की धरित्री पर हम जन्म-धारण करते हैं, वह हमारी मातृ तुल्य होती है, बल्कि कुछ अंशों में उससे भी विशेष कहा जा सकता है।

'जननि जन्म भूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी।'

जन्मदातृ मातृ की गोद में अज्ञानावस्था में रहकर हम मात्र कुछ महीने मल-मूत्र विसर्जन करते हैं; किन्तु पृथ्वी माता की गोद में हम ज्ञानावस्था में रहकर जीवन पर्यन्त मल-मूत्र त्याग करते हैं। जन्मदात्तृ माता की गोद में हम शैशवावस्था में रहकर स्वल्पकाल ही उनका दुग्ध पान कर किलकारियाँ भरते हैं; किन्तु धरती माता की गोद में हम जीवनपर्यन्त खाते-पीते और आनन्द-चैन की वंशी बजाते हैं। इसकी सर्वतोमुखी उन्नति के लिए हमें तन, मन तथा धन समर्पण-हेतु सतत प्रस्तुत रहना चाहिए। इतना ही नहीं, देश-रक्षार्थ यदि अपने को बलिवेदी पर चढ़ाना पड़े, तो उससे भी मुख नहीं मोड़ना चाहिए।

जात-पाँत, ऊँच-नीच, छुआ-छूत एवं पंथाई भावों के भूत को दूरीभूत कर एक जुट होकर हम रहें। सत्य, प्रिय, मृदु एवं मितभाषी बनें। परोपकार की भावना रखें। परमुखापेक्षी न हों। स्वावलम्बी जीवन जियें यानी श्रम-सीकर की सच्ची कमाई कर अपना जीवन-यापन करें। पवित्रोपार्जन से प्राप्त वस्तुओं में सन्तुष्ट रहें। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, चिढ़, द्वेश, ईर्ष्या आदि तामस विकारों से बचते हुए दया, क्षमा, नम्रता, शील, संतोष प्रभृति सात्त्विक गुणों को धारण करना हितकर है।

जीवन में आस्तिकता का होना अत्यावश्यक है; क्योंकि आस्तिकता के साथ सदाचारिता का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। जैसे 'Q' (क्यू) के साथ 'U' (यू) का। जैसे–'Q' से 'U' को कोई भिन्न नहीं कर सकता, उसी प्रकार आध्यात्मिकता से सदाचारिता को कोई पृथक् नहीं कर सकता। यानी अध्यात्म के साथ सदाचार अनिवार्य रूप से रहता है। जिस समाज में सदाचार पालित लोग रहेंगे, वहाँ से अत्याचार, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, बलात्कार, लूट-पाट, मार-काट प्रभृति दुष्कर्म उसी प्रकार दूर हो जायेंगे; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार, क्योंकि समाज के सज्जन ही राजनीति में जाते हैं। पवित्र सामाजिक नीति के कारण राजनीति पवित्र हो जायेगी। इस प्रकार देश में शान्ति विराजेगी।

(शान्ति-सन्देश, दिसम्बर, २००७ ई०)



महर्षि संतसेवी परमहंस जी महाराज जन्मस्थली मंदिर

ग्राम+पो०- गम्हरिया, जिला-मधेपुरा (बिहार)

प्रकाशक

अखिल भारतीय संतमत महासभा

कुप्पाघाट, भागलपुर, बिहार